महाकवि

ग्रन्थावली

-: रचयिता :-

महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)

श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी, सांगानेर (जयपुर)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती परम् पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के सुशिष्य आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज व क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के 1996 जयपुर वर्षायोग के सुअवसर पर प्रकाशित ।

संस्करण : 1996

मूल्य : रुपये 100/- मात्र

प्राप्ति :

▲ आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.)

▲ श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी
सांगानेर-जयपुर (राज.)

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : 422291

महाकवि

ग्रन्थावली

-: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :-

पू. मुनि श्री सुधासागरजी महाराज
क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज
क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

-: पुण्यार्जक :-

★ श्री भाग चन्द जी छाबड़ा
1391, किशनपोल बाजार, जयपुर

★ श्री पूनम चन्द जी दिनेश जी जैन
रघु विहार, जयपुर

★ श्री महावीर प्रसाद जी जैन
सर्राफ, बयाना वाले

★ श्री बाल किशन जी जैन
बाणवाला, जयपुर

★ श्रीमती कान्ता लुहाड़िया
धर्मपत्नी श्री बी. सी. लुहाडिया, जवाहर नगर, जयपुर
प्रोत्साहन · श्री प्रदीप लुहाड़िया, शास्त्री नगर, जयपुर

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)
श्री दिगम्बर जैन मंदिर संघीजी, सांगानेर (जयपुर)
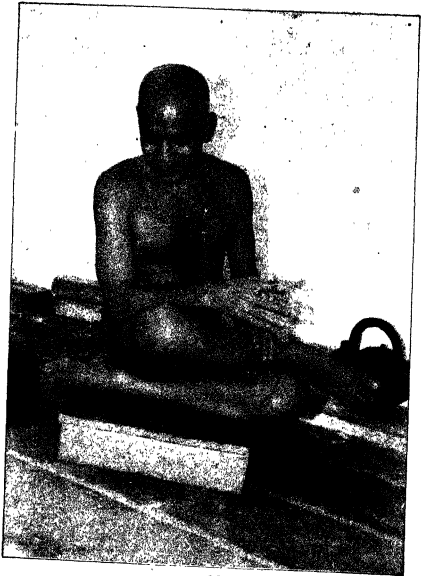
परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी

प्रकाशकीय समर्पण

आ. श्री विद्यासागर जी

卐

मु. श्री सुधासागर जी

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश मे एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्रणावान बहुलमून्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य सम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्वानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो सोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याएँ जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र भूरामल शास्त्री (आ ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यथार्थ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयौजित हुई व इसी सुअवसर पर दि. जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चातुर्मास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री सान्ध्यि में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन-प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्त मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर

(राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वत् गोष्ठि में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ रमेशचन्द जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18 3.95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

सन् 1995 का वर्षायोग किशनगढ़-मदनगंज में हुआ वहाँ पर महाकवि आ. ज्ञानसागर कृत मुख्य महाकाव्य जयोदय पर शताधिक जैन अजैन अन्तराष्ट्रीय संस्कृत विद्वानों की सहभागिता में संगोष्ठा हुई 29.9.95 से 3.10.95 को सम्पन्न हुई जिस संगोष्ठी में जयोदय महाकाव्य की वृहद चतुष्टयी संज्ञा से संज्ञित किया गया था इसी दौरान महाकवि भूरामल ब्रह्मचारी का ऐतिहासिक आकर्षित स्टेच्यू दिगम्बर जैन श्रेष्ठी श्री निहाचन्द, यज्ञेशचन्द, सुशीलकुमार, राकेशमोहन, चन्द्रमोहन पहाड़िया परिवार द्वारा के.डी.जैन महाविद्यालय के प्रांगण में स्थापित किया गया। तदुपरांत 1996 के एतिहासिक जयपुर वार्षायोग की सहभागिता में पंचम संगोष्ठी हुई। इसी दौरान जयपुर में ज्ञानसागर छात्रावास की स्थापना हुई।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के बाद निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - लघुत्रयी मन्थन - ब्यावर स्मारिका
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा - डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन
नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव - बैरिस्टर चम्पतराय जैन

दशम पुष्प - मानव धर्म - पं. भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)
एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत - श्रीमत्सोमदेवसूरि-विरचित
द्वादशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. कैलाशपति पाण्डेय
त्रयोदशम् पुष्प - अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
चर्तुदशम् पुष्प - Humanity A Religion - मानव धर्म का अंग्रेजी अनुवाद
पञ्चदशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन- डॉ आराधना जैन
षोडदशम् पुष्प - महाकवि ज्ञानसागर और उनके काव्य:एक अध्ययन- डॉ. किरण टण्डन
सप्तदशम् पुष्प - **महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली** - रचयिता प.पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज - महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली चार खण्डों में प्रकाशित की जा रही है, आचार्य श्री स्वानुभवि कवि हैं श्रमण संस्कृति के उन्नायक बनकर कुन्द-कुन्द की निर्दोष परम्परा को प्रवाहमान कर रहे हैं, आध्यात्मिक साधना के आप सिद्ध साधक हैं ही साथ ही शब्द साधना के भी आप कुशल साधक है, शब्दों के नाना नये अर्थ निकालने में कुशल शिल्पी हैं, आपकी शब्द साधना से मूकमाटी महाकाव्य सहित संस्कृत हिन्दी में 39 काव्य ग्रन्थ प्रसूत हुए हैं। साथ ही स्वपर प्रकाशीत चारित्र साधना से लगभग 125 चेतन रत्नत्रय को धारण करने वाले श्रमणरत्न श्रमण संस्कृति को उपलब्ध हुए हैं। अर्थात 125 श्रमण व श्रमणियों जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर श्रमण संस्कृति की परम्परा को जीवंत किया है। आपकी काव्य साधना से शब्दों में लालित्य, ओज, प्रसाद गुण सहजता से देखे जाते हैं, आपके साहित्य में अध्यात्म दर्शन और साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती है मूकमाटी महाकाव्य को छोड़कर शेष आपके द्वारा रचित समस्त काव्य ग्रन्थों को हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम खण्ड में संस्कृत काव्य, द्वितीय खण्ड में हिन्दी काव्य, तृतीय खण्ड में पद्यानुवाद और चतुर्थ खण्ड में प्रवचनावली को निबद्ध किया गया है। पूर्व मे आचार्य श्री का साहित्य अनेक स्थानों से प्रकाशित किया गया है, लेकिन शोधार्थियों के लिए एक साथ सरलता से साहित्य उपलब्ध हो सके अत: एक साथ संकलित करके चार खण्डों में हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है। पूर्व प्रकाशकों को साधुवाद प्रदान करते हुए यह अपूर्व साहित्य निधि, साहित्य उपासकों के लिए पिपासा शांत करने के लिए एवं संसार जगत के पाठकों के लिए सादर समर्पित।

पं. अरूणकुमार शास्त्री
ब्यावर (राज.)

महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना

लेखक – मुनि श्री सुधासागर जी महाराज

अनादि अनन्त प्रवहमान दिगम्बर जैन धर्म की श्रमण संस्कृति, भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्श संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन की सरणि में (चिन्तनशीलता में) जैन दर्शन विशिष्ट स्थान रखता है। जैन दर्शन के सारस्वत साधकों ने जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है, श्रमण संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति हैं। लगभग 2000 वर्ष पूर्व अध्यात्म जगत् के महान सूर्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं, जिन्होंने जैन दर्शन के यथार्थ अध्यात्म को अपनी प्रमा का प्रमेय बनाकर ज्ञान चेतना के पर्यावरण को परिमार्जित कर, विशुद्ध पर्याय रूप परिणत किया तथा शुद्धोपयोग में लीन होकर जीवनपर्यन्त अध्यात्म गंगा में डुबकी लगाते रहे। अध्यात्म रस को आपने खूब छक कर पिया। आप इसके आनन्द में इतने लवलीन हो गए कि यह अध्यात्म आपके जीवन का / द्रव्य का / गुण का पर्याय बन गया। शुद्ध / विशुद्ध पर्याय में परिणत होकर आपने भारत व्यापी पद-विहार किया तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना से यथार्थ अध्यात्म गंगा प्रवाहित कर दीर्घकाल तक भारत वसुन्धरा के जन-जन के पाप, ताप और सन्तापों को शमित किया है।

समयान्तर में अध्यात्म मन्दाकिनी की यह निर्मलधारा सारहीन-क्रियाकाण्डों, मणि-मन्त्र-तन्त्रादि के प्रचाररूपी सिकता-प्राचुर्य से क्षीण सी होने लगी। अध्यात्म-शिखरों का स्पर्श करने वाली जैन संस्कृति को बाहर से और भीतर से भी अनेक-विध प्रहारों को झेलना पड़ा। इन प्रहारों से जर्जरित जैन संस्कृति कराहने लगी। विषम दुःखम काल में आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश आगमानुकूल श्रमण सन्तों के दर्शन की संभावनाऐं हत-प्राय हो गयीं।

ऐसी दुरुह परिस्थितियों में अध्यात्म के तमसावृत गगन में प्राची से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ। विविध विद्या-रूपी सहस्रों मुक्ताओं का स्वामी होने के कारण जगत् जिन्हें आचार्य विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। जिनकी चर्या चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य होने से समस्त जैन जगत् में जो "चौथे काल के महाराज" के विशेषण से विख्यात हैं, जिनकी वीतरागी छवि स्वतः सैकड़ों उपदेशों का सा-असर करने वाली है, उन आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं समन्तभद्र की ऊर्जा को अपने जीवन में मानो संचारित कर तथा उनके आदर्श पवित्र मार्ग पर चल कर जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साधना में / चर्या में कुन्दकुन्द प्रतिबिम्बित होते हैं तथा वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, निःशंकता, निश्छलता,

नि:शल्यता की छाया परिलक्षित होती है, अत: वे श्रमण संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी प्रतीत होते हैं । परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी चर्या एवं छवि में गजब का सम्मोहन है जिससे लोग उनके दर्शन करते ही उनमें भगवान् महावीर का प्रतिबिम्ब देखने लग जाते हैं । जिस स्थान या क्षेत्र को उनकी चरण रज का स्पर्श मिलता है, वह क्षेत्र समवशरण की शोभा को अधिगत हो जाता है।

यह संत धर्म एवं साधना के जीवान्त प्रतिरूप हैं, इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियाँ पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोक मंगल को साधने वाली है, स्वपर कल्याणी स्वानुभूति वाले आचार्य श्री प्राय: चातुर्मास तीर्थक्षेत्र पर ही करते हैं, जिससे आत्मसाधना के साथ-साथ प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवम् संवर्धित होता है । आपके आर्शीवाद से जहाँ एकत: प्राचीन तीर्थ क्षेत्रों का जीर्णोद्धार हुआ है, वहीं अपरत: नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण भी हुआ है, जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र, ज्ञानोदय तीर्थ व पूर्णोदय आदि प्रमुख हैं । धर्माचरण एवं अध्यात्म के प्रचार के साथ-साथ आपकी विचारधारा सामाजिक एवं राष्ट्रहित के लिए प्रवाहित रहती है, आपकी सार्थक प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही "प्रशासनिक शोध संस्थान" की स्थापना की गयी । पूज्य आचार्यश्री मूलत: आत्मिक/ मानसिक रोगों के चिकित्सक हैं, भव से लिप्त आत्मा के मल को धोने में अनेक आत्माऐं आपके ही आशीष से सफल हो सकी है, चूंकि स्वस्थ देह में ही स्वस्थ मन निवास करता है, अत: देश की जनता के दैहिक स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए आपकी प्रेरणा से "भाग्योदय तीर्थो" की स्थापनाएँ आपके राष्ट्रीय अवदान के रूप में सदा स्मरण की जाती रहेंगी।

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य श्री के जीवन में "थ्री इन वन परसन" (Three in One Person) की उक्ति को चरितार्थ होते हुए हमने अनुभव किया है क्योंकि आप एक प्रखर दार्शनिक, चारित्र सम्पन्न आध्यात्मिक एवं सरस साहित्यिक रूपी व्यक्तित्वों की त्रिवेणी के पवित्र संगम हैं । अत: आपकी आत्मा का संगीत दर्शन, साहित्य एवं अध्यात्म की त्रिवेणी बनकर प्रस्तुत हुआ है । यदि हम पूज्य गुरुवर के जीवन के विविध सुनहरे पहलुओं पर दृष्टिपात करें तो हम अनगिनत महान् व्यक्तित्वों की प्रतिच्छवि आपश्री में कर सकते हैं ।

आपकी रस-सिद्ध प्रेरणास्पद रचनाओं का काव्य-सौष्ठव यदि एक ओर सहृदय जन को आकर्षित करता है तो वहीं पर आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों का संपुट सोने में सुगन्ध की उक्ति को चरितार्थ कर पाठक को संसार से पार, मोक्ष-सुख की शोभा की झलक देता है । आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है तथा अन्यों को भी यह अनुपम प्रसाद बाँटने के उद्देश्य से 125 श्रमण/ श्रमणियों को साधना-पथ पर अग्रसर कराकर श्रमण संस्कृति को दीर्घ-जीवन धारा प्रदान की है ।

आचार्य श्री सारे भारत में अध्यात्म जगत् के मसीहा माने जाते हैं । आप निर्दोष छत्तीस गुणों का पालन करने वाले आदर्श आचार्य हैं, आप तो बाल-ब्रह्मचारी हैं ही परन्तु आप द्वारा दीक्षित संघ के समस्त तपस्वी भी बाल-ब्रह्मचारी ही हैं ।

इतिहास में मुझे सुनने / पढ़ने में नहीं आया कि कभी किसी आचार्य का सम्पूर्ण संघ बाल-ब्रह्मचारी था / या है । लेकिन हमारे आचार्य श्री ने इस भौतिक युग में भी युवक और युवतियों को संयम का मार्ग दिखाकर संघ को बाल-ब्रह्मचारी बनाकर एक नया स्वर्णमयी इतिहास रच दिया, जो स्वर्णांकन के योग्य है । विशुद्ध दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति को काल के थपेड़ों एवं साम्प्रदायिकता के मद में चूर सत्ता के प्रहारों ने विकृत कर दिया था, जिससे श्रमण संघ की आदर्श रूप आराध्य-आराधक पद्धति भी अपने उच्चासन से च्युत हो गयी अत: इस विकृत रूढ़ि के निवारणार्थ आप श्री ने स्पष्ट घोषणा की, कि परिग्रह के सद्भाव में कोई भी व्यक्ति अथवा साधक पूजा का पात्र नहीं हैं। निष्परिग्रही मुनि ही पूजा के पात्र हैं अर्थात ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकाएँ, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि असंयमी जीव परिग्रह के सद्भाव होने से परिक्रमा, पाद प्रक्षालन एवं अष्ट-द्रव्य से पूजन के योग्य नहीं हैं - अत: आपने अपने संघ में ऐलक, क्षुल्लक एवं आर्यिका गण को इस विकृत रूढ़ि से बचाकर आदर्श, आराधक पद्धति को सुरक्षित किया है ।

ऐसे आदर्श आचार्य का जन्म दक्षिण के कर्नाटक प्रान्त के बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) 2003 विक्रम संवत् गुरुवार को रात्रि 11.30 बजे हुआ था । गुरुवारी पूर्णिमा मानो संकेत कर रही हो कि यह बालक गुरु बनकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान विश्व को शीतल-किरणें प्रदान करेगा और संसार की उष्णता को शान्त करेगा । इन का जन्म नाम विद्याधर रखा गया, जो इंगित करता है कि विद्याधरों के समान यह सारे भारत में विहार करेगा एवं मुक्ति की सद्विद्याओं का वितान करेगा । आपके पिता का नाम श्री मलप्पा जैन (अष्टगे) था, जो बाद में मुनिवर श्री मल्लिसागर जी महाराज के नाम से जाने गये / माताजी के नाम के शुभाक्षर हैं - श्रीमती "श्रीमती" जो पश्चात् काल में आर्यिका समयमती माताजी के नाम से जानी गयीं ।

विद्यालयी औपचारिक शिक्षा मात्र नवमी कक्षा तक थी, महान् पुरुषों की शिक्षा और प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहती । उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है । पूरे संसार और उसके यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ और स्कूली भाषा मराठी होने पर भी आपका हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार है । सन् 1967 में आपने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर संसार-भ्रमण का मार्ग बन्द कर दिया । तथा मोक्ष मार्ग की ओर चरण बढ़ाने के लिए आप आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पास रहकर लगभग 3-4 वर्ष तक

ज्ञानार्जन किया तथा 30 जून 1968 आषाढ़ शुक्ला पंचमी विक्रम संवत् 2025 को अजमेर शहर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वारा दिगम्बरी दीक्षा धारण की। आपके गुरु ने आपको पूर्ण गुरुपद के योग्य जानकर 22 नवम्बर, 1972 मगसिर कृष्णा 2 संवत् 2029 को नसीराबाद में अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग 180 दिन की यम-संल्लेखना धारण कर समाधि ली थी। आचार्य श्री हवा के समान नि:संग, सिंह के समान निर्भीक, मेरु के समान अचल, पृथ्वी के समान सहिष्णु, समुद्र के समान गंभीर, जल के समान निर्मल, सूर्य के समान तेजस्वी हैं। आपने जहाँ शिरोमणी चारित्र की साधना की है वहीं पर आप साहित्य जगत् में शिरोमणीभूत साहित्य साधक भी हैं। आपकी शब्द साधना ने आपको शब्द-वेधा (ब्रह्मा) बना दिया है।

शब्द आपके नाना अर्थ के अनुरूप इस प्रकार नर्तन करते हैं, मानो आपकी प्रतिभारूपी रिमोट कन्ट्रोल द्वारा संचालित हो रहे हैं। काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हुए शब्दों के व्यत्पत्तिबल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपका वैशिष्ट्य है। आपने कालजयी कृति "मूकमाटी" महाकाव्य सहित हिन्दी एवं संस्कृत में 39 रचनायें की है अत: आप अध्यात्म के विविध विशेषणों से युक्त होते हुए साहित्य जगत् की सर्वोच्च उपाधि "महाकवि" के भी पूर्ण अधिकारी हैं। हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इस बीसवीं शताब्दी में आपका विशिष्ट योगदान है, संस्कृत काव्यों में कुत्रचित् शब्द क्लिष्टता, गरिष्ठता, वरिष्ठता पाठक की प्रमा को द्राविडी प्राणायाम करने के लिए बाध्य करती है। लेकिन हिन्दी काव्यों की शब्द सरलता/सहजता के प्रवाह में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की सरगम ध्वनि की स्वर-लहरी पाठक के हृदय स्थल को आनन्द से भर देती है। आपका साहित्य अनुप्रास एवं द्विसन्धानी अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है। कवि शब्द शिल्पी होते हुए भी शब्दों पर विजय प्राप्त करना कवि का साध्य नहीं है बल्कि अपनी विचारों की भावाभिव्यक्ति कर जनमानस को सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए कर्म एवं इन्द्रिय विजेता बनाना रहा है। शब्द तो मात्र अपनी विचारधारा को प्रवाहित करने के लिए, किनारे बन कर कवि की प्रमा में सहज ही अवतरित हुए हैं। शब्द एवं शब्दार्थ, शब्दकोशों के पन्नों से बलात् नहीं खींचे गये हैं बल्कि जीवन की जीवन्त दैनन्दिनी (डायरी से) से स्वत: प्रसूत हुए हैं। अत: कहीं-कहीं कवि को शब्द कोष प्रेमियों के कोप का भी भाजन बनना पड़ा है।

शब्द शास्त्री वैयाकरणों से एवं लकीर के फकीरों द्वारा व्याख्यात अर्थों से बेफिक्र होकर महाकवि ने साहित्य जगत के अनगंत नवीन विचार धारा देकर गौरवान्वित किया है। शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्दद विच्छेद विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर जनप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जगत ख्याति प्राप्त की है। ऐसे ख्यातिलब्ध साहित्यकार महाकवि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना का (सन् 1996 तक की साहित्य साधना का) संक्षिप्त परिचय यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

संस्कृत साहित्य

भारतीय संस्कृति में भाषा गत सौष्ठव से संस्कारित/परिमार्जित संस्कृत भाषा, प्रधान भाषा मानी जाती है । व्याकरण की गरिष्ठता के कारण यह पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में प्रचुर प्रचलन में न आकर विशेषतया साहित्य क्षेत्र में पल्लवित/पुष्पित होती रही है ।

जैन वाङ्मय में साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से इसका स्थान तीसरा है; क्योंकि इसके पूर्व जैन साहित्यकारों का प्राकृत एवं अपभ्रंश पर सर्वाधिकार सुरक्षित रहा है । लगभग प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी से ही संस्कृत भाषा में जैन साहित्य दृष्टिगोचर होता है । उसके बाद प्रायः संस्कृत भाषा में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जाता रहा है ।

बीसवीं शताब्दी के महान संस्कृतज्ञ विद्वान ऋषि, मेरे दादा गुरु महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत भाषा में 4-4 महाकाव्यों सहित अनेकों काव्य लिखे हैं । उन्हीं के प्रधान पट्टशिष्य मेरे गुरुवर/पूज्यवर आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने भी निम्न साहित्य सृजित किया है :-

श्रमण शतकम्

यह काव्य आपने संस्कृत भाषा में दिगम्बर श्रमणों के सम्बोधनार्थ लिखा है । जिसमें कहा है कि श्रमण को बाहरी प्रवृतियों से हटकर आभ्यंतर चेतना को अपनी अनुभूति का विषय बनाना ही साध्य होना चाहिये । आत्मा और परमात्मा के अलावा समस्त विकल्पों को त्यागकर, इन्द्रिय एवं परिषह विजयी बनना चाहिए रत्नत्रय की सिद्धि कर, निर्विकल्प बन, अपने आत्मस्वरूप में रम कर अपनी आत्मा को भगवान जैसी आत्मा बनाना चाहिये । 36वें श्लोक में कवि ने भावना भायी है कि :- दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले दिगम्बर साधु शुद्धात्मा एवम् प्रशम भाव का त्याग न करें क्योंकि प्रशम भाव से ही जन्म मृत्यु का क्षय होता है । यथा -

यस्य हृदि समाजातः प्रशम भावः श्रमणो यथाजातः ।
दूरोऽस्तु निर्जरातः कदापि मा शुद्धात्मजातः ॥36॥

परिग्रहवान् मुनि हो या गृहस्थ किसी को भी शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा 48वें श्लोक में कहा है कि निश्चयनय से रहित साधु भी यदि विषयों को त्यागकर संयमाचरण से अलंकृत होता है तो भी परम्परा से मोक्षमार्गी हो सकता है लेकिन किसी भी स्थिति में गृहस्थ एवं असंयमी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, यथा -

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन ।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न ॥48॥

शिथिलाचार का निषेध करते हुए कहा है कि नग्न होने मात्र से मोक्ष मार्ग नहीं होता है क्योंकि नग्न तो पशु भी होते हैं यथा -

न हि कैवल्य साधनं केवलं यथाजातप्रसाधनम्
चेन्न पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम् ॥78॥

श्रमण का परमात्मा से अनुराग किए बिना कल्याण नहीं हो सकता है । कवि ने कहा है कि जो परिग्रहों को त्यागकर, इन्द्रियों को वश में कर अपनी रत्नत्रय रूपी खेती को विशुद्ध भावों से सिंचन करते हैं, ऐसे साधुओं की मैं वन्दना करता हूँ । इस प्रकार इस काव्य में अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध भावों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है । शब्द संचय करने में कवि ने विश्वलोचन कोश का प्रयोग किया है । श्लोकों में शब्दों की कठिनता दृष्टिगोचर होती है । काव्य में अनुप्रास, श्लेष तथा यमक प्रमुखता लिए हुए हैं । क्वचित्, कदाचित्, उत्प्रेक्षायें अभिव्यंजित होती हैं । पद लालित्य ध्वनि तथा अर्थगौरव पदे-पदे विद्यमान है । यह ग्रन्थ आर्याछन्द में लिखा गया है । पाँच श्लोकों में मंगलाचरण है, जिसमें वर्धमान स्वामी, भद्रबाहु, कुन्दकुन्द आचार्य, स्व. गुरु आचार्य ज्ञानसागर एवं सरस्वती का स्तवन किया है । 94 श्लोकों में कवि ने श्रमणों को आध्यात्मिक दृष्टि से हेय-उपादय का उपदेश दिया है । अन्त में 100वें श्लोक में अपनी लघुता एवं 101वें श्लोक में गुरु ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम श्लेषात्मक ढंग से निबद्ध किया है, 6 श्लोकों में प्रशस्ति दी है, जिसमें कहा है कि ज्ञानसागर के शिष्य विद्यासागर ने विक्रम सम्वत् 2031 वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को यह काव्य पूर्ण किया । इस प्रकार कुल 107 छन्द इस काव्य ग्रन्थ में हैं । प्रशस्ति के पद्य में छन्द भिन्नता भी है, अत: इन्हें ग्रन्थ की मूल संख्या में न जोड़कर अलग से दिया है (101 + 6) मूल श्लोकों का अन्वय एवं वसन्ततिलका छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने स्वयं किया गया है। यह अनुवाद-शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद है । यह काव्य ग्रन्थ पूर्व में कई स्थानों से प्रकाशित किया जा चुका है ।

निरञ्जन शतकम्

जैसा कि इस ग्रन्थ का नाम है वैसे ही अञ्जन से रहित शुद्ध आत्म तत्त्व का वर्णन करने वाला है । इसमें कवि ने स्वयं के द्वारा स्वयं को उपदेश दिया है, क्योंकि एक आदर्श आचार्य पर-कल्याण के साथ-साथ स्वयं के कल्याण में भी निहित रहते हैं । कवि भी एक सम्यक् आदर्श आचार्य परमेष्ठी हैं । कवि ने संसार पदों को विपदाओं का कारण माना और निजपद को ही विपदाओं से रहित कहा हैं । यथा -

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं निपदं च निरापदम्
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान् ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ॥3॥

शुद्ध निरंजन स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कवि ने भगवान की भक्ति को निमित्त बनाया है, कवि ने कहा है कि भगवान की प्रसन्न मुद्रा देखने से पता लगता है कि आप के अन्दर आनन्द का सागर लहरा रहा है अत: मैनें भी इस मुद्रा को देखकर आनन्द के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर ली है । यथा -

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया विदितमेव सतां सह लीलया ।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते अहमिति प्रणतोऽप्यपटाय ते ।।18।।

जिनेन्द्र भगवान् को नाना प्रकार के विशेषणों से सम्बोधन करके भगवान की स्तुति की है। यह काव्य द्रुतविलम्बित छन्द में लिखा गया है। मूल काव्य 100 श्लोकों में है। 6 श्लोकों में प्रशस्ति, जिसमें कहा है कि आचार्य ज्ञानसागर महाराज के शिष्य विद्यासागर ने वीर निर्वाण सम्वत् 2503 ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को अंतिम श्रीधर केवली की निर्वाण स्थली कुण्डलगिरी में यह काव्य पूर्ण किया। प्रशस्ति के 5 पद्य श्रमण शतक से यथावत् लिए गए हैं। श्लोकों का अन्वयार्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद भी स्वयं कवि ने किया है। पद्यानुवाद वसन्ततिलका छन्द में है, जिसे वीर निर्वाण संवत् 2503 प्रथम आषाढ़ की अमावस्या को सिद्ध क्षेत्र कुण्डलगिरी में पूर्ण किया गया है।

भावना शतकम्

इस काव्य ग्रन्थ में संसार का बीभत्स चित्रण करते हुए जनमानस को संसार से निकलने के उपायों पर विचार किया गया है। कथन की विधा भक्तामर स्तोत्र के अनुसार प्रस्तुत की गई है। अर्थात् प्रश्नवाचक समाधान किऐ गऐ हैं जैसे - उस प्रकार जब हो सकता है तो इस प्रकार क्यों नहीं हो सकता ? कवि की मान्यता है कि विनयशील व्यक्ति ही संसार से तिर सकता है। तीर्थंकर प्रकृति को बंध कराने वाली सोलह कारण भावनाओं को ध्यान में रखकर यह काव्य रचा गया है। भावनाओं का कथन करने वाला होने से "भावना शतक" नाम दिया है। ग्रन्थ के प्रथम 3 श्लोकों में देव शास्त्र गुरु का स्तवन, एक श्लोक में ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा तथा सोलह कारण भावनाओं को (प्रत्येक को) 6-6 श्लोकों में लिखा है। अंतिम 101वें श्लोक में लिखा है कि गुरु के आशीर्वाद से यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ, अपना नाम भी इसी श्लोक में प्रस्तुत किया है। संस्कृत में कहीं भी समय और स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है मात्र हिन्दी पद्यानुवाद में कहा है कि सुहाग नगरी फिरोजाबाद में, बाहुबली के चरणों में विक्रम सम्वत् 2032 श्रावण बदी चौथ को पूर्ण किया। अन्वय अर्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद स्वयं कवि द्वारा ही रचित है। हिन्दी पद्यानुवाद का नाम "तीर्थंकर कैसे बनें" यह भी दिया गया है।

परिषह–जय शतकम्

दिगम्बर जैन श्रमण को 22 प्रकार के परिषह हो सकते हैं, उनका वर्णन करते हुए उनको सहन करने की विधि एवं फल पर कवि ने विचार किया है। परिषह सहन करने वाले श्रमण को अनेक-अनेक सत् शब्दों द्वारा सम्बोधन किया है, जैसे सत्कार पुरस्कार परिषह में कहा है कि हे ! श्रमण तुझे जब गणधर परमेष्ठी आदि नमस्कार करते हैं तो फिर अन्य के नमस्कार से क्या प्रयोजन ? यथा -

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं समितिवृपरतः सुखदा स्वयम् ।
किमु तदाप्यसतां प्रणतेर्नुतेरिति वदन्ति बुधाः सुमते नुते ॥82॥

इस काव्य में मूल में 100 श्लोक है 101वाँ श्लोक निरंजनशतक का यथावत् लिया है । जिसमें स्वयं का एवं गुरु का नाम प्रकट किया है । हिन्दी पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में किया गया है । द्रुतविलम्बित अनुष्टुप् एवं आर्या छन्दों का भी कहीं कहीं काव्य में प्रयोग किया गया है ।

सुनीति शतकम्

नाम के अनुसार इस संस्कृत काव्य में कवि ने नीतियों के माध्यम से भव्य जीवों को धर्म मार्ग की ओर प्रेरित किया है । शास्त्रों से आजीविका चलाने वाले विद्वानों को सावधान करते हुए ज्ञान के फल से रहित कहा है । यथा -

मूल्येन पुष्टं च मलेन तुष्टं नवीन वस्त्रं न हि नीरपायि ।
गुरूपदेशामृतरागहीनः शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि ॥2॥

जिस प्रकार काली गाय का दूध सफेद ही होता है, उसी प्रकार मनुष्य का कुलगोत्र कोई भी हो लेकिन धर्मात्मा व्यक्ति की आत्मा पवित्र ही होती है । नीतियों का प्रयोग प्राय: उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए कुछ उपमाओं ने भी नीतियों का रूप धारण कर लिया है । इस काव्य में सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक चेतना को जागृत करने वाली नीतियाँ उद्भावित हुयीं है । शृंगार रस के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि 'शृंग' याने शिखर अर्थात् शिखर पर बैठने वाला रस ही शृंगार रस है इसलिए शांत रस ही प्रधान रस है । यथा -

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।
अध्यात्मशृङ्गं त्विति रातिशान्तः शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ॥22॥

अन्त में गुरु का नाम ज्ञानसागर तथा स्व नाम विद्यासागर तथा ग्रन्थ का नाम सुनीति शतक दिया है, स्थान-सम्मेदाचल का पाद प्रान्त ईसरी तथा समय-वीर निर्वाण सम्वत् 2509 महावीर जयन्ती पर पूर्ण किया । मूल 101 श्लोक, तीन प्रशस्ति श्लोक चार मंगलकामना श्लोक । इस प्रकार कुल 108 पद्यों वाला यह काव्य है। पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में कवि ने स्वयं किया है ।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी भाषा वर्तमान में राष्ट्र भाषा मानी जाती है । इस भाषा का साहित्यिक इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है । लगभग 15वीं 16वीं शताब्दी के बाद ही इस भाषा में साहित्य का सृजन किया गया है । लेकिन इस भाषा की सहजता एवं सरलता ने वर्तमान में इसे भारत की राष्ट्रभाषा का सम्मान प्राप्त कराया है । अत: यह पारिवारिक सामाजिक एवं व्यावहारिक बोली की भाषा भी हो गई है ।

प्राकृत अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य को पठनीय बनाने के लिए इस जन प्रिय हिन्दी भाषा में साहित्यकारों को प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में पूर्व रचित साहित्य का इस हिन्दी भाषा में अनुवाद करना उपयोगी / आवश्यक है ।

इस बीसवीं शताब्दी में तो इस हिन्दी भाषा में अपरम्पार साहित्य लिखा गया है क्योंकि साहित्यकार प्राय: जनप्रिय भाषा में ही साहित्य लिखने की भावना रखता है। महाकवि आ. ज्ञानसागर जी महाराज ने भी हिन्दी भाषा में साहित्य सृजित किया है तथा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने भी इसी भाषा में सन् 1996 तक निम्न रचनायें लिखी हैं ।

मूकमाटी महाकाव्य

यह महाकाव्य आधुनिक मुक्त छन्द में लिखा गया है जिसे अतुकान्त छन्द भी कहते है । आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि अनेक दृष्टिकोण से यह इस शताब्दी का अति महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है । इस महाकाव्य में विशेष रूप से सामाजिक उलझे हुए परिवेशों को महाकवि ने आगम तर्क एवं अनुभूति के आलम्बन से सुलझाकर समाज को प्रशस्त मार्ग का दिग्दर्शन किया है । जाति और कुल मद को निर्मद करते हुऐ स्त्री जाति को उनके नामों का शब्द विच्छेद करके समाज में नारी को उच्च स्थान प्रदान किया है । अर्थात कवि का मुख्य लक्ष्य उन तथ्यपूर्ण तत्त्वों का जीर्णोद्धार करना है जिनको समाज एवं धर्म के ठेकेदारों ने अपनी अहमियत को सुरक्षित करने के लिए उपेक्षित किया था । काव्य की मूल विषयवस्तु से भी यही बात ज्ञात होती है कि यहाँ पद दलित मिट्टी को मंगलकलश रूप प्रदान कर पूज्य बनाया गया है । अर्थात इस विषय को काव्य का विषय बनाने का कवि का यह ध्येय रहा है कि कुल और जाति से व्यक्ति कितना ही हीन क्यों न हो, लेकिन वह व्यक्ति सद् आचार-विचार की साधना से उच्च बन सकता है । मिट्टी से कुम्भ तक की व्यथा-कथा के निमित्त से धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता, सामाजिक एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व, दाम्पत्य जीवन, निमित्त-उपादन, गृहस्थ-श्रमण जीवन, स्वमत-परमत, राजा-प्रजा, इहलोक-परलोक, संसार एवं मोक्ष मार्ग, आराध्य-आराधक, साध्य-साधक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एवं सामाजिक कुरीतियाँ आदि अनेक प्रसंगों पर इस महाकाव्य में प्रकाश डाला गया है । दाता और पात्र के सम्बन्धों का बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है । वर्तमान के आंतकवाद पर प्रकाश डालते हुए कवि ने कहा है -

मिटने मिटाने पर क्यों तुले हो
इतने सयाने हो
फिर भी
प्रलय के लिये जुटे हो
जीवन को मत रण बनाओ

प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ

प्रकृति को उजाड़ने वाले तत्त्वों पर महाकवि ने प्रकृति के द्वारा ही कहलवाया है कि -

मेरे रोने से यदि तुम्हें सुख मिलता है
तो लो मैं रो रही हूँ
रो सकती हूँ ।

उपरोक्त पंक्तियाँ आज के वातावरण के लिये कितनी वात्सल्यमयी करुणामयी हैं, इनमें से करुण रस तथा इसका स्थाई भाव वात्सल्य प्रकट हो रहा है । पुरुषार्थ, उपकार एवं कर्म की नियति स्वभाव को प्रकट करते हुए कहा है कि

जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है
और जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
और जब दुआ काम नहीं करती
तब स्वयंभुवा काम करती है ।

इन पंक्तियों में महाकवि ने पुरुषार्थ परोपकार एवं कर्म के नियत स्वभाव का ध्यान रखते हुए वस्तु स्वभाव को स्वतन्त्र रखा है । चौथे खण्ड में अग्नि की भी अग्नि परीक्षा होती है, होनी ही चाहिए, तभी जला हुआ काला कोयला पुन: अग्नि का संस्कार पाकर शुक्ल हो जाता है । अत: काले कोयले की दशा चाँदी सी राख में परिणत हो जाती है ।

इस काव्य में 4 खण्ड हैं । प्रथम खण्ड का नाम ''शंकर नहीं, वर्ण लाभ'' दिया है, इसमें बताया गया है कि निमित्त को स्वीकार करने से उपादान में एवं वास्तु स्वातन्त्र्य में कोई शंकर दोष नहीं आता बल्कि उपादान में छुपी हुई शक्तियाँ उद्घटित हो जाती है । दूसरे खण्ड का नाम 'बोध, सो शोध नहीं' अर्थात शब्द ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जा सकता और ज्ञान मात्र को शोध नहीं कहा जा सकता है, जब तक ज्ञान चारित्र गुण की पर्याय बनकर अनुभव में नहीं आ जाता है ।

तीसरे खण्ड का नाम ''पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन'' है । इस खण्ड में कहा गया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति के अन्तर घट में उफनते हुए पाप के बीजरुप क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह शमन होते हैं, वैसे-वैसे पुण्य का सम्पादन होता है। पुण्य संचय से ही पाप का प्रक्षालन किया जा सकता है । आज के जो तथाकथित अध्यात्मवादी पुण्यक्रिया को हेय मानते हैं उनको इस अध्याय का पठन करके अपनी मिथ्या धारणा का प्रक्षालन कर लेना चाहिये ।

चौथे खण्ड का नाम 'अग्नि सी परीक्षा: चाँदी सी राख' दिया है, अर्थात् व्यक्ति

यदि सच्चे रास्ते की कठिनतम घाटियों में उपसर्ग और परिषह को सहन करता हुआ यदि अविरल बढ़ता जाता है तो अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। उदाहरण दिया है कि पैरों से रौंदी गई मिट्टी एक दिन मंगल कलश रूप धारण करती है और उस मंगल कलश को सारी दुनिया अपना मस्तक झुकाती है। इस काव्य में अनेक रस यथायोग्य स्थान पर समाहित है। काव्य नायक धीरोदात्त है। इस प्रकार यह महाकाव्य साहित्य पिपासुओं की पिपासा शांत करने में पूर्ण सक्षम है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से किया गया है।

नर्मदा का नरम कंकर

यह खण्ड काव्य छन्दमुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखा गया है, इसमें 36 कविताएँ हैं, कविताओं में स्व आध्यात्मिक अनुभूति तथा सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेशों का चित्रण किया है। इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से किया जा चुका है।

डूबो मत, लगाओ डुबकी

इस खण्ड काव्य में 42 लघु कविताऐं छन्द मुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखी गई हैं। संसार में रहकर शांति का अनुभव कैसे किया जा सकता है, उन उपायों की चर्चा की है अर्थात् कीचड़ में कमल, एवं स्वर्ण की दशा का वर्णन किया है।

तोता क्यों रोता है

यह भी छन्दमुक्त (अतुकान्त) 55 कविताओं को निबद्ध करने वाला खण्ड काव्य है। व्यक्ति वर्तमान के उपलब्ध वैभव से संतुष्ट न होकर भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर रोता रहता है, इसी का चित्रण इसमें किया गया है।

निजानुभव शतक

यह शतक वसन्ततिलका छन्द में 104 पद्यों में लिखा गया है, प्रथम 3 छन्दों में देव शास्त्र गुरु की स्तुति की है तथा 4 छन्द में काव्य लिखने का अभिप्राय व्यक्त किया है। अंतिम 2 दोहों में लिखा है कि काव्य लिखने का स्थान अजमेर जिले का ब्यावर नगर तथा वर्षायोग में सुगन्ध दशमी के दिन पूर्ण किया।

मुक्तक शतक

102 मुक्तक वाले इस शतक में स्थान समय व गुरु तथा स्व लेखक का नाम कहीं भी अंकित नहीं किया है। प्रवचन आदि के मध्य में इन मुक्तकों को लेने से सरसता आ सकती है।

दोहा स्तुति शतक

101 दोहों में 24 भगवान् की स्तुति की गई है प्रत्येक भगवान का 4-4 दोहों में गुणानुवाद किया गया है। प्रथम 3 दोहों में शुद्ध भाव को नमन करते हुए स्व गुरु को नमन किया है। भारत राष्ट्र के प्रति मंगलकामना व्यक्त करते हुए कहा है कि -

भार रहित भारत बनें
भाषित भारत भाल ।

अर्थात भारत कर्ज से मुक्त हो, विश्व का सिरमुकुट बने । इस दोहा शतक की रचना अतिशय क्षेत्र बीनाबारहा में वीर निर्वाण संवत् 2519 में चैत्र सुदी त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) पर पूर्ण की थी । इस में कवि ने अपने गुरु व स्व का नाम कहीं भी प्रकट नहीं किया है ।

पूर्णोदय शतक

102 छन्दों वाला यह शतक है । प्रथम 6 छन्दों में सिद्ध, अरिहंत, मुनि, गौतम-गणधर, जिनवाणी, गुरु ज्ञानसागर को वन्दना की है, कवि धार्मिक होने के साथ-साथ राष्ट्रप्रेमी भी हैं तथा समाज एवं देश में प्रेम, वात्सल्य देखना चाहते हैं। यथा -

"एक साथ लो बैल दो मिलकर खाते घास
लोकतंत्र पा क्यों लड़ो आपस में करने त्रास" ॥

संसार एवं संसारी प्राणी के स्वभाव का वर्णन इस शतक में है । अन्त के दो काव्यों में इस काव्य को लिखने का स्थान अतिशय क्षेत्र रामटेक तथा समय वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया है ।

सर्वोदय शतक

इस शतक में 102 छंद हैं । प्रथम 4 छंदों में वीर भगवान, पूज्यपाद गुरु एवं जिनवाणी का स्मरण किया है । पाँचवें तथा 101वें छंद में इस शतक का नाम सर्वोदय शतक कहा है । इस काव्य में विभिन्न प्रकार के विषयों को समाविष्ट किया गया है। इस शतक को नर्मदा के उद्गम स्थान अमरकंटक में वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया, ऐसा शतक के अन्त के दो छंदों में कहा है ।

विविध स्तुतियाँ एवं भजन

कवि मोक्षमार्ग में प्रवेश होने के साथ ही प्रारम्भ से ही कविता लिखने के जिज्ञासु रहे है । अत: पूर्व में आचार्य शांतिसागर महाराज की स्तुति वसंततिलका छन्द में 36 पद्यों द्वारा की है । इसी छन्द में वीरसागर महाराज की स्तुति 42 छन्दों में की है । आचार्य शिवसागर महाराज की स्तुति मन्दाक्रान्ता के 22 छन्दों द्वारा की है । आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति 20 छन्दों द्वारा की गई है । इसके अलावा भजन -(1) "अब मैं मन मंदिर में रहूँगा," पांच छन्दों में लिखा है । (2) 'पर भव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर' 4 छन्दों में (3) 'मोक्ष ललना को जिया कब वरेगा' 4 छन्दों में लिखा हैं । (4) 'भटकन तब तक भव में जारी' 4 छन्दों में। (5) 'बनना चाहता है अगर शिवांगना पति' को 4 छन्दों में । (6) 'चेतन निज को जान जरा' 11 छन्दों में । (7) इंगलिश में 'My Self' और (8) 'My Saint' (9) बंगाली भाषा में भी कविता लिखी है, जो अप्राप्त है ।

पद्यानुवाद

द्रव्य, क्षेत्र एवं कालादि की अपेक्षा विश्व में नाना प्रकार की भाषाएँ प्रचलित रहती हैं तथा उसी द्रव्य क्षेत्र एवं कालदि की मर्यादाओं के वातावरण से प्रभावित होकर साहित्यकार तद्रूपभ्भाषा में साहित्य सृजित करते हैं, लेकिन द्रव्य क्षेत्र एवं कालादि की परिणमनशीलता के कारण भाषा भी स्वभावत: परिवर्तित होती है। परिणामस्वरुप पूर्व साहित्यकारों की अनुभूति तथा परम्परागत विषय वस्तु को स्पष्ट, सरल एवं सुबोध रूप में जनमानस तक पहुँचाने के लिए जनप्रिय भाषा में अनुवाद की विधा को अपनाया जाता है। अनुवाद की विधा गद्य एवं पद्यात्मक होती है। वर्तमान में आर्यावर्त में दोनों विधायें विद्यमान हैं। पद्यानुवाद को नाना प्रकार के मात्रिक छन्दों की सूत्रधारा में पिरोकर/ गूंथकर सजाया जाता है। अर्थात् छन्दगत मात्राओं को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण विषय को सीमित शब्दों में लिखकर, "गागर में सागर" भर दिया जाता है। आधुनिक अतुकान्त छन्द को भी क्वचित् कदाचित् वर्तमान में अपनाया जा रहा है।

गद्यानुवाद की विधा खण्डान्वय अथवा दण्डान्वय रुप होती है। दोनों अनुवाद छायानुवाद एवं विशेषानुवाद रुप देखे जाते हैं। छायानुवाद में मूल शब्दों को यथारूप में भाषान्तरित कर दिया जाता है तथा विशेषानुवाद में मूल शब्दों की अर्थगत् नाना अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर सापेक्ष विस्तृत कथन किया जाता है। गद्यात्मक विशेषानुवाद को 'टीका' भी कहते हैं।

20 वीं शताब्दी में महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों विधाओं में अनुवाद (टीकाएँ) किये हैं। लेकिन पूज्य गुरुवर महाकवि आचार्य विद्यासागर जी ने पद्यानुवाद में ही अनुवाद किये हैं। आचार्यश्री द्वारा आज तक (सन् 1996 तक) निम्न ग्रन्थ अनूदित होकर साहित्य जगत् में अपनी सुरभि विकीर्ण कर रहे हैं -

जैन गीता

विनोबा भावे जी ने 2500 निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जैन विद्वानों को प्रेरणा दी थी कि जैनियों का एक सारभूत संकलित ग्रन्थ तैयार होना चाहिए, जिसमें जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त समाहित हों। जिसे पढ़कर पाठक जैन धर्म को समझ सकें। तद्नुसार ब्र. जिनेन्द्र वर्णी जी ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियम सार, अष्टपाहुड़, द्रव्य संग्रह, गोम्मट सार आदि अनेक प्रमुख ग्रन्थों से सारपूर्ण गाथाओं का संकलन किया। प्रथम प्रकाशन के समय इस संग्रह ग्रन्थ का नाम "जैन धर्म का सार" रखा गया, लेकिन गाथाओं पर विद्वानों के मतैक्य नही होने से कुछ गाथाओं को निकालकर तथा कुछ गाथाओं को जोड़कर नाम दिया गया "जिणधम्म" लेकिन उसके बावजूद भी विद्वद् वर्ग संतुष्ट नहीं हुआ। अत: तीसरी बार विनोबा भावे के सान्निध्य में एक संगोष्ठी रखी गई, जिसमें आचार्य मुनि एवं विद्वानों सहित लगभग 300 लोग एकत्रित हुए तथा

बहुत ऊहापोह के साथ गाथाओं का संग्रह किया गया। गाथाओं की संख्या पर विनोबा भावे जी ने कहा कि 7 एवं 108 का अंक जैन समाज के लिए बहुत प्रिय है अत: दोनों को परस्पर में गुणा करने पर 756 आयेगा। अत: 756 संख्या मान्य की गई ।

इस ग्रन्थ के चार खण्ड किए गए हैं । प्रथम खण्ड में 15 अध्यायों में 191 श्लोक हैं जिसके 1 दोहे में संसार का चित्रण एवं उससे बचने के उपाय, दूसरे खण्ड में 18 अध्याय, गाथा 396 है जिसके एक दोहा में मोक्ष मार्ग की साधना के स्वरुप है । तृतीय खण्ड में तीन अध्याय गाथाऐं 71 है जिसके एक दोहा में सृष्टि एवं सृष्टि में विद्यमान पदार्थों का वर्णन है । चतुर्थ खण्ड में 8 अध्याय एवं गाथा 94 हैं । एक दोहे में जैन दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। इसका पद्यानुवाद सर्वप्रथम महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने वसन्ततिलका छन्द में 7 माह में पूर्ण किया था । पद्यानुवाद में मूल शब्दों का ध्यान रखने के साथ-साथ कुछ अलग से शब्दों को जोड़ा गया है, जिससे मूल गाथा का अर्थ-गौरव बढ़ गया है, अत: इस पद्यानुवाद को छायानुवाद न कहकर विशेषानुवाद कह सकते हैं । 756 गाथाओं का पद्यानुवाद 756 पद्यों में ही किया गया है । अंत में 10 छंदों में पद्यानुवाद की प्रशस्ति लिखी गई है, जिसमें ग्रन्थ का नाम ''जैन गीता'' गुरु का नाम ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम विद्यासागर व्यक्त किया है तथा अपनी लघुता व्यक्त करते हुए धीमानों को त्रुटियों को सुधारने का अधिकार दिया है । 4 पद्यों में संसारी जीवों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि दूसरों के पथ में शूल मत बोओ । सेवा और परोपकार की भावना रखते हुए तमो एवं रजो गुण को त्यागकर सत्त्वगुण का आलम्बन लो, एकान्तवाद का प्रतीक ''ही'' (हठवादिता) को त्यागकर अनेकान्त के प्रतीक 'भी' को स्वीकार करो तो नियम से 3-6 का आंकड़ा समाप्त होकर 6-3 का आंकड़ा हो जायेगा, जिसे विश्व शांति का योग कहा जा सकता है । समस्त पृथ्वी को हरी-भरी देखने की कामना करते हुए इस पद्यानुवाद को श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि कुण्डलगिरी में वर्षायोग के समय बड़े बाबा के आशीर्वाद से विक्रम संवत् 2042 भाद्र शुक्ला तीज को भुक्ति मुक्ति का बीज रूप पद्यानुवाद पूर्ण किया ।

कुन्दकुन्द का कुन्दन

महान् आध्यात्मिक ग्रन्थराज समयसार के पद्यानुवाद का नाम 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' है । कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित प्राकृत भाषा का यह मूल ग्रन्थ है। कहा जाता है कि बनारसी दास को जब समयसार की हस्तलिखित मूल प्रति भेंट की गई तो वह इतने आनन्दित हुए कि तिजोरी में से दोनों हाथों में रत्नों को भरकर समयसार देने वाले व्यक्ति को भेंट किये तथा बड़े आदर से ग्रन्थ राज को नमस्कार किया । कवि भी अध्यात्म प्रेमी हैं, समयसार ही कवि का जीवन है, कवि को पूरा समयसार कण्ठस्थ होने से वे प्रतिदिन मुखाग्र इसका पाठ करते हैं। मात्र कण्ठस्थ ही नहीं है, अन्तस्थ भी है । आपका जीवन एवं समयसार एक दूसरे के परस्पर पर्यायवाची बन गये हैं । जयसेन

स्वामी के द्वारा बताई गई कुन्द कुन्द स्वामी की क्रम संख्या के अनुसार पद्यानुवाद किया गया है, पद्यानुवाद में वसन्ततिलका छन्द है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में देव शास्त्र गुरु, कुन्द कुन्द स्वामी, जयसेन स्वामी तथा आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति की है । एक छन्द में पद्यानुवाद का प्रयोजन व्यक्त किया गया है ।

इसमें पूर्वरंगाधिकार, जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता कर्माधिकार, पुण्य पापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार और सर्व विशुद्धि अधिकार हैं ।

मूल ग्रन्थ के 443 छन्द व 12 छन्दों में प्रशस्ति दी गई है, जिसमें एक छन्द में कवि ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए गल्तियों को शोधन करने का अधिकार विद्वानों को दिया है । ग्रन्थ लिखने का स्थान श्रीधर केवली की निर्वाण स्थाली कुण्डलगिरि एवं रचना-काल बड़े बाबा की कृपा से वीर निर्वाण संवत् 2503 शरद पूर्णिमा बतायी गयी है । पद्यानुवाद शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद के रूप में किया गया है । गाथा के पूर्ण भाव को कवि ने लेने का प्रयास किया है । कई स्थानों पर गाथाओं में जिन शब्दों का / भावों का उल्लेख नहीं है, लेकिन पद्यानुवाद में उन शब्दों और भावों को समाविष्ट किया गया है । जैसे मंगलाचरण की मूलगाथा में मात्र श्रुतकेवली शब्द लिया है लेकिन अनुवाद में भद्रबाहु श्रुतकेवली ले लिया गया है । इसी प्रकार अनेक स्थलों पर अधिक शब्दों को लिया है, ये विशेषता जरूर है कि कवि ने मूलगाथा क ऐसा कोई भी शब्द नहीं छोड़ा, जिसका पद्यानुवाद नहीं किया गया हो । प्रकाशित पुस्तक में बायें पृष्ठ पर प्राकृत में मूलगाथा एवं संस्कृत में छायानुवाद किया गया है । दायें पृष्ठ पर पद्यानुवाद दिया गया है ।

निजामृतपान

अमृतचंद्र सूरि द्वारा समयसार की आत्मख्याति टीका के अन्तर्गत संस्कृत श्लोक लिये गये हैं, जिन्हें विद्वद् वर्ग ने अलग से निकालकर प्रकाशित किया तथा अमृतकलश नाम दिया । अध्यात्मपिपासु इन कलशों में भरे हुए अध्यात्मरस को अमृत के समान रुचि से पान करते हैं, अमृतचंद्र सूरि के शब्दों में क्लिष्टता होने के बावजूद भी कवि ने पद्यानुवाद बड़ी कुशलता से किया है, इस अनुवाद में भी जो शब्द मूलश्लोक में नहीं है, उन शब्दों को पद्यानुवाद में प्रवेश कराया गया है, जैसे टीकाकार शब्दों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये नये-नये शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसी विधा में कवि ने यह पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में 278 पद्यों में किया है । अन्त में अलग से 2 दोहे तथा एक वसंततिलका छन्द में, पद्य है । जिसमें गुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर नाम व्यक्त किया है, दो दोहों में कुन्दकुन्द स्वामी, अमृतचंद्र सूरि, ज्ञानसागर महाराज के उपकारी भाव को प्रदर्शित किया है । एक दोहे में निजामृत पान की महिमा बताते हुए कहा है कि इसका जो पान करेगा वह नियम से मोक्ष सोपान को प्राप्त करेगा । 7 दोहों में मंगलकामना की है तथा उन दोहों के यदि प्रथम अक्षर को संग्रह किया

जाये तो कवि का स्वयं का नाम विद्यासागर निकल आता है । एक दोहे में लघुता व्यक्त करने के उपरान्त दो दोहों में रचना का स्थान कुण्डलगिरि के पास दमोहनगर एवं रचनापूर्ति वीर निर्वाण संवत् 2504 महावीर जयंती के सुअवसर बनायी गयी है । इस ग्रन्थ की प्रस्तावना कवि ने स्वयं चेतना के गहराव के नाम से लिखी है । इस प्रकार 278 ज्ञानोदय छन्द 23 दोहे और 1 वसंततिलका छन्द, कुल 302 छन्द का यह पद्यानुवाद पाठकों के लिए निज आत्मा का पान कराने वाला सिद्ध होगा ।

द्रव्य संग्रह

यह ग्रंथ मूल प्राकृतभाषा में लगभग 1 हजार वर्ष पूर्व सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य महाराज ने 58 गाथाओं में गागर में सागर के रुप में रचा था । कवि को यह लघुग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में पद्यानुवाद किया । प्रथम पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में किया गया है, जिसमें 58 मूल पद्य हैं तथा 1 पद्य में आचार्य नेमिचन्द्र स्वगुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर दिया है । एक पद्य में लघुता प्रकट की है, एक पद्य में ग्रन्थ का स्थान-ग्राम अभाना में वीर निर्वाण संवत् 2504 दर्शाया गया है । दूसरा पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में है, जो वीर निर्वाण संवत 2517 में सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरी में रचित है । प्रथम अनुवाद की अपेक्षा दूसरा अनुवाद गाथाओं के रहस्य को विशेषता पूर्वक उद्‌घाटित करता है, इस द्वितीय अनुवाद का प्रारम्भ भगवान नेमिनाथ, नेमिचन्द्र आचार्य एवं स्वगुरु ज्ञानसागर की स्तुति से किया है । प्रथम पद्यानुवाद की तरह इस द्वितीय पद्यानुवाद में कहीं भी कवि ने स्वयं का नाम स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है । मात्र 58 पद्यों में मूल अनुवाद 6 दोहों में मंगलकामना 2 दोहों में स्थान और समय परिचय दिया है । इस प्रकार कुल 68 पद्यों में द्वितीय अनुवाद पूर्ण हुआ है ।

द्वितीय अनुवाद का जब प्रथम अनुवाद से तुलना करते हैं तो प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और अनुभव में कितना महान अन्तर आ जाता है । शोधार्थियों के लिये दोनों अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने से महत्त्वपूर्ण विषय सामग्री उपलब्ध होगी ।

अष्ट पाहुड़

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा 8 भागों में प्राकृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ मोक्षमार्गियों के लिये निर्णयात्मक ग्रन्थ है । कवि ने इसका पद्यानुवाद पूर्ण सावधानी पूर्वक करने का प्रयास किया है, लेकिन फिर भी कहीं-कहीं छन्द पूर्ति के लिए कुछ शब्दों को जोड़ा है, जैसे दर्शन पाहुड़ की तीसरी गाथा में पुरुष शब्द नहीं है, लेकिन अनुवादक ने अपने अनुवाद में पुरुष शब्द को प्रस्तुत किया है, जो गाथा के अर्थ को विस्तृत न करके सीमित करता है । उसी प्रकार पांचवीं गाथा में सम्यक्त्व से रहित जीव को अनुवादक ने मंद पापी कहा है, लेकिन मूलगाथा में ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसे

और भी प्रसंग है जो विचारणीय हैं। दर्शनप्राभृत में 36 पद्य, सूत्रप्राभृत में 27, चारित्रप्राभृत में 45, बोधप्राभृत में 62, भावप्राभृत में 165, मोक्षप्राभृत में 106, लिंग प्राभृत में 22, शीलप्राभृत में 40, इस प्रकार 503 पद्यों में मूलगाथा का अनुवाद है तथा प्रत्येक पाहुड़ के अन्त में सारभूत अर्थ को प्रकट करने वाले क्रमशः निम्न प्रकार दोहे लिए हैं - 2 - 2 - 2 - 3 - 2 - 2 - 2 = 15 ग्रन्थ के अन्त में 1 दोहे में लघुता प्रकट की है। 9 दोहों में कुन्द-कुन्द स्वामी एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का नामोल्लेख किया है । 2 दोहों में स्थान- सिद्ध क्षेत्र नैनागिरी तथा रचना काल वीर निर्वाण संवत् 2505 दीपावली का दिन बताया गया है, इस प्रकार इसमें कुल 529 पद्य है ।

नियमसार –

187 गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में निश्चय- व्यवहार, कारण-कार्य, निमित्त-उपादान की समन्वयात्मक दृष्टि प्रकट की है । इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद यदि व्यक्ति समयसार पढ़ेगा तो वह एकान्तवादी होने से बच सकता है । पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में 187 पद्यों में किया गया है । ग्रन्थ के प्रारंभ में 5 दोहों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का स्मरण किया है, ग्रन्थ के अंत में एक दोहे में अपनी लघुता सिद्ध की है, तथा 3 दोहों में रचना का स्थान अतिशय क्षेत्र थूवोन जी के शांतिनाथ भगवान के चरणों में वर्षायोग के अवसर पर वीर निर्वाण संवत् 2507 में इस पद्यानुवाद की पूर्ति होना बताया गया है । विचारणीय विषय है कि थूवोन क्षेत्र के मूलनायक आदिनाथ हैं फिर कवि ने शांतिनाथ भगवान के चरण सान्निध्य की बात क्यों कही । मेरी दृष्टि से यह हो सकता है कि कवि के इष्टदेव, शांतिनाथ हो सकते हैं अथवा दूसरी तरफ यह भी अर्थ निकलता है कि थूवोन क्षेत्र में लगभग 25 मंदिर है । क्षेत्र के प्रथम चातुर्मास में जिस मंदिर में आचार्य श्री बैठते थे, उस मंदिर के मूलनायक शांतिनाथ हैं, संभवतया इसलिए शांतिनाथ भगवान को स्मरण किया हो। इस पद्यानुवाद में कवि ने अपना नाम कहीं भी प्रदर्शित नहीं किया है ।

द्वादशानुप्रेक्षा –

कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में 51 गाथाओं में 12 अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है । कवि ने वसंततिलका छन्द में 51 पद्यों में ही पद्यानुवाद किया है । अनुवादक ने कहीं भी मूलग्रन्थकर्ता, गुरु एवं स्वयं के नाम का कहीं भी संकेत नहीं किया है और न ही समय स्थान का परिचय दिया है ।

समन्तभद्र की भद्रता –

महान दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू-स्तोत्र नाम से 24 तीर्थंकरों का स्तवन किया है । 143 श्लोक प्रमाण संस्कृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ कवि को बहुत प्रिय है । कवि एक आचार्य हैं और जैन दर्शन के अनुसार आचार्य उपाध्याय साधु को 6 आवश्यकों में स्तुति, वंदना आवश्यक भी है, उसे प्रतिदिन करना पड़ता

है, अत: आचार्यश्री इस स्तोत्र का प्रतिदिन स्तुति, वंदना नामक आवश्यकों की सम्पूर्ति हेतु पाठ करते हैं तथा संघस्थ साधुओं के लिए भी इसी का पाठ करने का निर्देश दिया करते हैं। कवि ने बड़ी रुचि से सरल और सरसता के साथ ज्ञानोदय छन्द में 143 पद्यों में अनुवाद किया है। प्रत्येक तीर्थंकर से संबन्धित श्लोकों के अनुवाद के बाद कवि ने अपनी तरफ से 2-2 दोहों द्वारा संबंधित तीर्थकरों की स्तुति की है, ये दोहे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मंदिरों में तीर्थकरों के अर्घ के लिए इनको लिखा जा सकता है। अनुवाद के अन्त में एक पद्य द्वारा लघुता प्रकट की है, 9 पद्यों में मंगलकामना, एक पद्य में स्वगुरु का नाम ज्ञानसागर स्मरण किया है दो पद्यों में स्थान का नाम इस प्रकार दिया है कि जब संघ प्रथम बार सागर में पहुँचा, उस समय वीर निर्वाण संवत् 2506 में महावीर जयन्ती पर यह अनुवाद पूर्ण किया गया। दायें पृष्ठ पर मूल संस्कृत श्लोक एवं बायें पृष्ठ पर हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है। कुल पद्य 167 हैं। कवि ने अपना नाम इस अनुवाद में कहीं भी नहीं दिया है। इसकी प्रस्तावना डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य ने लिखी है।

गुणोदय –

आचार्य गुणभद्र स्वामी द्वारा 269 संस्कृत श्लोकों में आत्मानुशासन ग्रन्थ रचा गया है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है, और नाम गुणोदय रखा है। अनुवाद में लघु दृष्टान्तों द्वारा विषय को सुपाच्य किया गया है। ग्रन्थ का मूल लक्ष्य विषयभोगों से विरक्त करा कर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त कराना है। ग्रन्थ की भूमिका स्वयं कवि ने गद्य में लिखी है। कुल 269 पद्यों में अनुवाद करने के बाद अंत में 7 दोहों में मंगलकामना, 1 दोहे में लघुता, 1 दोहे में गुरु का नामस्मरण, 2 दोहों में रचना का स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि, एवं समय-वीर निर्वाण संवत 2506 के कार्तिक कृष्णा 30 रचनापूर्ति काल बताया है। बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक तथा दायें पर पद्यानुवाद दिया गया है।

रयणमंजूषा –

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित यह ग्रन्थ गृहस्थों के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त अणुव्रत एवं 11 प्रतिमाओं का वर्णन करने वाला है। अनुवादकार ने मूल श्लोकों के शब्दार्थों को ध्यान में रखते हुए विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए कुछ शब्दों को अलग से जोड़ दिया है, जो मूल श्लोकों में नहीं है। जैसे मूल श्लोक में 'मूल' शब्द आया है, उसका अनुवाद कवि ने मूली, लहसुन, प्याज, गाजर आदि लिया है, ये नाम मूल श्लोक में नहीं हैं। इसी प्रकार अनेक पद्यों में ऐसे प्रसंगों को प्रासंगिक किया है। 150 पद्यों वाला यह अनुवाद बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक है। 8 पद्यों में मंगलकामना 3 पद्यों में स्थान कुण्डलगिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 में रचना-पूर्ण होना बताया गया है। इस अनुवाद में लेखक ने कहीं भी स्वयं अथवा अपने

गुरु का नाम स्पष्ट नहीं किया है । बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक और दायें पृष्ठ पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

आप्त मीमांसा –

इतिहासकारों का कहना है कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 84000 श्लोक प्रमाण गंधहस्ति महाभाष्य लिखा था, जिसमें पशु पक्षियों की भाषा भी निबद्ध थी। दुर्भाग्य से ऐसा महान भाष्य आज हमारे बीच में उपलब्ध नहीं है । भविष्य वक्ताओं के अनुसार जर्मन में जमीन के अन्दर कहीं रत्न पिटारे में सुरक्षित रखा हुआ है। लेकिन उसकी उपलब्धि तक्षक नागमणी के समान दुर्लभ है । इस ग्रन्थ का मंगलाचरण 114 श्लोकों में किया गया है । अनुमान करें, जिसका मंगलाचरण ही इतना बृहद् है तो इसके मूलग्रन्थ का कलेवर कितना बृहद् होगा । सौभाग्य से वह मंगलाचरण हमारे बीच में उपलब्ध है, जिसे आप्तमीमांसा के नाम से जाना जाता है । कवि ने यथावत् 114 पद्यों में अनुवाद किया है, इसके अलावा काव्य के प्रारंभ में 7 पद्यों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य ज्ञानसागर का गुणानुवाद करते हुए अनुवाद का प्रयोजन स्पष्ट किया है । एक पद्य में लघुता तथा एक पद्य में स्थान ईसरी (बिहार) एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507, सुगंध दशमी को पूर्ण किया बताया गया है । अन्त में 8 पद्यों में मंगल कामना की है। कवि ने पूरे अनुवाद में अपने नाम का संकेत नहीं किया है, पूर्ववत् बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक एवं दायें पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

इष्टोपदेश –

आचार्य पूज्यपाद द्वारा यह ~~लघुग्रन्थ~~ उपदेशात्मक शैली में प्रशम एवं संवेग भाव को बढ़ाकर संयम मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला है, कवि को यह 52 श्लोक वाला यह ग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि इसका 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में अनुवाद किया है । प्रथम अनुवाद बसंततिलका छन्द में किया है । मूल अनुवाद 52 पद्यों में एक पद्य पूज्यपाद स्वामी की स्तुति करते हुए श्लेषात्मक ढंग से स्वयं का नाम "विद्या" ऐसा संकेत किया है । द्वितीय अनुवाद ज्ञानोदय छंद में किया है । अन्त में 3 पद्यों में स्थान रामटेक एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 पोष शुक्ला तीज को पूर्ण किया है, ऐसा कहा है । प्रथम अनुवाद में समय एवं स्थान का कोई संकेत नहीं किया गया है तथा द्वितीय अनुवाद में गुरु अथवा स्वयं के नाम का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

गोम्मटेश अष्टक –

आचार्य नेमिचन्द्र महाराज ने गोम्मटेश बाहुबली की स्तुति में प्राकृत भाषा में यह अष्टक लिखा है, इसका पद्यानुवाद कवि ने ज्ञानोदय छन्द में किया है । एक दोहे में नेमिचन्द्र आचार्य का गुणानुवाद एवं दूसरे दोहे में स्वयं का नाम दिया है।

कल्याण मंदिर स्त्रोत –

आचार्य वादिराज महाराज ने पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के रूप में 42 श्लोकों.

में यह स्तोत्र रचा है, कवि ने इसका पद्यानुवाद 42 पद्यों में ही किया है। प्रायः पद्य के प्रथम चरण में दृष्टान्त तथा द्वितीय चरण में दार्ष्टान्त दिया गया है । 41वें पद्य में पार्श्वनाथ भगवान का नाम स्मरण किया गया है । कवि ने स्वयं एवं गुरु के नाम का तथा समय/स्थान के संदर्भ में कुछ भी संकेत नहीं दिया है ।

नन्दीश्वर भक्ति –

पूज्यपाद द्वारा रचित संस्कृत भाषा की 10 भक्तियों में से एक नन्दीश्वर भक्ति है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है । जिसमें विशेष रूप से नन्दीश्वर द्वीप एवं वहाँ विराजित चैत्य-चैत्यालय का वर्णन किया गया है । अनुवाद के अन्त में 2 पद्यों में पूज्यपाद स्वामी तथा ज्ञानसागर महाराज का नाम स्मरण किया है । मूल श्लोकों का अनुवाद 60 पद्यों में तथा 5 पद्यों में अञ्चलिका का अनुवाद किया गया है, 5 पद्यों में प्रशस्ति लिखी गयी, जिसमें स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2517 ज्येष्ठ सुदी पंचमी को पूर्ण किया गया है, ऐसा बताया गया है। इस प्रकार कुल 72 पद्यों वाला यह अनुवाद है ।

समाधि सुधा शतकम् –

पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित 105 श्लोकों वाला समाधि तन्त्र का पद्यानुवाद किया गया है । पद्यानुवाद के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का स्मरण कर स्वनाम का संकेत किया है । समय एवं स्थान का कोई भी संकेत नहीं दिया गया है । अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है ।

योगसार –

योगेन्द्र स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में रचे गये योगसार ग्रन्थ का 107 पद्यों में अनुवाद किया गया है । एक पद्य में मूलग्रन्थकर्ता का स्मरण, ग्रन्थ का नाम तथा स्वनाम दिया गया है । अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है ।

एकीभाव स्त्रोत –

आचार्य कविराज द्वारा संस्कृत में रचे गए इस स्तोत्र का 25 पद्यों में अनुवाद किया गया है एक पद्य में मूलग्रन्थ कर्ता, कविराज की स्तुति तथा दूसरे पद्य में स्वनाम का संकेत किया है । यह अनुवाद मन्दाक्रान्ता छन्द में किया है ।

प्रवचनावली –

भव्यजीवों के कल्याण करने वाले आचार्यश्री के प्रवचन दार्शनिक, आध्यात्मिक विषय को प्रथमानुयोग की कथाओं से सुपाच्य बनाने वाले होते हैं । विशेष कार्यक्रमों को छोड़कर प्रायः प्रवचन रविवार को ही होते हैं । हजारों लोग मन्त्र मुग्ध होकर आपके प्रवचन सुनते हैं । लगभग अभी तक आपके 1500 प्रवचन हो चुके हैं, जिनमें से लगभग 100 प्रवचन अनेक संस्थाओं एवं पत्र पत्रिकाओं से प्रकाशित हो चुके हैं । विद्वानों के बीच में चर्चा का विषय बनने वाले मुख्य प्रवचन सिद्धक्षेत्र नैनागिरी में 7 तत्त्वों पर दिये

गये प्रवचन हैं, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व को बंध के क्षेत्र में अकिंचित् कर कहा गया है। इस सत्य को विद्वान नहीं पचा सके, जिससे आचार्यश्री को स्पष्टीकरण करने के लिए पुनः प्रवचन देने पड़े, जो अकिंचित्कर नाम से प्रकाशित हैं। दूसरे प्रवचन केशली पंचकल्याणक महोत्सव के माने जाते हैं। जो वर्तमान की श्रमण संस्कृति को नकारने वाले डॉ. हुकमचंद भारिल्ल की मिथ्या धारणाओं को खण्डन करने वाले हैं तथा आगमोक्त सत्य का मण्डन करने के लिये दिए गये थे। डॉ. भारिल्ल भी उसमें उपस्थित थे। आचार्यश्री के प्रवचन पूर्णतया आगमयुक्त होते हैं, जिनमें नीतियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ निबद्ध रहती हैं।

इस प्रकार परम पूज्य महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज का यह विपुल साहित्य साहित्यजगत् को गौरवान्वित करने वाला है। पूज्य गुरुदेव के इस साहित्य पर अनेकों शोधार्थी शोध कार्य कर इनके साहित्य में छुपे हुए रत्नों को निकालकर साहित्य जगत् को कण्ठहार प्रदान कर सकते हैं।

आचार्य श्री द्वारा लिखे गऐ अभी तक 39 काव्य ग्रन्थ हैं, जो ग्रन्थ अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित हुऐ हैं। क्योंकि कवि ने जिस स्थान पर ग्रन्थ लिखा, वहीं पर भव्य श्रद्धालुओं ने प्रकाशित कराकर वितरित करा दिया, जिससे वे पुस्तकालय विश्वविद्यालय एवं मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों एवं भारतवर्षीय साहित्य जगत् के मनीषी विद्वानों के पास नहीं पहुँच सके हैं। अतः अभी तक गुरुदेव के साहित्य का विद्वानों द्वारा सही मंथन नहीं किया जा सका हैं। विद्वानों ने साहित्य को चाहा भी लेकिन अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित होने से उपलब्ध करना सम्भव नहीं हो सका, इन्हीं सब दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर आचार्य श्री के साहित्य को 4 खण्डों में संकलित कर आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र एवं दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र संघी जी मन्दिर सांगानेर (जयपुर) से प्रकाशित किया गया है। अब मुझे विश्वास है कि विद्या के सागर का विद्वान लोग मन्थन करके अपार रत्नों के भण्डार को निकालकर, साहित्य जगत् के कोष को समृद्ध करेंगे।

मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

Acharya VIDYA SAGAR
(A Sage with Difference)

In the galaxy of the modern saints, the Jain Acharya Vidya Sagar occupies the position of the pole star. He is serene and luminous. He is a sage of new skies with his roots in the tradition of "Tirthankars." Muni Vidya Sagar's position is correctly depicted by describing him as the muni of celestial 'Chaturtha Kaal' in the precautious "Pancham Kaal" connoting thereby that he is unique and rare of the rarest Jain sages. Prior to his "Diksha" as a Digambar Jain Muni, Vidya Sagar was known as "Vidya Dhar" He was born of Shri Mallappa Parsappa Ashtge and Smt. Shrimatiji Ashtge at village Sadalaga in the distt. Belgaum of Karnataka state on Oct. 10, 1946. The day he was born it was bright 'Sharad Poornima' Hence, there is little wonder that he was born with a spiritual light to dispel darkness enveloping his times. It is unprecedented that seven out of eight members of Vidya Sagar's family including his parents, two sisters and two brothers have given up the family comforts, got "Diksha" and are heading on the path of self realisation.

Vidya Dhar pursued his studies up to the 9th standard of the high school in the village Bekadihal situated near the village Sadalaga of his birth. He had deep spiritual learnings and led a disciplined, systamatic and determined childhood. He thought education to be the base of character formation.

At the age of 9 (nine), Vidya Dhar met 'Charitra Chakravarti' Acharya Shri Shanti Sagar Ji Maharaj This was the turning point in his life It inspired in him a sense of detachment from wordly affairs and whetted his thirst for spiritual knowledge. Later he met "Acharya Desh Bhushanji Maharaj" a noted Digambar Jain sage, and took a vow to observe celibacy all the life. Subsequently, he came across 'Charitra Chakravarti Acharya Shri Gyan Sagar Ji', a rare Digambar saint of the highest order, who blended and personalized supreme character and knowledge in himself. Acharya Gyan Sagar seemed initially reluctant to accept Vidya Sagar as his disciple because he thought that the later, undergoing his teenage, would flee when asked to follow the rigorous path of salvation lead by the 24 "Tirthankars" of this era commencing from 'Adinath'. However, Vidya Sagar had an iron will. Nothing could swerve him from his chosen path of

spiritualism. He was able to undo the apprehension of his great master about likelihood of his intention when he took vow never to use any vehicle and always to walk bare-footed. His resolve ensured Acharya Shri Gyan Sagar that he was a true seed, full of potentiality and promised with this the blessings of the master flowed overwhelmingly on the disciple.

On June 30, 1968 in Ajmer city of Rajasthan State Vidya Dhar took the 'Muni' diksha in the Digambar sect of Jainism. On this occasion, he was spiritually renamed as "Muni Vidya Sagar". In consonance with his name, he worked under worthy guidance of his master Acharya Shri Gyan Sagar, and learnt "Prakrat", "Apbhransa", "Sanskrit", "Hindi", "English" and "Bengali" languages thoroughly. He also studies "Philosophy", "History", "Psychology", "Grammar" and "Literature" at length. However, Austere discipline and meditation consttuted his choicest peak of spiritual experiences.

Acharya Shri Gyan Sagarji renounced his "Acharya" title and bestowed the same to Shri Vidya Sagar. The title of "Acharya" is the highest in the hierarchy of the Jain masters before they atain the coveted "Kewal Gyan" An Acharya works not only for his self realisations, but also instructs, guides and inspires his disciples the "Munies", the "Elaks", the "Kshullaks", the "Aryikas" etc. in his Sangh by setting an example conducting in accordance with the teaching of the "Tirthankars". Besides he also guides the "Shravakas" (house holders) in their spiritual journey. The main object of an "Acharya" is to help in attaining "Kewal Gyan" and salvation from the cycle of birth and rebirth.

Jainism is the oldest of the ancient religions. It preaches strict self control, minimisation of worldly desires and mortification of flesh for attaining the coveted 'Omniscience' and eventual salvation. The code of conduct set for Digambar Jain Muni is credibly austere. He remains "Digamber" i e. naked and bears the rigours of all seasons with equamnity. Sultry summers and winters are just irrelevant to him. He shuns worldly comforts and conveniences like fan, heater, mirror, telephone, T. V., car, utensils and sleeping beds. He abstains from having bath. He can have a silent meal of counted morsels in the standing posture offered by the "Shravakas" and drinking water only once a day. He slips the meals if he does not find the 'vidhi' he had mentally thought of setting out for his meals. He keeps himself engaged in meditation, self introspection and study of the spiritual knowledge. He does not

shave, but performs "Kesh Lonch", which means manually uprooting the hair of the head and face by own hands. A muni is required to observe fast on the days of "Kesh Lonch". Acharya Vidya Sagar has not only gone through the ordeals and adhered to the way of life set for the "Munis" in the scriptures, but his adherence is so total that he can be said to be a personification of the three jewels i.e., "Right Faith", "Right Knowledge" and "Right Conduct".

It is difficult to fathom the inner achievements of a Jain Muni attained during his silent austerity because his inner life is like a stream flowing underneath the ground and invisible to the naked eye of an onlooker A layperson can assess him only by what he sees He can count Acharya Vidya Sagar's achievements in terms of his 25,000 kms journey completely bare-footed, the lectures and sermons delivered by him to teach and propagate Jain philosophy and system and what he has experienced during 29 years of his supreme renunciation and inner journey.

Muni Vidya Sagar started on spiritual path like a tiny stream but various tributaries joined him 'enroute' and he has now swallowed in the mighty ocean of knowledge and spirituality in encompassing the whole of the country About 150 disciples called "Munies", "Elaks", "Kshullakas", and Ariyikas" etc are contributing to create a powerful spiritual atmosphere under what is known as "Shraman Sanskrity".

In realm of literature the contribution of Acharya Shri Vidya Sagar is in legion The pieces of his literature include "Mook Mati", "Narmada Ka Naram Kankar", "Dubo Mat, Lagaoo Dubaki", "Tota Kyon Rota", "Daha Dohan", "Chetana Ke Gherav Mein", "Vidhya Kavya Bharati" "Sarda Stuti," and "Panch Stuti" etc His master piece captioned "Mook Mati" has been acclaimed widely both at national and international levels His works contain exquisite account of his subtle inner experiences in literary field He has translated into Hindi many, a difficult "Prakrat", "Apbhransa" and "Sanskrit" master pieces such "Samaysar", "Ashta Pahund" and "Shravaka Chara" and many more for the use of the common man interested in the spiritual journey

The researchers and scholars in various Indian Universities have conducted research on Acharya Shri Vidya Sagar's writing and have been awarded prestigious Ph.D , and D.Litt degrees.

'Shrawan Sanskriti' holds that an individual can attain the peak in spiritualism independently and meekly through an inner

journey without banking on the grace of any external entity. It aims at salvation without bondage. Acharya Shri Vidya Sagar has worked on the experienced concept and has taken it to its logical climax.

On Nov. 27, 1996 the silver jubilee of the 'Acharya' title conferred upon on Muni Shri Vidya Sagar was celebrated. The best tribute to an Acharya, life and work can not be mere bowing and stooping to his person, but it can be accomplished by taking a resolve to explore the path by leading oneself to the realisation, the unknown hidden pinnacles and horizons embedded in luminous human soul. With head in the 'Samay Sar' and foot in "Moolachar", Acharya Shri Vidya Sagar will continue to inspire those grouping absensity of materialism He is a scion in lineage of the "Siddhas".

There is no dearth of saints in India today. They have renounced the world but a lot many of them seem to be groping in search of inner light. Their faces do not ensure that they have gained what they had left the world for Many of them may be divided and lacking in self confidence, but with his firm root in the tradition of "Tirthankars", Acharya Shri Vidya Sagar is confident in his meekness and flashes a spiritual taster which is unique and different from all other saints

VIRANDRA GODIKA
(I P. S)
S. P. Shri Ganga Nagar (Raj)

प्रवचनामृत

◻ समाचीन धर्म

आचार्य कुंदकुंद के रहते हुए भी आचार्य समन्तभद्र का महत्व एवं लोकोपकार किसी प्रकार कम नहीं है। हमारे लिए आचार्य कुंदकुंद पिता तुल्य है और आचार्य समन्तभद्र करुणामयी मां के समान है। वही समन्तभद्र आचार्य कहते हैं कि देशयामि समीचीन धर्मम कर्मनिवर्हणम्, संसार दुखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। अर्थात् मैं समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा। यह समीचीन धर्म कैसा है? 'कर्मनिवर्हणम्' अर्थात् कर्मो के निर्मूलन करने वाला है और 'सत्त्वान्' प्राणियों को संसार के दुखों से उबारकर उत्तम सुख में पहुँचाने वाला है।

आचार्य श्री ने यहाँ 'सत्त्वान्' कहा अकेला 'जैनान्' नहीं कहा। इससे सिद्ध होता है कि धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष से संबंधित नहीं है। धर्म निर्बन्ध है निस्सीम है, सूर्य के प्रकाश की तरह। सूर्य के प्रकाश को हम बंधन युक्त कर लेते हैं दीवारें खींचकर, दरवाजे बनाकर, खिड़कियाँ लगाकर। इसी तरह आज धर्म के चारों ओर भी सम्प्रदायों की दीवारें सीमाएँ खींच दी गयी हैं।

गंगा नदी हिमालय से प्रारम्भ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल में अगणित प्राणी किलोंले करते हैं उसके जल से आचमन करते हैं उसमें स्नान करते हैं उसका जल पीकर जीवन रक्षा करते हैं अपने पेड़ पौधों को पानी देते हैं खेतों को हरियाली से सजा लेते हैं। इस प्रकार गंगा नदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा सम्प्रदाय की नहीं है वह सभी की है। यदि कोई उसे अपना बतावे तो गंगा का इसमें क्या दोष? ऐसे ही भगवान वृषभदेव अथवा भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति विशेष का आधिपत्य संभव नहीं है। यदि कोई आधिपत्य रखता है तो यह उसकी अज्ञानता है।

धर्म और धर्म को प्रतिपादित करने वाले महापुरुष सम्पूर्ण लोक की अक्षय निधि हैं। महावीर भगवान की सभा में क्या केवल जैन ही बैठते थे? नहीं उनकी धर्मसभा में देव, देवी, मनुष्य, स्त्रियाँ पशुपक्षी सभी को स्थान मिला हुआ था। अतः धर्म किसी परिधि से बंधा हुआ नहीं है उसका क्षेत्र प्राणी मात्र तक विस्तृत है।

आचार्य महाराज अगले श्लोक में धर्म की परिभाषा का विवेचन करते हैं वे लिखते है कि सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्म, धर्मेश्वरा विदुः। यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।। अर्थात् (धर्मेश्वरा) गणधर परमेष्ठी (सद्दृष्टि ज्ञानवृाानि) समीचीन दृष्टि, ज्ञान और सद्आचरण के समष्टि रूप को (धर्म विदुः) धर्म कहते हैं। इसके विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (भवपद्धतिः भवन्ति) ससार पद्धति को बढ़ाने वाले है।

सम्यग्दर्शन अकेला मोक्षमार्ग नहीं है किंतु सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक् चारित्र का समन्वित रूप ही मोक्षमार्ग है। वही धर्म है। औषधि पर आस्था, औषधि का ज्ञान और औषधि को पीने से ही रोगमुक्ति संभव है। इतना अवश्य है कि जैनाचार्यो ने सद्दृष्टि पर सर्वाधिक बल दिया है। यदि दृष्टि में विकार है तो निर्दिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करना असंभव ही है।

कार, चाहे कितनी अच्छी हो वह आज ही फैक्टरी से बनकर बाहर क्यों न आयी हो, किंतु यदि उसका चालक मदहोश है तो वह गंतव्य तक पहुँच नहीं पायेगा। वह कार को कहीं भी टकराकर चकनाचूर कर देगा। चालक का होश ठीक होना अनिवार्य है तभी मजिल तक पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार मोक्षमार्ग का पथिक जब तक होश में नहीं है जब तक उसकी मोह नींद का उपशमन नहीं हुआ तब तक लक्ष्य की सिद्धि अर्थात मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

मिथ्यात्व का विकार, दृष्टि से निकलना चाहिये तभी दृष्टि समीचीन बनेगी, और तभी ज्ञान भी सुज्ञान बन पायेगा। फिर रागद्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र-मोहनीय के उपशम से आचरण भी परिवर्तित करना होगा तब मोक्षमार्ग की यात्रा निर्बाध पूरी होगी।

ज्ञान-रहित आचरण लाभप्रद न होकर हानिकारक ही सिद्ध होता है। रोगी की परिचय करने वाला यदि यह नहीं जानता कि रोगी को औषधि का सेवन कैसे कराया जाए तो रोगी का जीवन ही समाप्त हो जायेगा। अतः समीचीन दृष्टि, समीचीन ज्ञान और समीचीन आचरण का समष्टि रूप ही धर्म है। यही मोक्षमार्ग है।

निर्मल दृष्टि

☐ **दर्शन विशुद्धि मात्र सम्यक् दर्शन नहीं है दृष्टि में निर्मलता होना दर्शन विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिंतन से।**

कार्य से कारण की महत्ता अधिक है क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। फूल न हो तो फल की प्राप्ति नहीं होगी।

कुछ लोग ऐसे भगवान की कल्पना करते हैं जो उनकी सब इच्छाओं की पूर्ति करे। 'खुदा महरबान तो गधा पहलवान' ऐसा लोग कहते हैं। इसीलिए महावीर को बहुत से लोग भगवान मानने को तैयार नहीं। किन्तु सत्य/तथ्य ये हैं कि भगवान बनने के पहले तो शुभाशुभ कार्य किए जा सकते हैं, भगवान बनने के बाद नहीं।

भगवान महावीर जब पूर्व जीवन मे नंदराज चक्रवर्ती थे, तब उनको एक विकल्प हुआ कि "मैं सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करूँ" और इसी विकल्प के फलस्वरूप उन्हे तीर्थकर प्रकृति का बंध हुआ। कल्याण करने के लिये भी बंधन स्वीकार करना पड़ा। ये बंधन चेष्टा पूर्वक किया जाता है तो इस बंधन के पश्चात् मुक्ति होती है। यदि माँ केवल अपनी ही ओर देखे तो बच्चों का पालन सम्भव नहीं होगा।

'पर' के कल्याण मे भी 'स्व' कल्याण निहित हैं ये बात दूसरी है कि फिर दूसरे का कल्याण हो अथवा न भी हो। किसान की भावना यही रहती है कि "वृष्टि समय पर हुआ करे" और वृष्टि तो जब भी होगी सभी के खेतो पर होगी किन्तु जब किसान फसल काटता है तो अपनी ही काटता है, किसी दूसरे की नहीं। अर्थात् कल्याण सबका चाहता है किन्तु पूर्ति अपने ही स्वार्थ की करता है।

दर्शन-विशुद्धि मात्र सम्यग्दर्शन नहीं है। दृष्टि में निर्मलता का होना दर्शन-विशुद्धि है और दृष्टि में निर्मलता आती है तत्व चिन्तन से।

हमारी दृष्टि बड़ी दोषपूर्ण है। हम देखते तो अनेक वस्तुएँ हैं किन्तु उन्हें हम साफ नहीं देख पाते। हमारी आँखों पर किसी न किसी रंग का चश्मा लगा हुआ है। प्रकाश का रंग कैसा है,आप बतायें। क्या यह लाल है? क्या हरा या पीला है? नहीं प्रकाश का कोई वर्ण नहीं। वह तो वर्णातीत है, किन्तु विभिन्न रंग वाले कांच

के सम्पर्क से हम उस प्रकाश को लाल, पीला या हरा कहते हैं, इसी प्रकार हमारा **स्वरूप क्या है?** 'अवर्णोऽहं' मेरा कोई वर्ण नहीं, 'अरसोऽहं' मुझ मे कोई रस नहीं, **'अस्पर्शोऽहं'** मुझे छुआ नहीं जा सकता। यह मेरा स्वरूप है। किन्तु इस स्वयं को आप पहिचान नहीं पाते। यही है हमारी दृष्टि का दोष।

हम पदार्थो मे इष्टअनिष्ट की धारणा बनाते है। कुछ पदार्थो को इष्ट मानते हैं, जिन्हें हम हितकारी समझते हैं। कुछ पदार्थों को अनिष्ट मानते है, अहितकारी समझते है। पर वास्तव में कोई पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। इष्ट-अनिष्ट की कल्पना भी हमारी दृष्टि का दोष है।

इसी प्रकार जैनाचार्यो ने बताया है कि आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न। ऊपर का आवरण ये शरीर केवल एक छिलके के समान है यह उन्होंने अनुभव द्वारा बताया है किन्तु हम अनुभव की बात भी नहीं मानते। हमारी स्थिति बच्चे जैसी है। दीपक जलता है तो बच्चे को यह समझाया जाता है कि इसे छूना नहीं। उसे दीपक से बचाने की भी चेष्टा की जाती है किन्तु फिर भी वह बच्चा उस दीपक पर हाथ धर ही देता है और जब एक बार जल जाता है तो फिर वह उस दीपक के पास अपना हाथ नहीं ले जाता। हमारी दृष्टि का परिमार्जन तभी समझा जायेगा, जब हम प्रत्येक वस्तु को उसके असली रूप मे देखें/समझें।

यह दर्शन विशुद्धि लाखों-करोड़ों में से एक को होती है, किन्तु होगी ये विशुद्धि केवल मन्दकषाय में ही। शास्त्रीय भाषा में दर्शन-विशुद्धि चौथे गुणस्थान में आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग तक हो सकती है। सद्गृहस्थ की अवस्था मे लेकर उत्कृष्ट मुनि की अवस्था तक यह विशुद्धि होती है। श्रेणी मे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु होगा मंद कषाय के सद्भाव में। दूसरे के कल्याण की भावना का विकल्प जब होगा, तब बंध होगा। तीर्थंकर प्रकृति एक निकाचित बंध है जो मोक्ष ही ले जायेगा।

कल शास्त्रीजी मेरे पास आये थे। साथ में गोम्मटसार की कुछ प्रतियाँ लाये थे। उसमें एक बात बड़े मार्के की देखने को मिली। तीर्थंकर प्रकृति का उदय चौदहवें गुणस्थान में भी रहता है। जब जीव मोक्ष की ओर प्रयाण करता है तब यह तीर्थंकर प्रकृति अपनी विजयपताका फहराते हुए चलती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कषायो से ही कर्मबन्ध होता है और कषायों से ही कर्मों का निर्मूलन होता है। जैसे पानी से ही कीचड़ बनता है पानी में ही घुलकर यह गंगा के जल का भाग बन जाता है। जिसे लोग सिर पर चढ़ाते हैं और उसका आचमन करते हैं। 'काँटा ही काँटे को निकालता है, यह सभी जानते हैं।

दर्शन-विशुद्धि भावना और दर्शन मे एक मौलिक अन्तर है। दर्शन विशुद्धि में केवल तत्वचिन्तन ही होता है, विषयों का चिन्तन नहीं चलता, किन्तु दर्शन में विषय चिन्तन भी सम्भव है।

दर्शन-विशुद्धि भावना चार स्थितियों में भायी जा सकती है। प्रथम मरण के समय, द्वितीय भगवान के सम्मुख, तृतीय अप्रमत्त अवस्था में और चौथे कषाय के मन्दोदय में।

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य का फल है "पुण्यफला अरहंता।", किन्तु इसके लिये पुण्य कार्य पहले होना चाहिए। प्रवृत्ति ही निवृत्ति की साधिका है। राग से ही वीतरागता की ओर प्रयाण होता है। एक सज्जन ने मुझ से कहा– महाराज, आप एक लंगोटी लगा लें तो अच्छा हो, क्योंकि आपके रूप को देखकर राग की उत्पत्ति होती है।" मैंने कहा– "भैया, तुम जो चमकीले-भड़कीले कपड़े पहिनते हो, उससे राग बढ़ता है अथवा यथाजात अवस्था से। नग्न दिगम्बर रूप तो परम वीतरागता का साधक है। विशुद्धि में आवरण कैसा? विशुद्धि में तो किसी भी प्रकार का बाहरी आवरण बाधक है साधक तो वह किसी अवस्था में हो नहीं सकता। अन्तरंग का दर्शन तो यथाजात रूप द्वारा ही हो सकता है, फिर भी यदि इस रूप को देख कर किसी को राग का प्रादुर्भाव हो, तो मैं क्या कर सकता हूँ। देखने वाला भले ही मेरे रूप को न देखना चाहे तो अपनी आँखो पर पट्टी बाँध ले। पानी किसी को कीचड़ थोड़े ही बनाना चाहता है। जिसकी इच्छा कीचड़ बनने की हुई उसकी सहायता अवश्य कर देता है। पानी एक ही है। जब वह मिट्टी में गिरता है तो उसे कीचड़ बना देता है। जब वह बालू में गिरता है तो उसे सुन्दर कणदार रेत में परिवर्तित कर देता है। वही पानी जब पत्थर पर गिरता है तो उसके रूपरंग को निखार देता है। पानी एक ही है, किन्तु जो जैसा बनना चाहता है उसकी वैसी ही सहायता कर देता है। इसी प्रकार नग्न रूप वीतरागता को पुष्ट करता है किन्तु यदि कोई उससे राग का पाठ ग्रहण करना चाहे, तो ग्रहण करे, इसमें उस नग्न रूप का क्या दोष? ये तो दृष्टि का खेल है। □□

विनयावनति

- **विनय जब अंतरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में प्रदर्शित होती है।**

विनय का महत्त्व अनुपम है। यह वह सोपान है जिस पर आरूढ़ होकर साधक मुक्ति की मंजिल तक पहुँच सकता है। विनय आत्मा का गुण है और ऋजुता का प्रतीक है। यह विनय तत्त्व-मथन से ही उपलब्ध हो सकता है। विनय का अर्थ है सम्मान, आदर, पूजा आदि। विनय से हम आदर और पूजा तो प्राप्त करते ही हैं, साथ ही सभी विरोधियों पर विजय भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रोधी, कामी, मायावी, लोभी सभी विनय द्वारा वश में किये जा सकते हैं। विनयी दूसरो को भलीभाँति समझ पाता है और उसकी चाह यही रहती है कि दूसरा भी अपना विकास करे। अविनय में शक्ति का बिखराव है विनय में शक्ति का केन्द्रीकरण है। कोई आलोचना भी करे तो हम उसकी चिन्ता न करें। विनयी आदमी वही है जो गाली देने वाले के प्रति भी विनय का व्यवहार करता है।

एक जगल में दो पेड़ खड़े हैं– एक बड़ का और दूसरा बेंत का। बड़ का पेड़ घमण्ड में चूर है। वह बेंत के पेड़ से कहता है– "तुम्हारे जीवन से क्या लाभ है? तुम किसी को छाया तक नहीं दे सकते और फल तथा फूल का तो तुम पर नाम ही नहीं। मुझे देखो, मैं कितनों को छाया देता हूँ यदि मुझे कोई काट भी ले तो मेरी लकड़ी से बैठने के लिए सुन्दर आसनों का निर्माण हो सकता है। तुम्हारी लकड़ी से तो दूसरों को पीटा ही जा सकता है।" सब कुछ सुनकर भी बेंत का पेड़ मौन रहा। थोड़ी देर में मौसम ऐसा हो जाता है कि तूफान और वर्षा दोनों साथ-साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। कुछ ही क्षणों में बेंत का पेड़ साष्टांग दण्डवत् करने लगता है, झुक जाता है। किन्तु बड़ का पेड़ ज्यों का त्यों खड़ा रहा। देखते-देखते ही पाँच मिनट में तूफान ने उसे उखाड़ फेंका। बेंत का पेड़ जो झुक गया था, तूफान के निकल जाने पर फिर ज्यों का त्यों खड़ा हो गया। विनय की जीत हुई अविनय हार गया। जो अकड़ता है, गर्व करता है उसकी दशा बिगड़ती ही है।

हमें शब्दों की विनय भी सीखना चाहिये। शब्दों की अविनय से कभी-कभी बड़ी

हानि हो जाती है। एक भारतीय सज्जन एक बार अमेरिका गये। वहाँ उन्हें एक सभा में बोलना था। लोग उन्हें देखकर हँसने लगे और जब वे बोलने के लिये खड़े हुये तो हँसी और अधिक बढ़ने लगी। उन भारतीय सज्जन को थोड़ा क्रोध आ गया; मंच पर जाते ही उनका पहला वाक्य था 'पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख होते हैं।'' अब क्या था। सारी सभा में हलचल मच गई और सभा अनुशासन से बाहर हो गई। पर तत्काल ही उन भारतीय सज्जन ने थोड़ा विचार.कर कहना शुरू किया– "क्षमा करे, पचास प्रतिशत अमेरिकन मूर्ख नहीं होते।'' इन शब्दों को सुनकर सभा में फिर शान्ति हो गई और सब लोग यथास्थान बैठ गये। देखो, अर्थ में कोई अन्तर नहीं था; केवल शब्द-विनय द्वारा वह भारतीय सबको शान्त करने में सफल हो गया।

विनय जब अन्तरंग में प्रादुर्भूत हो जाती है तो उसकी ज्योति सब ओर प्रकाशित होती है। वह मुख पर प्रकाशित होती है आँखों में से फूटती है, शब्दों में उद्भूत होती है और व्यवहार में भी प्रदर्शित होती है। विनय गुण समन्वित व्यक्ति की केवल यही भावना होती है कि सभी में यह गुण उद्भूत हो जाय। सभी विकास की चरम सीमा प्राप्त कर लें।

मुझसे एक सज्जन ने एक दिन प्रश्न किया, "महाराज, आप अपने पास आने वाले व्यक्ति से बैठने को भी नहीं पूछते। बुरा लगता है। आप में इतनी भी विनय नहीं, महाराज। ' मैंने उनकी बात बड़े ध्यान से सुनी और कहा। "भैया, एक साधु की विनय और आपकी विनय एक-सी कैसे हो सकती है? आपको मैं कैसे कहूँ "आइये बैठिये।'' क्या यह स्थान मेरा है? और मान लो कोई केवल दर्शन मात्र के लिए आया हो तो? इसी तरह मैं किसी से जाने की भी कैसे कह सकता हूँ? मैं आने-जाने की अनुमोदना कैसे कर सकता हूँ? कोई मान लो रेल या मोटर से प्रस्थान करना चाहता हो तो मैं उन वाहनों की अनुमोदना कैसे करूँ जिनका मैं वर्षों पूर्व त्याग कर चुका हूँ। और मान लो कोई केवल परीक्षा करना चाहता हो तो, उसकी विजय हो गयी और मैं पराजित हो जाऊँगा। आचार्यों का उपदेश मुनियों के लिए केवल इतना ही है कि वे हाथ से कल्याण का संकेत करें और मुख का प्रसाद बिखेर दें। इससे ज्यादा उन्हें कुछ और नहीं करना है।

"मैत्री, प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्यानि च सत्वगुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु।'' यह सूत्र है। तब मुनि आपके प्रति कैसे अविनय की भावना रख सकता है। उसे तो कोई गाली भी दे तो भी वह सबके प्रति मैत्री-भाव ही रखता है। जंगल में दंगल नहीं करता, मंगल में अमंगल नहीं करता। वह तो सभी के प्रति मंगल-भावना से ओतप्रोत है।

सो धर्म मुनिन कर धरिये, तिनकी करतूति उचरिये
ताकूँ सुनिये भवि प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी।

साधु की मुद्रा तो ऐसी वीतरागतामय होती है जो दूसरों को आत्मानुभव का

प्रबल साधक बन जाती हैं।

फिर एक बात और भी है। अगर किसी को बिठाना दूसरों को अनुचित मालूम पड़े अथवा स्थान इतना भर जाय कि फिर कोई जगह ही अवशेष न रहे तो ऐसे में मुनि महाराज वहाँ से उठना पसन्द करेंगे अथवा उपसर्ग समझ कर बैठे रहेंगे तो भी उनकी मुद्रा ऐसी होगी देखने वाला भी उनकी साधना और तपस्या को समझ कर शिक्षा ले सके। बिच्छू के पास एक डंक होता है। जो व्यक्ति उसे पकड़ने का प्रयास करता है, वह उसको डंक मार ही देता है। एक बार ऐसा हुआ। एक मनुष्य जा रहा था, उसने देखा, कीचड़ में एक बिच्छु फँसा हुआ है। उसने उसे हाथ से जैसे ही बाहर निकालना चाहा, बिच्छू ने डंक मारने रूप प्रसाद ही दिया, और कई बार उसे निकालने की कोशिश में वह डंक मारता रहा, तब लोगों ने उससे कहा– "बावले हो गये हो। ऐसा क्यों किया तुमने?'' "अरे भाई बिच्छु ने अपना काम किया और मैंने अपना काम किया, इसमें मेरा बावलापन क्या?'' उस आदमी ने ये उत्तर दिया। इसी प्रकार मुनिराज भी अपना काम करते हैं। वे तो मंगल की कामना करते हैं और गाली देने वाले उन्हे गाली देने का काम करते हैं। तब तुम कैसे कह सकते हो कि साधु किसी के प्रति अविनय का भाव रख सकता है।

शास्त्रों में अभावों की बात आई है। जिसमें प्राग्भाव का तात्पर्य है "पूर्व पर्याय का वर्तमान में अभाव'' और प्रध्वंसाभाव का अभिप्राय है "वर्तमान पर्याय में भावी पर्याय का अभाव''। इसका मतलब है कि जो उन्नत है वह गिर भी सकता है और जो पतित है वह उठ भी सकता है। और यही कारण है कि सभी आचार्य महान् तपस्वी भी त्रिकालवर्त्ती तीर्थकरों को नमोम्तु प्रस्तुत करते हैं और भविष्यत् काल के तीर्थंकरों को नमोस्तु करने में भावी नय की अपेक्षा सामान्य संसारी जीव भी शमिल हो जाते हैं तब किसी की अविनय का प्रश्न ही नहीं है। आपकी अनंत शक्ति को भी सारे तपस्वियों ने पहिचान लिया है, चाहे आप पहिचाने अथवा नहीं। आप सभी में केवल ज्ञान की शक्ति विद्यमान है यह बात भी कुन्दकुन्दादि महान आचार्यों द्वारा पहचान ली गई है।

अपने विनय गुण का विकास करो। विनय गुण से असाध्य कार्य भी सहज साध्य बन जाते हैं। यह विनय गुण ग्राह्य है, उपास्य है, आराध्य है। भगवान महावीर कहते हैं– "मेरी उपासना चाहे न करो, विनय गुण की उपासना जरूर करो। विनय का अर्थ यह नहीं है कि आप भगवान के समक्ष तो विनय करें और पास-पड़ोस में अविनय का प्रदर्शन करें। अपने पड़ौसी को भी यथायोग्य विनय करो। कोई घर पर आ जाये तो उसका सम्मान करो। "मानेन तृप्ति न तु भोजनेन'' अर्थात् सम्मान से तृप्ति होती है, भोजन से नहीं, अतः विनय करना सीखो, विनय गुण आपको सिद्धत्व प्राप्त करा देगा।

□□

सुशीलता

☐ निरतिचार शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालने में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी छाप पड़ती है ख़ुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं वे भी तिर जाते हैं।

शील से अभिप्राय स्वभाव से है। स्वभाव की उपलब्धि के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना ही "शीलव्रतेष्वनतिचार", कहलाता है। व्रत से अभिप्राय नियम, कानून अथवा अनुशासन से है। जिस जीवन में अनुशासन का अभाव है वह जीवन निर्बल है। निरतिचार व्रत पालन से एक अद्भुत बल की प्राप्ति जीवन में होती है। निरतिचार का मतलब ही यह है कि जीवन अस्त-व्यस्त न हो, शान्त और सबल हो।

रावण के विषय में यह विख्यात है कि वह दुराचारी था किन्तु वह अपने जीवन में एक प्रतिज्ञा में आबद्ध भी था। उसका व्रत था कि वह किसी नारी पर बलात्कार नहीं करेगा, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे नहीं भोगेगा और यही कारण था कि वह सीता को हरण तो कर लाया किन्तु उनका शील भंग नहीं कर पाया। इसका कारण केवल उसका व्रत था, उसकी प्रतिज्ञा थी। यद्यपि यह सही है कि यदि वह सीताजी के साथ बलात्कार का प्रयास भी करता तो भस्मसात हो जाता किन्तु उसी प्रतिज्ञा ने उसे ऐसा करने से रोक लिया।

ये 'निरतिचार' शब्द बड़े मार्के का शब्द है। व्रत के पालन में यदि कोई गड़बड़ न हो तो आत्मा और मन पर एक ऐसी गहरी छाप पड़ती है कि ख़ुद का तो निस्तार होता ही है, अन्य भी जो इस व्रत और व्रती के सम्पर्क में आ जाते हैं बिना प्रभावित हुये रह नहीं सकते। जैसे कस्तूरी को अपनी सुगन्ध के लिए किसी तरह की प्रतिज्ञा नहीं करनी पड़ती, उसकी सुगन्ध तो स्वतःचारों ओर व्याप्त हो जाती है। वैसी ही इस व्रत की महिमा है।

'अतिचार' और 'अनाचार' में भी बड़ा अन्तर है। 'अतिचार' दोष है जो लगाया नहीं जाता, प्रमादवश लग जाता है। किन्तु अनाचार तो सम्पूर्ण व्रत को विनष्ट करने

की क्रिया है। मुनिराज निरतिचार व्रत के पालन में पूर्ण सचेष्ट रहते हैं जैसे कई चुँगी चौकियाँ पार कर गाड़ी यथास्थान पहुँच जाती है उसी प्रकार मुनिराज को भी बत्तीस अन्तराय टालकर निर्दोष आहार और अन्य उपकरण आदि ग्रहण करना पड़ते हैं।

निरतिचार व्रत पालन की महिमा अद्भुत है। एक भिक्षुक था। झोली लेकर एक द्वार पर पहुँचा रोटी माँगने। रूखा जवाब मिलने पर भी नाराज नहीं हुआ बल्कि आगे चला गया। एक थानेदार को उस पर तरस आ गया और उसने उस भिक्षुक को रोटी देने के लिए बुलाया। पर भिक्षुक थोड़ा आगे जा चुका था इसलिए उसने एक नौकर को रोटी देने भेज दिया। 'मैं रिश्वत का अन्न नहीं खाता भइया!' ऐसा कहकर वह भिक्षुक आगे बढ़ गया। नौकर ने वापिस आकर थानेदार को भिक्षुक द्वारा कही गयी बात सुना दी और वे शब्द उस थानेदार के मन में गहरे उतर गये। उसने सदा-सदा के लिए रिश्वत लेना छोड़ दिया। भिक्षुक की प्रतिज्ञा ने, उसके निर्दोष व्रत ने थानेदार की जिन्दगी सुधार दी। जो लोग गलत तरीके से रुपये कमाते हैं वे दान देने मे अधिक उदारता दिखाते हैं। वे सोचते हैं कि इसी तरह थोड़ा धर्म इकट्ठा कर लिया जाय किन्तु धर्म ऐसे नहीं मिलता। धर्म तो अपने श्रम से निर्दोष रोटी कमा कर दान देने में ही है।

अंग्रेजी में कहावत है कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता, उससे भी ऊँचा एक जीवन है जो व्रत साधना से उसे प्राप्त हो सकता है। आज हम मात्र शरीर के भरण-पोषण में लगे है। व्रत, नियम और अनुशासन के प्रति भी हमारी रुचि होनी चाहिये। अनुशासन विहीन व्यक्ति सबसे गया बीता व्यक्ति है। अरे भइया! तीर्थंकर भी अपने जीवन में व्रतों का निर्दोष पालन करते हैं। हमें भी करना चाहिए।

हमारे व्रत ऐसे हो जो स्वयं को सुखकर हों और दूसरों को भी सुखकर हों। एक सज्जन जो संभवतः ब्राह्मण थे मुझसे कहने लगे– 'महाराज, आप बड़े निर्दयी हैं। देने वाले दाता का आप आहार नहीं लेते। तो मैंने उन्हें समझाया-भइया! देने वाले और लेने वाले दोनों व्यक्तियो के कर्म का क्षयोपशम होना चाहिये। दाता का तो दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है पर लेने वाले का भी भोगान्तराय कर्म का क्षयोपशम होना चाहिए। दाता लेने वाले के साथ जबर्दस्ती नहीं कर सकता क्योंकि लेने वाले के भी कुछ नियम, प्रतिज्ञायें होती हैं। जिन्हें पूरा करके ही वह आहार ग्रहण करता है।

सारांश यही है कि सभी को कोई न कोई व्रत अवश्य लेना चाहिये, वे व्रत नियम बड़े मौलिक हैं। सभी यदि व्रत ग्रहण करके उनका निर्दोष पालन करते रहें तो कोई कारण नहीं कि सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न न हों। ◻◻

निरन्तर ज्ञानोपयोग

- **ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है उसे सुखाया नहीं जा सकता; बदला जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान का नाश नहीं किया जा सकता है उसे स्व-पर कल्याण की दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है। यही ज्ञानोपयोग है।**

'अभीक्ष्णज्ञानोपयोग' शब्द तीन शब्दों से मिलकर बना है– अभीक्ष्ण + ज्ञान + उपयोग अर्थात् निरन्तर ज्ञान का उपयोग करना ही अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। आत्मा के अनन्तगुण हैं और उनके कार्य भी अलग-अलग हैं। ज्ञान गुण इन सभी की पहिचान कराता है। सुख जो आत्मा का एक गुण है उसकी अनुभूति भी ज्ञान द्वारा ही संभव है। ज्ञान ही वह गुण है जिसकी सहायता से पाषाण में से स्वर्ण को, खान में से हीरा, पन्ना को पृथक् किया जा सकता है। अभीक्ष्णज्ञानोपयोग ही वह साधन है जिसके द्वारा आत्मा की अनुभूति, समुन्नति होती है उसका विकास किया जा सकता है।

आज तक इस ज्ञान धारा का प्रायः दुरुपयोग ही किया गया है। ज्ञान का प्रवाह तो नदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा नदी के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता; केवल उस प्रवाह के मार्ग को हम बदल सकते हैं उसी प्रकार ज्ञान के प्रवाह को सुखाया नहीं जा सकता केवल उसे स्व-पर हित के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। ज्ञान का दुरुपयोग होना विनाश है और ज्ञान का सुदपयोग करना ही विकास है, सुख है, उन्नति है। ज्ञान के सदुपयोग के लिये जागृति परम आवश्यक है। हमारी हालत उस कबूतर की तरह हो रही है जो पेड़ पर बैठा है और पेड़ के नीचे बैठी हुई बिल्ली को देखकर अपना होश-हवास खो देता है। अपने पंखों की शक्ति को भूल बैठता है और स्वयं घबराकर उस बिल्ली के समक्ष गिर जाता है तो उसमें दोष कबूतर का ही है। हम ज्ञान की कदर नहीं कर रहे बल्कि जो ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं उन ज्ञेय पदार्थों की कदर कर रहे हैं। होना इससे विपरीत चाहिए था अर्थात् ज्ञान की कदर होना चाहिए।

ज्ञेयों के संकलन मात्र में यदि हम ज्ञान को लगा दें और उनके समक्ष अपने को हीन मानने लग जायें तो यह ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञान का सदुपयोग तो यह

है कि हम अन्तर्यात्रा प्रारम्भ कर दें और यह अन्तर्यात्रा एक बार नहीं, दो बार नहीं, बार-बार अभीक्ष्ण करने का प्रयास करें। यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग केवल ज्ञान को प्राप्त कराने वाला है आत्म-मल को धोने वाला है। जैसे प्रभात बेला की लालिमा के साथ ही बहुत कुछ अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा आत्मा का अंधकार भी विनष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान रूपी सूर्य उदित होता है। अतः ज्ञानोपयोग सतत् चलना चाहिये।

'उपयोग' का दूसरा अर्थ है चेतना। अर्थात् अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग अपनी खोज चेतना की उपलब्धि का अमोघ साधन है। इसके द्वारा जीव अपनी असली सम्पत्ति को बढ़ाता है, उसे प्राप्त करता है उसके पास पहुँचता है। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र नहीं है। शब्दों की पूजा करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती सरस्वती की पूजा का मतलब तो अपनी पूजा से है, स्वात्मा की उपासना से है। शाब्दिक ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है इससे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती। शाब्दिक ज्ञान तो केवल शीशी के लेबिल की तरह है यदि कोई लेबिल मात्र घोंट कर पी जाय तो क्या उससे स्वास्थ्य-लाभ हो जायेगा? क्या रोग मिट जायेगा नहीं, कभी नहीं। अक्षर ज्ञानधारी बहुभाषाविद् पण्डित नहीं हैं। वास्तविक पण्डित तो वह है जो अपनी आत्मा का अवलोकन करता है।'' स्वात्मानं पश्यति यःसः पण्डितः।'' पढ़-पढ़ के पण्डित बन जाये किन्तु निज वस्तु की खबर न हो तो क्या वह पण्डित है? अक्षरों के ज्ञानी पण्डित अक्षर का अर्थ भी नहीं समझ पाते। 'क्षर' अर्थात् नाश होने वाला और 'अ' के मायने 'नहीं' अर्थात् मैं अविनाशी हूँ, अजर-अमर हूँ; यह अर्थ है अक्षर का, किन्तु आज का पंडित केवल शब्दों को पकड़ कर भटक जाता है।

शब्द तो केवल माध्यम है अपनी आत्मा को जानने के लिए, अन्दर जाने के लिए। किन्तु हमारी दशा उस पंडित की तरह है जो तैरना न जानकर अपने जीवन से भी हाथ धो बैठता था। एक पंडित काशी से पढ़कर आये, देखा, नदी किनारे मल्लाह भगवान की स्तुति में संलग्न है। बोले– ''ए मल्लाह! ले चलेगा नाव में, नदी के पार।'' मल्लाह ने उसे नाव में बिठा लिया। अब चलते-चलते पंडित जी रौब झाड़ने लगे अपने अक्षर ज्ञान का। मल्लाह से बोले– ''कुछ पढ़ा-लिखा भी है? अक्षर लिखना जानता है?'' मल्लाह तो पढ़ा लिखा था ही नहीं सो कहने लगा पंडितजी मुझे अक्षर ज्ञान नहीं है। पंडित बोले तब तो बिना पढ़े तुम्हारा आधा जीवन ही व्यर्थ हो गया। अभी नदी में थोड़े और चले थे कि अचानक पूर आ गयी, पंडित जी घबराने लगे। नाविक बोला पंडितजी मैं अक्षर लिखना नहीं जानता किन्तु तैरना

जरूर जानता हूँ। अक्षर ज्ञान न होने से मेरा तो आधा जीवन गया परन्तु तैरना न जानने से तो आपका सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया।

हमें तैरना भी आना चाहिये। तैरना नहीं आयेगा तो हम संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते। अतः दूसरों का सहारा ज्यादा मत ढूँढो। शब्द भी एक तरह का सहारा है। उसके सहारे, अपना सहारा लो। अन्तर्यात्रा प्रारम्भ करो।

ज्ञेयों का संकलन मात्र तो ज्ञान का दुरुपयोग है। ज्ञेयों में मत उलझो, ज्ञेयों के ज्ञाता को प्राप्त करो। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग से ही मैं कौन हूँ, इसका उत्तर प्राप्त हो सकता है।

परमाण नय निक्षेप को न उद्योत अनुभव में दिखै।
दृग ज्ञान सुख बलमय सदा नहिं आन भाव जु मो बिखै।।
मैं साध्य साधक मैं अबाधक कर्म अरु तसु फलनि तैं।
चित पिंड चंड अखण्ड सुगुण-करण्ड च्युत पुनि कलनि तैं।।

शुद्धोपयोग की यह दशा इसी अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अतः मात्र साक्षर बने रहने से कोई लाभ नहीं है। 'साक्षर' का विलोम 'राक्षस' होता है। साक्षर मात्र बने रहने से राक्षस बन जाने का भी भय है। अतः अन्तर्यात्रा भी प्रारम्भ करें, ज्ञान का निरन्तर उपयोग करें अपने को शुद्ध बनाने के लिए।

हम अमूर्त्त हैं, हमें छुआ नहीं जा सकता, हमें चखा नहीं जा सकता, हमें सूँघा नहीं जा सकता, किन्तु फिर भी हम मूर्त्त बने हुये हैं क्योंकि हमारा ज्ञान मूर्त्त में संजोया हुआ है। अपने उस अमूर्त्त स्वरूप की उपलब्धि, ज्ञान की धारा को अन्दर आत्मा की ओर मोड़ने पर ही सम्भव है। ◻◻

संवेग

☐ **जिस प्रकार ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का सम्पूर्ण शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के नहीं होने पर जैसे मंदिर की कोई शोभा नहीं है उसी प्रकार बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।**

संवेग का मतलब है संसार से भयभीत होना, डरना। आत्मा के अनन्त गुणों में यह संवेग भी एक गुण है। पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है– सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। संवेग, सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। जैसे ललाट पर तिलक के अभाव में स्त्री का शृंगार अर्थहीन है, मूर्ति के न होने पर मंदिर की कोई शोभा नहीं है। वैसे ही बिना संवेग के सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं है। संवेग सम्यग्दृष्टि साधक का अलंकार है।

संवेग एक उदासीन दशा है जिसमें रोना भी नहीं है, हँसना भी नहीं है, पलायन भी नहीं है, बैठना भी नहीं है, दूर भी नहीं हटना है और आलिंगन भी नहीं करना है। यह जो आत्मा की अनन्य स्थिति है वह सद्गृहस्थ से लेकर मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ मुनि महाराज तक में प्रादुर्भूत होती है। मुनि पग-पग पर डरता है और सावधान रहकर जीवन जीता है। वह अपने आहार-विहार में, उठने, बैठने और लेटने की सभी क्रियाओं में सदैव जाग्रत रहता है सजग रहता है। यदि ऐसा न हो तो वह साधु न होकर स्वादु बन जायेगा। साधु का रास्ता तो मनन और चिंतन का रास्ता है। उसकी यात्रा अपरिचित वस्तु (आत्मा) से परिचय प्राप्त करने का उत्कृष्ट प्रयास है। ऐसे संवेग-समन्वित साधु के दर्शन दुर्लभ हैं। आप कहते हैं कि हम 'वीर' की सन्तान हैं। बात सही है। आप 'वीर' की सन्तान तो अवश्य हैं, किन्तु उनके अनुयायी नहीं। सही अर्थों में आप 'वीर' की सन्तान तभी कहे जायेंगे जब उनके बताये मार्ग का अनुसरण करेंगे।

संवेग का प्रारम्भ कहाँ? जब दृष्टि नासाग्र हो, केवल अपने लक्ष्य की ओर हो, और अविराम गति से मार्ग पर चले। आपने सर्कस देखा होगा, सर्कस में तार पर चलने वाला न ताली बजाने वालों की ओर देखता है और न ही लाठी लेकर खड़े आदमी को देखता है। उसका उद्देश्य इधर-उधर देखना नहीं है उसका उद्देश्य तो

एकमात्र संतुलन बनाये रखना और अपने लक्ष्य पर पहुँचना होता है। यही बात संवेग की है।

सम्यग्दर्शन के बिना पाप से डरना नहीं होता। संसार से 'भीति' सम्यग्दर्शन का अनन्य अंग है। वीतराग सम्यग्दर्शन में ये 'संवेग' अधिक घनीभूत होता है। संवेग अनुभव और श्रद्धा के साथ जुड़ा हुआ है। इस संवेग की प्राप्ति अति दुर्लभ है। वीतरागता से पूर्व यह प्रस्फुटित होता है और फिर वीतरागता उसका कार्य बन जाती है। संवेग के प्रादुर्भूत होने पर सभी बाहरी आकांक्षायें छूट जाती हैं जहाँ संवेग होता है वहाँ विषयों की ओर रुचि नहीं रह जाती, उदासीनता आ जाती है।

भरत चक्रवर्ती का वर्णन सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। उनके भोगों का वर्णन तो किया जाता है किन्तु उनकी उदासीनता की बात कोई नहीं करता। एक व्यक्ति अपने बारह बच्चों के बीच रहकर बड़ा दुःखी होता है। उसकी पत्नी स्वयं कहती है– "भरत जी इतने बड़े परिवार के बीच कैसे रहते होंगे। जहाँ छ्यानवे हजार रानियाँ, अनेकों बच्चे और अपार सम्पदा थी। उनके परिणामों में तो कभी क्लेश हुआ हो ऐसा सुना ही नहीं गया।" वह व्यक्ति भरत जी की परीक्षा लेने पहुँच जाता है, भरत जी सारी बात सुनकर उसे अपने रनिवास में भेज देते हैं। उस व्यक्ति के हाथ पर तेल से भरा हुआ कटोरा रख दिया जाता है और कह दिया जाता है कि "सब कुछ देख आओ, लेकिन इस कटोरे में से एक बूँद भी नीचे नहीं गिरनी चाहिये अन्यथा मृत्यु-दण्ड दिया जायेगा।" वह व्यक्ति सब कुछ देख आया पर उसका देखना न देखने के बराबर ही रहा, सारे समय बूँद न गिर जाने का भय बना रहा। तब भरतजी ने उसे समझाया, "मित्र जागृति लाओ, सोचो, समझो। ये नव निधियाँ चौदह रत्न, ये छ्यानवें हजार रानियाँ ये सब मेरी नहीं हैं। मेरी निधि तो मेरे अंतरंग में छिपी हुई है– ऐसा विचार करके ही मैं इन सबके बीच शांत भाव से रहता हूँ।"

रत्नत्रय ही हमारी अमूल्य निधि है। इसे ही बचाना है। इसको लूटने के लिये कर्म चोर सर्वत्र घूम रहे हैं। जाग जाओ, सो जाओगे तो तुम्हारी निधि ही लुट जायेगी।

"कर्म चोर चहुँ ओर सरबस लूटें सुध नहीं"

संवेगधारी व्यक्ति अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है। चाहे वह कहीं भी रहे। किन्तु संवेग से रहित व्यक्ति स्वर्गिक सुखों के बीच भी दुःख का अनुभव करता है और दुखी ही रहता है। □□

त्यागवृत्ति

- **त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहचान जब हो जाती है तब विषय सामग्री निरर्थक लगती है और उसका त्याग सहज सरलता से हो जाता है।**

यथाशक्ति त्याग को "शक्ति-तस्त्याग' कहते हैं। "शक्ति अनुलंध्य यथाशक्ति" अर्थात् शक्ति की सीमा को पार न करना और साथ ही अपनी शक्ति को नहीं छिपाना इसे यथाशक्ति कहते हैं और इस शक्ति के अनुरूप त्याग करना ही शक्ति-तस्त्याग कहा जाता है।

भारत में जितने भी देवो के उपासक हैं, चाहे वे कृष्ण के उपासक हों, चाहे वे राम के उपासक हों अथवा बुद्ध के उपासक हों, सभी त्याग को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। ऐसे ही महावीर के भी उपासक हैं। किन्तु महावीर के उपासकों की विशेषता यही है, कि उनके त्याग मे शर्त नहीं है। हठग्राहिता नहीं है। यदि त्याग मे कोई शर्त है तो वह त्याग महावीर का कहा हुआ त्याग नहीं है।

सामान्य रूप से त्याग की आवश्यकता हर क्षेत्र मे है। रोग की निवृत्ति के लिए, स्वास्थ्य की प्राप्ति के लिए, जीवन जीने के लिए और इतना ही नहीं, मरण के लिए भी त्याग की आवश्यकता है। जो ग्रहण किया है उसी का त्याग होता है, पहले ग्रहण फिर त्याग यह क्रम है। ग्रहण होने के कारण ही त्याग का प्रश्न उठता है। अब त्याग किसका किया जाये? तो अनर्थ की जड़ का त्याग, हेय का त्याग किया जाये। कूड़ा-कचरा, मल आदि ये सब हेय पदार्थ हैं। इन हेय पदार्थो के त्याग में कोई शर्त नहीं होती; न ही कोई मुहूर्त निकलवाना होता है क्योंकि इनके त्याग के बिना न सुख है न शान्ति। इन्हें त्यागे बिना तो जीवन भी असम्भव हो जायेगा।

त्याग करने मे दो बातों का ध्यान रखना परम अपेक्षणीय है। पहला यह कि

दूसरों की देखा देखी त्याग नहीं करना और दूसरा ये कि अपनी शक्ति की सीमा का उल्लंघन नहीं करना क्योंकि इससे सुख के स्थान पर कष्ट की ही आशंका अधिक है।

त्याग में कोई शर्त नहीं होनी चाहिए। किन्तु हमेशा से आपका त्याग ऐसा ही शर्तयुक्त रहा है। दान के समय भी आपका ध्यान आदान में लगा रहता है। यदि कोई व्यक्ति सौ रुपये के सवा सौ रुपये प्राप्त करने के लिये त्याग करता है तो यह कोई त्याग नहीं माना जायेगा। यह दान नहीं है आदान है। एक विद्वान ने लिखा है कि दान तो ऐसा देना चाहिये जो दूसरे हाथ को भी मालूम न पड़े। यदि त्याग किये हुये पदार्थ मे लिप्सा लगी रही इच्छा बनी रही, यदि इस पदार्थ के भोगने की वासना हमारे मन में चलती रही और अधिक प्राप्ति की आकांक्षा बनी रही तो यह त्याग नहीं कहलायेगा।

बाह्य मलों के साथ साथ अंतरंग मे रागद्वेष रूपी मल भी विद्यमान है जो हमारी आत्मा के साथ अनादि काल से लगा हुआ है। इसका त्याग करना/छोड़ना ही वास्तविक त्याग है। ऐसे पदार्थों का त्याग करना ही श्रेयस्कर है जिनसे रागद्वेष, विषय-कषायों की पुष्टि होती है।

अजमेर में एक सज्जन मेरे पास आये और बोले– "महाराज, मेरा तो भाव पूजा में मन लगता है, द्रव्य पूजन में नहीं।" तो मैंने कहा भइया ये तो दान से बचने के लिए पगडण्डियाँ है। पेट पूजा के लिए कोई भाव-पूजा की बात नहीं करता। इसी तरह भगवान की पूजा के लिये सस्ते पदार्थों का उपयोग करना और खाने-पीने के लिये उत्तम से उत्तम पदार्थ लेना यह भी सही त्याग नहीं है। कई लोग तो ऐसा सोचते हैं कि भगवान महावीर ने तो नासा-इन्द्रिय को जीत ही लिया है। तब उनके लिये सुरभित सुगन्धित पदार्थ क्यों चढ़ाना, ये हमारे मन की विचित्रता है। पूजा का मतलब तो यह है कि भगवान के सम्मुख गद्‌गद्‌ होकर विषयों और कषायों का समर्पण किया जाये। जब तक इस प्रकार का समग्र-समर्पण नहीं होता तब तक पूजा की सार्थकता नहीं है।

त्याग के पहले जागृति परम अपेक्षणीय है। निजी सम्पत्ति की पहिचान जब हो जाती है, उस समय विषय-सामग्री कूड़ा-कचरा बन जाती है और उसका त्याग सहज हो जाता है। इस कूड़े-कचरे के हटने पर अपनी अन्तरंग की मणि अलौकिक ज्योति

के साथ प्रकाशित हो उठती है। त्याग से ही आत्मारूपी हीरा चमक उठता है। जैसे कूड़ा-कचरा जब साफ हो जाता है तब जल निर्बाध प्रवाहित होने लगता है इसी प्रकार विषय-भोगों का कूड़ा-कचरा जब हट जाता है तो ज्ञान की धारा निर्बाध अन्दर की ओर प्रवाहित होने लगती है।

"आतम के अहित विषय-कषाय इनमें मेरी परिणित न जाये" और

"यह राग आग दहै सदा तातें समामृत सेइये।
चिर भजे विषय कषाय अबतो त्याग निज पद वेइये।।

ये राग तपन पैदा करता है। विषय-कषाय हमें जलाने वाले हैं। यह हमारा पद नहीं है। यह 'पर' पद है। अपने पद में आओ। आज तक हम आस्रव में जीवित रहे हैं निर्जरा कभी हमारा लक्ष्य नहीं रहा। इसलिये दुःख उठाते रहे। जब तक हम भोगों का विमोचन नहीं करेंगे, उपास्य नहीं बन पायेंगे।

योग जीवन है, भोग मरण है। योग सिद्धत्व का प्रशस्त करने वाला है और भोग नरक की ओर ले जाने वाला है। आस्था जागृत करो। विश्वास/आस्था के अभाव में ही हम स्व-पद की ओर प्रयाण नहीं कर पाये हैं। त्याग के प्रति अपनी आस्था मजबूत करो ताकि शाश्वत सुख को प्राप्त कर सको। □□

सत्-तप

- **तप, दोषों की निवृत्ति के लिए परम रसायन है। मिट्टी भी तपकर ही पूज्य बनती है। अग्नि की तपन को पार करके ही वह पात्र के रूप में उपयोगी बन जाती है।**

भारत भूमि का एक-एक कण तपस्वियों की पद-रज से पुनीत बन चुका है। तप की प्रशंसा केवल इन महर्षियों, योगियों और तपोपूत पुरुषों द्वारा ही नहीं गायी गयी, अन्य पुरुषों, कवियों ने भी तप की यशोगाथा गायी है। राष्ट्र कवि स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है–

नारायण नारायण धन्य है नर साधना।
इन्द्रपद ने की है जिसकी शुभाराधना।

भोगासक्त देवों ने भी इस तप-साधना की प्रशंसा की है। वे स्वर्गों से उतरकर उनका कीर्तन-पूजन करने के लिये आते हैं जो नर से नारायण बनने की साधना में लगे हैं।

तप दोषों की निवृत्ति के लिये परम रसायन है। मिट्टी भी तप कर ही पूज्य बनती है। जब वह अग्नि की तपन को पार कर लेती है तब पक्के पात्र घड़े आदि का रूप धारण कर लेती है और आदर प्राप्त करती है। कहा भी है पहले कष्ट फिर मिष्ट। पदार्थ की महत्ता वेदना सहकर ही होती है।

आप दुःखी होने पर सुख का रास्ता ढूँढ़ते हैं और साधु समागम में आते हैं। साधु-समागम में सुख मानकर भी यदि कुछ प्राप्त नहीं करते तो आपका आना व्यर्थ ही होगा। जिस भू-तल पर हम रहते हैं वह एक प्रकार का जंक्शन है। प्रत्येक दिशा में यहाँ से मार्ग जाते है। यहाँ से नरक की ओर यात्रा की जा सकती है, स्वर्ग जाया जा सकता है, पशु-योनि को पाया जा सकता है; मनुष्य भी पुनः हुआ जा सकता है और परमात्मा पद की उपलब्धि भी की जा सकती है। जहाँ भी जाना चाहें जा सकते हैं। साधना स्वाश्रित है।

गृहस्थी में आतप है, कष्ट है, छटपटाहट है। जैसे पूड़ी कड़ाही में छटपटाती

है, वही दशा गृहस्थ की होती है। तप द्वारा उस कष्ट का निवारण संभव है। एक बार गृहस्थ मे मेरी बाँह मोच गयी थी, मैंने "स्लोन्स बाम" लगायी। उससे सारा दर्द धीरे-धीरे जाता रहा। इसी तरह संसार की वेदना को मिटाने के लिये तप रूपी बाम का उपयोग करना होगा। कार्य सिद्धि के लिए तप अपनाना ही होगा। लोहे की छड़ आदि जब टेढ़ी हो जाये तो केवल तपाकर ही उसे सीधा बनाया जा सकता है अन्यथा सभी साधन व्यर्थ हो जाते हैं। उसी प्रकार विषय और कषाय के टेढ़ेपन की निवृत्ति के लिये आत्मा को तपाना ही एकमात्र अव्यर्थ साधन है।

इच्छा का निरोध कौन करे? वानर? नहीं नर, केवल नर। वानर तो पशु है। नारकी भी नहीं कर सकते। देव भी नहीं कर सकते। ये सब तो अपनी गलती का प्रायश्चित कर सकते हैं। साधना तो केवल नर ही कर सकता है। धन्य है नर साधना! नर-पद एक ऐसा मैदान है जहाँ पर नारायण बनने का खेल खेला जा सकता है। अभी कुछ दिन पहले एक सज्जन कह रहे थे "धन्य है हमारी यह सुहाग नगरी! फिरोजाबाद! इसने आचार्य महावीर कीर्ति जैसी मूर्ति को उत्पन्न किया।" ठीक है महावीर कीर्ति महाराज यहाँ पैदा हुये और उन्होंने साधना द्वारा अपना कल्याण किया, किन्तु आपको क्या मिला? आप भी महावीर कीर्ति महाराज जैसे बने क्या? महावीर कीर्ति महाराज जैसे तपस्वी आपके लिये आदर्श तो बन सकते हैं आपकी कालिमा का संकेत दे सकते हैं किन्तु वे स्वयं आपकी कालिमा मिटा नहीं सकते, दर्पण आपके मुख पर लगे धब्बे को दिखा सकता है लेकिन वह धब्बा जब भी मिटेगा आपके प्रयास से ही मिटेगा। आपको यह मनुष्य जीवन मिला है तो साधना करना ही चाहिये। अन्यथा आप जानते ही हैं 'तप' का विलोम 'पत' होता है अर्थात् गिरना। साधना के अभाव में पतन ही होगा।

इच्छाऐं प्रत्येक के पास हैं किन्तु इच्छा का निरोध केवल तप द्वारा ही संभव है यदि इच्छाओं का निरोध नहीं हुआ, तो ऐसा तप भी तप नहीं कहा जायेगा 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा भी होती है। यदि तप करने से आकुलता हो और निर्जरा न हो तो वह तप भी तप नहीं है। साधन वही है जो साध्य को दिला दे, कारण वही साधकतम है जो कार्य को सम्पन्न करा दें, औषधि वही है जो रोग की निवृत्ति कर दे, तप वही है जो नर से नारायण बना दे।

गृहस्थ भी घर में थोड़ी बहुत साधना कर सकता है किन्तु आज तो वह भी नहीं होती। आज का गृहस्थ तो राग द्वेष और विषय कषाय में अनुरक्त रह कर उपास्य की मात्र शब्दिक उपासना कर रहा है। एक राजा था वह अपने राज्य में दुष्टों का निग्रह करता था और शिष्ट प्रजा का पालन करता था। एक बार लोगों ने राजा

से शिकायत की– 'महाराज, आपके राज्य में एक व्यक्ति ऐसा पैदा हो गया है जो आपकी आज्ञा का पालन नहीं करता और न ही आपका राज्य छोड़ना चाहता है।'' उसे राजा ने बुलाकर बड़े प्रेम से उसकी आवश्यकताओं की जानकारी ली। एक-एक करके उसने अपनी ढेरो आवश्यकतायें राजा के सामने रखी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति इतनी इच्छाएँ तो रखता है परंतु पुरुषार्थ कुछ भी नहीं करना चाहता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है परंतु आज तो आविष्कार जितने अधिक हो रहे हैं उतनी ही अधिक आवश्यकतायें बढ़ रही हैं। राजा को उस व्यक्ति की इतनी प्रबल इच्छाये देख कर उसे अपने राज्य से निकल जाने का आदेश देना पड़ा। इच्छाओं के कारण उस व्यक्ति को हमेशा दुःख झेलना पड़ा।

अतः केवल आवश्यकता की वस्तुयें रखो, शेष से नाता तोड़लो। उपासना वासना नहीं है। उपासना में तो वासना का निरोध है। वासना के निरोध से ही उपास्य से सम्बंध स्थापित हो सकता है।

कुछ समयसार पाटी सज्जन मेरे पास आते हैं कहते हैं ''महाराज, हमें तो कुछ इच्छा है नहीं । न खाने की इच्छा है न पीने की इच्छा है और न कोई अन्य इच्छा होती है। सब कुछ सानंद चल रहा है।'' उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। अगर खाने की इच्छा नहीं है तो फिर लडडू आदि मुँह में ही क्यों डाले जा रहे हैं, कान में या कि और किसी के मुँह में क्यों नहीं डाल देते। बिना इच्छा के ये सब क्रियायें कैसे चल सकती हैं। प्रवृत्ति इच्छा के बिना नहीं होती। प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति के मार्ग पर जाना ही श्रेयस्कर है। ☐☐

साधु समाधि सुधा साधन

☐ **हर्ष विवाद से परे आत्म-सत्ता की सतत् अनुभूति ही सच्ची समाधि है।**

यहाँ समाधि का अर्थ मरण से है। साधु का अर्थ है श्रेष्ठ/अच्छा अर्थात् श्रेष्ठ/आदर्श मृत्यु को साधु-समाधि कहते हैं। 'साधु' का दूसरा अर्थ 'सज्जन' से है। अतः सज्जन के मरण को भी साधु-समाधि करेंगे। ऐसे आदर्श मरण को यदि हम एक बार भी प्राप्त कर लें तो हमारा उद्धार हो सकता है।

जन्म और मरण किसका? हम बच्चे के जन्म के साथ मिष्ठान वितरण करते हैं। बच्चे के जन्म के समय सभी हंसते हैं किन्तु बच्चा रोता है। इसलिये रोता है कि उसके जीवन के इतने क्षण समाप्त हो गये। जीवन के साथ ही मरण का भय शुरू हो जाता है। वस्तुतः जीवन और मरण कोई चीज नहीं है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है वह तो बिखरेगा ही।

आपके घरों में पंखा चलता है। पंखे में तीन पंखुड़िया होती हैं। ये सब पंखे के तीन पहलू हैं और जब पंखा चलता है तो एक मालूम पड़ते हैं। यह पंखुड़ियाँ उत्पाद, व्यय ध्रौव्य की प्रतीक हैं और पंखे के बीच का डंडा जो घूमता है सत् का प्रतीक है। हम उसकी शाश्वतता को नहीं देखते केवल जन्म-मरण के पहलुओं से चिपके रहते हैं जो भटकाने/घुमाने वाला है।

समाधि ध्रुव है वहाँ न आधि है, न व्याधि है और न ही कोई उपाधि है। मानसिक विकार का नाम आधि है शारीरिक विकार व्याधि है। बुद्धि के विकार को उपाधि कहते हैं। समाधि मन, शरीर और बुद्धि से परे हैं। समाधि में न राग है न द्वेष है, न हर्ष है और न विषाद। जन्म और मृत्यु शरीर के हैं। हम विकल्पों में फँस कर जन्म-मृत्यु का दुःख उठाते हैं। अपने अन्दर प्रवाहित होने वाली अक्षुण्ण चैतन्य धारा का हमें कोई ध्यान ही नहीं। अपनी त्रैकालिक सत्ता को पहिचान पाना सरल नहीं है। समाधि तभी होगी जब हमें अपनी सत्ता की शाश्वतता का भान हो जायेगा। साधु-समाधि वही है जिसमें मौत को मौत के रूप में नहीं देखा जाता है जन्म को भी अपनी आत्मा का जन्म नहीं माना जाता। जहाँ न सुख का विकल्प है और न दुःख का।

आज ही एक सज्जन ने मुझ से कहा "महाराज, कृष्ण जयन्ती है आज।" मैं थोड़ी देर सोचता रहा। मैंने पूछा "क्या कृष्ण जयन्ती मनाने वाले कृष्ण की बात आप मानते हैं? कृष्ण गीता में स्वयं कह रहे हैं कि मेरी जन्म-जयन्ती न मनाओ। मेरा जन्म नहीं, मेरा मरण नहीं। मैं तो केवल सकल ज्ञेय ज्ञायक हूँ। त्रैकालिक हूँ। मेरी सत्ता तो अक्षुण्ण है।" अर्जुन युद्ध-भूमि में खड़े थे। उनका हाथ अपने गुरुओं से युद्ध के लिये नहीं उठ रहा था। मन में विकल्प था कि "कैसे मारूँ अपने ही गुरुओं को।' वे सोचते थे चाहे मैं भले ही मर जाऊँ किन्तु मेरे हाथ से गुरुओं की सुरक्षा होनी चाहिये। मोहग्रस्त ऐसे अर्जुन को समझाते हुये श्री कष्ण ने कहा–

जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवो जन्म मृतस्य च
तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि

जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है इसलिये हे अर्जुन! सोच नहीं करना चाहिये।

अर्जुन! उठाओ अपना धनुष और क्षत्रिय धर्म का पालन करो। सोचो, कोई किसी को वास्तव में मार नहीं सकता। कोई किसी को जन्म नहीं दे सकता। इसलिये अपने धर्म का पालन श्रेयकर है। जन्म-मरण तो होते ही रहते हैं। आवीचि मरण तो प्रति समय हो ही रहा है। कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन से और हम हैं केवल जनम-मरण के चक्कर में, क्योंकि चक्कर में भी हमें शक्कर-सा अच्छा लग रहा है।

तन उपजत अपनी उपज जान
तन नशत आपको नाश मान
रागादि प्रकट जे दुःख दैन
तिन ही को सेवत गिनत चैन

हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर-मरण के साथ अपना मरण मान रहे हैं। अपनी वास्तविक सत्ता का हमको भान ही नहीं। सत् की ओर हम देख ही नहीं रहे हैं। हम जीवन और मरण के विकल्पों में फँसे हैं किन्तु जन्म-मरण के बीच जो ध्रुव सत्य है उसका चिन्तन कोई नहीं करता। साधु- समाधि तो तभी होगी जब हमें अपनी शाश्वत सत्ता का अवलोकन होगा। अतः जन्म जयन्ती न मनाकर हमें अपनी शाश्वत सत्ता का ही ध्यान करना चाहिये, उसी की सँभाल करनी चाहिये।

□□

वैयावृत्त्य

☐ वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा में निमित्त बनकर अपने अंतरंग में उतरना ही सबसे बड़ी सेवा है।

वैयावृत्त्य का अर्थ है सेवा, सुश्रुषा, अनुग्रह, उपकार। सेवा का चर्चा करते ही हमारा ध्यान पड़ोसी की ओर चला जाता है। बचाओ शब्द कान में आते ही हम देखने लग जाते हैं किसने पुकारा है, कौन अरक्षित है और हम उनकी मदद के लिये दौड़ पड़ते हैं। किन्तु अपने पास में जो आवाज़ उठ रही है उसकी ओर आज तक हमारा ध्यान नहीं गया। सुख की खोज में निकले हुये पथिक की वैयावृत्ति आज तक किसी ने नहीं की। सेवा, तभी हो सकती है जब हमारे अन्दर सभी के प्रति अनुकम्पा जागृत हो जाये। अनुकम्पा के अभाव में न हम अपनी सेवा कर सकते हैं और न दूसरे की ही सेवा कर सकते हैं।

सेवा किसकी? ये प्रश्न बड़ा जटिल है। लौकिक दृष्टि से हम दूसरे की सेवा भले कर लें किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में सबसे बड़ी सेवा अपनी ही हो सकती है। आध्यात्मिक दृष्टि से किसी अन्य की सेवा हो ही नहीं सकती। भगवान का उपकार भी उसी को प्राप्त हो सकता है जो अपना उपकार करने में स्वयं अपनी सहायता करते हैं। दूसरों का सहारा लेने वाले पर भगवान कोई अनुग्रह नहीं करते। सेवा करने वाला वास्तव में अपने ही मन की वेदना मिटाता है। यानी अपनी ही सेवा करता है। दूसरे की सेवा में अपनी ही सुख शांति की बात छिपी रहती है।

मुझे एक लेख पढ़ने को मिला। उसमें लिखा था कि इंग्लैण्ड का गौरव उसके सेवकों में निहित है। किन्तु सच्चा सेवक कौन? एक व्यक्ति उठा और कहने लगा– "चाहे सारी सम्पत्ति चली जाय, चाहे सूर्य का आलोक भी हमें प्राप्त न हो किन्तु हम अपने कवि शेक्सपियर को किसी कीमत पर नहीं छोड़ सकते।" 'कहा भी है जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि।' कवि गूढ़ तत्त्व का विश्लेषण भी कर सकता है किन्तु एक काम तो नहीं कर सकता, वो ये कि वह 'निजानुभवी नहीं बन सकता।'

''जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे निजानुभवी'' – पाश्चात्य देश शब्दों को महत्त्व अधिक देते है। जबकि भारत देश अनुभव को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। कवि और चित्रकार प्रकृति के चित्रण में सक्षम हैं किन्तु यही मात्र हमारा लक्ष्य नहीं, तट नहीं। स्वानुभव ही गति है और स्वानुभवी बनने के लिये स्व-सेवा अनिवार्य है। स्वयंसेवक बनो, पर सेवक मत बनो। भगवान के सेवक भी स्वयं सेवक नहीं बन पाते। खुदा का बन्दा बनना आसान है किन्तु खुद का बन्दा बनना कठिन है। खुद के बन्दे बनो। भगवान की सेवा आप क्या कर सकेंगे? वे तो निर्मल और निराकार बन चुके है।

हम शरीर की तड़पन तो देखते हैं किन्तु आत्मा की पीड़ा नहीं पहचान पाते। यदि हमारे शरीर में कोई रात को भी सुई चुभो दे तो तत्काल हमारा समग्र उपयोग उसी स्थान पर केन्द्रित हो जाता है। हमें बड़ी वेदना होती है किन्तु आत्म-वेदना को हमने आज तक अनुभव नहीं किया। शरीर की सड़ाँध का हम इलाज करते हैं किन्तु अपने अंतर्मन की सड़ाँध/उत्कट दुर्गन्ध को हमने कभी असह्य माना ही नहीं। आत्मा में अनादि से बसी हुई इस दुर्गन्ध को निकालने का प्रयास ही वैयावृत्त्य का मंगलाचरण है।

हमारे गुरुवर आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने 'कर्त्तव्य पथ प्रदर्शक' नाम के अपने ग्रंथ में एक घटना का उल्लेख किया है। एक जज साहब कार में जा रहे हैं अदालत की ओर। मार्ग में देखते हैं एक कुत्ता नाली में फँसा हुआ है। जीवेषणा है उसमें किन्तु प्रतीक्षा है कि कोई आ जाये और उसे कीचड़ से बाहर निकाल दे। जज साहब कार रुकवाते हैं और पहुँच जाते हैं उस कुत्ते केपास। उनके दोनों हाथ नीचे झुक जाते हैं और झुककर वे उस कुत्ते को निकाल कर सड़क पर खड़ा कर देते हैं। सेवा वही कर सकता है जो झुकना जानता है। बाहर निकलते ही उस कुत्ते ने एक बार जोर से सारा शरीर हिलाया और पास खड़े जज साहब के कपड़ों पर ढेर सारा कीचड़ लग गया। सारे कपड़ों पर कीचड़ के धब्बे लग गये। किन्तु जज साहब घर नहीं लौटे। उन्हीं वस्त्रों में पहुँच गये अदालत में। सभी चकित हुये किन्तु जज साहब के चेहरे पर आलौकिक आनन्द की अद्‌भुत आभा खेल रही थी। वे शांत थे। लोगों के बार-बार पूछने पर बोले ''मैंने अपने हृदय की तड़पन मिटाई है मुझे बहुत शांति मिली है।''

वास्तव में दूसरे की सेवा करने में हम अपनी ही वेदना मिटाते हैं। दूसरों की सेवा हम कर ही नहीं सकते। दूसरे तो मात्र निमित्त बन सकते हैं। उन निमित्तों

के सहारे अपने अंतरंग में उतरना, यही सबसे बड़ी सेवा है। वास्तविक सुख स्वावलम्बन में है। आरम्भ में छोटे-छोटे बच्चों को सहारा देना होता है किन्तु बड़े होने पर उन बच्चों को अपने पैरों पर बिना दूसरे के सहारे खड़े होने की शिक्षा देनी होगी। आप हमसे कहें कि महाराज आप उस कुत्ते को कीचड़ में से निकालेंगे या नहीं; तो हमें कहना होगा कि हम उसे निकालेंगे नहीं, हाँ उसको देखकर अपने दोषों का शोधन अवश्य करेंगे। आप सभी को देखकर भी हम अपना ही परिमार्जन करते हैं क्योंकि हम सभी मोह-कर्दम में फंसे हुये हैं। बाह्य कीचड़ से अधिक घातक यह मोह-कर्दम है।

आपको शायद याद होगा हाथी का किस्सा जो कीचड़ में फँस गया था। वह जितना निकलने का प्रयास करता उतना अधिक उसी कीचड़ में धँसता जाता था। उसके निकलने का एक ही मार्ग था, कि कीचड़ सूर्य के आलोक से सूख जाये। इसी तरह आप भी संकल्पों-विकल्पों के दल-दल में फँस रहे हो। अपनी ओर देखने का अभ्यास करो तब अपने आप ही ज्ञान की किरणों से यह मोह की कीचड़ सूख जायेगी। बस, अपनी सेवा में जुट जाओ, अपने आप को कीचड़ से बचाने का प्रयास करो। भगवान महावीर ने यही कहा है– "सेवक बनो स्वयं के" और खुदा ने भी यही कहा है "खुद का बन्दा बन।" एक सज्जन जब भी आते हैं एक अच्छा शेर सुनाकर जाते हैं हमें याद हो गया–

अपने दिल में डूबकर पा ले, सुरागे जिन्दगी।
तू अगर मेरा नहीं बनता, न बन, अपना तो बन।।

□□

अर्हत्‌भक्ति

☐ भक्ति गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिये और पहुँचना चाहिये वहाँ, जहाँ निस्सीमता है।

आज हम अर्हत्‌भक्ति की प्ररूपणा करेंगे। अर्हतीति अर्हन् अर्थात् जो पूज्य है उनकी उपासना, उनकी पूजा करना। इसी को अर्हन्‌भक्ति कहते हैं। किन्तु प्रश्न है पूज्य कौन? किसी ने कहा था—"भारत देश की विशेषता ही ये है कि यहाँ पूज्य ज्यादा हैं और पूजने वाले कम हैं।" उपास्य ज्यादा हैं उपासक कम। जब पूज्यों की कमी हुई तो प्रचुर मात्रा में मूर्तियों का निर्माण होने लगा। पूज्य कौन है इसी प्रश्न का उत्तर पहले खोजना होगा क्योंकि पूज्य की भक्ति ही वास्तविक भक्ति हो सकती है। अन्य भक्तियाँ तो स्वार्थ साधने के लिये भी हो सकती हैं। पूज्य की भक्ति में गतानुगतिकता के लिये स्थान नहीं है। दो सम्यग्दृष्टियों के भाव, विचार और अनुभव में अन्तर होना सम्भव है। भले ही लक्ष्य एक हो। क्योंकि अनुभूति करना हमारे अपने हाथ की बात है। भाव तो असंख्यात लोक प्रमाण हैं।

आज से कई वर्ष पूर्व दक्षिण में एक महाराज आये थे। उन्होंने एक घटना सुनाई। दक्षिण में एक जगह किसी उत्सव में जुलूस निकल रहा था। मार्ग थोड़ा सकरा था पर साफ सुथरा था। अचानक कहीं से आकर एक कुत्ते ने उस मार्ग में मल कर दिया। स्वयं-सेवक देखकर सोच में पड़ गया। परन्तु जल्दी ही विचार करके उसने उस मल पर थोड़े से फूल डाल कर ढक दिया। अब क्या था एक-एक करके जुलूस में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने उस पर फूल चढ़ाये और वहाँ फूलों का अम्बार लग गया। वह स्थल पूज्य बन गया। ऐसी मूढ़ता के लिये भक्ति में कोई स्थान नहीं है।

भक्ति किसकी? जो भक्तों से कहे, "आ जाओ मेरी ओर, और मेरी पूजा करो, मैं तुम्हें शरण दूँगा।" ऐसा कहने वाला भगवान नहीं हो सकता। जहाँ लालसा है ख्याति की, वहाँ भगवान कैसे? काम भोग की आकांक्षा रखने वालों से भगवान का क्या वास्ता? 'भगवान भक्त के वश में होते आये' इस कहावत का भी अर्थ गहराई से समझना पड़ेगा। भगवान तो चुम्बक हैं जो उस लोहे को अपनी ओर खींच लेते हैं जिसे मुक्ति की कामना है। उस पाषाण को कभी नहीं खींचते जिसे भुक्ति की

कामना है।

भक्ति-गंगा की लहर हृदय के भीतर से प्रवाहित होना चाहिए और पहुँचना चाहिए वहाँ, जहाँ निर्स्सीमिता है। गंगा के तट पर पहुँचकर एक आदमी चुपचाप नदी का बहना देखता रहा। उसके गंगा से यह पूछने पर कि वह कहाँ दौड़ी चली जा रही है? नदी ने मौन उत्तर दिया "वहाँ जा रही हूँ, जहाँ मुझे शरण मिले।" पहाड़ों में शरण नहीं मिली। मरूभूमि और गड्ढों में मुझे शरण नहीं मिली, जहाँ सीमा है, वहाँ शरण मिल नहीं सकती, नदी की शरण तो सागर में है, जहाँ पहुँच कर बिन्दु सिन्धु बन जाता है और जहाँ इन्दु भी गोद में समा जाता है।

पूजा करो, पूर्ण की करो। अनंत की करो। लोक में विख्यात है कि सुखी की पूजा करोगे तो तुम स्वयं भी सुखी बन जाओगे। गंगा, सिंधु के पास पहुँच कर स्वयं भी सिंधु बन गयी। वहाँ गंगा का अस्तित्व मिटा नहीं, बिंदु मिटी नहीं, सागर के समान पूर्ण हो गयी। जैसे एक कटोरे जल में लेखनी द्वारा एक कोने से स्याही का स्पर्श कर देने से सारे जल में स्याही फैल जाती हे इसी तरह गंगा भी सारे सिंधु पर फैल गयी अपने अस्तित्व को लिए हुए। इसे जैनाचार्यों ने स्पर्द्धक की संज्ञा दी है जिसका अर्थ है शक्ति। यह कहना उपयुक्त होगा कि भगवान भक्त के वश में होते आये और भक्त भगवान के वश में होते आये। क्योंकि जहाँ आश्लेष हो जाये, वही है असली भक्ति का रूप।

हमारी मुक्ति नहीं हो रही क्योंकि हमारी भक्ति में भुक्ति की इच्छा है। जहाँ लालसा हो, भोगों की इच्छा हो, वहाँ मुक्ति नहीं। भक्ति में तो पूर्ण समर्पण होना चाहिए। पर समर्पण है कहाँ? हम तो केवल भोगों के लिए भक्ति करते हैं अथवा हमारा ध्यान पूजा के समय भी जूतों-चप्पलों की ओर ज्यादा रहता है। मैंने एक सज्जन को देखा भक्ति करते हुए। एक हाथ चाबियों के गुच्छे पर और एक हाथ भगवान की ओर उठा हुआ। यह कौन-सी भक्ति हुई भइया बताओ। कल आपको क्षुल्लकजी ने यमराज के विषय में सुनाया था। दात गिरने लगे, वृद्धावस्था आ गई तो अब समझो शमशान जाने का समय समीप आ गया किन्तु आप तो नई बत्तीसी लगवा लेते है क्योंकि अभी भी रसो की भक्ति वाला कभी मुक्ति की ओर देखता नहीं। भक्ति मुक्ति के लिए है और भुक्ति संसार के लिए है। हम अपने परिणामों से ही भगवान से दूर हैं और परिणामों की निर्मलता से ही उन्हें पा सकते हैं।

भक्ति करने के लिए भक्त को कहीं जाना नहीं पड़ता। भगवान तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापी हैं। जहाँ बैठ जाओ, वहीं भक्ति कर सकते हो। हमारे भगवान किसी को बुलाते नहीं और यदि आप वहाँ पहुँच जायेंगे तो आपको दुतकारेंगे भी नहीं। क्या सागर, गंगा नदी से कहने गया कि तू आ, किन्तु नदी बहकर सागर तक गई तो

सागर ने उसे भगाया-भी नहीं। मन्दिर उपयोग को स्थिर करने के लिये हैं। किन्तु सबके उपयोग को स्थिर करने में निमित्त बने, ये जरूरी नहीं है।

जैनाचार्यो ने कहा, 'जो अर्हत-को जानेगा, वह खुद को भी जानेगा।'' पूज्य कौन हैं? मैं स्वयं पूज्य, मैं स्वयं उपास्य। मैं स्वयं साहूकार हूँ तो भीख किससे माँगू?

मैं ही उपास्य जब हूँ स्तुति अन्य की क्यों
मैं साहूकार जब हूँ, फिर याचना क्यों?''

बाहर का कोई भी निमित्त हमें अर्हंत् नहीं बना सकता। अर्हत् बनने मे साधन भर बन सकता है, अर्हंत् बनने के लिए दिशा-बोध भर दे सकता है पर बनना हमें ही होगा। इसीलिये भगवान महावीर और राम ने कहा– ''तुम स्वयं अर्हंत् हो।'' हमारी शरण में आओ ऐसा नहीं कहा कहेंगे भी नहीं। ऐसे ही भगवान वास्तव में पूज्य हैं। तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने अन्दर डूब जायें। मात्र बाहर का सहारा पकड़ कर बैठने से अर्हन्त पद नहीं मिलेगा।

जब तक भक्ति की धारा बाहर की ओर प्रवाहित रहेगी तब तक भगवान अलग रहेगे और भक्त अलग रहेगा। जो अर्हत् बन चुके हैं उनसे दिशा-बोध ग्रहण करो और अपने में डूब कर उसे प्राप्त करो। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।' यही है सच्ची अर्हत् भक्ति की भूमिका। गहरे पानी पैठ वाली बात को लेकर आपको एक उदाहरण सुनाता हूँ। एक पण्डित जी रोज सूर्य को नदी के किनारे एक अंजुलि जल देते थे और फिर नदी में गोता लगाकर निकल आते थे। एक गड़रिया जो रोज उन्हें ऐसा करते देखता था उसने पूछा– महाराज यह गोता क्यों लगाते हो पानी में? पंडित जी बोले तू क्या जाने गड़रिये ऐसा करने से भगवान के दर्शन होते हैं।'' भगवान के दर्शन, ओह ! आपका जीवन धन्य है मैं भी करके देखूँगा और इतना कह कर गड़रिया चला गया। दूसरे दिन पंडित जी के आने से पहिले वह नदी में कूद गया और डूबा रहा दस मिनट पानी में। जल देवता, उसकी भक्ति और विश्वास देखकर दर्शन देने आ गये और पूछा– माँग वरदान, क्या माँगता है। गड़रिया आंनद से भरकर बोला– ''दर्शन हो गए प्रभु के अब कोई मॉग नहीं।'' प्रभु के दर्शन के बाद कोई माँग शेष नहीं रहती। ऐसे ही गहरे अपने अन्दर उतरना होगा, तभी प्राप्ति होगी। महावीर जी से मैंने देखा एक सज्जन को। घड़ी देखते जा रहे हैं और लगाये जा रहे चक्कर पर चक्कर मंदिर के। पूछने पर बताया, ''एक हजार आठ चक्कर लगाना है। पहले एक सौ आठ चक्कर लगाऐ थे, बड़ा लाभ हुआ था।'' ऐसे चक्कर लगाने से, जिसमें आकुलता हो, कुछ नहीं मिलता। भक्ति का असली रूप पहिचानो, तभी पहुँचोगे मंजिल पर, अन्यथा संसार की मरूभूमि में ही भटकते रह जाओगे। □□

आचार्य-स्तुति

☐ आचार्य स्वयं भी तैरता है और दूसरों को भी तैराता है। आचार्य नौका के समान है। वह पूज्य है।

इन भावनाओं के अंतर्गत अरहंत परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी की भक्ति का विवेचन है। सिद्ध परमेष्ठी को यहाँ ग्रहण नहीं किया गया क्योंकि उपयोगिता के आधार पर ही महत्त्व दिया जाता है। जैनेतर साहित्य में भी भगवान से बढ़कर गुरु की ही महिमा का यशोगान किया है।

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु आपकी गोविंद दियो बताय।।

'बताय' शब्द के स्थान पर यदि 'बनाय' शब्द रख दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि गुरु शिष्य को भगवान बना देते हैं। इसीलिये उन्हें तरणतारण कहागया है। गुरु स्वयं तो सत्पथ पर चलते हैं दूसरों को भी चलाते हैं। चलने वाले की अपेक्षा चलाने वाला का काम अधिक कठिन है। रास्ता दूसरों को तारता है इसलिए वह तारण कहलाता है। पुल भी तारण है। किन्तु रास्ता और पुल दोनों स्वयं खड़े रह जाते हैं। गुरु स्वय भी तैरते हैं और दूसरों को भी तैराते हैं। इसलिए उनका महत्त्व शब्दातीत है। आचार्य नौका के समान हैं जो स्वयं नदी के उस पार जाती है और अपने साथ अन्यों को भी पार लगाती है।

भगवान महावीर की वाणी गणधर आचार्य की अनुपस्थिति होने से छियासठ दिन तक नहीं खिरी। आचार्य ही उस वाणी को विस्तार से समझाते हैं। वे अपने शिष्यों को आलम्बन देते है, बुद्धि का बल प्रदान करते हैं, साहस देते हैं। जो उनके पास दीक्षा लेने जाये, उसे दीक्षा देते हैं और अपने से भी बड़ा बनाने का प्रयास करते हैं। वे शिष्य से यह नहीं कहते "तू मुझ जैसा बन जा" वे तो कहते हैं "तू भगवान बन जाय।"

मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा साधु का पद है। आचार्य अपने पद पर रहकर मात्र उपदेश और आदेश देते हैं, किन्तु साधना पूरी करने के लिये साधु पद को

अंगीकार करते है। मोक्षमार्ग का भार साधु ही वहन करता है। इसीलिये चार मंगल पदो मे, चार उत्तम पदो मे और चार शरण पदों में आचार्य पद को पृथक् ग्रहण न करके साधु पद के अतर्गत ही रखा गया है। आचार्य तो साधु की ही एक उपाधि है जिसका विमोचन मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व होना अनिवार्य है। जहाँ राग का थोड़ा भी अश शेष है, वहाँ अनन्त पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये साधना मे तीन साधु की वंदना और तीन प्रदक्षिणा आचार्य द्वारा की जाती है।

मैंने अभी दो दिन पूर्व थोड़ा विचार किया इस बात पर कि भगवान महावीर अपने साधना काल में दीक्षा के उपरान्त बारह वर्ष तक निरन्तर मौन रहे। कितना दृढ़ सकल्प था उनका। बोलने मे सक्षम होते हुये भी वचनगुप्ति का पालन किया। वचन व्यापार रोकना बहुत बड़ी साधना है। लोगों को यदि कोई बात करने वाला न मिले तो वे दीवाल से ही बातें करने लगते है। एक साधु थे। नगर से बाहर निकले इसलिए कि कोई उनसे बाते न करे किन्तु फिर भी एक व्यक्ति उनके साथ हो गया। और बोला 'महाराज, मुझे अपने जैसा बना लें। मै आपकी सेवा करता रहूँगा। आपको कोई न कोई सेवक तो चाहिए अवश्य सेवा करने के लिये।'' साधु बड़े पशोपेश मे पड़ गये। आखिर बोले, ''सबसे बड़ी मेरी सेवा आप ये ही करो कि बोलो नहीं। बोलना बन्द कर दो।'' बोलने वालों की कमी नहीं है प्राय: सर्वत्र मिल जाते हैं। मुझे स्वय भी एक ऐसी घटना का सामना करना पड़ा। मदनगज, किशनगढ़ में। ब्रह्मचर्य अवस्था मे एक स्थान पर बैठकर मैं सूत्रजी पाठ रहा था। एक बूढ़ी माँ आई और मुझसे कुछ पूछने वहीं बैठ गयी। मै मौन ही रहा परन्तु धीरे धीरे वहाँ और भी कई मातायें आकर बैठने लगीं और दूसरे दिन से मुझे वह स्थान छोड़ना पड़ा। विविक्त शय्यासन अर्थात् एकांतवास भी एक तप है जिसे साधु तपता है। इसलिए कि एकान्त में ही अन्दर की आवाज सुनाई पड़ती है। बोलने में साधना मे व्यवधान आता है।

आचार्य कभी भी स्वय को आचार्य नहीं कहते वे तो दूसरों को बड़ा बनाने मे लगे रहते है, अपने को बड़ा कहते नहीं। कोई और उन्हे कहे तो वे उसका विरोध भी नहीं करते और विरोध करना भी नहीं चाहिए। गाँधीजी के सामने एक बार यह प्रश्न आया। एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला, ''महाराज, आप बड़े चतुर हैं अपने आप को महात्मा कहने लग गये। गाँधीजी बोले भैया मैं अपने को महात्मा कब कहता हूँ। लोग भले ही कहें मुझे क्या? मै किसी का विरोध क्यों करूँ। यही उनकी महानता है। □□

शिक्षा गुरू स्तुति

□ **जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है बहुश्रुतवान् उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं संसार की प्रक्रिया से दूर रहने बचने का ढंग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योंकि वे स्वयं उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं।**

बहुश्रुत का तात्पर्य उपाध्याय परमेष्ठी से है। उपाध्याय ये तीन शब्दों से मिलकर बना है उप+अधि+आय। 'उप' माने पास/निकट, 'अधि' माने बहुत समीप अर्थात् सन्निकट और 'आय' माने आना अर्थात् जिनके जीवन का संबंध अपने शुद्ध गुण पर्याय से है जो अपने शुद्ध गुण पर्याय के साथ अपना जीवन चला रहे है वे, उपाध्याय परमेष्ठी है। उनकी पूजा, उपासना या अर्चना करना, यह कहलाती है बहुश्रुत-भक्ति।

आचार्य और उपाध्याय में एक मौलिक अन्तर है। आचार्य महाराज उपाध्याय परमेष्ठी पर भी शासन करते हैं। उनका कार्य होता है आदेश देना। 'पर' का हित उनका कर्त्तव्य है अत: वे कटु शब्दों का भी प्रयोग करते है। प्रिय कटु और मिश्रित इन तीनो प्रकार के वचनों का प्रयोग आचार्य परमेष्ठी करते है किन्तु उपाध्याय परमेष्ठी उनसे बिल्कुल भिन्न है। उपाध्याय महाराज तो बड़े मीठे शब्दों में वचनामृत का पान कराते है अपने शिष्यों को। जैसे माँ अपने बच्चे को बड़े प्रेम से दूध पिलाती है वैसी ही मनोदशा होती है उपाध्याय महाराज की। अपने पास आने वालों को वे बताते हैं ससार की प्रक्रिया से दूर रहने का ढग और उनका प्रभाव भी पड़ता है क्योकि वे स्वयं ही उस प्रक्रिया की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं। उपाध्याय महाराज आत्मा की बात करते हैं। उनके पास न पचेन्द्रिय विषयों की चर्चा है न कषायों की, न आरभ की और न परिग्रह की। विषय और कषायों में अनुरजन आरंभ व परिग्रह में आसक्ति तथा संचय की प्रवृत्ति का नाम ही संसार है। जहाँ विषय कषाय आरंभ व परिग्रह का सर्वथा अभाव है वहाँ मुक्ति है। उपाध्याय परमेष्ठी इसी मुक्ति की

चर्चा करते हैं और उस उपदेश के अनुरूप आचरण भी करते हैं। इसी कारण उनका प्रभाव लोगों पर पड़ता है। प्रभाव केवल आचरण का ही पड़ सकता है वचनों का नहीं। वचनों में शक्ति अद्भुत है वचन को योग माना है किन्तु उन वचनों के अनुरूप कार्य भी होना चाहिये।

एक बच्चा गुड खाता था। माँ बड़ी परेशान थी। एक साधु के पास पहुची। 'महाराज, इसका गुड़ छुड़वा दीजिये बहुत खाता है।' साधु ने कहा "आठ दिन बाद आना इस बच्चे को लेकर।" साधु ने इस बीच पहले स्वयं त्याग किया गुड़ खाने का और आठ दिनों में पूरी तरह उन्होंने गुड़ का परित्याग कर दिया। नौवें दिन जब वह माँ आयी उस बच्चे को लेकर, तो साधु ने उस बच्चे से कहा "बच्चे गुड़ नहीं खाना।" बच्चे ने तुरन्त उस साधु की बात मान ली। बोला "महाराज आपकी बात मान सकता हूँ माँ की नही; क्योंकि डाक्टर ने माँ को भी मना किया है गुड़ खाने का किन्तु छिपकर खा लेती है।" इधर माँ ने साधु को टोक दिया "बाबाजी इतनी सी बात उसी दिन कह देते। मुझे आठ दिन प्रतीक्षा क्यों करवाई?" साधु का विनम्र उत्तर था "माँ जी, जब तक गुड़ में मेरी लिप्सा थी तब तक मेरे उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता था?"

उपाध्याय परमेष्ठी एक अनूठे साधक है। उनके उपदेश सुनने वाला पिघल जाता है उनके उपदेश को सुनकर। जो अनादि काल से जन्म, जरा और मरण के रोग से पीड़ित हैं वह रोगी दौड़ा चला आता है उपाध्याय परमेष्ठी के पास और उसे औषधि मिल जाती है अपने इस रोग की। रोगी को रोग मुक्त वही डाक्टर कर सकता है जो स्वयं उस रोग से पीड़ित न हो। एक डाक्टर के पास एक रोगी पहुँचा। उसे आंखों का इलाज कराना था। उसे एक पदार्थ 'दो' दिखाई पड़ते थे। किन्तु परीक्षण के समय ज्ञात हुआ कि स्वयं डाक्टर की आँख में ऐसा रोग था जिसे एक ही पदार्थ 'चार' पदार्थों-सा दिखाई पड़ता था। अब आप ही बतायें वह डाक्टर क्या इलाज करेगा। ऐसे स्थान से तो निराशा ही हाथ लगेगी।

संसार मार्ग का समर्थक कभी भी मुक्ति मार्ग का सच्चा उपदेश दे नहीं सकता क्योंकि उसे उसमें रुचि ही नहीं है। मुक्ति का मार्ग ही सच्चा मार्ग है अन्य मार्ग तो भटकाने वाले हैं। उपाध्याय परमेष्ठी ही मुक्ति मार्ग का उपदेश दे सकते हैं क्योंकि वे स्वयं ही उस मार्ग के अडिग और अथक पथिक हैं।

एक जैन सज्जन मेरे पास आये, उनका प्रश्न था– "महाराज, आचार्य समन्तभद्र के एक श्लोक से हिंसा का उपदेश ध्वनित होता है। उन्होंने कौवे के मांस का उपदेश दिया है अन्य मांस का नहीं।" मैं दंग रह गया। मैंने उन्हें समझाया, भइया। ये

हिंसा का उपदेश नहीं है। यहाँ तो उस आदमी को महत्त्व दिया गया है। जिसने कुछ त्यागा है। यहाँ तो छोड़ने का उपदेश दिया गया है ग्रहण का नहीं। भोगों का समर्थन नहीं किया गया है त्याग का समर्थन किया है। पात्र देखकर ही उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश दिया करते हैं। यदि पात्र-भेद किए बिना उपदेश दिया जावे तो वह सार्थक नहीं हो सकता। जो रात दिन खाता है उसे रात्रि में पहले अन्न का भोजन छुड़वाया जाता है वही उपयुक्त है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसे रात्रि में अन्य पदार्थों के ग्रहण का उपदेश दिया गया हो।

राजस्थान में एक प्रथा प्रचलित है जिसे कहते हैं 'गढ़का तेरस'। अनन्त चतुर्दशी के पूर्व तेरस को खूब डटकर गरिष्ट भोजन कर लेते हैं और ऊपर से कलाकन्द भी खा लेते है फिर चौदस के दूसरे दिन उपवास के बाद, पारणा बढ़े जोर-शोर से करते हैं। ऐसे व्रत पालने से कोई लाभ होने वाला नहीं है। हमारी इच्छाओ का मिटना ही व्रतों में कार्यकारी है।

स्तुति स्तोतुः साधो कुशल परिणामाय स तदा।
भवेनमा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सत्ता।

उपाध्याय परमेष्ठी उपस्थित हों अथवा न हों, उनके लिखे हुए शब्दों का भी प्रभाव पड़ता है। द्रोणाचार्य की प्रतिमा मात्र ने एकलव्य को धनुर्विद्या में निष्णात् बना दिया। ऐसे होते हैं उपाध्याय परमेष्ठी। उनको हमारा शत्-शत् नमोस्तु !

□□

भगवद्-भारती-भक्ति

☐ अज्ञात का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारी आन्तरिक निधि से होता है वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं।

वचन और प्रवचन में बड़ा अन्तर है। जो साधारण शब्द हम बोलते हैं वे वचन हैं। प्रवचन वे विशेष शब्द हैं जिनका सम्बन्ध सांसारिक पदार्थों से न होकर उस अनमोल निधि से है जो हमारे अन्दर है। अज्ञात का अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त करके जो विशेष शब्द खिरते हैं, बोले जाते हैं, वे शब्द प्रवचन कहलाते हैं। आत्मानुभूति के लिये किये गये विशेष प्रयास को प्रवचन कहते हैं। महावीर भगवान ने अज्ञात और अदृष्ट का अनुभव प्राप्त किया। अतः जो भी वचन खिर गये वे सरस्वती बन गये, श्रुत बन गये। श्रुत की आराधना एक महान कार्य है।

श्रुत के दो भेद हैं– द्रव्य-श्रुत और भाव-श्रुत। शाब्दिक वचन द्रव्य-श्रुत हैं। और अन्दर की पुकार भाव-श्रुत है। विद्वान लोग इसी श्रुत का सहारा लेते हैं धन का सहारा नहीं लेते। वस्तुतः विद्वान वे ही हैं जो अनादिकालीन दुःखों के विमोचन के लिये सरस्वती की आराधना करते हैं। लक्ष्मी की आराधना नहीं करते। आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं–

न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो न गाङ्गमभो न च हारयष्टयः
यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्य रश्मय शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्

हे शीतल प्रभु! विद्वान लोग शीतलता की प्राप्ति के लिये न चन्दन का सहारा लेते हैं न चन्द्र किरणों का, न गंगा के जल का और न हार का। वे आपके वचनों का सहारा लेते हैं क्योंकि उन्हीं से वास्तविक शीतलता मिलती है।

द्रव्य-श्रुत एक चाबी की तरह है जिससे मोह-रूपी ताले को खोला जा सकता है किन्तु चाबी मिलने पर ताला खुल ही जाये ये बात नहीं। उस चाबी का प्रयोग यदि हम किसी दूसरे ताले में करेंगे तो ताला कभी नहीं खुलेगा। आज तक हमने यही किया है। द्रव्यश्रुत के महत्त्व को नहीं समझा। द्रव्यश्रुत का महत्त्व तो तभी

है जब आप इसके सहारे से अपनी अलौकिक आत्म निधि को प्राप्त कर लें। शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार आत्मा का अनुभव कर लें। दूध में घी है किन्तु हाथ डालने मात्र से मिलने का नहीं। घी प्राप्ति के लिये मंथन करना पड़ेगा दूध का। आज तक हमने इस द्रव्यश्रुत का उपयोग आत्मा की प्राप्ति के लिये किया ही नहीं। इसीलिये विद्वान भी लक्ष्मीवान की तरह आज तक दुःखी हैं।

सरस्वती को दीपक की उपमा दी गई है जो हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है किन्तु जिसके हाथ में दीपक है यदि वह भी इधर-उधर देखता हुआ असावधानी से चले तो सर्प पर भी पैर पड़ सकता है, वह भटक भी सकता है। इन्द्रियाधीन होने के कारण कषायो क शमन से ही सुख की प्राप्ति होती है और कषायो के शमन से ही भावश्रुत प्रादुर्भाव होता है। वैसे द्रव्यश्रुत और भावश्रुत दोनों ही लाभदायक हैं किन्तु भावश्रुत तो अनिवार्य रूप से लाभदायक है।

अविनाशी जीव द्रव्य के ज्ञान क लिए शाब्दिक ज्ञान अनिवार्य नहीं है। एक साधु के पास एक शिष्य आया। बोला– 'महाराज, मुझे दीक्षित कर लो, आपके सहारे से मेरा भी कल्याण हो जायगा।' शिष्य बिल्कुल निरक्षर और कम बुद्धि वाला था। साधु महाराज ने कई मन्त्र सिखाये किन्तु उसे कोई मन्त्र याद ही नहीं होते थे। गुरु महाराज बड़े चिन्तित 'कैसे कल्याण हो इसका क्या करे? इसे कुछ याद नहीं होता' आखिर उसे छह अक्षरों का एक मन्त्र महाराज ने सिखाया 'मा रुष, मा तुष' अर्थात् रोष मत करो, तोष मत करो। शिष्य उसे भी भूल गया और केवल उसे याद रहा "तुषमास भिन्न" अर्थात् छिलका अलग और दाल अलग। अचानक एक दिन उसने एक वृद्धिया माँ को दाल और छिलका अलग करते हुये देखा। बस इसी से उसका कल्याण हो गया। वे शिष्य शिवभूति महाराज थे। जो आत्मा अलग और शरीर अलग ऐसे भेद-विज्ञान को प्राप्त होकर अन्तर्मुहूर्त के लिए 'स्व' मे लीन हो गये और उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। वे मुक्त हो गये।

हमे भी भेद विज्ञान की कला मे पारगत होना चाहिये। भावश्रुत की उपलब्धि के लिये हमारा अथक प्रयास चलना चाहिये। अरे भइया! शरीर के मात्र जीवन का जीना भी कोई जीवन है? शरीर तो जड़ है और आत्मा उजला हुआ चेतन है। जिस क्षण यह भेद-विज्ञान हो जायेगा, उस समय न भोगों की लालसा रहेगी, न ही अन्य इच्छाये रहेगी। मोह विलीन हुआ समझो दुःख विलीन हुआ। सूर्य के उदित होने पर क्या कभी अन्धकार शेष रह सकता है। किन्तु आज तो इस भेद विज्ञान का भी अर्थ गलत ही लगाया जा रहा है। शरीर अलग और आत्मा अलग है इसलिये शरीर को खूब खिलाओ, पिलाओ आत्मा का उससे कुछ बिगाड़ होना नहीं है। यह

तो अर्थ का अनर्थ है भइया! हमारी दशा तो उस बुढ़िया की तरह हो गयी है जिसकी सुई घर मे कही खो गयी थी। अँधेरे में वह उसे ढूँढ नहीं पा रही थी तब किसी ने उजाले मे ढूँढने का परामर्श दिया और बुढ़िया बाहर जहाँ थोड़ा प्रकाश था वहाँ ढूँढने लगी, पर वहाँ कैसे मिल सकती थी। हमारी भी अनमोल निधि हमारे पास है किन्तु हम उस बाह्य पदार्थों मे ढूँढ रहे है। अर्थ का अनर्थ लगा रहे है। यह कैसी विडम्बना है।

द्रव्यश्रुत आवश्यक है भावश्रुत के लिये। द्रव्यश्रुत ढाल की तरह है और भाव श्रुत तलवार की तरह है किन्तु ढाल और तलवार को लेकर रणाङ्गण मे उतरने वाला होश में ही होना चाहिये। द्रव्यश्रुत द्वारा वह अपनी रक्षा करता रहे और भाव-श्रुत में लीन रहने का प्रयास करे। यही कल्याण का मार्ग है।

एक सज्जन ने मुझसे प्रश्न किया "महाराज इस पचम काल में तो मुक्ति होती नही। आपकी क्या राय है? कथंचित् सही है यह बात 'मैने कही'। 'महाराज, जो बात सही है, उसमें भी आप कथंचित् लगा रहे हैं'। – वे सज्जन बोले। हाँ भाई! कथंचित् लगा रहे है इसलिये कि आज द्रव्य मुक्ति भले न हो, पर भाव मुक्ति तो तुरन्त हो सकती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन, धन आदि इनका विमोचन करो; छुटकारा पा जाओ उन पदार्थों से जिनको आप पकड़े बैठे हैं अपने परिणामों में भावों में, बस! तुरन्त कल्याण है यही तो है भाव मुक्ति! प्रवचन भक्ति! □□

विमल-आवश्यक

☐ **मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिए मिला है अनावश्यक कार्यों में खोने के लिये नहीं। जो पाँच इन्द्रियों और मन के वश में नहीं है वह 'अवश' है और 'अवशी' के द्वारा किया गया कार्य 'आवश्यक' कहलाता है; करने योग्य कहा जाता है।**

'आवश्यकापरिहाणि' – दो शब्दों से मिलकर बना है। 'आवश्यक' और 'अपरिहाणि' अर्थात् आवश्यक कार्यो को निर्दोष रूप से सम्पन्न करना। आवश्यक कार्यो को समयोचित करने के लिये बुद्धिमत्ता आवश्यक है। एक अपढ़ बहू एक घर में आ गई। पड़ौस मे किसी के यहाँ मौत हो गयी थी। सास ने उसे वहाँ भेजा सांत्वना देने के लिए। बहू गई और सांत्वना शाब्दिक देकर आ गई। रोई नहीं। सास ने कहा/समझाया कि वहाँ रोना आवश्यक था बहू। अचानक दूसरे ही दिन पड़ोस के एक अन्य घर में पुत्र का जन्म हुआ। सास ने बहू को भेजा और वहाँ पहुँचते ही बहू ने रोना शुरू कर दिया। घर लौटी तो सास के पूछने पर उसने सब कुछ कह दिया। सास ने बहू को फिर समझाया "क्या करती हो बहू, वहाँ तो तुझे प्रसन्न होकर गीत गाना चाहिये था, अब आगे ध्यान रखना।'' फिर एक दिन की बात है वह बहु ऐसे घर में गयी जहाँ आग लग गयी थी। वहाँ जाकर उसने गीत गाये और प्रसन्नता व्यक्त की। आप जान रहे हैं उस अनपढ़ बहू के ये काम समयोचित नहीं थे। इसलिये आप सब हँस रहे हैं उसकी बात सुनकर। किन्तु यदि आप अपने ऊपर ध्यान दो तो पाओगे कि आप सबका जीवन भी कितना अव्यवस्थित हो रहा है। महर्षि जन आपके क्रिया-कलापों को देखकर हँसते है क्योंकि आप के सभी कार्य अस्त व्यस्त हैं। आपको नहीं मालूम कब, कहाँ कौन-सा कार्य करना है।

भगवान वृषभनाथ को अन्तिम कुलकर माना गया है। उनके समय से ही भरत क्षेत्र में भोगभूमि का अन्त हुआ और कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने सारे समाज को तीन भागों में विभक्त कर छः कार्यों में लगाया। यह आपको समझना है कि भोगभूमि नहीं है यहाँ। यहाँ कर्मभूमि है पुरुषार्थ आपको अनिवार्य रूप से करना

है। भोग आपको मिलने वाले नहीं है। हमें ये सारी बातें रटी हुई हैं। समयसार, प्रवचनसार और पचास्तिकाय आदि सभी खोल-खोल कर हमने रट डाले हैं। किन्तु उनमें कही गयी शिक्षाओ के अनुरूप हमारे कार्य नहीं बन पाये। वृषभनाथ भगवान ने युग के आरम्भ में लोगो को अन्न पैदा करना, अन्न खाना सिखाया और बाद मे मोक्षमार्ग की साधना की भी प्ररूपणा की है। आप केवल खाना खाने तक सीमित रह गये। पारलौकिक शिक्षा को हृदयंगम किया ही नहीं। ५।

आप विवेक और बुद्धि के अभाव में आवश्यक कार्यो को तो करते नहीं, वासना के दास बने हुये है। 'आवश्यक' शब्द की निष्पत्ति की चर्चा करते हुये आचार्य कुंदकुंद ने लिखा है जिसने इन्द्रियों के दासपने को अंगीकार कर लिया, वह वशी है।'' जो मन और पाँच इन्द्रियों के वश में नहीं है वह अवशी है। अवशी केवल आवश्यक कार्य ही करेगा, अनावश्यक कार्य नहीं करेगा। आवश्यक कार्य कौनसा? करने योग्य कार्य ही आवश्यक कार्य है और मनुष्य जीवन आवश्यक कार्य करने के लिये मिला है। अनावश्यक कार्यो में खोने के लिये नहीं मिला। योग साधन के लिये जीवन मिला है भोग साधन के लिए नहीं। ध्यान रखें, त्रस पर्याय सीमित हैं और इसी पर्याय में आवश्यक कार्य किये जा सकते हैं। कुल दो हजार सागर का समय मिला है इसके उपरान्त पुन निगोद में लौट कर जाना ही पड़ेगा। इन दो हजार सागर में मनुष्य के केवल अड़तालीस भव मिलते हैं। मनुष्य के इन अड़तालीस भवों में भी सोलह बार स्त्री पर्याय के, चौबीस नपुंसक के भव और शेष आठ पुरुष पर्याय के हैं। इस प्रकार अगर देखा जाये तो पूरा विकास करने के लिये आठ ही भव मिले हैं। यदि ये भव यू ही चले गये तो पछताना पड़ेगा। "अब पछिताये होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत'' डूबने के उपरान्त किसी को बचाया नहीं जा सकता।

मणि को समुद्र में फेंक देने के उपरान्त उसे पाया नहीं जा सकता। गाड़ी छूटने के समय आप यात्री से कहे– 'केन्टीन में चलो थोड़ा विश्राम कर लो।' तब क्या वह आपकी बात मानेगा,, कभी नहीं मानेगा वह जानता है कि गाड़ी छूटने का मतलब परेशानी कई घण्टों की। ऐसा ही ये मनुष्य जीवन है।

अकबर और बीरबल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। एक व्यक्ति आया और उसने प्रश्न किया राज दरबार में– सत्ताइस में से दस निकल दिए जाँए तो कितने बचेंगे? किन्तु बीरबल का उत्तर बड़ा अजीब था। उसने कहा सत्ताइस में से दस निकल जाने पर कुछ नहीं बचेगा। सभी भौचक्के रह गये। यह क्या उत्तर है? कौन-सी स्कूल में पढ़ा है यह? इतना भी ज्ञान नहीं। तब बीरबल ने समझाया– "सत्ताइस नक्षत्र होते हैं उनमें से दस नक्षत्र ऐसे हैं जिनमें वर्षा होती है यदि वे नक्षत्र

निकाल दिये जाये तो वर्षा के अभाव में फसल नही होगी। अन्न का एक दाना भी घर मे नहीं आ पायेगा। अकाल की स्थिति हो जायेगी और सभी भूखो मर जाएँगे। कुछ भी शेष नहीं रहेगा।'' इसी प्रकार त्रस पर्याय से मनुष्य भव निकाल दो फिर कल्याण का अवसर कहीं नहीं मिलेगा।

भोग भूमि मे भोग भोगने होंगे। उसके बिना निस्तार नहीं है। उत्तम भोगभूमि में तीन पल्य तक रहना होगा, मध्यम भोगभूमि में दो पल्य और जघन्य भोग भूमि में एक पल्य की उम्र बिताना होगी। उत्तम भोगभूमि मे आठ भुक्ति के उपरान्त एक भुक्ति अनिवार्य है। मध्यम और जघन्य भोगभूमि मे छ और चार के उपरान्त एक भुक्ति करना ही होगी। इसे कोई टाल नहीं सकता। भोग भोगना ही पड़ेगे किन्तु कर्मभूमि मे भोगों के पीछे दौड़ना ही व्यर्थ है। यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा, संयम द्वारा अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पाया जा सकता है। यहाँ खाना खाओ तो जागृति के लिये, योग साधना के लिए, सोने के लिए नहीं। यह शरीर योग साधना के लिए माध्यम है। इसके माध्यम से ही अलौकिक आनन्द में प्रवेश किया जा सकता है। सभी तीर्थकरों ने यही किया। उन्होंने मात्र सिखाया ही नहीं, करके भी दिखाया। हमे अवसर का भान करना चाहिए वरना पछताना पड़ेगा, वैसे कई बार पछताये भी हैं परन्तु स्मरण नहीं। श्वान की टेड़ी पूंछ के समान जो कि कभी सीधी नहीं हो पायी। हमारी भी मनोदशा है। उठो, जागृत हो, अनादि के कुसंस्कारों को तिरस्कृत करके निगोद की यात्रा से बचो, जहाँ–

एक श्वास में आठ दस बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुःख भार

समय के साथ चलकर यह आवश्यक कार्य निर्दोष पूर्वक करना चाहिये।

□□

धर्म-प्रभावना

☐ **वह मार्ग जिसके द्वारा आदमी शुद्ध बुद्ध बनें उस सत्य मार्ग मोक्ष मार्ग की प्रभावना ही "मार्ग प्रभावना" या "धर्म प्रभावना" है।**

"मृग्यते येन यत्र वा स मार्गः" अर्थात् जिसके द्वारा खोज की जाये उसे मार्ग कहते हैं। जिस मार्ग द्वारा अनादि से भूली वस्तु का परिज्ञान हो जाये, जिस मार्ग से उस आत्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाये, उस मार्ग की यहाँ चर्चा है। धन और नाम प्राप्त करने का जो मार्ग है उस मार्ग का यहाँ जिक्र नहीं है। मोक्ष मार्ग, सत्य मार्ग, अहिंसा मार्ग यानी वह मार्ग जिसके द्वारा यह आत्मा शुद्ध बने, उस मार्ग की प्रभावना ही "मार्ग प्रभावना" कहलाती है।

रविषेणाचार्य के पद्मपुराण को पढ़ते समय हमें रावण द्वारा निर्मित शान्तिनाथ मन्दिर के प्रसंग को देखने का अवसर मिला। दीवारें सोने की, दरवाजे वज्र के, फर्श सोने चाँदी के, छत नीलम मणि की। ओह ! इतना सुन्दर मन्दिर बनवाया रावण ने और स्वयं उसमें ध्यान मग्न होकर बैठ गया। सोलह दिन तक विद्या की सिद्धि के लिये बैठा रहा ध्यानमग्न। ऐसा ध्यान जिसमें मन्दोदरी की चीख पुकार को भी नहीं सुना रावण ने। किन्तु यह ध्यान, धर्म ध्यान नहीं था। बगुले के समान ध्यान था केवल अपना स्वार्थ साधने के लिये। आप समझते होंगे रावण ने धर्म की प्रभावना की, नहीं, उसने मिथ्यात्व का पोषण करके धर्म की अप्रभावना की।

स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है–

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।
निजशासनमाहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।।

व्याप्त अज्ञान अन्धकार को यथाशक्ति दूर करना और जिन शासन की गरिमा को प्रकाशित करना ही वास्तविक प्रभावना है। जो स्वयं अज्ञान में डूबा हो उससे प्रभावना क्या होगी? रावण अन्याय के मार्ग पर चला। नीति विशारद होकर भी वह अनीति को अपनाने वाला बना। उसके ललाट पर एक कलँक का टीका लगा हुआ है। ऐसा कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, उसके द्वारा प्रभावना नहीं हो सकती। प्रभावना

देखनी हो तो देखो उस जटायु पक्षी की। जिस संकल्प को उसने ग्रहण किया, उसका पालन शल्य रहित होकर जीवन के अंतिम क्षणो तक किया। सीताजी की त्राहि माम्! त्राहि माम्-- आवाज सुनकर वह चल पड़ा उस अबला की सहायता के लिये। वह जानता था कि उसकी रावण से लड़ाई हाथी और मक्खी की लड़ाई के समान है। रावण का एक घातक प्रहार ही उसकी जीवन लीला समाप्त कर देने के लिये पर्याप्त है किन्तु अनीति के प्रति वह लड़ने पहुँच गया और अपने व्रत का निर्दोष पालन करते हुये प्राण त्याग दिये। यही सच्ची प्रभावना है। रावण को उससे शिक्षा लेनी चाहिये थी और हमें भी सीख मिलनी चाहिये।

आज कितना अन्तर है हममें और उस जटायु पक्षी में। हम एक-एक पैसे के लिये अपना जीवन और ईमान बेचने को तैयार हैं। अपने द्वारा लिये गये व्रतों के प्रति कहाँ है हमें समर्पण, आस्था और रुचि जैसी जटायु पक्षी में थी। हम व्रत लेते हैं तो छूट जाते हैं या छोड़ देते हैं। कई लोग कहते हैं "महाराज ! रात्रि भोजन का हमारा त्याग। किन्तु इतनी छूट रख दो जिस दिन रात्रि में भोजन का प्रसंग आ जाये उस दिन भोजन रात मे कर लें।'' यह कोई व्रत है। यह तो छलावा है। ऐसे लोगों से तो हम यही कह देते है कि प्रसंग आने पर दिन का व्रत ले लो और बाकी समयों की चिन्ता मत करो। निर्दोष व्रत का पालन ही मार्ग प्रभावना में कारण है।

जटायु पक्षी किसी मन्दिर में नहीं गया किन्तु उसका मंदिर उसके हृदय में था। जिसमे श्री जी के रूप में उसके स्वयं की आत्मा थी। हमें भी उसी आत्मा की विषय कषायों से रक्षा करनी चाहिये। इसे ही मार्ग प्रभावना कहा जायेगा।

हमने कई बार आचार्य ज्ञान सागरजी महाराज से पूछा था-- महाराज, मुझ से धर्म की प्रभावना कैसे बन सकेगी? तब उनका उत्तर था "आर्षमार्ग में दोष लगा देना अप्रभावना कहलाती है तुम ऐसे अप्रभावना से बचते रहना बस ! प्रभावना हो जायेगी।'' मुनि मार्ग सफेद चादर के समान है उसमें जरा-सा भी दाग लगना अप्रभावना का कारण है। उनकी यह सीख बड़ी पैनी है। इसलिये प्रयास मेरा यही रहा कि दुनिया कुछ भी कहे या न कहे, मुझे अपने ग्रहण किये हुये व्रतों का परिपालन निर्दोष करना है।

भगवान महावीर के उपदेशों के अनुरूप अपना जीवन बनाओ। यही सबसे बड़ी प्रभावना है। मात्र नारेबाजी से प्रभावना होना संभव नहीं है। रावण को राक्षस कहा है वह वास्तव में राक्षस नहीं था किन्तु आर्य होकर भी उसने अनार्य जैसे कार्य किये। अन्त तक मिथ्यामार्ग का सहारा लिया। कुमार्ग को ही सच्चा मार्ग मानता रहा। 'मेरा है सो खरा है और खरा है सो मेरा है' -- इस वाक्य में मिथ्यात्वी और

सम्यक्त्वी का पूर्ण विवेचन निहित है। वाक्य के प्रथम अंश के अनुरूप जिनका जीवन है वे कुमार्गी हैं और वाक्य के दूसरे हिस्से के अनुयायी सन्मार्गी हैं। हमारे अन्दर यह विवेक हमेशा जागृत रहना चाहिये कि मेरे द्वारा ऐसे कोई कार्य तो नहीं हो रहे जिनसे दूसरों को आघात पहुँचे। यही प्रभावना का प्रतीक है।

कल हमें 'तीर्थंकर' पत्र में एक समाचार देखने को मिला। लिखा था "धर्मचक्र चल रहे है बड़ी प्रभावना हो रही है।" सोचो, क्या इतने से ही प्रभावना हो जायेगी। मात्र प्रतीक पर हमारी दृष्टि है। सजीव धर्मचक्र कोई नहीं चल रहा उसके साथ। सजीव धर्मचक्र की गरिमा की ओर हमारा ध्यान कभी गया ही नहीं। सजीव धर्मचक्र है वह आत्मा जो विषय और कषायों से ऊपर उठ गयी है। मात्र जड़ धन पैसे से धर्म प्रभावना होने वाली नहीं। जनेऊ, तिलक और मात्र चोटी धारण करने से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना तो वस्तुतः अन्तरंग की बात है। परमार्थ की प्रभावना ही प्रभावना है। परमार्थ के लिये कोई धन का विमोचन करे, वह प्रभावना है।

आचार्य कुन्दकुन्द का नाम बड़ा विख्यात है हम सभी कहते हैं "मंगल कुन्दकुन्दार्यो अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य मंगलमय है। किन्तु हम उनकी भी बात नहीं मानते। शास्त्रों की वे ही बातें हम स्वीकार कर लेते है जिनसे हमारा लौकिक स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। परमार्थ की बात हमारे गले उतरती ही नही है। उनके ग्रन्थ समयसार प्राभृत में एक गाथा आयी है जिसका सार इस प्रकार है– "विद्यारूपी रथ पर आरूढ़ होकर मन के वेग को रोकते हुये जो व्यक्ति चलता है, वह बिना कुछ कहे हुये जिनेन्द्र भगवान की प्रभावना कर रहा है।"

विषय कषायों पर कंट्रोल करो। वीतरागता की ही प्रभावना है, रागद्वेष की प्रभावना नहीं है। भगवान् ने कभी नहीं कहा कि मेरी प्रभावना करो। उनकी प्रभावना तो स्वयं हो गयी है। लोकमत के पीछे मत दौड़ो, नहीं तो भेड़ों की तरह जीवन का अन्त हो जायेगा। मालूम है उदाहरण भेड़ों का। एक के बाद एक सैकड़ों भेड़ें चली जा रही थी, एक गड्ढे में एक गिरी तो पीछे चलने वाली दूसरी गिरी, तीसरी भी गिरी और इस तरह सबका जीवन गिरकर समाप्त हो गया। उनके साथ एक बकरी भी थी किन्तु वह नहीं गिरी क्यो वह भेड़ों की सजातीय नहीं थी। उसी तरह झूठ हजारों हैं जो एक न एक दिन गिरेंगे। किन्तु सत्य केवल एक है अकेला है। उस सत्य की प्रभावना के लिये कमर कसकर तैयार हो जाओ। और सत्य की प्रभावना तभी होगी जब तुम स्वयं अपने जीवन को सत्यमय बनाओगे, चाहे तुम अकेले ही क्यों न रह जाओ, चुनाव सत्य का जनता अपने आप कर लेगी। □□

वात्सल्य

दूध पानी को मिला सकता है विजातीय होने पर भी; पर हम तो सजातीय को भी नहीं मिला पाते। सोचो; समय रहते एक डोरी में बंध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनंद आता है।

प्रवचन वात्सल्य का अर्थ है साधर्मियों के प्रति करुणाभाव। "वत्स धेनुवत्सधर्मणि स्नेह प्रवचनवत्सलत्वम्" – जैसे गाय बछड़े पर स्नेह करना है इसी प्रकार साधर्मियों पर स्नेह रखना प्रवचन वात्सल्य है। वात्सल्य एक स्वाभाविक भाव है। साधर्मी को देखकर उल्लास की बाढ़ आना ही चाहिए। प्रवचन वात्सल्य का उतना ही अधिक महत्त्व है जितना प्रथम दर्शनविशुद्धि भावना का। साधर्मी में वात्सल्य रखने वाला अवश्य ही तीर्थंकर प्रकृति का बंध करेगा। आचार्यों ने कहा है कि साथ वाले के प्रति औचित्यपूर्ण व्यवहार ही होना चाहिए। किन्तु आज देखने में आता है कि सजातीय भाइयों में प्रेम ओझल-सा हो गया है। हम अपने से ऊँचे को और नीचे वाले को स्थान दे सकते हैं किन्तु समान लोगों को सहन नहीं कर सकते। रूस और अमेरिका में आज संघर्ष क्यों है? केवल इसलिये कि वे समान जाति के हैं। आज विश्व में विप्लव का प्रमुख कारण जातियों की पारस्परिक लड़ाई ही है। हम हाथी के साथ-साथ चल सकते हैं, साथी के साथ नहीं।

एक बार दुर्योधन को गन्धर्वो ने बन्दी बना लिया। धृतराष्ट्र ने निवेदन किया धर्मराज से। धर्मराज ने कह दिया भीम से। "भइया जाओ दुर्योधन को छुड़ा लाओ। दुर्योधन का नाम सुनकर भीमराज क्रोध से भर उठे बोले– "उस पापी की मुक्ति की बात करते हो, जिसके कारण हमें वनवास की यातनाये सहनी पड़ीं। उस अन्यायी, नारकी को छुड़ाने की बात करते हो, जिसने भरी सभा में द्रोपदी का निर्वसन करने का दुस्साहस किया था। धर्मराज, अगर आप किसी और की मुक्ति की बात करते, तो अनुचित न होता किन्तु दुर्योधन को मुक्त कराने मैं नहीं जाऊँगा।" धर्मराज के हृदय का करुणा भाव आँखों से बहते देखकर, अर्जुन ने उनके वात्सल्य भाव को समझा और गाण्डीव धनुष द्वारा गन्धर्वो से युद्ध किया तथा दुर्योधन को छुड़ा

लायें। यह है वात्सल्य की भावना। तब धर्मराज ने समझाया– "हम परस्पर सौ कौरव और पाँच पाण्डव हैं, लड़ भिड़ सकते हैं किन्तु बाहर वालों के लिये हम सदा एक सौ पाच भाई ही है। हमारे भीतर एकता की ऐसी भावना होनी चाहिए।

भगवान महावीर की पूजा करने वालों में मतभेद हो जाये, विचारों में भिन्नता आ जाय किन्तु मन भेद नहीं होना चाहिए। पानी की धारा जब प्रवाहित होती है तो निर्बाध ही चली जाती है किन्तु किसी घनीभूत पत्थर के मार्ग में आ जाने पर वह धारा दो भागों में विभक्त हो जायेगी। वात्सल्य-विहीन व्यक्ति भी पत्थर की तरह होते है। वे समाज को दो धाराओं मे विभक्त कर देते हैं।

जाति-विरोध वास्तव मे बहुत बुरी चीज है। हम महावीर भगवान को तो मानें, उनकी पूजा करें, भक्ति करें और अपने साधर्मी भाइयों से वैमनस्य रखें, तो समझो हमारी पूजा व्यर्थ है। समवशरण में भी हमारी यही दृष्टि रही, स्वर्गों में भी यही रही। साधर्मी के वैभव को हम देख नही पाते, ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है। विधर्मी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो हमे कोई चिन्ता नहीं होती किन्तु सजातीय बन्धु की जरा सी उन्नति भी हमारी ईर्ष्या का कारण बन जाती है। उसे हम सहन नहीं कर पाते। यहीं से दुःखो की जड़ प्रारम्भ होती है। ये वैमनस्य ही कारण हैं हमारी व्यथाओं का।

भई, समझो तो सही, विचार भेद तो केवल ज्ञान की प्राप्त से पूर्व छद्मस्थ अवस्था मे रहेगा ही किन्तु मन भेद तो नहीं रखना चाहिये। केवल ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त विचारों की भिन्नता भी समाप्त हो जाती है। लय में लय का मिलना भी एक नय सिद्धान्त है। सभी जीवों को एकसूत्र में बाँधने के लिये जैनधर्म में संग्रह नय का उल्लेख किया है। सभी जीव शुद्ध नय की अपेक्षा से शुद्ध है। हमें भी ऐसे ही एक सूत्र मे बँधना चाहिये तभी श्रेयस्कर है।

ध्यान रखो, यदि हमारे अन्दर वैमनस्य की रेखा है तो वह उभरकर ऊपर में करुणा की लहरें पैदा करेगी। जैसे किसी तालाब में एक पत्थर फेंका जाये तो तरंगें एक तट से दूसरे तट तक फैल जाती हैं उसी प्रकार यह वैमनस्य भी फैलता ही जाता है। धर्मराज के वात्सल्य को देखकर, सुनकर भीम बड़े लज्जित होकर नतमस्तक हो गये थे। हमे भी इससे शिक्षा लेना चाहिये।

आज हम वात्सल्यहीन होते जा रहे हैं। जो हमारी उन्नति में बाधक बन रहा है। साधर्मियों से हमारी लड़ाई और विधर्मियों से प्रेम हमारे पतन का कारण है। आज मनुष्य की चाल और श्वान की चाल एक जैसी हो गई है। एक लड़के ने एक कुत्ता पाल लिया। वह बालक उस कुत्ते से बड़ा प्यार करता क्योंकि कुत्ता आप जानते

ही है, बहुत स्वामिभक्ति होता है। वह बालक एक दिन माँ से बोला– "माँ दुनियाँ मे शेरसिंह, हाथीसिंह, अश्वसेन, आदि नाम प्रचलित हैं, किन्तु श्वानसेन किसी का नाम नहीं। ऐसा क्यों? "तब माँ बोली– "बेटा ! तू अभी जानता नहीं। अगर अभी सामने से कोई दूसरा कुत्ता आ जाये तो देखना तुम्हारा ये कुत्ता तुम्हारी गोद से उतरकर उससे लड़ने पहुँच जायेगा, यह जाति द्रोही है यही इसका सबसे बड़ा अवगुण है। इसलिये कोई माता-पिता अपने बेटे का नाम श्वानसिंह नहीं रखते। इसी तरह हमारी रक्षा साधर्मी के द्वारा ही होगी। विधर्मी कभी हमारी रक्षा के लिये नहीं आयेगा।

एक बार 'आक' का दूध गाय और भैस के दूध से बोला– "भइया मुझे भी अपने साथ मिला लो। मेरा भी निस्तार हो जायेगा।" ना भइया, मैं तुम्हें थोड़ा भी अपने में मिला लूँ तो मेरा स्वभाव भी बदल जायेगा मै फट जाऊँगा और कोई मुझे भी नहीं पियेगा। तब कैसे मैं पालन कर पाऊँगा भूखे प्राणियों का'' – गो का दुग्ध बोला। तब आक का दूध कहता है, भइया, पानी को मिला लेते हो, जो कि विजातीय है। ' पानी विजातीय होकर भी अलग स्वभाव का है मिलन सारी है पानी का तो यह हाल है– जैसा मिले संग, वैसा उसका रंग।'' विजातीय होकर भी पानी अपने इसी स्वभाव के कारण सभी के साथ मिल सकता है किन्तु हम सजातीय होकर भी ऐसा वात्सल्य का स्वभाव जागृत नहीं कर पाते। भाई, एक डोरी मे बँध जाओ और फिर देखो कैसा अलौकिक आनन्द आयगा।

भगवान महावीर ने इस वात्सल्य भाव को अपने जीवन मे उतारा था। प्रकाश का स्वभाव भी देखो, बीसो बल्बो का प्रकाश भी एक साथ मिल जाता है। प्रकाश मे कभी लड़ाई नहीं होती, हमारी छाया भले ही प्रकाश मे भेद उत्पन्न कर दे। जैसे प्रकाश मे प्रकाश मिल जाता है वैसे ही हमारी आँखो से निकली हुई चैतन्य धारा भी दूसरो की ओर से आने वाली चेतन धारा से मिल जाना चाहिए। जड़ के सम्पर्क मे रहकर हम भी जड़ होते चले जा रहे है। जड़ का अर्थ अचेतन भी है और मूर्ख भी है। वह मूर्ख संज्ञा मनुष्यों की ही है। दुनियाँ के पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ते किन्तु हम मनुष्य अपना स्वभाव भूल कर उसे छोड बैठे हैं। इसीलिए दुखी भी हैं।

सन्त लोग एक-एक पक्ति मे सुख का मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं। उनकी एक एक बात सारभूत है। किन्तु हम उसे छोड़कर निस्सार की ओर दौड़ रहे हैं। हमने उनकी पुकार सुनी ही नहीं। गुरुओं के हृदय में तो करुणा की धारा प्रवाहित होती रहती है उससे हमें लाभ लेना चाहिये और जाति-द्रोह, वैमनस्य, श्वान चाल छोड़कर मैत्री और वात्सल्य भाव को अपनाना चाहिये। □□

□ गुरुवाणी

□ आनंद का स्रोत : आत्मानुशासन

आज हम एक पवित्र आत्मा की स्मृति के उपलक्ष्य में एकत्रित हुये है। भिन्न-भिन्न लोगों ने इस महान् आत्मा का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया है। लेकिन सभी अतीत में झांक रहे हैं। महावीर भगवान अतीत की स्मृति मात्र से हमारे हृदय में नहीं आयेंगे। वास्तव में देखा जाये तो महावीर भगवान एक चैतन्य पिंड हैं वे कहीं गये नहीं है वे प्रतिक्षण विद्यमान हैं किन्तु सामान्य आँखें उन्हे देख नहीं पाती।

देश के उत्थान के लिए, सामाजिक विकास के लिए और जितनी भी समस्याएं हैं उन सभी के समाधान के लिए आज अनुशासन को परम आवश्यक माना जा रहा है। लेकिन भगवान महावीर ने अनुशासन की अपेक्षा आत्मानुशासन को श्रेष्ठ माना है। अनुशासन चलाने के भाव में मैं बड़ा और दूसरा छोटा इस प्रकार का कषाय भाव विद्यमान है लेकिन आत्मानुशासन में अपनी ही कषायों पर नियंत्रण की आवश्यकता है। आत्मानुशासन में छोटे बड़े की कल्पना नहीं है। सभी के प्रति समता भाव है।

अनादिकाल से इस जीवन ने कर्तृत्त्व-बुद्धि के माध्यम से विश्व के ऊपर अनुशासन चलाने का दम्भ किया है उसी के परिणाम स्वरूप यह जीव चारों गतियों में भटक रहा है। चारों गतियों मे सुख नहीं है शान्ति नहीं है आनंद नहीं है फिर भी यह इन्हीं गतियों में सुख-शान्ति और आनंद की गवेषणा कर रहा है। वह भूल गया है कि दिव्य घोषणा है संतो की, कि सुख शान्ति का मूल स्रोत आत्मा है। वहीं इसे खोजा और पाया जा सकता है। यदि दुख का, अशान्ति और आकुलता का कोई केन्द्र बिंदु है तो वह भी स्वयं की विकृत दशा को प्राप्त आत्मा ही है। विकृत-आत्मा स्वयं अपने ऊपर अनुशासन चलाना नहीं चाहता, इसी कारण विश्व में सब ओर अशान्ति फैली हुई है।

भगवान महावीर की छवि का दर्शन करने के लिए भौतिक आँखें काम नहीं कर सकेंगी, उनकी दिव्य ध्वनि सुनने, समझने के लिऐ ये कर्ण पर्याप्त नहीं हैं। ज्ञान चक्षु के माध्यम से ही हम महावीर भगवान की दिव्य छवि का दर्शन कर सकते हैं। उनकी वाणी को समझ सकते हैं। भगवान महावीर का शासन रागमय शासन नहीं रहा, वह

वीतरागमय शासन है। वीतरागता बाहर से नहीं आती, उसे तो अपने अन्दर जागृत किया जा सकता है। यह वीतरागता ही आत्म-धर्म है। यदि हम अपने ऊपर शासन करना सीख जायें, आत्मानुशासित हो जाएँ तो यही वीतराग आत्म धर्म, विश्व धर्म बन सकता है।

भगवान पार्श्वनाथ के समय ब्रह्मचर्य की अपेक्षा अपरिग्रह को मुख्य रखा था। सारी भोग-सामग्री परिग्रह में आ ही जाती है। इसलिए अपरिग्रह पर अधिक जोर दिया गया। वह अपरिग्रह आज भी प्रासंगिक है। भगवान महावीर ने उसे अपने जीवन के विकास में बाधक माना है। आत्मा के दुख का मूलस्रोत माना है। किन्तु आप लोग परिग्रह के प्रति बहुत आस्था रखते हैं। परिग्रह छोड़ने को कोई तैयार नहीं है। उसे कोई बुरा नहीं मानता। जब व्यक्ति बुराई को अच्छाई के रूप में और अच्छाई को बुराई के रूप में स्वीकार कर लेता है तब उस व्यक्ति का सुधार, उस व्यक्ति का विकास असम्भव हो जाता है। आज दिशाबोध परमावश्यक है। परिग्रह के प्रति आसक्ति कम किये बिना वस्तुस्थिति ठीक प्रतिबिंबित नहीं हो सकती।

'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग, की घोषणा सैद्धान्तक भले ही हो किन्तु प्रत्येक कार्य के लिए यह तीनों बातें प्रकारान्तर से अन्य शब्दों के माध्यम से हमारे जीवनमें सहायक सिद्ध होती है। आप देखते हैं कि कोई भी, सहज ही किसी को कह देता है या माँ अपने बेटे को कह देती है कि बेटा, देखभाल कर चलना, 'देख' यह दर्शन का प्रतीक है, 'भाल' – विवेक का प्रतीक है सम्यग्ज्ञान का प्रतीक है और 'चलना' यह सम्यक् चारित्र का प्रतीक है। इस तरह यह तीनों बातें सहज ही प्रत्येक कार्य के लिए आवश्यक है।

आप संसार के विकास के लिए चलते हैं तो उसी ओर देखते हैं उसी को जानते हैं। महावीर भगवान आत्म विकास की बात करते हैं। उसी ओर देखतें उसी को जानते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए चलते हैं। इसलिए महावीर भगवान का दर्शन ज्ञेय पदार्थों को महत्त्व नहीं देता अपितु ज्ञान को महत्त्व देता है। ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित होने वाला वर्तमान भौतिकवाद भले ही आध्यात्म की चर्चा कर ले किन्तु अध्यात्म को प्राप्त नहीं कर सकता। ज्ञेयतत्त्व का मूल्यांकन आप कर रहे हैं और सारा संसार ज्ञेय बन सकता है किन्तु मूल्यांकन करने वाला किस जगह बैठा है इसे भी देखने की बहुत आवश्यकता है। अध्यात्म का प्रारंभ उसी से होगा।

आपकी घड़ी की कीमत है आपकी खरीद हुई प्रत्येक वस्तु की कीमत है किन्तु कीमत करने वाले की कीमत क्या है। अभी यह जानना शेष है। जिसने इसको जान लिया उसने

महावीर भगवान को जान लिया। अपनी आत्मा को जान लेना ही सारे विश्व को जान लेना है। भगवान महावीर के दिव्य ज्ञान में सारा विश्व प्रतिबिंबित है। उन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया है। अपने शुद्ध आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लिया है। अपने आप को जान लेना ही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है यही अध्यात्म की उपलब्धि है। जहाँ आत्मा जीवित है वहीं ज्ञेय-पदार्थों का मूल्यांकन भी संभव है।

शुद्ध आत्म तत्त्व का निरीक्षण करने वाला व्यक्ति महान पवित्र होता है। उसके कदम बहुत ही धीमे-धीमे उठते हैं किन्तु ठोस उठते हैं उनमें बल होता है उनमें गाम्भीर होता है उसके साथ विवेक जुड़ा हुआ रहता है। विषय-कषाय उससे बहुत पीछे छूट जाता हैं।

जो व्यक्ति वर्तमान में ज्ञानानुभूति में लीन है वह व्यक्ति आगे बहुत कुछ कर सकता है किन्तु आज व्यक्ति अतीत की स्मृति में उसी की सुरक्षा में लगा है या फिर भविष्य के बारे में चिंतित है कि आगे क्या होगा। इस प्रकार वह स्वयं वर्तमान पुरुषार्थ को खोता जा रहा है। वह भूल रहा है कि वर्तमान में से ही भूत और भविष्य निकलने वाले हैं। अनागत भी इसी में से आयेगा और अतीत भी इसी में ढलकर निकल चुका है। जो कुछ कार्य होता है वह वर्तमान में होता है और विवेकशील व्यक्ति ही उसका संपादन कर सकता है। भविष्य की ओर दृष्टि रखने वाला आकाक्षा और आशा में जीता है अतीत में जीना भी बासी खाना है वर्तमान में जीना ही वास्तविक जीना है।

अतीत भूत के रूप में व्यक्ति को भयभीत करता है और भविष्य की आशा, तृष्णा बनकर नागिन की तरह खड़ी रहती है जिससे व्यक्ति निश्चित नहीं हो पाता। जो वर्तमान में जीता है वह निश्चित होता है वह निडर और निर्भीक होता है। साधारण सी बात है कि जिस व्यक्ति के वर्तमान में अच्छे कदम नहीं उठ रहे उसका भविष्य अंधकारमय होगा ही। कोई चोरी करता रहे और पूछे कि मेरा भविष्य क्या है? तो भैया वर्तमान में चोरी करने वालों का भविष्य क्या जेल में व्यतीत नहीं होगा यह एक छोटा सा बच्चा भी जानता है। यदि हम उज्ज्वल भविष्य चाहते हैं तो वर्तमान में रागद्वेष रूपी अपराध को छोड़ने का संकल्प लेना होगा।

अतीत में अपराध हो गया कोई बात नहीं। स्वीकार कर लिया। दंड भी ले लिया। अब आगे प्रायश्चित करके भविष्य के लिए अपराध नहीं करने का जो संकल्प ले लेता है वह ईमानदार कहलाता है। वह अपराध अतीत का है वर्तमान का नहीं। वर्तमान यदि अपराध मुक्त है तो भविष्य भी उज्ज्वल हो सकता है। यह वर्तमान पुरूषार्थ का परिणाम है। भगवान महावीर यह कहते हैं कि डरो मत ! तुम्हारा अतीत पापमय रहा है किन्तु

यदि वर्तमान सच्चाई लिए हुए है तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल रहेगा। भविष्य में जो व्यक्ति आनन्दपूर्वक, शान्तिपूर्वक जीना चाहता है उसे वर्तमान के प्रति सजग रहना होगा।

पाप केवल दूसरों की अपेक्षा से ही नहीं होता। आप अपनी आत्मा को बाहरी अपराध से सासरिक भय के कारण भले ही दूर रख सकते हैं किन्तु भावों से होने वाला पाप, हिंसा झूठ चोरी आदि हटाये बिना आप पाप से मुक्त नहीं हो सकते! भगवान महावीर का जोर भावो की निर्मलता पर है। जो स्वाश्रित है। आत्मा में जो भाव होगा वही तो बाहर कार्य करेगा। अंदर जो गंदगी फैलेगी वह अपने आप बाहर आयेगी। बाहर फैलने वाली अपवित्रता के स्रोत की ओर देखना आवश्यक है। यही आत्मानुशासन है जो विश्व में शांति और आनद फैला सकता है।

जो व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर स्वयं शासित हुए बिना विश्व के ऊपर शासन करना चाहता है वह कभी सफलता नहीं पा सकता। आज प्रत्येक प्राणी राग, द्वेष विषय कषाय और मान मत्सर इनको सवरित करने के लिए ससार की अनावश्यक वस्तुओं का सहारा ले रहा है। यथार्थत देखा जाये तो इन सभी को जीतने के लिए आवश्यक पदार्थ एक मात्र अपनी आत्मा को छोड़कर और दूसरा है ही नहीं। आत्म तत्त्व का आलबन ही एकमात्र आवश्यक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा के रूप मे ढलने की योग्यता रखता है।

इस रहस्य को समझना होगा कि विश्व को संचालित करने वाला कोई एक शासन कर्ता नहीं है। और न ही हम उस शासक के नौकर चाकर है। भगवान महावीर कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। परमात्मा की उपासना करके अनत आत्माएँ स्वय परमात्मा बन चुकी है और आगे भी बनती रहेंगी। हमारे अदर जो शक्ति राग द्वेष और मोह रूपी विकारी भावो के कारण तिरोहित हो चुकी है उस शक्ति को उद्घाटित करने के लिए और आत्मानुशासित होने के लिए समता भाव की अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्तमान मे समता का अनुसरण न करते हुए हम उसका विलोम परिणमन कर रहे हैं। समता का विलोम है तामस। जिस व्यक्ति का जीवन वर्तमान मे तामसिक तथा राजसिक है सात्त्विक नही है वह व्यक्ति भले ही बुद्धिमान हो, वेदपाठी हो तो भी तामसिक प्रवृत्ति के कारण कुपथ की ओर ही बढ़ता रहेगा। यदि हम अपनी आत्मा को जो राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर से कलंकित हो चुकी है विकृत हो चुकी है उसका संशोधन करने के लिए महावीर भगवान की जयन्ती मनाते हैं तो यह उपलब्धि होगी। केवल लंबी चौड़ी भीड़ के समक्ष भाषण आदि के माध्यम से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना उसके

द्वारा होती है जो अपने मन के ऊपर नियन्त्रण करता है और सम्यग्ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षपथ पर यात्रा करता है। आज इस पथ पर आरूढ़ होने की तैयारी होनी चाहिये।

'चेहरे पर चेहरे हैं बहुत-बहुत गहरे हैं खेद की बात तो यही है वीतरागता के क्षेत्र में अंधे और बहरे है? आज मात्र वीतरागता के नारे लगाने की आवश्यकता नहीं है। जो परिग्रह का विमोचन करके वीतराग पथ पर आरूढ़ हो चुका है या होने के लिए उत्सुक है वही भगवान महावीर का सच्चा उपासक है। मेरी दृष्टि में राग का अभाव दो प्रकार से पाया जाता है अराग अर्थात् जिसमे रागभाव संभव ही नहीं है ऐसा जड़ पदार्थ और दूसरा वीतराग अर्थात् जिसने राग को जीत लिया है जो रागद्वेष से ऊपर उठ गया है। सासारिक पदार्थो क प्रति मूर्छा रूप परिग्रह को छोड़कर जो अपने आत्म स्वरूप मे लीन हो गया है। पहले राग था अब उस राग को जिसने समाप्त कर दिया है जो समता भाव में आरूढ़ हो गया है वही वीतराग है।

राग की उपासना करना अर्थात् राग की ओर बढ़ना एक प्रकार से महावीर भगवान के विपरीत जाना है। यदि महावीर भगवान की ओर, वीतरागता की ओर बढ़ना हो तो धीरे धीरे राग कम करना होगा। जितनी मात्रा मे राग आप छोड़ते हैं जितनी मात्रा में स्वरूप पर दृष्टिपात आप करते हैं समझिये उतनी मात्रा में आप आज भी महावीर भगवान के समीप है उनके उपासक हैं। जिस व्यक्ति ने वीतराग पथ का आलम्बन लिया है उस व्यक्ति ने ही वास्तव में भगवान महावीर के पास जाने का प्रयास किया है। वही व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण कर सकता है।

आप आज ही यह संकल्प कर ले कि हम अनावश्यक पदार्थो को, जो जीवन में किसी प्रकार से सहयोगी नहीं हैं त्याग कर देंगे। जो आवश्यक हैं उनको भी कम करते जायेंगे। आवश्यक भी आवश्यकता से अधिक नहीं रखेंगे। भगवान महावीर का हमारे लिए यही दिव्य संदेश है कि जितना बने उतना अवश्य करना चाहिये। यथाशक्ति त्याग की बात है। जितनी अपनी शक्ति है जितनी ऊर्जा और बल है उतना तो कम से कम वीतरागता की ओर कदम बढ़ाइये। सर्वाधिक श्रेष्ठ यह मनुष्य पर्याय है। जब इसके माध्यम से आप संसार की ओर बढ़ने का इतना प्रयास कर रहे हैं। तो यदि चाहें तो अध्यात्म की ओर भी बढ़ सकते है। शक्ति नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है।

'संसार सकल त्रस्त है पीड़ित व्याकुल विकल/इसमें है एक कारण/हृदय से नहीं हटाया विषय राग को/हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को/जो शरण,तारण-तरण। दूसरे पर अनुशासन करने के लिए तो बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है पर आत्मा पर शासन

करने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं है एक मात्र संकल्प की आवश्यकता है। संकल्प के माध्यम से मैं समझता हूँ आज का यह हमारा जीवन जो कि पतन की ओर है वह उत्थान की ओर, पावन बनने की ओर जा सकता है। स्वयं को सोचना चाहिये कि अपनी दिव्य शक्ति का हम कितना दुरुपयोग कर रहे हैं।

आत्मानुशासन से मात्र अपनी आत्मा का ही उत्थान नहीं होता अपितु बाहर जो भी चैतन्य है उन सभी का उत्थान भी होता है। आज भगवान का जन्म नहीं हुआ था, बल्कि राजकुमार वर्धमान का जन्म हुआ था। जब उन्होंने वीतरागता धारण कर ली, वीतराग-पथ पर आरूढ़ हुए और आत्मा को स्वयं जीता, तब महावीर भगवान बने। आज मात्र भौतिक शरीर का जन्म हुआ था। आत्मा तो अजन्मा है। वह तो जन्म मरण से परे है। आत्मा निरन्तर परिणमनशील शाश्वत द्रव्य है। भगवान महावीर जो पूर्णता में ढल चुके हैं उन पवित्र दिव्य आत्मा को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। 'यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर। हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।''

□□

☐ ब्रह्मचर्य : चेतन का भोग

ब्रह्मचर्य की व्याख्या आप लोगों के लिए नई नहीं है किन्तु पुरानी होते हुए भी उसमें नयापन है। वह हमेशा सामयिक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी परोन्मुखी उपयोग धारा को स्व की ओर मोड़ना। दृष्टि अन्तर्दृष्टि बन जाये। बाहरी पथ पर यात्रा न होकर अन्तरपथ पर यात्रा हो। बहिर्जगत शून्यवत् हो जाए। अन्तर्जगत् उद्घाटित हो। ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्तुतः है चेतन का भोग। ब्रह्मचर्य का अर्थ भोग से निवृत्ति नहीं बल्कि भोग से एकीकरण और रोग से निवृत्ति है। जिसे आप लोगों ने भोग माना है वह वास्तव में रोग है। उस रोग से निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है।

लगभग दस साल पूर्व की बात है एक विदेशी आया था, उसका कहना था कि ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना कठिन है। आप इसे न अपनायें क्योंकि आज के वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि भोग के बिना जीवन संभव नहीं है। मैंने कहा कि ठीक है भोग जहाँ है वहीं पर जीवन है। यह मैं भी मानता हूँ लेकिन जिसे आप भोग समझते हैं उसे मैं भोग नहीं समझता, उसे तो मैं रोग मानता हूँ। आपका भोग का केन्द्र भौतिक सामग्री है हमारे यहाँ भोग की सामग्री बनती है चैतन्य शक्ति। विषय वासना तो मृत्यु का कारण हैं दुख की ओर ले जाने वाली हैं। लेकिन ब्रह्मचर्य तो जीवन है आनन्द है सुख का मूल है। जो सुख चाहते हैं वे चाहे इसे आज अपनावें या कभी भी अपनावें किन्तु अपनाना अवश्य पड़ेगा। रोग की निवृत्ति के लिए जैसे औषधि अनिवार्य है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी औषधि है। जो वासना से निवृत्ति के लिए अनिवार्य है।

भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच सूत्रों में से यह चौथा सूत्र ब्रह्मचर्य बहुत महत्वपूर्ण है अपने में पूर्ण है। जितने भी अनन्त सुख के भोक्ता आज तक बने हैं सबने इसका समादर किया है। इसे जीवन में अपनाया है। ब्रह्मचर्य पूज्य बना किन्तु कभी भोग सामग्री पूज्य नहीं बनी। इतना अवश्य है कि ब्रह्मचर्य को पूज्य मानने के बाद भी आपकी दृष्टि में आदर अभी भी भोग सामग्री का है और यही दयनीय है, दुखद है।

जैन साहित्य हो या अन्य कोई दार्शनिक साहित्य हो, सभी को देखने पर विदित

होता है कि आत्मा को सही-सही रास्ता तभी मिल सकता है जब हम उपलब्ध साहित्य का अध्ययन चिंतन, मनन व मन्थन करें। हम उसे मात्र पढ़कर या सुनकर बैठ न जाये। सुनने से पहले या पढ़ने से पहले विचार अवश्य करे कि क्यों सुन रहे हैं। दवाई लेने से पूर्व हम यह निर्णय अवश्य करते है कि दवा क्यों ले रहे हैं? उसी प्रकार सुनने या पढ़ने से पूर्व प्राप्ति का लक्ष्य अवश्य होना चाहिये। जितना सुने या पढ़े उससे कम से कम आठ गुना चिंतन मनन मंथन अवश्य करें। खाना के साथ-साथ पचाना भी अनिवार्य है। जो खाया है उसके पचने पर ही सारभूत भाग प्राप्त होता है।

उपयोग की धारा को बाहर से अन्दर की ओर लाना ही ब्रह्मचर्य है। उपयोग की धारा जो अभी बाहर अटक रही है वहाँ से स्थानान्तरित हो जाये और चाहे अपनी आत्मा की गहराई में चली जाये, चाहे दूसरे की आत्मा में चली जाये, उपयोग को खुराक मिलनी चाहिये आत्म तत्त्व की। जहाँ पर अनन्त निधियाँ छिपी हैं। जब आत्म सम्पदा ही उपयोग की खुराक बन जायेगी तभी आत्मा जो अनादि काल से तप्त है वह अनन्तकाल के लिए तृप्त हो जायेगी।

ब्रह्मचर्य का विरोधी धर्म है 'काम'। यह 'काम' और कोई चीज नहीं है यह वही उपयोग है जो बहिर्वृत्ति को अपनाता आ रहा है। जो भौतिक सामग्री में अटका हुआ है। 'काम' को अग्नि माना गया है। इस कामाग्नि को प्रदीप्ति करने वाली भौतिक सामग्री है। जो सर्वत्र बिखरी हुई है यह कामाग्नि अनादिकाल से जला रही है आत्मा को। इसमें से अपने को निकालना है और वहाँ पर पहुँचना है जहाँ चारों ओर है शान्ति सुख और आनंद।

इस 'काम' के ऊपर विजय पाने का अर्थ है अपने बाहर की ओर जा रहे उपयोग को आत्मा में लगाना, चाहे स्वात्मा हो या परमात्मा। काम पुरुषार्थ का उल्लेख आता है भारतीय साहित्य में। सामान्य रूप से इस काम पुरुषार्थ का अर्थ भोग ही लिया जाता है। लेकिन ऐसा नहीं है। यहाँ भी दृष्टि चैतन्य की ओर होना चाहिये। काम-पुरुषार्थ का अर्थ मात्र बाह्य पदार्थों में रमण करते रहना नहीं है। काम पुरुषार्थ में तीन शब्द हैं काम, पुरुष, अर्थ। काम अर्थात् भोग, पुरुष यानी आत्मा और अर्थ अर्थात् प्रयोजन। इस तरह काम पुरुषार्थ का अर्थ हुआ कि ऐसा भोग जिसमें प्रयोजन आत्मा से है। चैतन्य भोग के बिना हम आत्मा तक पहुँच नहीं सकते। पहुँचना वहीं पर है पुरुष तक। पुरुष तक अर्थात् आत्मा तक पहुँचने के लिए यह 'काम' सहायक तत्त्व हैं

आप लोग पुरुष तक नहीं पहुँचते। पुरुष तक पहुँचने वाला पुरुषार्थी होता है और बाह्य भौतिक सामग्री मे अटकने वाला गुलाम होता है। जिस व्यक्ति का लक्ष्य पुरुष (आत्मा) नहीं है वह गुलाम तो है ही। जड़ अचेतन पदार्थों के पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति

चेतन द्रव्य होते हुए भी जड़ माना जायेगा। जो लक्ष्य से पतित है वह भटका हुआ ही है। काम पुरुषार्थ को उन्नत बनाने के लिए भारतीय आचार संहिता में विवाह के ऊपर जोर दिया गया। विवाह, ब्रह्मचर्य के निकट जाना है। विवाह की डोरी में बंधने के बाद वह आत्मा फिर चारों ओर से अपने आप को छुड़ा लेता है। और उस डोरी के सहारे वह आत्मा तक पहुँचने का प्रयास भी करता है।

जैसे किसी बहाव को देश से देशान्तर ले जाना हो तो एक निश्चत रास्ता देना होगा तभी वह बहाव वहाँ तक पहुँच पायेगा अन्यथा किसी भी दिशा में बहकर या मरुभूमि में जाकर समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार उपयोग की धारा को बहने के लिए यदि कोई एक निश्चित रास्ता आपके पास नहीं है तो वह अनन्त दिशाओं में बहेगा और समाप्त हो जायेगा। विवाह के माध्यम से उपयोग की धारा को एक दिशा दी जाती है तब अनन्त दिशाओं में उसका जाना बंद हो जाता है आज विवाह मात्र रूढ़ि बन गया है और विवाह के उपरान्त भी कोई व्यक्ति आत्मा की ओर गतिशील नहीं होता। उपयोग की धारा यहाँ-वहाँ भटककर लुप्त हो जाती है।

जिस समय विवाह-संस्कार होता है उस समय उस उपयोगवान् आत्मा को संकल्प दिया जाता है.कि अब तुम्हारे लिए संसार में इस एक आत्मा के अलावा शेष जो स्त्रियां है वे सब माँ, बहिन और पुत्री के समान हैं। यही एकमात्र रास्ता है जिसके माध्यम से अपने चैतन्य तक पहुँचना है। प्रयोगशाला में जैसे एक विज्ञान का विद्यार्थी जाता है प्रयोग करना प्रारंभ करता है और जिस पर प्रयोग करता है उसी में उसकी दृष्टि लीन हो जाती है ओर वह आसपास क्या हो रहा है यह तो भूल ही जाता है स्वयं को भी भूल जाता है एकमात्र उपयोग अपना काम करता है तब वह विद्यार्थी सफलता प्राप्त करता है। प्रयोग के माध्यम से अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता है। ऐसी ही प्रयोगशाला है विवाह। जहाँ प्रयोग करने वाले दो विद्यार्थी हैं पति और पत्नी।

पत्नी के लिए प्रयोगशाला पुरुष है और पति के लिए प्रयोगशाला पत्नी है। और प्रयोग का विषय शरीर नही आत्मा है। क्योंकि वे बाह्य में भले ही स्त्री और पुरुष हैं पर अन्दर से दोनों पुरुष अर्थात् आत्मा हैं। परस्पर वेद के भेद भी वहाँ पर अभेद के रूप मे परिणत होते हैं। स्त्री पुरुष का भेद होने पर भी यात्रा अभेद आत्मा की ओर आरम्भ होती है। यही विवाह की पृष्ठभूमि है। अभी तक आप लोगों ने विवाह तो किया पर पति-पत्नी ने परस्पर एक दूसरे को भोग सामग्री माना है और इस प्रकार विवाह, बंधन हो गया है। इसलिए जैसे-जैसे भौतिक कायाए सूखने लगती हैं वैसे-वैसे परस्पर एक दूसरे के प्रति आकर्षण कम हो जाता है बीच में दीवार खिंच जाती है। संबंध फिर निभता नहीं निभाना पड़ता है।

जैसे दो बैल एक गाड़ी में जोत दिये जायें और एक बैल पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर तो गाड़ीवान को पसीना आने लगता है। गाड़ी आगे नहीं चल पाती। तब गृहस्थी की गाड़ी रुक जाती है। आप लोग आदर्श विवाह तो करते हैं दहेज से परहेज नहीं बना पाते। इसलिए विवाह के उपरान्त आर्थिक विकास भले ही हो किन्तु पारमार्थिक विकास नहीं हो पाता।

आदर्श-विवाह था राम और सीता का। दोनों ने विवाह के माध्यम से उस संबंध के माध्यम से अपने जीवन को सफलीभूत बनाया है। परस्पर एक दूसरे के सिवाय उनकी दृष्टि से जो अनन्त सामग्री चारों ओर बिछी थी वह भोग सामग्री नहीं थी। जैसे प्रयोगशाला में विद्यार्थी को इधर-उधर रखे पदार्थों से कोई सरोकार नहीं रहता इसी प्रकार उन्हें भी बाहर की वस्तुओं से कोई मतलब नहीं था। उनकी यात्रा अपनी ओर अनाहत चल रही थी। रावण ने हजारों स्त्रियां होने के बाद भी एक भूमिगोचरी सीता पर दृष्टिपात किया। सीता की आत्मा के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं पहुँची। वह मात्र काया की माया में डूब गया। और उसकी जीवन की यात्रा रुक गयी।

यदि उसकी दृष्टि सीता की आत्मा तक पहुँच जाती तो उसे अवश्य मार्ग मिल जाता और उसका जीवन सुधर जाता। सीता के माध्यम से राम का जीवन सुधरा और राम के जीवन के माध्यम से सीता का जीवन सुधरा। वे दोनों एक दूसरे के पूरक बने। जैसे कि राह में दो वृद्ध पुरुष एक दूसरे के सहयोग से चलते जाते है गिरते नहीं हैं उसी प्रकार वे भी चलते रहे। दृढ़ निश्चय करके अपने मार्ग में इधर-उधर भटके बिना आगे बढ़ते रहे। ज्यों ही रावण बीच में आया, राम सोच में पड़ गये कि इसके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। हमारे जीवन के बीच में अब कोई नहीं आ सकता यदि कोई आता है तो वह व्यवधान ही होगा और उस व्यवधान को दूर करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

रावण को मारने का इरादा नहीं किया राम ने। उन्होंने मात्र अपने प्रशस्त मार्ग में आने वाले व्यवधान को हटाने का प्रयास किया और सीता के पास जाने का प्रयास किया। सीता जी ने जिस संकल्प के साथ राम की ओर कदम बढ़ाया था उसकी रक्षा करना, समर्थन करना राम का परम धर्म था। राम का समर्थन करना सीता का परम धर्म था। उन दोनों ने अपने धर्म का अनुपालन किया। उन्होंने भोग या सांसारिकता का सहारा नहीं लिया बल्कि चैतन्य का सहारा लिया। विवाह पद्धति का अर्थ मोक्षमार्ग में परस्पर साथी बनना है। विवाह का अर्थ संसार मार्ग की सामग्री बनना नहीं है।

पाश्चात्य शहरों में होने वाले विवाह वास्तव में विवाह नहीं हैं। वहाँ पहले राग होता है और बाद में बंधन होता है। भारतीय संस्कृति में पहले बंधन होता है पीछे राग

होता है और वह राग भी आत्मानुराग होता है पहले सत् संकल्प दिये जाते हैं उनके साथ ही संबंध होता है अन्यथा नहीं।

जब तक राम और सीता का गृहस्थ धर्म चलता रहा तब तक उन्होंने एक दूसरे के पूरक होने के नाते अपने अपने जीवन को आगे बढ़ाया। अंत में अग्नि परीक्षा के उपरान्त सीता कहती हैं कि हमने अंतिम परीक्षा दे ली अब तो स्वयं का शोध करना है। शोध के लिए इस परीक्षा से पर्याप्त बोध मिल चुका है। बोध के उपरान्त शोध अनिवार्य है। एम.ए. तक विद्याध्यन के उपरान्त जैसे शोध प्रारंभ किया जाता है ऐसा ही इस क्षेत्र में भी है। शोध से ही अनुभूति प्रारंभ होती है। बोध को समीचीन बनाने के उपरान्त अब टैक्स्ट बुक नहीं चाहिये अब अनुभूति के लिए शोध आवश्यक है।

सीता जी के पास अब शोध की शक्ति आ गयी थी। वे राम से कहती हैं कि अब मुझमें इतनी शक्ति आ चुकी है कि आपकी आवश्यकता नहीं है। अब तीन लोक में जो भी पदार्थ बिखरे हुए हैं उनमें से किसी भी एक पदार्थ को चुनकर मैं आत्मा को प्राप्त कर सकती हूँ। अपने शोध का विषय बना सकती हूँ। अब राम, विश्राम! अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही। अब स्वावलम्बी जीवन आ गया। विवाह की डोर अब छूट जायेगी।

सीता जी ने उसी समय पंचमुष्टि केशलुंचन कर लिया। आर्यिका माता बन गयीं और चूंकि राम अभी शोध छात्र नहीं थे इसलिए सीता के चरणों में प्रणिपात हो गये। सीता एक अबला होकर भी शोधछात्रा बन गयीं। अब वे विश्व में बिखरी अनन्त चैतन्य सत्ताओं के बारे मे विचार करेगी अध्ययन मनन और अनुभवन करेगी और उनके पास पहुँचने का प्रयास करेंगी। विवाह के माध्यम से मात्र राम में लीन रहकर यहाँ तक पहुँची, अब ऐसा साहस उद्‌भूत हो गया कि बिना राम के काम चल जायेगा।

'राम-राम, श्याम-श्याम रटन्त से विश्राम, रहे न 'काम' से काम, तब मिले आतम राम।' अब राम, राम न रहे सीता की दृष्टि में। अब उनकी दृष्टि में था आतमराम। अब काया में छिपे आतमराम को वह देखेंगी उसी से संबंध रखेंगी। अब विश्व के साथ चैतन्य संबंध की यात्रा प्रारंभ हो गयी। राम तो मात्र काया का नाम था आतमराम मात्र काया का नाम नहीं है। वह तो अन्तर्यामी चैतन्य सत्ता है। वह न पुरुष है, न स्त्री है, न वृद्ध है, न बालक है, न जवान है। वह देव भी नहीं, नारकी नहीं तिर्यंच और मनुष्य भी नहीं वह तो मात्र चैतन्य पिंड है। सीता अब अबला नहीं रहीं सबला हो गयीं। अकेली चल पड़ीं मोक्षमार्ग पर। उनके चरणों में राम भी नतमस्तक थे।

अग्नि परीक्षा के उपरान्त राम के कहने पर भी सीता घर नहीं लौटीं। अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे राम से भी आगे निकल गयीं। राम ने बहुत कहा कि अभी मत

जाओ। साथ हम भी चलेगे। तब सीता ने कह दिया कि मैं अब नहीं रुक सकती, साथ भी नहीं रह सकती। आप अपना विषय अपनावें और मैं अपना विषय अपनाती हूँ। मै जब विद्यार्थी थी तब तक ठीक था अब मै विद्यार्थी से ऊपर उठ चुकी हूँ। अब आपकी आवश्यकता नहीं रही, आपको धन्यवाद देती हूँ कि आपने एम ए. तक यानी गृहस्थ जीवन मे बोध होने तक मेरा साथ नहीं छोड़ा। अब मुझे दिशा मिल चुकी है अब मै अनाहत अपनी राह पर चल सकती हूँ। इस प्रकार स्त्री पुरुष के भेद को पार करके वेद का उच्छेद करके वह अभेद की यात्रा पर चल पड़ीं। उसी दिन उनके लिए मोक्ष पुरुषार्थ की भूमिका बन गयी। यह काम पुरुषार्थ का सुफल उन्हें मिल गया। अब वे मोक्ष पुरुषार्थी थीं, काम पुरुषार्थी नहीं।

राम भी कमजोर नही थे। एक दिन वे भी शोध छात्र बन गये। दिगम्बर दीक्षा ले ली और सीता जी से भी आगे बढ़ गये। देखो स्पर्धा ऐसी बातों मे करनी चाहिये। आप लोग कमाने मे, भौतिक सामग्री जुटाने मे स्पर्धा करते हैं। जिसका स्वय पर नियत्रण नही है स्वय के बारे में गहरा ज्ञान नहीं है तो मैं समझता हूँ कि भौतिक ज्ञान भी आपका सीमित है। मात्र बाहरी है। अंदर पड़ी हुई अनत संपदा जो अनंत काल से लुप्त है छिपी हुई है उसे खोजना चाहिये। पर आप सोये हुए हैं और वह सम्पदा नजर नहीं आ रही।

राम ने सकल्प ले लिया। मुनि बन गये। अब स्वय पर अध्ययन प्रारभ हो गया। अब राम की दृष्टि मे कोई सीता नहीं रही न कोई लक्ष्मण रहे। वे भी आतमराम में लीन हो गये। उन्हे भी कामपुरुषार्थ का सुफल प्राप्त हो गया। वास्तव में यदि काम-पुरुषार्थ भारतीय परम्परा के अनुरूप हो तो मोक्ष पुरुषार्थ की ओर दृष्टि जा सकती है। आपके भी कदम उस ओर उठ सकते है। विवाह तो आप सभी लोग कर लेते हैं लेकिन आपको मोक्ष की राह नहीं मिल पाती आपके कदम उस ओर नहीं उठ पाते। राग का सँबंध भी वीतराग बनने के लिए है यदि ऐसा विचार आ जाये तो जीवन सार्थक हो जाता है।

राम और सीता ने विवाह को अपनाया, उसे अच्छी तरह निभाया और अत मे राम तो मुक्ति का वरण कर चुके और आत्म आनद का अनुभव कर रहे है। सीता जी भी सोलहवे स्वर्ग मे विराजमान हैं। आगामी जीवन मे वह भी गणधर परमेष्ठी बनेगीं और मुक्ति गामी होंगी।

आज पाश्चात्य समाज मे विवाह के उपरान्त भी परस्पर विश्वास नहीं है। प्रेम-भाव नहीं है। एक दूसरे की सुरक्षा का भाव नहीं रहा। जितना भौतिक सम्पदा से प्रेम है उसकी सुरक्षा का भाव है उतनाआत्मिक-सम्पदा मे लगाव और उसकी सुरक्षा का भाव नहीं रहा। विवाह के उपरान्त भी विकास नहीं होता बल्कि विनाश हो रहा है। कारण एक

ही है कि सभी शरीर में अटक जाते हैं आत्मा तक नहीं पहुँचते आत्मा से मिलन नहीं हो पाता। अभी कुछ लोग यहाँ मेरा परिचय दे रहे थे पर वह मेरा परिचय कहाँ था। मेरा परिचय देने वाला तो वही है जो मेरे अंदर आये जहाँ मैं हूँ। आपकी दृष्टि भौतिक काया तक ही जा पाती है। आत्मा से परिचय नहीं हो पाता। मेरा सही परिचय है कि मैं चैतन्य पुंज हूँ जो इस भौतिक शरीर में बैठा हुआ है।

यह ऊपर जो अज्ञान दशा मे कर्मफल चिपक गया है उसे हटाने में मैं लगा हूँ और चाहता हूँ कि हट जाये और साक्षात्कार हो जाये आतमराम का, परमात्मा का। आपके पास कैमरा है, एक्सरे होना चाहिये। कैमरे के माध्यम से ऊपर की शक्ल ही आ पाती है एक्सरे के द्वारा अतरंग आ जाता है। हमें उस यंत्र को ग्रहण करना है जिसके माध्यम से अदर जो तेजोमय आत्मा बैठी है वह पकड़ मे आ जाये। इसके लिए अंतर्दृष्टि आवश्यक है।

जब राम ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। तपस्या में लीन हो गये और इतनी अन्तर्दृष्टि बन गयी कि बाहर क्या हो रहा है। यह पता ही नहीं चला। तब प्रतीन्द्र के रूप में सीता का जीव सोचता है कि अरे! उन्होंने तो सीधा मोक्ष का रास्ता पा लिया मुझे तो देव पर्याय में अभी रुकना पड़ा। सीता ने सोचा कि देखें राम डिगते हैं या नहीं। उसने डिगाने की कोशिश की पर राम नहीं डिगे। यही है अन्तर्दृष्टि। इसी को कहते हैं ब्रह्मचर्य। अपनी आत्मा में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है।

इस ब्रह्मचर्य के सामने विश्व का मस्तक भी झुक जाताहै। इस दिव्य तत्त्व के सामने सासारिक कोई भी चीज कीमती नहीं है। काम-पुरुषार्थ को आप मात्र भोग विलास मत माने वह भोग आत्मा के लिए है। वास्तविक भोग वही है जो चैतन्य के साथ हुआ करता है। एक बार अनन्त चैतन्य के साथ मिलन हो जाये तो जितनी शान्ति मिलेगी वह कही नहीं जा सकती। ध्यान में लीन होते समय कुछ अनुभूति के बिंदु मिल जाते हैं तो हम आनंद विभोर हो जाते हैं तब उस अनन्त सिंधु में गोता लगाने वाले के सुख की कोई सीमा नहीं है उसका सुख असीम है। असीम है वह शान्ति, वह आनंद। हमारा सारा पुरुषार्थ उसे ही पाने का होना चाहिये।

मुनिराज पाँचो इन्द्रियो के लिये यथोचित विषय मिलने पर भी रागपूर्वक उनका भोग नही करते। 'ले तप बढ़ावन हेतु, नहीं तन पोसते, तज रसन को'। इसलिए वे उन्हीं पदार्थो के माध्यम से मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करने में सफल हो जाते हैं। मुनिराज के द्वारा इन्द्रिय विषय आहार आदि के रूप में ग्रहण किये जाते हैं पर वे विषय-पोषण की दृष्टि से नहीं होते। शरीर का शोषण न हो और शरीर से काम लिया जा सके यह उनकी दृष्टि रहती है।

पोषण और शोषण के बीच की धारा योगधारा है जिसमें शरीर से संबंध छूटता भी नहीं है और मात्र शरीर के साथ भी संबंध नहीं रहता किन्तु चैतन्य के साथ संबंध बना रहता है। आप लोग भी इस कामपुरुषार्थ से ऊपर उठकर मोक्ष पुरुषार्थ की ओर बढ़ें और अनन्त सुख की उपलब्धि करें यही कामना है। मुझे जो यह थोड़ी सी ज्योति मिली है वह पूर्वाचार्यों से और साक्षात् पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज से मिली है। हम पूर्वाचार्यों के उपकार को भुला नहीं सकते। विवेक पूर्वक उनके उपकारों को देखें और अपना कर्त्तव्य पहचानें कि हमें क्या संदेश मिला है और किसलिए मिला है। आत्म-उत्थान के लिए सारे उपदेश हैं।

कोई भी व्यक्ति जब स्वहित चाहता है स्व आत्म पुरुषार्थ के द्वारा अपने आत्मा में रमण करने लगता है तो उसका हित तो हो ही जाता है लेकिन उसके उपदेश से सभी का भी हित हो जाता है। वे सोचते हैं कि ये भी मेरे जैसे दुखी हैं इनको भी रास्ता मिल जाए, इसी करुणा के वशीभूत होकर आचार्यों ने प्राणियों के कल्याण के लिए मार्ग सुझाया। भगवत् तुल्य महान् कुन्द कुन्द आचार्य ने करुणा करके महान् अध्यात्म साहित्य का सृजन किया और आज भौतिक चकाचौंध के युग में रहते हुए भी कुछ कदम आत्मा की ओर उठाये हैं। तो मैं समझता हूँ वे धन्य हैं। उनका ऋण हम पर है और हमारा यही परम कर्त्तव्य है कि उस दिशा में आगे बढ़कर हम भी अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें। अपनी दिशा बदलें और सुख के भाजन बनें इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें ताकि आगे आने वालों को भी वह उपलब्ध हो सके।

□□

निजात्म रमण ही अहिंसा है

महावीर भगवान के निर्वाण के उपरान्त भरत क्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव हुआ। वह इस भरत क्षेत्र के प्राणियों का एक प्रकार से अभाग्य ही कहना चाहिये। भगवान के साक्षात् दर्शन और उनकी दिव्य ध्वनि को सुनने का सौभाग्य जब प्राप्त होताहै तो संसार की असारता के बारे में सहज ही ज्ञान और विश्वास हो जाता है। आज जो आचार्य परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और जो महान् पूर्वाचार्य हमारे लिए प्रेरणादायक हें उनके माध्यम से यदि हम चाहे तो जिस ओर भगवान जा चुके हैं पहुँच चुके है उसओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर सकते है।

आचार्यो ने जो ससार से ऊपर उठने की इच्छा रखते हैं उन्हें दिग्दर्शन कराया है दिशाबोध दिया है उसका लाभ लेना हमारे ऊपर निर्भर है। उन्होंने जीवन भर चिन्तन मनन और मन्थन करके नवनीत के रूप में हमें जो ज्ञान दिया है उसमें अवगाहन करना, और आत्म तत्त्व को पहचानना, विषय-कषाय से युक्त संसारी प्राणी के लिए टेढ़ी खीर है। आसान नहीं है। पर फिर भी उसमें कुछ बातें आपके सामने रख रहा हूँ।

आचार्यो के साहित्य में अध्यात्म की ऐसी धारा बही है कि कोई भी ग्रंथ उठायें, कोई भी प्रसग ले ले, हर गाथा, हर पद पर्याप्त है। उसमें वही रस, वही संवेदन और वही अनुभूति आज भी प्राप्त हो सकती है जो उन आचार्यों को प्राप्त हुई थी। पर उसे प्राप्त करने वाले विरले ही जीव हैं। उसे प्राप्त तो किया जा सकता है पर सभी प्राप्त कर लेंगे यह नहीं कहा जासकता। मात्र अहिंसा का सूत्र ले लें। महावीर भगवान ने अहिंसा की उपासना की, उनके पूर्व तेइस तीर्थंकरों ने भी की और उनके पूर्व भी इस अहिंसा की उपासना की जाती रही। अहिंसा के अभाव में आत्मोपलब्धि संभव नहीं है।

विश्व का प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। जीवन जीना चाहता है। सुख की इच्छा रखता है और दुख से भयभीत है। दुख निवृत्ति के उपाय में अहर्निश प्रयत्नवान है लेकिन वास्तविक सुख क्या है इसकी जानकारी नहीं होनेसे तात्कालिक सुख, भौतिक सुख को पाने में लगा हुआ है। इसी में अनंतकाल खो चुका है। महावीर भगवान ने जो अहिंसा का उपदेश दिया है वह अनंत-सुख की इच्छा रखने वाले हम सभी के लिए दिया है।

उस अहिंसा का दर्शन करना उसके स्वरूप को समझना भी आज के व्यस्त जीवन में आसान नहीं है। यहाँ हजारों व्यक्ति विद्यमान है और सभी धर्म श्रवण कर रहे हैं लेकिन फिर भी कहा नहीं जा सकता कि आप सभी श्रवण कर ही रहे हैं। वास्तव में श्रवण तो वही है जो जीवन को परिवर्तित कर दे।

प्रवचन सुनने के साथ-साथ आप के मन में ख्याल बना रहता है कि प्रवचन समाप्त हो और चलें। यह जो आकुलता है यह जो अशान्ति है यह अशांति ही आपको अहिंसा से दूर रखती है। आकुलता होना ही हिसा है। दूसरो को पीड़ा देना भी हिंसा है लेकिन यह अधूरी परिभाषा है। इस हिसा के त्याग से जो अहिसा आती है वह भी अधूरी है। वास्तव में जब तक आत्मा से रागद्वेष परिणाम समाप्त नहीं होते तब तक अहिंसा प्रकट नहीं होती।

अहिंसा की परिभाषा के रूप में महावीर भगवान ने संदेश दिया है कि जीओ और जीने दो। 'जीओ' पहले रखा और जीने दो बाद में रखा है। जो ठीक से जीयगा वही जीने देगा। जीना प्रथम है तो किस तरह जीना है यह भी सोचना होगा। तो वास्तविक जीना तो रागद्वेष से मुक्त होकर जीना है। यही अहिंसा की सर्वोत्तम उपलब्धि है। सुना है विदेशों में भारत की तुलना मे हत्याएँ कम होती है लेकिन आत्म हत्याएँ अधिक हुआ करती है। जो अधिक खतरनाक चीज है। स्वयं अपना जीना ही जिसे पसंद नहीं है जो स्वयं के जीने को पसंद नही करता, जो स्वयं के जीवन के लिए सुरक्षा नही देता वह सबसे अधिक खतरनाक साबित होता है। उससे क्रूर और निर्दयी और कोई नहीं है। वह दुनिया में शान्ति देखना पसंद नहीं करेगा।

शान्ति के अनुभव के साथ जो जीवन है उसका महत्त्व नही जानना ही हिंसा का पोषण है। आकुल विकल हो जाना ही हिंसा है। गत दिन बेचैनी का अनुभव करना, यही हिंसा है। तब ऐसी स्थिति मे जो भी मन, वचन काय की चेष्टाएँ होंगी उनका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा और फलस्वरूप द्रव्य हिंसा बाह्य में घटित होगी। द्रव्य हिंसा और भाव हिसा ये दो प्रकार की हिंसा हैं। द्रव्य हिंसा मे दूसरे की हिंसा हो भी सकती है नहीं भी हो सकती है किन्तु भाव हिंसा के माध्यम के अपनी आत्मा का विनाश अवश्य होता है और उसका प्रभाव भी पूरे विश्व पर पड़ता है। स्वयं को पीड़ा में डालने वाला यह न सोचे कि उसने मात्र अपना घात किया है उसने आसपास सारे विश्व को भी दूषित किया है।

प्रत्येक धर्म में अहिंसा की उपासना पर जोर दिया गया है। किन्तु महावीर भगवान का संदेश अहिंसा को लेकर बहुत गहरा है। वे कहते हैं कि प्राण दूसरे के ही नहीं अपने भी हैं। हिंसा के द्वारा दूसरे के प्राणों का घात हो ही ऐसा नहीं है पर अपने प्राणों का

. होता है। दूसरे के प्राणों का विघटन बाद में होगा पर हिंसा के भाव से अपने प्राणों का विघटन पहले होगा। अपने प्राणों का विघटन होना ही वस्तुतः हिंसा है। जो हिंसा का ऐसा सत्य-स्वरूप जानेगा वही अहिंसा को प्राप्त कर सकेगा।

'बिन जाने तैं दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये' – गुण और दोष का सही-सही निर्णय जब तक हम नहीं कर पायेंगे तब तक गुणों का ग्रहण और दोषों का निवारण नहीं हो सकेगा। आज तक हम लोगों ने अहिंसा को चाहा तो है लेकिन वास्तव में आत्मा की सुरक्षा नहीं की है। आत्मा की सुरक्षा तब हो सकती है जब भावहिंसा से हमारा जीवन बिल्कुल निवृत्त हो जाये। भाव हिंसा के हटते ही जो अहिंसा हमारे भीतर आयेगी उसकी महक उसकी खुशबू बाहर भीतर सब ओर बिखरने लगेगी।

जो व्यक्ति राग करता है या द्वेष करता है और अपनी आत्मा में आकुलता उत्पन्न कर लेता है वह व्यक्ति संसार के बंधन में बंध जाता है और निरंतर दुख पाता है। इतना ही नहीं जो व्यक्ति स्वयं बंधन को प्राप्त करेगा बंधन में पड़कर दुखी होगा; उसका प्रतिबिंब दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहेगा, वह वातावरण को भी दुखमय बनायेगा। एक मछली कुए में मर जाती तो उस सारे जल को गंदा बना देती है। जल को जीवन माना है तो एक प्रकार से जीने के लिए जो तत्त्व था जीवन था वही विकृत हो गया।

एक व्यक्ति रोता है तो वह दूसरे को भी रुलाता है। एक व्यक्ति हँसता है फूल को देखकर बच्चा बहुत देर तक रो नहीं सकता। फूल हाथ में आते ही वह रोता-रोता भी खिल जायेगा, हँसने लगेगा और सभी को हँसा देगा। हँसाये ही यह नियम नहीं है किंतु प्रभावित अवश्य करेगा। आप कह सकते हैं कि कोई अकेला रो रहा हो तो किसी दूसरे को क्या दिक्कत हो सकती है। किंतु आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि शोक करना, आलस्य करना, दीनता अभिव्यक्त करना, सामने वाले व्यक्ति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते।

आप बैठकर शांति से दत्तचित होकर भोजन कर रहे हैं। किसी प्रकार का विकारी भाव आपके मन में नहीं है ऐसे समय में यदि आपके सामने कोई बहुत भूखा व्यक्ति रोटी मागने गिड़गिड़ाता हुआ आ जाता है तो आप में परिवर्तन आये बिना नहीं रहेगा। उसका रोना आपके ऊपर प्रभाव डालता है। आप भी दुखी हो जाते हैं और यह असातावेदनीय कर्म के बंध के लिए कारण बन सकता हैं इसलिए ऐसा मत समझिये कि हम राग कर रहे है द्वेष कर रहे हैं तो अपने आप में तड़प रहे हैं दूसरे के लिए क्या कर रहे हैं? हमारे भावों का दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। हिंसा का संपादन कर्त्ता हमारा रागद्वेष परिणाम है। शारीरिक गुणों का घात करना द्रव्यहिंसा है और आध्यात्मिक गुणों का घात करना उसमे व्यवधान डालना भावहिंसा है। वह स्व पर दोनों की हो सकती

गृहस्थाश्रम की बात है। माँ ने कहा अंगीठी के ऊपर दूध है भगौनी में, उसे नीचे उतार कर दो बर्तनों में निकाल लेना। एक बर्तन में दही जमाना है और एक में दूध ही रखना है। जो छोटा बर्तन है उसे आधा रखना उसमें वही जमाने के लिए सामग्री पड़ी है और दूसरा बर्तन जितना दूध शेष रहे उसमें रख देना। दोनों को पृथक्-पृथक् रखना। सारा काम तो कर लिया पर दोनों बर्तन पृथक नहीं रखे। परिणाम यह निकाल कि प्रातःकाल दोनों में दही जम गया। एक में दही जमाने का साधन नहीं था फिर भी जम गया वह दूसरे के संपर्क में जम गया।

जब जड़ पदार्थ दूध में संगति से परिवर्तन हो गया तो क्या चेतनद्रव्य में परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन होगा एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ेगा। परिवर्तन प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में हो रहा है और उसका असर आसपास पड़ रहा है। हम इस रहस्य को समझ नहीं पाते। इसलिए आचार्यों ने कहा कि प्रमादी मत बनो। असावधान मत होओ। बुद्ध कहते हैं कि प्राणियों पर करुणा करो, यीशु कहते हैं कि प्राणियों की रक्षा करो और नानक आदि सभी कहते हैं कि दूसरे की रक्षा करो और बचाओ किंतु महावीर कहते हैं कि स्वयं बचो। दूसरा अपने आप बच जायेगा। दूसरे को बचाने जाओगे तो वह बचे ही यह अनिवार्य नहीं है लेकिन स्वय रागद्वेष से बचोगे तो हिंसा संभव ही नहीं है। 'लिव एण्ड लेट लिव' – पहले तुम खुद जीओ जो खुद जीना चाहेगा वह दूसरे के लिए जीने में बाधा डाल ही नहीं सकता।

हमारे जीवन से दूसरे के लिए तभी तक खतरा है जब तक हम प्रमादी हैं असावधान है। 'अप्रमत्तो भव' प्रमाद मत करो। एक क्षण भी प्रमाद मत करो, अप्रमत्त दशा में लीन रहो। आत्मा में विचरण करना ही अप्रमत्त दशा का प्रतीक है। वहाँ राग नही, द्वेष नहीं इसलिए वहाँ पर हिंसा भी नहीं है। बधन में वही बंधेगा जो राग द्वेष करेगा और अपनी आत्मा से बाहर दूर रहेगा फिर चाहे वह किसी भी गति का प्राणी क्यो न हो। वह देव भी हो सकता है। वह तिर्यंच हो सकता है वह नारकी हो सकता है वह मनुष्य भी हो सकता है मनुष्य में भी गृहस्थ हो सकता है या गृह-त्यागी भी हो सकता है वह सन्त या ऋषि भी हो सकता है, जिस समय जीव रागद्वेष से युक्त होता है उस समय उससे हिंसा हुए बिना नहीं रहती।

देर सबेर जब भी बढ़ें चौबीस घंटे अप्रमत्त की ओर बढ़ें अप्रमत्त रहना प्रारंभ करे तभी कल्याण है। अहिंसा वहीं पल सकती है जहाँ प्रमाद के लिए कोई स्थान नहीं है प्रमाद यानी आपे में न रहना। सबसे खतरनाक चीज है आपे मे न रहना। आउट आफ कट्रोल यानी अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होना ही प्रमाद है। वैज्ञानिक विकास विदेशों

में बहुत हो रहा है। किंतु व्यक्ति आपे में नहीं है इसलिए आत्म-हत्या की ओर जा रहा है। अपने आत्म-हित के प्रति लापरवाही भी प्रमाद है। "चिंता-सरोवर जहाँ वह डूब जाता, सद्ध्यान से स्खलित जो ऋषि कष्ट पाता। तालाब से निकल बाहर मीन आता, होता दुखी, तड़पता मर शीघ्र जाता।।" यह स्वभाव से बाहर आना ही अभिशाप का कारण बनता है। तालाब से मछली बाहर आ जाती है तो तड़पती है दुखी होती है और मरण को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार योगी भी क्यों न हो भोगी की तो बात ही क्या, जिस समय वह सीमा अपनी उल्लंघन कर देता है अर्थात् आत्म-स्वभाव को छोड़कर प्रमाद में आ जाता है तो उसे भी कर्मबंध का दुख उठाना पड़ता है। बाहर आना ही हिंसा है और अंदर रहना ही अहिंसा है। अहिंसा की इतनी अमूल्य परिभाषा हमें अन्यत्र नहीं मिलती और जहाँ आकर सारे दर्शन रुक जाते हैं वहाँ से महावीर भगवान की अहिंसा की विजय पताका फहराना प्रारंभ हो जाती है। आत्म-विजय ही वास्तविक विजय है।

आज भी अहिंसा का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग होता है न्यायालय में। वहाँ पर भी भाव हिंसा का ध्यान रखा जाता है। भावहिंसा के आधार पर ही न्याय करते हैं। एक व्यक्ति ने निशाना लगाकर गोली चलायी, निशाना मात्र सीखने के लिए लगाया था निशाना चूक गया और गोली जाकर लग गयी एक व्यक्ति को और उसकी मृत्यु हो गयी गोली मारने वाले व्यक्ति को पुलिस ने पकड़ लिया। उससे पूछा गया कि तुमने गोली चलायी? उसने कहा चलायी है किंतु मेरा अभिप्राय मारने का नहीं था। मैं निशाना सीख रहा था, निशाना चूक गया और गोली लग गयी। चूंकि उसका अभिप्राय खराब नहीं था इसलिए उसे छोड़ दिया गया।

दूसरा व्यक्ति निशाना लगाकर किसी की हत्या करना चाहता था। वह गोली मारता है गोली लगती नहीं और वह व्यक्ति बच जाता है, और गोली मारने वाले को पुलिस में पकड़वा देता है। पुलिस पूछती है कि तुमने गोली मारी, तो वह जवाब देता कि मारी तो है पर उसे गोली लगी कहाँ? पुलिस उसे जेल में बंद कर देती हैं ऐसा क्यों? जीव हिंसा नहीं हुई इसके उपरान्त भी उसे जेल भेज दिया और जिससे जीव हिंसा हो गयी थी उसे छोड़ दिया। यह इसलिए कि वहाँ पर भावहिंसा को देखा जा रहा है। न्याय में सत्य और असत्य का विश्लेषण भावों के ऊपर आधारित है।

हमारी दृष्टि भी भावों की तरफ होनी चाहिये। अपने आप के शरीरादि को ही खुद मान लेने से कि मैं शरीर हूँ, और शरीर ही मैं हूँ हिंसा प्रारम्भ हो जाती है। यह अज्ञान और शरीर के प्रति राग ही हिंसा का कारण बनता है। हम स्वयं जीना सीखें। स्वयं तब जीया जाता है जब सारी बाह्य प्रवृत्ति मिट जाती है। अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार जो स्वयं जीता है वह दूसरे को भी जीने में सहायक होता है। जिसके द्वारा

मन वचन काय की चेष्टा नहीं हो रही है वह दूसरे के लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं देता।

जो विस्फोट ऊपर से होता है वह उतना खतरनाक नहीं होता जितना गहराई में होने वाला विस्फोट होता है। आत्मा की गहराई में जो राग प्रणाली, या द्वेष-प्रणाली उद्भूत हो जाती है वह अंदर से लेकर बाहर तक प्रभाव डालती है। उसका फैलाव सारे जगत में हो जाता है। जैन दर्शन में एक उदाहरण भाव हिंसा को लेकर आता है। समुद्र में जहाँ हजारों मछलियाँ रहती हैं उनमें सबसे बड़ी रोहू (राघव) मछली होती है जो मुँह खोल कर सो जाती है तो उसके मुँह में अनेक छोटी-मछलियाँ आती जाती रहती हैं। जब कभी उसे भोजन की इच्छा होती है तो वह मुख बंद कर लेती है और भीतर अनेकों मछलियाँ उसका भोजन बन जाती है।

इस दृश्य को देखकर एक छोटी मछली जिसे तन्दुल मत्स्य बोलते हैं जो आकार मे तन्दुल जितनी छोटी है वह सोचती है कि यह रोहू मच्छ कितना पागल है इसे इतना भी नहीं दिखता कि मुख में इतनी मछलियाँ आ जा रही हैं मुख बंद कर लेना चाहिये। यदि इसके स्थान पर मै होता तो लगातार मुख खोलता और बंद कर लेता, सभी को खा लेता। देखिये स्थिति कितनी गम्भीर है। छोटे से मत्स्य की हिंसा की वृत्ति कितनी है; चरम सीमा तक, वह अनन्त खाने की लिप्सा रखता है। खा एक भी नहीं पाता क्योंकि उतनी शक्ति नहीं है लेकिन भावों के माध्यम से खा रहा है निरंतर।

बाहर से खाना, भले ही नहीं दिखता लेकिन अभिप्राय कर लिया, संकल्प कर लिया, तो मन विकृत हो गया। यही हिंसा है। रोहू मच्छ जितनी आवश्यकता है उतना ही खाता है शेष से कोई मतलब नहीं कोई लिप्सा नहीं लेकिन तंदुल मच्छ एक भी मछली को नहीं मारता पर लिप्सा पूरी है। इसलिए वह सीधा नरक चला जाता है। सीधा सप्तम नरक। यह है भाव हिसा का प्रभाव।

आप भी इसे समझें कि मात्र अपने जीवन को द्रव्यहिंसा से ही निवृत करना पर्याप्त नहीं है। यदि आप अपने में नहीं हैं। आपके मन वचन और आपकी चेष्टाएं अपने में नहीं है तो आपके द्वारा दूसरे को धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। एक व्यक्ति कोई गलती करता है तो वह एकांत रूप से अपने आप ही नहीं करता उसमें दूसरे का भी हाथ रहता है। भावों का प्रभाव पड़ता है। दूसरे के धन को देखकर ईर्ष्या अथवा स्पर्धा करने में भी हिंसा का भाव उद्भूत होता है। जो राग द्वेष करता है वह स्वयं दुखी होता है और दूसरे को भी दुख का कारण बनता है लेकिन जो वीतरागी है वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरे को सुखी बनाने में कारण सिद्ध होता है।

आपका जीवन हिंसा से दूर हो और अहिंसामय बन जाये इसके लिए मेरा यही

कहना है कि भाव हिंसा से बचना चाहिये। मेरा कहना तभी सार्थक होगा जब आप स्वयं अहिसा की ओर बढ़ने के लिए उत्साहित हों, रुचि लें। किसी भी क्षेत्र में उन्नति तभी सभव है जब उसमें अभिरुचि जागृत हो। आपके जीवन पर आपका अधिकार है पर अधिकार होते हुए भी कुछ प्रेरणा बाहर से ली जा सकती है। बाहर से तो सभी अहिंसा की प्राप्ति के लिए आतुर दिखते हैं किंतु अंदर से भी स्वीकृति होना चाहिये। एक व्यक्ति जो अपने जीवन को सच्चाई पर आरूढ़ कर लेता है तो वह तो सुखी बन ही जाता है साथ ही दूसरे के लिए भी सुखी बनने में सहायक बन जाता है। आप चाहे तो यह आसानी से कर सकते हैं।

अहिसा मात्र प्रचार की वस्तु नहीं है और लेन-देन की चीज भी नहीं है वह तो अनुभव की वस्तु है कस्तूरी का प्रचार प्रसार करने की आवश्यकता नहीं होती, जो व्यक्ति चाहता है वह उसे सहज ही पहचान लेता है। महावीर भगवान ने अहिंसा की सत्यता का स्वय जाना और अपने भीतर उसे प्रकट किया तभी वे भगवान बनें। उन्होंने प्राणी मात्र को कभी छोटा नहीं समझा उन्होंने सभी को पूर्ण देखा है और जाना है और पूर्ण समझा है। संदेश दिया है कि प्रत्येक आत्मा में भगवान है किंतु एकमात्र हिंसा के प्रतिफल स्वरूप स्वयं भगवान के समान होकर भी हम भगवत्ता का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। जब तक रागद्वेष रूप हिसा भाव विद्यमान रहेगा तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। अपने भावों मे अहिंसा के माध्यम से दूसरे का कल्याण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता किंतु आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। परोक्ष रूप से जो अहिंसक हो वह दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता यही दूसरे के कल्याण में उसका योगदान है। आचार्यों की वाणी है कि 'आदहिदं कादव्वं, जदि सक्कइ परहिद च कादव्वं। आदहिद परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।' आत्म-हित सर्वप्रथम करना चाहिये। जितना बन सके उतना परहित भी करना चाहिये। लेकिन दोनो मे अच्छा आत्म हित ही है। जो आत्महित में लगा है उसके द्वारा कभी दूसरे का अहित हो नहीं सकता।

इस प्रकार स्व और पर का कल्याण अहिंसा पर ही आधारित हैं। अध्यात्म का रहस्य इतना ही है कि अपने को जानो अपने को पहचानो, अपनी सुरक्षा करो, अपने में ही सब कुछ समाया है। पहले विश्व को भूलो और अपने को जानो, जब आत्मा को जान जाओगे तो विश्व स्वयं सामने प्रकट हो जाएगा। अहिंसा धर्म के माध्यम से स्व-पर का कल्याण तभी संभव है जब हम उसे आचरण में लाये। अहिंसा के पथ पर चलना ही अहिंसा धर्म का सच्चा प्रचार प्रसार है। आज इसी की आवश्यकता है।

□□

☐ आत्म-लीनता ही ध्यान

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए हैं और उनके शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं। जिन्होंने संक्षेप में जीवन के उद्धार की सामग्री हम लोगों को दी है। हम लोगों का जीवन इतना छोटा सा है कि हम अपने विचारों के अनुरूप सारे कार्य नहीं कर सकते। जीवन छोटा होने के साथ ही साथ क्षणभगुर भी है। यह बुलबुले के समान है जब तक है, समझो है, इसके फूटने मे देर नहीं लगती। ऐसी स्थिति में हम आत्मा का कल्याण करना चाहे तो कोई सीधा रास्ता ढूंढना परमावश्यक है। इसी बात को लेकर संसार के विश्लेषण के बारे में तो आचार्य कुन्दकुन्द का विशेष साहित्य नहीं मिलता किंतु जो कुछ मिला है वह अत्यंत संक्षिप्त है जिससे शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रयोजन को प्राप्त किया जा सकता है।

समझाना बहुत समय लेता है पर प्रयोजनभूत तत्त्व को समझने में ज्यादा समय नहीं लगता। संसार में क्या-क्या है इसके बारे में यदि हम अध्ययन प्रारंभ करें तो यह छोटा सा जीवन यूँ ही समाप्त हो जायेगा। अथाह संसार समुद्र का पार नहीं है उसमें से प्रयोजनभूत तत्त्व को अपना लें, उसी के माध्यम से सब काम हो जायेगा। प्रयोजन भूत तो आत्मतत्त्व है। अत्यंत संघर्षमय इस जीवन मे जहाँ आनदिकालीन संस्कार हमें झकझोर देते हैं और अपने आत्मतत्त्व से च्युत कराने में सहायक बन जाते हैं इस स्थिति में भी अपने को मजबूती के साथ आत्म-पथ पर आरूढ़ होने के लिए आचार्यों ने मार्ग खोला है।

जो संसार से ऊपर उठना चाहता है उसके लिए संवेग और निर्वेग ये दो भाव आपेक्षित हैं। वैसे उपदेश चार प्रकार का होता है। पहला संवेग को प्राप्त कराने वाला, दूसरा निर्वेग को प्राप्त कराने वाला, तीसरा और चौथा आक्षेपणी और विक्षेपणी के रूप में पात्रों की योग्यता को देखकर दिया जाता है। सर्वप्रथम मोक्षमार्ग पर आरूढ़ कराने के लिए संवेग और निर्वेग का ही उपदेश देना चाहिये ऐसा आचार्यों का हमारे लिए उपदेश है।

ठीक भी है डॉक्टर के पास कोई स्वस्थ व्यक्ति चिकित्सा के लिए नहीं जाता। रोगी

ही जाता है, तो डॉक्टर को बहुत संभालकर उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। सर्वप्रथम वह डॉक्टर, रोगी को और कुछ नहीं बताता कि क्या कैसा है। वह केवल यही कहता है कि यदि नियम से दवाई लोगे तो तुम्हारा रोग जल्दी ठीक हो जायेगा। वह और कुछ नहीं बताता मात्र दवाई लेना सिखाता है। उस दवाई का क्या लक्षण है? क्या गुणधर्म है? इसमें कितना क्या मिला है? इसे कैसे तैयार किया गया है? किस फैक्ट्री में तैयार किया गया है। यह सब उस रोगी को बताने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी के सामने सर्वप्रथम विश्व का लेखा-जोखा या विभिन्न मत-मतान्तरों का वर्णन आवश्यक नहीं है। प्रयोजनभूत तत्त्व तो यह है कि किसे प्राप्त करना है और किसे छोड़ना है यह ज्ञात हो जाये। ऐसा न हो कि हेय का ग्रहण हो जाये और उपादेय का विमोचन हो जाये। संवेग और निर्वेग के उपदेश द्वारा उसे उपादेय को ग्रहण करना और हेय को छोड़ना पहले सिखाना आवश्यक है। आत्म-ज्ञान के लिए बाधक तत्त्वों का हम थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि 'मोह' ही ज्ञान के लिए बाधक साबित होता है। 'कषाय-भाव' ही ज्ञान के लिए बाधक सिद्ध होता है। मोह के कारण ज्ञान मिथ्या बना हुआ है इस बाधक तत्त्व से ज्ञान को पृथक् करने का प्रयास करना ही एक मात्र पुरुषार्थ हैं जो कि संवेग और निर्वेग के बल पर ही संभव है।

बाधक कारण को हटाये बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। कई बार, कई लोग प्रश्न करते हैं कि ध्यान के बारे में समझाइये। हम ध्यान लगाना चाहते हैं। हमारा ध्यान लगता ही नहीं, हम बहुत कोशिश करते हैं। हमारा उनसे कहना यह है कि कोई भी शिक्षा दी जाती है तो पहले शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थी की आदतों को समझना आवश्यक है। कोई आदत ऐसी हो जो उसके 'लक्ष्य के विपरीत हो और वह उसके साथ ही लक्ष्य प्राप्ति चाहता हो तो कैसे संभव है। जैसे टैंक में पानी भरा जाता है और वह गंदा हो जाता है। साफ पानी डालने पर भी वह गंदा कैसे हो गया? कारण यही है कि टैंक की सफाई करना आवश्यक है। इसी प्रकार परिणामों में ध्यान के योग्य पर्याप्त निर्मलता आवश्यक है, घाव के ऊपर मात्र मरहम पट्टी लगाने से कुछ नहीं होता, घाव साफ करना भी आवश्यक है।

आपका ध्यान कहीं न कहीं तो लगा ही रहता है। हम कभी आत्म-ध्यान से विचलित हो सकते हैं किंतु आप लोग अपने संसार के ध्यान से कभी विचलित नहीं होते। आपको सांसारिक ध्यान का खूब अभ्यास है। आप लोगों का जीवन ऐसा ध्यान लगाने में इतना अभ्यस्त हो गया है कि आप यहाँ सुन रहे हैं किंतु फिर भी आपका ध्यान वहाँ है जहाँ आपने लगाया हुआ है। शरीर यहाँ बैठा है पर संभव है कि मन कहीं और लगा हो।

आपको ध्यान लगाना सीखने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान को डायवर्ट करने के लिए प्रयास की जरूरत है। आप चाहें तो यह कर सकते हैं। जबर्दस्ती कराया नहीं जा सकता।

माँ जबर्दस्ती बच्चे को दूध पिलाती है, बुलाती है, नहीं आता तो पकड़ कर लाती है इसके उपरांत भी वह बच्चा पीने की मंजूरी नहीं देता तो दोनों हाथ पकड़कर गोद में ले लेती है और चम्मच से दूध पिलाना प्रारम्भ कर देती है। मुँह में दूध डाल देती है पर दूध को अंदर ले जाने का काम बच्चे का है दूध कदाचित् अदर भी चला जाये और बालक की इच्छा न हो तो वह वमन कर देता है। इसी तरह ध्यान जबर्दस्ती सिखाने की चीज नहीं है। यह तो इच्छा से स्वयं सीखने की चीज है। आपने जो बहुत दिन से ध्यान सीख रखा है उसे छोड़ना, उसे मोड़ना सीखना परमावश्यक है। यदि डायवर्ट करना नहीं सीखा तो परमार्थ को पाना सभव नहीं है।

बहुत लगाते हैं आप ध्यान, उधर सांसारिक कामो के लिए। अस्सी साल के वृद्ध को भी यदि दुकान जाना हो तो कमर का दर्द ठीक हो जायेगा और यदि अध्यात्म के लिए ध्यान करने की बात आती है तो कमर-दर्द बढ़ जाता है। मंदिर आना है तो कह देते हैं कि अब तो ढलती उम्र है बैठा नहीं जाता, सुना नहीं जाता। दुकान पर टेलीफोन की आवाज सुन लेते हैं और तत्संबंधी निर्णय ले लेते है। यह क्या बात है? यह ध्यान की बात है कि सूक्ष्म स्वर भी सुनने में आ जाते है क्योंकि उसके पीछे रुचि है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में रुचि नहीं होने से ध्यान से बचने के लिए कोई बहाना ढूंढ लेते है। अदर यदि ग्रहण का भाव नहीं है रुचि नहीं है तो प्रयास व्यर्थ हो जाता है। बच्चा जैसे मुख से दूध पीकर मुख से ही वमन कर देता है आप भी एक कान से सुनकर दूसरे से निकाल देते है। आत्मा की बात नहीं रुचती। हजारो बातों का आपको ध्यान है पर सीधी-सीधी एक बात जो आत्म-कल्याण की है वह आपके ध्यान में नहीं रहती। ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी है जो हस्ताक्षर नहीं कर पाते अगूंठा लगाते हैं और करोड़पति है। अनेकों फैक्ट्रियों के मालिक हैं और अनेकों विद्वान पढ़े-लिखे लोग उनके अधीन काम करते हैं। सेठजी को प्रणाम करते हैं। एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं फिर भी इतना काम चल सकता है। ऐसा ही अध्यात्म के क्षेत्र में यदि अपनी आत्मा के प्रति रुचि है और संवेग और निर्वेग है तो कल्याण सहज संभव है। अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा की ओर ध्यान लगाना कठिन नहीं है संसार से ध्यान डायवर्ट करना बहुत कठिन है। जैसे एक नदी का प्रवाह बरसों से चलता है उसका रास्ता बन चुका है उस ओर वह अनायास बहता रहता है किंतु उसको बिल्कुल विरुद्ध दिशा में मोड़ना हर

व्यक्ति के द्वारा संभव नहीं है। जो बांध बनाकर नहरों के द्वारा रास्ता मोड़ देते हैं वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम है। अनेकों परीक्षण करने पड़ते हैं सामग्री की मजबूती का ध्यान रखना पड़ता है। इसी तरह अनादि काल से आपका जो प्रवाह विषयों की ओर वह रहा है आपका ज्ञान विषय-सामग्री को पकड़ने के लिए उत्सुक है उसकी गति इतनी तीव्र है कि उसे मोड़ना तो मुश्किल है ही उसके वेग में कमी लाना भी मुश्किल है। पंचेन्द्रिय के विषय जो यत्र तत्र फैले हुए हैं, अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों की अपेक्षा जो इन्द्रिय मन का विषय बनते हैं उनसे बचना कैसे संभव है। तो आचार्यों ने उद्यम करने की प्रक्रियाएँ बतायी हैं उसके माध्यम से हमें आगे बढ़ना चाहिये।

उद्यम किस प्रकार किया जाए इसके लिए भी आचार्यों ने अपनी अनुभूति के माध्यम से लिखा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ध्यान को परमावश्यक बताया है, ध्यान के बिना उद्धार संभव नहीं है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान यह दोनों ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। आर्तध्यान-रौद्रध्यान संसार के हेतु हैं। आप धर्म ध्यान का स्रोत खोलना चाहते हैं, उस ओर मुड़ना चाहते हैं तो पहले आर्तध्यान रौद्रध्यान को छोड़ना होगा। उसमें कमी लाना होगा। उसके लिए निरंतर प्रयत्न करना होगा।

जैसे किसी एक व्यक्ति को वैद्य ने कहा कि तुम घी का प्रयोग करो, पुष्टि आयेगी। उस व्यक्ति ने आधा किलो घी खा लिया और बैठ गया। घी पचा नहीं खराबी आ गयी। वैद्य को बुलाया गया। उसने बताया कि सिर्फ घी खाने से पुष्टि नहीं आती, घी को पचाने के लिए मेहनत करनी होगी, व्यायाम करना होगा, अभ्यास करना होगा। इसी प्रकार ध्यान लगाओ ऐसा कहने पर ध्यान लगाने बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। मन वचन काय को बार-बार विषय कषायों में जाने से रोकना पड़ेगा, उस ओर से मोड़ने का अभ्यास करना होगा। विषयों की ओर ध्यान न जाये, इस बात का ध्यान रखना होगा। तभी धर्मध्यान मे प्रगाढ़ता आयेगी तभी वह धर्मध्यान आगे जाकर शुक्लध्यान में परिवर्तन हो सकेगा।

एक बात और समझने की है। रावण ने सीता के अपहरण के पश्चात् राम से युद्ध के समय भगवान शान्तिनाथ के मंदिर में जाकर ध्यान लगाया, मंत्र जपे पर राम की मृत्यु की कामना के साथ। शब्द, आस्था, मुद्रा आदि सब ठीक थी किंतु राम की मृत्यु का कामना सहित वह ध्यान, सच्चा ध्यान नहीं माना जायेगा। रावण ने सोलह दिन तक ध्यान किया बहुरूपणी विद्या की प्राप्ति के लिए। पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण विद्या सिद्ध करने में बहुत पारंगत था। वह विद्या सिद्ध करने बैठ जाता था तो कोई उसके ध्यान में विघ्न नहीं डाल पाता था और वह विद्या सिद्ध करके ही उठता था। क्या

वह ध्यान माना जा॰ ॰ा? बहुरूपिणी विद्या के लिए किया गया वह ध्यान आत्मानुभूति के लिए नहीं किया इसलिए उपयोगी नहीं है। आत्मानुभूति के लिए किया गया ध्यान तो अंतर्मुहूर्त में भी मुक्ति दिला देता है।

हम लोगों को अपने स्वरूप को देखने की रुचि हो जाए, हम अंतर्मुखी होते चले जायें तो बाहर कुछ भी होता रहे पता ही नहीं चलेगा। टेलीफोन पर अनेकों आवाजों के बीच अपनी आवाज आप सुन लेते हैं बाकी छोड़ देते हैं। नगाड़े के बीच बाँसुरी की आवाज चलती है तो जो संगीतप्रेमी हैं या संगीतकार हैं वह उसे पहचान लेते हैं। इसी प्रकार ध्यान की बात है। यदि एक घंटे तक ध्यान की बात आप ध्यान से सुन लें और अपनी रुचि जागृत कर लें तो ऐसा नहीं हो सकता कि धर्मध्यान न लगे। हम रुचि जागृत कर सकते हैं। ध्यान भी कर सकते हैं।

माँ, बच्चे की गोद में बिठाकर दूध पिलाती है और चुटकी बजाती जाती है बीच में यदि चुटकी बजाना बंद कर देती है तो बच्चा दूध पीना बंद कर देता है। यदि माँ के ललाट पर थोड़ी सलवट पड़ जाती है तो वह हैरान निगाहों से देखने लगता है कि मामला क्या है? वह सब ध्यान से देखता है। वह समझ जाता है कि माँ डाँट लगा रही है या प्यार कर रही है। अर्थ यह हुआ कि ध्यान तो सभी के पास है लेकिन धर्म ध्यान नहीं है। मुक्ति के लिए ध्यान की, जितनी एकाग्रता की आवश्यकता है उतनी ही तीव्रता सप्तम नरक में जाने के लिए भी आवश्यक है। एक छोर सप्तम नरक तक तो हम कई बार पहुँच गये होंगे किन्तु दूसरे छोर मोक्ष की ओर कभी नहीं पहुँच पाये। अभी तो ऐसा कह सकते हैं कि पंचमकाल है उत्तम संहनन नहीं है ठीक है। लेकिन जब चतुर्थकाल आता है उस समय तो जा सकते थे। नहीं गये अर्थात् पुरुषार्थ की कमी रही।

चतुर्थ काल की अपेक्षा भरतक्षेत्र और ऐरावत के मात्र दस क्षेत्र हैं लेकिन जो एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हैं वहाँ तो सदैव चतुर्थकाल रहता है। कुल मिलाकर एक सौ सत्तर क्षेत्र हैं जहाँ एक साथ तीर्थंकर हो सकते हैं। काल भेद मात्र दस क्षेत्रों में है शेष एक सौ साठ क्षेत्रों में भेद नहीं होता। वहाँ से मोक्ष का सीधा रास्ता है साथ ही सप्तम नरक भी जाया जा सकता है जिसकी रुचि जिस तरह की होती है। बच्चा भी धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माध्यम से मुक्ति का द्वार खोल सकता है और अस्सी साल का वृद्ध भी आर्तरौद्र ध्यान के द्वारा सप्तम पृथ्वी का द्वार खोल लेता है।

मन वचन, काय को रोककर रुचिपूर्वक किसी पदार्थ में लीन हो जाना ही ध्यान है। पंचेन्द्रिय के विषयों में लीन होना आर्तरौद्रध्यान है और आत्म-तत्त्व को उन्नत बनाने

के लिए अहर्निश प्रयास करना, सब कुछ भूलकर उसी आत्म तत्त्व में लीन रहना धर्मध्यान है। आप चाहें तो अभी यह संभाव्य हैं। यहीं पर बैठे-बैठे विषयों की ओर पीठ कर लें मन को डायवर्ट कर लें तो धर्मध्यान हो सकता है। जयपुर आपके लिए भी है और जयपुर में मैं भी हूँ। मेरे ज्ञान ने भी जयपुर को विषय बनाया है और आपके ज्ञान ने भी बनाया है। दोनों अभी यहीं जयपुर में हैं। पर आपका संकल्प जयपुर में हमेशा रहने का है, मेरा कोई संकल्प ऐसा नहीं है। आपका संकल्प है इसलिए जयपुर छोड़कर कहीं जाने पर भी जयपुर भीतर रहा आता है।

यह आपको ज्ञात है कि एक न एक दिन जयपुर छूटेगा। जब जयपुर छूटना निश्चित है तो उससे स्वयं को जोड़कर बैठे रहना, जानबूझकर इसको पकड़ने का प्रयास करना यही रागभाव है। जब जयपुर छूटेगा – यह ज्ञान का विषय बना, तो फिर उसे अपना मानकर इससे चिपकना ठीक नहीं है यही ज्ञान का प्रयोजन है। जयपुर में जहाँ आप रह रहे हैं उसे आप मान रहे हैं कि हमारा है लेकिन जयपुर हमारा तुम्हारा किसी का नहीं है वह जो कुछ है वह है। उसका अस्तित्व पृथक् है हमारा पृथक् है। अस्तित्व को जानना आपेक्षित है प्रयोजन भूत है किंतु अस्तित्व को जानकर यह मेरा यह तेरा ऐसा मानना बाधक है प्रयोजनभूत नहीं है।

'पर' क्या है स्व क्या चीज है यह जानना परमावश्यक है। 'स्व' को स्व-रूप में जानकर, 'पर' को पर-रूप मे जानकर 'पर' का ग्रहण नहीं करना यही प्रयोजनभूत तत्त्व का ज्ञान है। उपादेय की प्राप्ति और हेय का विमोचन हो गया तो मोक्षमार्ग प्रारंभ हो गया। यदि 'स्व' का ग्रहण और 'पर' का विमोचन नहीं होता उसके प्रति जो राग है वह नहीं हटता को कार्य सिद्धि भी नहीं होगी।

ज्ञानी भी वही रह रहा है अज्ञानी भी वहीं रह रहा है। ज्ञानी के लिए भी वहीं पदार्थ है और अज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है। दोनों के बीच वही पदार्थ होते हुए भी ज्ञानी के लिए वैराग्य का कारण बन जाते हैं और अज्ञानी उन्हे लेकर रागद्वेष में पड़ जाता है। जिसको आप मेरा मान रहे हो अभी उसी में चौबीस घंटे ध्यान लगा रहता है। जो वास्तव में मेरा है उस ओर ध्यान है ही नहीं। आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ में आद्योपान्त ध्यान के विषय में ध्यान के पात्र, ध्यान के फल, ध्यान में बाधक और साधक तत्त्वों का प्ररूपण किया है। उसमें एक श्लोक के माध्यम से सद्ध्यान की परिभाषा, मोक्ष में हेतुभूत ध्यान की परिभाषा दी है। सद्ध्यानी वह माना जाता है जो वीतरागी हो। संवेग और निर्वेग भाव जिसमें भरपूर हो। लम्बा-चौड़ा ज्ञान हो तो ठीक है नहीं हो तो भी अच्छा है क्योंकि ज्ञान भी उस समय ध्यान में समाप्त हो जायेगा।

ध्यान के समय उसका उपयोग नहीं है ध्यान से बाहर आते ही ज्ञान की कीमत है।

जो वीतरागी है वह दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं उसमें से कोई पदार्थ ले लें और उसका चिंतन करें, बाधा नहीं है। बाधा तो रागद्वेष की है। रागी द्वेषी बन जायें तो ध्यान बिगड़ जाता है। रागी होकर यदि वीतरागी मुद्रा देखेंगे तो वहाँ भी राग का ही अनुभव होगा। वहाँ भी उसकी कीमत आंकने लगेंगे। धातु की है या पाषाण की है। सफेद है काली है। भाई! सफेद काला तो पाषाण है भगवान तो वीतरागी है। वीतद्वेषी हैं। शरीरातीत हैं। चैतन्य पिंड हैं उपयोगवान हैं। जो वीतराग भाव से देखेगा वह पत्थर में भी वीतरागता देखेगा। राग में भी वीतरागता का अनुभव वीतरागी करता है और रागी वीतरागता में भी राग का अनुभव करता है। इसलिए रागी का ध्यान अशुभ है और वीतराग का ध्यान शुभ है।

अनादिकाल से उपयोग की धारा अशुभ की ओर बह रही है। उसे डायवर्ट करना है। उसे अपनी आत्मा की ओर मोड़ना है। उपयोग, उपयोग में लीन हो जाये। यही प्रयोजनभूत है। आप लोगों की रुचि सद्ध्यान में अभी नहीं है लेकिन आप चाहें तो रुचि कर सकते हैं और ध्यान के माध्यम से परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति का सोपान ध्यान है।

□□

☐ मूर्त से अमूर्त

वह ज्ञान जयवंत रहे जिस ज्ञान में तीन लोक और तीन लोक में विद्यमान विगत अनागत-वर्तमान पर्यायों सहित समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आ जाता है वह उसमें प्रतिबिंबित होता है उसी प्रकार केवलज्ञान मे तीन लोक का प्रतिबिंब अनायास आ जाता है। संसारी जीव के पास भी ज्ञान है किंतु उसमें सकल चराचर पदार्थ प्रतिबिंत नहीं होते। ज्ञान होते हुए भी इतना भारी अंतर होने का एक ही कारण है कि संसारी जीव का ज्ञान आवरित है। कषाय की कालिमा से आविष्ट है। जैसे दर्पण है पर उस पर कालिमा हो तो प्रतिबिंबित होने की सामर्थ्य होते हुए भी पदार्थ प्रतिबिंबित नहीं होसकते,इसी प्रकार संसारी प्राणी का ज्ञान अपना सही कार्य नहीं कर पाता।

कई बार ऐसा होता है कि आप किसी व्यक्ति से कोई गूढ़ बात समझने जाते हैं और वह क्रोधित हो जाता है तो आप दोबारा नहीं पूछते। यदि कोई दूसरा उस समय पूछने जा रहा हो तो उसे भी आप रोक देते हैं और कहने में आ जाता है कि वह व्यक्ति आपे मे नहीं है। कषाय से आवेष्ठित जो ज्ञान विज्ञान है वह हमें सही-सही कुछ नहीं बता सकेगा। कोई व्यक्ति बहुत दातार है, उदार है किंतु जिस समय वह किसी उलझन में फँसा हुआ हो उस समय उसके पास कोई भी दीनहीन जायेगा तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा। कुछ पाना उस समय संभव नहीं है। ऐसे समय में यदि याचक उस दातार के सदर्भ में कहे कि कैसा दातार है, काहे का दातार है। तब अन्य लोग उसे समझाते हैं कि दाता तो वह है पर आप उचित समय नहीं पहुँचे। आप उस समय पहुँचे जब वह उलझन मे था। वह अपने में नहीं था। रणांगन में कोई दानवीर राजा दान नहीं कर सकता।

सही समय पर और सही क्षेत्र पर जाओ तभी दान मिलता है अन्यथा नहीं। अर्थ यह हुआ कि जब कोई अपने स्वभाव से च्युत रहता है उस समय उसका ज्ञान अपने लिए भी हानिकारक हो जाता है। उस समय जीव का उपयोग लक्षण होते हुए भी सही-सही कार्य नहीं करता। दुख का मूल कारण यही है।

जीव उपयोगवान होकर भी अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वर्तमान में उस स्थिति

में नहीं है। कर्म जब बंधता है उस समय आत्मा किस रूप में रहती हैं कई लोगों का ऐसा सोचना है कि कर्म, कर्म से बंधता है आत्मा तो अमूर्त है। इसलिए आत्मा से तो कर्म बंधता नहीं है। अमूर्त का मूर्त से बंधन भी कैसे संभव है? इससे ज्ञात होता है कि अभी लोगों को आत्मा अमूर्त है या मूर्त उस बारे में सही-सही ज्ञान नहीं हैं कई लोग तो ऐसी धारणा बना चुके हैं कि हम तो अमूर्त हैं और कर्म, कर्म के साथ बधन को प्राप्त हो रहा है। उदाहरण भी दिया जाता है जैसे गाय के गले में रस्सी। गाय, अपने आप में पृथक है और रस्सी, रस्सी में बंधी है। किंतु यह उदाहरण सही-सही कर्मबंध को प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि कर्म और आत्म के बीच ऐसा संबंध नहीं है। ४० आचार्यों ने इसके समाधान में यह कहा है कि आत्मा वर्तमान में अमूर्त नहीं है जब तक वह संसार दशा में रहेगा, तब तक वह मूर्त रहेगा। मूर्तता की अनेक श्रेणियां हैं। आत्मा बहुत सूक्ष्म है कर्म भी सूक्ष्म हैं क्योंकि देखने में नहीं आते। पर दोनों के बीच ऐसी रासायनिक प्रक्रिया हुई है कि कर्म मूर्त होकर भी आत्मा के साथ बंधे हैं। आत्मा के साथ जो कर्म का बंधन है वह एक क्षेत्रावगाह है। बंधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अंदर है उनके साथ कर्म का बंध नहीं होता और उदय में आये हुए कर्म के साथ भी बंध नहीं हुआ करता। बंध की प्रक्रिया आत्मा के उपयोग के साथ आत्मा के प्रदेशों के साथ जुड़ी हुई है क्योंकि उदय में आया हुआ कर्म फल देकर चला जाता है और सत्ता में जो कर्म हैं उनके साथ स्थिति अनुभाग आदि सभी पृथक रूप से पूर्व में बंधे हैं उनके साथ बंध नहीं होता। इतना अवश्य है कि सभी नये पुराने कर्म अपना आत्मा से अलग अस्तित्व रखते हुए भी एक ही क्षेत्र में रह सकते हैं रहते भी हैं।

इस तरह आत्मा की मूर्तता अलग प्रकार की है। मूर्त होने के कारण ही बंध निरंतर प्रत्येक समय हो रहा है। आत्मा, पुद्गल के समान रूप रस गंध स्पर्श गुण वाला नहीं है फिर भी मूर्त है। अनादिकाल से वैभाविक परिणमन की अपेक्षा मूर्त है। इसके लिए एक उदाहरण है। शुद्ध पारा होता है उसे आप हाथ से या चिमटी आदि किसी चीज से पकड़ नहीं सकते। उस पारे की यदि भस्म बना दी जाये तो वह सहज ही पकड़ में आने लगता है। अब वह पारा, पारा होते हुए भी एक तरह से पारा नहीं रहा वह भस्म हो गया। पारा अपना स्वभाव छोड़कर विकृत या विभाव रूप में परिणत हो गया। यह भस्म यदि खटाई का संयोग पा जाये तो पुनः पारे में परिणत हो जाती है। पारे की भस्म दवा के रूप में रोग के इलाज में काम आती है। लेकिन शुद्ध पारे का एक कण भी मृत्यु का कारण बन सकता है।

यहाँ शुद्ध पारे को जो कि पकड़ में नहीं आता, हम कथंचित् अमूर्त मान सकते हैं और पारे की भस्म जो कि पकड़ में आ जाती है उसे मूर्त मान सकते हैं। आत्मा

की यही स्थिति है। आत्मा शुद्ध पारे के समान शुद्ध दशा को जब प्राप्त कर लेती है तब पकड़ में नहीं आती, उस समय वह अपने अमूर्त स्वभाव में स्थित है। लेकिन जब आत्मा पारे की भस्म के समान अशुद्ध दशा मे रहती है विकृत या वैभाविक दशा में रहती है तब वह मूर्त ही मानी जाती है। पकड़ में आ जाती है। इसलिए जो आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानकर ऐसी धारणा बना लेते हैं कि कर्म, कर्म से बंधता है उनकी यह धारणा गलत साबित होती है आगम के विरुद्ध भी है।

आगम मे करणानुयाग में लिखा है कि आत्मा से कर्म बंधता है। 'आत्म-कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानु प्रवेशात्मको बध.।' बध की प्रक्रिया आत्मा और कर्म के बीच ही हुई है। दोनों के प्रदेश एकमेक हुए हैं। यह ठीक है कि आत्मा कर्म के साथ बंधकर भी अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ती। आत्मा के साथ कर्मबंध होना वैभाविक आत्मदशा है जिससे वह कर्म के माध्यम से पकड़ में आती रहती है। यदि कर्म के साथ कर्म का बध होता, तो कर्म का फल आत्मा को नहीं मिलता। ध्यान रहे कर्म भोक्ता नहीं है भोक्ता आत्मा है क्योंकि वह चेतन है। भोगने की क्रिया सवेदन पूर्वक ही हुआ करती है।

कर्म फल का जो सवेदन आत्मा करती है वह अमूर्त नहीं अपितु मूर्त होता हैं। संवेदन अर्थात् फल की अनुभूति से है। संवेदन का अर्थ मात्र जानना-देखना नहीं है मात्र जानने देखने रूप चेतना तो सिद्ध परमेष्ठी के होती है। यहाँ उसका सवाल नहीं है किन्तु फल की अनुभूति रूप संवेदना मूर्त अवस्था में ही होना संभव है। यहां आत्मा का विपरीत परिणमन है। आत्मा का स्वभाव-परिणमन शुद्ध पारे के समान है और विभाव-परिणमन पारे की भस्म के समान है जो कि पकड़ में आ जाती है।

वर्तमान में आत्मा अमूर्त नहीं है मूर्त है किंतु अमूर्त बन सकता है। अमूर्त बनने की प्रक्रिया बहुत आसान है। जैसे पारे की भस्म की खटाई का योग मिल जाने से वह पुन पारा बन जाती है उसी प्रकार आप लोगो को भी वीतराग रूप खटाई का योग मिल जाये तो आप भी मूर्त से अमूर्त बन सकते हैं। जो अपने अमूर्त स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है उसे वीतरागता का सयोग करना होगा।

कर्म का आत्मा के साथ संबध बड़ा अद्भुत है। जिस समय यह संसारी प्राणी एक गति से दूसरी गति में जाता है उस समय विग्रह गति में कार्मण काय योग रहता है। उस समय आत्मा का कुछ जोर नहीं चलता, कर्म ही आत्मा को इस गति से उस गति में ले जाता है यदि कर्म का मात्र कर्म से ही संयोग होता तो आत्मा को न ले जाकर कर्म को ही कर्म के साथ जाना चाहिये था। नरक कौन जाना चाहता है भैया। जाना तो कोई नहीं चाहता किन्तु नरकायु का बंध होने के उपरान्त, जाना पड़ता है। कर्म के पास यह शक्ति है, यदि कर्म कर्म के साथ बंधता और आत्मा से बिल्कुल पृथक् रहता तो आत्मा को चारों गतियों में नहीं ले जा सकता।

जब रस्सी को खींचते है तो गाय साथ में चली आती है। यदि रस्सी मात्र रस्सी से बंधी होती तो गाय पृथक् रही आती और खींचने पर केवल रस्सी खिंच जाती। लेकिन गाय नहीं भी जाना चाह तो भी रस्सी से बधी होने के कारण खिची चली जाती है। रस्सी से रस्सी की गांठ लगी है किन्तु गाय खिंची चली जाती है। यह बंध की प्रक्रिया अनोखी प्रक्रिया है। संसारी प्राणी बध को नहीं चाहता लेकिन बंधन के साधन अपनाता चला जाता है यही उसका सबसे बड़ा अपराध है। वीतरागता उसे इस अपराध से मुक्त कर सकती है। हम यदि रागद्वष छोड़कर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर ले तो हम अमूर्त बन जायेंगे, अपने आपे मे आ जायेंगे।

अभी हमारा ज्ञान पूजनीय नहीं क्योंकि वह मूर्त है। आचार्यो ने उस कैवल्य ज्योति को उस ज्ञान और उपयोग को जयवंत कहा जिसमें तीन लोक के सारे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा वह ज्ञान किसी के अधीन नहीं है। अनंत उज्ज्वलता उसमें विद्यमान है। हमें उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया को समझकर उससे मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया रागद्वेष के माध्यम से चल रही है। वीतराग के माध्यम से ही इसका विमोचन होगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि दूसरे का वीतराग भाव हमारे काम नहीं आयेगा। हमे उसे निमित्त बनाकर स्वयं वीतरागी बनना होगा। हम वीतराग भगवान के चरणो में पड़ जाये और कहें कि हे भगवान! थोड़ी कृपा कर दो, आपके पास रसायन है हमें थोड़ा दे दो, तो ऐसा सभव नहीं है।

पारसमणी के स्पर्श से लोहा, सोने में बदल जाता है। पारसमणि लोहे को सोना तो बना सकती है किन्तु पारसमणि नहीं बना सकती। लोहे के पास सोना बनने की योग्यता है और उसे पारसमणि का योग मिल जाये तो वह सोना बन जाता है। यदि योग्यता न हो तो स्पर्श का असर भी नहीं होगा। एक व्यक्ति अपने गुरु से प्राप्त पारसमणि को लोहे से स्पर्श कराता है किन्तु लोहा स्वर्ण नहीं बनता। वह वापिस आकर गुरु को उलाहना देता है कि आपने झूठ कहा था। यह पारसमणि नहीं है। लोहा, स्वर्ण नहीं बना। गुरु ने कहा झूठ नहीं है बेटा, बता कौन सा लोहा स्पर्श कराया तूने। शिष्य वह लोहा ले आया। गुरु ने वह लोहा देखा और कहा– बात ऐसी है कि यह पारसमणि तो सही है किन्तु लोहा सही नहीं है।

शुद्ध लोहा ही सोना बन सकता है अशुद्ध जंग खाया हुआ लोहा, या मिट्टी आदि की पर्त चढ़ा हुआ लोहा स्वर्ण नहीं बन सकता। पहले लोहे को शुद्ध बनाओ भगवान शुद्ध है हम अशुद्ध है। शुद्धत्व के योग्य भूमिका मे ढले बिना उनका स्पर्श हमे शुद्ध नहीं बना सकेगा। यह ध्यान रहे कि हम जहाँ कहीं भी रहते हैं वह शुद्ध तत्त्व भगवान हमारे पास प्रतिदिन तीन बार आया करते हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार छह सौ आठ जीव छह महीने आठ समय में मुक्ति को प्राप्त करते हैं तो एक महीने में लगभग सौ

जीव मोक्ष पा जाते हैं और एक दिन में लगभग कम से कम तीन जीव जाते होंगे और मुक्त होने से पहले केवली समुद्घात हो तो उस समय लोग में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं रहता जिसमें केवली भगवान स्पर्श न करते हों।

केवलज्ञानी का स्पर्शन तीन लोक में फैल जाता है। उस तीन लोक में तो सभी लोग आ जाते है। हम सभी को भगवान एक ही दिन में तीन बार छू लेते हैं फिर भी हम अशुद्ध के अशुद्ध ही रहे आते हैं। किसी बार छह महीने का अंतराल पड़ जाता है तब उसकी पूर्ति शेष आठ समय में हो जाती है। परोक्ष रूप में यह सारी घटना होती रहती है लेकिन कर्म बंध में फंसा हुआ जो व्यक्ति है उसको इसका भान नहीं हो पाता। भगवान को पाना चाहो तो कहीं भागो मत, अपने पास ही रहो। लौकिक दृष्टि से प्रचलित सूक्ति है कि भगवान भी भक्त के वश मे हैं। उपयोग बदल जाये दृष्टि में वीतरागता आ जाये तो भगवान को पाना आसान है।

जैसे दीपक जल रहा है जिस समय वह वायु में प्रत्याहत नहीं होता उस समय उसकी लौ बिल्कुल सीधी व सही होती है किन्तु जिस समय वह किसी कारणवश भभकने लगता है उस समय वह लौ, आपे मे नहीं रहती। प्रकाश की मात्रा तब कम हो जाती है दीपक का स्वभाव प्रकाश तो रहता है किन्तु उसमें विकार आ जाता है। उसी प्रकार संसारावस्था में जीव मे ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग तो रहता है लेकिन सही काम नहीं करता। भभकने वाला दीपक प्रकाश कम देता है। हमारे अंदर भी अपने क्षयोपशम के माध्यम से जो वीर्य प्राप्त होता है वह कषाय करने से भभकते दीपक के समान हो जाता है।

हम जब कषाय तीव्र करते है तो हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। हमारी शक्ति हमारे ही द्वारा समाप्त हो जाती है उसका सदुपयोग नहीं हो पाता और यह अनर्थ जीवन मे प्रति समय हो रहा है। जो जीवन में प्रकाश हमें मिलना चाहिये था, उससे जो कार्य होना चाहिये था वह नहीं हो पाता और जीवन यूं ही समाप्त हो जाता है। बंध की प्रक्रिया के उपरान्त हुई अपनी स्थिति को हमने बुद्धि पूर्वक अपना लिया है और उसी में आनंद का अनुभव मान रहे है। विचार तो करो, केवली भगवान का स्पर्श होने के उपरान्त भी हमें भान नहीं हो पा रहा।

यहाँ कोई व्यक्ति शंका कर सकता है कि जब आज भी केवली का स्पर्श हमें प्राप्त है तो आज भी तीर्थंकर प्रकति का अर्जन हमें होना चाहिये था क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी चाहिये। तो ध्यान रखना कि किसी गुण को प्राप्त करना चाहते हो तो गुण प्राप्ति के लिए गुणवान के निकट जाना पड़ता है। वे हमारे पास आ जायें, तो आ सकते हैं। लेकिन जब तक हम नहीं जायेंगे वह गुण प्राप्त नहीं होगा। जब हम क्षायिक सम्यग्दर्शन या तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन करते हैं तब उसके लिए उनके चरणों में चले जाना आवश्यक होता है। मेहमान को आप निमंत्रण दें तभी वह आता है। वैसे नहीं आता। आपको

स्वयं जाना होगा। उसके पास, उसके चरणों में भावों को उज्ज्वल करना पड़ेगा।

जब भावों को पुरुषार्थ के माध्यम से उज्ज्वल करेंगे तब यह प्रक्रिया घट सकती है अन्यथा नहीं। आपके भावों को उज्ज्वल करने के लिए वे तीन लोग के नाथ आपके पास नहीं आते, वे तो समुद्घात की प्रक्रिया के माध्यम से अपने शेष कर्मों की स्थिति को समान बनाते हैं और इस कार्य को करने के उपरान्त तीसरे चौथे शुक्ल ध्यान को अपना लेते हैं और मुक्ति पा लेते हैं। आप भी मुक्ति के भाजन हैं इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास निरन्तर करना होगा।

यदि बध की प्रक्रिया का सही-सही अध्ययन आप कर ले तो ज्ञात होगा कि तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान भी अभी कर्मबंध की अपेक्षा मूर्त हैं। अमूर्तत्व का अनुभव शुद्ध पर्याय के साथ होना संभव है। भगवान भी अर्हन्त अवस्था में मूर्त समझकर अमूर्त होने की प्रक्रिया अपनाते हैं और तीसरे चौथे शुक्लध्यान के माध्यम से योग निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं। ध्यान की आवश्यकता अमूर्त हो जाने के उपरान्त नहीं होती। अमूर्त होने के लिए अवश्य होती है। सिद्ध भगवान ध्यान नहीं करत, वे तो कृतकृत्य हो चुके हैं।

अतः संसारी दशा में यह मत समझो कि हम अमूर्त हैं। अभी हम मूर्त है लेकिन अमूर्त होने की शक्ति हममे विद्यमान है। जो व्यक्ति स्वय को बंधन मे मानता है वही बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया अपनाता है। जिस समय रागद्वेष हम कर लेते है उसी समय आत्मा कर्म के बधन में जकड़ जाता है। एक आत्मा के प्रदेशों पर अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाएं कर्म के रूप में आकर एक समय में चिपक रही हैं। इसके उपरान्त भी यदि कोई कहे कि हम मुक्त हैं अमूर्त हैं तो यह आग्रह ठीक नहीं है। अनादिकाल से जो रागद्वेष की प्रक्रिया चल रही है जब तक वह नहीं रुकेगी तब तक कोई बध से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये बंध की प्रक्रिया को रोकने का उपाय करना ही श्रेयस्कर है। उपाय सीधा सा है कि कर्म के उदय में हम शान्त रहें।

'मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप, जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप। होगा न बध तब लौ जबलौं न राग, चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग।।' – यदि हम वीतरागता को अपना लें तो कर्मबंध की प्रक्रिया रुकने लगेगी। संवर और निर्जरा को प्राप्त करके मुक्ति के भाजन बन सकेंगे। अपने वर्तमान मूर्तपने को जानकर अमूर्त होने का उपाय अपनाना ही आत्म-कल्याण के लिए अनिवार्य है। एक बार शुद्ध पारे के समान हमारी आत्मा शुद्ध बन जाये, अमूर्त हो जाये तो अनन्त काल के लिए हम अमूर्तत्त्व का अनुभव कर सकते हैं। यही हमारा प्राप्तव्य है। ☐☐

□ आत्मानुभूति ही समयसार

ससारी प्राणी को जो कि सुख का इच्छुक है उसे वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान उपदेश देकर हित का मार्ग, प्रशस्त करते हैं। वे भगवान जिनका हित हो चुका है फिर भी जो हित चाहता है उसके लिए वे हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कृतकृत्य होने के उपरात भी वे सहारा देते है और हमें भी भगवान के रूप में देखना चाहते हैं। संसारी प्राणी सुख का भाजन तो बन सकता है किंतु अपनी पात्रता को भूला हुआ है अपनी आत्म-शक्ति को भूला हुआ है इसलिए सुखी नहीं बन पाता। महावीर भगवान ने और उसके उपरांत होने वाले सभी आचार्यो ने इसी बात पर जोर दिया कि हम जो भी धार्मिक क्रियाएँ करे, यह सोचकर करें कि मै भगवान बनूँ। क्योंकि मैं भगवान बन सकता हूँ। मार्ग धार्मिक क्रियाए यदि इस लक्ष्य को लेकर होती हैं तो श्रेयस्कर हैं। अन्यथा जिसे भगवान बनने की कल्पना तक नही है तो उसकी सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ सासारिक ही कहलाएंगी। क्रियाए अपने आपमें न सासारिक हैं न धार्मिक हैं, दृष्टि के माध्यम से ही वे धार्मिक हो जाती हैं।

चलना आवश्यक है किंतु दृष्टि बनाकर चलना है। जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक चलने का कोई औचित्य नहीं है। जैसे आप गाड़ी चला रहे हैं चलाते-चलाते उसे रोक देते हैं और रिवर्स में डाल देते हैं। गाड़ी चलती है किंतु उल्टी-दिशा में चलने लगती है। मुख भले ही सामने है पर वह लक्ष्य की ओर न जाकर विपरीत जा रही है। इसी प्रकार दृष्टि के अभाव में सारी की सारी क्रियाएँ रिवर्स गाड़ी के अनुरूप हो जाती हैं, दिखता है कि हम जा रहे हैं। चल रहे हैं किंतु अभिप्राय यदि संसार की ओर हो भगवान बनने का अभिप्राय न हो तो क्रियाएँ मोक्षमार्ग के अतर्गत नहीं आ सकती। मोक्षमार्ग पर चलना तो तभी कहलायेगा जब हमारी मोक्ष पाने की इच्छा हो और कदम मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ें पीछे की ओर न जायें। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़ें पीछे की ओर न जाये। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़ें जिस ओर भगवान गये हैं मुक्ति का पथ जिस ओर है। दो ही तो पथ हैं एक मुक्ति का और दूसरा संसार का। वैसे मार्ग एक ही है मुक्ति का लक्ष्य बनाकर सामने चलना मुक्ति

का मार्ग है और पीछे संसार का लक्ष्य बनाकर मुड़ जाना यही संसार का मार्ग है।

जयपुर से आगरा की ओर जायेंगे तो आगरा का साइन बोर्ड मिलेगा और आगरा से जयपुर की ओर आयेंगे तो जयपुर का साइन बोर्ड मिलेगा मील का पत्थर एक ही है मार्ग भी एक ही है दिशा बदल जाती है तो वही आगरा जाता है और वही जयपुर जाता है। इस ओर से जाते हैं तो आगरा लिखा मिलता है और उधर से आते हैं तो जयपुर लिखा मिलता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' – सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मार्ग मोक्ष का है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन ज्ञान और चारित्र यह संसार का मार्ग बन जाता है। चलने वाला व्यक्ति एक है और रास्ता भी एक ही है दिशायें दो है। और दिशा भी कोई चीज नहीं है जब चलता है तब दिशा बनती है। जब गति प्रारम्भ हो जाती है तब दिशा-बोध की आवश्यकता होती है। जब चलना प्रारम्भ होता है तभी उल्टा-सीधा इस तरह की बात ध्यान में रखना आवश्यक होता है। भगवान बनने के लिए जो भी आगम के अनुरूप आप क्रिया करेंगे वह सब मोक्षमार्ग बन जायेगा। मोक्षमार्ग पर क्रम से जब हम कदम बढ़ायेंगे तो अवश्य सफलता मिलती चली जायेगी। सफलता क्रम के अनुरूप चलने से मिलती है और क्रम से मिलती है।

सम्यदर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है। यह हम सुनते हैं और सुनाते हैं। किंतु उस ओर हमारा जीवन ढलता नहीं है इसलिए अनुभूति नहीं हो पाती। ज्ञान से भी अधिक महत्व अनुभूति को आचार्यों ने दिया है। अनुभूति के साथ ज्ञान तो रहता ही है। ज्ञान पहले हो और अनुभूति बाद में हो ऐसा भी कोई नियम नहीं हैं ज्ञान जहाँ हो वहाँ अनुभूति हो ही यह नियम नहीं है लेकिन जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य होगा। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए जैसे कोई डॉक्टर एम.बी.बी.एस. हो जाता है तो भी उपाधि मात्र से डॉक्टर नहीं कहलाता। उसे प्रेक्टिस करना भी अनिवार्य होता है। जो ज्ञान के माध्यम से परोक्ष रूप से जाना था उसे प्रेक्टिस के दौरान प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना होता है। एक दो साल प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेनी पड़ती है। तभी रोगी की चिकित्सा करने की योग्यता आती है। मोक्षमार्ग में भी अनुभूति का महत्व है। ज्ञान के साथ अनुभूति होना भी आवश्यक है।

हमने ज्ञान किस लिए प्राप्त किया? तो कहना होगा कि उस वस्तु को जानने के लिए उस आत्म-तत्त्व की अनुभूति के लिए किया। जब ज्ञान के माध्यम से उस आत्मा की अनुभूति की ओर कदम बढ़ जाते हैं तो वही मोक्षमार्ग बन जाता है। अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रहता। अनुभूति भी रागानुरूप हो रही है या वीतरागानुरूप हो रही है यह भी देखना आवश्यक है क्योंकि परिणाम उसी के अनुरूप मिलने वाला है। मोक्षमार्ग की अनुभति, वीतरागमार्ग की अनुभूति तो तभी होगी जब जैसा हमने उस

मार्ग के बारे में सुना देखा, जाना है, श्रद्धान और ज्ञान किया है उसको वैसा ही अनुभव में लाने का पुरुषार्थ करेंगे। जानने के लिए उतना पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता जितना कि अनुभव करने के लिए आवश्यक है। अनुभूति बिना पुरुषार्थ के नहीं होती।

बैठे-बैठे जाना जा सकता है किंतु बैठे-बैठे चला नहीं जा सकता। चलते समय देखा भी जाता है और जाना भी जाता है। मैं सदैव कहता हूँ देखभाल चलना। जीवन में जब भी अनुभूति होती है वह इन तीनों की (देख+भाल+चलना=दर्शन+ज्ञान+चारित्र) की समष्टि के साथ ही होती है। रागानुभव के साथ ज्ञान कितना भी हो उससे शान्ति, सुख आनंद जो मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता है। 'सो इंद्र नाग नरेंद्र वा अहमिंद्र के नाहीं कह्यो' – वीतरागता के साथ जो आनंद है वह चाहे इंद्र हो, नागेंद्र हो नरेंद्र अर्थात् चक्रवर्ती हो या अहमिंद्र (जो नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं) भी क्यों न हो उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये सारे के सारे असंयमी हैं। संयम के साथ वीतरागता के साथ जो आत्मा की अनुभूति है वह एक प्रकार से शुद्ध परिणति है।

जो व्यक्ति भगवान बनना चाहता है उसे सर्वप्रथम भगवान के दर्शन करने होंगे, उसके माध्यम से बोध प्राप्त करना होगा फिर उसे स्वयं के अनुभव में लाने का प्रयास करना होगा। मैं भगवान बन सकता हूँ– इस प्रकार का जो विचार उठेगा वह भगवान को देखे बिना नहीं उठेगा इसलिए पहले भगवान का दर्शन आवश्यक है। भगवान के दर्शन से भावना प्रबल हो जाती है कि मुझे भी भगवान बनना है। पर इतने मात्र से कोई भगवान नहीं बनता। आगे की प्रक्रिया भी अपनानी पड़ेगी। आंखों से देखा जाता है पाया नहीं जाता। पाने के लिए तो स्वयं वीतराग मार्ग पर चलना होगा, संयम धारण करना होगा, उसके उपरांत अपने आप में लीनता आयेगी। अनुभूति तभी होगी। तभी परमात्म स्वरूप की उपलब्धि होगी।

सभी संसारी जीवों की जो अनुभूति है वह सामान्य रूप से रागानुभूति है। उस अनुभूति की हम बात नहीं कर रहे किंतु मोक्षमार्ग में होने वाली वीतराग अनुभूति की बात यहाँ है। आत्मा के विकास के लिए स्वसंवेदन की आवश्यकता है पर वीतराग स्वसंवेदन की है। धीरे-धीरे अपनी दृष्टि को, जिन-जिन पदार्थों को लेकर राग द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं उन पदार्थों से हटाते चले जायें और दृष्टि को 'स्व' की ओर मोड़ते चले जायें तो वीतरागता आने में देर नहीं लगेगी। जिन पदार्थों के सम्पर्क से हमारा मन राग में जाता है हमारा ज्ञान राग का अनुभव करना प्रारंभ कर देता है उन पदार्थों से अलगाव रखें और ज्ञान की शुद्धि करना प्रारम्भ कर दें। धीरे-धीरे 'पर' से हटने के कारण आप अपनी ओर आ जायेंगे। ऐसा कोई शार्टकट नहीं है जिसके माध्यम से 'पर' के साथ संबंध रखते हुए भी हम आत्मअनुभूति तक पहुँच जाये। रास्ता एक ही है दिशा बदलनी होगी। राग

की सामग्री से उसे हटाकर वीतरागता की ओर आना होगा।

एक सेठजी थे। भगवान के अनन्य भक्त। एक दिन वे गजानन-गणेश की प्रतिमा लेकर आये और खूब धूमधाम से पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। गजानन को मोदक बहुत प्रिय होते हैं इसलिए एक थाली में मोदक सजाकर नैवेद्य के रूप में रखे। सेठजी प्रतिमा के सामने प्रणिपात हुए, माला फेरी, उसकी आरती की फिर वहीं बैठे-बैठे उस प्रतिमा को निहारने लगे। उसी बीच एक चूहा आया और उस थाली में से एक मोदक लेकर चला गया। सेठजी के मन मे विचार आया कि देखो, भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो सबसे बड़ा है वह भगवान है और वह सर्वशक्तिमान है। ये गजानन तो भगवान नहीं दिखते हैं। यदि ये भगवान होते तो इस चूहे का अवश्य ही प्रतिकार करते। एक अदना सा चूहा इनका मोदक उठा ले गया और ये कुछ न बोले। उसे हटाने की सामर्थ्य ही नहीं है इनमे। हो सकता है कि चूहा, भगवान से बड़ा हो मेरे समझने में कहीं भूल हो गयी है। और उस दिन से सेठजी ने चूहे की पूजा प्रारम्भ कर दी।

दो तीन दिन के उपरांत एक दिन चूहा जब बाहर आया तो उसे बिल्ली पकड़ ले गई ओ हो! अब अनुभव होता जा रहा है मुझे, सेठ जी ने सोचा मैं अब अनुभव की ओर बढ़ता जा रहा हूँ। जैसे-जैसे सेठ जी का अनुभव बढ़ता गया उनका आराध्य भी बदलता गया। अब बिल्ली की पूजा में लीन हो गये। सबसे बड़ी यही है। जिस चूहे को गजानन नहीं पकड़ सके उस चूहे को इसने पकड़ लिया। यही सबसे बड़ी उपास्य है। सात-आठ दिन व्यतीत हो गये। बिल्ली का स्वभाव होता है कि कितना भी अच्छा खिला पिला दो वह चोरी अवश्य करेगी। एक दिन अगीठी के ऊपर दूध की भगौनी रखी थी बिल्ली चोरी से दूध पीने लगी, सेठानी ने देख लिया और क्रोध में आकर उसने बिल्ली की पीठ पर एक लाठी मार दी, बिल्ली मर गई। सेठजी को जब सारी घटना मालूम पड़ी तो पहले तो खेद हुआ लेकिन तुरंत विचार आया कि जो मर गया वह कमजोर है। वह भगवान नहीं हो सकता। लगता है सेठानी बड़ी है। उसने गजब कर दिया। गजानन चूहे से डर गये, चूहा बिल्ली की पकड़ में आ गया और अब बिल्ली सेठानी के हाथों समाप्त हो गयी।

सेठजी उसके चरणों में बैठ गये। अब सेठानी की पूजा प्रारंभ हो गयी। अनुभव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। एक दिन प्रातः सेठजी ने सेठानी से कहा कि आज हमें दुकान में काम अधिक है। हम साढ़े दस बजे खाना खायेगे, खाना तैयार हो जाना चाहिये। सेठानी ने कहा ठीक है। पर प्रतिदिन पूजा होने के कारण सेठानी प्रमादी हो गई थी, समय पर रसोई नहीं बन पायी। जब सेठजी आये तो बोली आइये, आइये। अभी तैयार हो जाती है। सेठजी क्रोधित हो उठे और सेठानी पर वार कर दिया सेठानी मूर्छित हो

गयी जब होश आया तब सेठजी सोच में पड़ गये कि अभी तक तो मैं सेठानी को सबसे बड़ा समझ रहा था किंतु अब पता चला कि मैं ही बड़ा हूँ। अब मुझे अनुभव हो गया कि मुझ से बड़ा कोई भगवान नहीं है और वह अपने आपमें लीन हो गया। आप सारी बात समझ गये होंगे। यह तो मात्र कहानी है।

इससे आशय यही निकला कि 'स्व' की ओर आना श्रेयस्कर है। स्व की ओर आने का रास्ता मिल सकता है तो सच्चे देव गुरु शास्त्र से ही मिल सकता है अन्य किसी से नहीं मिल सकता है। इसलिए उनको बड़ा मानना है और उनका सहारा तब तक लेना है जब तक कि हम अपने आप में लीन न हो जायें। भगवान का दर्शन, भगवान की पूजन, भगवान बनने के लिए करना है। भगवान की पूजा श्रीमान बनने के लिए नहीं है। भगवत् पद की उपलब्धि सांसारिक दृष्टिकोण रखकर नहीं हो सकती। दृष्टि में परमार्थ होना चाहिये। हम जैसे-जैसे परमार्थ भूत क्रियाओं के माध्यम से रागद्वेष को कम करते चले जायेंगे, वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे। यह प्रक्रिया ऐसी ही है इसके बिना कोई भगवान नहीं बन सकता।

देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने आपके जीवन को वीतरागता की ओर मोड़ लिया, वीतराग केंद्र की ओर मोड़ लिया वह अवश्य एक दिन आत्मा में विराम पायेगा। किंतु यदि देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की बांछा रखता हो तो उसे वही चीज मिल जायेगी आत्मोपलब्धि नहीं होगी। मुझे, एक बार एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज 'हमने अपने जीवन में एक सौ बीस बार समयसार का अवलोकन कर लिया। कंठस्थ हो गया मुझे।' अब उनसे क्या कहता मन में विचार आया कि कहूँ आपने मात्र कठस्थ कर लिया है। और मैंने हृदयस्थ कर लिया है। आपने उसे शिरोड्गम करके अपने मस्तिष्क में स्थान दिया है। आपको आनद आया या नहीं पर हमारे आनंद का पार नहीं है। बंधुओ। आत्मानुभूति ही समयसार है। मात्र जानना समयसार नहीं है।

समयसार का अर्थ है 'समीचीन रूपेण अयतिगच्छति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान् शुद्धगुणपर्यायान् यःसः समयः' – अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण पर्यायों की अनुभूति करता है उनको जानता है उनको पहचानता है उनमें व्याप्त होकर रहता है उसी मय जीवन बना लेता है वह है 'समय' और उस 'समय' का जो सार है वह है समयसार। ऐसे समयसार के साथ व्याख्यान का कोई संबंध नहीं वहाँ तो मात्र एक रह जाता है। एकः अहं खलु शुद्धात्मा– एक मैं स्वयं शुद्धात्मा। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश में बादशाह से भी अधिक महत्व रहता है इक्के का। एक अपने आपमें महत्वपूर्ण है वह है शुद्धात्मा।

अपनी ओर आने का रास्ता बताने वाले देवगुरुशास्त्र हैं। सच्चे देव के माध्यम से शुद्धात्मा का भान होता है गुरु के माध्यम से वीतरागता की ओर दृष्टि जाती है शुद्धत्व की प्रतीति होती है और गुरुओं के माध्यम से प्राप्त जो जिनवाणी है उसमें कहीं भी रागद्वेष का कोई स्थान नहीं रहता उसके प्रत्येक अक्षर से वीतरागता मुखरित होती है। इस तरह इन तीनो के द्वारा वीतरागता का बोध होता है, वीतरागता को हमे जीवन का केंद्र बनाना चाहिये।

एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज इतनी चर्चा आदि हम सुनते हैं तो कुछ न कुछ अंश में हमें भी वीतरागी मानना चाहिये। मैंने कहा कि भइया आपकी वीतरागता दूसरे तरह की है आप ऐसे वीतरागी हैं कि आपका आत्मा के प्रति राग नहीं है। आपकी अपेक्षा में रागी हूँ क्योंकि मेरा आत्मा के प्रति राग है। लेकिन आपकी आत्मा के प्रति उपेक्षा का यह परिणाम है कि जीवन में आत्म संतोष नहीं है। सारा अनुभव रागद्वेष का है रागद्वेष युक्त अशुद्ध पर्याय का है। भगवान की देशना तो यह है कि सभी के पास भगवत्ता विद्यमान है किंतु अव्यक्त रूप से है शक्ति रूप से है व्यक्त रूप में नहीं है। जो भीतर है उसका उद्घाटन करना है उसी के लिए मोक्षमार्ग की देशना है।

जिसे एक बार 'समय' की अनुभति हो गयी क्या वह अपने समय को दुनियादारी में व्यर्थ खर्च करेगा। वह समय का अपव्यय कभी नहीं करेगा। जिस व्यक्ति को आत्मनिधि मिल गयी क्या वह दसबीस रुपये की चोरी करेगा। यदि करता है तो समझना अभी समयसार कंठस्थ हुआ है जीवन में नहीं आया है। एक वैद्यजी के पास एक रोगी आया और शीघ्र रोग मुक्त हो जाऊँ ऐसी दवा मांगी। वैद्यजी ने परचे पर दवाई लिख दी और कहा कि उसे दूध में मिलाकर पी लेना। रोगी घर आया और दूध में उस पर्चे को घोलकर पी गया। दूसरे दिन जब आराम नहीं लगा तो वैद्यजी से शिकायत की कि दवा का असर नहीं हुआ। वैद्यजी ने कहा ऐसा हो नहीं सकता औषधि एक दिनमें ही रोग ठीक करने वाली थी। बताओ कौन सी दुकान से दवा ले गये थे। रोगी ने कहा आपने जो कागज दिया था वही तो थी औषधि। हमने उसी को घोलकर पी लिया।

भइया! यही हम कर रहे हैं। कोई ग्रंथ औषधि थोड़े ही है। ग्रंथ में जो औषधि लिखी है उसे खोजना होगा उसे प्राप्त करके उसका सेवन करना होगा। तभी अनादिकालीन जन्म जरा मरण का रोग नष्ट होगा। वीतरागता ही औषधि है उसके सेवन से उसे जीवन में अंगीकार करने से ही हम जन्म-मृत्यु के पार होंगे। आत्मा की अनुभूति कर सकेंगे। आप लोगों के लिए मंदिर वही है देव गुरुशास्त्र भी वही है सब कुछ हैं किंतु इसके उपरान्त भी आपकी गति उस ओर नहीं हो रही है उससे विपरीत हो रही है। जैसे तेली का बैल घूमकर वहीं आ जाता है। इसी प्रकार आपका जीवन व्यतीत हो रहा है। बाह्य

सामग्री को लेकर आप स्वयं को बड़े मान रहे हैं। किंतु खड़े वहीं पर हैं। आत्मानुभूति की ओर कदम नहीं बढ़ पा रहे हैं। जो जवान हैं या जो प्रौढ़ हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता तो कोई बात नहीं किंतु जो वृद्ध हैं उनमें भी कोई अन्तर नहीं आ रहा। वृद्धत्त्व के उपरान्त भी वृद्धत्त्व नहीं आ रहा वही रागद्वेष वही विषय-कषाय जो अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी ओर आज भी कदम बढ़ रहे हैं।

मनुष्य जीवन एक प्रकार का प्लेटफार्म है स्टेशन है। अनादिकाल से जो जीवन रागद्वेष की ओर मुड़ गया है। उस मुख को हम वीतरागता की ओर मोड़ सकते हैं और उस ओर जीवन की गाड़ी को इसी मनुष्य जीवन रूपी स्टेशन से ही चला सकते हैं। यदि इस स्टेशन पर आ जाने पर भी आपको नींद आ जाती है, आलस्य आ जाता है तो एक बार इस स्टेशन से गाड़ी निकल जाने के बाद वह मुड़ नहीं सकेगी। आलस्य को आप कर्म का उदय मानकर मत बैठे रहिये। यह आपके पुरुषार्थ को कमी मानी जायेगी। लोग कहते है कि जैसे ही सामायिक करने बैठता हूँ जाप करने बैठता हूँ स्वाध्याय करने के लिये सभा में आ जाता हूँ तो निद्रा आने लगती है। मैं सोचता हूँ आपकी निद्रा बड़ी सयानी है। जिस समय आप दुकान पर बैठते हैं और रुपये गिनते हैं उस समय कभी निद्रा नहीं आयी। वहाँ पर नहीं आती और यहाँ पर आती है इसका अर्थ, पुरुषार्थ की कमी है। रुचि की कमी है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति को सोते देखकर पंडित जी ने पूछा क्यों भइया! सो तो नहीं रहे हो। वह कहता है नहीं। वह ऊंघ रहा था फिर भी वह नहीं ही कहता है। एक दो बार फिर ऐसा ही पूछा तो उसने वही जवाब दिया और ऊंघता भी रहा। फिर पंडित जी ने अपना वाक्य बदल दिया और कहा कि भइया सुन तो नहीं रहे हो। उसने तुरंत उत्तर दिया नहीं तो। बात समझ में आ गयी। सीधे-सीधे पूछने से पकड़ में नहीं आ रहा था। यहाँ पर आचार्य कुंदकुंद स्वामी पूछ रहे हैं कि समयसार पढ़ रहे हो तो सभी कह देंगे कि पढ़ तो रहे हैं यदि पढ़ रहे हैं तो परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा है। सो रहे हैं किंतु कह रहे हैं कि सुन रहे हैं। यही प्रमाद है। समयसार पढ़ने सुनने अकेले की चीज नहीं है। प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त दशा की ओर आने की चीज है। एक ही गाथा जीवन को आत्मानुभूति की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त है पूरा समयसार रटने से कुछ नहीं होगा। जीवन उसके अनुरूप बनाना होगा। समयसार जीवन का नाम है चेतन का नाम है और शुद्ध परिणति का नाम है पर की बात नहीं स्व की बात है।

आप कह सकते हैं कि महाराज आप बार-बार इन्हीं बातों की पुनरावृति करते जा रहे हैं तो भइया! आप आत्मा की बात सुनना चाहते हैं या दूसरी बातें सुनना चाहते

हैं। दूसरी संसार की बाते तो आप लोगों को मालूम ही हैं। आत्मा की बात अनूठी है। उसे अभी तक नहीं सुना। उसमें रुचि नहीं जागी, उसी रुचि को तो जगाना है। जिस ओर रुचि है उसको बताने की आवश्यकता नहीं है। धर्मोपदेश विषयों में रुचि जगाने के लिए नहीं है आत्मा की रुचि जगाने के लिए धर्मोपदेश है।

एक बच्चे ने अपनी माँ से कहा कि माँ मुझे भूख नहीं लगी आज कुछ नहीं खाऊँगा। 'क्यों' बेटा! बात क्या हो गई माँ ने कहा। 'कुछ नहीं माँ'। तो खाने का समय हो गया खा ले, सब शुद्ध है, शुद्ध आटा है घी है।' 'मुझे भूख नहीं है।' 'बात यह है कि आपने जो एक रुपया दिया था न, वह रखा था उससे आज मैंने चाट-पकौड़ी खाली।'' जिसे चाट पकोड़ी की आदत पड़ गई, अब उसे शुद्ध रसोई रुचिकर लगना मुश्किल है। ऐसे ही जिसे विषयें में रुचि हो गयी उसे आत्मा की बात रुचिकर मालूम नहीं पड़ती। भाई! थोड़ा विषयों को कम करो और आत्मा को चखो तो सही, कितना अच्छा लगता है। स्वाद मे बदलाहट तभी आयेगी जब विषय सामग्री मे रुचि होते हुए भी उसमे प्रयत्न पूर्वक कमी लायी जायेगी एक हाथ से यह भी खाते रहे और दूसरे से वह, तो हाथ भले ही दो हैं किंतु मुह तो दो नहीं है। जिह्वा तो एक ही है। स्वाद लेने की शक्ति तो एक ही है। सभी मिलाओगे तो मिश्रण हो जायेगा ठीक स्वाद नहीं आयेगा।

स्वात्मानुभूति का सवेदन आत्मा का जो स्वाद है वह स्वाद स्वर्ग मे रहने वाले देवों के लिए दुर्लभ है। कहीं भी ससार मे चले जाओ सभी के लिए दुर्लभ है। केवल उसी के लिए वह साध्यभूत है, सभव है जिन्होंने अपने संस्कारो को परिमार्जित कर लिया है, अर्थात् मनुष्य भव पाकर जो रागद्वेष से ऊपर उठ गये हैं। जिनकी अनुभूति में वीतरागता उतर आयी है। आप भी यदि एक बार देवगुरुशास्त्र के प्रति विश्वास करके, इस काम को हाथमे ले लो, तो मै आपको विश्वास दिलाता हूँ, दिलाना क्या विश्वास आपको स्वय करना होगा, विश्वास दिलाया भी नहीं जा सकता स्वयं किया जा सकताहै कि आत्मा की उपलब्धि वीतरागता के द्वारा ही सभव है।

कहा गया है कि ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो परोक्ष ज्ञान के माध्यम से श्रद्धान में उतरने वाली चीज को हाथ मे रखकर दिखा सके। केवली भगवान अपनी आत्मा को जानते देखते हैं किंतु दिखा नहीं सकते। आत्मा को तो स्वयं देखना होगा, कोई दूसरा दिखा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धारक होकर भी केवली भगवान अपनी आत्मा को हाथ पर रखकर दिखा नहीं सकते। आत्मा दिखने की वस्तु नहीं हैं आत्मा तो देखने की वस्तु है। स्वरूप तो बताया जा सकता है। लेकिन ज्ञात होने के बाद आपका यह परम कर्त्तव्य है कि प्रत्यक्षज्ञान को प्राप्त करके उसका संवेदन करें।

जैसे मार्ग पर जाती हुई गाड़ी को रोकना या चलाते रहना तो आसान है लेकिन

उसकी दिशा बदलना उसे सही दिशा में मोड़ना आसान नहीं है प्रयत्न साध्य है। इसी प्रकार जीवन की धारा को वीतरागता की ओर मोड़ने में प्रयास की आवश्यकता है। किंतु वीतराग से राग की ओर जाने में कोई प्रयास आवश्यक नहीं है वह तो अनादिकाल से उसी ओर जाने मे अभ्यस्त है। ऊपर की ओर कोई चीज फेकने के लिए तो प्रयास की आवश्यकता है पर नीचे तो वह अपने आप आ जायेगी, प्रयास नहीं करना पड़ता। आप का अभ्यास तो ऐसा है कि अभी यहाँ से निवृत्त होते ही आपके कदम घर की ओर बढ़ जायेंगे। पर निज घर कहाँ है इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

मुनि का अभ्यास अपनी ओर मुड़ने का है और आपका गृहस्थ का अभ्यास घर की ओर जाने, उसी ओर बढ़ने का है। वीतरागता की ओर मोड़ने के लिए वाचनिक प्रयास, मानसिक प्रयास और शारीरिक प्रयास सभी प्रयास होना आवश्यक है। एक बार स्वभाव की उपलब्धि हो जायेगी तो फिर विभाव की ओर जाना संभव नहीं है। एक बार प्रयास करके आप उस ओर बढ़ जाये फिर यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी। थोड़ा परिश्रम होगा, पसीना आयेगा, कोई बात नहीं आने दो। टिकट खरीदते समय पसीना आता है, लाईन में लगते समय पसीना आ जाता है ट्रेन में चढ़ते समय पसीना आ जाता है किंतु फिर बाद में बैट जाने के उपरांत ट्रेन चलने लगेगी तब आराम के साथ यात्रा होगी। इसी प्रकार मोक्षमार्ग में चलते-चलते थोड़ी तकलीफ लगेगी पर बाद में आनंद भी मिलेगा।

प्रारम्भ मे औषधि कड़वी लगती है पर बाद में परिणाम मीठा निकलता है। यह मोक्षमार्ग रूप औषधि भी ऐसी ही है जो अनादिकालीन रोग को निकाल देगी और शुद्ध चैतन्य तत्त्व की उत्पत्ति उसमें से होगी और आनंद ही आनंद रहेगा उसमें। अध्यात्म को पढ़कर अपने जीवन को उसी ओर ढालने का प्रयास करना चाहिये, यही स्वाध्याय का और देवगुरुशास्त्र की उपासना का वास्तविक फल है। यदि प्रयास मोक्षमार्ग के लिए नहीं किया जायेगा तो ससार मार्ग अनादिकाल से चल रहा है और चलता रहेगा। जीवन में सिवाय दुःख के कुछ हाथ नहीं आयेगा। अपनाना है तो एकमात्र अपनाने योग्य मोक्षमार्ग है जो कि स्वाश्रित है। देव गुरु शास्त्र उस स्वाश्रित मोक्षमार्ग में अनिवार्य आलम्बन हैं। इनके आलंबन से हम भवसागर से पार उतर सकते हैं और अनंत काल के लिए अपने शुद्धात्मा में लीन हो सकते हैं।

□□

☐ परिग्रह

आज तक जितने लोगो ने अपनी आत्मा को पवित्र-पावन बनाया है वे सभी सिद्ध भगवान महान् अपरिग्रह महाव्रत का आधार लेकर आगे बढ़े हैं। उन्होंने मन-वचन-काय से इस महाव्रत की सेवा की है। अपरिग्रह यह शब्द विधायक नहीं है, निषेधात्मक शब्द है। उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है और प्ररूपणा भी दो प्रकार से हुआ करती है एक निषेधमुखी और दूसरी विधिमुखी। परिग्रह के अभाव का नाम अपरिग्रह है। परिग्रह को अधर्म माना गया है। इसलिए अपरिग्रह स्वतः ही धर्म की कोटि मे आता है। इस अपरिग्रह धर्म का परिचय, इसकी अनूभूति इसकी उपलब्धि आज तक पूर्णतः हमने की ही नही। क्योंकि जब तक बाधक तत्त्व विद्यमान है साध्य की प्राप्ति सभव नहीं हैं

धर्म और अधर्म एक साथ नहीं रह सकते। अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार परिग्रह के रहते हुए जीवन मे अपरिग्रह की अनुभूति नहीं हो सकती। परिग्रह को महावीर भगवान ने पाँच पापो का मूल कारण माना है। संसार के सारे पाप इसी परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। हमारा आत्मतत्त्व स्वतत्र होते हुए भी, एकमात्र इसी परिग्रह की डोर से बंधा हुआ है। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति इस ओर इशारा भी करती है जो विचारणीय है। परि आसमन्तात् ग्रहणाति आत्मानं इति परिग्रहः – जो आत्मा को सब ओर से घेर लेता है जकड़ देता है वह परिग्रह है। आत्मा जिससे बंध जाता है उसका नाम परिग्रह है।

मात्र बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का नाम परिग्रह नही है। मूर्छा ही परिग्रह है। बाह्य पदार्थो के प्रति जो अटेंचमेंट है लगाव है उसके प्रति जो रागानुभूति है उसमे जो एकत्व की स्थापना का भाव है वह परिग्रह है जहाँ आप रह रहे है वहीं पर अर्हन्त परमेष्ठी भी है, साधु परमेष्ठी भी हैं। वहीं पर पुनीत आत्माएँ रह रहीं जाती हैं किंतु वही स्थान आपके लिए दुख का स्थान बन जाता है और वही उन आत्माओ के लिए जरा भी प्रभावित नही करता सुख दुख का कारण नहीं है। वास्तव में पदार्थ दुख सुख का कारण नहीं है। अपितु उसके प्रति जो मूर्छा-भाव है जो ममत्व है वही दुख का कारण है। इसी का नाम परिग्रह है।

विशालकाय हाथी को कोई बांध नहीं सकता। वह स्वयं बंध जाता है उसकी मूर्छा उसे स्वयं बंधन में डाल देती है। इसी प्रकार तीन लोक को जानने की अनन्त शक्ति अनन्त आलोक जिस आत्मा के पास विद्यमान है वह आत्मा भी मूर्छित है सुप्त है जिससे उसकी वह शक्ति भूलुण्ठित हो रही है। आप चार पापों के प्रति अत्यंत सावधान है। आप हिंसा से परहेज करते हैं झूठ से बचते हैं चोरी नहीं करूँगा ऐसा संकल्प ले सकते हैं और लौकिक ब्रह्मचर्य के प्रति भी आपकी स्वीकृति है किंतु परिग्रह को आप विशेष रूप से सुरक्षित रखे हुए हैं। वह पाप मालूम ही नहीं पड़ता।

आज हिंसा करने वाले का कोई आदर नहीं करता, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले का अनादर ही होता है, लेकिन परिग्रही का आज भी आदर हो रहा है। जितना परिग्रह बढ़ता है वह उतना ही बड़ा आदमी माना जा रहा है। जो कि धर्म के लिए सत्य नहीं है। धर्म कहता है कि परिग्रह का समर्थन सारे पापों का समर्थन है। आप धर्म चाहते है किंतु परिग्रह को छोड़ना नहीं चाहते। इससे यही प्रतीत होता है कि आप अभी धर्म को नहीं चाहते। धर्म तो अपरिग्रह में है।

मूर्छा रूपी अग्नि के माध्यम से आपकी आत्मा तप्त है पीड़ित है और इसी के माध्यम से कर्म के बधन मे जकड़ा हुआ है। आत्मा की शक्ति इसी के कारण समाप्त प्राय हो गयी है। वह अनंत शक्ति पूर्णतः कभी समाप्त तो नहीं होती लेकिन मूर्छा के कारण सुप्त हो जाती है। जैसे आकाश में बादल छा गया जाते हैं तो सूर्य ढक जाता है। प्रकाश तो होता है दिन उग आता है लेकिन सूरज दिखायी नहीं पड़ता इसी प्रकार मूर्छा के बादलों मे ढका आत्मा दिखायी नहीं देता। आत्म-दर्शन के लिए स्वयं को परिग्रह से मुक्त करना अनिवार्य है।

दिखता है बाहर से कि आप परिग्रह से नहीं चिपके किंतु अदर से कितने चिपके है यह आप स्वय समझते हैं। लगभग पंद्रह सोलह वर्ष पुरानी घटना है। मे एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठा था। वृक्ष मे आम लगे हुए थे। बच्चे आम तोड़ने के लिए पत्थर फेंक रहे थे। मैं भी उस समय बच्चों के साथ हो गया। गृहस्थ अवस्था की बात है एक-एक करके कई पत्थर फेक दिये किंतु आम नहीं गिरे, आम की एक कोर टूटकर गिर गई। यह शायद आम की ओर से सूचना थी कि मैं इस प्रकार टूटने वाला नहीं हूँ। फिर जितनी भी पत्थर फेंका, एक कोर ही आ गयी पर पूरा आम कोई भी नहीं टूटा। पर्याप्त था मेरे लिए यह बोध जो उस आम की ओर से प्राप्त हुआ। बाहरी पदार्थों के प्रति अंतरंग जितनी गहरी मूर्छा होगी, हमारी पकड़ भी उतनी ही मजबूत होगी। पदार्थों को छोड़ना उतना ही मुश्किल होगा। पदार्थ कदाचित् हटा भी लिये जायें तो भी हमारा मन वहीं जाकर चिपक जायेगा। तो पहली बात यही है कि भीतरी पकड़ ढीली पड़नी चाहिये।

थोड़ी देर जब मैं उसी वृक्ष के नीचे रुका तो उसी समय थोड़ा सा हवा का झोंका आया और एक पका हुआ आम आकर नीचे चरणों में गिर गया। उसकी सुगंधि फैलने लगी, हरा नहीं था वह पीला था, कड़ा नहीं था मुलायम था, चूसकर देखा तो वह मीठा भी था। आनंद की अनुभति हुई। मैं सोचने लगा कि इस आम को गिरने के लिए हवा का झोंका भी पर्याप्त था। क्योंकि यह वृक्ष से जो संबंध था उसे छोड़ने के लिए तैयार हो गया। आपने कभी अनुभव किया कि उस आम ने वृक्ष से सब बंधन तोड़ दिये; ऊपर से दीखता था कि सबध जुड़ा हुआ है किंतु जरा सा इशारा पाकर वह वृक्ष से पृथक् हो जाता है। तो दूसरी बात यह मिली कि जो जितना भीतर से असम्पृक्त होगा वह बाहर से जुड़ा होकर भी इशारा पाते ही मुक्त हो जायेगा। इस तरह जब कोई मुक्त होता है तो उसकी सुगंध, उसकी मिठास आनंददायक होती है।

यह तो समय पर एकाध आम पकने की घटना हुई। लेकिन पकने की योग्यता आते ही पूर्णतः पकने से पूर्व यदि कोई होशियार माली उन्हे सावधानी से तोड़ लेता है तो भी उसे पाल मे आसानी से पकाया जा सकता है। आप समझ गये सारी बात पर भइया डरो मत मैं जबर्दस्ती आपको पकाने की बात नहीं कहूँगा। आपका ठण्डल अभी मजबूत है। इतना अवश्य है कि अपरिग्रह की बात समझ में आ जाये तो संभव है कुछ समय में पक सकते हैं। अर्थात् पदार्थों के प्रति मूर्छा कम होने के उपरांत यदि उन्हें छोड़ दिया जाए तो भी छूटना संभव है। समय से पहले भी यह घटना घट सकती है। अविपाक निर्जरा के माध्यम से साधक इसी प्रकार समय से पूर्व कर्मों को झड़ा देता है, और परिग्रह से मुक्त होकर मोक्षमार्गी होकर आत्म-कल्याण कर लेता है।

आप लोगों ने अपनी निजी सत्ता के महत्व को भुला दिया है। इसी कारण निधि होते हुएभी लुट गयी है। आप आनंद की अनुभूति चाहते हैं लेकिन वह कहीं बाहर से मिलने वाली नहीं है। वह आनंद वह बहार अपने अंदर है। बसत की बहार बाहर नहीं है वह अंदर ही है। लेकिन जो अंधा हो उसे चारों ओर बहार होते हुए भी दिखायी नहीं देती। उपयोग में जो एक प्रकार का अंधापन छाया है मूर्छा छायी है वह मूर्छा टूट जाये तो वहीं पर बसंत बहार है। आत्मा का आनंद वहीं पर है।

एक किंवदन्ति है। एक बार भगवान ने भक्त की भक्ति से प्रभावित होकर उससे पूछा कि तू क्या चाहता है? भक्त ने उत्तर दिया कि मैं और कुछ अपने लिए नहीं चाहता। बस यही चाहता हूँ कि दुखियों का दुख दूर हो जाये। भगवान ने कहा 'तथास्तु। ऐसा करो जो सबसे अधिक दुखी है उसे यहाँ लेकर आना होगा।' भक्त ने स्वीकार कर लिया। भक्त बहुत खुश था कि इतने दिनों की भक्ति के उपरांत यह वरदान मिल गया। बहुत अच्छा हुआ, अब मैं एक-एक करके सारी दुनियाँ को सुखी कर दूँगा। भक्त, दुखी की

तलाश करता है। एक-एक व्यक्ति से पूछता जाता है। सब यही कहते हैं कि और तो सब ठीक है बस एक कमी है। कोई पुत्र की कमी बताता, तो कोई धन की, कोई मकान या दुकान की कमी बता देता है पर मुझे पूर्ण कमी है ऐसा किसी ने नहीं बताया।

चलते-चलते उसने देखा कि एक कुत्ता नाली में पड़ा तड़प रहा है वह मरणोन्मुख है। उसने जाकर पूछा कि क्यों क्या हो गया है? कुत्ता कहता है कि मैं बहुत दुखी हूँ। भगवान का भजन करना चाहता हूँ। भक्त ने सोचा यह सचमुच बहुत दुखी है। इसे ले चलना चाहिये। उसने कुत्ते से कहा कि तुम दुख से मुक्ति चाहते हो तो चलो, तुम स्वर्ग चलो वहाँ पर सुख ही सुख है। मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ। कुत्ते ने कहा बहुत अच्छा! पर यह तो बताओ कि वहाँ क्या-क्या मिलेगा! सभी सुख सुविधाओं के बारे में पूछने के उपरांत कुत्ते ने आश्वस्त होकर कहा कि ठीक है चलते हैं किंतु एक बात और पूछना है कि स्वर्ग में ऐसी नाली मिलेगी या नहीं। भक्त हँसने लगा और कहा कि ऐसी नाली स्वर्ग में नहीं है। तब फौरन कुत्ता बोला कि नाली नहीं है तो फिर क्या फायदा! मुझे यहीं रहने दो, यहाँ ठंडी-ठंडी लहर आती हैं।

अब विचार करिये। कैसी यह मूर्छा है पाप-प्रणाली अर्थात् पाप रूपी नाली को कोई छोड़ना नहीं चाहता। सबके मुख से यही वाणी सुनने को मिलती है कि यहाँ से छुटकारा मिल जाये पर मांग यही है कि हम यहीं पर बने रहें। सभी सुख चाहते हैं लेकिन परिग्रह छोड़ना नहीं चाहते। आचार्यों ने विद्वानों ने सभी ने कहा है कि यह 'घर कारागृह, वनिता बेड़ी, परिजन हैं रखवारे' घर कारागृह है, गृहणी बेड़ी है बंधन है और जो परिवार जन हैं। वे रखवाले हैं। आप कहीं जायें तो वे पूछ लेते हैं कि कहाँ जा रहे हैं आप? कब तक लौटेंगे? इस प्रकार का यह मोह जाल है उसमें आत्मा जकड़ती चली जाती है और जाल में फंसकर जीवन समाप्त होता जाता है।

मूर्छा का उदाहरण रेशम का कीड़ा है। जो अपने मुख से लार उगलता रहता है और उस लार के माध्यम से वह अपने शरीर को स्वयं आवेष्टित करता चला जाता है। वह लार रेशम की तरह काम आती है जिसके लिए रेशम के कीड़े को जिंदगी से हाथ धोना पड़ता है। यह उसकी ही गलती है, उसका ही दोष है वह चाहे तो उससे बाहर आ सकता है लेकिन लार इकट्ठी करने का मोह नहीं छूटता, और जीवन नष्ट हो जाता है। संसारी आत्मा भी प्रत्येक समय रागद्वेष मोह मद मत्सर के माध्यम से स्वयं के परिणामों को विकृत बनाता रहता है जिसके फलस्वरूप अनंत कर्म वर्गणाएं आकर चिकपती चली जाती हैं और यह बंधन की परम्परा अक्षुण्ण चलती रहती है।

आत्मा को न कोई दूसरा सुखी बना सकता है न कोई दूसरा इसको दुखी बना सकता है। यह स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा सुखी बन सकता है और स्वयं ही दुखी बना

हुआ है। यह अजर है अमर है इसे मिटाने वाला कोई नहीं है। यह चाहे तो रागद्वेष मोह को मिटाकर अपने संसार को मिटा सकता है और अपने शाश्वत स्वभाव में स्थित होकर आनंद पा सकता है। यह संभाव्य है। उन्नति की गुंजाइश है। किंतु उन्नति चाहना बहुत कठिन है। आप प्रत्येक पदार्थ को चाह रहे हैं किंतु निजी पदार्थ की चाह आज तक उद्‌भूत नहीं हुई। मोह की मूर्छा बहुत प्रबल है। पर ध्यान रहे मोह जड़ पदार्थ है और आप चेतन हैं, मोह आपको प्रभावित नहीं करता किन्तु आप स्वयं मोह से प्रभावित होते हैं।

आत्मा की अनंत शक्ति को जागृत करके आप चाहें तो अतीत में बंधे हुए मोह कर्म को क्षणभर में हटा सकते हैं। आप सोचते हैं कि कर्म तो बहुत दिन के हैं और इनको समाप्त करना बहुत कठिन है तो ऐसा नहीं है। एक प्रकाश की किरण अनंतकाल से संचित अंधकार को मिटाने के लिए पर्याप्त है। 'मोह' बलवान नहीं है यह आपकी कमजोरी है मन के हारे हार है मन के जीते जीत। आप कमजोर पड़ जाते हैं तो कर्म बलवान मालूम पड़ने लगते हैं। आपके मकान की दीवार से हवा टकराती हुई जा रही है किंतु कोई असर नहीं होता। यदि उस दीवार पर आप थोड़ी सी चिकनाहट लगा लें तो वहाँ हवा के साथ आयी हुई धूलि चिपकना प्रारम्भ हो जायेगी। यह ऐसा क्यों हुआ तो चिकनाहट के कारण हुआ। इसी प्रकार हमारे परिणामों की विकृति के कारण नित्य नये कर्म आते रहते हैं और परम्परा चलती रहती है। हम यदि अपने भावों की संभाल करें तो इस संतति को तोड़ सकते हैं।

तेली के बैल को कोल्हू से बांध दिया जाता है आंखे बंद कर दी जाती हैं। बैल सोचता रहता है कि सुबह से लेकर शाम हो गयी मेरा सफर चल रहा है शाम को कोई अच्छा स्थान मिल ही जायेगा, बहुत चल चुका हूँ पर शाम को जब पट्टी हटती है तब ज्ञात होता है कि मैं तो वहीं पर हूँ जहाँ सुबह था। इसी प्रकार हमारी दशा है। यदि सावधान नहीं होंगे तो मोह की परम्परा कोल्हू के बैल की तरह निरंतर चलती रहेगी और हम संसार में वहीं के वहीं घूमते रह जायेंगे। अगर गौर से देखें तो अर्जित कर्म बहुत सीमित हैं और संकल्प अनन्त हैं। तेरे मेरे का संकल्प यदि टूट जाये तो कर्म हमारा बिगाड़ नहीं कर सकते। "तूने किया विगत में कुछ पुण्य पाप, जो आ रहा है उदय में स्वयमेव आप। होगा न बंध तबलौं जबलौं न राग, चिंता नहीं उदय से बन वीतराग।" अज्ञान दशामें मोह के वशीभूत होकर जो कर्म किया है उसका उदय चल रहा है किंतु उदय मात्र अपने लिए बंध कारक नहीं है अपितु उदय से प्रभावित होना हर्ष विषाद करना हमारे लिए बंधकारक है। उस उदय से प्रभावित होना हमारी कमजोरी है। यदि हम उदय से प्रभावित न हों तो उदय आकर जा रहा है।

मोह का कार्य भोगभूमि की संतान उत्पत्ति जैसा है जब तक मोह सत्ता में है तब तक उसका कोई प्रभाव उपयोग पर नहीं है। किंतु जब उदय में आता है उस समय रागी-द्वेषी संसारी प्राणी उससे प्रभावित हो जाता है इसलिए वह अपनी संतान छोड़कर चला जाता है। भोगभूमि काल में पल्योपम आयु तक जोड़े भोग में लगे रहते हैं किंतु संतान की प्राप्ति नहीं होती, अंत में मरण से पूर्व में नियम से एक जोड़ा छोड़ कर चले जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। जिनेंद्र भगवान का उपदेश इतना ही संक्षेप में है कि राग करने वाला बंधन में पड़ता है और द्वेष करने वाला भी बंधन को प्राप्त होता है किंतु वीतरागी को कोई बांध नहीं सकता।

सुख-दुख मात्र मोहनीय कर्म की परिणति है। मोह के कारण ही हम स्वयं को सुखी दुखी मान लेते हैं। "मैं सुखी दुखी मैं रंक राव। मेरे गृह धन गोधन प्रभाव। मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीण।'' यह अज्ञानता ही संसार का कारण है। जीव इस रूप नहीं है फिर भी इस रूप स्वयं को मानता चला जा रहा है। 'पर' में सुख मानना ही परिग्रह को अपनाना है और 'स्व' में सुख मानना ही परिग्रह से मुक्त होना है।

अरब देश से एक बार कुछ श्रीमान यहाँ भ्रमण हेतु आये। ऐसा कहीं किसी से सुना था। वे यहाँ किसी रेस्ट हाउस में ठहर गये। वहाँ उनका सब प्रकार का प्रबंध था। गर्मी का मौसम था इसलिए दिन में तीन बार भी स्नान की व्यवस्था थी। अरब देशों में पानी की बड़ी कमी रहती है। यहाँ इतना पानी देखकर एक व्यक्ति को उनमें से बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने टूँटी को थोड़ा घुमाया तो तेजी से पानी आता देखकर सोचने लगा कि अरे यह तो बहुत अच्छा है। टूंटी से पानी आता है। उसने नौकर को बुलाकर पूछा कि ऐसी टूटी और मिल जायेंगी। नौकर ने कहा कि हाँ मिल जायेंगी। परआप क्या करेंगे? व्यक्ति बोला पानी के काम आयेगी। नौकर समझ गया कि यह व्यक्ति धोखे में है। उसने कहा कि टूंटी मंहगी मिलेगी हमारे पास और भी हैं पर प्रत्येक का सौ रुपया लगेगा।

उस व्यक्ति ने दस बीस टूंटी खरीद कर बैठक में रख लीं। रात में जब सब साथी सो गये तो 'उसने चुपके से एक टूंटी निकाली और उसे घुमाया पर उसमें से पानी नहीं निकला। सोचने लगा बात क्या हो गयी। दूसरी टोंटी को परखा फिर वही बात। एक-एक करके सारी टूंटियाँ परख ली पर पानी किसी में से नहीं आया। एक पास में लेटा-लेटा सब देख रहा था। उसने कहा कि यह क्या पागलपन कर रहे हो। वह व्यक्ति बोला कि मेरे साथ धोखा हो गया। टूंटी में से पानी आता देखकर मैंने सोचा कि अपने यहाँ पानी की कमी है टूंटी खरीद लें तो वहाँ पर पानी ही पानी हो जायेगा। तब उस व्यक्ति

को समझाया उसके साथी ने कि भइया, टूंटी में पानी थोड़े ही है पानी तो टंकी में था। उसी में से उसमें आ रहा था। पानी इसमें नहीं है इसमें से होकर आता है।

इसी प्रकार सुख इस शरीर में नहीं है बाहरी किसी सामग्री में नहीं है। आप टूंटी वाले की अज्ञानता पर हंस रहे हैं। आपने भी तो टूंटियाँ खरीद रखी हैं इस आशा से कि उनसे सुख मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ न कुछ खरीद रखा है और उसके माध्यम से सुख चाहताहै। शान्ति चाहता है। मकान एक टूंटी, फ्रिज एक टूंटी। आप लोगों ने टूंटियाँ खरीदने में ही जीवन व्यतीत कर दिया। इनमें से सुख थोड़े ही आने वाला है यदिआता तो आ जाता आज तक। आप दूसरे के जीवन की ओर मत देखो। हमारा अपना जीवन कितना मोहग्रस्त है यह देखो सुख अपने भीतर है। सुख इन बाह्य वस्तुओं (टूंटियों) मे नहीं है सुख का सरोवर अंदर लहरा रहा है उसमें कूद जाओ तो सारा जीवन शांत और सुखमय हो जाये। अंत में मैं आपको यही कहना चाहूँगा कि यह स्वर्ण अवसर है मानव के लिए उन्नति की ओर जाने के लिए, आप सब बाह्य उपलब्धियों को छोड़कर एक बार मात्र अपनी निज सत्ता का अनुभव करें इसी से सुख और शान्ति की उपलब्धि हो सकती है। दुनिया में अन्य कोई भी वस्तु सुख शान्ति देने वाली नहीं है। सुख शान्ति का एकमात्र स्थान आत्मा है।

□□

□ अचौर्य

जिन्होंने इस विश्व का समस्त ज्ञान प्राप्त कर लिया ऐसे सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी भगवान ने हमारे आत्म कल्याण के लिए एक सूत्र दिया है वह है अस्तेय। अचौर्य व्रत। 'स्तेय' कहते हैं अन्य पदार्थों के ऊपर अधिकार जमाने की आकांक्षा; 'पर' पदार्थों पर आधिपत्य रखने का वैचारिक प्रयास जो कभी संभव नहीं है फिर भी उसे संभव बनाने का मिथ्या भाव। चोरी का सीधा सा अर्थ है पर का ग्रहण करना। इस बात को हमें स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि 'स्व' के अलावा 'पर' के ऊपर हमारा अधिकार नहीं हो सकता। 'स्व' क्या है और 'पर' क्या है जब तक यह ध्यान नहीं होगा और 'पर' को हम जब तक 'स्व' बनाने का प्रयास करते रहेगे तब तक इस संसार से निस्तार संभव नहीं है।

हम 'स्व' को पहचान नहीं पा रहे हैं। विस्मृति प्रत्येक संसारी जीव को 'स्व' की ही हुई है। 'पर' की विस्मृति आज तक नहीं हुई। 'पर' को हमने कभी 'पर' नहीं माना, 'पर' को 'पर' समझना अत्यंत आवश्यक है। 'पर' को 'स्व' मान लेना या 'पर' जानते हुये भी उसे अपना लेने का भाव ही चोरी है। आप अपने को साहूकार मानते हैं तो सच्चा साहूकार तो वही है जो ऐसे भाव नहीं लाता जो पर की चीजों पर दृष्टिपात भी नहीं करता, अपना आधिपत्य जमाने का रंचमात्र भी प्रयास नहीं करता। आत्मा के पास ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग है। जानने देखने की शक्ति है, भगवान तीन लोक को स्पष्ट जानते देखते हैं। लेकिन हमारे जानने देखने और उनके जानने देखने में बहुत अंतर है। हमारी दृष्टि में मात्र देखना नहीं है; हमारी दृष्टि में पदार्थ को लेने के भाव हैं, प्राप्ति के भाव हैं और उनकी दृष्टि में मात्र दर्शन है।

एक दार्शनिक ने जगत के बारे में लिखा है कि दूसरा जो भी है वही दुख है वही नरक है। भगवान महावीर स्वामी ने बहुत पहले कह दिया था कि दूसरा नरक नहीं है बल्कि दूसरे को पकड़ने की जो भाव दशा है वह हमारे लिए दुख और नरक का कारण बनती है। पकड़ना चोरी, ग्रहण का भाव करना चोरी है किसी का होना या किसी को जानना चोरी नहीं है। जब तक हमारी दृष्टि लेने के भाव से भरी हुई है वह निर्मल दृष्टि नहीं है।

लौकिक क्षेत्र में चोरी करना एक बहुत बड़ा पाप माना गया है और चोरी करने

वाला सज्जन या नागरिक नहीं कहलाता उसे सभी चोर कहते हैं। इस राजकीय कानून से डरकर आप राजकीय सत्ता के अनुरूप चल देते हैं किंतु चोरी से बचते नहीं हैं कोई न कोई पगडंडी निकाल लेते हैं। तब भले ही कानून आपको दंडित नहीं कर पाता किंतु सैद्धान्तिक रूप से आप दण्डित हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अभिनंदन भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि हे भगवान! यह संसारी प्राणी राजा के भय से, माता पिता या अपने से बड़ों के भय से, बलवानों के भय से अन्याय अत्याचार और पाप तो नहीं करता किंतु करने का भाव भी नहीं छोड़ता। ऊपर से भले ही बच जाता है पर अंदर से भावों में नहीं बच पाता।

राजकीय सत्ता का अधिकार मात्र अपराध के ऊपर है और वह अपराधी को दंडित भी करती है लेकिन अपराधी के भावों के ऊपर उसका भी अधिकार नहीं चलता। भावों पर अधिकार चलाने वाला तो स्वयं हमारा कर्म है। कर्म की शक्ति आणविक शक्ति से भी अधिक है। वह कर्म आपके चारों ओर हैं गुप्तचरों की तरह, जहाँ कहीं भी आपका स्खलन देखने मे आया वहीं आपको बंधन में डाल देता है। राजकीय सत्ता तो मात्र हाथ पैर में बेड़ी डालती है, तालों में बंद कर सकती है किंतु कर्म आपकी आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। आप बचकर नहीं जा सकते। यह भाव-दंड निरंतर मिलता रहता है। आप वर्तमान में मात्र सांसरिक जेल में न जाना पड़े उससे बचने का उपाय करते है किंतु वास्तविक रूप से जब तक भावों के द्वारा चौर्य कार्य से नहीं बचेंगे तब तक साहूकार नहीं कहलायेंगे। भावों के द्वारा चौर्य कार्य से बचें तभी साहूकार कहलायेंगे और साहूकारी का मजा भी आपको तभी मिल पाएगा।

आप अभी मात्र बाहर से बच रहे हैं। राज्य सत्ता भी बचने के लिए बाध्य कर रही है लेकिन आप कहीं न कहीं से पगडंडी निकालकर भावों के द्वारा चोरी कर रहे हैं। महाराज बिना चोरी के तो आज कार्य चल ही नहीं सकता, कई लोगो से ऐसा सुना मैंने, सुनकर दंग रह गया मैं। आपने इस चौर्य कर्म को इतना फैला लिया कि इसके बिना अब काम ही नहीं चलता एक प्रकार से यह राजमार्ग ही बन गया। ऊपर से आप कह रहे हैं कि चोरी करना पाप है और अंदर क्या भावों मे घटाटोप छाया है यह तो आप ही जानते हैं। यह ठीक नहीं है।

एक समय की बात है। एक ब्राह्मण प्रतिदिन नदी पर स्नान करने जाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी भी उसके साथ गई। ब्राह्मण स्नान करने के बाद सूर्य के सामने खड़े होकर रोज की भांति जल समर्पण करने लगा। मुख से उच्चारण करने लगा कि जय हर हर महादेव, जय हर हर महादेव और मन में जो है सो है ही' यह समझ में नहीं आया। पास ही स्नान करते हुए एक मित्र ने पूछा कि भैया आज क्या बात है? यह जय हर हर महादेव के साथ आप क्या कह रहे हैं। वह ब्राह्मण हंसने लगा बोला, कुछ खास नहीं भइया, मैं प्रतिदिन जय हर हर गंगे, हर हर गंगे कहता था पर

आज मेरी पत्नी भी साथ में आयी है और उसका नाम गंगा है इसलिए आज कैसे कहूँ। इसलिए कहता हूँ कि जय हर हर महादेव मन में जो है सो है ही।

आप भी यही कह रहे हैं ऊपर से कह रहे हैं कि हम चोरी नहीं करेंगे पर भीतर करे बिना नहीं रहेंगे क्योंकि मन में जो है सो है ही। मात्र बाहर से छोड़ना, छोड़ना नहीं है अंदर से छूटना चाहिये। हम दूसरे पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते इसलिए उसका विमोचन भी नहीं कर सकते – यह कहने में आता है किंतु वस्तु व्यवस्था इतनी आसान नहीं है, वस्तुतः हम किसी पर पदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकते किंतु वैभाविक दशा में भावों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है। जिस समय ग्रहण का भाव आता है उसी समय कर्म का बंधन हो जाता है। इस बंधन को समझना चाहिये। राज्य-सत्ता आपके शरीर और वाणी पर नियंत्रण रखती है लेकिन कर्म की सत्ता आपके भावों का भी ध्यान रखती है। जो इन दोनों के बीच अपने को साहूकार बनाने में लगा है वह जिनेंद्र भगवान के मार्ग का प्रभावक है और अपनी आत्मा का भी उत्थान कर रहा है।

बाह्य और अभ्यंतर ये दोनों कार्य अनिवार्य हैं। बाहर से तो जेल से बचना ही है पर अंदर से भी जब तक नहीं बचेंगे तब तक हमारी निधि क्या है यह आप लोगों को विदित नहीं हो पायेगा। कर्म सिद्धांत को जानकर अपना आचरण करना चाहिये। कारा मात्र बाहर नहीं है जहाँ कहीं मलिन भाव है वहीं पर कारा है। और कारा में रहने वाला तो अपराधी है। हम जब यहाँ आये तो एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज! आप जयपुर आये हैं तो एक प्रवचन यहाँ कारागृह में भी दें तो अच्छा रहेगा। मैं सोच में पड़ गया कि क्या यह कारागृह नहीं है? संसार भी तो कारा है यह देह भी तो कारा है। जो इसे कारा नहीं समझता वह भूल में है। आप मात्र बाहर राज्य के द्वारा निर्मित जेल को जेल मानते हैं किंतु वास्तव में आत्मा के विपरीत परिणमन ही जेल है। जब तक यह बात समझ में नहीं आयेगी तब तक आत्मा लुटती जायेगी हम अपराधी बने रहेंगे, दरिद्र और दीन होकर भटकते रहेंगे। आप आत्मा को इस कारा से निवृत करने का प्रयास करें।

'छूटे भव-भव जेल' भव-भव में जो परिभ्रमण करना पड़ रहा है वह जेल है। चारों गतियाँ क्या जेल नहीं हैं? दूसरे को जो बाहरी जेल में कैद है उसे कैदी कहने से पहले सोचना चाहिये कि मैं स्वयं कैदी हूँ। यह देह रूपी कैद ही हमारे कैदी और अपराधी होने की प्रतीक है। अनादिकाल से हम अपराध करते आरहे हैं आज तक इस विस्तृत जेल से छूटने का भाव नहीं किया। प्रत्येक समय गल्ती करते जा रहे हैं। यह भी नहीं समझ पा रहे हैं कि 'हम अपराधी हैं' या नहीं। जब तक कहीं कोई एक अपराधी रहता है तब तक वह अनुभव करता है कि हां मैं अपराधी हूँ मैंने अपराध किया है, मैं अपराध का यह दंड भोग रहा हूँ। लेकिन जब अपराधियों की संख्या बढ़ जाती है तो उनमें भी मजा आना प्रारम्भ हो जाता है। भूल जाते हैं कि मैं

अपराधी हूँ।

भाई! शरीर को कारागृह समझो। बहुमत हो जाने से सत्य को मत भूलो। सत्य की पहचान बहुमत के माध्यम से नहीं होती, सत्य की पहचान भावों के ऊपर आधारित है। इसलिए सत्य को पाने के लिए अहर्निश अपने परिणामों को सुधारने का प्रयास करना चाहिये। बाहरी स्थिति में साहूकार होना, अपनी स्थिति सुधारना ठीक है किंतु इतना सा ही हम लोगों का धर्म नहीं है। इस बाहरी साहूकारी से हम लोग एक पल में कुछ इन्द्रिय सुख भले पा लेंगे यश ख्याति मिल जायेगी किंतु जो विकारी परिणति है उसे हटाये बिना हम अनंत आनंद की अनुभूति नहीं कर सकेंगे। यह भवभ्रमण मिटने पर ही आनंद की अनुभूति होना प्रारम्भ होगी।

अध्यात्म में 'पर' वस्तु के ग्रहण का भाव ही चोरी माना गया है। ग्रहण का संकल्प पूर्ण हो या न हो, उसके विचार साकार हों या न हों पर मैं ग्रहण करूँ इस प्रकार का भाव ही चोरी है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व भिन्न है उस अस्तित्व पर हमारा अधिकार संभव नहीं है यह समझना प्रत्येक संसारी प्राणी के लिए अनिवार्य है। भावों में प्रत्येक स्वतंत्र है। लौकिक जेल में रहने वाला भी भाव के माध्यम से निरंतर चोरी कर सकता है। पराई वस्तु पर दृष्टि भले ही जाये पर उसे ग्रहण करने का भाव न हो तो अचौर्य वहीं पर है। भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानंद रसलीन सो जिनेंद्र जयवंत नित, अरिरज रहस विहीन।'' भगवान ने विश्व को जाना विश्व के समस्त ज्ञेयरूप पदार्थों को जाना किंतु आनंद की अनुभूति विश्व में नहीं की निज में की।

आप दूसरे पदार्थों में लीन हैं और समझ रहे हैं कि बहुत सुखी हो गये हैं। हमारा ज्ञान भी सकल न होकर 'शकल' को जानने वाला है। 'शकल' का अर्थ है टुकड़ा अर्थात् थोड़ा या शकल अर्थात् ऊपर का आकार इतना ही हम जानते हैं वह अपूर्ण ज्ञान भी हमारे लिये भले ही बाहर से संतुष्टि दे लेकिन भीतर संतुष्ट नहीं कर पाता। हमारा ज्ञान और आनंद ऐसा है कि शकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि धनानंद रसलीन। यही कारण है कि हमारी आत्मा लुटती जा रही है। सत्य जीवन से खोता जा रहा है। सत् का कभी विनाश नहीं होता लेकिन सत् का विभाव रूप परिणमन होना ही सत् का खोना है। जो सत्य का अनुपालन करेगा वह स्तेय-कर्म को नहीं अपनायेगा। जो अपने सत् को पा लेगा वह परायी सत्ता पर अधिकार का भाव क्यों करेगा?

एक उदाहरण सुना था, यद्यपि वृतांत लौकिक है किंतु उस लौकिकता के माध्यम से भी परलौकिक सिद्धांत की ओर दृष्टि जा सकती है। एक व्यक्ति रोगी था। मस्तिष्क का कोई रोग था। बहुत दिन से पीड़ा थी। इलाज के लिए उसने बहुत सा पैसा चोरी झूठ आदि करके, अन्याय करके एकत्रित किया और अस्पताल में भर्ती हो गया। मस्तिष्क का ऑपरेशन हुआ। शल्य चिकित्सा अच्छी हुई। मित्रों ने पूछा कि क्यों भाई ठीक हो

उसने कहा कि पहले से बहुत अच्छा हूँ, बहुत आराम है। अचानक डॉक्टर ने कहा क्षमा करिये हमने आपरेशन तो ठीक कर दिया पर मस्तिष्क तो बाहर ही रह गया हालाकि ऐसा सभव नहीं है पर व्यग जैसा है। तब रोगी कहता है कि कोई बात नहीं उसके बिना भी काम चल जायेगा। क्योंकि मैं सरकारी नौकरी करता हूँ।

यह सुनकर पढकर मुझे लगा कि देखो किस तरह हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हो रहे हैं। डॉक्टर और मरीज दोनों सरकारी सेवा में हैं लेकिन कोई अपना कार्य सुचारू रूप से नहीं करता। यह काम चोरी है। इस तरह करने वाला कभी सत्य और अस्तेय दोनों को नहीं पा सकता। ऐसी स्थिति मे साहूकार नहीं हुआ जा सकता। आज तो लोग चोरी करते हुए भी स्वय को साहूकार मान रहे है ज्ञायक और शुद्ध पिंड मान रहे हैं जिसमे 'पर' का किसी प्रकार से भी सद्भाव नहीं है। अधाधुध चोरी चल रही है और कह रहे हैं जो कुछ होता है कर्म की देन है आत्मा बिल्कुल अबद्ध असपृक्त और अस्पृष्ट है। आत्मा अपने मे है 'पर' 'पर' मे है प्रत्येक का द्रव्य भिन्न स्वभाव भिन्न है। इस प्रकार एकात से मानना निर्णय मे लेना ठीक है? क्या यह सचाई है? यह तो एक प्रकार की कायरता है। एक प्रकार से पुरुषार्थ विमुख होना है।

मानव होकर भी हमारा जीवन 'पर' मे चल रहा है। इस प्रकार का जीवन तो तिर्यंच भी व्यतीत करते रहते हैं मात्र जीवन को चलाना नहीं है जीवन अपने आप अनाहत चल रहा है। जीवन को उन्नति की ओर बढाने में ही मानव जीवन की सफलता है। यह सत्य और अचौर्य की उन्नति की खुराक है। जीवन तो असत्य से भी चल सकता है चोरी के साथ भी चल सकता है किंतु वह जीवन नहीं भटकन है। यदि उन्नति चाहिये विकास चाहिये उत्थान चाहिये तो अपनी आत्मा को अपराध से मुक्त करने का प्रयास करना होगा। चाहे कल करो या आज विकारों से रहित वीतरागता की अनुभूति के बिना सर्वज्ञत्व की प्राप्ति सभव नहीं हैं

अनादिकाल की पीडा तभी मिटेगी। जब हम पाप भाव से मुक्त होकर आत्म स्वभाव की ओर बढेंगे। पीडा सिर्फ इतनी नहीं है कि भूख लग आई या धन नहीं हैं मकान दुकान नहीं है वस्तुत पीडा यह है कि हमारा ज्ञान अधूरा है और हम समझ रहे हैं कि हम पूर्ण हैं। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि मैं साहूकार हूँ। ठीक है। क्या चोरी के त्याग का सकल्प लिया है? यदि त्याग का सकल्प नहीं है तो 'पर' के ग्रहण का भाव अवश्य होगा। 'पर' के ग्रहण का भाव छोडे बिना कोई साहूकार नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को चोर मान रहा है और स्वय को साहूकार सिद्ध करताहै। यह तो चोर के द्वारा चोर को डाटने जैसा हुआ। अपनी चोरी की गलती को पहचान करके उसे छोडने का प्रयास करना चाहिये। जिस जीव के चोरी के भाव रहते हैं उसी जीव को चोर कहा जाता है। जिस क्षण छोडने के भाव हैं उस क्षण वह साहूकार है।

आप चोर से नहीं बल्कि चौर्य भाव से बचिये। पापी से नहीं पाप से घृणा करिये।

अनादिकाल से चोरी का कार्य जिसने किया है तो भी यदि आँख खुल गई, अब यदि दृष्टि मिल गयी, ज्ञात हो गया कि अभी तक अनर्थ किया है अब उसे छोड़ता हूँ अब चोरी से निवृत्ति लेता हूँ तो वह अब चोर नहीं है। आप संसारी कब तक कहलायेंगे? जब तक संसार के कार्य करते रहेंगे। जब उनको छोड़ देंगे, वीतराग बनकर विचरण करेंगे तो मुक्त कहलायेंगे। इसलिए यदि चोर की चोरी छुड़ानी है तो उसे चोर मत कहो बल्कि उसे समझाओ कि तुम्हारा यह कार्य ठीक नहीं है। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि चोरी से मुक्त होओ। यदि हम उसे डांटेंगे तो सुधरने की संभावना कम है। प्रत्येक समय भावों का पर्णमन हो रहा है। सभव है उस समय भयवश वह चोरी के भाव छोड़ दे बाद में पुनः बड़ा चोर बन जाये। उसे इस तरह कुछ कहा जाये कि वह स्वयं ही चौर्य भाव को बुरा मानकर छोड़ दे।

भगवान महावीर ने हमें यही कहा कि प्रत्येक व्यक्ति में प्रभुत्व छिपा है जैसा मैं निर्मल हूँ वैसे ही आप भी उज्ज्वल बन सकते हैं राग का आवरण हटाना होगा। जैसे स्फटिक मणि धूल में गिर जाये और पुनः उसे उठाकर धूल साफ कर दें तो चमकती हुई नजर आयेगी। ऐसी ही हमारी आत्मा है। धूल में पड़ी है उसे उठाकर चमकाना है। एक बात और ध्यान रखना कि दूसरे को चोर कहने का तब तक हमारा अधिकार नहीं है जब तक हम साहूकार न हो जायें। इस तरह लगेगा कि सारी लौकिक व्यवस्था ही बिगड़ जायेगी। मैं बाह्य व्यवस्था फेल करने के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि अपने आप को चोरी से मुक्त करके पूर्ण साहूकार बनने के लिए कह रहा हूँ। मात्र बाहर से नहीं अंदर आत्मा में साहूकार बनो।

जब यह रहस्य एक राजा को विदित हुआ तो वह राजा अपनी सारी सम्पदा व परिवार को छोड़कर जंगल को चले गये। किसी से कुछ नहीं बोले और घने जंगल में जाकर आत्मलीन हो गये। जो ग्रहण का भाव था मन में, वह भी सब राजकीय सत्ता को छोड़ते ही छूट गया। वे सभी से असंपृक्त हो गये। बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन परिवार के लोगों को उनके दर्शन के भाव जागृत हुए और दर्शन करने चल पड़े। संकल्प कर लिया था इसलिए रास्ता कठिन होने पर भी पहुँच गये। चलते-चलते मिल गये मुनि महाराज। देखते ही उल्लास हुआ। बीते दिन की स्मृति हो आयी। पत्नी सोचती है कि देखो वे ही राजा, वही पतिदेव, वही तो हैं सब कुछ छोड़ दिया कोई बात नहीं जीवित तो हैं। माँ सोचती है मेरा लड़का है अच्छा कार्य कर रहा है।

सभी प्रणिपात करते हैं चरणों में। मुनि महाराज सभी को समान दृष्टि से आशीष देते हैं। सभी की इच्छा थी कि कुछ बोलेंगे। पर वे नहीं बोले। सभी ने सोचा कोई बात नहीं मौन होगा। सभी नमोस्तु कहकर वापिस चलने को हुए पर आगे रास्ता विकट था इसलिए माँ ने कहा कि महाराज आप तो मोक्षमार्ग के नेता हैं, मोक्षमार्ग बताने वाले हैं। लेकिन अभी मात्र इस जंगल से सुरक्षित लौटने का मार्ग बतादें। मुनिराज निर्विकल्प

रहे और मौन नहीं तोड़ा। मौन मुद्रा देखकर माँ ने सोचा कोई बात नहीं यही मार्ग ठीक दीखता है और सामने के मार्ग पर चले गये। कुछ दूर बढ़ने के उपरांत एक चुंगी चौकी थी, जो अब डाकुओं के रहने का स्थान बन गया था। राजघराने को देखकर डाकुओं ने रोक लिया और कहा कि जो कुछ भी तुम्हारे पास है वह रखते जाओ। वह माँ, पत्नी, लड़का सभी दंग रह गये, घबरा गये।

माँ बोली– अरे! यह तो अन्याय हो गया। अब कहीं भी धर्म नहीं टिकेगा। अब कहीं भी शरण नहीं है। हमने तो सोचा था, हमारा लड़का तीनलोक का नाथ बनने जा रहा है वह मार्ग प्रशस्त करेगा, आदर्श मार्ग प्रस्तुत करेगा, दयाभाव दिखायेगा और वही इतना निर्दयी है कि यह भी नहीं कहा कि इस रास्ते से मत जाओ, आगे डाकुओं का दल है। ओहो! काहे का धर्म काहे का कर्म। धिक्कार है ऐसे पुत्र को। जिसने अपनी मां के ऊपर थोड़ी भी करुणा बुद्धि नहीं रखी वह क्या तीन लोक के ऊपर करुणा कर सकेगा। ठीक ही कहा है कि संसार में कोई किसी का नहीं है। डाकुओं का सरदार सारी बात सुनता रहा और अपने साथियों से कहा कि इन लोगो को मत छेड़ो। फिर उस माँ से पूछा कि माँ तू क्या कह रही है। यह अभिशाप किसे दे रही है। माँ कहती है कि मैं आपके लिए नहीं कह रही हूँ। मैं तो उसके लिए कह रही हूँ जिसे मैंने जन्म दिया, जो यहाँ से कुछ दूरी पर बैठा है वह नग्न साधु। वही था मेरा लड़का। घर छोड़कर आ गया। जब तक घर पर था प्रजा की रक्षा करता था, यहाँ पर आ गया तो माँ को भी भूल गया। थोड़ा भी उपकार नहीं किया। रास्ता तक नहीं बताया कि कौन सा ठीक है।

सरदार सारी बात समझ गया। सभी डाकू अभी इसी रास्ते से आये थे, रास्ते में नग्न साधू मिला था उसे पत्थर मारकर नंगा कहकर चले आये थे उस समय भी उसके मुख से वचन नहीं निकले थे। शांत बैठा था। सचमुच वह बड़ा श्रेष्ठ साधु है। हमने गाली दी थी और आप उसकी माँ थी आपने प्रणिपात किया था चरणो में उसने हमारे लिए अभिशाप नहीं दिया और आपके लिए वरदान नहीं दिया। इतना कहकर उस डाकुओं के सरदार ने पहले माँ के चरण छू लिये और बोला कि 'धन्य हो माँ! जो आपकी कोख से इस प्रकार का पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ जिसकी दृष्टि में संसार में सभी के प्रति समान भाव हैं ऐसे व्यक्ति का मैं अवश्य दर्शन करूँगा जिस व्यक्ति की दृष्टि में समानता आ जाती है वह व्यक्ति सामने वाले वैषम्य को भी श्रद्धा के रूप में परिणत कर देता है। वह सभी डाकू लोग मुनिराज के पास चले गये और नतमस्तक होकर कहा कि हमें भी अपना शिष्य बना लीजिये और समर्पित हो गये।

डाकू भी जब रहस्य को समझ लेते हैं तो डाकूपन को छोड़ देते हैं। माँ सोचती है 'यदि मुनिराज उस समय मुझे रास्ता दिखाते तो ये डाकुओं का दल दिगम्बरी दीक्षा नहीं ले पाता। उनका वह मौन उनकी वह समता दया शून्य नहीं थी। वह तो समता

मुद्रा थी जिसमें प्राणी मात्र के लिए अभय था।' पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि 'अवाक् विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्ग– वह नग्न दिगम्बर मुद्रा ऐसी है जो मौन रहकर भी सारे विश्व को मोक्षमार्ग का उपदेश देती है सही मार्ग दिखाती है। चोर और साहूकार सभी के प्रति समता भाव जागृत होना चाहिये। क्योंकि चोर और साहूकार यह तो लौकिक दृष्टि से है। अंदर सभी के वही आत्मा है वही चेतन है, वही सत्ता है जिसमें भगवान बनने की क्षमता है। ऊपर का आवरण हट जाये तो अदर तो वही है। राख में छिपी अग्नि है। राख हटते ही वही उजाला वही उष्णता है जो विकारों को जला देती है। इस घटना मे समझने योग्य है उन मुनिराज की समता, उस माँ की ममता और उन डाकुओं की क्षमता जो जीवन भर के लिए डाकूपने का त्याग कर साधुता के प्रति समर्पित हो गये।

डाकू मात्र जगल में ही नहीं हैं, डाकू यहाँ भी हो सकते हैं। जिसके भीतर दूसरे को लूटने, दूसरं की सामग्री हड़पने या 'पर' को ग्रहण करने का भाव है उसे क्या कहा जायेगा? आप स्वय समझदार हैं। बंधुओ! समता भाव आये बिना हम महावीर भगवान को पहचान नहीं पायेंगे। राग की दृष्टि, व्यसन की दृष्टि कभी वीतरागता को ग्रहण नहीं कर सकती। उसे वीतरागता में भी राग दिखाई पड़ेगा लेकिन जिम व्यक्ति की दृष्टि वीतराग बन गयी उसकी दृष्टि में राग भी वीतरागता में ढल जाता है।

संसारी जीव यद्यपि पतित है लेकिन पावन बनने की क्षमता रखता है। स्वयं पावन बनकर दूसरो को भी पावन बनने का मार्ग दिखा सकता है। हमारी दृष्टि में समता आ जाये हमारी परिणति उज्ज्वल हो और इतनी सुंदर हो कि जगत् को भी सुंदर बना सकें। सही दिग्दर्शन करके प्राणी मात्र के लिए आदर्श बना दें। इसके लिए पुरुषार्थ आपेक्षित है, त्याग आपेक्षित है इसके लिए सहिष्णुता, समता, संयम और तप आवश्यक हैं अस्तेय महाव्रत समता का उपदेश देता है। चोर को चोर न कहकर उसे साहूकार बनना सिखाता है। यही इसकी उपयोगिता है। इसे अपने जीवन में अंगीकार करके आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये।

□□
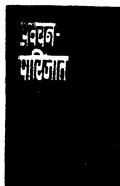
प्रवचन-
पारिजात

□ प्रवचन पारिजात

☐ जीव-अजीव तत्त्व

सात तत्त्वों में जीव तत्त्व को प्रथम स्थान मिला है। प्रथम स्थान क्यों मिला इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यों ने लिखा है कि प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता जीव ही है। भोक्ता का अर्थ यहाँ संवेदन करना है। मुक्ति जो भी मिलेगी वह जीव तत्त्व को ही मिलेगी क्योंकि वही मुक्ति का संवेदन कर सकता है। अजीव तत्त्व को मुक्ति मिलने, ना मिलने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि वह संवेदन-रहित है।

हम जीव होते हुए भी मुक्त नहीं है यह बात विचारणीय है। आचार्य अमृतचंद्र जी पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुये कहते हैं कि वह परम ज्योति जयवंत रहे जिस ज्योति में संसार के समस्त पदार्थ अपनी भूत, भावी, एवं वर्तमान समस्त पर्यायों सहित स्पष्ट झलक रहे हैं। यहाँ गुणों की आराधना की गयी है। वास्तव में जब हम गुणो की आराधना करते हैं तो गुणी की आराधना अपने आप हो जाती है। आराधना जीवत्व गुण के ऊपर अवलंबित है।

हम सभी जीव है फिर भी हमारी आराधना नहीं हो रही है बल्कि आराधना के स्थान पर विराधना हो रही है। कारण स्पष्ट है कि हमारे पास जीवत्व होते हुए भी जिस जीवत्व की आवश्यकता है उसका अभाव है। जिस गुण के द्वारा आराधना होती है वह गुण हमारे पास नहीं है। आप पूछ सकते हैं कि गुणों का अभाव हो जायेगा तो द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा महाराज ! तो भइया, गुणों का अभाव तो नहीं होगा यह तो सभी जानते हैं। लेकिन गुणों का विलोम हो जाना भी एक प्रकार से अभाव हो जाना है। जीव के गुणो की विशेषता है कि वे अभाव को तो प्राप्त नहीं होते किन्तु विलोम हो जाते हैं।

हमारे पास जीवत्व गुण है लेकिन ध्यान रखिये वह जीवत्व विलोम स्थिति में है उसका परिणमन विलोम रूप में हो रहा है। आचार्य कहते हैं स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः अर्थात् स्वभाव से विपरीत परिणमन होने का अर्थ ही है विभाव। रात और दिन का जिस प्रकार विरोधाभास है उसी प्रकार स्वभाव और विभाव के साथ भी हो रहा है। रात है तो दिन नहीं और दिन है तो रात नहीं। उसी प्रकार स्वभाव रूप परिणमन है

तो विभाव नहीं और विभाव रूप परिणमन है तो स्वभाव नहीं।

वर्तमान में हमारे स्वभाव का अभाव और विभाव रूप परिणमन होने के कारण विराधना हो रही है। अतः अपने को उस जीवत्व को प्राप्त करना है जिस जीवत्व के साथ स्वाभाविक जीवन है। वह जीवत्व किसे प्राप्त हो सकता है ! वह जीवत्व कैसे प्राप्त हो सकता है। क्या हमें प्राप्त हो सकता है ! तो आचार्य कहते हैं कि अवश्य प्राप्त हो सकता है। जिन कारणों से विभाव रूप परिणमन हुआ है, हमने किया है यदि उसके विपरीत कारण मिल जाएं तो जीव स्वभाव रूप परिणमन भी कर सकता है।

यह ध्यान रक्खो कि विभाव रूप परिणमन किसी अन्य शक्ति ने या अन्य व्यक्ति ने जबरदस्ती कराया हो, ऐसा नहीं है। जीव स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा विभाव रूप परिणमित होता है और इसके लिए बाह्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि निमित्त अवश्य बनते हैं। आशय यह हुआ कि वर्तमान में हमारा जीव तत्त्व बिगड़ा हुआ जीव तत्त्व है।

आप कह सकते हैं कि कुछ समझ में नहीं आता महाराज ! कुछ लोग तो कहते हैं कि जीव तो जैसा-का-तैसा बना रहता है और उसमें जो परिणमन होता है वह ऊपर-ऊपर हो जाता है। इसलिए जीव तो शुद्ध है क्योंकि द्रव्य है और उसकी पर्याय जो है वह बिगड़ी हुई है पर भइया, ध्यान रखो कि जीव तत्त्व ज्यों का त्यों बना रहे शुद्ध और उसकी पर्याय अशुद्ध हो, ऐसा हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो जाए तो वे पर्यायें उस विशुद्ध तत्त्व से बिल्कुल पृथक् हो जायेंगी जो कि सभव ही नहीं है 'गुण पर्यायवद् द्रव्यं' ऐसा कहा गया है अर्थात् गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। यदि पर्याय अशुद्ध है तो द्रव्य भी अनिवार्य रूप से अशुद्ध है।

लेकिन यह भी ध्यान रखना कि वर्तमान में जो पर्याय अशुद्ध है वह पर्याय तो शुद्ध नहीं बन पायेगी किन्तु वर्तमान में जो अशुद्ध द्रव्य है वह द्रव्य शुद्ध बन सकता है। उसके पास शुद्धत्व की शक्ति है। इसी अपेक्षा से आचार्यो ने कहा है कि विभाव रूप परिणमन करते हुए भी जीव द्रव्य कथंचित् शुद्ध है। आप कह सकते हैं कि द्रव्य शुद्ध ही है और पर्याय अशुद्ध है, ऐसा मान लेने में अपने को क्या हानि। तो भइया पहली बात कि द्रव्य का परिणमन जब भी होता है वह समूचे द्रव्य का होता है। कुछ प्रदेश शुद्ध रहे और कुछ प्रदेश अशुद्ध रहे आवें, ऐसा नहीं है। अशुद्ध परिणमन का प्रभाव पूरे द्रव्य के ऊपर पड़ा है।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने प्रवचनसार में स्पष्ट लिखा है कि परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं – अर्थात् द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है उस समय उसी रूप होता है। दूसरी बात यदि वर्तमान में हमारा द्रव्य भीतर से शुद्ध

ही है तो समझो मुक्त ही है और मुक्त है तो मुक्ति का अनुभव, केवलज्ञान का अनुभव भी होना चाहिए लेकिन अभी तो अपने पास एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि सारा का सारा द्रव्य ही बिगड़ा हुआ है, स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः, स्वभाव से विलोम स्थिति हो चुकी है। यह मैं पहले बता चुका हूँ।

जिस समय स्वभाव पर्याय की अभिव्यक्ति होगी उस समय विभाव पर्याय की वहाँ पर अभिव्यक्ति नहीं रहेगी, तब जिज्ञासा होती है कि जीव को शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति कैसे हो? आचार्यों ने इसके लिए मोक्षमार्ग के अन्तर्गत तत्त्वों का उल्लेख किया। इन तत्त्वों को जो व्यक्ति अपने जीवन में सम्यक् प्रकार से शान्ति के साथ जान लेता है और अपने भीतर होने वाली वैभाविक प्रक्रिया के बारे में निकटता से अध्ययन करता है वह व्यक्ति स्वभाव को प्राप्त करने का जिज्ञासु कहलाता है।

एक याचक व्यक्ति एक सेठ के पास गया। वह सेठ उस व्यक्ति के पिता का दोस्त था। उसकी दयनीय स्थिति देखकर सेठ को उस पर करुणा हो आती है। वह कहता है कि बेटे! तुम्हारे पिताजी की मेरे साथ घनिष्ट मित्रता थी। हम दोनों दोस्त थे। किन्तु अलग अलग व्यवसाय के कारण क्षेत्रान्तरित हो गये। मैं तुम्हें पहचान गया हूँ। तुम्हारे पिताजी मरने से पहले मुझे बता गये थे कि मेरा लड़का जब बड़ा हो जाए तो घर में जो धन पैसा दबा रखा है उसे बता देना। अब तुम बड़े हो गये हो, तुम्हें धन की आवश्यकता का भान हो रहा है उसे पाने की जिज्ञासा भी तुम्हारे भीतर उत्पन्न हो गयी है अतः मैं बता देता हूँ। अब तुम्हें याचना करने की दीन-हीन होने की आवश्यकता नहीं है जाओ और अपनी सपत्ति निकाल लो।

उस व्यक्ति को अपनी सपत्ति का जैसे ही ज्ञान हो गया उसने याचना करना बंद कर दिया और घर पहुँचकर उसे प्राप्त भी कर लिया। इसी तरह हम इस समय वर्तमान में भले ही विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि अनन्तकाल तक हम ऐसे ही याचक बने रहें। हम भी सेठ साहूकार बन सकते हैं अर्थात् अपनी आत्म सम्पदा को अपने स्वभाव को प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मा की शक्ति अनन्त है किन्तु उस शक्ति का उद्घाटन आवश्यक है। उस अनंत शक्ति का उद्घाटन हम तभी कर सकेंगे जब कि वर्तमान में मेरी यह विभाव रूप स्थिति हो गयी है – ऐसा विश्वास कर लेंगे। अपने आप को जो व्यक्ति बंधा हुआ अनुभव नहीं करेगा वह मुक्ति की जिज्ञासा कैसे करेगा? मुक्ति के ऊपर विश्वास उसी को हो सकता है, जो बहुत जकड़न का अनुभव करता है। 'बंध सापेक्षैव मुक्तिः' – बंध की अपेक्षा ही मुक्ति है। बंध का अभाव ही मोक्ष है।

एक द्रव्य में प्रत्येक गुण की जो पर्यायें हैं वे पर्यायें गुणों के साथ क्षणिक तादात्म्य

सबंध रखती है और जो संबंध द्रव्य के साथ गुण का है वही संबंध पर्याय का भी द्रव्य के साथ है। प्रदेश भेद नहीं है। संज्ञा सख्या, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा कथंचित् भेद सभव है। इसलिए वर्तमान मे इस जीव का समूचा विलोम परिणमन हो चुका है। मात्र एकान्त रूप से पर्याय ही अशुद्ध है। द्रव्य तो एक शुद्ध पिण्डरूप सिद्ध परमेष्ठी के समान है ऐसा यदि हम मान लेंगे तो आगम से बाधा आ जायेगी।

यदि कोई व्यक्ति कहता है कि जीव तो बिल्कुल शुद्ध है, मात्र उसकी पर्याय और वह भी जो क्षणिक है, वह अशुद्ध है, द्रव्य तो त्रैकालिक शुद्ध पिण्ड है,तब कोई दूसरा व्यक्ति आकर यदि सामने लगे पेड़ को साष्टांग नमस्कार करता है और है! शुद्धात्मने नमः'' – ऐसा कहता है तो फिर ऑब्जेक्शन नहीं होना चाहिये। पर आप ऑब्जेक्शन किये बिना नही रहेंगे। आप कहेंगे कि यह तो बिल्कुल गृहीत मिथ्यात्व है। क्योंकि वह सच्चे देव गुरु शास्त्र की वन्दना नहीं कर रहा है। जो सच्चे देवगुरु शास्त्र की वंदना करता है सम्यग्दृष्टि होता है। इस तरह अनेक बाधाए उपस्थित हो जायेगी। एकेन्द्रिय को तो आगम के अनुसार मिथ्यादृष्टि माना है और मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि नमस्कार नहीं कर सकता।

आचार्य अमृतचंद सूरिजी कह रहे है कि वह ज्योति जयवन्त रहे, वह ज्योति पूज्यनीय है जो शुद्ध है। ज्योति पर्याय है। ज्योति शुद्ध है, पर्याय शुद्ध है तो, पर्याय के साथ द्रव्य भी वहाँ पर शुद्ध है इसमें कोई संदेह नहीं है लेकिन पर्याय अशुद्ध हो और द्रव्य शुद्ध रहा आवे यह भी सभव नहीं है। इस बात को गौण नही करना चाहिये। गहराई से समझना चाहिये।

दूसरी बात यह कहता हूँ कि वन्द्य-वन्दक भाव जितने भी चलते है वे शुद्ध द्रव्य के साथ नहीं चलते लेकिन अशुद्धत्व से शुद्धत्व को प्राप्त करने के लिए, जो चल पड़े हैं उनको देखकर उनके प्रति यह नमस्कार, वदना पूजा-अर्चा और स्तवनादि हुआ करते हैं। सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीवत्व को प्राप्त कर चुके है इसलिए अमूर्त है लेकिन अमूर्त की भी पूजा हम मूर्त मूर्ति के माध्यम से करते है। अमूर्त की पहचान मूर्त के माध्यम से होती है।

अर्हन्त परमेष्ठी मूर्त है और अभी पूरी तरह शुद्ध जीव नही है। हम उनकी आराधना करेंगे या नही। एकाध व्यक्ति नहीं करे तो नहीं भी करे लेकिन पच परमेष्ठी मे जो आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु है वे कुन्दकुन्द जेसे आचार्य भी अरहंत परमेष्ठी को मुख्यता देते है और उनको नमस्कार करते है उनकी वन्दना करते है और परोक्ष मे यहीं पर बैठे-बैठे विदेह क्षेत्र मे स्थित सीमन्धर स्वामी आदि को भी नमस्कार करते हैं और परोक्ष मे उन्हे आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाता है। इसका आशय यह हुआ कि

वन्द्य वन्दक भाव शुद्ध द्रव्य के साथ न होकर शुद्ध की ओर चलने वालों के प्रति होता है।

अरहंत परमेष्ठी क्यों अशुद्ध हैं अभी? इसलिए कि अभी वे कृतकृत्य नहीं हुए हैं। अभी चार कर्म शेष हैं। जो शुद्ध होता है वह कृतकृत्य होता है। जो कृतकृत्य होता है वह आराधक नहीं होता है वह अपने आपमें स्वयं आराध्य होता है। सिद्ध परमेष्ठी आराध्य हैं आराधक नहीं। अर्हन्त परमेष्ठी अभी आराधक भी है और आराध्य भी है। इतना अवश्य है कि वे हमारे जैसे आराधक नहीं है। उनका वह जीवत्व का परिणमन अब शुद्धत्व के निकट पहुँच चुका है। अभी वे वास्तविक जीवत्व की प्राप्ति नहीं कर पाये हैं।

कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने एक स्थान पर जीव का स्वरूप बताया है और एक स्थान पर जीव का लक्षण बताया है। स्वरूप और लक्षण में बहुत अन्तर है। "अरसमरूवमगधं, अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिठ्ठसठाणं।। यह जीव का स्वरूप है। "उपयोगो लक्षणं" – यह जीव का लक्षण है। इस प्रकार जीव का लक्षण और जीव के स्वरूप में बहुत अन्तर है। जीव का स्वरूप तो अमूर्त है लेकिन जीव का लक्षण अमूर्त नही हो सकता। जीव का लक्षण यदि अमूर्त हो जाएगा तो अमूर्त तो अन्य द्रव्य भी हैं धर्मास्तिकाय अमूर्त है अधर्मास्तिकाय भी है आकाश और काल भी है। अरस, अरूप, अगंध आदि यह जीव का लक्षण नहीं है यह तो जीव का स्वरूप है।

आचार्य कहते है स्वभाव को प्राप्त करना है वह प्राप्तव्य है। लक्षण तो प्राप्त ही है। जिस स्वभाव को प्राप्त करना है जिसका भान हमें कराया गया है वह स्वभाव मात्र सिद्धालय में प्राप्त होगा। वह अभी अर्हन्त परमेष्ठी को भी प्राप्त नहीं है। अर्हन्त परमेष्ठी के पास उसको प्राप्त करने की क्षमता है शक्ति है लेकिन उस शक्ति के उद्‌घाटन के लिए प्रयास परम आवश्यक है। जिसे वे कर रहे है दिन रात।

अर्हन्त परमेष्ठी को स्नातक कहा गया है और स्नातक का अर्थ है स्नात् अर्थात् स्नान किया हुआ। यहाँ पर स्नान से तात्पर्य है कि जो आठ कर्म लगे थे उन आठ कर्मो में से चार कर्मो का मल धो दिया गया है अतः स्नातक बन गये हैं। लौकिक शिक्षण में पहले स्नातक (बेचलर) होता है फिर स्नातकोत्तर होता है उसके उपरान्त अध्यापक (लेक्चरर) कहलाता है। स्नातक और स्नातकोत्तर दोनों ही विद्यार्थी हैं। इसी प्रकार तेरहवें गुणस्थान में अर्हन्त भगवान स्नातक हैं। चौदहवें गुणस्थान में स्नातकोत्तर होंगे उसके उपरान्त लेक्चरर अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे। अभी वे विद्यार्थी हैं। 'विद्या एव प्रयोजनम् यस्य स विद्यार्थी' अथवा 'विद्याम् अर्थयते इच्छति-इति विद्यार्थी' – अर्थात् जो विद्या को

चाहता है वह विद्यार्थी है। अर्थात् कुछ पाना चाहता है अभी पाना शेष है।

अर्हन्त भगवान को अभी कुछ और प्राप्त करना है और वह है शुद्ध जीवत्व की प्राप्ति, अलिंग ग्रहण। अभी हमारी इन्द्रियों की पकड़ में आ रहे हैं अर्हन्त परमेष्ठी। और वे चाहते हैं कि सभी की पकड़ से बाहर निकल जाएं। इसके लिए वे अभी योग निरोध करेंगे। अंतिम दो शुक्ल ध्यान के माध्यम से शेष कर्मों का क्षय करेंगे।

अर्हन्त परमेष्ठी अभी दर्पण के समान उज्ज्वल हैं। अभी दर्पण मे भी और उज्ज्वलता लानी है। वह उज्ज्वलता कैसी है। आप रोजाना दर्पण में देखते हो लेकिन ध्यान रखना एक दिन भी दर्पण नहीं देखा, देखा कभी दर्पण, नहीं देखा। दर्पण को देखने की आंख अलग है। हमें दर्पण नहीं दिखता दर्पण मे अपना मुख दिखता है। अभी अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण के सामने शुद्ध है, कॉच के समान नहीं। दर्पण और काँच मे अन्तर है। दर्पण उसे कहते हैं जिसमें एक कॉच के पृष्ट भाग पर कुछ लालिमा लगाई जाती है जिसके माध्यम से प्रतिबिंब बनने लगता है। वह लालिमा हट जायें तो सब पारदर्शक, ट्रासपेरेंट हो जाता है उसका नाम कॉच है।

ऐसा समझे कि सिद्ध परमेष्ठी कॉच के समान ट्रॉसपेरेंट हो चुके है और अर्हन्त परमेष्ठी जो हैं अभी चार कर्मो की ललाई लिए हुए हैं। चार कर्म निकल चुके हैं इसलिए दर्पण के समान उज्ज्वल हो गये है लेकिन जब लालिमा भी चली जायेगी तो बिल्कुल स्वभावमय काँच की तरह सिद्ध परमेष्ठी हो जायेगे। बुदेलखड में कार्यके लिए काज शब्द प्रयोग में लाते हैं। जैसे मुक्ति के काज। तो अर्हन्त भगवान के लिए आनंद प्राप्त करना ही एक मात्र कार्य है। वह कार्य सम्पन्न हो जाता है काज हो गया अर्थात् कृतकृत्य हो गये। अर्हन्त परमेष्ठी को अभी कृतकृत्य होना है।

इस तरह आचार्य महाराज ने लक्षण के अंतर्गत चेतना या उपयोग को रक्खा है और स्वरूप के अन्तर्गत जितनी भी शक्तियां है वे सब आ जाती हैं। यहाँ अरस, अरूप, अगध आदि ये सारे के सारे लक्षण नहीं है जीव के, क्योंकि ये संसारी जीव में हमें देखने को नहीं मिलते, देखना सभव ही नहीं है। लक्षण के माध्यम से ही जीव को पकड़ लेते हे स्वरूप के माध्यम से पकड़ मे नहीं आयेगा जीव। अर्हन्त परमेष्ठी की हम पूजा करते हे वे हमारे लिए पूज्य हैं लेकिन अभी वे असिद्धत्व का अनुभव कर रहे हैं आगे कृतकृत्य होकर अवश्य रूपेण आराध्य बनेंगे सिद्धत्व को सिद्ध पर्याय को प्राप्त करेंगे। सभी को इसी प्रकार सिद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयास करना पड़ेगा। अपनी वैभाविक दशा को पहचानकर स्वभाव की ओर अग्रसर होना होगा।

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' – यह कहकर आचार्य उमास्वामी महाराज ने तत्वार्थ सूत्र/मोक्षशास्त्र का प्रारम्भ किया है और अंत में जाकर कह दिया कि सम्यग्दर्शन

ज्ञान, चारित्र भी आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु स्वभाव प्राप्ति में कारण हैं। इसलिए इनका अभाव अन्त मे अनिवार्य है। जहाँ उन्होंने औपशमिकादि भव्यत्वानाम् च– यह कहा है वही उन्होंने सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परिणत जो भव्यत्व भाव है उस भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव का भी अभाव दिखाया है। सिद्धालय में मात्र जीवत्व भाव रह जाता है। वह जीवत्व ही हमारे लिए प्राप्तव्य है। उस प्राप्तत्व के लिए कारण भूत सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है।

द्रव्य जहाँ शुद्ध है वहाँ सारी-की-सारी द्रव्य की पर्यायें भी शुद्ध हैं गुण भी शुद्ध है। जहाँ एक भी अशुद्ध है वहाँ सारा का सारा अशुद्ध है। कारण कार्य का विचार करें तो पर्याय किसी न किसी का कार्य होना चाहिये और इस पर्याय रूप कार्य का उपादान भी परमावश्यक है। वह उपादान कौन है और वह शुद्ध है या अशुद्ध इसका विचार किया जाए तो मालूम पड़ेगा कि पर्याय यदि अशुद्ध है तो उपादान जो है वह शुद्ध हो, यह हो नहीं सकता। अशुद्ध पर्याय जिस द्रव्य में से निकली है वह द्रव्य भी अशुद्ध है। आचार्यों ने जहाँ कहीं भी कहा कि द्रव्य शुद्ध है वहाँ शुद्ध रूप परिणमन करने की शक्ति की अपेक्षा कहा है।

एक बार जब उस स्वाभाविक शक्ति का उद्घाटन हो जाएगा तो पुनः वैभाविक पर्याय शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होगी। पाषाणेषु यथा हेम, दुग्ध मध्ये यथाघृतम्, तिलमध्ये यथा तैलं, देह मध्ये तथा शिवः। – अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में स्वर्ण है, तिल में तेल है और दूध मे घी है उसी प्रकार इस देह मे आत्मा है। हम दूध में से यूँ ही घी निकालना चाहें तो वह हाथ नहीं आयेगा। घी उसमें है फिर भी नहीं आता। तो उसमें घी है भी और नहीं भी है, दूध में से ही घी निकलता है इसलिए उसमें घी है भी लेकिन दिखायी नहीं देता, सुगंध नहीं आती इसलिए घी नहीं भी है। वैद्य लोग जब किसी को औषधि देते है तो कभी घी के साथ अनुपान बनाते हैं और कभी दूध के साथ बनाते है। दूध पर्याय भिन्न है और घी पर्याय भिन्न है, तथापि घी दूध के बिना नहीं है और दूध घी के बिना नहीं है। ऐसे ही देह के साथ में आत्मा है।

दूध अभी घी नहीं है उसमें घी बनने की शक्ति है यदि उसमें से घी निकालना चाहो तो उसके साथ जो संबंध हुआ है जो विभाव रूप परिणमन हुआ है उसे हटाना होगा। हटाने की बात तो क्षणभर में कही जा सकती है लेकिन दूध से घी निकालने के लिए चौबीस घंटे तो चाहिये ही। जो व्यक्ति घी को प्राप्त करना चाहता है वह व्यक्ति पहले दूध को तपाता है तपाने के उपरान्त उसे जमाता है फिर मथानी डालकर मंथन करता है। बार-बार झाँककर देख लेता है कि नवनीत आया या नहीं नवनीत आते ही मंथन बंद कर देता है। इस तरह अभी दूध में से एक ऐसा तत्त्व निकला जो तैर रहा है।

पर डूबा नहीं है। छाछ के भीतर ही भीतर तैर रहा है थोड़ा सा ऊपर भी दिखायी पड़ जाता है।

पहले तो ऐसा कोई पदार्थ दूध में नहीं दिखता था यह कहाँ से आ गया। तो यह मंथन का परिणाम है उस परिश्रम का परिणाम है। नवनीत का गोला जिस तरह तैर रहा है उसी प्रकार अर्हन्त परमेष्ठी भी तैर रहे हैं। अब डूबेंगे नहीं भवसागर मे लेकिन अभी लोक के अग्रभाग में भी नहीं पहुंचे हैं। सिद्ध परमेष्ठी बिल्कुल लोक के अग्रभाग पर हैं वे सिद्ध हैं और शुद्ध है। अर्हन्त परमेष्ठी नवनीत की भाति न पूर्णत· शुद्ध हैं न अशुद्ध ही हैं। ऐसी दशा मे उनको क्या कहा जाये अभी अलिंगग्रहण स्वभाव प्रकट नहीं हुआ। अभी सिद्धत्व रूप जो पर्याय है वह प्रकट नहीं हुई, अभी जो केवल जीवत्व है, वह नहीं है भव्यत्व का भी अभाव अभी आवश्यक है।

जिस प्रकार नवनीत में जल तत्त्व है जो उसे छाछ मे डुबोये हुए है इसी प्रकार अर्हन्त परमेष्ठी के पास भी कुछ वैभाविक पारिणतियाँ शेष हैं जो उन्हे लोक के अग्रभाग में जाने से रोके हुए हैं। उन्हें भी हटाने का प्रयास वे कर रहे हैं। इस सबका आशय यह हुआ कि घी उस दूध मे होते हुए भी व्यक्त रूप में नहीं मिलता, अव्यक्त रूप से दूध में रहता है उसी को आचार्यो ने अपने शब्दों में 'शक्ति और व्यक्ति' – ये दो शब्द दिये हैं। आत्मा के पास सिद्ध बनने की शक्ति है उसे व्यक्त करेंगे तो वह व्यक्त हो सकती है। स्वय के परिश्रम के बिना दुनिया की कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है जो उस सिद्धत्व की शक्ति को व्यक्त करा दे।

दही में से नवनीत निकालने के लिए जिस प्रकार मथानी आवश्यक साधन हो जाता है उसी प्रकार यह दिगम्बरत्व और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप साधन मार्ग के सारे परम आवश्यक हैं। जिनके माध्यम से मार्ग मिलेगा और मजिल भी अवश्य मिलेगी।

जीव तत्त्व शुद्ध रूप मे ससार दशा मे प्राप्त नहीं हो सकता। शुद्ध जीव तत्त्व चाहिये तो वह सिद्धों में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसकी प्राप्ति के कारण है। ये सुख के कारण हैं मुक्ति के कारण हैं। स्वयं सुख रूप नहीं हैं इसलिए इन्हें मार्ग कहा गया है। मार्ग मे कभी सुख नहीं मिलता, सच्चा सुख तो मजिल में ही है, मोक्ष में है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सुख के कारण है इनके अभाव होने पर ही सिद्धत्व रूप कार्य होता है। ये सुख के कारण है और सिद्धत्व सुखरूप अवस्था है।

वृहद् द्रव्य संग्रह की वचनिका में लिखा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की परिणति रूप जो आत्मा की उपयोग की परिणति है वह भी स्वभाव नहीं है। क्योंकि शुद्धोपयोग यदि आत्मा का स्वभाव है तो सिद्धावस्था में भी रहना चाहिये। किन्तु

शुद्धोपयोग तो ध्यानावस्था का नाम है। ध्यान तो ध्येय को प्राप्त कराने वाली वस्तु है वह ध्येय नहीं है। सिद्धावस्था में तो मात्र चैतन्य स्वभाव रह जाता है। शुद्ध चेतना या ज्ञान-चेतना रह जाती है। चैतन्य मात्र खलु चिद् चिदेव। ।।९

इस प्रकार बहुत कुछ जीव तत्त्व के बारे में कहा गया है। जीव तत्त्व के बारे में इतना अवश्य समझना चाहिये कि वर्तमान संसारी दशा में जीव अशुद्ध है द्रव्य की अपेक्षा भी अशुद्ध है और पर्याय भी अशुद्ध है। इतना अवश्य है कि जीव में शुद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। पर्याय जब शुद्ध होगी तब शुद्ध जीव तत्त्व की प्राप्ति नियम से होगी। और वह शुद्ध तत्त्व की अनुभूति फिर अनन्त काल तक रहेगी। उसमें कोई विक्रिया संभव नहीं है वह एक सहज प्रक्रिया होगी। इसे समझकर हमें सिद्ध पर्याय को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। रत्नत्रय को अंगीकार करके मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहिये। यही जीव तत्त्व को समझने की सार्थकता है।

जीव तत्त्व से विपरीत अजीव तत्त्व है। वह ज्ञान दर्शन से शून्य है। आगम मे उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पांच भेद कहे गये हैं। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार के द्वारा जीव में कोई विकृति नहीं आती परन्तु कर्म रूप परिणत पुद्गल द्रव्य की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादि विकार प्रकट होते हैं।

यद्यपि इन रागादि विकारों का भी उपादान कारण आत्मा है तथापि मोहनीय कर्मकी उदयावस्था के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से वह इनका निमित्त कारण होता है। रागादि विकारी भावों का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल में कर्मरूप परिणति होती है। इसी के फलस्वरूप जीव की संसार वृद्धि होती रहती है। कर्म से शरीर रचना होती है शरीर में इन्द्रियों का निर्माण होता है इन्द्रियों से स्पर्शादि विषयों का ग्रहण होता है। इससे नवीन कर्मबंध होता है। इस तरह कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का, जीव के साथ अनादि काल से संबध चला आ रहा है जब तक इसका लेशमात्र भी संबंध रहेगा तब तक मुक्तावस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इस अजीव तत्त्व को समझकर इसे पृथक् करने का सम्यक् प्रयत्न करना चाहिये। □□

☐ आस्रव तत्व

सात तत्त्वों में विद्यमान जीव-अजीव के उपरान्त अब आता है आस्रव। स्रव धातु बहने के अर्थ में है स्रवति अर्थात् बहना, सरकना, स्थान से स्थानान्तर होना और इस स्रव धातु के आरंभ में 'आ' उपसर्ग लगा दिया जाए तो आस्रव शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। जैसे गच्छति का अर्थ होता है जाना और आगच्छति का अर्थ है आना। नयति का अर्थ है ले जाना और आनयति अर्थात् ले आना। इस प्रकार इस 'आ' उपसर्ग के अनुरूप धातु का अर्थ विपरीत भी हो जाता है जैसे दान और आदान। देना बहुत कम पसन्द करते है आप लोग, आदान यानी लेने के लिए जल्दी तैयार हो जाते हैं। यहाँ आस्रव का अर्थ है सब ओर से आना।

आस्रव के दो भेद आचार्य करते हैं एक भावास्रव और दूसरा द्रव्यास्रव। द्रव्यास्रव का अर्थ है बाहरी चीजो का आना और भावास्रव का अर्थ है अन्दर ही अन्दर आना। यह बहुत रहस्य की बात है कि आत्मा है ही और फिर आत्मा में क्या आना है? आचार्य उमास्वामी ने मोक्षशास्त्र के छठे अध्याय के प्रारंभ में ही सूत्र लिखा है--

कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः।
शुभ पुण्यस्याशुभः पापस्य।।

उन्होंने बड़ा विचार किया होगा, बहुत चिन्तन किया होगा कि यह आस्रव क्यों होता है तभी ऐसे सूत्र लिखे गये होंगे।

सामान्यतः यही धारणा होती है कि कर्म के उदय से आस्रव होता है किन्तु गहरे चिन्तन के उपरान्त यह फलित हुआ कि आस्रव मात्र कर्म की देन नहीं है यह आस्रव आत्मा की ही अनन्य शक्ति योग की देन है। कर्मों के ऊपर ही सब लादने से हम कर्मों की क्षमता को ठीक-ठीक समझ नहीं सकेंगे। कर्म जबरदस्ती आत्मा में शुभाशुभ भाव पैदा कर सके यह संभव नहीं है। यदि कर सकते हैं तो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता ही लुट जायेगी, तब पराई सत्ता अर्थात् कर्मों का कोई अभाव नहीं कर पायेगा। कर्मों का आस्रव निरन्तर होता रहेगा। यह सामान्य कर्मों की बात कह रहा हूँ विशेष कर्मों की बात नहीं। तो आस्रव योग की देन है और मन-वचन-काय की चेष्टा का नाम योग है।

आप ध्यान से सुनेंगे तो आपको बहुत कुछ चिन्तन का विषय मिल जायेगा और आत्मा की उपादान शक्ति की जागृति आप इस दौरान करना चाहें तो कर सकते हैं। 'योग' यह कर्म की देन नहीं है। कर्मकी वजह से नहीं हो रहा है योग। योग आत्मा की ही एक वैभाविक परिणति का नाम है। यद्यपि इस प्रकार का उल्लेख ग्रथों मे ढूढ़ने के लिए जाये तो बहुत मुश्किल से मिलेगा जो चिंतन-मंथन करेंगे उन्हें अवश्य मिलेगा। खूब मंथन करो, आत्मा की शक्ति के बारे में खूब चिन्तन करो। अद्वितीय आत्म शक्ति है वह, चाहे वैभाविक हो या स्वाभाविक हो।

अपने यहाँ आठ कर्म है मूल रूप से। ज्ञानावरण का स्वभाव या प्रकृति ज्ञान को ढकना है। दर्शनावरण कर्म की प्रकृति दर्शन को ढकना है। वेदनीय की प्रकृति आकुलता पैदा करना है और मोहनीय की प्रकृति गहल भाव/मूर्छा पैदा करना है। इसके उपरान्त नाम कर्म का काम अनेक प्रकार के रूप पैदा करना, आकार-प्रकार देना है और गोत्र कर्म का काम ऊँच और नीच बना देना है। आयु कर्म का काम एक शरीर या भव विशेष मे रोके रखना है। और अन्तराय कर्म वीर्य अर्थात् शक्ति को ढकनेवाला है। यह सब उन कर्मों का स्वभाव हो गया। अब योग को किस कर्म की देन माना जाये। आठ कर्मो के जो उत्तर भेद है उनमें भी योग को देने वाला कर्म नहीं है।

ऐसी स्थिति में विचारणीय है कि योग क्या चीज है जो कर्मों को खीचने वाला है। 'आसमन्तात् आदत्तो इति आस्रवः' ऐसी कौन सी शक्ति है जो चारो ओर से आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म वर्गणाओं को लाकर रख देती है। तो वह शक्ति कोई और नहीं बल्कि योग है और वह योग किसी कर्म की देन नहीं है। वह न तो क्षायिक भाव में आता है न क्षायोपशमिक भाव में आता है। और न ही औदयिक भाव मे आता है किन्तु योग को आचार्यो ने पारिणामिक भाव मे रखा है।

आपके मन में जिज्ञासा होगी कि अब तक हमने पारिणामिक भाव तो तीन ही सुने थे, यह चौथा कहाँ से आ गया। क्या आपका कोई अलग ग्रंथ है महाराज ! तो भाई मेरा कोई अलग ग्रथ नहीं है। किन्तु निर्ग्रन्थ आचार्यो का उपासक मै निर्ग्रन्थ अवश्य हूँ। निर्ग्रन्थों की उपासना से इस चीज की उपलब्धि संभव है। आप धवला जी ग्रंथ देखें तो मालूम पड़ जायेगा कि योग पारिणामिक भाव में स्वीकृत है। यह आत्मा का ही एक मनचलापन या वैभाविक स्थिति है। जो कर्मों को खीचता है फिर चाहे कर्म शुभ हों या अशुभ हों।

अशुभयोग जब तक रहता है तब तक अशुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है और शुभ योग होने पर शुभ प्रकृतियों का आस्रव होता है। लेकिन योग जब तक रहेगा तब तक आस्रव करायेगा ही। योग कर्म की देन नहीं है यह अद्‌भुत बात सामने आयी।

इससे आत्मा की स्व ्र सत्ता का भान होता है कि जब आत्मा ही आस्रव कराता है जो आत्मा उस आस्रव को रोक भी सकता है। अब यदि कोई व्यक्ति आस्रव को रोकना चाहे और यह कहकर बैठ जाये कि कर्मों का उदय है क्या करूँ? तो उसे अभी करणानुयोग का ज्ञान नहीं है यही कहना होगा।

धवलाकार वीरसेन स्वामी ने कहा है कि यह योग पारिणामिक भाव है पर ध्यान रखना आत्मा का पारिणामिक भाव होते हुए भी आत्मा के साथ इसका त्रैकालिक सबंध नहीं है। कई पारिणामिक भाव ऐसे हैं जिनका सबंध आत्मा के साथ त्रैकालिक नहीं होता। जैसे अग्नि है और अग्नि में धुआ है। धुआं अलग किसी चीज से निकलता हो ऐसी बात नहीं है धुआ अग्नि से निकलता है और वह अग्नि अशुद्ध अग्नि कहलाती है। यदि अग्नि एक बार शुद्ध बन जावे तो फिर धुआ नहीं निकलता। निर्धूम अग्नि का प्रकरण न्याय ग्रंथों में पाया जाता है। न्याय ग्रन्थों में ऐसी व्याप्ति मानी गयी है कि यत्र-यत्र धूम तत्र तत्र वह्नि अस्ति एव– जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ नियम से अग्नि है। लेकिन जहाँ जहाँ अग्नि है वहाँ धुआँ हो यह नियम नहीं है। क्योंकि निर्धूम अग्नि धुआ रहित होती है।

जिस प्रकार निर्धूम अग्नि स्वाभाविक अग्नि है और सधूम अग्नि वैभाविक अग्नि है इसी प्रकार आत्मा के अंदर कुछ ऐसे परिणाम हैं जो वैभाविक हैं और कर्म की अपेक्षा नहीं रखते और कुछ ऐसे भी है जो स्वाभाविक हैं वे भी कर्म की अपेक्षा नहीं रखते। योग आत्मा की वैभाविक परिणति है। जिसके माध्यम से आत्मा के एक एक प्रदेश पर अनंतानंत कर्म-रेणु आकर चिपक रहे हैं।

अब इसके उपरान्त हम आगे बढ़ते है चिन्तन करते हैं कि जब योग है तो इससे मात्र कर्म आने चाहिये शुभ और अशुभ का भेद नहीं होना चाहिये। आचार्य उमास्वामी ने तो शुभ और अशुभ दोनों का व्याख्यान किया है ऐसा क्यों? तो आचार्य कहते हैं कि अशुभ का आस्रव कषाय के साथ होता है। जिसे साम्परायिक आस्रव कहते है। "साम्पराय: कषाय: तेन साकम् आस्रवंति यत् कर्म तत् साम्परायिक कर्मइति कथ्यते' – जो योग कषाय के साथ सबध को प्राप्त हो चुका है अर्थात् कषाय के साथ जो योग है उसके माध्यम से अशुभ का आस्रव होता है। कषाय से रहित योग के साथ मात्र शुभ का आस्रव होता है। साता वेदनीय का एक मात्र आस्रव होता है। इसका अर्थ हो गया कि कषाय के साथ जब तक योग रहेगा तब तक वह अशुभ कर्मों को अवश्य लायेगा आप उसे रोक नहीं सकते।

यहाँ आप लोगों की दृष्टि मात्र कर्म की ओर न ले जाकर परिणामों की ओर इसलिए ले जा रहा हूँ क्योंकि कर्मों के बारे में बहुत कुछ व्याख्यान हो चुके हैं। सम्यग्दर्शन फिर

भी प्राप्त नहीं हो पा रहा है। बड़े-बड़े विद्वान आकर पूछते हैं कि महाराज ! सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त किया जाए। अब उनके लिए यह तो कहना मुश्किल हो गया कि समयसारजी पढ़ो। क्योंकि समयसार तो सभी ने रट रक्खा है। समयसार पढ़ते हुए भी सम्यग्दर्शन के लिए कह रहे हैं तो इसके लिए कोई रास्ता तो मुझे बताना ही होगा। हम तो निर्ग्रन्थ परिषद् से सबंध रखते है और आप सग्रन्थ परिषद् के सदस्य हैं इसलिए आपके समाने बोलते-बोलते सकुचा रहा हूँ। सग्रन्थ के साथ निर्ग्रन्थ की क्या वार्ता ! कैसी वार्ता ! तो आगम को सामने रखकर सारी बात कह रहा हूँ।

कषाय के साथ जो योग है उसी का आचार्यो ने एक दूसरा नाम रखा है लेश्या। कषाय से अनुरंजित जो योग की प्रवृत्ति है, वह है लेश्या। वह लेश्या अर्थात् योग की प्रवृत्ति जब तक कषाय के साथ है तब तक वह अशुभ कर्मो का आस्रव कराने मे कारण बन जाती है कोई भी कर्म किसी भी आस्रव के लिए कारण नहीं है किन्तु कषाय जो कि आत्मा की ही परिणति है जो कि उपयोग की उथल-पुथल है वही आस्रव का कारण है। उपयोग की व्यग्रता-कषाय और योग की व्यग्रता-लेश्या।

आस्रव ससार का मार्ग कहलाता है क्योंकि जब तक आस्रव होगा तब तक कर्म रहेंगे और कर्म रहेंगे तो उनका फल मिलेगा, यही परतत्रता है। इसी परतत्रता से शरीर मिलता है, शरीर मिलेगा तो इन्द्रियाँ मिलेगी, इन्द्रियाँ मिलेगी तो विषयो का ग्रहण होगा जिससे कषाय जाग्रत होगी। इस प्रकार यह शृंखला चलती है। आशय यह हुआ कि कषाय के साथ जो योग की प्रवृत्ति है वही अशुभ कर्मो के आस्रव के लिए कारण है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र के आठवे अध्याय मे आस्रव द्वारों के बारे में जो बध के कारण हैं उनका उल्लेख किया है– 'मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद कषाय योगा बध हेतव'। यहां योग को अन्त मे लिया है और सर्वप्रथम रखा है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व को बध का कारण माना है पर यह समझने की बात है।

मिथ्यात्व न कषाय मे आता है न योग मे आता है। जबकि योग और कषाय के माध्यम से आस्रव मार्ग और बंध मार्ग चलता है। अपने को कषाय और योगो को सभालने की आवश्यकता है। आस्रव को यदि रोकना चाहते हो, आस्रव से यदि बचना चाहते हो, तो मिथ्यात्व की ओर मत देखो, वह अपने आप चला जायेगा। वह कुछ नही कर रहा है अकिंचित्कर है आस्रव और बंध के मार्ग मे ध्यान रखना। कुछ भी काम नहीं कर रहा यह सुनकर आप चौंक न जायं इसलिए मुझे कहना पड़ा कि आस्रव और बध के मार्ग में कुछ भी नही कर रहा है।

हमे आस्रव और बंध को हटाना है मिथ्यात्व अपने आप हट जायेगा। हाथ जोड़कर चला जायेगा। उसको भजने का ढंग अलग है। उसे सुनो, जानो और पहचानो। उसको

हटाना है तो पहले उसको जानो कि वह करता क्या है। आस्रव और बंध के मार्ग में कुछ भी नहीं करता। यदि आस्रव और बंध के मार्ग में मिथ्यात्व प्रकृति को अकिंचित्कर कह दिया जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह चिन्तन करने पर मालूम पड़ेगा। श्रद्धान बनाओगे तो ही आगे बढ़ पाओगे। एक-एक चीज मौलिक है सुनें, श्रवण करें और यदि आगम के विरुद्ध लगे तो बतायें बड़ी खुशी की बात होगी. मैं जानने के लिए तैयार हूँ पर एक चिन्तन आप के सामने रख रहा हूँ।

मिथ्यात्व कुछ नहीं करता यह मैं नहीं कह रहा हूँ परन्तु आस्रव और बंध के क्षेत्र में कुछ नहीं करता, यह कह रहा हूँ। यह शब्द देख लो आप यदि भूल भी जावेंगे तो यह टेपरिकार्डर पास में है ही आपका। यह प्रतिनिधित्व करेगा, यह शब्दों को पकड़ रहा है।

मिथ्यात्व को बंध का हेतु माना है और मिथ्यात्व प्रकृति के माध्यम से सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है। सोलह प्रकृतियों का आस्रव मिथ्यात्व के साथ ही होगा ऐसा आगम का उल्लेख है। तो मिथ्यात्व के साथ ही होगा इसलिए मिथ्यात्व ने ही किया, सोलह प्रकृतियो का आस्रव। ऐसा आप कह सकते हैं। लेकिन ध्यान रखो आस्रव का माध्यम योग है। योग मिथ्यात्व से अलग चीज हैं। मिथ्यात्व के साथ ही योग रहता है यह नियम भी नहीं है क्योकि यदि मिथ्यात्व के साथ योग रहेगा तो चतुर्थ आदि गुणस्थानों में जहाँ मिथ्यात्व नहीं है वहाँ योग का अभाव मानना पड़ेगा, जबकि योग तो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक बना रहता है। इसलिये योग के साथ मिथ्यात्व की अन्वय या व्याप्ति नहीं है। अत: मिथ्यात्व के आस्रव के लिए भी मिथ्यात्व का उदय मात्र कारण नहीं है। मिथ्यात्व का उदय भी मिथ्यात्व काआस्रव नहीं करा सकता। आस्रव कराने वाले शक्ति तो अलग है जो आत्मा की वैभाविक परिणति है उपयोग का एक विपरीत परिणमन है। वह कषाय है।

मिथ्यात्व सबधी जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव होता है उनका आस्रव कराने वाला कौन है? तो यही कहा जायेगा कि जो अनन्तानुबंधी कषाय के साथ योग का परिणमन हो रहा है वह मिथ्यात्व संबधी सोलह प्रकृतियों का आस्रव करा रहा है। इसके साथ-साथ, अनन्तानुबधी की जो पच्चीस प्रकृतियां हैं उनका भी वह आस्रव करायेगा। अनन्तानुबंधी का जिस समय अभाव होगा और यदि मिथ्यात्व का उदय भी रहा आता है तो वहां पर न अनन्तानुबधी संबधी पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है और न ही मिथ्यात्व संबंधी सोलह प्रकृतियों का ही आस्रव होता है क्योंकि कषाय से अनुरंजितयोग प्रवृत्ति ही आस्रव का कारण है जिसका अभाव है।

मिथ्यात्व की गिनती न ही योग की कोटि में आई है और न ही कषाय की कोटि

में मिथ्यात्व को रखा गया है। मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय संबंधी है और कषाय चारित्र-मोहनीय संबंधी है यही अन्तर है। और योग को पारिणामिक भाव माना गया है। इस तरह मिथ्यात्व की गिनती योग में भी नहीं है। बंधुओ ! मिथ्यात्व से डरो मत, डरने से वह भागेगा नहीं। तरीका यही है कि आपत्तिकाल लगा दो। आपत्तिकाल चौथा काल है इसका संबंध न भूत से है, न भविष्य से और न ही वर्तमान से है। यह काल अद्भुत काल है चतुर्थ काल की तरह। जैसे चतुर्थकाल कर्मों को हटाने के लिए, मुक्ति प्राप्त कराने के लिए कारण बनता है ऐसा ही यह काल है। मिथ्यात्व के लिए आपत्तिकाल यही है कि अनन्तानुबधी कषाय के साथ रहने वाली जो लेश्या है उसे हटा देना। लेश्या में बदलाहट तीव्रता और मंदता के रूप में होती है। जिस समय हम कषाय को मंद बना लेते है उस समय लेश्या शुभ होती है और शुभ लेश्या होते ही अशुभास्रव को धक्का लगना प्रारंभ हो जाता है। शुभ लेश्या आत्मा की ही एक अनन्य परिणति है। आत्मा के पुरुषार्थ का एक फल है। उसे शुभ और अशुभ रूप हम अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर सकते है। चूंकि सोलह प्रकृतियो का आस्रव जो प्रथम गुणस्थान तक ही होता है वह अनन्तानुबधी के साथ होता है किन्तु वहाँ मिथ्यात्व का उदय भी रहना आवश्यक है, रहता ही है इसलिए सूत्र में मिथ्यात्व को पहले रक्खा है। साथ ही अनन्तानुबंधी को भी जोड़ दिया है। आप सूत्र को पढ़े और चिन्तन करे तो अपने आप ही ध्वनि निकलेगी। वहाँ मिथ्यात्व के उपरान्त दूसरा अविरति का नम्बर है।

अविरति का अर्थ है असयम। असयम तीन तरह का होता है– ऐसा राजवार्तिक मे आया है। असयमस्य त्रिधा, अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयत्वात्। अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के उदय मे जो असयम होता है वह असंयम अलग अलग प्रकार का है। अनन्तानुबध जन्य असयम अलग है और अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान जन्य असंयम अलग है।

तो मिथ्यात्व प्रकृति के जाने के साथ मिथ्यात्व तो जायगा ही साथ ही साथ अनन्तानुबधी उससे पहले जायेगी। इसलिए मिथ्यात्व और अनन्तानुबधी ये आस्रव के द्वार चले गये दोनो मिलकर के। इसके उपरान्त अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान जन्य अविरति जब दोनो चले जायेगे तो अविरति समाप्त हो जायगी इसके उपरान्त प्रमाद को स्थान मिला है वह सज्वलन कषाय के तीव्रोदय से संबध रखता है। इसके बाद कषाय का स्थान है जो मात्र सज्वलन की मदता की अपेक्षा है और अत में योग को स्थान दिया जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उस योग का अभाव, जब तक 'योग' (ध्यान) धारण नहीं करेगे तब तक नहीं होगा। इस तरह यह बध के हेतु गुणस्थान क्रम से रखे गये।

मिथ्यात्व सहित जो सोलह प्रकृतियों का आस्रव और अनन्तानुबंधी जन्य पच्चीस प्रकृतियों का आस्रव होता है ऐसा इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव यह कषाय की देन है। कषाय के साथ जो योग है उसकी भी देन है। इस कषाय को हटायेंगे तो मिथ्यात्व संबंधी सोलह और अनन्तानुबधी सबंधी पच्चीस प्रकृतियाँ सारी की सारी चली जायेंगी। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय की भूमिका में यह जीव जब करणलब्धि के सम्मुख हो जाता है और करणलब्धि में भी जिस समय अनिवृत्तिकरण का काल आता है उस समय मिथ्यात्व सबंधी सोलह प्रकृतियों के बध का निषेध किया है। इससे ध्वनि निकलती है कि मिथ्यात्व का उदय सोलह प्रकृति का आस्रव कराने में समर्थ नहीं है। अतः आस्रव और बंध के क्षेत्र में वह अकिंचित्कर है यह सिद्ध हो जाता है।

मिथ्यात्व क्या काम करता है यह पूछो तो ध्यान रखो उसका भी बड़ा अद्भुत कार्य है। मिथ्यात्व जब तक उदय में रहेगा तब तक उस जीव का ज्ञान, अज्ञान ही कहलायेगा। वह जीव जब अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तरकरण कर लेता है और दर्शन मोहनीय के तीन टुकड़े करके मिथ्यात्व का उपशम या क्षयोपशम करके औपशमिक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है या जब क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते समय मिथ्यात्व का क्षय करता है उस प्रसग मे भी अनन्तानुबधी का क्षय या उपशम पहले बताया है। सम्यग्दर्शन के साथ अनन्तानुबधी का उदय नियम रूप से नहीं रहता लेकिन दर्शन मोहनीय की प्रकृति का उदय रह सकता है। दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे भी सम्यग्दर्शन रह सकता है लेकिन चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबधी सबधी एक कषाय का भी उदय हो तो ध्यान रखना सम्यग्दर्शन वहाँ नहीं रहेगा।

सम्यग्दर्शन के खिलाफ जितना अनन्तानुबधी कषाय है उतना दर्शन-मोहनीय भी नहीं। ऐसा सिद्ध हो जाता है। इसलिए आस्रव और बध के क्षेत्र में जो मिथ्यात्व को हौआ (भय) बना रखा है और जिससे डरा रहे है वह हौआ नहीं है वह आस्रव और बंध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर है। जो कुछ भी आस्रव के कारण है वह है– 'आतम के अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाये।'

यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते है आप लोग और विषय-कषायो मे आपकी प्रवृत्ति होती जायेगी तो कभी भी मिथ्यात्व को आप हटा नहीं सकेंगे। मिथ्यात्व को बुलाने वाला बड़ा बाबा अनन्तानुबधी कषाय है। एक दृष्टि से कहना चाहिये मिथ्यात्व पुत्र रूप में है और अनन्तानुबंधी कषाय पिता की तरह है या कहो पिता का भी पिता है। क्योकि मिथ्यात्व का आस्रव कराना, उसे निमत्रण देना, उसे जगह देना यह जो भी कार्य है सभी अनन्तानुबंधी कषाय के सद्भाव में होते हैं। जब तक अनन्तानुबधी कषाय का उदय

रहेगा तब तक मिथ्यात्व इन्वहाइटेड (आमंत्रित) रहेगा। मिथ्यात्व का द्वार अनन्तानुबधी है।

अनन्त मिथ्यात्व यदनुबध्नाति स अनन्तानुबंधी– मिथ्यात्व रूपी अनन्त को बांधने वाला यदि कोई है तो वह है अनन्तानुबंधी। जो व्यक्ति मिथ्यात्व को कषाय की कोटि में रखकर मिथ्यात्व को हटाने का चिन्तन करता है वह मानो आवागमन के लिए सामने का दरवाजा तो बद कर रहा है किन्तु पीछे का दरवाजा खुला रखा है। अनन्तानुबधी अनुरंजित योग, यह मिथ्यात्व के लिए कारण है। इसलिए अनन्तानुबंधी का उदय समाप्त होते ही तत्व चिन्तन की धारा और मिथ्यात्व के ऊपर घन पटकने अर्थात् उसे हटाने की शक्ति आत्मा में जागृत होती है। जिस समय दर्शन मोहनीय के तीन खण्ड करते है उस समय खण्ड करने की जो शक्ति उद्भूत होती है वह अनन्तानुबधी के उदय के अभाव मे होती है। अनन्तानुबधी का उदय जब तक चलता है तब तक शक्ति होते हुए भी जीव, मिथ्यात्व को चूर-चूर नही कर पाता। जैसे ही अनन्तानुबधी समाप्त होता है मिथ्यात्व कह देता है कि लो मै भी जा रहा हूँ। मिथ्यात्व इतना कमजोर है। मिथ्यात्व के उदय मे भी तत्त्व चिन्तन की धारा चलती रहती है इकतालीस प्रकृतियों का आस्रव रुक जाता है, यह बात सवर तत्त्व का प्रसग आने पर बता दूँगा।

यह सब आत्म-पुरुषार्थ की बात है उपयोग को केन्द्रीभूत करने की बात है। योग को शुभ के ढाचे मे ढालने की प्रक्रिया है। यह पुरुषार्थ आत्मायत्त है, कर्मायत्त नहीं है इसीलिए धवला मे कह दिया कि अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल हम अपने पुरुषार्थ के बल पर कर सकते है। कथचित् अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल को देखकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की योग्यता बतायी गई है आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा स्वतन्त्र है, पर भूला है, भटका है, उसे सुलझाने और सही मार्ग पर लाने की आवश्यकता है। आत्म पुरुषार्थ के द्वारा इकतालीस प्रकृतियो का जो आश्रयदाता है अनन्तानुबधी वह ज्यो ही चला जाता है त्यो ही सम्यग्दर्शन आ जाता है। क्योकि बाधक कारणाभावात्, साधक कारण सद्भावात् – ऐसा न्याय है कि बाधक कारण के अभाव हो जाने पर या साधक कारण के सद्भाव मे साध्य की सिद्धि होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन, अनन्तानुबधी कषाय के जाते ही आयेगा अवश्य आयेगा। पुनःकहना चाहूँगा कि अनन्तानुबधी सर्वप्रथम जाती है। कषाय मे अगर कोई बड़ा बाधा है तो वह है अनन्तानुबधी। मिथ्यात्व आस्रव और बध के क्षेत्र से अकिंचितकर है इसे नोट कर लेना।

जब इस तरह आस्रव-तत्त्व का वास्तविक ज्ञान होता है तब हम आस्रव से बच भी सकते हैं। कहा गया है कि 'बिन जाने ते दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये।' गुण

का ज्ञान और दोष का ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक तो किसी भी प्रकार से हम दोषों से बच नहीं सकते। मोक्षमार्ग में हमारे लिए गुण जो है वह संवर है और दोष जो है वह है आस्रव।

मिथ्यात्व के उपरान्त जो आस्रव का कारण है वह है अविरति। वह अविरति अप्रत्याख्यान संबधी और प्रत्याख्यान सबधी शेष है। इसको मिटाने का भी वही उपाय है पुरुषार्थ है जो आत्मा को आत्मा की ओर केन्द्रित करके विषय-कषायों से बचाने रूप है। इसके उपरान्त आता है प्रमाद यानी सज्वलन कषाय का तीव्रोदय। आत्मा जब अपने आप के प्रति अनुत्सुक हो जाता है तो प्रमाद कहलाता है। अब आती है कषाय। इसका आशय संज्वलन की मंदता से है। कषाय तीव्र तब कहलाती है जब एक दृष्टि से हम लोग कषाय के उदय में अपनी जागृति खो देते है।

कषायोदयात् तीव्र परिणामः चारित्र मोहस्य– इसमें व्याख्यायित किया गया है कि तीव्र परिणाम ही कषाय नहीं, कषाय का तो उदय है, तीव्र परिणाम हम कर लेते हैं क्योकि यदि चारित्र मोह आत्मा में कषाय के परिणाम पैदा करता रहे तो आत्मा के लिए, पुरुषार्थ करने हेतु जगह ही नही है। तो आत्मा इतना परतंत्र नहीं है वह स्वतंत्र है। निमित्त-नैमित्तिक सबध की अपेक्षा यह कथन है। प्रमाद के उपरान्त कषाय आती है तो वह संज्वलन के मदोदय सबधी है उसको भी पुरुषार्थ से हटा देते हैं समाप्त कर सकते हैं। अब आती है योग की बात उसे समझें।

पुण्य और पाप की बात बार-बार हम करते हैं तो ध्यान रखना यहाँ तक पहुँचने पर पाप का आस्रव तो रुक जाता है क्योकि शुभः पुण्याशुभः पापस्य। यह पाप का आस्रव रुका क्यो? अपने आप रुक गया क्या? नहीं। जो योग अशुभ हो रहा था उसको शुभ बनाया हमने, तो किसके माध्यम से बनाया। अपने आप तो हुआ नहीं। संयम के माध्यम से पाप के आस्रव को रोका जाता है। संयम के बिना पाप को रोका ही नहीं जा सकता इसलिए सयम आस्रव कराने वाला है ऐसा एकान्त नहीं है। संयम के साथ यदि आत्मा की परिणति सयममयी नहीं है तो उस समय वह शुभ का आस्रव कराता है लेकिन सयम के माध्यम से केवल शुभ का आस्रव होता है ऐसा भी नहीं है।

कषाय के चले जाने के बाद जो योग शेष रहा उसमें ईर्यापथ आस्रव, केवल पुण्य का आस्रव होता है। कोई नहीं भी चाहो तो भी होता है। जबरदस्ती जैसे कोई लाटरी का रुपया लाकर सामने रख दे तो हम क्या ऐसा कहेगे कि नहीं चाहिए। तब कहा जाय कि आपके बिना तो कोई इसका पात्र ही नहीं है आपको लेना ही होगा। ऐसा नहीं है कि रखना चाहो तो रख लो अन्यथा नहीं। यह ऐसा पुण्य का आस्रव है कि रखना ही पड़ेगा। केवल योग मात्र रहने पर तो पुण्य का आस्रव होगा, अवश्य होगा। उसको

कोई रोक नहीं सकेगा। अब जब तक योग रहेगा तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक तो वह पुण्य का आस्रव करायेगा।

यह योग किसी कर्म की देन नहीं है। यह पहले ही कहा जा चुका है। क्योंकि चारों घातिया कर्म निकल गये फिर भी सयोग केवली है, योग ज्यो का त्यो बना हुआ है। और शुभ का आस्रव निरन्तर हो रहा है। अब योग से होने वाले आस्रव को रोकना है। केवली भगवान जानते है कि जब तक आस्रव द्वार रुकता नहीं तब तक मुझे मुक्ति नही, तो उन्हें भी संवर करना होगा। कर्म का सवर नहीं करते वहाँ। वह तो योग का निरोध कर देते है। उस योग का निरोध कर देते है जो आत्मा का अशुद्ध पारिणामिक भाव है। उसी से कर्म का आस्रव होता है कषाय के साथ यदि योग है तो अशुभ का आस्रव होता है और कषाय रहित योग रहता है तो केवल शुभ कर्म का आस्रव होगा। इसलिए यदि आप पुण्य से बचना चाहते हो तो सयम से मत बचो बल्कि योग से बचो। योग से बचने का, योग निरोध करने का उपाय है तृतीय शुक्ल ध्यान। तृतीय शुक्ल ध्यान के बिना योग, निरोध का प्राप्त नही होता और जब तक उसका निग्रह नहीं होगा तब तक शुभ का आस्रव होगा। इसलिए आचार्यो ने कहा है कि पुण्य से मत डरो किन्तु उसके फल मे समता भाव रखो। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पुनाति आत्मानं इति पुण्यम्।

आत्मा को पवित्र करने वाली सामग्री या रसायन यदि विश्व मे कोई है तो वह आत्मा के पास जो शुभ योग है वह है और वही पुण्य है। उस पुण्य के माध्यम से ही केवल-ज्ञान की प्राप्ति होती है लेकिन केवल पुण्य ही होना चाहिये यह भी ध्यान रखना। केवल-ज्ञान जिस प्रकार है उसी तरह केवल पुण्य, जिस समय आत्मा को प्राप्त होगा उस समय अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त आप केवलज्ञानी बन जाओगे।

यथाख्यात चारित्र जिस समय जीवन मे आ जाता है त्यो ही पुण्य का ही मात्र आस्रव होता है और पुण्य मात्र का आस्रव हो तो अन्तर्मुहूर्त के लिए पर्याप्त है आत्मा को केवलज्ञान प्राप्त कराने मे। यह प्रसग दसवे गुणस्थान तक नहीं आ सकता केवल पुण्य का आस्रव दसवे गुण स्थान तक नहीं होता दसवे गुणस्थान के बाद होता है अब इसके उपरान्त मात्र पुण्य जो है वही उस आत्मा को पाप से बचा सकता है किन्तु पुण्य को हटाने वाला कौन? पुण्य के फल को हटाने वाला तो सयम है। सयम पुण्य को नहीं हटा सकता।

आचार्यो ने पंचेन्द्रिय के विषय को विष्ठा कहा है पुण्य को नहीं कहा। यदि पुण्य को विष्ठा कह दे तो केवली भगवान भी उससे लिप्त हो जायेंगे और यह तो आगम का अवर्णवाद है, अवज्ञा है। हाँ, पुण्य की जो इच्छा करता है वह इच्छा है विष्ठा। पुण्य

विष्टा नहीं है। सबसे ज्यादा पुण्य का आस्रव होता है तो यथाख्यात चारित्र के उपरान्त, जो केवली भगवान हैं उनको होता है किन्तु निरीह वृत्ति होने के कारण उसमें रचते पचते नहीं हैं, रमते नहीं है। दुनिया का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इतना पुण्य प्राप्त कर ले। तृतीय शुक्ल ध्यान का प्रयोग करके तब वे केवली भगवान शुभ का आस्रव रोक देते हैं। आत्मा से जिस समय योग का निग्रह होता है तो पुण्य का आस्रव भी बंद हो जाता है। और ज्यो ही आस्रव होना रुक जाता है चोदहवे गुणस्थान मे छलाग लगाते हैं वहाँ भी रुकते नहीं हैं सिद्धत्व प्राप्त कर लेते हैं। योग निरोध के उपरान्त ससार की स्थिति मात्र अ, इ, उ, ऋ, इन पच लघु स्वर अक्षरो के उच्चारण प्रमाण काल शेष रह जाती है और वह मुक्ति के भाजन हो जाते है।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघातिया कर्म शेष हैं और उनमें साता वेदनीय भी है असाता वेदनीय भी है ऐसा आचार्य कहते हैं। इससे यह फलित हुआ कि वे चारों कर्म उदय को प्राप्त होते हुए भी काम नहीं कर रहे क्योंकि काम करने वाला जो योग था वह चला गया। अब इन चारों कर्मों की निर्जरा के लिए चौथा शुक्ल ध्यान वे अपना लेते हैं। इस तरह योग जो है वह अन्त मे जाता है और केवल पुण्य का ही आस्रव कराता है।

इससे यह फलित होता है कि पहले पाप के आस्रव से बचना चाहिये क्योंकि पहले साम्परायिक आस्रव ही रुकेगा उसके पश्चात ईर्यापथ आस्रव जो मात्र पुण्य का आस्रव है वह रुकेगा। तो पहले का काम पहले करना चाहिये, बाद का काम बाद मे। सौंफ इत्यादि आप पहले खा लो बाद मे रोटी खाओ तो आपको पागल ही कहेंगे लोग। इसलिए भइया ! पहले पाप से तो निवृत्त हो और पाप से निवृत्त होने के लिए, पाप के आस्रव को रोकने वाला है सयम, उसे अंगीकार करो। तदुपरान्त पुण्य के आस्रव को रोकने वाला, योग का निग्रह करने वाला तीसरा और चौथा शुक्ल ध्यान आयेगा। यही सक्षेप मे समझना चाहिये।

आस्रव द्वार पाँच है किन्तु पांच मे भी मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबधी को रख रक्खा है। अविरति, अनन्तानुबधी के अभाव में भी रहती है इसलिए अविरति से अनन्तानुबधी का सबध यहाँ विवक्षित नहीं है यद्यपि अनन्तानुबधी के साथ भी अविरति रह सकती है, रहती भी है। पर मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबधी पहले जाती है फिर बाद म मिथ्यात्व जाता है इसलिए जो पहले जाता है उसे पहले भेजना चाहिये और बाद मे जाने वाले की फिकर करने की आवश्यकता नहीं है। विषयो मे जो बार-बार झपायान लेता है अनन्तानुबधी का स्थूल प्रतीक है। स्थूल है सूक्ष्म नहीं। 'बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष.' यह नरकायु का आस्रव भी अनन्तानुबधी के माध्यम से ही बन सकता

है। क्योंकि नरक गति का बंध अनन्तानुबंधी के साथ ही होता है। इतना ही नहीं– परात्मनिंदा प्रशसा सदसद्गुणोच्छादनोद्भावेन च नीचैर्गोत्रस्य।'' नीच गोत्र का बध भी अनन्तानुबंधी के साथ होता है। यहाँ मेरा आशय यह है कि जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के लिए आया है उसे यह जानना भी आवश्यक है कि पर की निंदा और अपनी आत्म प्रशसा अर्थात् पर के गुणो को ढकना और अपनी आत्मा में नहीं होते हुए गुणो को भी प्रकट करना इत्यादि जो कार्य है ये नीच गोत्र के कारण हैं।

नीच गोत्र का आस्रव कहाँ तक होता है तो जिसने सिद्धान्त देखा है। गोम्मटसार आदि, उन ग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है कि नीच गोत्र का द्वितीयगुणस्थान तक ही आसव होता है। इसका अर्थ है अनन्तानुबंधी के माध्यम से ही इसकाआस्रव होता है आजकल यह प्राय: यत्र तत्र देखने सुनने को मिल रहा है। आज उपदेश का प्रयोग भी इतना ही कर लेते है कि दूसरे को सुनाकर और उसके माध्यम से किसी दूसरे को नीचा दिखाने का उपक्रम रच लेते है।

शास्त्र का प्रयोग/उपयोग अपने लिए है मात्र दूसरे को समझाने के लिए नहीं है। दूसरा यदि अपने साथ समझ जाता है तो बात अलग है किन्तु उसे बुला-बुलाकर आप उपदेश दोगे तो आगम मे कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है कि यह जिनवाणी का एक दृष्टि से अनादर होगा। क्योंकि वह रुचिपूर्वक सुनेगा नहीं अथवा सुनेगा भी तो उसका वह कुप्रयोग कर लेगा और तब सुनाने वाला भी दोष का पात्र बन जायेगा।

बधुओ ! पर की निन्दा करना सम्यग्दर्शन की भूमिका में बन नही सकता क्योंकि नीच गोत्र का बध जो होता है वह अनन्तानुबधी के भावो के माध्यम से होता है जो मिथ्यात्व को बाधने वाली कषाय है। इसलिए यदि मिथ्यात्व को हटाना चाहते हो तो मद से मदतर और मदतर से मदतम इस कषाय को बना दो। जब विषय कषायो से बच जाओगे तब चिन्तन की धारा प्रवाहित होगी और तत्व चिन्तन की धारा से हम सम्यग्दर्शन रूपी सरोवर मे अवगाहित हो सकते है। अपने आप को समर्पित कर सकते है। शुद्ध बन सकते हैं, बुद्ध बन सकते है। लेकिन इस भूमिका के बिना कुछ भी नहीं बन सकते। जहाँ हैं वहीं पर रह जायेंगे, बातो-बातो तक, चर्चा तक ही बात रह जायेगी।

यह सारी की सारी घटनाए अन्तर्घटनाएँ है ये बाहरी चीजें नहीं हैं। मोक्षमार्ग एक अमूर्त मार्ग है। जिसके ऊपर कोई चिन्ह या पद, या कोई निशान, कोई बोर्ड नहीं है। कोई किसी प्रकार के पत्थर माइल स्टोन नहीं लगे हैं। यह तो एकमात्र श्रद्धा का विषय है और उसी श्रद्धा से अपने आप को कुछ बना सकते हैं आप उस श्रद्धा को जागृत कर सकते है। भाई विषय-कषायो से ऑख मीचो और उन ऑखो का प्रयोग अपने आत्म तत्त्व को जानने के लिए करो तो अपने लिए बहुत जल्दी सही रास्ता प्रशस्त हो सकता

है, अन्तर्मुहूर्त का काम है।

अन्तर्मुहूर्त मे सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है और अन्तर्मुहूर्त मे ही मुक्ति के भाजक भी हम बन सकते हैं। इस प्रकार आत्मा की एक प्रतिभा है, गरिमा है, महिमा है। उसे पहचानने की आवश्यकता है। क्यो व्यर्थ अनन्त संसार मे भटकने का आप उपक्रम कर रहे हो। आप जब भी देखेंगे इस संसार में अनन्त संसार मे मिथ्यादृष्टियों की संख्या अधिक रहेगी, सम्यग्दृष्टियों की संख्या सीमित ही रहेगी। इसलिए अपने आप के सम्यग्दर्शन को सुरक्षित रखना चाहते हो तो मिथ्यादर्शन के इस बाजार मे से बचना चाहिये।

जल्दी-जल्दी घर की तरफ से मन को मोड़कर अर्थात् आस्रव से मुंह मोड़कर अपने आप की ओर आना ही मोक्षमार्ग है यही श्रेयस्कर है। बाह्य जितना भी है वह सब भवपद्धति है। संसार का मार्ग है। संसार का मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। उनके माध्यम से निरन्तर आस्रव ही होता है। अतः संसार मार्ग को छोड़कर संवर मार्ग पर आना चाहिये। जो आस्रव को नहीं जानेगा, आस्रव के कारणों को नहीं जानेगा, कौन से भावों से आस्रव होता है इसको नहीं जानेगा, वह रोकने का उपक्रम भी नहीं कर पायेगा और निंदा का पात्र बना रहेगा। थक जायगा उस उपक्रम से किन्तु कोई सिद्धि मिलने वाली नही है।

आस्रव और बंध के क्षेत्र में मिथ्यात्व अकिंचित्कर है और मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के बाद जाने वाला है इसलिए मिथ्यात्व का आस्रव कराने वाली अनन्तानुबंधी कषाय है और उस अनन्तानुबंधी कषाय को निकालने का उपक्रम यही है कि हमारी जो अशुभ लेश्या है उसको शुभ बना ले, शुभतम बना ले। शुभतम जब लेश्या बनेगी तो अनन्तानुबंधी को धक्का लगेगा। अनन्तानुबंधी चली जायेगी तो उसके माध्यम से होने वाले सारे के सारे आस्रव रुक जायेंगे। मिथ्यात्व भी अपने आप हाथ जोड़कर चला जायेगा।

मिथ्यात्व को हटाने का यह सही रास्ता है आगमानुकूल है। अन्य जो भी मार्ग है आप स्वयं देखेंगे वे आगम से विपरीत होंगे। मिथ्यात्व को हटाने के लिए यदि अनन्तानुबंधी कषाय को हटाये बिना सर्वप्रथम उसे ही (मिथ्यात्व को) हटाने का आग्रह करेंगे तो भी हटा नहीं सकेंगे। अतः कषायो को मंद करना उसे हटाना यही सही मार्ग है आगम के अनुकूल मार्ग है।

□□

□ बंध तत्व

ससारी प्राणी की दशा अनादिकाल से दयनीय हुई है। यद्यपि यह ससार प्राणी सुख का इच्छुक है और दु:ख से डरता भी है किन्तु सुख को प्राप्त नहीं कर पा रहा है और दु:ख का बिछोह भी नहीं कर पा रहा है। इसमें एक कारण है। चूंकि सुख अनादिकाल से प्राप्त नहीं है और मात्र अनादिकाल से दु:ख का अनुभव करने का स्वभाव सा बन गया है, वास्तव मे विभाव है, लेकिन एकदम स्वभाव के समान हो गया है इसलिए निरन्तर दु:ख के ही रेणु आते जा रहे हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह प्राणी प्रत्येक समय उसी दु:ख की सामग्री को ही अपनाता जा रहा है। और सतत् दु:ख का अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार आप लोग दुकानदारी में बेलेन्स को मजबूत रखकर दुकानदारी करते है उसी प्रकार यह ससारी प्राणी आप लोग वर्तमान में दुख की सामग्री इकट्ठा करने मे लगे हुए हैं। यूँ कहना चाहिये प्रत्येक संसारी प्राणी एक उद्योगपति है और जैसे उद्योगपति कभी भी अपने को फेल नहीं होने देता, बैलेन्स मजबूती बनाये रखता है इसी प्रकार कर्मबंध के क्षेत्र मे वह अपने कार्य को करने में सजग है और सुचारू रूप से कार्य को सभाल रहा है और सुख की प्राप्ति और बंध की व्युच्छित्ति चाहते हुए भी स्वतत्र होते हुए भी बंधन का कार्य करता जा रहा है उसी बंध तत्व के बारे में आज आपको कुछ सुनाना है बताना है।

बंध से डरना, यह भव्य का कार्य है। भव्य कहते हैं होनहार को। जैसे आपके परिवार में कई बच्चे होते हैं लेकिन होनहार एकाध को ही आप कहते हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग को अपनाने वाले होनहार कुछ प्राणी अलग होते हैं जो बंध से डरते हैं बंध से डरना इतना ही पर्याप्त नहीं है, बध के कारणों से डरना यह भी परम आवश्यक है; मुक्ति की प्राप्ति के लिए दस पंद्रह वर्ष पूर्व की बात है एक पेड़ के नीचे बैठा था मैं, और देख रहा था उस आक के फूल को जो बहुत हल्का होता है और देखने में बहुत सुहावना होता है। रंग भी सफेद होता है उसका। एक बार यदि कोई बच्चा देख ले उसे, तो वह भी उस फूल के समान उड़कर उसको पकड़ने का प्रयास करता है।

मैं देख रहा था वह फूल बिना हवा के झोंके के भी उड़ता रहता है और ज्यादा

हवा आ जाये तो संभाल नहीं पाता अपने आपको और नीचे आकर कोई गीली चीज मिल गयी कि बस वहीं चिपक जाता है। इसको कहते है संयोग। ज्यो ही वह चिपक गया उसका स्वभाव जो उड़ने का था वह समाप्त प्राय हो गया। थोड़े ही समय मे कब वह पंखुरिया टूट गयीं कुछ पता नहीं। अब उसका अस्तित्व भी समझ पाना मुश्किल हो गया।

एक बार आर्द्रता के साथ संयोग का यह परिणाम निकलता है तो बार-बार यह जीव रागद्वेष रूपी आर्द्रता का सयोग करता ही रहे तो क्या परिणाम होगा? आप ही सोचो। आप उर्ध्वगमन कर सकोगे जो आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार वह आक का फूल आर्द्रता के संयोग में आ गया और अपने उड़ने के स्वभाव को खो बैठा, उसी प्रकार यह आत्मा प्रत्येक समय, रागद्वेष की सगत मे अपने उर्ध्वगमन स्वभाव को भूल गया है। और सयोग की सामग्री हर समय खरीदता ही जा रहा है आगे के लिए। बीजारोपण करता जा रहा है।

जिस प्रकार कृषक फसल काटता है और सर्वप्रथम उसको खाने से पहले बीज की व्यवस्था कर लेता है उसी प्रकार आप भी एक कुशल कृषक के समान, कर्मो का फल भोगते भी जा रहे है और आगे बोने के लिए बीज (नये कर्म) की व्यवस्था भी कर रहे हैं। प्रत्येक समय नये कर्मो के साथ सयोग हो रहा है और सयोग का अर्थ है बध। समीचीन रूपेण योग इति सयोग या ऐसा कहो कि समीचीन रूपेण आस्रवणाय इति संयोग। जहाँ सयोग होगा वहाँ आस्रव तो हो ही रहा है और आस्रव का अर्थ है योग। संयोग के उपरान्त यदि वहाँ आर्द्रता है चिकनाहट है रागद्वेष है तो बंध हो जाता है।

अन्योन्य प्रदेशानुप्रवेशात्मको बधा। कयो। कर्मात्मनो। कर्म प्रदेशों का आत्म प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह हो जाना ही बध है। कर्म और आत्मा का ऐसा सयोग होने के उपरान्त गठबधन हो जाता है और वे एक दूसरे को स्थान दे देते है। दोनो के बीच बधन हो जाता है एकमेकता हो जाती है यही बध है।

दो के बिना बध नही होता, यह ध्यान रखना। एक हाथ से ताली जिस प्रकार नहीं बज सकती उसी प्रकार बध तत्त्व भी एक के बीच मे नहीं हो सकता। सांसारिक जो विषय सामग्री है वह और उसका जो भोक्ता है आत्मा, ये दोनो सयोग होते ही बध जाते है अब यह देखना है कि यह कैसा बध हो जाता है? कैसा सबध हो जाता है।

एक उदाहरण के माध्यम से समझ ले आप। स्कूल मे एक बच्चा और बच्ची पढ़ते हैं बाल्यावस्था की बात है निर्विकार भाव से पढ़ रहे है और भाई-बहन के समान रह रहे हैं। फिर जब पढ़ते-पढ़ते बड़े हो जाते है तो अपने-अपने बच्चों के ऊपर माँ पिता का ध्यान जाता है और विचार उत्पन्न होते है कि अब ये बड़े हो गये, इनकी शादी

कर देनी चाहिये। अब देख लो – वह लड़की की माँ कह देती है अपने पति से। उसके साथ ही साथ लड़के की माँ है वह कहती है लड़का बड़ा हो गया, बहू नहीं लाओगे क्या?

दोनो बच्चे अभी तो बचपन मे खेलते थे, कूदते थे, साथ-साथ उठते बैठते थे; तो माँ पिता ने सोचा प्रेम भाव भी परस्पर है। दोनो श्रेष्ठ भी है इन्हीं का सबंध जोड़ दिया जाये तो बहुत अच्छा है और दोनो का संबध/विवाह लग्न हो जाता है। लग्न का अर्थ एक दूसरे से मिल जाना, संलग्न हो जाना ही 'समाचीन रूपेण लग्नः सलग्न' दोनों समीचीन रूप से एक विचार में एक आचार मे बध गये। बध गये का अर्थ कोई रस्मी आदि से बाध दिया है ऐसा नहीं है। सबध हो गया, पाणिग्रहण हो गया लेकिन दूरी दिखती है। दूरी होते हुए भी सबध हो गया।

पहले जो साथ-साथ खेलते कूदते थे, पढ़ते थे अब घूघट आ गया उस बच्ची को। यह घूघट ही उस सबंध का प्रतीक हो गया। दोनो अलग-अलग है। प्रत्येक कार्य अलग-अलग करते हुए भी जुड़ गये हे और जीवन मे परिवर्तन आ गया है। यह ववाहिक सबध भी अपने आप मे एक थ्योरी (सिद्धात) रखता है। जीव के आचार विचार एकमेक हो जाते है अगर आचार एक नही रहेगा विचार एक से नही रहेगे तो विघटन आ जायेगा वह सबध विघटित हो जायगा।

इससे यह फलित हुआ कि सबध दो के बिना नहीं चलता और दोनो मे एकमेकता भी होनी चाहिये। 'अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेश' का अर्थ भी यह है कि एक दूसरे मे घुल मिल जाना। जैसे नट और बोल्ट है कि एक को खीचो तो दूसरा भी साथ मे खिचकर चला आता है। यह है बध की प्रक्रिया। जिस व्यक्ति का विवाह सबध सस्कार के साथ हुआ होता है वह जीवत्व के प्रति वास्तविक वात्सल्य का प्रतीक है। जिनको सन्यास आश्रम मे प्रविष्ट होने की अभी सामर्थ्य नही है वे कुछ दिन गृहस्थ आश्रम मे रहकर देख ले लेकिन उसके उपरान्त उसको भी पार करके निकल जाये तभी सार्थकता होगी। उन सासारिक वैवाहिक बधनो के समान ही धार्मिक क्षेत्र मे बध तत्त्व है।

"इसका कोई न कर्त्ता हर्त्ता अमिट अनादि है, जीव अरू पुद्गल नाचै यामे कर्म उपाधि है। इस ससार को बनाने वाला या नष्ट करने वाला कोई नहीं है यह तो अनादिकाल से है और अनन्त काल तक रहेगा। जीव अपने परिणामों से पुद्गल कर्म के सयोग से इस लोक में भ्रमण करता रहता है। यह कर्मबंध ऐसा है कि अब एक निश्चित काल के लिए न तो पुद्गल पृथक् हो सकता है और न ही आत्मा पृथक् हो सकती है। दोनो के बीच एक क्षेत्रावगाह सबध हो जाता है कि दोनों छूट नही सकते किसी अलौकिक रसायन के बिना।

आप पूछ सकते हैं कि महाराज ! यदि आत्मा मूर्त कर्म के साथ संबंध करता है तो क्या वह भी मूर्त है। क्योंकि अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध तो हो नहीं सकता। हाँ भइया, वर्तमान में ससारी जीव की आत्मा मूर्त है लेकिन वह पुद्गल के समान मूर्त नहीं है स्पर्श, रस, गध और रूप वाला। वह तो चैतन्य है। जड़ तत्त्व की संगत में आने से मूर्त बन गया है। मूर्त हुए बिना मूर्त के साथ संबंध होगा ही नहीं। लौकिक दृष्टि से भी जैनाचार्यों ने कहा है कि देवो के साथ मनुष्यों का व्यावहारिक काम सबंध नहीं हो सकता क्योंकि देव वैक्रियिक शरीर वाले हैं और मनुष्य का शरीर औदारिक है।

इस मूर्त का मूर्त से संबंध समझाने के लिए कुछ लोग आकर कह देते हैं कि आत्मा तो अलग ही रह जाता है और कर्म, कर्म के साथ बंध जाता है किन्तु ऐसा नहीं है। विचार करें कि कर्म कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बधः अथवा आत्मात्मनोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः। ऐसा तो जैनाचार्यों ने लिखा नहीं है। इसलिए यह प्रश्न तो ज्यों का त्यो बना रहता है कि अमूर्त के साथ मूर्त का संबंध कैसे होता है। इसी का समाधान देते हुए आचार्यों ने कहा है कि ससारी जीव के प्रति ऐसा एकान्त नहीं कि वह अमूर्त ही है।

मूर्तोपि स्यात् ससारपेक्षा अर्थात् ससारी जीव कथंचित् मूर्त होता है। संसार में इसका स्वभाव बिगड़ गया है। इसलिए यह मूर्त कर्म के साथ अनादिकाल से मूर्तपने का अनुभव कर रहा है किंतु वह चैतन्यमूर्ति है। यदि अपनी आत्मा को वर्तमान मे कथंचित् मूर्त मानेगें तभी अमूर्त बनने का प्रयास भी होगा, अन्यथा नहीं होगा। साथ ही साथ वर्तमान में आत्मा मूर्त है लेकिन इसमें अमूर्तपना आ सकता है इस प्रकार का जब विश्वास करेंगे आप, तभी बध तत्त्व के यथार्थ श्रद्धानी कहलायेंगे अन्यथा नहीं।

आत्मा मे जो मूर्तपना आया है वह पुनः वापिस अमूर्त मे ढल सकता है क्योंकि वह सयोगजन्य है स्वभावजन्य नहीं। इस प्रकार एक अलग ही क्वालिटी का मूर्तपना इस जीव मे आया है इसे उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। आप लोगों को यह विदित होगा कि बाजार में कई प्रकार की भस्में आती है, लौह भस्म है, स्वर्ण भस्म है, मोती भस्म है ऐसी ही एक पारद भस्म (पारे की भस्म) आती है। पारे को जलाया जाता है बहुत घटो तक। तब वह पारा भस्म के रूप में परिवर्तित हो जाता है और औषधि इत्यादि के रूप में काम आता है। यदि पारा खा लोगे तो वह नुकसान कर जायेगा, शरीर मे नहीं टिकेगा, शरीर सारा का सारा विकृत हो जायेगा। पारे को सामान्यतः कोई पकड़ भी नहीं सकता क्योंकि वह शुद्ध तत्त्व है विशुद्ध तत्त्व हाथ से पकड़ मे नही आता जैसे सिद्ध परमेष्ठी को आप पकड़ नहीं सकते। अर्हन्त परमेष्ठी संसार दशा में स्थित होने से अभी पकड़ में आते हैं क्योंकि मूर्त हैं।

इसका अर्थ यह हो गया कि वह पारा अपनी शुद्ध दशा में मूर्त होकर भी अभी पकड़ मे नहीं आ रहा है किन्तु घटो जलते रहने के बाद वह जब, भस्म के रूप परिणत हो जाता है तो पकड़ में आने लगता है और वैद्य लोग उसे औषधि के रूप मे प्रयोग मे लाते हैं। लेकिन एक बात और ध्यान में रखना कि इस पारे की भस्म की यह विशेषता है कि इसे खा लेने के उपरान्त यदि खटाई का प्रयोग हो गया तो पुनः वह अपनी सहज दशा मे आ जायेगा और शरीर को विकृत कर देगा।

ठीक इसी प्रकार यह आत्मा रागद्वेष रूपी अग्नि के माध्यम से यद्यपि पारे की भस्म के समान हो गया है पकड़ में आने लगा है तथापि यदि चाहे तो वह अपनी शुद्ध अवस्था में भी पहुँच सकता है। वर्तमान में यदि हम आत्मा को मूर्त नहीं मानेंगे तो बध तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी और बधापेक्ष मोक्षः – बंध की अपेक्षा से मुक्ति है तो मोक्ष तत्त्व भी सिद्ध नहीं हो पायेगा और मोक्ष तत्त्व के अभाव में संसार भी नहीं रहेगा, अन्य द्रव्य भी नहीं रहेगे जो कि संभव नहीं है। अत वर्तमान में अपने आत्मा को मूर्त मानना होगा और उसे अमूर्त बनाने के लिए निःशक होकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना होगा।

कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि अबद्ध अस्पृष्टः आत्मा, यह आत्मा अबद्ध है अस्पृष्ट है लेकिन ससार दशा मे विवक्षा भेद से कथंचित् बद्ध भी है और स्पृष्ट भी है। जो जीव भावना भाता है वह उस भावना के माध्यम से अबद्ध/शुद्ध बन सकता हैं यदि हम बद्ध ही नहीं है– ऐसा एकान्त से मान लेंगे तो फिर भावनाओं की क्या आवश्यकता है। इसीलिए आचार्यो ने कहा है कि अबद्ध बनने के लिए, 'मैं अबद्ध हूँ' – ऐसी भावना यदि जीव भायेगा तो वह अबद्ध बनने की ओर अग्रसर होगा अन्यथा नहीं।

एक सूत्र आता है मोक्षशास्त्र में विग्रहगत्तौ कर्मयोगः– एक गति से जीव दूसरी गति तक शरीर रचना के लिए जाता है तो विग्रह गति होती है और उस समय मात्र कर्म की ही सत्ता चलती है। वहाँ मात्र कार्मण काययोग रहता है। अब यदि कोई ऐसा माने कि कर्म तो मात्र कर्म से बंधे है आत्मा तो अलग ही रहता है तो इस स्थिति मे कर्म, कर्म को ही खींचते चले जाना चाहिये और आत्मा को वहीं पर रह जाना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं होता। उस आत्मा को भी कर्म के साथ नरक आदि गतियों में जाना पड़ता है। और अधिकतम तीन समय तक अनाहारक भी रहना पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्म के साथ आत्मा का गठबंधन हुआ है एक क्षेत्रावगाह संबंध हुआ है इसमें कोई संदेह नहीं है।

अब उस आत्मा को अमूर्त कैसे बनाया जाये यह प्रश्न उठेगा ही। तो कोई बात नहीं हमारे पास आ जाओ इधर। वीतरागता के पास आ जाओ। वीतराग रूपी खटाई का संयोग प्राप्त होते ही यह आत्मरूपी पारद भस्म अपने आप ही सहज दशा में आ

जायेगी। कर्म वर्गणाए पृथक् हो जायेगी।

चार प्रकार के बंध होते हैं अर्थात् जो आगत कर्म है इनमे चार प्रकार के भेद पड़ते है। आत्मा के योग के माध्यम से प्रकृति और प्रदेश बध होता है तथा कषाय के माध्यम से स्थिति और अनुभाग बध होता है। कितने कर्म आ रहे है कार्मण वर्गणाओं के रूप मे परिणत होकर इसको कहते हैं प्रदेश बध और कौन सा कर्म क्या काम करेगा अर्थात् उसका नेचर (स्वभाव) ही प्रकृति बध है। इसके उपरान्त कषायके द्वारा काल मर्यादा और फलदान शक्ति को लेकर क्रमश' स्थिति और अनुभाग बंध होते है।

सर्वप्रथम आती है अनन्तानुबधी कषाय। जैसे कोई मेहमान को निमंत्रण दे दें आप और जब वह आ जाये तो कह देते है कि यहीं रहो भइया, तुम्हे यहां से कोई निकालने वाला नहीं है। आराम से रहो और खाओ पिओ बस। इसी प्रकार अनन्तानुबधी कषाय जब तीव्र होती है तो मिथ्यात्व को सत्तर कोड़ा कोडी सागर तक के लिए आत्मा के साथ एक प्रकार का ऐशो आराम सा मिल जाता है। इतनी अधिक स्थिति वाला कर्म-बंध होता है इस कषाय के द्वारा। वह सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर तक के लिए मिथ्यात्व को निमत्रण देने वाला, अनन्तानुबधी कषाय वाला मुख्य रूप से मनुष्य गति का जीव है। अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ य अत्यधिक मनुष्य ही कर सकता है। और वह भी भोगभूमि का मनुष्य नहीं बल्कि कर्मभूमि का मनुष्य।

इस तरह स्थिति और अनुभाग जो बध है इनके द्वारा कर्म एक निश्चित समय के लिए बध जाते है और उसके उपरान्त अपना फल देते है। जो भी बध हो रहा है वह जीव की एक ऐसी गलती है जिसके माध्यम से कर्म आकर चिपक जाते है। यदि हमे बचना नहीं है बल्कि मुक्त होना है तो उसके लिए एक ही रास्ता है एक ही साधन है कि हम वीतरागता रूपी खटाई का प्रयोग करें, अनुपान करे और आत्मा जो मूर्त बना है उसे अमूर्त बना ले।

प्रसगवश यह विषय यहाँ पर ले रहा हूँ कि अनन्तानुबधी से बचने के लिए क्या करें? इससे बचने का उत्तम उपाय यही है कि आप जिस किसी भी क्षेत्र मे कार्य करते है वहाँ अपनी नीति और न्याय को न भूले। भले ही वह वैश्य हो, क्षत्रिय हो, ब्राह्मण हो या नौकर-चाकर, सेठ-साहूकार जो भी हो, अपनी-अपनी नीति न्याय को न भूले। आचार्यो ने जो चारित्र का पथ प्रशस्त किया है उस पर श्रद्धा सहित चलते रहने का तात्पर्य यही है कि हम कम से कम पापो से, कषाओ से अपने को बचा सके। जो मोक्षमार्ग पर आना चाहते है कर्म बध से बचना चाहते है उनके लिए न्याय-नीति पूर्वक स्वय को सभालने की बड़ी आवश्यकता है। सदाचार पालन करने की बड़ी आवश्यकता है।

कर्म सिद्धान्त पर जिसका विश्वास है वह व्यक्ति येन केन प्रकारेण कोई भी कार्य

नहीं करेगा। वह कार्य करने से पूर्व विचार अवश्य करेगा। मेरे इस कार्य को करने से अन्य किसी को कोई आघात तो नहीं पहुँच रहा है– ऐसा पूर्वापर वह अवश्य सोचेगा। कुल परम्परा से जो चारित्र आया है उसको हम पालन करते रहते हैं और इसे कहते हैं चारित्र आर्य। लेकिन हम इस तरह चारित्र आर्य होकर भी भगवान महावीर के सच्चे उपासक होकर भी क्या इतने नियामक नहीं बन सकते हैं कि अपना प्रत्येक कार्य नीति और न्याय के आधार पर ही करेंगे। मात्र प्रवचन सुन करके, तीर्थयात्रा करके या दान पूजा इत्यादि करके क्या आप महावीर भगवान को खुश करना चाहते है? इतने मात्र से आप कुछ नहीं कर सकेंगे भइया!

"एक व्यक्ति ने आकर कहा कि महाराज, मैंने त्याग कर दिया है आलू, तो मैंने भी कहा भइया, बिल्कुल आप हो दयालु, फिर भी चोरी करना है चालू बकरी के सामने बन बैठे हो भालू।" हमारे आचार्यों की त्याग के प्रति बहुत सूक्ष्म दृष्टि रही है। किस प्रकार का त्याग करना और कैसे करना यह जानना अनिवार्य है। आलू का त्याग करने मात्र से कुछ नहीं होने वाला। सर्वप्रथम जो भी व्यक्ति महावीर भगवान के बताये हुए मार्ग पर आरूढ़ होना चाहते है उन्हें सबसे पहले जीवों की रक्षा करनी चाहिये।

प्रत्येक व्यक्ति आत्मा के उत्थान की ओर अग्रसर हो सकता है इसलिए सर्वप्रथम तो प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव होना चाहिये। संकल्पी हिंसा का त्याग पहले आवश्यक है और उसमें भी मनुष्य की हिंसा से बचना– ऐसा कहा गया है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के पास यह क्षमता है कि वह मुनि बन सकता है और इस मुनि अवस्था मे, उस पवित्र आत्मा के माध्यम से, उसके दर्शन मात्र से असंख्यात जीवों के अनन्तकालीन पाप कट सकते हैं। इतनी क्षमता है उस मुनिमुद्रा में, वीतराग मुद्रा में। वह मुनिमुद्रा बाह्य में ही नहीं अन्तरंग में बैठ अमूर्त आत्म तत्त्व के बारे में भी बिना बोले ही अपनी वीतरागता के माध्यम से तिर्यंचों तक को उपदेश देती है।

इसलिये आज यह संकल्प कर लेना चाहिये कि अपने जीवन मे मात्र अपनी विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए किसी संज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य का घात नहीं करेंगे, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करेंगे। अभयदान की ऐसी क्षमता सभी के पास होनी चाहिये। जो अपने क्षणिक सुखों को तिलांजलि देकर अन्याय छोड़ने और दूसरे के जीवन को बचाने के लिए तैयार है वही सच्चा महावीर भगवान का उपासक है।

वही दान, सच्चा दान कहलाता है जो नीति-न्याय से कमाने के उपरान्त कुछ बच जाने पर दिया जाता है। ऐसा नहीं है कि दूसरे का गला दबाकर उससे हड़पकर दान कर देना। गत वर्ष की बात है कुण्डलपुर जी में लोग बोलियां बोल रहे थे। एक ने पचास रुपये कहा तो दूसरे ने पचपन रुपये कह दिया। पचास रुपये बोलने वाला अब

कह देता है कि पचा रुपये वाले की बोली है वही देगा। यह क्या है? भगवान के सामने बैठकर ऐसा कह देते है आप और अपने को दानी घोषित करना चाहते है।

यह मात्र लोभ कषाय के वशीभूत होकर चोरी, जारी, अनाचार, अत्याचार करके कमाये हुऐ पैसे को यहाँ मंदिर में आकर मान-कषाय को पुष्ट करने के लिए दान दे देना, यह दान नहीं है। अन्याय करने के उपरान्त यह नहीं सोचना चाहिये कि भगवान कहाँ देख रहे हैं। भगवान को सर्वव्यापी और विश्व लोचन कहा है। वह केवल ज्ञान ऐसा है जो सभी को एक साथ देख लेता है। इसलिए जो व्यापारी है वे सकल्प करें कि उनकी दुकान पर जो भी व्यक्ति आता है उसे नीति-न्याय पूर्वक हम सामग्री देगें, वस्तु देगें। इसी प्रकार जो और दूसरे कार्य करते हैं वे भी अपना कार्य न्यायपूर्वक करें।

मरहम पट्टी बांधकर, कर व्रण का उपचार, यदि ऐसा न कर सके, डंडा तो मत मारे। कम से कम किसी के घावों के ऊपर मरहम पट्टी नहीं लगाना चाहते या लगाने की शक्ति नहीं है तो उसे डंडा तो मत मारो। कम से कम आँख खोलकर तो चलो किसी के ऊपर पैर रखकर उसका घात तो मत करो, वह भी तो हमारे समान जीव ही है। जो व्यक्ति प्रत्येक जीव तत्त्व के प्रति वात्सल्य नहीं रखता, वह भगवान के प्रति वात्सल्य रखता होगा– यह सभव ही नहीं है। जो जीव है उनके ऊपर वही वात्सल्य, वही प्रेम, वही अनुकम्पा होनी चाहिये जो भगवान के प्रति आपकी होती है यही जीव तत्त्व का सच्चा श्रद्धान है।

एक आस्तिक्य गुण कहा गया है जो सम्यग्दृष्टि के पास होता है। आस्तिक्य गुण का अर्थ यह नहीं है कि मात्र अपने अस्तित्व को ही स्वीकार करना। दुनिया में जितने पदार्थ हैं उसको यथावत् उसी रूप में स्वीकार करना यह आस्तिक्य गुण है। जो दूसरों के भी जीवत्व को देखता है उसे ही आचार्यो ने आस्तिक्य कहा है अन्यथा वह नास्तिक है। जो दूसरे में जीवत्व देखेगा वह कभी भी विषयों का लोलुपी बनकर उनके घात का भाव नहीं लायेगा। गृहस्थाश्रम मे कम से कम यदि किसी को कुछ दे नहीं सकते तो उससे हड़पने का भाव भी नही लाना चाहिये।

भाई! राम बनो, रावण मत बनो। राम के पास भी पत्नी थी और रावण के पास तो राम से भी ज्यादा थीं क्योंकि वह प्रतिनारायण था। लेकिन भूमिगोचरी राम की पत्नी सीता पर उसने दृष्टिपात किया और उसका हरण भी किया। इतना ही नही राम लक्ष्मण दोनों को मारने का संकल्प भी किया, क्योंकि जब तक राम रहेंगे, सीता रावण की नहीं हो सकेगी। सीता यद्यपि राम के लिए भोग्य थीं और रावण की दृष्टि मे भी भोग्या थीं लेकिन रावण की दूषित दृष्टि में सीता मात्र भोग्या थीं और कुछ नहीं, जीवत्व की ओर रावण का ध्यान नहीं था। जीवत्व की ओर ध्यान तो राम ने दिया। राम के लिए सीता

मात्र पत्नी या भोग्य नहीं थी वरन् अपने मार्ग पर चलते हुए राम ने उन्हें सहगामी भी माना। इसलिए उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी राम ने अपने ऊपर माना।

राम ने स्पष्ट कह दिया कि मैं रावण से सीता को वापिस लाऊँगा, भले ही लड़ना पड़े। यह संकल्पी हिंसा नहीं थी, मात्र विरोधी हिंसा थी। उन्होंने कहा कि मैं रावण का विरोध करूँगा अन्यथा जैसे सीता चली गयीं, वैसे ही राज्य की अन्य रानियाँ चली जायेंगी सभी के प्राण संकट में पड़ जायेंगे। वे सीता को वापिस लाये और अग्नि-परीक्षा भी हुई। उसके उपरान्त सीता जी ने कह दिया कि मैं अब आर्यिका माता बनूँगी और यह श्रीराम की विशेषता थी कि जिस समय सीता दीक्षा ले लेती है, आर्यिका बन जाती हैं उसी समय राम कहते है कि नमोस्तु माताजी धन्य है आपका जीवन। मैं भी शीघ्र ही आ रहा हूँ आपके पथ पर।

राम ने सीता जी को दीक्षा लेते ही नमोस्तु किया और मातेश्वरी कहा। यह है सम्यग्दृष्टि राम की दृष्टि और मिथ्यादृष्टि रावण की दृष्टि देखो कि मरते वक्त तक वह यही कहता रहा कि राम मे तुम्हे मारूँगा और सीता को लूँगा। यही कारण है कि राम की पूजा होती है रावण की नहीं। अत. न्याय नीति के अनुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। आज कौन-सा ऐसा व्यक्ति है जो सरकारी क्षेत्र मे नौकरी करता हो और सरकार को यह विश्वास दिलाता हो कि मै कभी रिश्वत नहीं लूँगा। कोई भी सरकार रहे वह कभी भी आपको भूखा नहीं मारना चाहती। आपकी सतान नाबालिग रह जाये तो भी आपके मरने के बाद उसका प्रबध कर देती है। हमे भी सरकार के प्रति अपना कर्त्तव्य निभाना चाहिये और नियम के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

कई लोग आकर कहते है कि हम नौकरी करते हैं। बहुत बधकर के रहना पड़ता है छुट्टी नहीं मिलती, धर्म ध्यान नहीं कर पाते और अक्सर देखने में यही आता हे कि जब कोई सासरिक/वैवाहिक कार्य आ जाता है तो डॉक्टर से मेडीकल सर्टिफिकेट लेकर लगा देते हैं और छुट्टी ले लेते है। यह तो दुगना अन्याय है। एक डॉक्टर जिसने एम. बी.बी.एस. किया और वह निरोगी व्यक्ति को रोगी कहकर सर्टिफिकेट देता है और उसके माध्यम से रिश्वत खाता है साथ ही वह व्यक्ति भी जो सरकार को धोखा देकर अन्याय करता है तब संयोगवश ऐसे व्यक्ति को रोग न होते हुए भी रोग आ जाते हैं यह साइकोलॉजीकल इफेक्ट होता है और उसका सारा का सारा पैसा दवा इत्यादि में ही समाप्त हो जाता है। मन मे भय बना रहता है कि कही झूठ मालूम न पड़ जाये और नौकरी न चली जाये।

भइया, सत्य को बेचना नहीं चाहिये थोड़े से पैसो के लिए। सत्य तो सत्य है आत्मा का एक गुण है और आत्मा के संस्कार जन्म-जन्मान्तरों तक चले जाते हैं। सत्य को

छोड़कर मात्र इन्द्रिय सुखो के लिए असत्य का आश्रय नहीं लेना चाहिये। अहिसा, सत्य अचौर्य आदि धर्म का पालन करना चाहिये जिसके माध्यम से आत्म-बल जागृत होता है।

यह कषायों को समाप्त करने की बात है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूमिका की बात है। क्योकि अनन्तानुबधी कषाय के घात होने पर ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव है अन्यथा नहीं। सम्यग्दर्शन को मात्र चर्चा का विषय नही मानना चाहिये कुछ अर्चा भी करनी चाहिये और अर्चा यही है कि हम दर्शन आर्य बन जायें ओर सच्चे देवगुरु शास्त्र के प्रति सच्चा श्रद्धान रखे और आगे बढ़कर उस अनन्तानुबधी कषाय को अपने मार्ग से हटा दे। मिथ्यात्व को भगा दे तभी सार्थकता होगी इस जीवन की।

अत मे आपसे इतना ही कहना चाहूँगा कि आत्मा वर्तमान ससारी दशा में अमूर्त नहीं है वीतरागता के माध्यम से यह अमूर्त बन सकती है। कर्म का सबध आत्मा मे अनादिकालीन है और मात्र कर्म, कर्म से नहीं बधा है बल्कि कर्म और आत्मा का एक क्षेत्रावगाह सबध हुआ है। उसका विघटन या तो सविपाक निर्जरा के माध्यम से हो सकता है अथवा अविपाक निर्जरा के माध्यम से किन्तु सविपाक निर्जरा के द्वारा जो विघटन होगा उसमें आगे के लिए सतति नये कर्म की प्राप्ति होगी, जैसे भोगभूमि का जोड़ा। भोगभूमि के जोड़े ऐसे हैं कि जीवन के अन्तिम समय तक भोग भोगते रहते हैं किन्तु सतान नहीं होती लेकिन जब आयु समाप्त होने लगती है तो सतान छोड़कर ही जाते है। ऐसे ही सविपाक निर्जरा से एक कर्मबध तो समाप्त हो जाता है परन्तु आगे के लिए नया कर्मबध भी होता रहता है। इसलिए कर्मबध की परम्परा को समाप्त करने के लिए अविपाक निर्जरा का आलबन लेना चाहिये। 'तपसा निर्जरा च' तप के द्वारा सवर भी होता है और तप के द्वारा अविपाक निर्जरा भी होती है। श्रावक को अपनी भूमिका के अनुसार न्याय नीति पूर्वक चलना चाहिये। सम्यग्दर्शन की भूमिका भी यही है कि हम कषायों को कम कर और सत्य का अनुसरण करने का प्रयास करे।

बध तत्व को समझने और मुक्त होने का यही उपाय है।

□□

☐ संवर तत्व

आस्रव और बंध का परिचय अनादिकाल से मोह के फलस्वरूप अनन्तों बार प्राप्त हो चुका है। संसार के निर्माता आस्रव और बंध हैं। मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा हैं आज इसी संवर तत्त्व को समझना है। संवर का अर्थ बहुत सीधा सादा है। जैसे कोई एक सकीर्ण रास्ता है और बहुत भारी भीड़ घुस रही हो तो वहाँ क्या किया जाता है? आप परिचित हैं आहार के समय चोके के द्वार पर आकर जैसे खड़े हो जाते दो स्वयसेवक और सारी की सारी भीड़ को भीतर जाने से रोक देते हैं। कभी-कभी बाहर की भीड़ घुस रही है और अदर वाले उसका निषेध कर रहे हैं ऐसा भी होता है। यही सवर है। आस्रव निरोध संवरः– आने के मार्ग को रोकना यह संवर कहलाता है

इसके लिए शक्ति आवश्यक है विना शक्ति के काम नहीं हो सकता। नदी का प्रवाह बहता जाता है दोनों तटो के माध्यम से किन्तु उस प्रवाह को जिस स्थान पर रोका जाता है वहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक, इजीनियर अपना माथा लगा देते है अर्थात् दिन रात चिन्तन करते है कि यदि यहाँ बाँध, बांध दिया जाये तो पानी टिकेगा रुकेगा या नही। पानी के वेग को वह बांध झेल सकेगा या नहीं। बहुत विचार विमर्श होते है अनेक प्रकार की स्कीम वनती है उनके उपरान्त बांध का निर्माण होता है पानी को रोका जाता है।

इस तरह पानी का संनिरोध किये जाने से बड़ी जिम्मेदारी हो जाती है। पानी बहता रहता है तो वहाँ कोई बोर्ड लिखा हुआ नहीं रहता कि 'डेन्जर' (खतरा), लेकिन जहाँ बाँध वध जाता है वहाँ अवश्य लिखा रहता है कि खतरा है सावधानी बरते। पानी ज्यादा हो जाये तो उसे निकाल देते हैं क्योंकि बाढ़ आने पर उतनी जनहानि नहीं होती जितनी की बाँध फूट जाये तब होती है।

इसी तरह मोक्षमार्ग में भी है। अनादिकालीन रागद्वेष और मोह के माध्यम से जो कर्मो का आस्रव रूपी प्रवाह अविरल रूप से आ रहा है और जिसको हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूपी बाँध के द्वारा बांध देते हैं तो वह कर्मों के आने का द्वार रुक जाता है सवर हो जाता है। इसमें बड़ी शक्ति लगती है ध्यान रखो यहाँ न मन काम करता है न वचन और न ही काय-बल काम करता है यहाँ तो उपयोग काम करता

है जो आत्मा का अनन्य गुण है। कहना चाहिये कि आत्म-शक्ति ही उस कर्म-प्रवाह को रोक सकती है।

कर्म-प्रवाह का एक बल अपने आप में है और अनादिकाल से उसी का बल ज्यादा हुआ है इसलिए कमजोर उपयोग वाला बाँध यहाँ उसी प्रकार ढह जाता है जिस प्रकार सीमेंट की जगह मिट्टी आदि का उपयोग करके जो बाँध, बांध दिया जाता है और जो एक ही बार तेज बारिस में बह जाता है। यह तो मात्र पानी की बाढ़ होती है कर्मो की बाढ़ भी ऐसी ही आती है।

आचार्य उमास्वामी ने कर्मो के आने के द्वार बताये हैं एक सौ आठ, और एक सौ आठ प्रकार से ही वह आस्रव होता है। मन से, वचन से, काय से, कृत से, कारित से, अनुमोदना से, फिर समरम्भ समारम्भ और आरम्भ से। इसके उपरान्त क्रोध, मान, माया, लोभ इन सबको परस्पर गुणित किया जाए तो संख्या एक सौ आठ आती है। इसीलिए माला (जाप) में भी एक सौ आठ मणियाँ शायद रखी गयी हैं और तीन मणियाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की है। जा इस आस्रव के निरोध की प्रतीक है।

आत्म प्रदेशो पर आने वाले कर्म प्रवाह को रोकने का जो उपक्रम है वह आत्मा को अवनति से उन्नति की ओर ले जाता है। ससार मार्ग से मोक्षमार्ग की ओर ले जाता है और यह पतित से पावन बनने का उपक्रम सवर तत्त्व द्वारा चलता है। इसी कारण निर्जरा तत्त्व से सवर तत्त्व अपने आप मे महत्वपूर्ण है। निर्जरा, सवर के बाद ही ठीक है। यह क्रम अच्छा है क्योंकि संवर हुए बिना जो निर्जरा है उस निर्जरा से कोई काम नहीं निकलता। संवर का अर्थ है एक प्रकार से लड़ना। दुनिया के साथ आप लोग अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र का प्रयोग लड़ने के लिए करते हैं लेकिन जो कर्म आत्मा में निरन्तर आ रहे हैं उन्हे रोकने के लिए उनमे लड़ने के उपक्रम करना आवश्यक है। इसके लिए हमारे आचार्य उमास्वामी महाराज ने मोक्षशास्त्र ग्रंथ के नौवे अध्याय के प्रारम्भ में ही कह दिया है आस्रव निरोध सवर· निरोध करना रुध धातु से बना है जिसका अर्थ रुकना है। ऐसे कौन से परिणाम है जिनके माध्यम से कर्मो के आने के द्वार को बंद किया जा सकता है रोका जा सकता है। इसके लिए भी आचार्य महाराज ने आगे अलग सूत्र मे बात कही है कि "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चरित्रैः।"

जो व्यक्ति मोक्षमार्ग पर चलता है चलना चाहता है उसके लिए सर्वप्रथम संवर तत्त्व आपेक्षित है और सवर तत्त्व को निष्पन्न करने के लिए जो भी समर्थ है वे हैं– गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र। ये माला है। इन्हीं मणियों के माध्यम से सवर होगा। सर्वप्रथम आती है गुप्ति। संसार कारणात् आत्मनः गोपनं गुप्तिः। संसार के कारणों से आत्मा की जो सुरक्षा कर देती है उसका नाम है गुप्ति। गुपू गोपने

सरक्षण वा। गुप धातु जो है वह संरक्षण के अर्थ में आती है। गुप्ति एक ऐसा सबल है जो संरक्षण करना है। जब गुप्ति के माध्यम से कर्मो का आना रुक जाता है तभी आगे काम ठीक-ठीक बनता है। कर्मो का आना बना रहे और हम अपने गुणों का विकास करना चाहे तो यह सभव नहीं है।

गुप्ति, सवर का सबसे उत्तम साधन है। गुप्ति की प्राप्ति समिति के माध्यम से होती है इसलिए उसके साथ समिति की रखा और समिति को समीचीन बनाना चाहो तो दश लक्षण धर्म के बिना नही बन सकती, तो उसके बाद धर्म को रखा और दशलक्षण धर्म को यदि हम सही-सही पालन करना चाहें, उत्तमता प्राप्त करना चाहें तो बारह भावनाओं का चिन्तन करेंगे तभी उत्तमता आयेगी। बारह भावनाओं का चिन्तन कहाँ करें? एयरकंडीशन मकान म बैठकर, या जहाँ पखा चल रहा हो, कूलर चल रहा हो, हीटर लगे हो, रेडियो भी चल रहा हो, वहाँ हो सकता है क्या? ऐसा नही है, बारह भावनाओं का चिन्तन करना यानि तो उसके योग्य बाईस परिषह अपनाने होंगे।

बिना बाईस परिषह सह बारह भावनाओं का चिन्तन उसी प्रकार है जैसे कोई तकिया लगा कर के बैठा है और ऊपर छत्र लटक रहा है और वह कह रहा है कि राजा राणा छत्रपति . और छत्र हिल जाये तो चौंककर देखने लगता है कि कौन चोर आ गया छत्र चुराने के लिए। यह तो एक प्रकार से बारह भावनाओ का अविनय हो गया। एक नाटक जैसा हो गया। एक पाठ हो गया। ऐसा तो तोता भी रट लेता है। बारह भावनाएँ जो सवर की कारण मानी गयी है उनका कैसे पढ़ना चाहिये, कैसे चिन्तन करना चाहिए। तो यह बाईस परिषह सहन करते हुए करना चाहिये और बाईस परीषह बिना चारित्र के सहन करना सवर की कोटि म नही आयेगा।

चारित्र के बिना आप बाईस क्या बाईस सौ परीषह भी सह लेंगे लेकिन वे परीषह नही कहलायेंगे। चारित्र धारण करने के उपरान्त ही परीषह, परीषह कहलाते हैं। सही-सही रूप मे तो चारित्र के माध्यम से ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कहा भी है 'एतेषाम् गुप्त्यादीना संवर क्रियाया साधकतमत्वात् करण निर्देश' – सवर के लिए इसके अलावा और कोई साधकतम कारण नहीं है ससार मे। कोई कह सकता है कि सभी का नाम तो आ गया यहाँ, परन्तु सम्यग्दर्शन का नाम ही नही आया। तो भइया गुप्ति समिति आदि जो संवर के लिए साधकतम है ये सभी सम्यग्दर्शन के उपरान्त ही संभव है।

कहीं-कहीं एसा भी सुनने मे आता है कि सयम तो आस्रव बध का कारण है, तो ऐसा नहीं है। एक गुप्ति को छोड़कर सूत्र में बताये गये संवर के सभी कारण प्रवृत्ति कारक है। दशलक्षण धर्म भी प्रवृत्ति रूप है उसे भी आस्रव की कोटि में रख देगें तो जीवन मार्ग अधर्म में निकल जायेगा। इनके साथ आस्रव होते हुए भी प्रधानतया ये

सभी संवर के ही कारण हैं। इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिये कि महाव्रत से, चारित्र से एक मात्र बंध ही होता है। आस्रव तो जब तक योग रहेगा तब तक चलता रहेगा।

तप है चारित्र है यद्यपि इनके साथ आस्रव भी होता रहता है लेकिन ये मुख्य रूप से आस्रव के कारण नहीं हैं बल्कि संवर के कारण है। एक कारण अनेक कार्य कर सकता है। 'तपसा निर्जरा च' – एक तप के माध्यम से मात्र निर्जरा नहीं होती संवर भी होता है। 'च' शब्द का अर्थ यहाँ सवर लिया है। उदाहरण भी दिया है कि 'यथा अग्निरेकोऽपि विक्लेदन भस्माङ्गरा' जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी अनेक प्रकार के कार्य करनेमें सक्षम है उसी प्रकार यह भी है वह अग्नि, धान्य को यदि आप पकाना चाहें तो पका देगी, ईधन को जला भी देगी और साथ ही साथ प्रकाश भी प्रदान करती है,यदि सर्दी लग रही हो तो उष्णता के द्वारा सर्दी भी दूर कर देती है जिसको सकना कहते है। इस प्रकार अनेक कार्य हो सकते है।

इसी प्रकार तप भी, संयम भी, चारित्र भी ऐसे ही है कि एक साथ सब कुछ कर सकते है। अभ्युदय का लाभ भी मिलता है और मोक्ष का लाभ अथात सवर और निर्जरा का लाभ भी मिलता है अत जो मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होना चाहते है उन्हे उत्साह के साथ और रुचिपूर्वक इन्हे अपनाना चाहिये। आप लोगो के सामने हार लाकर रख दिया जाये और भले ही वह फूलों का हार क्या न हो, आप झट से गले मे डालने को तैयार हो जाते है तो में आपसे पूछना चाहता हूँ कि उमास्वामी महाराज ने इस चारित्र रूपी हार को बनाकर रख रक्खा है। इस हार को पहनने के लिए कोन-कौन तैयार है।

मैं तो इस हार को पहने ही हूँ पर सोच रहा हूं कि आपका भी जीवन सज जाये इस हार के माध्यम से। आप तो मात्र अभी शरीर के श्रृगार मे लगे है। सवर तत्त्व आत्मा का श्रृंगार करने के लिए हमे पाठ सिखाता है। शरीर का श्रृगार तो आस्रव और बध का उपक्रम है बधुओ। उसमे क्यो रच पच रहे हो। आप स्वय सोचो, विचार करो, जड़ तत्व के माध्यम से जड़ की शोभा मे जड़ बनकर लगे हुए है। जड़ के अलग-अलग अर्थ है। जड़ तत्त्व के माध्यम मे अर्थात् जितने भी ये आभरण-आभूषण वगैरह है। सभी जड़ है पुद्गल हैं। इनके माध्यम से जड़ की शोभा अर्थात् शरीर की शोभा कर रहे हैं और जड़ की शोभा मे लगने वाला जड़ है अर्थात् अज्ञानी है। इसी अज्ञान दशा मे तो अनन्तकाल खोया है।

आप कर्म के उदय की ओर मत दखो। कर्म का उदय है मै क्या करूं? कैसे सयम पालन करूँ? कैसे गुप्ति और समिति पालन करूँ? तो बधुओ। यह तो एकमात्र हमारे उपयोग की कमी है पुरुषार्थ की कमी है। सम्यग्दृष्टि की आत्मा अनन्त शक्तिमान है। भले ही शारीरिक शक्ति नहीं तो भी भावों के माध्यम मे बहुत कुछ सभव है। कर्म के

उदय से ही सब कुछ हो रहा है ऐसा एकान्त नहीं है। इसमें हमारी कमजोरी भी है। हम अपने मवर रूपी पुरुषार्थ में लग जाये तो कर्म उदय में आकर भी यूं ही चले जायेंगे।

जिस समय आत्म द्रव्य (पुरुष) आत्म द्रव्य की ओर दृष्टिपात करता है उस समय उदयागत कर्म किसी भी प्रकार से अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। मद कषाय के माध्यम से यही तो लाभ होता है कि जिस समय वह अपने में लीन हो जाता है तो कषाय इतनी कमजोर हो जाती है कि अपना प्रभाव नहीं डाल सकती है। अनुभाग बध और स्थिति बंध इसी कषाय पर आधारित होते हैं।

एक मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपनी विशुद्धि के बल पर आस्रव कार्य को कमजोर कर सकता है। वह सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर की उत्कृष्ट स्थिति को अन्त. कोड़ा-कोड़ी सागर कर सकता है। चार लब्धियाँ जब प्राप्त होती हैं तो प्रायोग्य लब्धि के माध्यम से वह मिथ्यादृष्टि अभव्य भी अपने सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति का जो दर्शनमोहनीय कर्म था उसे अपनी विशुद्धि के बल पर अपने पुरुषार्थ से अंतः कोड़ा-कोड़ी सागर कर देता है। यदि एक अभव्य जिनवाणी के श्रवण से और अपनी आत्म विशुद्धि के माध्यम से कषाय को इतना कमजोर बनाकर यह कार्य कर सकता है तो मैं सोचता हूँ कि जो भव्य हैं और निकट भव्य है आप जैसे आसन्न भव्य हैं वे तो ऐसे सहज ही फूंक करके उड़ा सकते हैं उन कर्मों को। लेकिन कमजोरी कहाँ पर हो रही है यह समझ में नही आ रहा है।

एक बार दृष्टिपात करो, अपनी आत्मा की ओर, उस अनन्त शक्ति की ओर। और अन्तर्मुहूर्त के अदर सारे के सारे कर्म अतः कोड़ा-कोड़ी सागर स्थिति वाले हो जायेंगे। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबधी यू ही चले जायेंगे। कहना चाहिये कि उस आत्मपुरुषार्थ के बल पर जो अनन्तकालीन समुद्र है पाप का, वह एक सेकिंड के अंदर आप भी सुखा सकते हैं और शेष रह सकता है एक चुल्लू भर पानी। इतना पुरुषार्थ एकमात्र सम्यग्दर्शन के माध्यम से हो जाता है।

कहाँ अटके हो? कहाँ फंसे हो? कुछ समझ में नहीं आ रहा है। आत्मिक बल के साथ कूद पड़ना चाहिये कर्मों का नाश करने के लिए। जब एक बार जंगल गये हम, तो गाय और गाय के बछड़े वहाँ चर रहे हैं यह तो देखा साथ में यह भी देखा कि गाय तो कूदती नहीं है लेकिन बछड़े का हिसाब किताब कुछ अलग ही है। इतनी तेजी से दौड़ता है वह बछड़ा और करीब दस बार दौड़-दौड़कर पुनः वापिस आ जाता है उसकी माँ के पास। फिर बाद में ऐसा चुपचाप बैठ जाता है जैसे पसीना आ गया हो, फिर थोड़ी देर में और शक्ति आ जाती है तो पुनः कूदने लग जाता है। इसी प्रकार आत्मा की बात सुनते ही ऐसी चेतना दौड़नी चाहिये कि बस! रुके नहीं! यह एकमात्र आत्म

शक्ति की स्मृति या चिन्तन का फल है। कर्मों के उदय के ऊपर ही आधारित होकर नहीं बैठना चाहिये।

संवर और निर्जरा ये दोनो तत्त्व आत्मपुरुषार्थ के लिए हैं। जो भी कर्म उदय में आ रहे हैं उनका प्रभाव उपयोग के ऊपर नहीं पड़े इस प्रकार का आत्म पुरुषार्थ करना ही तो संवर है। अगर इन्हीं का अभाव हो गया तो फिर आप क्या करेगे? एक बार की बात है कि एक राजा ने सेनापति को कहा कि चले जाओ। कूद पड़ो रणांगण में और जो शत्रु आया है भगाओ उसको। और विजयी बनकर आओ। वह सेनापति कहता है कि एक घंटे बाद जाऊंगा। तब राजा ने कहा कि अरे! एक घंटे के बाद तो वह स्वयं ही चला जायेगा, पर तब जीत उसकी होगी। तेरा काम तो इसलिए है कि जब रणांगण में प्रतिपक्षी आकर कूद जाये उस समय अपनी शक्ति दिखाना चाहिये।

इसी तरह जब मोहनीय कर्म उदय मे आये तभी तो आत्म पुरुषार्थ आवश्यक है। संवर का अर्थ यही है कि दूसरे को भगाकर वहाँ अपना विजयी झंडा लगा देना उन कर्मों पर विजय प्राप्त कर लेना। एक विशेष बात और कहता हूँ कि आज के जो कोई भी त्यागी हैं, तपस्वी हैं, मोक्षमार्गी है और सम्यग्दृष्टि हैं उन्हें कर्मों के अलावा लड़ना पड़ता है वर्तमान पंचमकाल से। इसे कलिकाल भी कहा जाता है। कलि का अर्थ संस्कृत में झगड़ा है। काल के साथ भी जूझना पड़ता है। ध्यान रखना जिस प्रकार दीपक, रातभर अंधकार से जूझता रहता है इसी प्रकार पचमकाल के अतिम समय तक सम्यग्दृष्टि से लेकर भावलिंगी सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज भी सवर तत्त्व के माध्यम से लड़ते रहेंगे। श्रावक श्राविका मुनि आर्यिका यह चतुर्विध संघ पंचमकाल के अत तक रहेगा।

वर्तमान में कम से कम तीन चार सौ मुनि आर्यिका आदि तो होना ही चाहिये। जो संवर तत्त्व को अपनाये हुए है। जो आत्मा के परिणाम हैं, आत्मा की परिधियाँ है और कर्मो को रोकने वाली एक चैतन्य धारा है उसको कहते हैं संवर। वह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र द्वारा उद्भूत होती है आत्मा में। उसको प्राप्त कैसे करें यह विचार करना चाहिये और जल्दी-जल्दी इस पथ पर आना चाहिये ताकि श्रमण परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे।

विचार करें कि आत्मा के पास जब बधने की शक्ति है तो उस बंध को मिटाने, तोड़ने की भी शक्ति है। किसी व्यक्ति को आपने निमंत्रण दिया है तो उसे बाहर भी निकला जा सकता है। मैंने निमंत्रण दे ही दिया है और अब आ ही गया है तो वापिस जाओ, ऐसा कैसे कहूँ यदि ऐसा सोचेंगे तो छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

एक व्यक्ति बहुत ही सदाचारी था, दयालु था। उसे देखकर एक दूसरा व्यक्ति उसके यहाँ चला जाता है और कहता है कि बहुत परेशान हूँ बहुत प्यास लगी है और

भूखा भी हूँ। थोड़ी प्यास बुझ जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसे घर ले आता है और कहता है ठंडा पानी पी लो भइया, चिंता क्यों करते हो और वह व्यक्ति पानी पी लेता है और कहता है कि थोड़ी भूख शान्त हो जाये तो अच्छा रहे। वह दयालु व्यक्ति उसके सामने थोड़े काजू, किशमिश रख देता है और कहता है रसोई अभी तैयार हो रही है तब तक यह खाओ बाद में भोजन कर लेना और वह व्यक्ति खा लेता है इसके उपरान्त पलग बिछा है तो लेट जाता है और नींद लग जाती है। सुबह हो जाती है और वह व्यक्ति जाने का नाम नहीं लेता। तब दयालु व्यक्ति इशारा कर देता है कि भइया जी, मैं अब अपने काम से बाहर जा रहा हूँ आप भी ... ...। इतने पर भी जब वह नहीं जाता तो बाद में स्पष्ट कह देता है कि आप जाते है या नही। इतना सुनते ही वह चला जाता है।

आशय यही है कि कर्मो को आपने बुलाया है यह गलती हो गयी है आपसे, लेकिन अब जब इतना ज्ञान हो गया है कि जिसको बुलाकर हमने गलती खाई है उसको निकाल भी सकते है तो निकालने का पुरुषार्थ करना चाहिये। आने वाले कर्मो को रोकने की शक्ति है सवर मे। सयम तप त्याग आदि अपनाते ही यह सवर की शक्ति जागृत हो जाती है और आने वाले कर्म रुक जाते है। मात्र कर्म का उदय मानकर हाथ पर हाथ रखे मत बैठो। कर्म का उदय, बध के लिए कारण नही है, कर्म का उदय आस्रव के लिए कारण नही है किन्तु कर्म के उदय के साथ हमारा सो जाना ही आस्रव और बंध के लिए कारण है।

'मैने किया विगत मे कुछ पुण्य-पाप। जो आ रहा उदय मे स्वयमेव आप। होगा न बध, तबलौं, जबलौं न राग। चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग।'

उदय को देखते बैठे रह जायेगे तो निस्तार नहीं होने वाला। गलती तो यह कर ली है कि विगत जीवन मे हमने रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर कर्मो का आस्रव किया है कर्मो को बाधा भी है उनका उदय तो आयेगा ही इसमें कोई संदेह नहीं है। वह उदय मे आयेगा और द्रव्य क्षेत्र, काल, भव और भाव को लेकर फल भी देगा। परन्तु ध्यान रखो कि आगे के लिए भी वह अपनी सतति (नये कर्म) छोड़कर चला जाए यह नियम नही है। (1) नये कर्मो के लिए चाहिये रागद्वेष और योग की प्रणाली। मान लो आस्रव होगा क्योंकि योग है तो भी कोई बात नहीं यदि कषाय नहीं है तो वह कर्म चिपकेंगे नही, यू ही चले जायंगे। जैसे वर्षा हो रही है और आप अपने मकान को सुरक्षित रखना चाहते हो तो कहीं कोई ट्रेजरी में लॉकर में ले जाकर तो उसको रखोगे नहीं, वर्षा मे भी वह रहेगा, उसकी सुरक्षा तो यही है कि वर्षा का पानी उसमें टिके नहीं।

वर्षा होती रहे परन्तु एक बूंद पड़ी निकल गयी तब मकान को कुछ नहीं होगा।

इसी प्रकार योग की प्रणाली के माध्यम से कर्म आ रहे हो तो कोई बात नहीं, हम जितना जितना कषाय को कमजोर बनाते जायेंगे क्षीण करते जायेंगे उतना उतना संसार कम होता चला जायेगा। कर्मों की स्थिति और अनुभाग घटता जायेगा।

यूं आया और यू ही चला गया जैसे वर्षा प्रवाह बस। बहता चला गया। अतः जो कर्म बांधे हैं वह उदय में आयेंगे लेकिन नवीन कर्म जो बंधेंगे वे कर्मायत्त नहीं है वे आत्मायत्त हैं अर्थात् आत्मा के ऊपर निर्धारित है। यदि आत्मा जाग्रत है तो किसी भी प्रकार के कर्मोदय से अपने को धक्का नहीं लगेगा।

यहाँ साम्परायिक आस्रव और बंध को रोकने की बात है इसलिए पाप का बंध तब तक नहीं होगा जब तक राग नहीं होगा द्वेष नहीं होगा और रागद्वेष हमारे उपयोग की कमजोरी हैं। हमारा उपयोग जितना चचल होता चला जाता है उतना ही ज्ञेयभूत पदार्थों को भी हम हेय या उपादेय के रूप में इष्ट अनिष्ट मानकर रागद्वेष करते चले जाते हैं। इसलिए यदि हम आत्मपुरुषार्थ के माध्यम से सयम के साथ, संवर के साथ उस उपयोग को जोड़ दे तो वह बंध के लिए कारण नही बनेगा। आचार्यों ने इसीलिए कहा है कि संयम के माध्यम से संवर होता है मात्र आस्रव नहीं। आस्रव यदि होता भी है तो शुभास्रव होता है जो अशुभास्रव के समान बाधक नहीं है। अशुभ को मिटा देने पर आपको अपने आप मालूम पड़ जायेगा कि शुभ एक औषधि का काम कर रहा है जो स्वास्थ्यवर्धक है।

यदि महाव्रत रूप चारित्र को आस्रव का कारण मान लेंगे तो चौदहवें गुणस्थान में भी आस्रव मानना पड़ेगा, वहाँ महाव्रत का त्याग तो किया नहीं है अयोग केवली होकर वे ध्यान में बैठे हैं और ध्यान महाव्रत के बिना नहीं होता। इसका अर्थ है कि आस्रव, महाव्रत के माध्यम से नहीं होता, आस्रव का प्रमुख कारण योग है और कषाय भाव है। महाव्रत तो संवर का कारण है संवर को करने वाला यदि कोई साधकतम कारण है तो वह है गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र– यह बात पूज्यपाद स्वामी ने स्वयं लिखकर समाधान दे दिया है।

संवर के सभी साधकतम कारण बिना महाव्रत के नहीं होते। बारह भावनाओं का चिन्तन भी महाव्रत धारण करने के उपरान्त ही कार्यकारी होता है क्योंकि वास्तविक बारह भावनाओं के चिंतन से संवर और निर्जरा दोनों होती हैं, और आत्मा की विशुद्धि जितनी-जितनी बढ़ेगी उतना-उतना संवर तत्त्व भी बढ़ता-बढ़ता चला जायेगा और उसके माध्यम से एक दिन यह संसारी प्राणी कर्मों की सारी की सारी निर्जरा करके मुक्ति भी पा सकता है।

कर्मोदय से भयभीत न हों बल्कि हम थोड़ा मन को, अपने उपयोग को, कर्म से,

कर्म के फल से सारे आसपास के वातावरण से मोड़ लें और आज तक जिसको नहीं देखा, जिसको नहीं जाना उस ओर अपने उपयोग को लगा लें तो कर्मोदय का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। जब हम बाहर झांकते हैं उसी समय बाहर की बाधाएँ सताती हैं, और यह झांकना भी स्वाश्रित है, जब झाकने की इच्छा होती है तब झांकते है कर्म के उदय में नहीं झांकते। यदि कर्म के उदय में झांकते है तो फिर झांकते ही रहें।

जब फाल्गुन मास आता है उस समय रग खेलने का समय आता है होली। होली का अर्थ यही है कि उस समय सारे लोग इकट्ठे होकर रंग खेला करते हैं और आनंद का लाभ लेते हैं। कोई-कोई लोग रंग से बचने के लिए बाहर नहीं निकलते पर मन मे यह विकल्प जरूर पैदा हो जाता है कि बाहर क्या हो रहा है यह तो देख लूं और जैसे ही बाहर झरोके मे झाकते है उसी समय रंग लग जाता है। इसमे कर्म का उदय नहीं है यह तो मनचलापन है कि बाहर क्या हो रहा है देख तो लूँ। थोड़े से बाहर गये और सारे के सारे भीग करके आ जाते हैं रंग में।

इसी प्रकार उदय जो है बाहर है और संवर तत्त्व को प्राप्त करने वाली आत्मा अदर ही अदर चली जाती है वहाँ तक उस रंग का प्रभाव नहीं पड़ता। बाहर आये कि प्रभाव पड़ा। तो संवर एक कला है। यह आत्मा आस्रव और बध के उपरान्त जब वह कर्म उदय मे आता है तो उदय को सहन नहीं पाता और उदय से डरकर संवर तत्त्व को भूल जाता है जिसके फलस्वरूप नया बंध होने लगता है। नये बध को रोकने का उपाय यही है कि उदय के प्रभाव से बचा जाये।

सपेरे होते हैं न, सपेरे सांप को पकड़ने वाले। वे सांप को क्या ऐसे ही पकड़ लेते है जाकर फूलमाला जैसे। नहीं, यूं ही नहीं पकड़ते। पकड़ने से पहले साप को बुलाते हैं जहाँ कहीं भी वह होता है वहाँ से उनकी ओर आ जाता है तब वे बीन बजाते हैं। बीन की आवाज सुनकर वह सांप उनके सामने आकर बैठ जाता है। जो बासुरी बजाता है उसको नहीं काटता। उस बीन के साथ-साथ स्वर-से-स्वर समाहित करके वह झूमने लगता है और काटना भूल जाता है। इतनी लीनता आ जाती है संगीत से कि अपने काटने के स्वभाव को भूल जाता है और उसी समय सपेरा उसको पकड़ लेता है और विषदंश निकाल देता है।

मैं सोचता हूँ ऐसे ही जब कर्म का उदय आये तो वीतराग रूपी बीन बजाना प्रारभ कर दें। उदय तब कुछ नहीं कर पायेगा, वह आकर भी अपना प्रभाव नहीं डाल पायेगा। वीतरागता में इतनी शक्ति है। राग द्वेष के माध्यम से आत्मा दुखी हो जाता है और वीतरागता के माध्यम से सुखी हो सकता है। अब आप स्वयं ही सोचे कि आपको सुख चाहिये या दुख। आप झट कह देंगे कि बांटना चाहो तो सुख ही चाहिये मुझे। भइया

सुख को बांटा नहीं जा सकता प्राप्त करने की प्यास जगायी जा सकती है।

जैसे आप लोग जब कोई चीज बना लेते हैं खाने की खीर, हलुआ आदि तो बाटते नहीं हैं बल्कि जल्दी-जल्दी खाना चाहते है अगर कोई आकर कह देता है कि यह क्या, हमें भी थोड़ा सा दो। तब आप कह देते हैं कि वाह भइया पसीना-पसीना हो रहा हूँ सुबह से तब बना है तुम बिना परिश्रम के पाना चाहते हो। थोड़ा परिश्रम करो तब मिलेगा। यह खाने की चीज की बात हुई जो कथचित् बाटी भी जा सकती है लेकिन संवर तत्त्व जिसे प्राप्त होना है स्वय के परिश्रम से होता है और उसे बांटा नहीं जा सकता। हाँ इतना अवश्य है कि यदि मुझे संवर तत्त्व का आनंद लेते देखकर आपको रस आ जाये तो आप पूछ सकते हैं कि इसको कैसे पाया, तो प्राप्त करने का उपाय बता सकता हूँ लेकिन दूँगा नहीं क्योंकि दिया नहीं जा सकता।

संवर तत्त्व की मिठास को आज तक आपने नहीं पाया। सोचता हूँ कि इतनी मिठास को छोड़कर आप कहाँ नीम जैसे कड़वे भौतिक पदार्थों मे रस ले रहे है। ससारी प्राणी की दशा ऊट के समान है। ऊट उस दिन बहुत आनद मनाता है जब कोई नीम का वृक्ष मिल जाता है। पचेन्द्रिय के विषयो में रस लेना, रस मानना यही एकमात्र ससार का कारण है। आत्मा के रस को पहचानना चाहिये और उसे प्राप्त करने के लिए सवर तत्त्व को अपनाना चाहिये।

जब कोई आशीर्वाद दे देता है तो शक्ति आ जाती है इसी प्रकार सवर भी एक प्रकार के आशीर्वाद का प्रतीक है। जिसके माध्यम से शक्ति आ जाती है और सारे बाधक तत्त्व रुक जाते है। एक अमोघ शस्त्र है आस्रव और बध को रोकने के लिए यह सवर तत्त्व। हम इस सवरतत्त्व रूपी कवच को पहनकर मोक्षमार्गी बन सकते है और मोक्ष प्राप्त कर सकते है। यह सवर अनन्य कारण है मोक्ष का और इस सवर के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परीषह जय और चारित्र आवश्यक है। यह सभी संवर के लिए साधकतम कारण है। इन सभी की प्राप्ति त्याग के द्वारा ही होगी। बिना त्याग के यह चारित्र रूपी हार को पहनना सम्भव नहीं है। इस चारित्र रूपी हार को पहनकर ही मनुष्य अलकृत हो सकता है। सफलीभूत हो सकता है। इसके बिना जीवन पतित रहेगा, कलंकित रहेगा। हमें अपने जीवन को कलंकित नहीं करना बल्कि इन चारित्र रूपी आभूषणों से अलकृत करना है। यही हमारा कर्त्तव्य है। इसी में जीवन की सार्थकता है।

□□

☐ निर्जरा

अभी तक जो कर्मों का आगमन हो रहा था उसका संवर करने के उपरान्त एक परम्परा प्रशस्त हो गया, अब अपना कार्य एक ही रहा कि अपने निज घर में आत्मा में, हमारी अज्ञान दशा के कारण हमारी असावधानी के कारण जो कर्मों का आगमन हो चुका है उनको एक-एक करके बाहर निकालना है। 'एक देश कर्म संक्षय लक्षणा निर्जरा' – कर्मों का एकदेश अलग होना निर्जरा है।

दस दिन से भी यदि किसी व्यक्ति को निद्रा पाने का अवकाश न मिला हो और वह नींद लेना चाहता हो और आपके घर आकर कहे कि मुझे कोई एक कोना दे दीजिये ताकि मैं पर्याप्त नींद ले सकूं, और आप भी उसे कहे कि कोई बात नहीं, आइये, यहाँ पलंग भी है यह गद्दा भी है तकिया भी है सब कुछ है और जब वह सोने लगे तो उस समय आप यह कह दे कि हम पांच छह दिन से इस कमरे में नहीं गये हैं और तो कुछ नहीं है एक सर्प बड़ा सा अंदर गया है इसलिए हम लोगों ने उसी दिन से इस कमरे में सोना ही छोड़ दिया।

अब बताइये दस दिन से परेशान वह व्यक्ति क्या वहाँ नींद लेगा। नींद लेने की इच्छा होते हुए भी वह कहता है कि मैं कैसे नींद लूँ यहाँ नींद लग ही नहीं सकती जब मालूम पड़ गया कि यहाँ सर्प है तो अब उसे यहाँ से निकाले बिना नहीं सोऊँगा। और वह व्यक्ति सभी प्रयास करके सर्प को निकालकर ही बाद में शयन करता है।

यह तो सामान्य सी घटना हुई। मैं यह सोचता हूँ कि आप लोग कैसे नींद ले रहे हैं। एक नहीं, दो नहीं पूरी आठ कर्मों के रूप में एक समय में अनन्तानन्त पुद्‌गल कार्मण वर्गणाओं के समूह कर्म के रूप में परिणत होकर सर्प की भांति आत्मा के प्रदेशों पर अपनी सत्ता जमाये हुए हैं और आप निश्चिन्त होकर सो रहे हैं। इतना ही नहीं उसके साथ-साथ और शुत्रओ को निमंत्रण देने वाले आत्मगत वैभाविक परिणति रूप शत्रु जो अनादि काल से रह रहे हैं उनके लिए भी आपके द्वारा आश्रय स्थान मिल रहा है। आपकी निद्रा बड़ी विचित्र है।

यदि उस व्यक्ति को नहीं बताया जाता कि यहाँ सर्प है और वह निर्विघ्न रूप से

वहाँ सो जाता और निद्रा लग जाती तो भी कोई बात नहीं उसे ज्ञात नहीं था ऐसा कह सकते हैं। जो संसारी जीव अज्ञानी है उन्हे मालूम नहीं है कि आत्मा के शत्रु कौन हैं मित्र कौन हैं और वे शत्रु के सामने भी सो रहे हैं तो कोई बात नहीं है लेकिन आप लोगों को तो यह विदित हो गया है कि आठ कर्म और उन कर्मों में भी जो रागद्वेष हैं वे अपने शत्रु हैं फिर भी उन आत्मा का अहित करने वाले शत्रुओं को अपनी गोद में सुलाकर आप सो रहे हैं तो आपका ज्ञान कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

'जान बूझकर अध बने है आखन बाँधी पाटी' – यही बात है। यदि अंधा गिरता है कुए में तो कोई बात नहीं किन्तु जानते हुए भी जो जानबूझकर अधा बन रहा है वास्तव मे अधा तो वही है। जो अंधा है वह तो मात्र बाह्य इन्द्रियो की अपेक्षा अंधा है किन्तु जो व्यक्ति रागद्वेष रूपी मदिरा पीते हुए जा रहे हैं उनके पास आँखे होकर भी अंध बने हैं। आँखे होते हुए भी जिस समय आँखों पर पट्टी बाध लेते हैं तो प्रायः करके बच्चे ही यह खेल खेलत है। उसका क्या कहते है आंखमिचौनी। हाँ वही है यह खेल। मैं सोचता हूँ यहाँ सारे के सारे यही खेल रहे है आँखमिचौनी। यहाँ कोई आँख वाला दीखता ही नहीं।

अंधकार में एक व्यक्ति इधर से आ रहा था अंधा था, और इधर से जा रहा था एक आँख वाला। दोनो आपस में टकरा गये। आँख वाले के मुख से सर्वप्रथम आवाज आयी कि क्या अंधे हो तुम। जहाँ कही इस तरह की घटना होती है तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी गलती नहीं स्वीकारता। जो अंधा व्यक्ति था उसने कहा कि हाँ भइया आप ठीक कह रहे हैं मैं अंधा हूँ मेरे नेत्र ज्योति नहीं है। गलती तो हो गयी माफ कर देना। दूसरे दिन वह व्यक्ति उस अंधे से फिर मिल गया लेकिन आज उसने देखा कि अंधे के हाथ में लालटेन थी। उसने पूछ लिया कि अरे ! तुमने तो कल कहा था कि तुम्हारे आख नहीं है तुम अंधे हो फिर हाथ में यह लालटेन क्यों ले रखी है। लगता है दिमाग ठीक नहीं है। वह अंधा मुस्कराया और उसने कहा कि यह लालटेन इसलिए रखे हूँ कि चूंकि मेरे पास आँख तो नहीं है और मुझे आवश्यकता भी नहीं है लेकिन आप जैसे आँख वाले लोग टकरा न जाये, उनको देखने में आ जाए कि मैं अंधा हूँ। पर इसके उपरान्त भी यदि आप टकराते हैं तो क्या कहा जाये। ऐसा ज्ञान तो मात्र भार रूप है।

जहाँ कोरा ज्ञान होता है उस ज्ञान के माध्यम से जो कार्य करना चाहिये वह यदि नहीं होता तो ऐसे में 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जिन जीवों को ज्ञात नहीं है आत्मा का अहित किस में है उनकी तो कोई बात नहीं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय को तो मालूम नहीं है कि हित अहित क्या है इसलिए वे भटक रहे हैं ठीक है किन्तु जिन्हें मालूम पड़ गया है यह

विदित हो गया है कि आत्मा का अहित किस में है उनकी बात ही निराली है।

'क्रोध मान, माया, लोभ, रागद्वेष परिणाम। ये ही तेरे शत्रु हैं समझो आतमराम।।' हमारा अहित करने वाले हमारे शत्रु अंदर छिपे हैं उन्हें हम निकाल दें। पड़ौसी की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। बाहर कोई शत्रु है ही नहीं बाह्य शत्रु और मित्र-ये मात्र नैमित्तिक हैं। इनमें हमें हर्ष विषाद देने की सामर्थ्य नहीं हैं देखो दीवार पर अगर एक गेंद आपने फैंक दी तो दीवार ने प्रत्युत्तर में आपको वह गेंद वापिस लौटा दी वास्तव में दीवार ने नहीं फेंकी किन्तु दीवार के निमित्त से गेंद का परिणमन ऐसा होता है कि जितनी तेजी से आप फेंकोगे उतनी ही तेजी से वह टकराकर वापिस आयेगी।

जो आपने फेंका उसी का प्रतिफलन है यह। न तो दीवार के पास ऐसी कोई शक्ति है न ही गेंद के पास है। अपने आप वह गेंद जाकर नहीं टकराती गेंद में उस प्रकार की प्रक्रिया हम पैदा कर देते हैं। ठीक उसी प्रकार ये रागद्वेष हमारी ही प्रतिक्रियाएं हैं इनको हम ही करते हैं और हम ही बार-बार परेशान होते चले जाते हैं। शत्रु और मित्र हमारे अंदर हैं। किनको हटाना है और किनका पोषण करना है यह समझ में आ जाये। यही ज्ञान का फल है।

'ज्ञानस्य फलं उपेक्षा अज्ञान हानिर्वा' उपेक्षा का अर्थ है चारित्र अर्थात् रागद्वेष की निवृत्ति और अज्ञान की हानि का अर्थ है जो आज तक अज्ञान हमने पाला है वह सारा नष्ट हो जाये यही क्रम अच्छा है। चारित्र पहले होता है स्वाभाविक ज्ञान केवलज्ञान उसके बाद होता है। केवलज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। इसकी प्राप्ति के लिए चारित्र नितान्त आवश्यक है। ऐसा कोई रास्ता नहीं है ऐसी कोई पगडंडी नहीं है जिस पर चलकर बिना चारित्र के हम केवलज्ञान-सूर्य को प्राप्त कर लें। इसलिए जो कोई भी शास्त्र स्वाध्याय का परिणाम निकलेगा उसमें प्रथम परिणाम तो यही है कि तत्काल उस व्यक्ति को चारित्र की ओर मुड़ना होगा। अपेक्षा अर्थात् रागद्वेष और रागद्वेष का एक विलोम भाव है उपेक्षा अर्थात् राग द्वेष का अभाव और वास्तविक निर्जरा इसी को कहते हैं।

आप लोग निर्जरा कर नहीं रहे हैं आप लोगों की निर्जरा हो रही है। यहाँ मैं करने की बात कह रहा हूँ। होने की बात तो ऐसी है कि वैसे ही समय आने पर कर्मों की निर्जरा होती है लेकिन आस्रव की धारा भी बहती रहती है इसलिए ऐसी निर्जरा से कभी भी कर्म-शत्रुओं का अभाव नहीं हो सकता। समय पर होने वाली सविपाक निर्जरा जो संसारी प्राणियों के प्रत्येक समय हो रही है वह अरहट चक्र की भाँति हो रही है। अरहट चक्र, घटी यंत्र को बोलते हैं जिसे आप लोग रहट भी बोलते हैं। इसमें कई कलश या मटकियाँ बंधी होती हैं और मटकियाँ एक के ऊपर एक इस तरह बंधी होती हैं कि आधी मटकियाँ खाली होती जाती हैं और आधी मटकियाँ भरी हुई ऊपर उठती जाती

हैं। यह क्रम चलता रहता है।

एक माला मटकियों की रहती है और मालूम नहीं पड़ता कि कब खाली होती है और कब ये भरती हैं। भरती भी हैं और खाली भी होती हैं तथापि पानी आना रुकता नहीं है। सविपाक निर्जरा आपके द्वारा इसी तरह हो रही है। उदयागत कर्म निर्जीर्ण हो रहे हैं पर सत्ता मे नये कर्म भी आते जा रहे हैं। बैलेन्स ज्यों का त्यो बना है। यह निर्जरा कार्यकारिणी नहीं है। एक निर्जरा ऐसी भी है जो आत्म-पुरुषार्थ से होती है वह निर्जरा 'तपसा निर्जरा च' वाली निर्जरा है।

अपने आप कर्म निर्जरा होने से मुक्ति नहीं मिलती। जब कभी भी विगत में जिन्होने मुक्ति पायी है या आगे मुक्ति पायेंगे या अभी जो मुक्ति पाने वाली आत्माएँ है सभी ने अपने आत्म-पुरुषार्थ के बल पर मुक्ति पायी है पायेंगे और पा रहे हैं; विदेह क्षेत्र से। जब पुरुषार्थ के बल पर बंध किया है तो मुक्ति भी पुरुषार्थ से ही होगी। यदि अपने आप बध हो गया हो तो अपने आप मुक्ति भी मिल सकती है और यह भी ध्यान रखो यदि अपने आप बंध हो रहा है तो मुक्ति सभव ही नहीं है क्योंकि बंध होता ही चला जायेगा निरन्तर।

इसलिए अपने आप यह कार्य नहीं होता आत्मा इसका कर्त्ता है और वही भोक्ता भी है। इसलिए आचार्यो की दृष्टि मे आत्मा ही अपने आप का विधाता है ब्रह्मा है, विश्व का विधाता नहीं, वह अपने कर्मो का है। कर्म को संस्कृत में विधि भी कहते है। विधि कोई लिखता थोड़े ही है हम जो कर्म करते हैं वे ही विधि के रूप मे हमारे साथ चिपक जाते है और इस विधि का विधाता आत्मा है हम स्वयं हैं। आत्मा ब्रह्मा भी है, वह संरक्षक है इसलिए विष्णु भी है और आत्मा चाहे तो उन कर्मो का संहार भी कर सकता है इसलिए महेश भी है। एक ही आत्मा ब्रह्मा विष्णु महेश तीनो रूप है।

आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा की जाने वाली निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है जो मोक्षमार्ग मे कारणभूत है। इसे पाये बिना मोक्ष संभव नहीं है। आप तो कृपण बने हुए है कि कमाते तो जा रहे हैं रखते भी जा रहे है पर इसे खर्च नहीं करना चाहते छोड़ना नहीं चाहते, और कदाचित् छोड़ते भी हैं तो पहले नया ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे काम नहीं चलेगा तप करना होगा। निर्जरा की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने बतलाया है कि निर्जरा कहाँ से प्रारम्भ होती है। उन्होंने लिखा कि जो भगवान का सच्चा उपासक होता है उसी से वह प्रारंभ होती है। अर्थात् गृहस्थ आश्रम में भी यह निर्जरा होती है।

अविपाक निर्जरा बाद में तप के माध्यम से संयम के माध्यम से हुआ करती है। अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी अनन्तानुबंधी जन्य असंयम को समाप्त कर देता है तो उसका मार्ग भी प्रशस्त होने लग जाता है। साथ ही दर्शन मोहनीय जो कि भुलावे में

डालने वाला है उसे मिटाने के उपरान्त एक शक्ति आ जाती है। चारित्र मोहनीय को भी धक्का लग जाता है। चारित्र मोहनीय की शक्ति कम पड़ने लगती है इसलिए निर्जरा तत्त्व वहीं से प्रारंभ हो जाता है। चूंकि यह निर्जरा तत्त्व पूर्ण बंध को रोक नहीं सकता इसलिए उसे मुख्य रूप से निर्जरा मे नहीं गिनते किन्तु गिनती में प्रथम तो वह आ जाता है।

यहाँ बात चल रही है उस निर्जरा की जो मुख्य है। जो तप के माध्यम से हुआ करती है। निर्जरा का अर्थ है अंदर के सारे के सारे विकारों को निकाल कर बाहर फेंक देना। जब तक अदर के विकारों को निकाल कर हम बाहर नहीं फेंकेगे तब तक अंदर के आनंद का जो स्रोत है वह स्रोत नही फूटेगा और जब तक वह आनंद नही आयेगा तब तक हमारा सवेदन दु:सवेदन ही रहेगा, दुख का सवेदन रहेगा।

निर्जरा करने वाला व्यक्ति बहुत होशियार होना चाहिये। पहले दरवाजा बंद कर लें अर्थात् कर्मों के आगमन का द्वार बंद कर लें फिर अदर-अदर टटोलें और एक-एक करके सारे कर्मो को निकाल दें। अदर मे कर्मो को निकालने के लिए जरा सी ज्ञान-ज्योति की आवश्यकता है क्योंकि जहाँ घना अधकार छाया हुआ होता है वहाँ थोड़ा सा भी प्रकाश पर्याप्त हो जाता है। आँख मीचकर बाहर के सारे पदार्थों को संवर के माध्यम से हटा दिया जाए फिर अदर ज्ञान-ज्योति को प्रकाशित कर दे तो उपादेय कौन और हेय कौन है सब मालूम पड़ जाता है तभी निर्जरा सभव होती है। जब तक हमारी दृष्टि बाहर लगी रहेगी तब तक निर्जरा की ओर नहीं जायेगी। इसीलिए आचार्यों ने पहले सवर को महत्व दिया कि विकार आने का द्वार ही बद कर दो। आने वाले सभी मार्गों का सवर।

अजमेर की बात है। एक विद्वान जो दार्शनिक था वह आया और कहा कि महाराज, आपकी चर्या सारी की सारी बहुत अच्छी लगी, श्लाघनीय है। आपकी साधना भी बहुत अच्छी है लेकिन एक बात है कि समाज के बीच आप रहते है और बुरा नहीं मानें तो कह दूँ। हमने कहा भैया, बुरा क्या मानूंगा, जब आप कहने के लिए आये हैं तो बुरा मानने की बात ही नहीं है, मैं बहुत अच्छा मानूगा और यदि मेरी कमी है तो मंजूर भी करूँगा। उन्होंने पुन: कहा कि बुरा नहीं मानें तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि आपको कम से कम लंगोटी तो रखना चाहिये। समाज के बीच आप रहते हैं उठते-बैठते आहार-विहार-निहार सब करते हैं और आप तो निर्विकार हैं। लेकिन हम लोग रागी हैं इसलिए लंगोटी रख लें तो बहुत अच्छा।

यह चर्चा उस समय की है जब भगवान महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया जाने वाला था। कई चित्रों के साथ भगवान महावीर स्वामी का एक चित्र भी रखा था। उस

किताब को जब मैंने देखा तो पाया कि हमारे भगवान महावीर तो इसमें नहीं है। लोगों ने कहा कि इसमें हैं देखिये अंतिम नम्बर उन्हीं का है। मैंने कहा कि ये तो आप लोगों जैसे दीख रहे हैं। लोग कहने लगे नहीं ये तो बिल्कुल दिगम्बर हैं मैंने कहा मुख तो सभी का दिगम्बर है पर इतने से कोई दिगम्बर नहीं होता। आपने वस्त्र भले ही नहीं रखे पर वस्त्र/आवरण भी कई प्रकार के है भगवान के सामने चित्र में यह जो लकड़ी लाई गयी है वृक्ष दिखाया गया है वह भी वस्त्र का काम कर रही है। इसे हटायेंगे तभी हमारे महावीर भगवान से साक्षात्कार होगा।

उस समय यह बात चली थी कि एक लंगोटी तो आप पहन ही लो। हमने कहा भइया ऐसा है कि महावीर भगवान का बाना हमने धारण कर रक्खा है और इसके माध्यम से महावीर भगवान कम से कम ढाई हजार वर्ष पहले कैसे थे, यह भी ज्ञात होना चाहिये। तो वे कहने लगे महाराज आप तो निर्विकार हैं और सभी की दृष्टि से कहा है। मैंने कहा अच्छा। आप दूसरों की रक्षा के लिए काम कर रहे हैं तो ऐसा करें कि लगोटी मे तो ज्यादा कपड़ा लगेगा, और महावीर भगवान् का यह सिद्धान्त है कि जितना कम परिग्रह हो उतना अच्छा है। आप एक छोटी सी पट्टी रख लो और जिस समय कोई दिगम्बर साधु सामने आ जाये तो धीरे से आँख पर ढक लें। जो विकारी बनता है उसे स्वय अपनी आँख पर पट्टी लगा लेनी चाहिये।

महावीर भगवान निर्जरा तत्त्व को अपनाने वाले थे। संवर को अपनाने वाले थे। उन्होने कहा कि जिस मार्ग से कर्म आ रहे हैं उसे ही बद कर दिया जाए, बाहरी द्रव्य अपने आप ही बंद हो जायेंगे। अगर अपना दरवाजा बंद कर लो तो सबका आना रुक जाता है। आत्मा के छह दरवाजे हैं पाँच इन्द्रिय संबधी झरोखे हैं और छठा दरवाजा है मन। आत्मा का उपयोग इन छहो के माध्यम से बाहरी हेय तत्त्व को उपादेय की दृष्टि से अपनाता है। बाह्य तत्व आते नहीं हैं स्थान से स्थानान्तर नहीं होते किन्तु प्रमेयत्व गुण के माध्यम से आत्मा पर अपना प्रभाव डालते हैं। यदि इंद्रिय और मन का द्वार बद है तो बाहर का रिफ्लेक्शन अदर नहीं आयेगा। इसी को कहते हैं सवर तत्त्व। इससे आत्मा के अदर की शक्ति अदर रह जाती है और निर्जरा के लिए बल मिल जाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के होने वाली निर्जरा एकान्त रूपसे अविपाकी निर्जरा नहीं है क्योकि वह बध तत्त्व के साथ चल रही है। उस निर्जरा को गज स्नानवत् कहा है। जैसे स्नान के समय हाथी करता है कि स्नान तो कर लेता है किन्तु इधर स्नान किया और उधर ढेर सारी धूल अपने सिर पर उड़ेल ली। भइया! निर्जरा होना अलग बात है और निर्जरा करना बात अलग है। अविरत सम्यग्दृष्टि के निर्जरा हो रही है, लेकिन तप के

द्वारा जो निर्जरा की जाती है वह तो संयमी के ही होती है। कई लोगों का ऐसा सोचना है कि जो सम्यग्दृष्टि बन ही गया है तो अब इसके उपरान्त पूजन करना, प्रक्षाल करना, दान आदि देना इससे और ज्यादा निर्जरा तो होने वाली नहीं। शंका बहुत उपयुक्त है लेकिन आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। पहले मैंने एक बार कहा था कि आप जैनी बन के काम करो। अकेले जैन मत लिखा करो। अंग्रेजी में JAIN शब्द में एक ही आई है अर्थात् आप एक ही दृष्टि से देख रहे हैं। जैनी लिख दो तो दो आई हो जायेंगी JAINI तब ठीक रहेगा दो ऑख हो जायेंगी। दोनों नयों से देखना ही समीचीन दृष्टि है।

श्रावक के लिए षट् आवश्यक कहे गये है। उनमें देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन सभी को प्रतिदिन करना आवश्यक है। हम तो सौंचते है दिने दिने के स्थान पर पदे पदे या क्षणे क्षणे होना चाहिये। ये छहों कार्य प्रतिपल एक के बाद एक करते रहना चाहिये। इसमें प्रमाद नही करना चाहिये। आवश्यक जिस समय मे जो है वह ही करना। 'अवश्यमेव भवः आवश्यक' ऐसा कहा गया है हमारे आचार्यो ने जब ग्रथ लिखे तो वे यह जानते थे कि जो श्रावक हैं गृहस्थ हैं उनके लिए भी कोई आवश्यक बनाने होगे ताकि विषय-कषाय से बचा जा सके। जो मन में आया वही लिख दिया हो ऐसा नही है पूर्वापर विचार करके, तर्क की कसौटी पर तौलकर और अनुभव से उन्होने लिखा है।

पूजा के समय सम्यग्दृष्टि को बंध तो होता है क्योंकि जब वह पूजा करता है तो आरभ तो होगा ही इसमे कोई संदेह नहीं है लेकिन आचार्यो ने कहा है कि बध ही अकेला होता हो ऐसा नहीं है। उन्होने कहा है कि ये आवश्यक गृहस्थ के लिए तप के समान कार्य करते है। जिस समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ पचेन्द्रिय के विषयों मे लीन हो जाता है अर्थात् विषय सामग्री का सेवन करता है उस समय उसके अनन्तानुबंधी संबधी और मिथ्यात्व सबधी कर्म प्रकृतियो का आस्रव बंध तो नहीं होता लेकिन अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा होने वाला बध तो अवश्य होता है और उस समय कर्म प्रकृतियों मे उच्च स्थिति अनुभाग के साथ बध होता है। उस समय उसके निर्जरा नहीं हुई किन्तु बध ही हुआ।

लेकिन पूजा के समय अविरत सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया लोभ की हीन स्थिति के साथ बध करेगा और अनुभाग भी मद होगा। उस समय पाप प्रकृतियो के अनुभाग और स्थिति में कमी आयेगी उनमें द्विस्थानीय बध ही हुआ करता है। जिस समय वह पूजन करेगा उसी समय में वह अप्रत्याख्यान को समाप्त भी कर सकता है क्योंकि उस समय भूमिका इस प्रकार की होती है उसके देशव्रत लेने की भावना

जागृत हो सकती है। महाव्रत धारण करने की भावना हो सकती है। क्योंकि वीतराग मुद्रा सामने है उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता, और अंदर का सम्यग्दर्शन बोलता है कि कमजोरी कहाँ पर है क्यों वस्त्रों में अटक रहे हो। इस प्रकार का विचार आते ही संभव है वह जीवन में वीतराग मुद्रा को धारण कर ले। इसलिए भगवान के सामने जाकर उनसे भेंट तो कर लेना चाहिये ताकि उनके अनुरूप बनने के विचार जागृत हो सकें, विषय कषायों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो सके। जो कि निर्जरा का कारण है।

पूजन करते समय अप्रत्याख्यान की निर्जरा तो होती ही है साथ ही जिस समय वह सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने पूजन करने लग जाता है और प्रभु पतित पावन बोलने लग जाता है तो उस समय अनन्तानुबंधी की उदीरणा होकर अकाल में ही वह खिर जाती है। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ की जो चौकड़ी मिथ्यात्व के साथ संबंध रखने वाली है वह सारी की सारी अप्रत्याख्यान के रूप में आकर फल देकर चली जाती है किन्तु सम्यक्त्व बाधित नहीं होता। जिसके अनन्तानुबंधी सत्ता मे है उसे सत्ता मे मे ता निकालना होगा क्योकि उदय मे आ जायेगी तो सम्यग्दर्शन का घात हो जायेगा। यह पूजन इत्यादि पट् आवश्यक सारे के सारे अंदर के कर्मो को निकालने के उपक्रम हैं।

इसलिए सम्यग्दृष्टि भगवान् के सामने जाकर अगर एक घंटे कम से कम पूजन करता है तो उतने समय के लिए अनन्तानुबधी की निर्जरा होती है। जिस व्यक्ति को निर्जरा तत्त्व के प्रति बहुमान है वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि होकर घर मे नहीं बैठेगा और पूजन की बेला को नहीं टालेगा और यदि टालता है तो वह सम्यग्दर्शन का पोषक नहीं है। यही कहना चाहिये। सम्यग्दृष्टि श्रावक अष्ट मंगल द्रव्य लेकर पूजा करने जाता है और हमारे द्वारा होने वाली पूजन में द्रव्य नही रहती भावों से ही पूजन होती है।

यदि आप श्रावक चाहें कि द्रव्य न लगे, भाव पूजन हो जाये और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है। आप यदि द्रव्य नहीं लगाना चाहते तो इसका अर्थ यही है कि आपको द्रव्य के प्रति मोह है और मोह है तो बध होगा निर्जरा नहीं होगी। भगवान के सामने पूजन करने का अर्थ यही है कि विषय सामग्री का विमोचन-यानी निर्जरा तत्त्व का आह्वान। विषय सामग्री चढ़ाई जाती है भगवान को दी नहीं जाती। हमारे भगवान लेते नहीं हैं पर आपके पास जितना है उसे छुड़वा देते हैं। तीर्थस्थल पर आप बैठे हैं तो यहाँ अपने आप छोड़ने के भाव जागृत हो जाते हैं। घर में रहकर यह भाव जागृत नहीं होते।

घर में जब खाना खाते हैं तो कहते हैं पाटा बिछा दो, पंखा चला दो, बिजली का नहीं तो हाथ से ही सही, थाली रक्खो, अच्छी चमकती हुई, गिलास रखो, लोटा रखो

पानी भर कर सारी सुख सुविधाएँ चाहिये लेकिन यहाँ क्षेत्र पर आप लोग खाना खाते हैं तो यहाँ कोई पाटा नहीं है, थाली नहीं है यूं ही एक तरफ बैठे-बैठे कैसे भी करके खा लेते हैं पांच मिनिट में। यही तो त्याग है। तीर्थ पर भगवान के सामने सभी व्यक्ति प्रायः व्रती बन जाते हैं त्याग की सीख ले लेते है। यहाँ तो प्रत्येक समय त्याग तपस्या की बात है निर्जरा की बात है। यहाँ निरन्तर चाहें तो मोक्षमार्ग चल रहा है। संसारी और गृहस्थ चौबीस घंटे राग-द्वेष और विषय-कषाय में, धर्म ध्यान को छोड़कर लगे हुए हैं। इन षट्-आवश्यकों के माध्यम से वीतराग प्रतिमा के सामने पूजन का सौभाग्य मिल जाता है और ऐसी निर्जरा होती है अविपाक निर्जरा जो तप के माध्यम से होती है। इसलिए पूजन धर्म आवश्यक है।

जो साधक है उन्हे पूजन अपने अनुकूल करना चाहिये। आपको/श्रावक को अष्ट मगल द्रव्य से पूजन का विधान है और हम लोगों को/मुनिजनों को अष्ट मंगल द्रव्य के अभाव में भावो की निर्मलता मे कोई कमी नहीं रखना चाहिये। मुनि लोग जब भी भगवान की पूजा करते है तो उस समय आप से भी असख्यात गुणी कर्म की निर्जरा कर लेते है। केवल आत्म-तत्त्व के माध्यम से ही निर्जरा होती है ऐसा एकान्त नहीं है। सामान्य रूप से होने वाली निर्जरा तो मिथ्यात्व के उदय में भी होती है। मिथ्यात्व का उदय बाद मे समाप्त होता है। अनन्तानुबधी पहले समाप्त हो जाती है निर्जरा तो वहाँ भी होती है लेकिन यहाँ इस प्रकार की निर्जरा की बात हम नहीं कर रहे है। सजग होकर ज्ञान के साथ जो निर्जरा की जाती है, और पूजन आदि षट् आवश्यकों के माध्यम से वह जितनी-जितनी बढ़ती है उतने-उतने अशो मे वह निराकुल बनता चला जाता है। यही षट्-आवश्यक श्रावक के लिए निराकुलता मे कारण बनते है। सम्यग्दृष्टि इनके माध्यम से विशेष निर्जरा करता है और आगे बढ़ता जाता है।

गृहस्थ होकर भी जितना अधिक आपका धार्मिक क्षेत्र मे समय खर्च होगा उतना ही आपकी सत्ता मे जो अनन्तानुबधी है वह सक्रमित होकर बिना फल दिये ही चली जायेगी। यदि आप सजग हो करके देवगुरु शास्त्र की पूजन, उनकी उपासना, आराधना उनका चिन्तवन करते है तो उस समय कर्म खिरते चले जाते है। मिथ्यात्व भी जो सत्ता मे है वह उदयावली मे आकर सम्यक्त्व प्रकृति के रूप में फल देकर चला जाता है इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति की निर्जरा हो जाती है और आपके सम्यक्त्व प्रकृति के उदय मे सम्यग्दर्शन ज्यों का त्यो बना रहता है।

जिस प्रकार आप लोग आठ घंटे की ड्यूटी दे देते है उस समय आपको जो वेतन बधा हुआ है वह मिल जाता है विश्वस्त होकर काम करो और थोड़ा प्रमाद भी हो जाये तो भी वेतन पूरा मिलता है ऐसे ही सम्यग्दृष्टि भगवान के सामने जाकर सो भी जायें

तो भी वेतन मिलता रहता है। यदि ओवर ड्यूटी कर ले तो फिर कहना ही क्या? एक व्यक्ति पसीना-पसीना हो रहा था मैंने पूछा कि भइया ऐसा इतना काम क्यों करते हो, समय पर किया करो। उसने कहा क्या करें महाराज घर की बात, बेटी के दहेज के लिए धन तो चाहिये इसलिए अभी दो तीन साल के अंदर ओवर ड्यूटी करके कमा रहा हूँ। अब सोचो, संसार के कार्यों में इस प्रकार कमा सकते हैं तो तप के माध्यम से षट् आवश्यकों के माध्यम से मोक्षमार्ग में निर्जरा को भी बढ़ा सकते है।

समय से पहले अकाल में ही इस प्रकार आवश्यकों के माध्यम से निर्जरा हो सकती है और नये बंध से बचा जा सकता है अतः पूजन आदि करना परम आवश्यक है। पूजन के माध्यम से मात्र बंध ही होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि बंध की प्रक्रिया न तो पूजन के समय पूर्णतः रुकी है और न ही विषय भोगों के समय रुकी है बल्कि जिस समय पूजन करते है उस समय पाप की निर्जरा हो जाती है उसका बंध रुक जाता है और शुभ-बंध प्रारंभ हो जाता है। पूजन को केवल बंध का कारण कहना – इस तत्त्व को नहीं समझना है। साथ ही साथ यह पाप का समर्थन करना है क्योंकि वह व्यक्ति पाप से मुक्त होकर मुनि तो बना नहीं है।

अष्ट द्रव्य से पूजन करना आस्रव का कारण है ऐसा उपदेश उन व्यक्तियों के सामने सुनाने योग्य है जो मुनि बनने के लिए तैयार हैं। यदि गृहस्थ होकर द्रव्य पूजन नहीं करना चाहते तो गृहस्थ से ऊपर उठ जाओ फिर भाव पूजन करो, फिर मंदिर जाने की भी आवश्यकता नहीं है लेकिन मंदिर जाने की आवश्यकता नहीं है तो घर जाने की भी आवश्यकता नहीं है यह भी बात है ध्यान रखो। आप चाहें कि मंदिर जाना छूट जाये, घर में बैठे रहें और निर्जरा भी हो जाये तो संभव नहीं है निर्जरा नहीं मिलेगी वहाँ तो जरा ही मिलेगी बुढ़ापा मिलेगा। अतः सभी विवक्षाओं को देखने, सोचने विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

नन्हे नन्हे बच्चों के सामने यदि पूजा को बंध का कारण बता देंगे तो कभी उनको ओर न आपको समझ में आयेगा कि वास्तव में आस्रव और बंध क्या है और निर्जरा तत्त्व क्या है मोक्ष क्या और जीव तत्त्व क्या है। वह श्रेष्ठ डॉक्टर है जो रोगी को दवाई देता है निदान ठीक-ठीक करता है साथ ही अनुपान का भी ध्यान रखता है। एक माह का बच्चा है और बीमार हो जाता है तो डॉक्टर औषध देगा पर उसे ध्यान रखना होगा कि कौन-सी देना कितनी मात्रा मे देना और किस अनुपान के साथ देना है। यदि पहलवान की तरह मात्रा और अनुपान लेंगे तो प्राण संकट मे पड़ जायेंगे।

इसी प्रकार जो अभी पूजन ही नहीं कर रहा है धर्म-ध्यान की ओर जिसकी दृष्टि नहीं है उसे पूजन बंध का कारण है-यह बता दिया जाए तो वह मोक्षमार्ग पर कभी

आरूढ़ नहीं हो पायेगा। मोक्षमार्ग से विचलित होकर उन्मार्ग पर बढ़ जायेगा निचली बात यदि छुड़ाना है तो धीरे-धीरे उस व्यक्ति को ऊपर की बात उपादेय के रूप में बता दो। यदि द्रव्य पूजन से बचाना चाहो तो सभी प्रकार के आरम्भ परिग्रह से ऊपर उठ जाओ, निरारम्भ बन जाओ निष्परिग्रही हो जाओ ग्यारह प्रतिमाएं ले लो।

संसार के तो अनेक पाप कार्य करना और भगवान की पूजन को बंध का कारण बनाना अथवा भोग को निर्जरा का कारण बताना यह सब जैन सिद्धान्त का अपलाप है। विवक्षा समझनी चाहिये। यह तो मोक्षमार्ग को अप्रशस्त करना है। जो ऊपर उठने वाले है उन्हे नीचे गिराना है सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है लेकिन ध्यान रखना भोग कभी निर्जरा का कारण नही होता। यदि भोग निर्जरा का कारण है तो योग (ध्यान) बंध का कारण होगा। सोचना चाहिये ऐसा कहने वालों को। कौन से शब्दो का अर्थ कहाँ क्या लिखा है किस व्यक्ति के लिए लिखा गया है। कुछ भी याद नहीं। आगम का जरा भी भय नही। कोई विवेक नहीं और धर्मोपदेश चल रहा है। यह ठीक नही है भइया।

सम्यग्दृष्टि का भोग भी निर्जरा का कारण है– ऐसा कथन आया है सभी जानते है किन्तु किस व्यक्ति के लिए आया है यह भी देखना चाहिये। जो व्यक्ति बिल्कुल निर्विकार वीतराग सम्यग्दृष्टि बन चुका है और दृष्टि जिसकी तत्त्व तक पहुँच गयी है इसके सामने वह भोग सामग्री, भोग सामग्री न होकर जड़ पदार्थ मात्र रह गयी है उस व्यक्ति के लिए कहा है कि तू कही भी चला जाये तेरे लिए संसार निर्जरा का कारण बन जायेगा।

भगवान की मूर्ति वीतराग प्रभु की मूर्ति निर्जरा के लिए कारण है संवर के लिए कारण है लेकिन सिनेमाघर मे जाकर कोई चित्र देखो तो क्या वहाँ निर्जरा होगी? संभव नहीं है आपको। आप स्वयं को भूल जायेंगे। समाधि के स्थान पर समाप्ति हो जायेगी। व्यसनो मे पड़कर भगवान को भूल जाना, साथ ही अपने आप को भूल जाना अलग है और निर्विकल्प ध्यान मे लीन होकर अपने को भूल जाना अलग है दोनों मे बड़ा अन्तर है। एक संसार मार्ग है और एक मुक्ति का मार्ग है। महाव्रती होकर यदि निर्विकार दृष्टि से वीतराग सम्यग्दृष्टि भोग सामग्री को देखता है तो भी उसको निर्जरा ही होगी।

पात्र को देखकर ही कथन करना चाहिये। भोग निर्जरा का कारण सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं है। अभी वह दृष्टि प्राप्त नहीं है जो हर पदार्थ को ज्ञेय बनाये अभी जब तक दृष्टि इष्ट अनिष्ट की कल्पना से युक्त है हेय उपादेय को नहीं पहचानती तब तक वह स्खलित हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए ग्रंथ का अध्ययन, मनन चिन्तन तो ठीक ही है लेकिन उसके रहस्य तक पहुँचे बिना कुछ भी कह देना ठीक नहीं है।

प्रत्येक पदार्थ की कीमत अपने-अपने स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र मे हुआ करती है। जौहरी की दुकान पर आप चले जायेंगे तो वह आपको बिठा लेगा आपका मान सम्मान भी करेगा लेकिन आपको अपने हीरे-जवाहरात जल्दी-जल्दी उतावलेपन मे नहीं दिखायेगा, न ही देगा। वह ग्राहक को परखता है फिर ग्राहक के सामने जवाहरात की जो कीमत है उसे बताता है। बहुत कीमती है ऐसा कहकर बड़ी सावधानी से एक-एक ट्रेजरी खोलता है तब कहीं जाकर एक छोटी सी संदूक और उस संदूक में भी एक छोटी सी डिबिया और उस डिबिया मे भी मखमल और मखमल में भी एक पुड़िया। इस प्रकार वह हीरा तो बहुत अदर है और उसे भी ऐसे ही हाथ मे लेकर नहीं दिखाता दूर से ही दिखा देता है।

इसी प्रकार ग्रथराज समयसार मे इस निर्जरा तत्त्व की कीमत है। ग्रथराज समयसार आचार्य कुदकुंद स्वामी ने सभी के हाथ मे नहीं दिया। वे ही हाथ लगा सकते है जो मुनि है या मुनि बनना चाहते है। वे ही इसकी सही कीमत कर सकते है वे ही इसका चिन्तन मनन और पाचन कर सकत ह। यह कोई सामान्य ग्रथ थोड़े ही है। जीवन समर्पित किया जाता है। उस समय यह निर्जरा तत्त्व प्राप्त होता है। विषय भोगो को ठुकरा दिया जाता है तब यह हीरा गल मे शोभा पाता है ऐसे थोड़े ही है भइया, बड़ी कीमती चीज है, इस कीमती चीज को आप किसी के हाथ मे यू ही दे दो तो उसका मूल्याकन वह नही कर पायेगा। जो भूखा है प्यासा है वह कहेगा यह कोई चमकीली चीज है इसको ले लो और मुझे तो मुट्ठी भर चना दे दो ओर आज यही हो रहा है।

आचार्य कुदकुद स्वामी कहते है कि तुम्हारी दृष्टि मे यदि अभी भोग आ रहे है तो तुमने पहचाना नहीं है निर्जरा तत्त्व को। एकमात्र अपने आत्मा में रम जा तू वही निर्जरा तत्त्व है। तेरी ज्ञानधारा यदि ज्ञेय तत्त्व मे अटकती है तो निर्जरा तत्त्व टूट जाएगा, वह हार विखर जायेगा। इस निर्जरा तत्त्व के उपरान्त और कोई पुरुषार्थ शेष नही रह जाता है। मोक्ष तत्त्व तो निर्जरा का फल है। मोक्ष तो मजिल है वह मार्ग नहीं है। मार्ग यदि कोई है तो वह संवर और निर्जरा है। मार्ग मे यदि स्खलन होता है तो मोक्ष रूपी मजिल नहीं मिलेगी। हमे मोह से बचकर मोक्ष के प्रति प्रयत्नशील होना चाहिये। निर्जरा तत्त्व को अपनाना चाहिये।

□□

□ मोक्ष तत्व

कल चतुर्दशी थी और प्रतिक्रमण का दिन था। वह प्रतिक्रमण आवश्यक उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सामायिक आवश्यक है। प्रत्येक आवश्यक में कुछ अलग विषय रखे गये हैं। प्रतिक्रमण आवश्यक मे बात बहुत गहरी है। ससारी प्राणी आदिकाल से आक्रमण करने की आदत को लिए हुए जीवन जी रहा है। परंतु मोक्षपथ का पथिक आक्रमण को हेय समझकर प्रतिक्रमण को, जीवन जीने का एक सफल उपाय मानता है।

आक्रमण का अर्थ है बाहर की ओर यात्रा और प्रतिक्रमण का अर्थ है अंदर की ओर यात्रा, अपने आप की उपलब्धि। इस तरह आक्रमण ससार है तो प्रतिक्रमण मुक्ति है। 'कृत दोष निराकरणं प्रतिक्रमणं' किये हुए दोषों का मन वचन काय से, कृत-कारित अनुमोदना से विमोचन करना, यह प्रतिक्रमण का शब्दार्थ है। इस ओर चलता है वही पथिक, जो मुक्ति की वास्तविक इच्छा रखता है। अपने आत्मा की उपलब्धि ही मुक्ति है और प्रतिक्रमण का अर्थ भी है अपने आप में मुक्ति। दोषों से मुक्ति। ससारी प्राणी दोष करता है किन्तु दोषी नहीं है यह सिद्ध करने के लिए निरन्तर आक्रमण करता जाता है दूसरे के ऊपर। एक असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिए हजार असत्यों का आलम्बन ले लेता है यही उसे मुक्ति मे बाधक बन जाता है।

मुक्ति का अर्थ तो यह है कि दोषो से अपनी आत्मा को मुक्त बनाना। 'मुञ्च' धातु से बना है यह मोक्ष शब्द। मुञ्च् विमोचने त्यागे वा। मुञ्च धातु विमोचन के अर्थ मे आयी है। कोई ग्रथ लिखे, उस ग्रंथ का आप विमोचन कर लेते हैं या किसी में करवा लेते है परतु अपने दोषो का विमोचन करने का कोई प्रयास नहीं करता। विमोचन वही करता है जो मुक्ति चाहता है और यह 'मुञ्च' शब्द छोड़ने के अर्थ में आया है छूटने के अर्थ मे नहीं, छूटता है तो धर्म छूट जाता है और छोड़ा जाता है पाप। अनादिकाल से धर्म छूटा है अब छोड़ना होगा पाप।

प्रत्येक संसारी प्राणी अपने दोषों को मंजूर नहीं करता और न ही उन दोषों का

निवारण करने का प्रयास करता है। किन्तु मोक्षमार्ग का पथिक वही है इस संसार में जो अपने दोषों को छोड़ने के लिए और स्वयं अपने हाथों दंड लेने के लिए हर क्षण तैयार है। संसार मे मुनि ही ऐसा है जो अपने आप प्रतिक्रमण करता है। मन से, वचन से, और काय से जो कोई भी ज्ञात अज्ञात मे प्रमाद के वशीभूत होकर दोष हो गये हो। या भावना हो गयी हो तो उसके लिए दंड के रूप में स्वीकार करता है वह मुनि। ऐसा कहे कि कल पनिशमेंट डे था, दंड लेने का दिन था प्रतिक्रमण का दिवस था।

संसारी प्राणी प्राय दूसरे को दंड देना चाहता है पर अपने आप दंडित नहीं होना चाहता। मुनिराज संसारी प्राणी होते हुए भी दूसरे को दंड देना नहीं चाहते बल्कि खुद प्रत्येक प्राणी के प्रति चाहे वह सुनें या ना सुनें अपनी पुकार पहुँचा देते हैं। एक इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी जीव है उनके प्रति क्षमा धारण करता हूँ, मेरे द्वारा, मन से, वचन से, काय से, कृत से कारित से और अनुमोदना से किसी भी प्रकार से, दूसरे के प्रति दुष्परिणाम हो गये हों तो मैं उसके लिए क्षमा चाहता हूँ और क्षमा करता हूँ।' ये भाव प्रतिक्रमण के भाव है।

आज हम सब आक्रामक बने हैं और आक्रामक जो भी है वह क्रोधी होता है, मानी होता है, मायावी होता है लोभी होता है, रागी और द्वेषी भी होता है। लेकिन जो प्रतिक्रमण करता है वह इससे विलोम होता है। वह रागी द्वेषी नहीं होता वह तो वीतरागी होता है। वह मान के ऊपर भी मान करता है। मान का भी अपमान करने वाला अर्थात् मान को अपने से निकाल देने वाला यदि कोई है तो वह वीतरागी मुनि है। लोभ को भी प्रलोभन देने वाला यदि कोई है तो वह मुनि है। क्रोध को भी गुस्सा दिलाने वाला यदि है तो वह मुनि है। अर्थात् यदि क्रोध उदय में आ जाये तो भी वह मुनि खुद शान्त बना रहता है और क्रोध शान्त हो जाता है। क्रोध हार मान लेता है।

वास्तविक क्रोधी तो मुनि हैं जो क्रोध के ऊपर भी क्रोध करते है, वास्तविक मानी भी मुनि हैं जो मान का अपमान कर देते हैं और उसे दूर भगा देते हैं। वास्तविक मायावी वही हैं जो माया को अपना प्रभाव नहीं दिखाने देता। लोभ को प्रलोभन में डालकर उन पर विजय पा लेते हैं। इस प्रकार वह प्रतिक्रमण करने वाला यदि देखा जाये तो बड़ा काम करता है। प्रतिक्रमण चुपचाप होता है लेकिन कषायों को शान्त करने की भावना अहर्निश चलती रहती है। अब मुक्ति के बारे में कहने की आवश्यकता ही क्या है? आप में से कौन-कौन प्रतिक्रमण के लिए तैयार होते हैं। आत्मा को निर्दोष बनाने की इच्छा किसकी है? जितना-जितना आत्मा को निर्दोष बना लेंगे उतनी-उतनी ही तो है मुक्ति।

माँ परोस रही थी एक थाली में विभिन्न-विभिन्न व्यंजन रखे और लाड़ला लड़का

बैठा-बैठा खा रहा था। खाते-खाते जब वह बीच में रुक जाता है तो माँ पूछती है कि बेटा। क्या बात हो गयी। घी और चाहिये क्या? एक बात पूछना चाहता हूँ माँ! वह लड़का कहता है। आप रसोई बनाना छोड़ दें। मेरे अनुमान से आपकी नेत्र ज्योति कुछ कमजोर हो गयी है बात असल में यह है कि खाते-खाते अचानक कुछ कट्ट से टूटने की आवाज आ गयी है लगता है ककर है भोजन में। सारा का सारा जब बाहर निकालता है भोजन, वह लड़का, तो कंकर कहीं नहीं दिखता। माँ समझ जाती है कि बात क्या है! वह कह देती है कि बेटा यह कंकर नहीं है यह मूंग ही ऐसी है। उसका नाम है टर्रा मूंग। इसकी पहचान वैसे नहीं होती। खाते समय ही होती है। यह दिखता मूंग के समान हरा-हरा है लेकिन यह सीझता (पकता) नहीं है। इसे कितना भी पकाओ यह कभी नहीं पकता इसी प्रकार ऐसे भी जीव होते हैं जो खुद कभी नहीं सीझते अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं हो पाते और कभी-कभी दूसरे की मुक्ति में बाधक हो जाते हैं। बधुओ! हमारा जीवन मुक्ति मंजिल की ओर बढ़े ऐसा प्रयास करना चाहिये। साथ ही हमारा जीवन दूसरे के लिए, जो मुक्ति पाने के लिए आगे बढ़ रहे हैं उनके लिए साधक तो कम से कम बनें ही बाधक नहीं।

यह संसार अनादि अनंत है। इसमें भटकते-भटकते हम आ रहे हैं। तात्कालिक पर्याय के प्रति हमारी जो आसक्ति है उसे छोड़ना होगा और त्रैकालिक जो है उस पर्याय को धारण करने वाला द्रव्य अर्थात् मैं स्वयं आत्मा कौन हूँ इसके बारे में चिंतन करना चाहिये। हमारे आचार्यो ने पर्याय को क्षणिक कहा है और उस पर्याय की क्षणभंगुरता, निस्सारता के बारे मे उल्लेख किया है। यद्यपि सिद्ध पर्याय शुद्ध पर्याय हेय नहीं है किन्तु ससारी प्राणी को मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए पर्याय की हेयता बताना अति आवश्यक है। इसके बिना उसकी दृष्टि पर्याय से हटकर त्रैकालिक जो द्रव्य है उस ओर नहीं जा पाती और जब तक दृष्टि अजर-अमर द्रव्य की ओर नहीं जायेगी तब तक ध्यान रखियेगा, संसार मे रचना-पचना छूटेगा नहीं।

एक बार महाराज जी, (आचार्य गुरुवर ज्ञानसागर जी महाराज) के सामने चर्चा की थी कि महाराज! जिसने यहां मुनि दीक्षा धारण की और वर्षों तक तप किया और सम्यग्दर्शन के साथ स्वर्ग में सम्यग्दृष्टि देव बन गये तो पुनः वापिस आकर यहाँ संबोधन वगैरह क्यों नहीं देते? तो महाराज जी बोले सुनो, संसारी प्राणी की स्थिति ऐसी है कि क्षेत्र का प्रभाव उसके ऊपर ऐसा पड़ जाता है कि अतीत के अच्छे कार्य को वह भूल जाता है और जिस पर्याय में पहुंचता है वहीं रच पच जाता है। वहीं के भोगों में व्यस्त हो जाता है। अन्य गतियों की यही स्थिति है किन्तु मनुष्य गति एक ऐसी गति

है जिसमें व्यस्तता से बचा जा सकता है। विवेक जागृत किया जा सकता है।

विवेक छोटे से बच्चे में भी जागृत हो सकता है। तभी तो उस बच्चे ने अपनी माँ से पूछ लिया था कि यह मूंग ऐसा क्यों है? क्या कुछ ऐसे ही मूँग बोये जाते हैं। जो टर्रा होते हैं तब माँ कहती है कि नहीं बेटे बोये तो अच्छे ही जाते है। एक बीज के माध्यम से एक बाल आ जाती है जिसमें कई मूंग होते है जिनमे एकाध टर्रा मूंग भी हो सकता है। अनेक मूंग के साथ एक मूंग ऐसा भी हो जाता है जो सीझता नहीं है उस पर द्रव्य क्षेत्र काल का प्रभाव नहीं पड़ता उसका स्वभाव ही ऐसा है। कैसा विचित्र स्वभाव पड़ गया है उसका। जो न आज तक सीझा है और न आगे कभी सीझेगा। हम सब उसमें से तो नहीं हैं यह विश्वास है क्योंकि हमारा हृदय इतना कठोर नही है। हम सीझ सकते हैं। अपना विवेक जागृत कर सकते हैं।

एक बात और भी है कि टर्रा नहीं होकर भी कुछ ऐसे मूंग है जो अग्नि का संयोग नहीं पाते, जल का सयोग नहीं पाते इसलिए टर्रा मूग के समान ही रह जाते हैं वह भी नहीं सीझ पाते उनको दूरानुदूर भव्य की उपमा की गयी है जो टर्रा मूग है वे तो अभव्य के समान है। जो मूंग बोरी मे रखे है और वैसे ही अनंत काल तक रखे रहेगे वो भी नहीं सीझेगे वे दूरानुदूर भव्य हैं। इसका अर्थ यह है कि घर मे रहते-रहते मुक्ति नहीं मिलेगी। आप चाहो कि घर भी न छूटे और वह मुक्ति भी मिल जाये हम सीझ जायें तो यह भूतो न भविष्यति वाली बात है। योग्यता होने के बाद भी उस योग्यता का परिस्फुटन अग्नि आदि के संयोग के बिना होने वाला नहीं है। योग्यता है लेकिन व्यक्त नहीं होगी। सयोग मिलाना होगा, पुरुषार्थ करना होगा।

अभव्य से दूरानुदूर भव्य ज्यादा निकट है और दूरानुदूर भव्य से आसन्न भव्य ज्यादा निकट है उस मुक्ति के, लेकिन भव्य होकर भी यदि अभी तक हमारा अपना नम्बर नहीं आया, इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ है कि आसन्न भव्य तो हम अपने आप को कह नहीं सकेगे। भव्य होकर भी हमने सयोग नहीं मिलाया अभी तक दूरानुदूर भव्य के लिए योग नहीं मिलेगा सच्चे देव-गुरु शास्त्र का ऐसा नहीं है, वह मिलायेगा ही नहीं। अर्थात् तदनुरूप उसकी वृत्ति जल्दी नहीं होगी। देखो, परिणामो की विचित्रता कैसी है कि सीझने की योग्यता होते हुए भी नहीं सीझता। इसलिए जिस समय आत्म-तत्व के प्रति रुचि जागृत हो, शुभस्य शीघ्रं उसी समय उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर देना चाहिये।

पूज्यपाद स्वामी ने भव्य के बारे में कहा है स्वहितम् उपलिप्सु अपने हित की इच्छा रखने वाला प्रत्यासन्ननिष्ठः कश्चिद् भव्यः– कोई निकट भव्य था। जिस प्रकार भूखा

व्यक्ति 'अन्न' ऐसा सुनते ही मुख खोल लेता है उसी प्रकार निकट भव्य की स्थिति होती है मैं अपने अनुभव की बात बताता हूँ उसी से आप कम्पेयर कर लेना, बाद में। जब हाई स्कूल जाते थे हम, चार मील पैदल चलना पड़ता था और कीचड़ का रास्ता था। तो स्कूल से छूटने के उपरान्त आते-आते तक तो बस बिल्कुल समझो पेट में कबड्डी का खेल प्रारम्भ हो जाता था। तेज भूख लगती थी। वहाँ से आते ही खाना परोस दो ऐसा कह देते थे। और मालूम पड़ता था कि अभी रसोई तो बनी नहीं है बन रही है तो कोई बात नहीं जो रोटी रखी है वही लाओ। बिना साग-सब्जी के भी चल जायेगा। कभी-कभी तो साग आ नहीं पाती थी और जो रोटी पूड़ी आदि परोसी जाती थी उसे थोड़ा-थोड़ा खाते-खाते पूरी खत्म कर देते थे। बाद में अकेली साग खा लेते थे।

तीव्र भूख का प्रतीक है यह। खीर सामने आ जावे और गरम भी क्यों न हो तो भी बच्चे लोग किनारे-किनारे धीरे धीरे फूँक-फूँक कर खाना प्रारम्भ कर देते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है वह चारित्र लेने के लिए तत्पर रहेगा। अदरसे छटा पटी लगी रहती है कि कब चारित्र लूं। भगवान की वीतरागता छवि को देखकर उसके माध्यम से मुक्ति की ओर बढ़ने का प्रयास करता है। उदाहरण के रूप मे कोई मुनि महाराज मिल जावे तो कह देता है कि अब बताने की भी जरूरत है हम देख देखकर कर लेंगे। यही है भव्य जीव का लक्षण। अवाक् विसर्ग वपुषा निरूपयन्तं मोक्षमार्गम्। बिना बोले ही वीतरागी मुद्रा से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है।

आप लोग कहते है कि महाराज उपदेश दो। अलग से क्या उपदेश दे भइया। दिन रात उपदेश चल रहा है। क्योकि मुनि मुद्रा धारण कर लेने के उपरान्त कोई भी ऐसा समय नहीं है जिस समय वीतरागता का दर्शन न होता हो दया का उपदेश सुनने मे न आता हो। बाह्य क्रियाओ के माध्यम से भी उपदेश मिलता है। उपदेश सुनने वाला और समझने वाला होना चाहिये। सम्यग्दृष्टि इस बारे मे अवश्य सोचता है। वह प्रत्येक क्रिया में वीतरागता देखता है मुनि महाराज खड़े होकर एक बार दिनमे आहार लेते है। खड़े होकर खाओ तो पेट भर आसानी से खाया नहीं जा सकता है। खड़े होकर खाने मे अप्रमत्त रहना होता है। थोड़ा भी यदि आसन हिल गया तो अन्तराय माना गया है।

दूसरी बात यह है कि आप सोचते होगे कि हम तो एक ही हाथ से खाते हैं और मुनिराज तो दोनों हाथों से खाते हैं तो ज्यादा खाते होंगे। ऐसा नहीं है। थाली में खाने से तो एक हाथ की स्वतंत्रता रहती है लेकिन दोनों हाथों में लेकर खाने में सावधानी बढ़ जाती है। जरा भी प्रमाद हुआ और यदि हाथ छूट जाये तो अन्तराय माना गया

है। ये सारे के सारे वि ध-विधान, नियम, संयम वीतरागता के द्योतक है। यही निमित्त बन जाते हैं निर्जरा के लिए। इस प्रकार चौबीस घंटे, बैठते समय, उठते समय, बोलते समय, आहार-विहार-निहार के समय या शयन करते समय भी आप चाहे तो मुनियों के माध्यम से वीतरागता की शिक्षा ले सकते हैं। लेने वाला होना चाहिये।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उपरान्त तो चारित्र धारण करने की भूख तीव्र से तीव्रतम हो जाती है। कठिन से कठिन चारित्र पालन करने की क्षमता आ जाती है। सम्यग्दृष्टि सोचता है कि मुझे जल्दी-जल्दी मुक्ति मिलना चाहिये इसलिए चारित्र को जल्दी जल्दी अंगीकार कर लो। यदि चारित्र लेने की रुचि नहीं हो रही है तो इसका अर्थ यही निकलता है कि या तो टर्रा मूग है या अभी दूरानुदूर भव्य है। आसन्न भव्य की गिनती मे तो नही आ रहा है। भाई, चारित्र लेने में जल्दी करना चाहिये, पीछे नही रहना चाहिये शुभस्य शीघ्रं।

मुक्ति का मार्ग है छोड़ने के भाव। जो त्याग करेगा उसे प्राप्त होगी निराकुल दशा। यही कहलाता है वास्तविक मोक्ष, निराकुलता जितनी-जितनी जीवन में आये, आकुलता जितनी-जितनी घटती जाये उतना उतना मोक्ष आज भी सभव है।

आपको खाना खाते समय सोचना चाहिये कि पाच रोटी खाने से आपकी भूख मिटती है तो क्या पाच रोटी साबुत एक ही साथ मशीन जैसे डाल लेते है पेट मे? नहीं, एक एक ग्रास करके खाते हैं। एक ग्रास के माध्यम से कुछ भूख मिटती है दूसरे के माध्यम से कुछ और भूख मिटती है ऐसा करते-करते पाच रोटी के अन्त में अन्तिम ग्रास से तृप्ति हो जाती है। कह देते है आप कि अब नही चाहिये। इसी प्रकार निरन्तर निर्जरा के माध्यम से एक देश मुक्ति मिलती जाती है पूर्णत मुक्त होने का यही उपाय है।

एक देश आकुलता का अभाव होना यह प्रतीक है कि सर्वदेश का भी अभाव हो सकता है। रागद्वेष आदि आकुलता के परिणामों को जितना जितना हम कम करेंगे उतनी उतनी निर्जरा भी बढ़ेगी और जितने-जितने भाग मे निर्जरा बढ़ेगी उतनी-उतनी निराकुल दशा का लाभ होगा। आकुलता को छोड़ने का नाम ही मुक्ति है। आकुलता के जो कार्य है आकुलता के जो साधन है द्रव्य क्षेत्र काल, भव और भाव इन सबको छोड़कर जहाँ निराकुल भाव जागृत हो वह अनुभव ही निर्जरा और मुक्ति है। आपने तो शायद समझ रक्खा है कि कहीं कोई कोठी या भवन बना हुआ है वहाँ जाना है, ऐसा नहीं है कोई भवन नहीं है भइया। मोक्ष तो यहीं है आत्मा में है।

मोक्ष आत्मा से पृथक् तत्त्व नही है। आत्मा का ही एक उज्ज्वल भाव है। वह फल

के रूप में है। सभी का उद्देश्य यही है कि अपने को मोक्ष प्राप्त करना। जिस समय मोक्ष होने वाला है उस समय हो जायेगा। मुक्ति मिल जायेगी। प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। प्रयास करने से कैसे मिलेगी, प्रयास करना फालतू है– ऐसा कुछ लोग कह देते हैं। ठीक है भइया यदि नियत ही आपका जीवन बन जाये तो मैं उस जीवन को सौ-सौ बार नमन करूं। आप प्रत्येक क्षेत्र में नियत अपनाओ, जो पर्याय आने वाली है वह उसी समय आयेगी, अपने को क्या करना 'होता स्वयं जगत् परिणाम' – यह तो ठीक है लेकिन 'मैं जग का करता क्या काम' – इस ओर ध्यान देना चाहिये। अभी तो जीवन में 'मैं करता जग का सब काम' – सारा काम तो कर रहे हैं आप।

मुक्ति मिल जायेगी यदि सारी की सारी पर्यायें नियत हैं तो फिर इधर-उधर भाग क्यों रहे हैं आप। आज आधी सभा जुड़ी है कल पूरी ठसाठस भरी थी और अगले दिन सब खाली। सब यहाँ वहाँ चले जायेंगे यहाँ तो पार्श्वनाथ भगवान रह जायेंगे जो मुक्त हैं। यदि सब नियत है तो फिर जाना कहाँ? प्रत्येक समय में प्रत्येक पर्याय होती है और वह पर्याय नियत है यदि यह श्रद्धान हो जाये तो मुक्ति दूर नहीं परन्तु आपका जहाँ मन आया वहाँ नियतिवाद को अपना लिया और जहाँ इच्छा हुई नहीं अपनाया। यह ठीक नहीं है।

मान लो बारह बजे रोजाना खाना खाते हैं आप, तो बारह बजे बिल्कुल नियत है आपका खाना। बारह बजे बैठ जाओ और अपनी पत्नी और रसोइये को भी कह दो कि बारह बजे तो नियत खाने का समय है क्यों पसीना-पसीना हो रहे हो, बैठ जाओ आराम कुर्सी के ऊपर, तुम्हें भी एक थाली आ जायेगी और मुझे भी आ जायेगी। आयेगी, समय से आयेगी। इसमें क्या जल्दी करना। दृढ़ श्रद्धान के साथ बैठ जाओ आप। लेकिन ऐसा कहाँ करते हैं आप। कह देते हैं कि देर हो जायेगी जल्दी-जल्दी रसोई बनाओ बारह बजे जाना है और अभी तक रसोई नहीं बनायी, दस मिनिट रह गये, जल्दी करो जल्दी करो, देर हो जायेगी। ऐसा आप समय से पहले ही रसोइये को कहते हैं कि नहीं। समय से पहले ही उतावली करने लगते हैं। क्रोध आने लगता है। ध्यान रखो नियतिवादी को क्रोध नहीं आता। किसी की गलती भी नजर नहीं आती उसके सामने प्रत्येक पर्याय नियत है।

देखो जानो बिगड़ो मत– यह सूत्र अपनाता है वह। देखता रहेगा, जानता रहेगा लेकिन बिगड़ेगा नहीं और आप लोग बिगड़े बिना नहीं रहते। आप देखते भी हैं जानते भी हैं और बिगड़ जाते हैं इसलिए नियतिवाद को छोड़ देते हैं। भगवान ने जो देखा वह नियत देखा, जो भी पर्याय निकली यह सब भगवान् ने देखा था, उसी के अनुसार होगा।

तब फिर क्रोध, मान, माया लोभ के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि आप क्रोध करते है तो अर्थ यह हुआ कि सारी की सारी व्यवस्था पर पानी फेर दिया। नियतिवाद को नकार दिया।

एक बुढ़िया थी। बहुत संतोषी थी। खाती पीती और सो जाती। पैसा बहुत था उसके पास। चोरो को मालूम हुआ तो उन्होंने बुढ़िया के घर चोरी की बात सोच ली। चार पॉच चोर गये, देखा बुढ़िया तो सोई हुई थी। उन्होंने सोचा ठीक है पहले बुढ़िया के घर भोजन कर लें फिर बाद में देखेंगे। उन्होंने भोजन कर लिया, सब कुछ लेकर चलने लगे उसी समय कुछ गिर गया और आवाज होते ही बुढ़िया ने जोर से कहा कि हे भगवान्! बचाओ। आवाज सुनकर आसपास जो भी लोग थे आ गये।

अब चोर क्या करें। बाहर तो भाग नहीं सकते इसलिए इधर-उधर छिप गये। पड़ौसी आकर के पूछते है बुढ़िया से कि मॉजी क्या बात हो गयी। आपके यहाँ कुछ हो गया क्या ! तब बुढ़िया ने जवाब दिया कि मैं क्या जानूँ सब ऊपर वाला (भगवान) जाने। लोग समझे कोई ऊपर होना चाहिये। सबने ऊपर देखा तो वहाँ चोर बैठा था। उसने सोचा मैं क्यों फसूँ। उसने कहा कि वह दरवाजे के पीछे छिपा है। दरवाजे के पीछे वाला कहता है वह बोरी के पीछे छिपा है जो, वह जाने। बोरी के पीछे वाला रसोई की तरफ इशारा कर देता है इस प्रकार सभी चोर पकड़ में आ गये। जब दड देने वाली बात आती है तब बुढ़िया कह देती है कि हम क्या, वही ऊपर वाला जाने। दंड देने का अधिकार भी हमें नहीं है। जो है सो है, वह भगवान जाने। यदि ऐसा समता परिणाम आ जाये तो आप को भी कर्म रूपी चोरों से छुटकारा मिल सकता है।

नियतिवाद का अर्थ यही है कि अपने आप में बैठ जाना, समता के साथ। कुछ भी हो परिवर्तन परन्तु उसमें किसी भी प्रकार का हर्ष-विषाद नहीं करना। प्रत्येक कार्य के पीछे यह संसारी प्राणी अहं बुद्धि या दीनता का अनुभव करता है कार्य तो होते रहते हैं लेकिन यह उसमे कर्तृत्त्व भी रखता है। हमारे भगवान कर्तृत्त्व को एक द्रव्य मे सिद्ध करके भी बाह्य कारण के बिना उसमे किसी भी कार्य रूप परिणत होने की क्षमता नहीं बताते। कार्य रूप जो द्रव्य परिणत होता है इसमें बाहर का भी कोई हाथ है ऐसा जानकर कोई भी व्यक्ति अभिमान नहीं कर सकेगा। यह नहीं कह सकेगा कि मैंने ही किया। दूसरी बात बाह्य कारण ही सब कुछ करता हो ऐसा भी नहीं है। कार्य रूप ढलने की योग्यता उपादान में है इसलिए दीनता भी नहीं अपनाना चाहिये।

इस प्रकार दीनता और अहं भाव दोनों हट जाते हैं और कार्य निष्पन्न हो जाता है। 'मैं' कर्त्ता हूँ– यह भाव निकल जाये। समय पर सब होता है 'मैं' करने वाला

कौन – यह भाव आ जाये तो समता आ जायेगी। और सब दूसरे के आश्रित हैं मैं नहीं कर सकूँगा ऐसा भाव भी समाप्त हो जायेगा।

आम पकने वाला है। आम में पकने की शक्ति है। मिठास रूप परिणमन करने की शक्ति है रस रूपी गुण उसमें है। अब देखो आम कब लगते हैं। जब आम लगते हैं और छोटे-छोटे रहते हैं तब संख्या मे बहुत होते है यदि उस समय आप उन्हें तोड़ लो तो क्या होगा। रस नहीं मिलेगा क्योंकि वे अभी पके नहीं है। दो महीने बाद पकेंगे। अब यदि कोई सोचे कि ठीक है अभी तोड़ लो दो महीने बाद तो पकना ही है पक जावेंगे। भइया! पकेंगे नहीं बेकार हो जायेंगे। यह क्यों हुआ? आम के पास पकने की क्षमता तो है और दो महीने चाहिये पकने के लिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें अभी तोड़कर दो महीने बाद पका लो। वे तो वहीं डंठल के ऊपर टहनी के ऊपर लगे रहे तभी पकेंगे। बाह्य निमित्त भी आवश्यक है। दो महीने तक उगते रहें, हवा पानी खाते रहे सूर्य प्रकाश लेते रहें तभी पकेंगे।

इतना अवश्य है कि सभी आमों का नम्बर एक साथ नहीं आयेगा इसलिए यदि आप चाहें तो दो महीने से पंद्रह दिन पहले तोड़कर एक साथ पाल में रख दे, पाँच दिन तक तो बिल्कुल एक साथ पककर आ जावेंगे। दो महीने तक ही डाल पर लगे रहे यह भी नियम नहीं रहा और दो महीने पहले तोड़कर रख लें तो पकेंगे यह भी नियम नहीं रहा। योग्यता और बाह्य निमित्त दोनों को लेकर ही कार्य होगा।

मुक्ति के लिए आचार्यों ने बताया है कि हम ऐसे पकने वाले नहीं है। जिस प्रकार आम डाली के ऊपर पक जाते है। इस प्रकार संसार में लटकते-लटकते हमें मुक्ति नहीं मिलेगी। पाल विसे माली ऐसा बारह भावनाओं के चिंतन करते समय निर्जरा भावना में कहा है। जो आसन्न भव्य है वह अपने आत्म-पुरुषार्थ के माध्यम से तप के द्वारा आत्मा को तपाकर अविपाक निर्जरा कर लेता है और शीघ्र मुक्ति पा जाता है यही मोक्ष तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है।

एक बात और कहता हूँ अपनी। काम कुछ करना न पड़े और लाभ प्राप्त हो जाये इसलिए हमने एक बार दूसरे को कह दिया कि तुम आम तोड़ो और तोड़ने के उपरान्त कच्चे ही आधे तुम्हारे और आधे हमारे हैं हिस्सा कर लिया। अब उन्हें पकाने का ठिकाना भी अलग-अलग कर लिया किन्तु उतावलापन बहुत था। शाम को पकाने पाल में डाले और सुबह उठकर उनको दबा-दबाकर देखा कि पक गये। दो दिन में ही सारे आम मुलायम तो हो गये पर हरापन नहीं गया और मीठापन भी नहीं आया। पकने का अर्थ होना है कि मीठापन और मुलायमपन आना चाहिये।

कुछ नहीं मिला सारा काम बिगड़ गया। ध्यान रहे एकाग्रता न होने से कुछ नहीं मिल पाता।

एकाग्र होकर साधना करनी चाहिये। निराकुल होकर साधना करनी चाहिये। यहाँ तक कि आप मोक्ष के प्रति भी इच्छा मत रखना। इच्छा का अर्थ है ससार और इच्छा का अभाव है मुक्ति, मुक्ति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे पाने कहीं जाना है वह मुक्ति तो निराकुल भावों का उद्घाटन करना है अपने अदर।

आज तक राग का बोलबाला रहा है। वास्तव मे देखा जाये तो संसारी प्राणी के दुख का कारण है राग। 'संसार सकल त्रस्त है आकुल विकल है और इसका कारण एक ही है कि हृदय से नही हटाया विषय राग को हमने हृदय मे नहीं बिठाया वीतराग को जो है शरण तारण-तरण।' अत. अपने को वीतरागता को अपने हृदय में स्थान देना चाहिये और राग को हटाना चाहिये। राग के हटने पर ही वीतरागता आयेगी। जहाँ राग रहेगा वहाँ वीतराग अवस्था नहीं है, राग मे धीरे धीरे कमी लाये। राग मे कमी आते-आते एक अवस्था मे राग समाप्त हो जायेगा और पूर्ण वीतराग-भाव प्रकट होंगे। वह प्राणी स्वभावनिष्ठ बनेगा और सारा ससार नतमस्तक हो जायेगा।

सुख को चाहते हुए भी हम राग को नही छोड़ पाते इसलिए दुख को नही चाहते हुए भी दुख पाते है। राग है दुख का कारण। सुख का कारण है वीतराग। दोनो ही कही बाहर से नही आते। राग बाहर की अपेक्षा अवश्य रखता है किन्तु आत्मा मे ही होता है और वीतराग भाव पर की अपेक्षा नही किन्तु आत्मा की अपेक्षा रखता है। बाह्य की अपेक्षा का अर्थ है ससार और आत्मा की अपेक्षा का अर्थ है मुक्ति। यदि अपेक्षा मात्र आत्मा की रही आवे और ससार मे उपेक्षा हो जावे तो यह प्राणी मुक्त हो सकता है अन्यथा नही।

मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपनाकर निर्ग्रन्थता अपनाये। सब ग्रथिया खोल दे। एकाकी होने का प्रयास करे कोई व्यक्ति देश से देशान्तर जाता है तो सीमा पर उसकी जाच की जाती है कि कही कोई आपत्तिजनक चीज तो लेकर के नही जा रहा। इसी प्रकार मुक्ति का मार्ग भी ऐसा ही है कि आप कुछ छिपाकर ले नहीं जा सकते बाह्य और अतरग सभी प्रकार के सग को छोड़कर जब तक आप अकेले नहीं होओगे। तब तक मुक्ति का पथ नही खुलेगा।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये वीतरागता के प्रतीक है। इन तीनों के साथ कोई बाह्य आडम्बर नहीं रह सकेगा, सासारिक परिग्रह नहीं रहेगा। एक मात्र शरीर शेष रह जाता है और उसे भी परिग्रह तब माना जाता है जब शरीर के प्रति मोह हो शरीर को मात्र

मोक्षमार्ग में साधक मानकर जो व्यक्ति चलता है वह व्यक्ति निस्पृह है और वही मुक्ति का भाजक बन सकता है। एक द्रव्य मुक्ति होती है और दूसरी भाव मुक्ति। द्रव्य मुक्ति, भाव मुक्ति पूर्वक ही होती है अर्थात् भाव मुक्ति हुए बिना द्रव्य मुक्ति नहीं होती। द्रव्य मुक्ति का अर्थ है नोकर्म अर्थात् शरीर और आठ कर्मो का छूटना। और भाव मुक्ति का अर्थ है मोह भाव का हट जाना। दो व्यक्ति है और दोनों के पास एक-एक तोला सोना है। मान लो, उसमें एक बेचने वाला है दूसरा बेचने वाला नहीं है। तो जो बेचने वाला नहीं है वह भावों की तरफ सोने के भाव की तरफ नहीं दौड़ेगा किन्तु जो बेचने वाला है वह भावो की ओर भाग रहा है उसे सोने का अभाव है नींद नही आती ठीक मे। तो सोने के लिए नींद लेने के लिए सोने के भाव की तरफ मत देखो, सोना तब भी ज्यो का त्यो रहेगा।

मोहभाव का हट जाना ही मुक्ति है। जो भी दृश्य देखने मे आ रहे हैं उन सभी के प्रति मोह हटना चाहिये। जिन-जिन वस्तुओं के प्रति आपका मोह है वही तो संसार है और जिन-जिन पदार्थो के प्रति मोह नही है उन-उन पदार्थो की अपेक्षा आप मुक्त है। पड़ौसी के पास जो धन-पैसा है उससे आपका कोई सरोकार नहीं है लेकिन आपने अपने पास जो रख रक्खा है उसमें आपने अपना स्वामित्व माना है उस अपेक्षा से आप बंधे है मुक्त नही है। मोह का अभाव हो जाये तो आज भी मुक्ति है उसका अनुभव आप कर सकते है।

आज भी रत्नत्रय के आराधक, रत्नत्रय के माध्यम मे अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने वाले साधक, ऐसे मुनि-महाराज है। जो आत्म ध्यान के बल पर स्वर्ग चले जाते हैं और वहाँ इन्द्र या लौकान्तिक देव होते है और फिर मनुष्य होकर मुनि बनकर मोक्ष को प्राप्त करते है। मुक्ति आज भी है और ऐसी मुक्ति कि जैसे कोई यहाँ से देहली जा रहा है एकदम एक्सप्रेस से लेकिन वह एक्सप्रेस गाड़ी बीच मे रुक कर के जाती है पटरी नही बदलती उसी पटरी पर चलती है लेकिन कुछ विश्राम लेती है डायरेक्ट नहीं जाती। आज डायरेक्ट मुक्ति तो नही है बीच में इन्द्र रूप या लौकान्तिक रूप स्टेशन पर रुकना पड़ता है। यह रुकना, रुकना नही कहलाता क्योंकि वह उस मोक्ष पथ से च्युत नही हुआ अर्थात् सम्यग्दर्शन छूटतानही है इसलिए रत्नत्रय की जो भावना यहाँ भायी है वह रुकने के उपरान्त भी बनी रहती है। भावना रहती है कि कब रत्नत्रय मिले। इस प्रकार एक-एक समय बीतता है और श्रुत की आराधना करते हुए इन्द्र या लौकान्तिक आदि देव अपना समय व्यतीत करते हैं।

बंधुओ ! मुक्ति का मार्ग है तो मुक्ति अवश्य है। आज भी हम चाहें तो राग्द्वेष

का अभाव कर सकते है। सांसारिक पदार्थों की अपेक्षा जो किसी से रागद्वेष नहीं है वही तो मुक्ति की भूमिका है। यह जीवन आज बन सकता है। सिद्ध परमेष्ठी के समान आप भी बन सकते हैं। अभी आपकी रुचियाँ अलग हो सकती हैं। धारणा अलग हो सकती है विश्वास अलग हो सकता है किन्तु यदि व्यक्ति चूक जाता है तो अन्त में पश्चाताप ही हाथ लगता है। यह स्वर्ण जैसा अवसर है यह जीवन बार-बार नहीं मिलता इसकी सुरक्षा, इसका विकास, इसकी उन्नति को ध्यान में रखकर इसका मूल्यांकन करना चाहिये।

जो व्यक्ति इसको मूल्यवान समझता है वह साधना-पथ पर कितने ही उपसर्ग और कितने ही परीषहों को सहर्ष अपनाता है। महावीर भगवान ने जो रास्ता बनाया, बनाया ही नहीं बल्कि उसी रास्ते से गये हैं वह रास्ता उपसर्ग और परीषहों में से होकर गुजरता है। मुनिराज इसी रास्ते पर चलते है। यह रास्ता वातानुकूल हो सारी की सारी सुविधाए हों ऐसा नहीं है। मोक्षमार्ग तो यही है जो परीषह-जय और उपसर्गों से प्राप्त होता है।

उत्साह के साथ, खुशी के साथ अपना तन-मन-धन सब कुछ लगाकर मुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिये। इस बार निश्चय करे कि हे भगवन् अपने को किस प्रकार मुक्ति मिले। मुक्ति तो अविपाक निर्जरा का फल है और अविपाक निर्जरा तप के माध्यम से होती है तो हम तप करें। भगवान से प्रार्थना करें और निरन्तर भावना करें कि हमारे मोहजन्य भाव पलट जायें और मोक्षजन्य भाव जो हैं जो निर्विकार भाव हैं वे जागृत हों।

□□

☐ अनेकान्त

पूज्य गुरुदेव (स्व० आचार्य ज्ञानसागर जी) के सान्निध्य में मेरा 'दर्शन' (फिलासफी) का अध्ययन चल रहा था। उस समय के विचार या भाव आज भी मेरे मानस में पूर्ववत् तरंगायित हैं। मैंने पूछा – 'महाराज जी ! आपने कहा था कि मुझे न्याय-दर्शन का विषय कठिनाई से हस्तगत होगा, इसका क्या कारण है? वे बोले – देखो, प्रथमानुयोग – पौराणिक कथाओं और त्रेशठ शलाकापुरुषों का वर्णन करने वाला है वह सहज ग्राह्य है। करणानुयोग – भूगोल का ज्ञान कराता है, दूरवर्ती होने के कारण उस पर भी विश्वास किया जा सकता है। चरणानुयोग मे आचरण की प्रधानता है अहिंसा को धर्म माना है। किसी को पीड़ा दो – यह किसी भी धर्म में नहीं कहा गया इसलिए यह भी सर्वमान्य है। किन्तु द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आगम और अध्यात्म ये दो प्ररूपणायें चलती है। प्रत्येक आत्मार्थी, अध्यात्म को चाहता है अतः जहाँ पर इसका कथन मिलता है वहाँ तो साम्य हो जाता है परन्तु 'आगम' में साम्य नहीं हो पाता।

'ध्यान' के विषय में भी सब एकमत हैं। ध्यान करना चाहिये – मुक्ति के लिए यह अनिवार्य है किन्तु ध्यान किसका करना? उसके लिए ज्ञान कहाँ से कैसे प्राप्त करें? यह सब 'आगम' का विषय है। आगम के भी दो भेद हैं कर्म सिद्धान्त और दर्शन। कर्म सिद्धान्त को सारी दुनिया स्वीकार करती है अपने-अपने ढंग से, दृष्टियाँ अलग-अलग है लेकिन कर्म का सबने स्वीकृत किया है। अब रहा दर्शन। दर्शनके क्षेत्र मे तत्त्व चिन्तक अपने-अपने ज्ञान के अनुरूप विचार प्रस्तुत करते है ऐसी स्थिति में छद्मस्थ (अल्पज्ञ) होने के कारण वैचारिक संघर्ष संभव है।

इतना सब सुनने के उपरान्त मैंने सहज ही पूछ लिया कि महाराज जी इस सबसे आपका क्या आशय है? वे बोले – 'देखो ! षट्दर्शन के अन्तर्गत वास्तवमें जैन-दर्शन कोई अलग दर्शन नहीं है। वह इन छह दर्शनों का सम्मिलत करने वाला दर्शन है। जो छह दर्शनो को लेकर अलग-अलग भाग रहे हैं उन सभी को एकत्र करके समझने और समझाने वाला यह जैन दर्शन है।' मैंने कहा – तब तो इसके लिए सभी के साथ मिलन की और समता-भाव की बड़ी आवश्यकता पड़ेगी। महाराज जी हँसने लगे और बोले

कि इसीलिए तो मुनि बनाया है। मुनि बनने के उपरान्त समता आनी चाहिए तभी अनेकान्त का हार्द विश्व के सामने रख सकोगे। यदि समता नहीं रखोगे तो जैनदर्शन को भी नहीं समझ सकोगे।

बंधुओं! जैन दर्शन को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव द्वारा निर्दिष्ट यह सूत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैन-दर्शन किसी की वकालत नहीं करता अपितु जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से लैस होकर संघर्ष की मुद्रा मे आता है उसे साम्यभाव से सुनकर सही-सही जजमेंट लेता है निष्पक्ष होकर निर्णय करता है।

आज हम लोगों के सामने ३६३ मतो की कोई समस्या नहीं उठ सकती, उन्हें समझा और समझाया जा सकता है। बशर्ते कि हम सबकी बात सुनें और समझें। किसी की बात को काटना नहीं है क्योकि जिसका अस्तित्व है इसका विनाश संभव नहीं है। विनाश की प्रवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है।

हमें जानना चाहिये कि अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो क्योकि दुनिया मे ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान् की देशना (उपदेश) से सर्वथा असम्बद्ध हो। हम दूसरे की बात समतापूर्वक सुनें और समझें। कभी-कभी ऐसा होता है कि बुद्धि का विकास होते हुए भी समता के अभाव में दूसरे के विचारो को ठीक-ठीक अर्थ नहीं समझ पाने से जो लाभ मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता।

विविध प्रकार के ३६३ मतों का उद्गम कहाँ से हुआ, जरा विचार करें। तो ज्ञात होगा कि इनका उद्गम तीर्थकर की अनुभय भाषा में खिरने वाली वाणी का सही-सही अर्थ नहीं समझ पाने से हुआ। केवलज्ञान होने के उपरान्त तीर्थकर की दिव्य-ध्वनि खिरती है। यह दिव्य-ध्वनि अनक्षरी होती है। इसमे वचन अनुभय रूप होते है। सभी प्राणी जिसे सुनकर अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप अर्थ लगा लेते हैं। जिसका होनहार अच्छा होता है जो पुरुषार्थ करता है वह दिव्य ध्वनि के माध्यम से सन्मार्गपरअग्रसर हो जाता है और जिसे अभी ससार ही रुचता है वह वस्तु स्थिति को नहीं समझता हुआ विभिन्न मतों में उलझ जाता है।

विविध ३६३ मतों के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैनदर्शन का अनुयायी सहज ही झेल लेता है। कोई समस्या ही नहीं है स्याद्वादी के सामने। निष्पक्ष होकर निर्णय लेने वाले जज को कभी परेशानी नहीं होती। वकील लोग भले ही इधर की उधर या उधर की इधर बात करते रहे लेकिन जज के मुख पर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं होती। वह दोनों पक्षों को सुनता है समझता है। दोनों पक्ष एकांगी होते है इसीलिए झगड़ा होता है यह बात जज जानता है। वह एक तरफा दलीलें सुनकर न्याय नहीं करता।

एकांगी होकर न्याय हो भी नहीं सकता। न्याय तो अनेकान्त से ही संभव है। स्याद्वादी ही सही निर्णय लेने में सक्षम है।

यदि कोई व्यक्ति भगवान से कहता है कि आप अज्ञानी है। तो वे समता भाव से कह देंगे कि हाँ, यह भी ठीक है। आप लोग तो सुनते ही लड़ने को तैयार हो जायेंगे कि हमारे भगवान अज्ञानी नहीं हो सकते। आपके भीतर जिज्ञासा बलवती होगी। आप सोच में पड़ गये होंगे कि क्या ऐसा भी संभव है। तो भइया, कथंचित् यह संभव है। केवलज्ञानी भी कथचित् अज्ञानी साबित हो जायेंगे। यदि आप इन्द्रिय ज्ञान की अपेक्षा देखें तो इन्द्रिय-ज्ञान केवली भगवान को नहीं होता इस अपेक्षा से वे अज्ञानी हो गये। आपके पास पाँच मे से चार ज्ञान हो सकते हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान। लेकिन भगवान के पास तो एक ही ज्ञान है। ऐसी स्थिति में वे अज्ञानी हो गये (श्रोताओं मे हँसी)। यही है सापेक्ष दृष्टि। इसी को कहते है अनेकान्त दर्शन।

एक नैयायिक मत है जो 'ज्ञानादिविशेष गुणाभावः मुक्तिः' – ज्ञानादि विशेषगुणो के अभाव को मुक्ति मानता है। भगवान् कहते हैं कि हाँ, कथंचित् आपकी बात भी ठीक है। 'ठीक है' – ऐसा कहने से उसका स्वागत हो जाता है। मित्रता बन जाती है वह आकर समीप बैठ जाता है। सम्यग्दर्शन कोई मोम का थोड़े ही है कि पिघल जाये। आप सोचते हैं कि ऐसा करने से कहीं मेरा सम्यग्दर्शन न टूट जाये। सम्यग्दर्शन में सर्वाधिक दृढ़ता होती है। वज्र टूट सकता है लेकिन सम्यग्दर्शन ऐसा खण्डित नहीं होता। अतः पहले सामने वाले की बात स्वीकार करो फिर अनेकान्त के माध्यम से समझाओ कि देखो, चार ज्ञान का तो अभाव, केवलज्ञान होने पर हम भी मानते हैं। केवलज्ञान विशेष नहीं सामान्य है, शक्ति की अपेक्षा वह तो हमेशा बना रहता है। केवल अर्थात् नथिग एल्स, ऑनली नालेज– कुछ भी नहीं मात्र ज्ञान।

ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव हो जाता है, तो विशेष को जैन-दर्शन मे पर्याय माना है और पर्याय का अभाव तो होता ही है गुण का अभाव कभी नहीं होता। गुण त्रैकालिक होता है यह बात भी माननी चाहिये। इस प्रकार मित्रता के माहौल में सारी बात हो तो धीरे-धीरे अनेकान्त के माध्यम से आँख खुल सकती है। संसार मे जो विचार वैषम्य है उसका कारण है दृष्टि की संकीर्णता। आचार्य कहते हैं कि विचार-वैषम्य को यदि मिटाना चाहते हो तो दृष्टि को व्यापक बनाना होगा। सभी के विचार सुनकर अनेकान्त के आलोक में पदार्थ का निर्णय करना ही समझदारी है।

अनेकान्त की प्ररूपणा के लिए सहायक है नयवाद। भगवान ने केवलज्ञान के माध यम से जो भी जाना उसकी प्ररूपणा की नयवाद के माध्यम से। यद्यपि केवली भगवान 'अपगत श्रुत' माने जाते हैं फिर भी उनको द्रव्यश्रुत का आलम्बन लेना पड़ता है। वे

वचन योग के माध्यम से उसे लेकर द्वादशांग वाणी के स्रोत बन जाते है इसलिए मूलकर्त्ता वही हैं। उन्होंने सारी बात जानकर यही कहा कि किसी की बात काटो मत, सबकी सुनो, समझो और जहाँ भी थोड़ी गलती हो रही है उसे सुधारने का प्रयास करो। तभी वस्तु के बारे में ठीक-ठीक ज्ञान होगा।

नय,एक-एक धर्म के विश्लेषक हैं और धर्म एक ही वस्तु में अनन्त माने गये हैं। 'अनेकान्तात्मक वस्तु' या 'अनन्तधर्मात्मकं वस्तु'। वस्तु अलेक धर्मों को लिए हुए है। अनेकः अन्ताः धर्माः यस्मिन विद्यन्ते इति अनेकान्तः – अर्थात् अनेक धर्म जिसमें समाविष्ट है ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तु है। उसे जानने के लिए छद्मस्थ का ज्ञान सक्षम नहीं है। इसलिए उस ज्ञान से प्रत्येक धर्म का आंशिक ज्ञान तो हो सकता है किन्तु सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतः वस्तु नित्य है, अनित्य है, ध्रुव है, अध्रुव है इस प्रकार एक-एक धर्म की प्ररूपणा करते हैं। भगवान ने केवलज्ञान के द्वारा जो कुछ देखा-जाना वह सब प्ररूपित नहीं है वह तो अनन्त है। श्रुत को अनन्त नहीं माना, अनन्त का कारण अवश्य माना है। जितने शब्द-भेद हैं जितने विकल्प है उतने ही श्रुत है। श्रुत अनन्त नहीं असख्यात है। यदि हम विकल्पो में ही उलझे रहे तो केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। इसलिए वाद-विवाद से परे निर्विवाद होने के लिए, केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेकान्त का अवलंबन लिया गया है।

वास्तव में अनेकान्त कोई वाद नहीं है। अनेकान्तात्मक वस्तु है और उसका प्ररूपण करने वाला वाद है स्याद्वाद। वस्तु में जो अनेक धर्म हैं उनका प्ररूपण करने वाला जो श्रुत है वह एक अंश को पकड़ने वाला एक धर्म को पकड़ने वला है। यही स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अर्थही कथंचिद्वाद अर्थात् नयवाद। यह बहुत गुण है इसे चक्र की उपमा दी गयी है। नयचक्र कहा गया है। मै इस ओर आपका ध्यान ले जाना चाहता हूँ जब कौरवों और पाण्डवों के बीच युद्ध हो रहा था, द्रोणाचार्य कौरवो की ओर हो गए। चक्रव्यूह की रचना की गयी। पाँडवों की ओर से अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु जिसे 'वीर' की उपाधि दी गयी थी, कौरवों द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से प्रवेश कर गया। वह प्रवेश तो कर गया क्योंकि प्रविष्ट होने का ज्ञान तो उसे था पर निकलने का नहीं था। ठीक ऐसा ही आज हो रहा है। अनेकान्त का, स्याद्वाद का सहारा ले तो लेते हैं लेकिन ठीक-ठीक समझ नहीं पाने से उसी में उलझकर रह जाते हैं।

अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति बहुत ही धीर-गम्भीर होता है, समीचीन दृष्टि वाला होता है वह निर्भीक होता है लेकिन ध्यान रखना निर्दयी कदापि नहीं होता। निर्दयी होना और निर्भीक होना – एक बात नहीं

है। कभी-कभी हम कोई बात जोर से कहते हैं। तो आपको लगता होगा कि महाराज ! बहुत जोर से बोलते है इसलिए कषाय तो होती होगी। तो भइया ! आचार्य वीरसेन स्वामी कहते है कि कषाय के साथ संक्लेश परिणामों का अविनाभाव संबध नहीं है। 'ण कसायउड्ढी असादबधकारण तक्काले सादस्स वि बधुवलभा।'[1] अर्थात् कषाय की वृद्धि असाता वेदनीय के बंध का कारण नहीं है वहाँ सातावेदनीय कर्म का भी बंध होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आप लोग कषाय करना प्रारम्भ कर दें, नहीं, ऐसा मत करना। यहाँ आशय इतना ही है कि सही बात जोर से भी कही जाये, एक बार ही नहीं बार-बार कही जाये, तो इसमें सत्य का समर्थन है उसे बल मिलता है। जैसे आप लोग मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि दो-तीन बार तक कहते हैं और जोर-जोर से कहते है। ऐसा कहते हुए भी होश नहीं खोते। वहाँ जोश अवश्य होता है पर रोष नहीं होता।

वदार्थो विचराम्यह नरपते ! शार्दूल विक्रीडिलम् – आचार्य समन्तभद्र स्वामी की बात बड़े मार्के की है। वे कहते है कि मै सिंह के समान सत्य को कहने के लिए विचरण करता हूँ। यह निर्भीकता की बात है। यहाँ संक्लेश नहीं है। सिंह के स्वभाव के बारे में भी आपको जानकारी होनी चाहिये। सिह मनुष्य की तुलना में अधिक दयावान है। कर्म सिद्धान्त कहता है कि सिंह यदि कषाय भी करे तो उसके फलस्वरूप पचम नरक तक जा सकता है परन्तु मनुष्य की कषाय इतनी तीव्र होती है कि सप्तम नरक का भी उद्घाटन कर सकता हैं।

अनेकान्त के रहस्य को पहचानना चाहिये। दूसरे का विरोध करने की आदत ठीक नहीं है। कोई कुछ कहे उसे सर्वप्रथम स्वीकार करना चाहिये। कहना चाहिये कि हाँ भाई, आपका कहना भी कथंचित् ठीक है। 'भी' का अर्थ अनेकान्त और 'ही' का अर्थ है एकान्त। 'भी' मे कथचित् स्वागत है और 'ही' मे आग्रह है दूसरे को नकारना है। प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और अस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के लक्षण है। प्रत्येक द्रव्य के पास जो अस्तित्व है उसे नकारा नहीं जाना चहिये। जो उसे नकार देता है तो सोचिये उसके पास सम्यग्दर्शन रह कैसे सकता है। द्रव्य पर श्रद्धान रखने वाला मात्र अपने आत्मा पर ही श्रद्धान नहीं रखता, इसलिए आत्मद्रव्य की भाँति जो अन्य द्रव्य हैं उन पर भी श्रद्धान आवश्यक है। वस्तु को प्रत्येक पहलू से देखना, समझना और निराग्रही होकर स्वीकार करना यही अनेकान्त के रहस्य को समझना है।

स्याद्वाद को समझने के लिए नयों की व्यवस्था की गयी है। नयों के बिना हम

---

१. धवला पुस्तक ६. पृ० १८२ "कषायों की वृद्धि होने पर भी वहाँ सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है तथा कषायो की हानि होने पर भी छठे गुणस्थान तक असाता का बन्ध होता रहता है अतः कषाय वृद्धि को सक्लेश का लक्षण नहीं माना जा सकता। (विशेषार्थ, ६/१८२)

ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। 'नय' शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ है जो ले जाता है वह नय है। नयति इति नयः। कहाँ ले जाता है? तो कहना होगा अनेकान्तामक वस्तु की ओर ले जाता है। इतना ही नहीं, यह भी समझना होगा कि एक ही नय इसके लिए सक्षम नहीं है। नय को एक अर्थ ऐसा भी है कि नय एव नयनं– नय ही नयन अर्थात् आँख है। आँख सभी के पास है। लेकिन कितनी हैं। सभी कह देंगे कि दो हैं। तो ऐसे ही नय भी कम से कम दो हैं। दोनों आँखों से देखकर ही सही निर्णय लिया जा सकता है। जब दोनो आँखे आपस में लड़ती हैं तब आत्मा को दुख हो जाता है।

समझने के लिए यदि दाहिनी आँख दांयी ओर पड़ी वस्तु देख रही है और आप दोनो आँखो के बीच नाक पर एक दीवार खींचकर पार्टीशन बनाले फिर देखें तो ज्ञात होगा कि उस समय दूसरी बायीं आँख किसी अन्य वस्तु को अपना विषय नहीं बनाती बल्कि सहयोगी बनती है। यदि आप जबरदस्ती दोनों आँखों से दो अलग चीजों को विषय बनाना चाहेंगे तो माथे में दर्द होने लग जाएगा। देख लेना, आप इसे स्वयं करके।

एक बात और कि आँखों के द्वारा वस्तु को देखना है तो एक आँख को गौण करना होता है। बंद करना होता है। अभी तीन-चार दिन पूर्व ही पण्डित जी की आँख की जाच चल रही थी आँगन मे तो डाक्टर (आई-स्पेशलिस्ट) ने कहा था– पण्डित जी ! एक आँख हाथ से बंद कर लीजिये। पण्डित जी ने एक आँख पर हाथ रख लिया। थोड़ी देर बाद उसने कहा– अब इसे खोल लीजिये और दूसरी आँख बद कर लीजिये। यह सब क्या है? सोचिये, पण्डित जी को दोनों आँखों से देखना चाहिये, अच्छा देखने में आयेगा लेकिन ऐसा नहीं है डाक्टर का निर्णय ही सही है। एक आँख दूसरे की सहयोगी बनती है और मुख्य गौण रूप से काम करती है। जब दूरबीन आदि से दूरवर्ती वस्तु को या सूक्ष्मदर्शी के द्वारा सूक्ष्म वस्तु को आप देखते हैं तो भी एक आँख बद कर ली जाती है। वह गौण हो जाती है। यही बात नय के विषय में है।

नय जो है उसके माध्यम से समग्र वस्तु का ग्रहण नहीं हो पाता इसलिए मुख्य रूप से दो नयों की व्यवस्था है और वे है व्यवहार नय और निश्चय नय। दोनों नय उपयोगी है। अमृतचंद्र आचार्य ने कलशा में लिखा है कि देखों 'जो व्यवहार नय को नहीं मानोगे तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा। एक प्रकार से कहा जाए तो व्यवहार नय का अर्थ है विश्व-कल्याण और निश्चय नय का अर्थ है आत्म-कल्याण। लेकिन ध्यान रखना मात्र निश्चय नय से आत्म-कल्याण तो कर ही नहीं सकते, विश्व-कल्याण भी नहीं कर सकते। जिसको आत्मा का कल्याण करना है उसे चाहिये कि दुनिया के सारे गोरख धंधे छोड़कर मुनिव्रत धारण कर लें। समता-भाव पूर्वक दोनों नयों को आलम्बन लेना होगा।

भगवान ने निश्चय नय से अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में रहकर बिना किसी

सहारे के जाना है। निश्चय नय से वे आत्मज्ञ है। साथ ही व्यवहार नय से वे सर्वज्ञ भी है। इसलिए उन्होंने दोनों नयो का कथन करके व्यवहार नय को 'पर' के लिए रखा और निश्चय नय को 'स्व' के लिए। अतः स्व-पर के भेदविज्ञान के माध्यम से ही 'प्रमाण' की ओर बढ़ा जाता है।

एक नदी के तट पर मैं एक बार गया था। बहुत सुहावना दृश्य था। नदी बह रही है निर्बाध गति से, लहरें नहीं है नदी शान्त है। जब नदी की ओर देखना बंद करके तट की ओर दृष्टिपात किया तो विचार आया ओहो ! नदी कोई चीज अलग और तट कोई अलग चीज है। कूल के बीच अर्थात् तटों के बीच बहने वाली नदी है। एक ओर का कूल (तट) दूसरे ओर के कूल (तट) के लिए तो प्रतिकूल ही है। एक की दिशा दक्षिण है तो पृथक् दूसरे की उत्तर की ओर है। एक पूर्व की ओर है तो दूसरे की पश्चिम की ओर। दोनो पृथक्-पृथक् हैं। कभी मिलेंगे भी नहीं, मिल भी नहीं सकते। जैसे रेखागणित में बताया कि समानान्तर रेखाएँ कभी मिलती नहीं है ऐसा ही यहाँ है। नदी के दोनों तट एक दूसरे के प्रतिकूल है। परन्तु बंधुओं ! एक कूल दूसरे के लिए प्रतिकूल होकर भी नदी के लिए तो अनुकूल ही है। इसी तरह व्यवहार नय, निश्चय नय के लिए और निश्चय नय व्यवहार नय के लिये अनुकूल न होकर भी 'प्रमाण' के लिए अनुकूल हैं और प्रमाण...... प्रमाण तो नदी है।

जिनेन्द्र भगवान की दिव्य ध्वनि हम लोगों के लिए प्रमाण है, नदी के समान निर्मल है। जो लोग निश्चय नय या व्यवहार नय को लेकर लड़ रहे हैं वे नदी को ही समाप्त कर रहे हैं। अभी साढ़े अठारह हजार वर्ष शेष है अभी पानी बहुत पीना हैं। अभी ऐसे लोग भी आयेंगे जो दोनों तटों को सुदृढ़ बनायेंगे, इतना मजबूत बनायेंगे कि नदी अबाध रूप से, अनाहत गति से बहती चली जाए। महावीर भगवान् की दिव्य ध्वनि एक निरन्तर प्रवाहमान निर्झर के समान है आप उस शीतल वाणी रूपी पेय पीकर तृप्त होए। तट कुछ भी नहीं है परन्तु तट के बिना शीतल सुस्वादु पानी भी प्राप्त नहीं होगा। एक भी तट विच्छिन्न हो जाता है तो नदी का पानी छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाता है। इसलिए दोनों तटों को रखिये और उस प्रमाण रूपी नदी में अवगाहन कीजिये जिसमें आत्मानुभूति सम्भाव्य है।

नयों को ठीक-ठीक नहीं समझने के कारण यह संसारी प्राणी विभिन्न मत-मतान्तरों में उलझ जाता है। मात्र तट की ही सेवा करने वाला कभी पानी नहीं पी सकेगा। हम तो कहते हैं कि कोई अनादिकालीन प्यासा व्यक्ति होगा तो वह सीधा डुबकी लगाये बिना नहीं रहेगा। डुबकी तट में नहीं लगायी जाती हाँ इतना अवश्य है कि तट के माध्यम से डुबकी लगायी जायेगी। जो इस ओर से आयेगा वह इस तट की प्रशंसा करेगा, उधर से आने वाला उस तट की प्रशंसा करेगा लेकिन तट पर ठहरेगा नहीं, डुबकी लगायेगा

तभी गहराई मिलेगी जहाँ बस आनन्द ही आनन्द है। मैं डुबकी लगा रहा हूँ तो मुझे आनन्द हो रहा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि इधर-उधर तट की ओर मत देखो शीघ्र ही अपनी प्यास बुझा लो।

अमृतचंद्र आचार्य ने एक स्थान पर पुण्य-पाप अधिकार में यह उल्लेख किया है कि नय दो हैं मुख्य रूप से निश्चय और व्यवहार। जो व्यक्ति एकमात्र व्यवहार नय के माध्यम से क्रियाकाण्ड में फँस जाते हैं वे आत्मानुभूमि से वंचित रह जाते हैं और जो निश्चय नय का महत्त्व क्या है यह नहीं समझते और मात्र निश्चय, निश्चय रटते चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। उन्होंने कहा है ज्ञाननयैषिणः– अर्थात् जो ज्ञान को भी एकान्त रूप से मानकर चले जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। दोनों नयों को जानकर भी जो असयमी रह जाते हैं वे भी डूब जाते हैं। जो संयमी हैं अप्रमत्त है वे ही तैर पाते हैं।

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय, निश्चय-वादी भी डूबे। क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबें संयम से ऊबे। प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे। आत्मध्यान में लीन, किन्तु मुनि तीन लोक पै तैर रहे।

यहाँ पर आचार्य द्वारा प्रयुक्त प्रमत्त शब्द समझने योग्य है। प्रमाद के ही फलस्वरूप यह जीव संसार में भटकता रहा है। प्रमाद एक ऐसा प्रत्यय है जो बाहर भटकता है। आत्मा के लिए आत्मा की आरे जाने में एक प्रकार का व्यवधान उपस्थित कर देता है। प्रमाद अर्थात् कुशलेषु अनादरः प्रमादः। भीतर जो आत्म-तत्त्व के प्रति तनिक-सा भी आलस्य आ जाता है उसका नाम प्रमाद है। जिसमें हमारा हित निहित है उसके प्रति किसी भी प्रकार की आलस्य-प्रवृत्ति ही प्रमाद है। अनादिकाल का यह प्रमाद,, हम लोगों का हटा नहीं है।

स्व जीविते कामसुखे च तृष्णया,
दिवा श्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वामार्य नक्तंदिवमप्रमत्तवान्,
अजागरे वात्म विशुद्धवर्त्मनि।।

हे भगवन् ! आपने बड़ा अद्भुत काम किया। क्या किया? देखो दिन रात यह संसारी प्राणी कहाँ फँसा हुआ है? कहाँ अटका हुआ है? इन्द्रियों के सुख की तृष्णा से पीड़ित होकर दिन में तो नाना प्रकार से परिश्रम करके थक जाता है और रात्रि होने पर बिस्तर पर ऐसा गिर जाता है जैसा कि मुहावरे में कहा है कि घोड़े बेचकर सोता है। उसे होश भी नहीं रहता किन्तु रात भर सोकर जब पेट पुनः खाली हो जाता है तो फिर उठता है और वही क्रम शुरू हो जाता है ऐसा करते करते अनन्तकाल व्यतीत हो गया। लेकिन हे भगवन् ! आप आत्मा को शुद्ध करने वाले मोक्षमार्ग में जागते ही रहे दिन रात।

यही अप्रमत्त दशा आपकी श्रेयस्कर है।

मैं यही कहना चाहूँगा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है। अनेकान्त कोई 'वाद' नहीं है। वस्तु का समीचीन कथन करने वाला स्याद्वाद अवश्य है। जो सब वादों को खुश कर देता है। जो कोई भी एकान्त को पकड़े हुए है उसे स्याद्वाद के माध्यम से जो कुछ देने योग्य है दे देना चाहिये। जैसे एक व्यक्ति विजय पाने युद्ध क्षेत्र में जा रहा है और मात्र तलवार लेकर खड़ा है तो आप क्या कहेंगे उसे, 'कि तू गलत है, रणागण में जाने की तुझे कोई बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, तुझे विजय प्राप्त नहीं हो सकती।' नहीं ऐसा कहना ठीक नहीं है। उससे कहना होगा कि भइया ! आपने तलवार तो ले ली, यह बहुत अच्छा किया, दूसरे पर प्रहार किया जा सकता है लेकिन आत्म-रक्षा तो नहीं की जा सकती अत. एक ढाल भी ले लेना चाहिये।

निश्चय नय ढाल की तरह है आत्म की सुरक्षा करता है और व्यवहार नय तलवार के समान है जो 'पर' के ऊपर वार करने के काम आता है। इस आत्म-सुरक्षा के लिए 'निश्चय' रखो और दूसरे के लिए– उसे समझाने के लिए 'व्यवहार' को अपनाओ। तलवार और ढाल के बीच एक समन्वय है दोनो का जोड़ा (युग्म) है। दोनो से सज्जित सैनिक ही अपने बाहुबल से विजय प्राप्त कर सकता है। करता भी है। जिसके पास निश्चय रूपी ढाल है वह आत्मा के स्वभाव की ओर ध्यान रखेंगे उसकी सुरक्षा करेगा और विषय कषायो को जिनको तोड़ना है जिनको छोड़ना है उन्हें तलवार रूपी व्यवहार के माध्यम से हटाना चलेगा। व्यवहार नय को छोड़ो मत, उसे निश्चय के साथ रखो। व्यवहार सापेक्ष निश्चय और निश्चय सापेक्ष व्यवहार ही मोक्ष मार्ग में कार्यकारी है। मात्र व्यवहार ही नय से तीन काल में भी केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा, नहीं होगा नहीं होगा। साथ ही व्यवहार के माध्यम से 'समता धारण किये बिना, निश्चय नय का विषय वीतराग विज्ञान भी नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा, नहीं मिलेगा।

अब इसके आगे और क्या कहूँ, भइया ! आपका समय पूरा हो गया। हम तो यही कहना चाहते है कि अपने विवेक को जाग्रत रखो। यदि षट्दर्शनों का अध्ययन करोगे तो आपको स्वत. ज्ञात हो जाएगा कि अनेकान्तात्मक वस्तु क्या है? जब 'अष्टसहस्री' और 'प्रमेयकमल मार्तण्ड' – इन ग्रंथों को मैं पढ़ रहा था, महाराज जी (पूज्य आचार्य ज्ञानसागर जी) के पास तो वे शंकित हुए कि मै इसमें सफल हो पाऊँगा या नहीं किन्तु यह मात्र आशंका ही सिद्ध हुई। मैं समझ गया इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस व्यक्ति के समता आ जाएगी, वह सारे के सारे विरोधी प्रश्नों को पचा जायेगा और उनके सही-सही उत्तर देने मे सक्षम हो जयेगा। समता के बिना ममता के साथ यदि प्रमत्त दशा में जीवन-यापन करोगे तो विजय श्री का वरण नहीं कर सकोगे।

वह भी एक समय था जब भगवान महावीर के जमाने मे अनेकान्त की प्रशसा होती थी लेकिन आज अनेकान्त को मानने वाले स्याद्वाद के अभाव में परस्पर विवाद कर रहे है अन्य जैनेतर भाई कहते है कि भइया ! आपके पास तो स्याद्वाद रूपी एक ऐसा अचूक नुस्खा है कि आप हमारी अपनी और सभी की समस्या को निपटा सकते है लेकिन आज आप स्वयं ही आपस मे क्यो झगड़ रहे है। उन्हे भी विस्मय होता है। इसलिए बधुओं ! समता धारण करो। यदि कोई व्यक्ति एकान्त पकड़ लेता है तो भी आपका यदि वीतराग ममता भाव है तो अवश्य उस पर प्रभाव पड सकता है। धीरे-धीरे उसे सत्य समझ में आने लगेगा। स्याद्वाद का अर्थ– 'मेरा ही सही' – ऐसा है। 'ही' से 'भी' की ओर बढ़ना– यह स्याद्वाद का लक्ष्य है।

६ के आगे ३ हो तो ६३ बनता है और ३ के आगे ६ हो तो होगे ३६। ३६ की स्थिति मे तो अनेकान्तात्मक वस्तु मिट जाती है स्याद्वाद समाप्त हो जाता है। जब ६३ हो तो मिलन की स्थिति होती है सवाद होता है। स्याद्वादी पीठ नही दिखाता किसी को। पीठ दिखाने का अर्थ है उपेक्षा करना, घृणा करना। एक दूसरे की ओर मुख किये हुए ६ और ३ अर्थात ६३, यह ६३ शलाका पुरुषो के प्रतीक है। आज तिरेसट शलाका पुरुष वर्तमान मे यहाँ नहीं है तो भी उनके द्वारा उपदेशित अनेकान्त दर्शन, सभी दर्शनों ओर मत-मतान्तरो के बीच समाधान करने वाला है। एकान्त को लिए हुए जो ज्ञान है वह अहितकारी सिद्ध होता है। अनेकान्तात्मक ज्ञान हमारे लिए हितकारी है। अनेकान्त को मानने वाले जैन लोग है। एक व्यक्ति ने सुझाया था कि 'जैन' शब्द की अपेक्षा जैनी शब्द ठीक है। अँग्रेजी में 'JAIN' शब्द में एक आई (I) है। आई (Eye) का एक अर्थ आँख भी है। 'JAINI" शब्द में दो आई यानी दो आँखे हैं। यह अनेकान्त की प्रतीक है। दो आंखे दो नय के समान है। दोनो नयो के माध्यम से हम प्रमाण (ज्ञान) को समीचीन रूप से आत्मसात कर सकते है। इसी मे हमारा आत्मकल्याण भी निहित है।

मेरा आपसे यही कहना है कि सब वादों में जितने भी वाद हैं विवाद है उनके बीच सवाद बनायें। स्याद्वाद के माध्यम से वस्तु-स्थिति को समझे और सत्य को प्राप्त करें। सुख की उपलब्धि का यही मार्ग है।

प्रवचन पंचामृत

☐ जन्म : आत्म कल्याण का अवसर

पंच-कल्याणक की प्रत्येक क्रिया का विश्लेषण करना तो विद्वानों और गणधरपरमेष्ठी के लिए भी शक्य नहीं पर फिर भी 'क्या छोड़ना है और क्या ग्रहण करना है' – यह ज्ञान यदि हमें इन पॉच दिनों के अन्दर हो जाता है तो यह हमारा सौभाग्य होगा। धर्म की अधिकाश बाते सूक्ष्म हैं और परोक्ष हैं। हमारे इन्द्रिय-ज्ञान गम्य नहीं है। फिर भी पूर्वाचार्यो ने उन सभी बातों को कहने और लिपिबद्ध करके हमे समझाने का प्रयास किया है। उस साहित्य के माध्यम से हमें समझने का प्रयास करना चाहिए। साथ ही इन शुभ क्रियाओं को देख कर अपने जीवन को सँभालने का प्रयास करना चाहिए।

कल जहाँ सध्या के समय हम सामायिक करने वाले थे वहाँ कुछ लोग आये और कहने लगे– महाराज ! कल जन्म-कल्याणक महोत्सव है। आप भी जुलूस के साथ पाडुक शिला तक चले और कार्यक्रम में सम्मिलित होवें तो अच्छा रहेगा। हम सभी को बड़ा आनन्द आयेगा। तो हमने कहा– भैया ! हमारा कार्य तो दीक्षा कल्याणक के दिन से ही शुरू होगा। अभी तो आपका कार्य है। आप जानो और मै नही आया। यद्यपि मेरे पास समय था, मैं आ सकता था, लेकिन नही आने के पीछे कुछ रहस्य भी था, जिसके माध्यम से कुछ बातें आपको समझानी थीं।

यह मैं भी जानता हूँ कि जन्म कल्याणक में सौधर्म इन्द्र आता है। अपने हाथों से बालक आदिनाथ को उठाने का सौभाग्य पाता है और जीवन को कृतकृत्य मानता है। इन्द्राणी-शची भी इस सौभाग्य को पाकर आनन्द-विभोर हो जाती है और अपने सासारिक जीवन को मात्र एक भव तक सीमित कर देती है। इस अवसर को प्राप्त करके वह नियम से एक भव के पश्चात् मुक्ति को पा लेती है। इतना सौभाग्यशाली दिन है यह। फिर भी हमारे नहीं आने के पीछे रहस्य यह था; बंधुओं ! हमारा धर्म वीतराग धर्म है। जन्म से कोई भी भगवान नहीं होता। जिनकी धारणा हो कि भगवान जन्म लेते है तो वह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर तो गृहस्थाश्रम में ही मुक्ति माननी होगी और राग के साथ केवलज्ञान मानना होगा जो कि संभव

नहीं है। जन्म कल्याणक और जन्माभिषेक तो राग-दशा में होते हैं। इसमें आप सम्मिलित हों यह तो आपका कर्त्तव्य है। क्योंकि सरागी श्रावक के लिए तो इसी में धर्म है। श्रावक की धार्मिक क्रियाओ में पूजा-प्रक्षाल-अभिषेक आदि शामिल है। अशुभ राग से छूटने तथा वीतरागता को प्राप्त करने के लिए शुभ राग का आलम्बन आवश्यक है। आपको शुभ राग के कार्यो में जितना आनन्द है उतना ही हमें वीतरागता में आता है। हमारी दशा अर्थात् साधु की स्थिति आपसे भिन्न है। जैसा अभी-अभी पंडितजी ने भी कहा था (पं कैलाशचन्दजी सिद्धांताचार्य)। इसलिये हमारा उस अवसर पर आना सम्भव नहीं हुआ।

आपने जन्म-कल्याणक का आनन्द लिया जो आपके लिये उचित ही हैं लेकिन सही पूछो तो असली आनन्द का दिन कल आने वाला है। जब आदिनाथ का दीक्षा-कल्याणक होगा। वे सारे परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रंथ-दिगम्बर होकर तपस्या के लिये निकलेंगे। आपके चेहरे फीके पड़ सकते हैं क्योंकि कल से छोड़ने-त्यागने की बात आयेगी। पर बधुओ ! ध्यान रखना आनंद तो त्याग में ही है। आप कह सकते हैं कि महाराज ! कल तो छोड़ना ही है इसलिए क्यों ना हम आज ही आदिनाथ को भगवान मान लें? पूज्य मान ले? तो यह ध्यान रखना कि होनहार भगवान और साक्षात् भगवान में बहुत अन्तर है। पूज्यता तो भगवान बनने पर ही आती हैं पच-परमेष्ठी ही वीतराग-धर्म में पूज्य माने गये हैं। क्योंकि वे वीतरागी हो गए हैं।

जन्म कल्याणक के समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और करोड़ों की संख्या मे देव लोग आते हैं। पाडुक-शिला पर बालक-तीर्थकर को ले जाकर जन्म-कल्याणक मनाते हैं। अभिषेक पूजन और नृत्य-गानादि करते हैं। रत्नों की वृष्टि होती है। जिसने आज जन्म लिया, यह जन्म लेने वाली आत्मा भी सम्यग्दृष्टि है। उसके पास मति-श्रुत और अवधिज्ञान भी है। हमारे यहाँ जिनेन्द्र भगवान के शासन मे पूज्यता मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं आती, पूज्यता तो वीतरागता से आती है। सम्यग्दर्शन के साथ जन्म हो सकता है परन्तु वीतरागता जन्म से नहीं आ सकती। इसलिये जन्म से कोई भगवान नहीं होता। जब आपका बच्चा बोलना शुरू करता है तब तोतला बोलता है। इधर उधर की कई बातें भी करता है आपको अच्छी भले ही लगती हों लेकिन वे प्रामाणिक नही मानी जातीं क्योंकि वह अभी बच्चा है। मनुष्यायु का उदय होने पर भी बच्चे को कोई मनुष्य नहीं कहता। यह कोई नहीं कहता कि मनुष्य जन्मा है सभी यही कहते हैं कि बच्चा जन्मा है। इसी प्रकार जो आज जन्में है वे अभी भगवान नहीं है अभी तो वे बालक आदिनाथ ही कहलायेंगे। बच्चे ही माने जायेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने उन मुनियों को भी प्रमत्त

कहा है, ना-समझ कहा है जो स्वात्मानुभूति से च्युत होकर शुभ-क्रियाओं में लगे हुए हैं। तब ऐसी दशा में अभी जिस आत्मा ने जन्म लिया है, जो वस्त्र-आभूषण पहने हुए है उसे वीतरागी मानकर, भगवान मानकर कोई मुनि कैसे पूज सकता है? मैं अभी उसका सम्मान करूँ, स्वागत करूँ यह नहीं हो सकता। अभी वह आत्मा तीर्थंकर नहीं बनी। जिस दिन यह आत्मा राग के ऊपर रोक लगायेगी अर्थात् संयम को ग्रहण करेगी; उस दिन मैं बार-बार उसे नमोस्तु करूँगा और अपने-आपको सौभाग्यशाली समझूँगा क्योंकि वह महान् भव्य आत्मा निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करते ही अनेक ऋद्धियों को प्राप्त करेगी, मनः पर्यय ज्ञानी होगी, वर्धमान चारित्र को प्राप्त करेगी और तप के माध्यम से संसार के आवागमन से मुक्त होगी सिद्धालय में विराजेगी।

आपके मन मे यह भाव आ सकता है कि महाराज ! जब अभी उस आत्मा के पास पूज्यता नहीं है तो हम जन्म कल्याणक क्यो मनायें? ऐसा नहीं सोचना चाहिए। भइया ! यह तो सारा का सारा नियोग है और इंद्र आकर स्वयं इस सारे कार्यक्रम को यथाविधि सम्पन्न करता है। जिसे देखकर हमे ज्ञात होता है कि एक जीवात्मा ने विगत जीवन में कैसा अद्भुत पुरुषार्थ किया; जिसका फल स्वर्गादिक में भोगकर पुनः यहाँ मनुष्य जन्म लेकर सासारिक सम्पदा और वैभव को भोग रही है। और इतना ही नहीं इसके उपरात मुनिव्रत धारण करके मुक्तिश्री को प्राप्त करेगी। ऐसी भव्य तद्भव मोक्षगामी आत्मा की जन्म-जयती मनाना श्रावक का सौभाग्य है, पर इसका यह आशय नहीं है कि सामान्य व्यक्ति की जन्म-जयती मनाई जाये। आज तो यहाँ जो भी मनुष्य उत्पन्न होगा चाहे मनुष्य उत्पन्न हो चाहे मनुष्य गति से आये, तिर्यचगति या नरकगति से आये अथवा चाहे देवगति से आये वह सम्यग्दर्शन लेकर नहीं आ सकेगा। ऐसी दशा मे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के साथ जन्म-जयती मनाना उचित नहीं है। बधुओं ! समझो ! यह कौन सी पर्याय है?कब और कैसे हमे मिली है? इसके माध्यम से कोई भी धार्मिक क्रिया बिना विवेक के नहीं करना चाहिए। जो भी धार्मिक क्रियाये करो उनको विवेक पूर्वक करो ताकि आवागमन मिट सके। कर्म के बधन, कर्म की बेड़ियां/शृंखलायें ढीली हो सकें और हमारा भविष्य उज्ज्वल बन सके।

कर्म के बन्धन तोड़ना इतना आसान भी नहीं है कि कोई बिना पुरुषार्थ किये ही कर ले। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये यह कार्य आसान नहीं हो सकता। जिसे एक बार रुचि जागृत हो जाये और जो रत्नत्रय की साधना करे उसे ही यह कार्य सहज है- आसान है। जन्म से लेकर जब तक आठ वर्ष नहीं बीत जाते तब तक

यहाँ सभी मिथ्यादर्शन के साथ ही रहते हैं। यह पंचमकाल है और उसमें भी हुण्डावसर्पिणी काल है। आठ वर्ष के उपरांत भी सम्यग्दर्शन हो ही जाये ऐसा नियम भी नहीं है। और दूसरी बात यह कि सम्यग्दर्शन हुआ भी या नहीं हुआ– यह ऐसे मालूम नहीं पड़ सकता क्योंकि जो अस्सी साल के वृद्ध हो गये और अभी रत्नत्रय उपलब्ध नहीं हुआ, जीवन में त्याग नहीं आया तो सम्यग्दर्शन का क्या भरोसा? रत्नत्रय की उपलब्धि ही वास्तविक उपलब्धि है। आप लोग धन के अभाव में दरिद्रता मानते हैं पर वास्तविक दरिद्रता तो वीतरागता के अभाव में होती है। राग-द्वेष और विषय कषाय ही दरिद्रता के कारण हैं। गर्भ और जन्म-कल्याणक में देवों के द्वारा होने वाले रत्नों की वर्षा से आपके घर की दरिद्रता भले ही मिट जाती हो लेकिन मोक्षमार्ग में दरिद्रता तभी मिटेगी जब हम त्याग की ओर बढ़ेंगे; वीतरागी होंगे।

आज एक भव्य आत्मा देवगति से शेष पुण्य का फल भोगने के लिये यहाँ आयी है। वह अपने जीवन काल के अन्तराल मे केवल भोग में ही रची-पची रहे-ऐसी बात नहीं है। वह तो सारे भोग-वैभव को छोड़कर दीक्षा ग्रहण करेगी। जो आज भोग-सम्पदा और देव-सम्पदा का अनुभव करने वाले हैं वे होनहार भगवान आदिनाथ कल इस सारी माया-ममता को छोड़ेंगे। क्यों छोड़ेंगे? इसलिए छोड़ेंगे कि आवागमन का कारण माया-ममता ही है। आत्मा के अहित विषय-कषाय है। यही भगवान जिनेन्द्र की देशना है। हम लोगों के लिए उपदेश है। ये रागद्वेष और विषय-कषाय ही आत्मा को बन्धन में डालने वाले हैं एक मात्र विरागता ही मुक्ति को प्रदान करने वाली है। समयसार में कुन्दकुन्द भगवान ने कहा भी है–

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपण्णो।
ऐसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।१५७।।

राग से जीव बंधता है और वैराग्य से मुक्त होता है यही बंध तत्त्व का कथन संक्षेप में जिनेन्द्र देव ने कहा है इसलिए राग नहीं करना चाहिए। आप यह जो भी कार्यक्रम कर रहे हैं वह अपना कर्त्तव्य मानकर करें क्योंकि यही बालक आदिनाथ आगे जाकर तीर्थंकर बनेगा और हमे वीतरागता का सदुपदेश देगा। यह स्वयं भी परिपूर्ण होगा और हमें भी सही रास्ता दिखायेगा। आगम में उल्लेख है कि दो चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज आकाश मार्ग से गमन कर रहे थे, तब नीचे खेलते हुए भावी तीर्थंकर बालक को देखकर उनकी धर्म-शंकायें दूर हो गयीं थीं उन्हें समाधान मिल गया था। पर एक बात और थी कि उन मुनिराजों ने उस भावी तीर्थंकर बालक को नमोस्तु नहीं किया। सोचिये शंकाओं का निवारण हो गया, वह बालक तीर्थंकर होने वाला है। मुनि स्वयं भी मनःपर्ययज्ञान के द्वारा जान रहे होंगे परन्तु वे मुनिराज

राग का समर्थन नहीं करते। वे सरागी बालक को नमस्कार नहीं करते।

एक बात और ध्यान रखना कि वीतरागी और अरागी में बहुत अन्तर है। अरागी उसे कहते हैं जिसमें रागद्वेष रूप संवेदन की शक्ति ही नहीं रहती। जिसमें जानने-देखने रूप शक्ति भी नहीं रहती अर्थात् जड़ वस्तु अरागी है। सरागी वह है जो विषय-कषाय से युक्त है। राग-द्वेष कर रहा है। और वीतरागी उसे कहते हैं जिसमें राग पहले था लेकिन अब उसने छोड़ दिया है। विगतः रागः यस्य यस्मात् वा इति विरागः। होनहार भगवान अभी वीतरागी बनने के लिये उम्मीदवार है और जब वीतरागी बनेंगे तभी वे तीन लोक में सभी के द्वारा पूज्यता/आदर के पात्र होंगे। तभी हम भी नमोस्तु करेंगे। यही वीतराग-धर्म की महिमा हे। इसे समझना चाहिए और आचार्यों ने जो अपने जीवन भर की अनुभूतियों को शास्त्रो मे लिखा है उसके अनुरूप ही धार्मिक क्रियायें विवेक पूर्वक करनी चाहिए। सच्चे देव गुरु शास्त्र की उपासना के माध्यम से हमें अपनी श्रमण-सस्कृति को सुरक्षित रखन का प्रयास करना चाहिये। उसमें चार-चांद लगाना तो बड़े भाग्यशाली जीवों का ही कार्य है लेकिन जितना मिला है उतना तो सुरक्षित रखने का प्रयास हमे करना ही चाहिए। भइया ! अभी करीब साढ़े अठारह हजार वर्ष पचमकाल के शेष हैं। काल की अपेक्षा श्रावक धर्म और मुनि धर्म में शिथिलता तो आयेगी लेकिन शिथिलता आना बात अलग है और अपनी तरफ से शिथिलता लाना अलग बात है। आत्मानुभूति की कलियाँ धीरे-धीरे मुरझाती जायेंगी लेकिन समाप्त नहीं होंगी।

जब फसल पकने को होती है, दस बारह दिन शेष रह जाते हैं तो किसान एक बार पुनः पानी देता है। यद्यपि पानी का प्रभाव अब फसल के लिये विशेष लाभप्रद नहीं होता परन्तु फिर भी साधक तो होता ही है। इसी प्रकार हमें भी समय-समय पर धार्मिक कार्य करते रहना चाहिये और समय-समय पर आने वाली कुरीतियों कुप्रणालियों से बचते रहना चाहिए।

आज इस जन्म कल्याणक के दिन हमें विचार करना चाहिए कि जन्म, शरीर का हुआ है। आत्मा तो अजर-अमर है, वह जन्मता मरता नहीं है। मात्र आवागमन हो रहा है। इस आवागमन से मुक्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है। यही कल्याणकारी है। शरीर का कल्याण नहीं करना है, हमें आत्मा का कल्याण करना है। शरीर की पूजा नहीं करनी, शरीर में बैठी हुई रत्नत्रय गुण से युक्त आत्मा की ही पूजा करनी है। उसी की जयन्ती मनानी है। अमूर्त आत्मा की प्राप्ति में शरीर तो साधन मात्र है। इसका अभिमान नहीं करना चाहिए।

एक बार की बात है। इन्द्र की सभा चल रही थी। इन्द्र स्वयं पृथ्वी के चक्रवर्ती

के रूप की प्रशंसा कर रहे थे। कह रहे थे कि हम देवों के पास कुछ रूप है ही नहीं। असली रूप का अवलोकन करना हो तो पृथ्वी पर जाकर देखो। कुछ देवों के मन में परीक्षा करने की बात आ गयी। वे नीचे उतरे और जहाँ अखाड़े में चक्रवर्ती धूल-धूसरित होकर कसरत कर रहा था, वहाँ पहुँचे। देव उस छवि को देखकर अवाक् रह गये। सोचने लगे वास्तव में रूप तो यही है। देवों के द्वारा अपनी प्रशसा सुनकर चक्रवर्ती को अभिमान आ गया। चक्रवर्ती कहने लगा अभी क्या रूप देखते हो। अभी स्नान आदि करके आभूषण पहन कर जब राज-दरबार में आऊँगा तब देखना। देव गज-दरबार में पहुँचे। राजा आये। राज-सिंहासन पर बैठ गये। पर देवों ने देखा कि अब वह रूप नहीं रहा। अब वह छवि नहीं रही। वे अपने अवधिज्ञान से जान गये कि रूप लावण्य मे कमी आ गयी है और वे बाहर से ही वापिस लौटकर जाने लगे। राजा ने उन्हें बुलाया और पूछा कि क्या बात है? क्या मैं अब सुन्दर नहीं लगता? तब देवों ने कहा– राजन् आपको देखना ही है तो एक थाल मगा लो और उसमे थूककर देखो। थाल मगाया गया। राजा ने थूका तो उसमे कितने ही बिलबिलाते राग के कीड़े देखने मे आये। इन शरीर मे ऐसे ही घिनावने पदार्थ भरे हुए है। यह बात राजा की समझ मे आ गयी। वे सामान्य राजा नही थे। चक्रवर्ती सनतकुमार थे। कामदेव थे। सोचने लगे शरीर का स्वभाव ही जब ऐसा है तो इसका अभिमान करना व्यर्थ है। भेद विज्ञान हो गया। वैराग्य आ गया। वे दीक्षित हो गये!

[१४] 'जगत्काय स्वभावौ वा सवंग वैराग्यार्थम्' – ससार और शरीर के स्वभाव को जानकर जो सवेग और वैराग्य धारण करते है वे धन्य है। शरीर को पढने वाला, शरीर के स्वभाव को जानने वाला अपढ़ भी भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है और अपने कल्याण के मार्ग पर चल पड़ता है। लेकिन आज तो समयसार को दस बार पढ़ने वालों को भी ससार, शरीर और भोगों से वैराग्य नहीं आ रहा। छह खड पर राज करने वाले, अनेक सासारिक कार्यों में लिप्त रहने वाले सनत चक्रवर्ती ने क्षणभर मे सब त्याग कर दिया। सभी ने समझाया कि राजन् ! आपके पास सुख सम्पदा है, भोग सामग्री है। देवों के समान सुन्दर शरीर आपने पाया है। इसका भोग करने के बाद योग धारण करना। अभी से क्यों योग अपनाने चले हो? परन्तु सनतकुमार रत्नत्रय धारण कर लेते है और कुछ समय के उपरात उनके शरीर में कोढ़ फूट जाता है लेकिन भेदविज्ञान के बल से शरीर के प्रति वैराग्य होने के कारण वे अपने रत्नत्रय मे अडिग बने रहते हैं। कल ऐसे ही रत्नत्रय की बात आने वाली है। कल के दीक्षा-कल्याणक की आज से ही भूमिका बता रहा हूँ ताकि कल तक शायद आप लोगों मे से कोई भव्यात्मा दीक्षा के लिये तैयार हो जाये।

शरीर के प्रति वैराग्य और जगत् के प्रति संवेग– ये दो बातें ही आत्म कल्याण के लिए आवश्यक है। चार प्रकार के उपदेश होते हैं। जिसमें संवेगनीय और निर्वेगनीय– ये दो उपदेश ही जीव के कल्याण में मुख्य रूप में सहायक बनते हैं। आक्षेपणी और विक्षेपणी धर्मकथा/धर्मोपदेश न आदि में काम आते हैं और न ही अंतमें सल्लेखना के समय काम आते हैं। वे तो मध्य के काल में उपयोग लगाने के लिये ही उपयोगी है। इसलिये संवेग और वैराग्य की बातें ही साधक को मुख्य रूप से ध्यान में रखना चाहिए। उन्हीं का बार-बार चिंतन-मनन करना चाहिए।

कुछ समय के उपरांत फिर इन्द्र की सभा में चर्चा आई और इन्द्र ने कहा कि हम तो यहाँ मात्र शास्त्र-चर्चा मे ही रह गये और वहाँ पृथ्वी पर साक्षात् चारित्र को धारण करने वाले सनतकुमार चक्रवर्ती धन्य हैं। महान् तपस्वी को देखना चाहो तो इस समय मात्र सनत चक्रवर्ती के अलावा कोई दूसरा नहीं है। उन दो देवों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह चक्रवर्ती क्या तप करेगा उसे तो अपने रूप का अभिमान हो गया था! फिर भी उन्होंने सोचा कि चलो चलते हैं। चलकर देखेगे। दोनों भेष बदलकर पहुँचे। बोले महाराज ! आपको क्या हो गया। आपकी कंचन जैसी काया थी। सारी कुष्ट-रोग से गल गयी है। आप चाहो तो हम इसे पहले जैसी कर सकते हैं। आप बहुत पीड़ा महसूस कर रहे होंगे। हम आपको इस रोग से मुक्त करा सकते है। अब सनत चक्रवर्ती तो राजा से महाराज हो गये। मुनिराज हो गये थे। बोले भइया ! इससे भी भयानक एक रोग और है मुझे। हो सके तो उसका इलाज कर दो। दोनों देव बोले- आप हमें बताये। हम ठीक कर देंगे। ऐसा कोई रोग नही जिसकी औषध जिसका इलाज हमारे पास न हो मुनिराज कहने लगे-भइया ! मुझे तो जन्म-जरा-मृत्यु का रोग है आवागमन की पीड़ा है। कोई ऐसी औषध बताओ जिससे मेरा संसार में आना-जाना रुक जाये। वे देव स्वय उसी से पीड़ित थे। तब महाराज बोल-भइया ! शरीर के रोग का इलाज कोई इलाज नहीं है। ये शरीर में आया हुआ रोग तो कर्म-निर्जरा में सहायक है। संवर पूर्वक की गई निर्जरा से ही आना-जाना रुकता है। मुक्ति मिलती है। आत्मा स्वस्थ हो जाती है। देव ऐसा सुनकर गद्गद हो उठे और कहने लगे कि आप वास्तव में चारित्र के धनी है। आपको मुक्ति मिलेगी इसमें कोई सन्देह नहीं है।

तो बन्धुओं ! यह काया कचन जैसी भले ही हो जाये लेकिन यह तो पौद्गलिक रचना है। जैसे-जैसे आयु कर्म क्षीण होता जाता है यह भी बिखरती जाती है। पूरण और गलन ही इसका स्वभाव है। आचार्यो ने कहा है कि जब तक आयु कर्म है प्रति समय मृत्यु हो रही है। जन्म लिया है तो मृत्यु अवश्य ही होनी है। ये चक्र

अनादिकालीन है। इस अनादिकालीन आवागमन से मुक्त होने के लिये जन्म लने वाली आत्मायें विरली ही होती है। हमें भी अपनी चैतन्य-शक्ति को पहचान कर इस जड़ पुद्गल शरीर को साधन बनाकर आवागमन से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। खूब विचार कर लीजिये कि हम किस ओर जा रहे हैं। अभी रात शेष है। कल दीक्षा-कल्याणक है। शरीर में आत्मा को पृथक् मानने के उपरान्त उस शरीर से मोह छोड़ने की बात आने वाली है। उसी मार्ग पर सभी को बढ़ना चाहिए। जिससे इस ससार का अंत हो सकें।

रे मूढ ! तू जनमता मरता अकेला,
कोई न साथ चलता गुरु भी न चेला।
है स्वार्थ-पूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड़ के जब अंत बेला।।'

□□

☐ तप : आत्मशोधन का विज्ञान

आज इस शुभ-घड़ी से मुनि ऋषभदेव आत्मा-साधना प्रारम्भ करके परमात्मा के रूप में ढल रहे हैं। वे भेद-विज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। यही भेदविज्ञान उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करायेगा। आत्म-साधना ही केवलज्ञान तक पहुँचाने में समर्थ है। अद्भुत है यह आत्म-साधना। भेदविज्ञान जब जागृत हो जाता है तो हेय का विमोचन और उपादेय का ग्रहण होता है। यद्यपि अभी उन्हें उपादेय तत्त्व की परम प्राप्ति नहीं हुई है। तथापि हेय के विमोचन के लिए इनके कदम बढ़ ही चुके हैं। उपादेय की प्राप्ति हो जाये उसके उपरांत हम हेय का विमोचन करे– ऐसा नहीं है। हेय का विमोचन करने पर ही उपादेय की प्राप्ति सम्भव है।

बत्तीस मुकुटबद्ध राजा जिनके चरणों में आकर नौकर-चाकर की तरह हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और उनकी सेवा में ही अपना सौभाग्य मानते हैं। स्वर्ग सम्पदा जिनके चरणों में रहती है ऐसे भोग वैभव आज उन्होंने त्याग दिये हैं। धन्य है उनकी भावना। अद्भुत है उनका भेदविज्ञान। त्याग तो इनका ही सच्चात्याग है कि वे अब त्याग करने के बाद उस ओर मुड़कर भी नहीं देखते। यहाँ तक कि किसी से बोलते भी नहीं। सारे सम्बन्ध, सारे नाते तोड़कर मात्र अपनी आत्मा से इन्होंने नाता जोड़ा है। जो भी आज तक अज्ञानतावश जोड़ा था वह सारा का सारा उन्हें नश्वर प्रतीत हुआ है। अब वे इस सबको कभी ग्रहण नहीं करेंगे। उनका आवागमन भेदविज्ञान के बल से समाप्त होने वाला है। मै भी यही चाहता हूँ कि भगवन् ! यह अवसर मुझे भी प्राप्त हो। आप कह सकते हैं कि महाराज ! आपको तो प्राप्त हो ही गया है। सो आपका कहना कथंचित् ठीक है लेकिन बंधुओं ! मै तो उस भेदविज्ञान की प्राप्ति की बात कर रहा हूँ जो साक्षात् केवलज्ञान दिलाने में सक्षम है।

आचार्यों का कहना है कि आज इस पंचमकाल में साक्षात् केवलज्ञान की प्राप्ति सभव नहीं है। अभी मुक्ति तक पहुँचाने वाली डायरेक्ट ट्रेन उपलब्ध नहीं है। अभी तो बीच में कम से कम दो स्टेशनों पर तो रुकना ही पड़ेगा। हां इतना आनन्द हमें अवश्य मिल रहा है कि हम तो ट्रेन में बैठ गये हैं, भले ही एक स्टेशन बीच में रुकना

पड़े पर पहुँचेगे अवश्य। आपकी आप जाने।

आज मुझे केवलज्ञान की बात विशेष नहीं करनी है। आज तो केवलज्ञान से पूर्व की भूमिका जो तपश्चरण है उसी की बात करनी है। केवलज्ञान दीक्षा लेने मात्र से नहीं मिलेगा। अभी तो शरीर तपेगा, मन भी तपेगा और वचन भी तपेगा, तब आत्मा शुद्ध होगी। कचन की भाति निर्मल/उज्ज्वल होगी। अभी तो मन, वचन और काय तीनों से निरावरित/निर्ग्रथ-दशा का अनुभव करने वाले परिव्राज आदिनाथ ऋषि हैं। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने चौबीस तीर्थकरो की स्तुति की है जो स्वयंभू-स्तोत्र के नाम से प्रचलित है। उसके प्रारम्भ मे उन्होने आदि तीर्थकर आदिनाथ की स्तुति करते हुए लिखा है-

विहाय य सागर वारिवाससं, वधुमिवेमां वसुधा वधू सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिगत्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ।।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी दार्शनिक होकर भी अध्यात्म की गहराईयों को छूने वाले आचार्य हैं। प्रत्येक स्तोत्र में उनकी लेखनी से जो दर्शन और अध्यात्म निकला है वह उनकी आत्मानुभूति का प्रतीक है। मुमुक्षु शब्द का प्रयोग उन्होने कहाँ किया है जहाँ त्याग प्रारम्भ मे है। त्याग के उपरांत ही मुमुक्षु कहा है। जब तक वृषभकुमार राजा या राजकुमार रहे तब तक मुमुक्षु नहीं कहा। सर्व परिग्रह का त्याग करते ही वे मुमुक्षु कहलाये। मोक्तुं इच्छु मुमुक्षु मुच्लृ धातु से मुमुक्षु शब्द बना है जो कि छोड़ने के अर्थ में आती है। जिसकी रक्षा के लिये चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबली पर चक्ररत्न चला दिया उसी सागर पर्यन्त फैली हुई वसुन्धरा को, सारे धन-वैभव ऐश्वर्य को, घर-गृहस्थी, स्त्री-पुत्र सभी को उन्होने छोड़ दिया। जो अपना नहीं था उस सबको उन्होंने छोड़ा तभी वे मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़े हैं।

आज वे प्रव्रज्या ग्रहण करके परिव्राज हुए है। दीक्षित हुए है। व्रज कहते हैं त्यागने को, तैरने को, आगे बढ़ने को। वे आज सर्व परिग्रह का त्याग करके ससार से पार होने के लिये मोक्षमार्ग पर आगे बढ़े हैं वे अब मुनि है ऋषि है योगी हैं और तभी उनके लिये मुमुक्षु यह शब्द उपयोग में लाया गया है। भगवान बनने के लिए जो रूप उन्होंने धारण किया है वह आवश्यक है। क्योंकि भगवान बनने में जो बाधक कारण हैं उन्हें हटाना पहले आवश्यक होता है। बाधक तत्त्वों का विमोचन करके वे आज निरावरित दिगम्बरी दीक्षा धारण कर चुके हैं। तभी उनका मुमुक्षुपन सार्थक हुआ है।

मुमुक्षु वे कहलाते हैं जिन्होंने अपना लक्ष्य मात्र मुक्ति बनाया है। संसार से ऊपर उठने का संकल्प कर लिया है। सिर्फ मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा रही है और

कोई कामना नहीं रही। जो वैभव मिला उसे खूब देख लिया उसमें रस नहीं मिला। रस उसमें था भी नहीं तो मिलेगा कहाँ से? नवनीत कभी नीर के मंथन से नहीं मिलता। सुख-शांति और आनन्द तो अपनी आत्मा में ही है। उन्होंने उस आत्मा को ही अपने पास रक्खा। एक अकेला आत्मा और कुछ नहीं। उस आत्म-पद के अलावा सारे के सारे पद फीके पड़ गये। पर-पद का विमोचन करना और स्व पद का ग्रहण करना ही मुमुक्षुपन है। यही सम्यग्ज्ञान है। भेदविज्ञान है। भेदस्य विज्ञानम्। भेदं कृत्वा यद्लभ्यते तत भेदविज्ञानम्; भेद करके जो प्राप्त होता है वह भेदविज्ञान है। रागान्वितं यद् ज्ञानं तद् भेदविज्ञानं न, वीतराग स्व संवेदनं एव भेदविज्ञानं अस्ति तदेव मुक्ते साक्षात् कारणम्। वीतराग विज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् कारण है।

ये बात ध्यान रखना भइया ! कि जब तक भोक्ता है तभी तक भोगों की कीमत है। भोक्ता जब उनसे मुख मोड़ लेता है तो भोग्य पदार्थ व्यर्थ हो जाते हैं। यही बात ऋषिराज आदिनाथ मुनिराज की है। उन्होंने आज से वैराग्य का रास्ता अपना लिया है और उस पर अकेले ही चल रहे हैं। बाह्य पदार्थों की शरण, बाह्य पदार्थों का सहारा छोड़कर केवल अपनी आत्मा में ही शरण का संकल्प कर लिया है। इसे कहते हैं दिगम्बरी दीक्षा। दिशाएँ ही अम्बर अर्थात् वस्त्र हो जिसका– ऐसा ये रूप है। इस रूप को धारण किये बिना किसी को न मुक्ति आज तक मिली है और न ही आगे मिलेगी।

यह बाह्य में निर्ग्रंथता, अंदर की शेष ग्रन्थियों को निकालने के लिये धारण की है। इसके लिये आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार चावल प्राप्त करने के लिये सर्वप्रथम धान के ऊपर का छिलका हटाना पड़ता है उसके उपरात उसकी ललाई हटायी जाती है तभी उसे पकाने पर सुगध आती है। ऐसा कोई यंत्र नहीं बनाया गया आज तक कि जिसके माध्यम से पहले ललाई हटायी जाये फिर छिलका हटे। उसी प्रकार दिगम्बर हुए बिना जो शेष ग्रंथियाँ हैं जो कि केवलज्ञान में बाधक हैं, यथाख्यात चारित्र में बाधक हैं, निकल नहीं सकती। बाहर से राग उत्पन्न करने वाली चीजों को जब तक नहीं हटायेंगे, नहीं छोड़ेंगे तब तक अन्दर का राग जा नहीं सकता। लड्डू हाथ में है, खाते भी जा रहे हैं और कह रहे हैं कि लड्डू के प्रति हमारा राग नहीं है तो ध्यान रखना कि गृहस्थावस्था में रहकर ऐसा हजार साल तक भी करो तो मुक्ति संभव नहीं है। पर का ग्रहण राग का प्रतीक है। न्यूनाधिकता होना बात अलग है लेकिन राग को पैदा करने वाली चीजों का त्याग किया जाये। आज वृषभनाथ मुनिराज ने ऊपर का छिलका अर्थात् वस्त्राभूषण आदि छोड़ दिया। शरीर के प्रति निर्मम होकर अब अंदर की लालिमा को भी निकालेंगे

और इसी कार्य के लिये उन्हें हजार साल की साधना करनी पड़ी।

एक साल नहीं, दो साल नहीं, हजार वर्ष तक ये तप चलेगा, साधना चलेगी। आपका ध्यान तो एक सैकेण्ड भी आत्मा में नहीं ठहरता और आप कहने लगते हैं कि महाराज ! हमें मिलता ही नहीं आत्मा? कैसे मिले भइया? वर्षों की तपस्या के उपरान्त आत्म साक्षात्कार होता है। वृषभनाथ मुनिराज को मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तो जन्म से ही प्राप्त थे और दीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञान भी प्राप्त हो गया। चौसठ ऋद्धियां होती हैं उनमें से एकमात्र केवलज्ञान को छोड़कर सभी उनको प्राप्त हो गयी हैं। फिर भी अभी हजार साल तक उन्हे छठे-सातवें गुणस्थान में झूलना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा। बार-बार छठे सातवें में आने जाने का अर्थ यही है कि जरा देर ठहरकर बार-बार कषायों पर चोट करनी होती है। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरा किसी से नाता-रिश्ता नहीं है-- ऐसी पवित्र भावना बार-बार भानी होती है और ध्यान रखना गृहस्थ अवस्था में रहकर ऐसी भावना हजार साल भी भावो तो भी मुक्ति सम्भव नहीं है। यह कार्य तो मुनि बनने के उपरांत ही करना सार्थक है। जब तक परिव्राज अवस्था प्राप्त नहीं करोगे, दिगम्बरत्व को धारण नहीं करोगे तब तक केवलज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज ऋषभनाथ ने दीक्षा ग्रहण की है। आज भगवान बनने की भूमिका, मुक्त होने की भूमिका बनाई है। वीतरागता को जीवन में प्रकट किया है जो हमारे लिये शरण योग्य हैं चत्तारि शरणं पव्वज्जामि-अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहा गया धर्म– ये चारों ही हमारे लिये शरण लेने योग्य है।

समयसार कलशा मे श्री अमृतचन्द्रसूरि ने एक कारिका लिखी है उसी का पद्यानुवाद किया था–

पद-पद पर बहु पद मिलते हे पर वे सब-पद पर-पद है
सब-पद में बस पद है वह पद, सुखद निरापद निजपद है।
जिसके सन्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद हैं
अतः स्वाद्य है पेय निजी पद, सकल गुणो का आस्पद है। (१३६)

दुनिया के जितने भी पद हैं जिन्हे प्राप्त करने की लालसा संसारी जीव को लगी हुई है वे सभी पद निज-पद से दूर ले जाने वाले पद हैं। निज-पद पर धूल डालने वाले, उसे छिपाने वाले, यदि कोई कारण हैं तो वे पर-पद ही हैं। जिनकी चमक-दमक देखकर आप मुग्ध हो जाते हैं और अनेक गुणो के भंडार-रूप आत्म-पद को, निज पद को नहीं समझ पाते; नहीं पा पाते हैं।

जो मार्ग आज वृषभनाथ ने चुना है वह मोक्ष-मार्ग ही ऐसा मार्ग है जहाँ किसी

प्रकार का कंटक नहीं है, बाधायें नहीं है, व्याधियाँ नहीं हैं। बड़ा सरल मार्ग है। जहाँ अनेक मार्ग मिलते हों वहाँ भटकने की भी संभावना हो सकती है लेकिन ये मोक्षमार्ग ऐसा है कि जहाँ पर अनेक मार्गो का काम ही नहीं है। अपने को पर-पदार्थों से हटा लेने और एकाकी बना लेने का ही मार्ग है। जो निषेध को समझ लेता है, वह विधि को महज स्वय ही समझ लेता है। पर-पदार्थों को 'पर' जानकर स्वय की ओर आना सहज हो जाता है। यद्यपि आत्मा साक्षात् हमें देखने में नहीं आती किन्तु आगम क माध्यम से आत्मानुभूति सभव हो जाती है। केवलज्ञान के माध्यम से आत्माओं ने आत्मा का स्वरूप जाना/समझा। जिसका कोई आकार-प्रकार नहीं है जिसकी किसी अन्य पदार्थ से तुलना नहीं की जा सकती, इन्द्रियों के द्वारा जिसे ग्रहण नहीं किया जा सकता ऐसी उस आत्मा को हम कैसे ग्रहण करें? तो आचार्य कहते हैं कि सीधा सा रास्ता है जो आत्मा नहीं है जो आत्म-स्वरूप से भिन्न है उसे छोड़ो। पूर्व ज्ञात हो जाय तो पश्चिम दिशा किधर है— यह पूछन की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे ही मुक्ति क्या चीज है, यह पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। मुक्ति चाहते हो तो बधन है उससे बचो, उसे छोड़ो। आजादी पहले नहीं मिलती किन्तु बंधन के अभाव होने के उपरांत मिलती है। बधन के साथ यदि अनुभूति होगी तो वह मुक्ति की अनुभूति नहीं होगी, बंधन की ही अनुभूति होगी।

जो बधन को बंधन समझ लेता है, दुःख का कारण जान लेता है और उससे बचने का प्रयास करता है वही आजाद हो पाता है। उसे ही मुक्ति मिलती है। ज्ञान होने के उपरांत उस रूप आचरण भी होना चाहिए तभी उस ज्ञान की सार्थकता है।

एक व्यक्ति ने पूछा कि महाराज! हम लोगों के ऊपर आपदाये क्यों आती हैं? ग्रहों का प्रभाव हम पर क्यों पड़ता है? तो मैंने कहा भइया! बात यह है कि आपके पास दसवा ग्रह परिग्रह है इसी कारण अन्य नौ ग्रहों का प्रभाव भी आपके ऊपर खूब पड़ता है। जो परिग्रह का विमोचन करके अपनी आत्मा में रम गया, उसके ऊपर बाह्य पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ सकता। वे समझ गये और हँसने लगे। बोले महाराज! बात तो सही है। परिग्रह की परिभाषा ही यही है कि परि आसमन्तात् आत्मानं ग्रह्णाति स परिग्रहः। जो चारों ओर से आत्मा तो खींचता है ग्रसित कर लेता है उसका नाम परिग्रह है। परिग्रह को आप नहीं खींचते बल्कि परिग्रह के माध्यम से आप ही खिंच जाते हैं। परिग्रह आपको निगल रहा है। परिग्रह को आप नहीं भोगते बल्कि परिग्रह के द्वारा आप ही भोगे जा रहे हैं। परिग्रह सेठ-साहूकार बन चुका है और आप उसके नौकर।

जिसके पास परिग्रह नहीं है जिसने परिग्रह को छोड़ दिया है उसे कोई चिन्ता

नहीं सताती। वह आनन्द की नींद लेता है। पर जिसके पास जितना ज्यादा परिग्रह है वह उतना ही बेचैन है। उसको न दिन में नींद है न रात में। बड़े-बड़े धनी लोग अच्छे-अच्छे गद्दों पर भी रात भर सो नहीं पाते। उन्हें चिंता रहती है कि कहीं तिजोरी में बन्द धन-पैसा-सोना लुट न जाये। तिजोरी में बन्द सोना यद्यपि जड़ है यही कारण है कि जड़/पुद्गल की सेवा में लगा हुआ वह स्वयं भी जड़ अर्थात् मूर्ख/अज्ञानी हो गया है। ज्ञानी तो वह है जिसको विषयों की आवश्यकता नहीं। जो परिग्रह का आश्रय नहीं लेता। वह तो मात्र अपनी आत्मा का ही आश्रय लेता है। यही कारण है कि वृषभनाथ मुनिराज ने सारे परिग्रह को छोड़ दिया और ज्ञानी होकर मात्र अपनी आत्मा के आश्रित हो गये हैं।

अध्यात्म-प्रेमी बंधुओं को समझना चाहिए कि सही रास्ता तो यही है। परिग्रह को जब तक पकड़ रखा है तब तक मुक्त होना सम्भव नहीं है। परिग्रह को छोड़े बिना ध्यान होना भी सम्भव नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में कहा है कि–

अनिषिध्याक्षसंदोहं यः साक्षात् मोक्तुमिच्छति।
विदारयति दुर्बुद्धिः शिरसासमहीधरम्।।20।।31।।

ध्यान के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है। यदि कोई ध्यान को रत्नत्रय का आलंबन लिये बिना, दिगम्बर हुए बिना ही साधना चाहे तो ध्यान रखना वह मस्तक के बल पर पर्वत को तोड़ने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है। ऐसा करने पर पर्वत तो फूटेगा नहीं उसका सिर जरूर फूट जायेगा। इसलिए भइया! साधना का जो क्रम है जो विधि बताई गयी है उसी के अनुसार करेंगे तभी मुक्ति मिलेगी। जब दोषों को निकालेंगे तब गुण प्रकट होंगे। गुण कहीं बाहर से नहीं आयेंगे वे तो दोषों के हटते ही अपने आप प्रकट हो जायेंगे। गुणों में ही तो दोष आये हैं उन दोषों का अभाव होने पर गुणों का सद्भाव सहज ही हो जायेगा। स्वामी समन्तभद्राचार्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं कि हे भगवन्! आप अठारह दोषों से रहित हैं इसलिए मैं आपको नमस्कार कर रहा हूँ।

बंधुओं! सोचो, जिस परिग्रह का आज वृषभदेव मुनिराज त्याग कर रहे हैं उसे ही आप अपनाते जा रहे हैं तो मुक्ति कैसे मिलेगी? आप ज्ञानी कैसे कहे जायेंगे? रागपूर्वक संसार को ही अपनाते जाने वाला ज्ञानी नहीं कहला सकता। ज्ञानी तो वही है जो भूतकाल में भोगे गये पदार्थों का स्मरण तक नहीं करता और वर्तमान में भोगों के प्रति हेयबुद्धि रखता है। समयसार जैसे महान् ग्रंथ में आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा है उसी का भावानुवाद–

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा
ज्ञानी, जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं।।२२८।।

ऐसे ज्ञानी मुनिराज धन्य हैं जिनके दर्शन मात्र से संसारी प्राणी को वैराग्य का पाठ सीखने को मिलता है। यही ज्ञानी का लक्षण है। यही वीतराग सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। स्व-समय का अनुभव करने वाला भी यही है।

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी
तम्हिट्ठिदा सहावे, मुणिणा पावंति णिव्वाणं।।१५८।।

परमार्थ कहो, निश्चय कहो, समय कहो, केवली कहो या मुनि कहो, ज्ञानी कहो– यह सब एकार्थवाची है। अर्थात् ज्ञानी वही है जो समय अर्थात् आत्मा मे निहित है, शुद्ध मे निहित है, मुनिपने मे निहित है। ऐसा ज्ञानी ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है और इसके अलावा अन्य कोई ज्ञानी नहीं है! आज तो विज्ञान का युग है प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको विज्ञानी मान रहा है लेकिन वास्तव में देखा जाये तो वह ज्ञानी नहीं है। भइया! भावो में ज्ञानीपना होना अलग बात है और मात्र नाम निक्षेप की अपेक्षा ज्ञानी होना अलग बात है। समयसार के अनुसार तो ज्ञानी पुरुष वही है जिसने बुद्धिपूर्वक विषयों का विमोचन कर दिया है जो निष्परिग्रही है जो अप्रमत्त है और अपनी आत्मा में लीन रहता है। विषयें के प्रति हेयबुद्धि का अर्थ ऐसा नहीं है कि जैसे आप लोग किसी के घर मेहमान बनकर जाते हैं तो भोजन करते समय यदि मिठाई परोसी जा रही हो तो आप, 'बस-बस! अब नहीं चाहिए', कहते जाते हैं और खाते भी जाते है। हेयबुद्धि तौ वह है जो वर्तमान मे मिली भोग-सामग्री को भी छोड़ देता है। अतीत के भोगों की तो बात ही क्या?

भोग-पदार्थो को ग्रहण कर लेने के बाद जो यह कहता है कि ये तो पुद्गल है उसे समयसार में ज्ञानी नहीं कहा गया। सोचो! जब पुद्गल को पुद्गल ने ही खाया तो थाली पर खाने के लिए बैठने की जरूरत क्या थी? और अगर निमन्त्रण देकर किसी ने आपको बुलाया और पेट भर नहीं खिलाया, आपके मन पसन्द नहीं खिलाया तो यह कहने की क्या आवश्यकता थी कि उनके यहाँ गये और उन्होंने ठीक से खिलाया भी नहीं। यह ज्ञानी-पना नहीं है। जहाँ राग के साथ पदार्थो का ग्रहण किया जा रहा हो वहाँ विषयों का ही पोषण होता है। हां जहाँ पर राग नहीं है वहाँ पर विषय-सामग्री होने पर भी उसे निर्विषयी कहा जायेगा। मुनि महाराज वीतरागी होकर पदार्थों का उपभोग करते हैं इसलिए वे भोक्ता नहीं कहलाते बल्कि ज्ञानी कहलाते

हैं निर्विषयी कहलाते हैं। सभी भोग्य पदार्थों का त्याग करने के उपरांत, पदार्थो के प्रति अनासक्त होकर मूलगुणों का पालन करते हुए आगम की आज्ञा के अनुसार वे पदार्थों का ग्रहण करते हैं इसलिये उन्हें ज्ञानी कहा गया है।

'पर' के प्रति राग का अभाव हो जाना ही 'स्व' की ओर आना है। 'पर' को 'पर' मानकर जब तक आप उसे नहीं छोड़ेंगे तब तक स्व समय की प्राप्ति सम्भव नहीं है। स्व-समय का स्वाद तभी आयेगा जब 'पर' का विमोचन होगा। ऐसे स्व-समय को प्राप्त करने वाले वृषभराज मुनिराज के चरणों में रागी भी नतमस्तक हो रहे हैं। आज तो वैराग्य का दिन है। तप का दिन है। त्याग का दिन है। मेरे पास कुण्डलपुर मे यहाँ के कुछ लोग आये और कहा कि महाराज! पंचकल्याणक महोत्सव किशनगढ़ में होना है। आपकी उपस्थिति अनिवार्य है। उसके बिना काम नहीं चलेगा। आपको अवश्य आना है। मैंने कहा भइया! आप ले जाना चाहो तो ऐसे मैं किसी के कहने से आने-जाने वाला नहीं हूँ! हा इतना जरूर तय कर लो कि अगर मैं आ भी जाऊँ तो आप क्या करेंगे? कार्यक्रम होगे, सभी लोग लाभ लेगे, वह तो ठीक है लेकिन आप क्या करेंगे? सिर्फ कार्यक्रम आयोजित करेंगे या अपनी भी कुछ फिकर करेंगे? हम वहां आयें या न भी आयें पर आपको जो करना हो वह अभी कर लो उसमे देर मत करो। सारा महोत्सव त्याग का ही है इसलिये त्याग के लिये देर करना ठीक नहीं।

वृषभनाथ मुनिराज तो मौन बैठे है। अपना कल्याण करने के लिये दीक्षा ले ली है। दूसरे की उन्हे फिकर भी नहीं करनी है। पर एक आचार्य के लिये तो स्वय भगवान् की आज्ञा है कि वह उपदेश के माध्यम से लोगों को त्याग की प्रेरणा दें। दीक्षा के अवसर पर आप लोगों को कुछ न कुछ त्याग तो अवश्य ही करना चाहिये। 'स्व' का आलंबन लेना ही जीवन है, 'पर' का आलंबन लेना, विषयों का आलंबन लेना मृत्यु की ओर बढ़ना। इसलिये आप लोगों को विषयों से ऊपर उठकर निर्विषयी बनकर अपना जीवन बिताने का प्रयास करना चाहिए। और अधिक नहीं तो कम से कम त्याग के भाव तो करना ही चाहिए कि हे भगवन्! मैं कब सर्व परिग्रह से मुक्त होकर अपनी आत्मा का अनुभव करूँ। इस जीवन में आप लोगों को वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ी शक्ति मिली है और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से जो थोड़ा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग तो कर ही लेना चाहिए। सभी को शक्तितस्त्याग अर्थात् यथाशक्ति त्याग तो करना ही चाहिए।

दो प्रकार से व्रतों के ग्रहण की बात आचार्यो ने कही है कि अणुव्रत और महाव्रत। अणुव्रतो का विस्तार भी बहुत लम्बा-चौड़ा हैं जैसे एक रुपया को महाव्रत कहें तो

एक पैसे से लेकर निन्यानवे पैसे तक सभी अणुव्रत-रूप में कहे जायेंगे। व्रत कोई भी हो छोटा नही होता। एक पैसे के बराबर भी यदि व्रत लिया जाये तो भी सार्थक है। व्रत-नियमो के सस्कार जीवन मे डालते-डालते ही वह समय भी आ सकता है जबकि हम महाव्रतों को धारण करके स्व-समय को प्राप्त कर ले।

इस महान तप-कल्याण के दिन हम अधिक क्या कहे? हम तो यही भावना करते हैं कि हे भगवन्! हमे जो रास्ता मिला है वह निर्वाण होने तक छूटे नहीं। जो रेल हमने पकड़ी है वह एक-दो स्टेशन बीच में भले ही रुक जाये धीरे-धीरे भले ही पहुँचाये, पर जीवन में मुक्ति मिलनी चाहिये। भगवान के जीवन को आदर्श बनाकर, उनके जीवन का आदर्श सामने रखकर हम भी अपने जीवन को सफल बनायें। कुदकुंद स्वामी जैसे महान आचार्यो के ग्रथों के माध्यम से हमारी आखें खुल गयी। हमें ज्ञात हो गया कि क्या कर्म है? क्या ससार है और क्या मुक्ति है? साथ ही आचार्य ज्ञानसागरजी जो मेरे गुरु महाराज थे (आप लोगों को उनका स्मरण तो होगा ही क्योकि उनका अन्तिम समय अजमेर मे ही बीता) के आशीर्वाद से मुझे यह ज्ञान वैराग्य प्राप्त हुआ। उन सभी महान आत्माओं का स्मरण हमेशा बना रहे इसी भावना से इन पंक्तियों द्वारा उनका स्मरण करता हूं–

कुन्दकुन्द को नित नमूं, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम-सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल गया।।

□□

☐ ज्ञानः आत्मोलब्धि का सोपान

आज मुनिराज वृषभनाथ भगवान बनने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। एक भक्त की तरह भगवान की भक्ति में लीन होकर आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। संसार क्या है– इसके चिंतन की अब उन्हें आवश्यकता नहीं है किन्तु एक मात्र स्व-समय की प्राप्ति की लगन लगी हुई है। 'समय' का अर्थ यहाँ आत्मा से है। इस आत्मा की प्राप्ति के लिये ही साधना चल रही है।

'समय' की व्याख्या आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने की है जो हमें उपलब्ध है। लेकिन सभी को उसका बोध नहीं हो पा रहा है इसलिये "समय' की व्याख्या संक्षेप में यहां आज करूँगा। समीचीनरूप से जो अपनी निधि को प्राप्त कर रहा है, जो अपने आपको संभालने में लगा हुआ है तथा बहिर्मुखी दृष्टि को जिसने त्याग दिया है। ऐसी समय की व्याख्या प्रत्येक द्रव्य पर घटित हो जाती है किन्तु यहाँ पर विशेष रूप से मोक्षमार्ग में उपादेयभूत जो समय है वह स्व-समय है। जो अपने गुण अपनी पर्याय और अपनी सत्ता के साथ एकता धारण करते हुए बहिर्मुखी दृष्टि को हटाकर उत्पाद, व्यय और रहने रूप क्रिया में लीन है उसका नाम 'समय' है। अपने को सही-सही जानना, अपने में रहना और अपनी सुरक्षा करते रहना यही स्व-समय है। यहाँ पंडाल में कभी-कभी देखता हूँ कि स्वयंसेवकों की संख्या जनता से भी अधिक हो जाती है और स्वयंसेवकों में ही अव्यवस्था फैल जाती है। स्वयंसेवक का अर्थ अगर आप गहराई से समझें तो स्वयंसेवक कहो या कि स्व समय कहो–एक ही बात है। अपने आपकी जो सेवा करता है वही वास्तविक स्वयंसेवक है

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए भव्य जीव के लिए एक विशेषण दिया है– स्व-हित उपलिप्सु.– जो अपने हित को चाहता है। अपना हित किसमें है– यह भलीभांति जानता है– वही भव्य है। स्व-पर कल्याण करने की दृष्टि तो अच्छी है परन्तु पर के कल्याण में ही लग जाना और स्व को भूल जाना– यह उचित नहीं है। स्व-हित की इच्छा होना ही वास्तविक धर्मानुराग है; वास्तविक अनुकम्पा है, दया है और वास्तविक जैनत्व भी वही है। अपने ऊपर

कषाय रूपी वैभाविक भावों की जो सत्ता चल रही है, जो विकारी भावों का प्रभाव पड़ रहा है उसको मिटाने की जिज्ञासा जिसे हो वह भव्य है। इसके अलावा जो भी है उन्हें सज्जन भले ही कह दें, परन्तु निकट भव्य नहीं कह सकते।

भव्य का अर्थ होता है होनहार। 'भवितुं योग्यः भव्यः' – जो होने योग्य हो। होनहार के लक्षण अलग ही होते हैं जिन्हें देखकर ही होनहार कहा जाता है। आप लोगों के घर में जब कोई बच्चा पैदा होता है तो आप उसके कुछ विशेष लक्षणों को देखकर उसे होनहार कहते हैं। मान लीजिये दो बच्चे हैं, एक शैतानी करता है तो उसे शैतान कहते हैं और यदि शांत रहता है तो होनहार निकलेगा– ऐसा कहते हैं। जो होने की योग्यता रखता है सैद्धांतिक भाषा में उसे ही भव्य कहते हैं। होने की योग्यता का अर्थ यही नहीं है कि वह बड़ा होगा। बड़े तो सभी होते हैं। वय के अनुसार बढ़ने का अर्थ होनहार नहीं है। होनहार तो आप उसे मानते हैं जिसमें आपकी इज्जत और घर की संस्कृति परम्परा की सुरक्षा के लक्षण दिखाई देते हैं। हांलाकि आप पालन-पोषण दोनों बच्चों का समान रूप से करेंगे/करते हैं– यह बात अलग है लेकिन भीतर ही भीतर उस होनहार बालक के प्रति आपके मन में प्रेम अधिक रहता है। गुरु का शिष्य के प्रति प्रेम भी इसी प्रकार हुआ करता है। एक कक्षा में बहुत से विद्यार्थी होते हैं, गुरु सभी को एक सी शिक्षा देते हैं लेकिन जो गुणवान है, होनहार है उनके प्रति गुरुओं के मन में सहज ही प्रमोद भाव आता है।

एक और विशेषण आता है कि वह 'प्रज्ञावान' भी हो। सो ठीक ही है बुद्धिमान भी होना चाहिए। लेकिन ऐसी बुद्धिमानी क्या काम की कि अपना हित भी न कर सके। इसलिये बुद्धिमान होना कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो ज्ञान की परिणति है। कम या ज्यादा सभी के पास होता है लेकिन स्व-कल्याण की मुख्यता होनी चाहिए। भक्तामर स्तोत्र की– आलबन भव जले पततां जनानाम्– ये पंक्ति प्रत्येक भाई के मुख से सुनने को मिल जाती है। इसका अर्थ यही है कि जिन्होंने अपना कल्याण कर लिया उनके नाम का स्मरण/आलबन लेने वालों की संख्या बहुत है। जो अपना कल्याण कर लेता है वही पर का कल्याण कर सकता है। मैं पर-कल्याण का निषेध नहीं कर रहा, लेकिन कहना इतना ही है कि भाई! पर-कल्याण में ही लग जाना ठीक नहीं है। जब मैं विद्यार्थी था तो परीक्षा भवन में सभी विद्यार्थियों के साथ परीक्षा पेपर हल कर रहा था और समीप बैठा हुआ एक साथी बार-बार कुछ प्रश्नों के उत्तर मुझ से पूछ रहा था। अब परीक्षा भवन में तो ऐसा है कि जो सही उत्तर लिखेगा उसे ही नम्बर मिलेंगे। जो अपने उत्तर न लिखकर मात्र औरों को उत्तर

लिखाने में लगा रहेगा वह परीक्षा में पास नहीं हो सकेगा। इसलिये परहित कितना, कब और कैसा होना चाहिए यह भी समझना हमें जरूरी है। मेरे मन में उसे उत्तर लिखकर देने का भाव तो आया लेकिन घड़ी की तरफ देखा तो सिर्फ पन्द्रह मिनिट शेष थे, एक प्रश्न का उत्तर लिखना अभी मेरे लिये शेष था ऐसी स्थिति में अगर 'पर' की ओर देखता तो स्व के उत्तर भी नहीं लिख पाता। आचार्यों ने कहा है कि स्वहित करो, साथ ही परहित भी करो लेकिन स्वहित पहले अच्छी तरह करो। इसलिये भाव होते हुए भी पहले अपने हित की चिंता मैंने की। यह बात आपको कठोर जान पड़ेगी लेकिन गहराई से विचार करेंगे तो कठोर नहीं लगेगी।

जैसे माता-पिता कई बार अपने बच्चों के प्रति कठोर हो जाते हैं। जब वह शैतानी करता है, पैसे चुराकर घर से भागकर घूमता रहता है, कुसंगति में पड़कर पैसा बरबाद करता है तो उसे वे डांटते, मारते-पीटते भी हैं और घर से बाहर निकालने की धमकी भी देते है पर उनका मन भीतर से कठोर नहीं होता। यदि बेटा घर छोडकर जाने की बात करता है तो वही माता-पिता रोने लग जाते है उसे मनाते भी हैं। यही बात हमारे पूर्वाचार्यो ने मोक्षमार्ग में भी ध्यान में रखी है। हित की दृष्टि से कहीं-कहीं कड़ी बात भी की है। मृदुता और कठोरता दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। आप नवनीत की मृदुता से परिचित हैं और जानते हैं कि मृदु से मृदु पदार्थ यदि कोई है तो वह नवनीत है। वह कठोर से कठोर भी है क्योकि यदि नवनीत को तलवार चाकू से काटो तो भी नहीं काट सकते। जो नहीं कटे वही तो व्यवहार में कठोर माना जाता है। और दूसरी बात यह भी है कि यदि नवनीत को जरा सा अग्नि का संयोग मिले तो वह पिघल जाता है। इसी प्रकार आचार्यो की वाणी भी नवनीत के समान है जिसमे कभी कठोरता भले ही आ जाती हो लेकिन हृदय मे तो उनके मृदुता ही रहती है।

जो डाक्टर शल्य-चिकित्सा करते है और जो लोग शल्य-चिकित्सा करवाते हैं वे जानते हैं कि पहले घाव को साफ करना होता है फिर आवश्यक होने पर काटा भी जाता है तभी मरहम-पट्टी होती है। घाव पर सीधे दवाई नहीं लगाते, उसे साफ-सुथरा करते है जिसमे पीड़ा भी होती है लेकिन भाव तो घाव ठीक करने का होता है। अर्थात् सभी जगह निग्रह और अनुग्रह दोनों ही हैं। अपराध करने पर अपराधी को दंड भी दिया जाता है लेकिन वह दंड उसे अपराध-भावना से मुक्त करने के लिए है शुद्धि के लिये है।

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिंतन में,
मर जा पर कर "निजानुभव कर" घड़ी-घड़ी मत रच तन में।

फलतः पल में परमपूत को-द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, मजधज निज को-निज से निज घर जायेगा।।[१]

जिस प्रकार आर्थिक लाभ के लिये आप लोग जैसे-तैसे भी मेहनत-मजदूरी करके लेकिन न्याय-नीति पूर्वक धन का अर्जन करते हैं उसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि मनुष्य जीवन पाकर आत्मा के बारे में थोड़ा चिंतन तो जरूर करो। भले मेहनत क्यों न करनी पड़े; कष्ट भी क्यों न सहने पड़े, पर आत्मा की प्राप्ति के लिए कदम तो अवश्य बढ़ाओ। कई लोग कह देते हैं महाराज! सामायिक के लिये आसन लगाकर जब बैठते है तो घुटनों में दर्द होने लगता है अब सामायिक कैसे करें? तो हम यही कहते हैं कि भइया! सांसारिक कार्य करने के लिए दर्द होने पर भी कितना परिश्रम करते हो, उतना/वैसा ही मोक्ष-मार्ग में भी करो। कम से कम अड़तालीस मिनिट सामायिक करने के लिए एक आसन पर तो बैठो। जिस प्रकार हलुआ बनाने में भले ही दो-चार घंटे लग जाते है मेहनत भी होती है लेकिन खाने में तो थोड़ा सा समय लगता है और तृप्ति भी मिलती है, इसी प्रकार एक अंतर्मुहूर्त तक एकाग्र चित्त होकर ध्यान करने से अनादिकाल से अप्राप्त आत्मानुभूति सम्भव है। भूमिका होनी चाहिए। और दूसरी बात उस ध्यान के काल में यदि मरण भी हो जाता है तो डरने की बात नहीं है मरण तो शरीर का होता है आत्मा नहीं मरती। आत्मा तो ध्यान करने से तरती है।

आचार्यो ने कहा है कि अपने कल्याण के लिए आत्मानुभूति होना आवश्यक है। शुद्धोपयोग होना आवश्यक है। इतना जरूर है कि जब शुद्धोपयोग से च्युत होकर शुभोपयोग की दशा में आ गये हो तो पर-कल्याण हो सकता है लेकिन साथ ही साथ कर्मबन्ध भी होगा। भैया ऐसी कौन सी दुकान है ऐसा कौन सा व्यापार है जिसमें कोई व्यक्ति स्वयं तो घाटे में रह और दूसरों को मुनाफा देता रहे। ऐसा कोई भी नहीं करता। सभी अपने हित की चिंता करते है। और जिसने अपना हित किया है वही दूसरे का भी हित कर सकता है। जिसने आज तक अपने हित की बात ही नहीं सोची वह दूसरे के कल्याण की कल्पना भी नहीं कर सकता। भिखारी दूसरे को भीख नहीं दे सकता। इसलिये अच्छा तो यही है कि पहले स्वयं का हित करो और दूसरे का अहित मत सोचो। सच्चे देव गुरु शास्त्र की शरण में जाकर आत्मतत्व को पाने के लिए अपनी ओर कदम बढ़ाओ।

एक समय की बात है जंगल में एक व्यक्ति भटक गया। घना जंगल था; जहां

१. कलशागीत-२३

पर सूर्य की किरणें भी प्रवेश नहीं कर पाती थी। दिन में और रात में भी अंधकार रहता था। एक-दो दिन यूं ही बीत गये पर कोई दूसरा व्यक्ति रास्ता बनाने वाला नहीं मिला। तीसरे दिन अचानक एक व्यक्ति दूर से आता हुआ दिखाई दिया। भटका हुआ व्यक्ति विचार करने लगा कि चलो अच्छा हुआ। तीसरे दिन कोई तो मिला। भागता हुआ वह दूसरे व्यक्ति के चरणों में जाकर गिर गया और कहने लगा कि बहुत अच्छा हुआ जो आप मिल गये। यहाँ से निकलने का कोई रास्ता हो तो मुझे बताओ। मैं तीन दिन से भटक रहा हूँ। दूसरा व्यक्ति कहने लगा भाई! क्षमा करो मैं क्या बताऊं। मुझे भी भटकते हुए पांच दिन हो गये हैं। मैं भी इसी खोज में था कि कोई साथी मिले तो निर्वाह हो जाये। बस! ऐसी ही स्थिति सभी संसारी प्राणियों की हो रही है। सब भटके हुए लोग एक दूसरे की शरण खोज रहे है। भगवान की शरण मे कोई नहीं जा रहा। वे दोनों भटके हुए व्यक्ति एक दूसरे के साथ मजे से रहने लगते है। घूमने फिरने लगते है। और धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगती है। शहर बन जाता है। अब उन्हें कोई भटका हुआ नहीं मानता। वे भटक गये थे– यह बात उन्हें स्वय भी स्मृति में नहीं रहती। जैसे दो पागल मिल जाते हैं तो अपने आप को होशियार मानने लगते हैं और शेष सभी उनकी दृष्टि में पागल नजर आते हैं। चार पागल लोग मिलकर जो ठीक है उसे भी पागल बना लेते हैं। वे उसे समझाते हैं कि व्यर्थ भटकते क्यों हो। हमारे साथ आ जाओ, तुम अकेले हो, क्या तुम्हारा रास्ता ठीक हो सकता है। हम चार है हम ही ठीक है। और इस तरह भटकने वालो की संख्या बढ़ती ही जाती है। लेकिन जो समझदार है जिन्हे स्व-कल्याण की इच्छा है वे ऐसी किसी शरण में नहीं जाते। वे तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण को नहीं छोड़ते क्योंकि इन्हीं के माध्यम से हमारी अनादिकालीन भटकन समाप्त हो सकती है।

बहुमत कहाँ नहीं होता? नरक मे नारकियों का बहुमत है और स्वर्ग मे देवो का बहुमत है, पागलों का भी बहुमत होता है। पागलखाने में पागलो की आपस में तुलना की जाती है। कोई कम पागल है और कोई ज्यादा पागल लेकिन पागल तो सभी हैं। ऐसे बहुमत की सत्य के लिये कोई आवश्यकता नहीं। सच्चे पथ के लिए दूसरे से तुलना करने की भी कोई आवश्यकता नहीं हैं सत्य एक ही बहुत होता है। एक मात्र सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण की पर्याप्त है भले ही बहुमत हो, या न हो। जो स्वहित चाहते हैं वे ऐसे बहुमत/जमघट से प्रभावित नहीं होते। अपने कल्याण मे लगे रहते है। ससार-शरीर और भोगो से विरक्त होकर जीवन जीते हैं।

देह का नेह अर्थात् शरीर के प्रति मोह ही सबसे खतरनाक है। हमें इस शरीर

का ज्ञान पहले होता है फिर शरीर के माध्यम से ही अन्य पर-पदार्थों का ज्ञान होता है। शरीर के पोषण के लिये ही संसार में सारे आविष्कार हुए हैं। इसलिये आचार्यो ने कहा है कि एक बार जीवन में शरीर पड़ौसी बन जाये, शरीर के प्रति मोह की दीवार टूट जाये तो एक अन्तर्मुहूर्त्त मे आत्मानुभूति संभव है। हमारे लिए इस भौतिक जगत से हटाकर आत्मानुभूति का उपाय बतलाने वाले आविष्कारक कुन्दकुन्द ही तो हैं। मोह रूपी मदिरा पीकर ही व्यक्ति अनादिकाल से अपने स्वरूप को जान नहीं पा रहा है। इन्द्रिय ज्ञान के माध्यम से इसे जाना भी नहीं जा सकता।

इन्द्रियो का ज्ञान नियत और सीमित है काल भी सीमित है। घड़ी को देखकर आपको घड़ी का व्यवहार ज्ञान हुआ यदि यह घड़ी दूर रखी हो तो आप देख नहीं सकते। ऐसे ही यदि उस घड़ी को आखों से चिपका लेंगे तो भी दिखाई नहीं देगा। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय ज्ञान सीमित है। इस इन्द्रिय ज्ञान पर अभिमान नहीं करना चाहिए। ज्ञेय पदार्थों को जानने की क्षमता इन्द्रिय ज्ञान के पास सीमित है मर्यादित हैं ये चर्म-चक्षु ऐसे है कि अपने ही आपको नहीं देख सकते। आपकी आंख में कुछ चीज गिर जाये तो किसी दूसरे से निकलवाना पड़ता है। अपनी ही एक आख के माध्यम से दूसरी आख में गिरी हुई मिट्टी आदि नहीं दिखती। आप दुनियां को तो इन आंखों से देख सकते हैं लेकिन अपने को नहीं देख पाते। अपने को देखने के लिये दो आंखें बेकार हैं। ठीक भी है जो आंखें अपने को नहीं देख पाती वे किस काम की। इसलिये आचार्यो ने कहा है कि दया में निष्ठा लाओ, अहिंसा का पालन करो और इन्द्रियों का दमन करो। इन्द्रिय ज्ञान को समाप्त कर दो अर्थात् बहिर्दृष्टि को समाप्त करके अंदर की ओर देखो।

दया-दम-त्यागसमाधिनिष्ठं,
नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै
जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम्।।[1]

इसी बात को समझाते हुए संवर के प्रकरण में आचार्य उमास्वामी भी कहते हैं– स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजचारित्रैः। संवर को प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम महाव्रतों को अंगीकार करना चाहिए। चारित्र धारण करना चाहिए। चारित्र धारण करने के उपरांत परीषहजय को नहीं भूलना चाहिए। परीषह जय बारह भावनाओं के चिंतवन/मनन द्वारा कर लिया जावेगा। बाहर भावना किसलिये हैं तो

१. युक्त्यनुशासन-आचार्य समन्तभद्रस्वामीकृत, ६

कहा कि दस लक्षण-धर्म प्राप्त करने के लिये। दसलक्षण धर्म किसलिए हैं, हमारी समीचीन प्रवृत्ति हो इसलिए अर्थात् समिति के लिए और समीचीन प्रवृत्ति गुप्ति की ओर ले जाने के लिए है और गुप्ति साक्षात् संवर निर्जरा और मोक्ष के लिए साधन है। सब एक दूसरे के लिए पूरक बनते चले जाते हैं। इसी प्रकार समाधि के लिये दया और दया के लिये इन्द्रिय दमन और इन्द्रिय-दमन के लिये त्याग जरूरी है।

जो व्यक्ति इंद्रियों का दास हो जायेगा; वह हेय-उपादेय को नहीं जान पायेगा। ऐसी स्थिति में बिना हेय-उपादेय के ज्ञान के वह हेय को, दोष को कैसे छोड़ पायेगा? इसलिये शरीर को पड़ौसी बनाओ यह कहा गया। शरीर में स्थित इन्द्रियों के माध्यम से ही विषयों का संग्रह होता है और विषयों का संग्रह जहा होता है वहीं मूर्च्छा आती है और कर्म बंध जाते हैं। कर्मबन्ध होने से ही गति-आगति होती है। संसार मे भटकना होता है। पुन शरीर और इन्द्रियाँ मिलती हैं इन इन्द्रिय रूपी खिड़कियों के माध्यम से विषयरूपी हवा आने लगती है। इन्द्रिय विषयों के ग्रहण होते रहने से कषाय जागृत हो जाती है। कषायों के माध्यम से पुन बन्ध हो जाता है और संसारी जीव इस तरह जजाल मे फंसता ही जाता है। बिना इन्द्रिय दमन के मात्र चर्चा कर लेने से समाधि का द्वार खुल नहीं सकता। एक मक्खी आकर शरीर पर बैठ जाती है तो आप उसे उड़ाने/हटाने की चेष्टा करते हैं या फिर मच्छरदानी का इन्तजाम करते हैं ऐसे वातानुकूल भवन में बैठकर समाधि की चर्चा भले ही हो जाये लेकिन समाधि नहीं हो सकती।

समाधि प्राप्त करने के लिए तो वृषभनाथ भगवान के द्वारा बताये गये मार्ग का अनुसरण करना होगा। समाधि के लिए दया, दम और त्याग को अपनाना होगा। इसके बिना कोई सीधा और छोटा रास्ता नही है। यदि इसके बिना समाधि प्राप्त करने के लिए कोई शार्टकट ढूढने जाओगे तो समाधि के बदले आधि-व्याधियो में ही उलझ जाओगे। समाधि कोई हाथ मे लाकर रख देने की चीज नहीं है, वह तो साधना के द्वारा ही मिल सकती है। जितना दया का पालन करेंगे, जितना इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करेंगे, कषायों का त्याग करेगे उतना ही समाधि के निकट पहुचते जायेंगे। समाधि के द्वार पर लगे तालों को खोलने के लिये इन्हीं चाबियों की जरूरत है। बधुओ! पुरुषार्थ करो। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि यदि दुःख से मुक्ति चाहते हो तो श्रमणता अंगीकार करो। श्रमण हुए बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी। प्रवचनसार की चूलिका मे आचार्य स्वयं कहते हैं कि आत्मानुभूति के लिये पंचाचारों का होना अनिवार्य है और पंचाचार का सीधा सा अर्थ है कि पाच पापों को मन,

वचन, काय से छोड़ना होगा। महाव्रती ही पंचाचार का पालन करता है। आचार्य पंचाचारों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे दर्शनाचार, हे ज्ञानाचार, हे चारित्राचार, हे तपाचार और हे वीर्याचार-तुम्हारे बिना स्वात्मानुभूति संभव नहीं है और स्वात्मानुभूति के बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए मैं तुम्हें तब तक अपनाता हूँ जब तक मुझे केवलज्ञान नहीं हो जाता, मुक्ति नहीं मिल जाती।' ऐसी स्थिति में पंचाचार को अपनाना अनिवार्य ही है क्योंकि कारण के बिना कार्य को साधा नहीं जा सकता। ये पंचाचार की शरण तभी तक है जब तक कि शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती है। उद्देश्य शुद्धात्मा की प्राप्ति का होना चाहिए। जो कोई अभव्य मिथ्यादृष्टि इन्हें धारण करता भी है तो मात्र बाह्य में धारण करता है इसलिए उसे शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होता है वह इन पंचाचारों को बाह्य और अन्तरंग दोनों तरह से धारण करके शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इसी बात को समझाते हुए उपसहार के रूप में रत्नकरण्ड श्रावकाचार की एक कारिका कहता हूँ-

पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन्
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति।। २७।

इस जीव का बैरी पाप है और धर्म, बंधु है। ऐसा दृढ़ निश्चय करता हुआ जो अपने आपको/आत्मा को जानता है वही अपने कल्याण को जानने वाला है। वही ज्ञानी है। ग्रन्थ तो रत्नकरण्ड श्रावकाचार है लेकिन बात ज्ञानी की है। ध्यान रहे बंधुओं! लक्ष्य तो सभी का आत्मानुभूति ही है। परन्तु पात्रों को ध्यान में रखकर भिन्न-भिन्न शैली में भिन्न-भिन्न अनुयोगों के माध्यम से आचार्यों ने बात कही है ताकि सभी धीरे-धीरे सही रास्ते पर चलकर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लें।

ससार शत्रु नहीं है पाप ही शत्रु है। और पाप जिस आत्मा में उत्पन्न होता है वही आत्मा चाहे तो उस पाप को निकाल भी सकती है। जो पाप का तो आलिंगन करे और धर्म को हेय समझे उसकी प्रज्ञा की कोई कीमत नहीं है। स्वहित करने वालों के लिये पाप से ही लड़ना होगा और धर्म को, रत्नत्रय को, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपनाना होगा। जिसने इस बात को जान लिया, मान लिया और इसके अनुरूप आचरण को अपना लिया वही ज्ञाता है।

आज हमारा सौभाग्य है कि समयसार की गूढ बातों को समझने के लिये जयसेन स्वामी की तात्पर्यवृत्ति टीका उपलब्ध है। मुझे तो संस्कृत एवं प्राकृत भाषा भी नहीं आती थी लेकिन आचार्य महाराज गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी ने मुझे सभी बातों का धीरे-धीरे ज्ञान कराया। वैसे आप लोग तो उनसे बहुत पहले से परिचित रहे। इस

अपेक्षा आप हमसे भी सीनियर है। हो सकता है आप मेरे से भी ज्यादा ज्ञान रखते हों परन्तु मुझे तो आचार्य महाराज का आशीर्वाद प्राप्त हुआ; उनकी साक्षात् प्रेरणा मिली। शिक्षा, दीक्षा सभी उन्हीं के माध्यम से हुई। इतनी सरल भाषा में अध्यात्म की व्याख्या मैने कहीं नहीं सुनी; हिन्दी में जो आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज ने समयसार की व्याख्या की है, उनका उपकार मेरे ऊपर आचार्य कुंदकुंद के ही समान है। आचार्य महाराज के आशीर्वाद से, उन्हीं की साक्षात् प्रेरणा से, आज मैं कुन्दकुन्दाचार्य देव से साक्षात् बात कर पा रहा हूँ। अमृतचन्द्र सूरी की आत्मख्याति जैसे जटिलतम साहित्य को देखने-समझने की क्षमता पा सका हूँ तो जयसेन आचार्य के छिले हुए केले के समान सरलतम व्याख्यान के माध्यम से अध्यात्मरूपी भूख मिटा रहा हूँ और आत्मानुभूति को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहता हूँ किन्तु बड़े दुःख की बात है कि आप लोग अभी तक उसे नहीं चख पाये, भूखे ही बैठे हुए हैं। आत्मानुभूति शब्दों में कहने की वस्तु नहीं है। वह तो मात्र संवेदनीय है। वे मुमुक्षु थे और हमारे लिये मोक्षमार्ग के प्रदर्शन हेतु नेता थे। आज से करीब छह वर्ष पहले उन्होंने समाधि/सल्लेखना पूर्वक अपने पार्थिव शरीर को छोड़ा था। आचार्य कुदकुंद स्वामी को, अमृतचन्द्राचार्य को और जयसेनाचार्य को स्मृति में लाते हुए आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज को इस काव्य के माध्यम से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ–

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा कर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

□□

□ ज्ञान कल्याणक

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।[1]
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।।1।।

कल वृषभनाथ मुनिराज ने जो छोड़ने योग्य पदार्थ थे उन्हें छोड़ दिया और जो साधना के माध्यम से छूटने वाले है उनको हटाने के लिए साधना में रत हुए हैं। जो ग्रथियां शेष रह गयी हैं, जो अन्दर की निधि को बाहर प्रकट नहीं होने दे रही है उन ग्रन्थियों को तप के द्वारा हटाने मे लगे है। आप लोग अपनी महत्वपूर्ण मणियों को तिजोरी में बन्द करके रखते हैं जिस कारण बाहर से देखने पर ज्ञान नहीं हो पाता कि इसमे बहुमूल्य रत्न रखे हैं। ऐसे ही आत्मा के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है जिससे वह अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रकट नहीं हो पाती। इतना ही नहीं आपकी उस मणि को तिजोरी में रखने के कई स्थान होते हैं। दरवाजा यदि खुल भी जाये तो भी मणिया चोर के हाथ मे न आ पायें इसलिए उसे एक छोटी सी डिबिया में बंद करके मखमल लगाकर कागज मे लपेटकर रखा जाता है। तिजोरी में भी एक के बाद एक कई खंड होते है। छोटी-छोटी आलमारियां होती हैं जिनके अलग दरवाजे खुलते है। जब तक तिजोरी के दरवाजे, आलमारी, डिबिया और कागज की पुड़िया नहीं खुलेगी तब तक मणियों को हाथ में लेकर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती अर्थात् आवरण कोई भी हो जब तक आवरण रहेगा तब तक वस्तु का ठीक-ठीक अनुभवन नहीं कर सकते हैं। वृषभनाथ मुनिराज ने जो बाह्य ग्रन्थियां थी वे तो खोल दी हैं परन्तु इसके उपरांत भी ऐसी आंतरिक ग्रन्थियां शेष हैं जिनको हटाने के लिये साधना की जरूरत है। आज वे उसी साधना में लीन हुए हैं।

आप लोग थोड़े समय स्वाध्याय करके ही अपने आपको आत्मानुभवी मानने लगते हैं, पर सोचो अस्सी वर्ष की आयु में आप क्या ऐसा और इतना अनुभव कर

1. पुरुषार्थसिद्ध्यु पाय-1

सके होंगे जो तपस्या में लीन मुनिराज **वृषभनाथ प्रतिक्षण** कर रहे हैं। उनका यह तप हजार वर्ष तक चलेगा और हजार वर्ष वे यों ही व्यर्थ में व्यतीत नहीं करते बल्कि बारह प्रकार के तपों को अंगीकार करके महाव्रतों के साथ व्यतीत करते हैं। गहरे आत्मज्ञान में डूबकर वे धीरे-धीरे ज्ञान-ज्योति के ऊपर से आवरण हटाने में लगे हुए हैं। यह कार्य इतना आसान नहीं है जितना आप लोग समझ रहे हैं। जब कुल्हाड़े से पेड़ की डाल पर प्रहार किया जाता है तो पहली बार में तो मात्र छिलका ही हटता है उसके मध्य में रहने वाले धनीभूत पदार्थ पर बार-बार और तेजी से प्रहार करने पर ही पेड़ से लकड़ी टूट पाती है। प्रहार करने वाले के हाथ झनझना जाते हैं। बड़ी मेहनत पड़ती है। इसी प्रकार आत्मा के भीतर जो अनादिकालीन कषाय घनीभूत होकर बैठ गयी है उसे निकालने के लिये वीतरागता रूपी पैनी छैनी चाहिए। सूक्ष्म ग्रन्थिया खोलना उतना ही कठिन कार्य है जितना कि बाल/केश में पड़ी गाठ को खोलना। रस्सी के अन्दर यदि गाठ पड़ जाये तो आप जल्दी खोल सकते हैं, धागे में पड़ी गांठ खोलना उससे भी कठिन है लेकिन बाल में पड़ी गांठ को खोलना तो ओर भी कठिन है। ऐसी ही सूक्ष्म ग्रन्थियों को खोलने में इन्हे हजार वर्ष लग गये किन्तु वे ग्रन्थियां अभी पूरी नहीं खुली। यह भी ध्यान रहे कि इनकी ग्रन्थियां खुलने पर पुनः वापिस पड़ती नहीं हैं क्योंकि बाल की ग्रन्थि सुलझाना जितना कठिन है वैसे ही बालों में ग्रंथि पड़ना भी।

बहती रहती कषाय नाली शाति सुधा भी झरती है,
भव की पीड़ा वहीं प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है।
सकल लोक भी आलोकित है शुचिमय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुतम महिमा आतम की जयशीला है।।[1]

आत्मा की यह लीला, आत्मा का स्वभाव अद्भुत से अद्भुत है। वह लीला वह स्वभाव आत्मा के अन्दर ही घट रहा है। उसी में कषाय की नाली भी बह रही है और वहीं शांति सुधा का झरना भी झर रहा है। भव-भव की पीड़ा भी वहीं पर है तो मुक्ति रूपी रमणी का सुख भी वहीं है। संसार भी वहीं है तो मोक्ष भी वहीं है। सारा लोक उसी में आलोकित हो रहा है। इसके उपरांत भी यदि हम कहें कि हमें कुछ नहीं पता, कि यह किसका परिणाम है तो यह हमारी अज्ञानता ही होगी। और इसका कारण भी यह है कि हम अन्दर न झांककर बाहर ही बाहर देखते हैं।

---

१. कलशागीत, पद्य २७४ (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

हम उनकी शरण में भी आज तक नहीं गये जो अपनी आत्मा की खोज में लगे हैं। इसी का परिणाम है कि अन्दर क्या-क्या सुख है हमें ज्ञात ही नहीं है। अब वृषभनाथ मुनिराज अपने ही भीतर झांक कर हजार वर्ष तक साधना करेंगे। हेय को निकालकर उपादेय को उपलब्ध करेंगे। वे वर्द्धमान चारित्र वाले हैं। क्षायिक सम्यक्दर्शन और मनःपर्यय ज्ञान के साथ जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पर ध्यान रहे कि कोई तीर्थंकर भले ही हो पर जब तक छद्मस्थ रहेगा, तब तक उसे भी अप्रमत्त से प्रमत्त दशा में आना ही पड़ेगा। आधा मिनिट के लिए यदि आत्मा के अन्दर टिकेंगे तो कम से कम एक मिनिट के लिए बाहर आना ही पड़ेगा अर्थात् अप्रमत्त दशा का अनुभव यदि एक मिनिट के लिए होता है तो प्रमत्त दशा का उससे दुगने समय तक होगा। हजार वर्ष तक यही चलेगा। यह तो एक तरह से झूला-झूलना है। झूला ऊपर जाता है तो नीचे भी आता है। ऐसा नहीं है कि ऊपर गया तो ऊपर ही रह नीचे न आये। बल्कि होता यह है कि ऊपर तो रहता है कम और नीचे की ओर ज्यादा। इसे ऐसा समझें कि लक्ष्य को छूना कुछ समय के लिए ही हो पाता है फिर पुनः छूने के लिए शक्ति को बटोरना पड़ता है। संसार का त्याग करने के उपरांत कोई कितना भी चाहे, भले ही अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर ले परन्तु इसी प्रकार हजारों बार उसे ऊपर नीचे आना होगा। प्रमत्त-अप्रमत्त दशा में रहना होगा।

कई लोग कह देते हैं कि भरतजी को कपड़े उतारते उतारते ही केवलज्ञान हो गया, परन्तु ऐसी बातें कहना सिद्धांत का ज्ञान नहीं होने का प्रतीक है। भरतजी की प्रशंसा मैं भी करता हूँ लेकिन प्रशसा ऐसा होनी चाहिए जिसमें सिद्धांत से विरोध न आवे। करणानुयोग के अनुसार तो कोई कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो उसे दिगम्बरत्व धारण करने के उपरात केवलज्ञान प्राप्त करने में कम से कम अन्तर्महूर्त का काल आपेक्षित है और उस अन्तर्मुहूर्त में भी उसे हजारों बार प्रमत्त अप्रमत्त दशा में झूलना पड़ेगा। कषायों को निकालने के लिये इतना परिश्रम तो करना ही पड़ेगा।

आज वृषभनाथ मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। केवलज्ञान का अर्थ मुक्ति नहीं है। अभी मोक्ष कल्याणक तो कल होगा। अभी तो प्रीवियस हुआ है फाइनल शेष है। इस केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये उन्हें किस प्रकार की प्रक्रिया करनी पड़ी यह भी जान लेना चाहिए। संसार वर्धक भावों को दूर हटाने की विधि आचार्यों ने बताई है ताकि कोई भी संसारी प्राणी सुगमता से सरलता से अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। दो बातें पहले समझ लें। एक तो योग और दूसरा मोह। योग अर्थात्

आत्मा के प्रदेशों का परिस्पंदन और मोह अर्थात् विकृत उपयोग। ज्ञेयभूत पदार्थों से जब उपयोग प्रभावित होता है और ज्ञेयभूत पदार्थ उपयोग पर प्रभाव डालते हैं तब उपयोग में विकृति आती है जिससे पाप का आस्रव, अशुभ का आस्रव होता है। इसलिए सर्व प्रथम उपयोग को एकाग्र करना परमावश्यक है। वह उपयोग ज्ञेय पदार्थों से प्रभावित न हो ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता पड़ती है। उपाय करना होता है। उपाय अलग है और उपादेय अलग। उपाय वह है जो उपादेय को प्राप्त करा सके। मुक्ति उपादेय है जो अनंत-काल तक रहने वाली है और बिभाव-परिणति दुख देने वाली और संसार की कारण होने से हेय है। हेय का अभाव करने के लिये और उपादेय को प्राप्त करने के लिये उपाय की बड़ी आवश्यकता होती है। उपाय यही है कि उपयोग को एकाग्र किया जाये और उपयोग को एकाग्र करने के लिए संयम की आवश्यकता है। बारह प्रकार के तपों की आवश्यकता है। जब संयम और तप के माध्यम से उपयोग एकाग्र हो जाता है; ज्ञेय-पदार्थों से प्रभावित नहीं होता तब पाप-प्रकृतियां पूर्ण रूप से निकल पाती है।

एक बात ध्यान रखना कि पहले पाप को ही निकालना होगा। पुण्य को शुभ-भाव को आप पहले नहीं निकाल सकेंगे। क्योंकि शुभ भाव योग को कहा है वह योग बाद में जायेगा। सर्व प्रथम मोह जो उपयोग को आघात पहुँचा रहा है उसे निकालना होगा। तभी उस मोह के माध्यम से आई हुई पाप-प्रकृतियों का आस्रव रुक सकेगा। उदाहरण के लिये ऐसा समझें कि एक व्यक्ति गंदे वस्त्र को साफ करना चाहता है और वह वस्त्र इतना गंदा हो गया है कि उसकी सफेदी देखने में नहीं आ रही है उस समय मैल को हटाने के लिए उसे सोडा/साबुन जो भी हो उससे साफ करना होगा। अब मैं पूछना चाहता हूँ कि वस्त्र के साफ हो जाने के बाद भी साबुन का अंश उस कपड़े में आ गया – रह गया तो उसे भी निकालना होगा या नहीं। निकालना तो होगा लेकिन पहले साबुन का अंश निकले फिर मैल निकालें – ऐसा हो नहीं सकता। पहले तो साबुन के माध्यम से कपड़े का मैल निकलेगा, जिसे पाप कहें, उसके उपरांत साबुन का अंश निकलेगा। अंत में सफेदी लाने के लिये आप लोग कपड़ों को टिनोपाल में भी डालते हैं।

कोई व्यक्ति सोचे कि टिनोपाल में डालने से ही वस्त्र चमकदार हो जाते हैं इसलिये साबुन की जरूरत ही नहीं है तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ ही है। गंदे कपड़े टिनोपाल में कितना भी क्यों न डाले जायें, भले ही पूरी डिबिया समाप्त कर दें पर गंदापन नहीं जायेगा। गंदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन

नहीं जायेगा। गंदापन निकालने के लिये पहले साबुन का उपयोग करना होगा। साबुन का भी गंदापन है और कीचड़ का भी गंदापन है पर दोनों में बहुत अन्तर है। कीचड़ का गंदापन पाप के समान है जो पहले हटेगा। और जैसे-जैसे पाप को हटायेंगे वैसे-वैसे पुण्य की वृद्धि नियम से होती जायेगी। जैसे-जैसे साबुन मलते जायेंगे वैसे-वैसे मैल का अंश निकलता जायेगा और साबुन का अंश बढ़ता जायेगा। जब तक मैल का अंश नहीं हट जाता तब तक साबुन आप रगड़ते ही जायेंगे तभी काम बनेगा। जहाँ मात्र योग रहता है वहाँ मात्र पुण्य का आस्रव होता है इसलिये योग का अर्थ है मात्र पुण्य का आस्रव होना, परन्तु मोह के साथ पाप का भी आस्रव होगा। मोह को मैल की तरह पहले निकालना होगा। परन्तु अकेला योग साबुन के अंश की तरह आखिरी समय तक रहेगा और बढ़ता ही जायेगा।

सोचो जब आप स्नान करते हैं तो पहले साबुन लगाकर मैल हटाते हैं फिर पानी से धोते हैं तब कहीं जाकर तौलिये के माध्यम से उस पानी के अंश को भी सुखा देते हैं। तौलिया मैल निकालने के लिये नहीं है वह तो मैल निकालने के बाद पानी को हटाने के लिये है। मोह अर्थात् कीचड़ या मैल है जिसे निकालने के लिये योग अर्थात् पानी का योग जरूरी है। योग अपना काम करता जाता है, पुण्य आता जाता है और मोह के माध्यम से आने वाला कीचड़/पाप समाप्त होता जाता है। जब अकेला योग रह जायेगा अर्थात् जब बदन पर मात्र पानी की बूंदें रह जायेंगी तब आप योग-निग्रह कर लेते हैं अर्थात् तौलिये के माध्यम से शरीर को सुखा लेते हैं। तो यही प्रक्रिया है कि पहले पाप का अभाव होता है और बाद में पुण्य का भी अभाव हो जाता है। जो लोग पहले पुण्य को छोड़ने के लिये कहते हैं उनसे मैं पूछना चाहूँगा कि भाईयों जब आपके पास पुण्य है ही नहीं तो छोड़ेंगे क्या? पास में जो पाप है उसे ही पहले छोड़ने की बात आचार्यों ने कही है।

पापों का त्याग करके संयम के माध्यम से पुण्य का अर्जन होता चला जाता है और जितना-जितना संयम बढ़ता है उतना-उतना पुण्य भी बढ़ता जाता है। जितना आप लोग जीवन में दान, पूजादि करके पुण्यार्जन करते हैं उतना और उससे भी ज्यादा पुण्य का अर्जन एक मुनिराज आहार लेते हुए भी कर लेते हैं क्योंकि उनके द्वारा कर्मों की निर्जरा के हेतु अपनाया गया संयम असंख्यात गुणी निर्जरा में सहायक होता है। वे न चाहते हुए भी अधिक पुण्य का अर्जन कर लेते हैं और श्रावक चाहते हुए भी उतने पुण्य का अर्जन नहीं कर पाता। सबसे ज्यादा पुण्य का अर्जन करने वाला यदि कोई व्यक्ति है तो वह है संयमी। संयमी में भी यों कहिये यथाख्यात चारित्र

को अपनाने वाला और उसमें भी केवली भगवान के तो अकेला पुण्य का साता का अर्जन होता है जो पुण्य को नहीं चाहते हुए भी विशिष्ट पुण्य का अर्जन करते हैं। परंतु विशेषता संयमी की यही है कि उसने पुण्य के फल को ठुकराया है। ध्यान रखना पुण्य के बंध को कोई ठुकरा नहीं सकता। पुण्य के फल को अवश्य ठुकराया जा सकता है। आप लोग पुण्य के फल को तो अपने पास रखना चाहते हैं रख लेते हैं लेकिन पुण्य को हेय कहकर उसे छोड़ने की बात करते रहते हैं।

दौलतरामजी छहढाला में कहते हैं कि "पुण्य पाप फल माहिं हरख विलखो मत भाई!" वे पुण्य-पाप के बंध की बात नहीं कहते बल्कि पुण्य और पाप के फल की बात कर रहे हैं कि पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ फल में हर्ष-विषाद मत करो। पुण्य के फल को भोगने में ही संसारी प्राणी स्वाद का अनुभव करता है और लुब्ध हो जाता है। पुण्य का अर्जन करने वाला संयमी व्यक्ति अपनी आत्मा को नहीं भूलता जबकि पुण्य के फल को भोगने वाला असंयमी व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है और पुण्य के फल में रच-पच जाता है। पुण्य का बंध करने वाला जीव आत्मा को भूल जाता है, यदि कोई ऐसा कहता है तो यह उसकी नासमझी ही होगी क्योंकि अरिहंत/सर्वज्ञ भगवान को सबसे अधिक पुण्य का आस्रव होता है लेकिन वे आत्मस्थ रहते हैं। पंचेन्द्रिय विषय रूप पुण्य के फल को भगवान ने स्वयं ठुकराया और पाप के फल में उन्होंने विषाद नहीं किया। पुण्य के बंध को रोकने में वे भी अभी असमर्थ हैं। आज तक जो भी पाप आ रहा था उसे निकालने के लिए बारह तपों को वृषभनाथ ने अपनाया। पुण्य को हटाने के लिये कल प्रयास होगा तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी। इसलिये बंधुओं! सर्व प्रथम पापरूप क्रिया को रोका जाता है और जैसे-२ उपयोग अशुभ से हटकर आत्मा में एकाग्र होने लगता है वैसे-वैसे पाप आना बंद हो जाता है पाप की सत्ता भी नष्ट होती जाती है और अन्तर्मुहूर्त में कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है। कैवल्य की उपलब्धि सहज नहीं है वह ज्ञान की उपयोग की समीचीनता प्राप्त होने पर ही सम्भव है। विचार करो ज्ञान आपके पास है तो ज्ञान भगवान के पास भी है। परन्तु जहाँ आपका ज्ञान पूज्यनीय नहीं है वहीं भगवान् का ज्ञान पूज्यनीय क्यों है? अथवा दोनों के ही ज्ञानों में पूज्यता क्यों नहीं है? इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रभु का ज्ञान ही पूज्य है। हमारा ज्ञान कषाय से अनुरंजित है और वे कषाय से रहित हैं। वैसे आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं किन्तु उन गुणों में से एक गुण ही ऐसा है जिसके कारण उसे परेशानी हो रही है। वह गुण ज्ञानगुण है। इस चेतन गुण में ही ऐसी शक्ति है जो स्व और पर को जान लेता है

वस्तु को देखकर राग-द्वेष-कषाय से प्रभावित हो जाता है। हमारा-छद्मस्थों का ज्ञान अपूर्ण है वहीं सर्वज्ञ भगवान का ज्ञान पूर्ण है वे कषाय तथा राग-द्वेष से भी रहित हैं। यही हमारे एवं उनके ज्ञान की अपूज्यता-पूज्यता के लिये कारणभूत है।

कई सज्जन कहते हैं कि पाप के समान पुण्य भी हेय है। मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि पुण्य का अभाव कहाँ पर होता है? पाप कहाँ पर बाधक है? पुण्य का बंध मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता किन्तु मोक्ष में बाधक है। पुण्य का बंध होता रहता है और मोक्षमार्ग अबाध रूप से चलता रहता है। मोक्षमार्ग तो चौदहवें गुणस्थान तक चलता है और तेरहवें गुणस्थान तक पुण्य का बंध होता रहता है वह बाधक नहीं बनता। अगर पुण्य बाधक होता तो वहाँ पर पहुँचता ही कैसे? इसलिए अभी पुण्य बंध अपने लिए छोड़ने योग्य नहीं है लेकिन पुण्य का फल अवश्य छोड़ने योग्य है। मैंने अभी शुभ और अशुभ भावों की बात कही थी कि अशुभ-भाव से पाप का बध होता है और शुभ भाव से पुण्य का बध होता है। केवलज्ञान होने के उपरांत भी साता वेदनीय रूप पुण्य का आस्रव होता रहता है उससे केवलज्ञान मे कोई बाधा नहीं आती। इसे सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "पुनाति आत्मान पवित्री करोति इति पुण्य'' जो आत्मा को पावन बनाये वह पुण्य है। केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए 'केवल-पुण्य' की ही आवश्यकता है पाप मिश्रित पुण्य की नहीं। जिसमें पाप का एक अश भी नहीं है ऐसे केवल पुण्य के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति होती है और ऐसे पुण्य का आस्रव मात्र योग के माध्यम से होता है। योग भी भाव है और यह भाव किसी कर्म-कृत नहीं है किन्तु आत्मा का पारिणामिक भाव है। इस बात का उल्लेख वीरसेन स्वामी ने धवला-ग्रंथ मे स्पष्ट रूप से किया है।

योग आत्मा की क्रियावती शक्ति है जिसके माध्यम से आत्मा में परिस्पदन होता है जिसके फलस्वरूप कर्मवर्गणायें आती है और चली जाती है। यदि वहीं पर मोह हो तो वे चिपक जाती है लेकिन मोह के अभाव में मात्र योग होने से वे टकराकर वापिस चली जाती हैं। योग जब तक हैं तब तक कर्मों का आना रुकता नहीं है। इसलिये सर्व प्रथम पाप रूपी रेणु न आये इसका प्रयास किया जाना चाहिए। यदि अपनी आत्मा को शुद्ध बनाना चाहते हो तो यही क्रम अपनाना होगा। आत्म लक्ष्य हो जाने पर हेय क्या है उपादेय क्या है यह सहज ही समझ में आ जावेगा। अन्तर्दृष्टि हो जाने पर हेय का विमोचन होता जावेगा तथा उपादेय भूत ग्रहण/उपलब्ध होता

आवेगा।

क्या हो गया, समझ में मुझको न आता
क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता
पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता।।[1]

मन की चाल श्वान जैसी है वह अन्दर अच्छी जगह टिकना नहीं चाहता। जैसे पालतू कुत्ता आपके घर में रहता है। जब तक आप उसे रस्सी से बांधकर रखते हैं तब तक वह घर में रहता है थोड़ा रस्सी छोड़ दो तो बाहर निकल जाता है और बाहर उसकी दृष्टि पहले मल की ओर ही जाती है। इसी प्रकार मन बाहर चला जाता है तो वह कषायों को पाप को ही साथ लेकर आता है। इसलिए यदि पाप से बचना चाहते हो, उसे दूर हटाना चाहते हो तो मन को बाहर ही मत भेजो। मन को अपने भीतर ही एकाग्र करने की कोशिश करो। यह कार्य कठिन है लेकिन जैसे गर्म खीर को खाने के लिये पहले किनारे से फूंक-फूंककर खाना शुरू कर देते हैं बीच में हाथ नहीं डालते इसी प्रकार मन को एकाग्र करने के लिये अपना प्रत्येक समय सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे अपनी आत्मा को ही देखने में लगाना चाहिए।

एक बात और सुनने में आती है कि संसारी जीव के केवलज्ञान आत्मा मे विद्यमान है और पूर्ण रूप से तो नहीं मात्र किरण के रूप में सामने आता है अर्थात् हमारा जो ज्ञान है वह भी केवलज्ञान का ही अंश है। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि ध्यान रखना केवलज्ञान तो क्षायिक ज्ञान है और उस केवलज्ञान का अंश भी क्षायिक ही होगा, वह क्षायोपशमिक हो नहीं सकता जबकि हमारा ज्ञान अभी क्षायोपशमिक है। साथ ही केवलज्ञानावरणीय ये कर्म प्रकृति सर्वघाती प्रकृति है। सर्वघाती उसे कहते हैं जो आत्मा के विवक्षित गुण का एक अंश भी प्रकट नहीं होने देती। केवलज्ञान जब भी होगा वह पूर्ण ही होगा। एक समय के उपरांत होने वाला केवलज्ञान एक समय पूर्व भी नहीं हो सकता, एक अंश में भी उदय में नहीं आ सकता। क्योंकि केवलज्ञान की पूर्ण शक्ति को मिटाने वाला केवलज्ञानावरणीय कर्म विद्यमान है। कार्तिकेय स्वामी ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है--

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स।।२११।।

---

१. निजानुभव शतक, पद्य ४६; (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

पुद्गल की कोई अमूर्तिक शक्ति ऐसी अवश्य है जिसने केवलज्ञान रूप आत्मा के गुण को समाप्त कर रखा है जरा भी प्रकट नहीं होने दिया है। इसलिये हमारा जो वर्तमान ज्ञान है वह क्षयोपशमिक ज्ञान है वह सामान्य कोटि का है। केवलज्ञान की कोटि का नहीं है। बंधुओं! केवलज्ञान तो असाधारण ज्ञान है जिस ज्ञान की महिमा अपरंपार है; वह ज्ञान पूज्य है। ऐसे केवलज्ञान की तुलना अपने क्षयोपशम ज्ञान के साथ करना उचित नहीं है। साथही यह करणानुयोग को नहीं समझना ही है। पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में अमृतचन्द्र सूरी ने लिखा है कि–

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनंत-पर्यायैः।

दर्पण तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र।।

केवलज्ञान में दुनिया के सारे पदार्थ झलक रहे हैं सभी पर्यायें झलक रही हैं। प्रतिबिंबित हो रही हैं। केवलज्ञान का प्रकाश दर्पण के समान स्वच्छ निर्मल और आदर्श है। इसलिये पूजनीय है। हमारा ज्ञान पूज्य नहीं है क्योंकि वह कषाय से अनुरंजित है।

बंधुओं! दिव्य आत्मा बनने की शक्ति हमारे पास भी है। हम उसे दिव्य/आदर्श बना सकते हैं। अभी वह मोह के माध्यम से कलुषित हो रही है। इसी मोह को हटाने का पुरुषार्थ करना चाहिए। आदिनाथ स्वामी ने जिस प्रकार क्रमशः संयम और तप के माध्यम से शुद्धात्मानुभूति को प्राप्त किया है उसी प्रकार हमें भी प्रयास करना चाहिए। वे धन्य हैं जिन्होंने केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान को प्राप्त करने में रत हैं और वे भी धन्य हैं जो केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना को अपनाने की रुचि रखते हैं।

□□

☐ मोक्षः संसार के पार

हे कुन्दकुन्द मुनि! भव्य सरोज बन्धु,
मैं बार-बार तव पाद-सरोज बन्दूँ।
सम्यक्त्व के सदन हो समता सुधाम,
है धर्मचक्र शुभ धार लिया ललाम।।

आज एक संसारी प्राणी ने किस प्रकार बंधन से मुक्ति पाई और किस प्रकार पतन के गर्त से ऊपर उठकर सिद्धालय की ऊंचाईयों तक अपने को पहुंचाया– ये देखने/समझने का सौभाग्य हमें मिला। यह मुक्त दशा इसे आज तक प्राप्त नहीं हुई थी, आज ही प्राप्त हुई और बिना प्रयास के प्राप्त नहीं हुई बल्कि परम पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त हुई है। इससे यह भी ज्ञात हुआ कि संसारी जीव बंधन-बद्ध है और उसे बन्धन से मुक्ति मिल सकती है, यदि वह पुरुषार्थ करे तो। वृषभनाथ का जीव अनादि-काल से संसार में भटक रहा था उसे स्व-पद की प्राप्ति नहीं हुई थी। इसका कारण यही था कि इस भव्य जीव ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं किया था। लेकिन आज जो शक्ति अभी तक अव्यक्त रूप से उसमें विद्यमान थी, वह पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त हुई है।

कोई भी कार्य अपने आप नहीं होता। सोचो, जब बंधन अपने आप नहीं होता तो मुक्ति कैसे अपने-आप हो जायेगी। चोर जब चोरी करता है तभी जेल जाता है बंधन में पड़ता है। इसी प्रकार यह आत्मा जब राग-द्वेष, मोह करता है पर-पदार्थों को अपनाता है उनसे संबंध जोड़ता है और उनमें सुख-दुख का अनुभव करने लगता है तभी उनसे बंध जाता है। सभी सांसारिक सुख-दुख संयोगज हैं। पदार्थों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। पदार्थों के संयोग से राग-द्वेष होता है जो आत्मा को विकृत करता है और संसारी जीव अपने संसार का निर्माण स्वयं करता जाता है। आज इस संसार रूपी जेल को तोड़कर छूट जाने का दिन है। ध्यान रखना ये अपने आप नहीं टूटता, तोड़ा जाता है और जेल तोड़ने वाला, बंधन से छूटने वाला जेलर नहीं है कैदी ही होता है। जेल को बनाने वाला भी कैदी ही है। जेलर तो मात्र देखता रहता है। इसी

प्रकार ससारी प्राणी अपना संसार स्वयं निर्मित करता है, मुक्तात्मायें तो उनके बंधन को देखने-जानने वाली हैं। देखना-जानना ही वास्तव में आत्मा का स्वभाव है। ससारी प्राणी जब संसार के बंधन को तोड़कर मुक्त हो जाता है तब वह भी मुक्तात्माओं में मिल जाता है और मात्र देखने-जानने वाला हो जाता है। हम भी यदि पुरुषार्थ करें तो नियम से इस संसार से मुक्त हो सकते हैं। यही आज हमे अपना ध्येय बनाना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, स्वतंत्र होना चाहता है किन्तु स्वतंत्रता के मार्ग को अपनाना नहीं चाहता। तब सोचो क्या यों ही बैठे-बैठे उसे आजादी/स्वतंत्रता मिल जायेगी। ऐसा कभी सभव नही है। एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र की सत्ता से मुक्त होना चाहता है तो उसे बहुत पुरुषार्थ करना होता है। आजादी की लड़ाई लड़नी होती है। उदाहरण के लिये भारतवर्ष को ही ले लें। आज से ३०.३२ साल पहले भारत के लोग परतत्रता का अनुभव कर रहे थे। परतत्रता के दुख को भोग रहे थे। तब धीरे-धीरे अहिंसा के बल पर अनेक नेताओ ने मिलकर देश को स्वतंत्रता दिलाई। लोक-मान्य तिलक ने नारा लगाया कि स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। लोगों के मन मे यह बात बैठ गयी और परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता मिली। ठीक इसी प्रकार पराधीनता हमारा जीवन नहीं है, स्वतत्रता ही हमारा जीवन है— ऐसा विश्वास जाग्रत करके जब हम बंधन को तोड़ेंगे तभी मुक्ति मिलेगी।

, जिस प्रकार दूध मे घी अव्यक्त है, शक्ति-रूप में विद्यमान है उसी प्रकार आत्मा में शुद्ध होने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति को अपने पुरुषार्थ के बल पर व्यक्त करना होगा। तभी हम सच्चे मुमुक्षु कहलायेंगे। भव्य कहलायेंगे। जो अभी वर्तमान मे पुरुषार्थ नहीं करते वे भव्य होते हुए भी दूरान्दूर भव्य कहे जायेंगे। या दूर-भव्य कहे जायेंगे, आसन्न भव्य तो नहीं कहलायेंगे। एक अध पाषाण होता है जिसमें स्वर्ण शक्ति-रूप में तो रहता है लेकिन कभी भी उस पाषाण से स्वर्ण अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दूरान्दूर भव्य है जिनकी भव्य ससार होने पर भी वे अभव्य की कोटि में ही आ जाते हैं अर्थात् शक्ति होते हुए भी कभी उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में दशवे अध्याय में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन किया है। उस मुक्त-अवस्था का क्या स्वरूप है— यह बतलाया है। और उससे पूर्व नवमे अध्याय मे वह मुक्त-अवस्था कैसे प्राप्त होगी- यह बात कही है। जिस प्रकार तूंबी मिट्टी का ससर्ग पाकर अपना तैरने वाला स्वभाव छोड़कर डूब जाती है और मिट्टी का संसर्ग पानी में घुल जाने के बाद फिर से हल्की होकर ऊपर तैरने लग

जाती है, ऐसे ही यह आत्मा राग-द्वेष और पर-पदार्थों के संसर्ग से ससार-सागर में डूबी हुई हैं जो जीव पर-पदार्थो का त्याग कर देते हैं और राग-द्वेष हटाते है वे संसार सागर के ऊपर, सबसे ऊपर उठकर अपने स्वभाव में स्थित हो जाते है। दूध में जो घी शक्ति रूप में विद्यमान है उसे निकालना हो तो ऐसे ही मात्र हाथ डालकर उसे निकाला नहीं जा सकता। यथाविधि उस दूध का मथन करना होता है। और मंथन करने के उपरांत भी नवनीत का गोला ही प्राप्त होता है जो कि छाछ के नीचे नीचे तैरता रहता है। अभी उस नवनीत मे भी शुद्धता नहीं आयी इसलिये वह पूरी तरह ऊपर नहीं आता। भीतर ही भीतर रहा आता है और जैसे ही नवनीत को तपा करके घी बनाया जाता है तब कितना भी उसे दूध या पानी मे डालो वह ऊपर ही तैरता रहता है। ऐसी ही स्थिति कल तक आदिनाथ स्वामी की थी। वे पूरी तरह मुक्त नहीं हुए थे। जिस प्रकार अंग्रेजों से पन्द्रह अगस्त १९४७ को भारत वर्ष को आजादी/स्वतन्त्रता तो मिल गई थी किन्तु वह स्वतन्त्रता अधूरी ही थी। देश को सही/पूर्ण स्वतन्त्रता तो २६ जनवरी १९५० को मिली थी जब ब्रिटिश सरकार और उनके नियम-कानून, लेन-देन आदि के बंधनो से मुक्ति मिली और देश अपने ही नियम कानूनो के अन्तर्गत शासित हुआ। वैसे ही आदिनाथ प्रभु की स्वतन्त्रता अपूर्ण थी क्योकि वे शरीर रूपी जेल मे थे। आज पूरी तरह संसार और शरीर दोनों से मुक्त हुए हैं। शरीर भी जेल ही तो है। शरीर को फारसी भाषा मे बदमाश कहा जाता है। शरीर शरीफ नहीं है बदमाश है। यदि इस शरीर का मोह छूट जाये तो जीव को संसार मे कोई बांध नहीं सकता।

अतः बधुओं! जितनी मात्रा में आप परिग्रह को कम करेंगे, शरीर के प्रति मोह को कम करेंगे, आपका जीवन उतना ही हल्का होता जायेगा, अपने स्वभाव को पाता जायेगा। जिस प्रकार नवनीत का गोला जब तक भारी था तभी तक अन्दर था जैसे ही उसे तपा दिया तो वह हल्का हो गया। सुगधित घी बन गया। अब नीचे नहीं जायेगा। अभी आप लोगों में से कुछ ऐसे भी है जो न घी के रूप मे हैं और न ही नवनीत के रूप मे बल्कि दूध के रूप मे ही है। ससारी जीव कुछ ऐसे होते है जो फटे हुए दूध के समान है जिसमें घी और नवनीत का निकलना ही मुश्किल होता है तो कुछ ऐसे जीव भी हैं जो कि भव्य जीव हैं वे सुरक्षित नवनीत की तरह है जो समागम रूपी ताप के मिलने पर घी रूप मे परिणत हो जावेंगे और ससार से पार हो जायेंगे। आप सभी को यदि अनन्त सुख को पाने की अभिलाषा हो तो परिग्रह रूपी भार को कम करते जाओ। जो पदार्थ जितना भारी होता है वह उतना ही नीचे जाता है। तराजू में भारी पलड़ा नीचे बैठ जाता है और हल्का ऊपर उठ जाता है।

इसी प्रकार परिग्रह का भार संसारी प्राणी को नीचे ले जाने में कारण बना हुआ है। लौकिक दृष्टि से भारी चीज की कीमत भले ही ज्यादा मानी जाती हो लेकिन परमार्थ के क्षेत्र में तो हल्के होने का, पर-पदार्थों के भार से मुक्त होने का महत्व है। क्योंकि आत्मा का स्वभाव पर-पदार्थों से मुक्त होकर उर्ध्वगमन करने का है।

उमास्वामी आचार्य ने यह भी कहा है कि बहु-आरंभ और बहु-परिग्रह रखने वाला नरकगति का पात्र होता है। बहुत पुरुषार्थ से यह जीव मनुष्य जीवन पाता है लेकिन मनुष्य जीवन में पुन: पदार्थों मे मूर्च्छा, रागद्वेषादि करके नरकगति की ओर चला जाता है। नारकी जीव से तत्काल नारकी नहीं बन सकता। तिर्यंच भी पांचवें नरक तक ही जा सकता है लेकिन कर्मभूमि का मनुष्य और उसमें भी पुरुष सातवें नरक तक चला जाता है। यह सब बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के कारण ही होता है। बड़ी विचित्र स्थिति है। पुरुष का पुरुषार्थ उसे नीचे की ओर भी ले जा सकता है और यदि वह चाहे तो मोक्ष-पुरुषार्थ के माध्यम से लोक के अग्रभाग तक जाने की क्षमता रखता है। वह मुक्ति का मार्ग भी अपना सकता है और संसार में भटक भी सकता है। यह सब जीव के पुरुषार्थ पर निर्भर है, केवल पढ़ लेने से या उनके जानने मात्र से नहीं।

पतन की ओर तो हम अनादि काल से जा रहे है परन्तु उत्थान की ओर आज तक हमारी दृष्टि नहीं गयी। हम अपने स्वभाव से विपरीत परिणमन करते रहे हैं और अभी भी कर रहे है। इस विभाव या विपरीत परिणमन को दूर करने के लिये ही मोक्षमार्ग है। पाच दिन तक आपने विभिन्न धार्मिक कार्यक्रम देखे, विद्वानों के प्रवचन सुने। ये सभी बाते विचार करें विवेकपूर्वक क्रिया में लाने की हैं। अपने जीवन को साधना मे लगाना अनिवार्य है। जितना आप साधना को अपनायेगे उतना ही कर्म से मुक्त होते जायेंगे। पापो से मुक्त होते जायेगे। जैसे तूंबी कीचड़ मिट्टी का संसर्ग छोड़ते ही पानी के ऊपर आकर तैरने लगती है और उस पंक-रहित तूंबी का आलंबन लेने वाला व्यक्ति भी पार हो जाता है वैसे ही हमारा जीवन यदि पापों से मुक्त हो जाता है तो स्वयं के साथ-साथ औरो को भी पार करा देता है। राग के साथ तो डूबना ही डूबना है। पार होने के लिये एकमात्र वीतरागता का सहारा लेना ही आवश्यक है। वर्तमान मे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, जो छिद्र रहित और पंक रहित तूंबी के समान है उनका सहारा यदि हम ले लें तो एक दिन अवश्य पार हो जायेंगे।

स्वाधीनता, सरलता, समता स्वभाव,
तो दीनता, कुटिलता, ममता विभाव।

जो भी विभाव धरता, तजता स्वभाव,
तो डूबती उपल-नाव, नहीं बचाव।।१

स्वाधीनता, सरलता और समता ही आत्मा का स्वभाव है और राग-द्वेष क्रोध आदि विभाव है। जो इस विभाव का सहारा लेता है वह समझो पत्थर की नाव में बैठ रहा है जो स्वयं तो डूबती ही है साथ ही बैठने वाले को भी डुबा देती है। आपको वीतरागता की, स्वभाव की उपासना करनी चाहिए। यदि आप वीतरागता की उपासना कर रहे हैं तो ये निश्चित समझिये कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। ये वीतरागता की उपासना कभी छूटनी नहीं चाहिए। भले ही आपके कदम आगे नहीं बढ़ पा रहे, पर पीछे भी नहीं हटना चाहिए। रागद्वेष के आधी तूफान आयेगे, बढ़ते कदम रुक जायेगे लेकिन जैसे ही रागद्वेष की आधी जरा धीमी हो एक-एक कदम आगे रखते जाइये, रास्ता धीरे-धीरे पार हो जायेगा।

आज तो बड़े सौभाग्य का दिन है भगवान को निर्वाण की प्राप्ति हुई। एक दृष्टि से देखा जाये तो उनका जन्म भी हुआ। शरीर की अपेक्षा मरण कहो तो कोई बात नहीं, लेकिन जिसका अनतकाल तक नाश नहीं होगा ऐसा जन्म भी आज ही हुआ है। अजर-अमर पद की प्राप्ति उन्हे हुई है। संसार छूट गया वे मुक्त हो गये है। मै भी ऐसी प्रार्थना भावना करता हूँ कि मुझे भी अपनी ध्रुव-सत्ता की प्राप्ति हो। मैं भी पुरुषार्थ के बल पर अपने अजर-अमर आत्म पद को प्राप्त करूँ।

□□

१ निजानुभवशतक-१६ (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत)

□ प्रवचन प्रदीप

☐ समाधि दिवसः आचार्य श्री ज्ञानसागर जी

कभी-कभी भावों की अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा अल्प समय में करना हो तो कठिनाई मालूम पड़ती है '"मुनिपरिषन् मध्ये संनिषण्णं मूर्तमिव मोक्षमार्ग मवाग् विसर्ग वपुषा निरूपयन्त निर्गथ आचार्य वर्यम्'' -मुनियों की सभा में बैठे हुये, वचन बोले बिना ही मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हों, ऐसे आचार्य महाराज को किसी भव्य ने प्राप्त किया और पूछा कि भगवन्! किंनु खलु आत्मने हित स्यादिति? अर्थात् हे भगवन्! आत्मा का हित क्या है। तब आचार्य महाराज ने कहा कि आत्मा का हित मोक्ष है। तब पुनः शिष्य ने पूछ लिया कि मोक्ष का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है?

इस बात का जवाब देने के लिए आचार्य पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि तत्त्वार्थ सूत्र का प्रारभ हो जाता है और क्रमश. दस अध्यायों में जवाब मिलता है। ऐसा ही ये ग्रन्थ हमारे जीवन से जुड़ा है। जो निर्ग्रथता का मूल स्रोत है।

क्या कहें और किस प्रकार कहें गुरुओं के बारे में क्योकि जो भी कहा जायेगा वह सब सूरज को दीपक दिखाने के समान होगा। वह समुद्र इतना विशाल है कि अपनी दोनो भुजाओ को फैलाकर बताने का प्रयास, भावाभिव्यक्ति, उसका पार नहीं पा सकती।

एक कवि ने गुरू की महिमा कहने का प्रयास किया और कहा कि जितने भी विश्व मे समुद्र है उनको दवात बना लिया जाये पूरा का पूरा पानी स्याही का रूप धारण कर ले और कल्पवृक्ष की लेखनी बनाकर सारी पृथ्वी को कागज बनाकर सरस्वती स्वयं लिखने बेठ जायं तो भी पृष्ठ कम पड़ जायेंगे, लेखनी और स्याही चुक जायेगी, पर गुरू की गुरुता-गरिमा का पार नहीं पाया जा सकता।

'गुरु कुम्हार, शिष्य कुंभ है गढ़-गढ़ काढ़त खोट। भीतर हाथ पसार के, ऊपर मारत चोट। कुम्हार की भांति मिट्टी को जो दलदल बन सकती है, बिखर सकती है, तूफान में धूल बनकर उड़ सकती है; घड़े का सुन्दर आकार देने वाले गुरू होते हैं। जो अपने शिष्य को घड़े के समान भीतर तो करुणा भरा हाथ पसार कर संभाले रहते हैं और ऊपर से निर्मम होकर चोट भी करते हैं।

बाहर से देखने वालों को लगता है कि घड़े के ऊपर प्रहार किया जा रहा है लेकिन भीतर झांक कर देखा जाये तो मालूम पड़ेगा कि कुछ और ही बात है। संभाला भी जा रहा है और चोट भी की जा रही है। दृष्टि में ऐसा विवेक, ऐसी जागरूकता और सावधानी है कि चोट, खोट के अलावा, अन्यत्र न पड़ जाये। भीतर हाथ वहीं है जहा खोट है और जहा चोट पड़ रही है। यह सब गुरू की महिमा है।

किसी कवि ने यह भी कहा है कि "गुरू गोविंद दोउ खड़े, काके लागूं पॉय, बलिहारी गुरू आपकी गोविंद दियो बताय"।। हमे तो लगता है "बताना" क्या यहाँ तो "बनाना" शब्द होना चाहिये। "गोविंद दिया बनाय"। वैसे 'बताना" भी एक तरह से "बनाना" ही है। जब गणित की प्रक्रिया सामने आ जाती है तो उत्तर बताना आवश्यक नहीं रह जाता उत्तर स्वय बन जाता है।

हम उन दिनो न तो उत्तर जानते थे, न प्रक्रिया या क्रिया जानते थे, हम तो नादान थे और उन्होने (आचार्य ज्ञानसागर जी) हमें क्या-क्या दिया हम कह नहीं सकते। बस! इतना ही कहना काफी है कि हमारे हाथ उनके प्रति भक्तिभाव से हमेशा जुड़े रहते है।

गुरू की महिमा आज तक कोई कह नहीं सका। कबीर का दोहा सुना था– "यह तन विष की बेलड़ी, गुरू अमृत की खान। शीश दिये यदि गुरू मिले, तो भी सस्ता जान"।। कैसा अद्भुत भाव भर दिया। कितनी कीमती आकी है गुरू की। हम इतनी कीमत चुका पाये तो भी कम है। देने के लिये हमारे पास क्या है? यह तन तो विष की बेल है जिसके बदले अमृत की खान, आत्मा मिल जाती है। यदि यह जीवन गुरू की अमृत-खान में समर्पित हो जाए तो निश्चित है कि जीवन अमृतमय हो जाएगा।

सोचो, समझो, विचार करो. इधर-उधर की बातें छोड़ो, शीश भी यदि चला जाए तो भी समझना कि सस्ता सौदा है। शीश देने से तात्पर्य गुरू के चरणो मे अपने शीश को हमेशा के लिए रख देना, शीश झुका देना, समर्पित हो जाना। गुरू का शिष्य के ऊपर उपकार होता है और शिष्य का भी गुरू के ऊपर उपकार होता है, ऐसे परस्पर उपकार की बात आचार्यो ने लिखी है। सो ठीक ही है। गुरू शिष्य से और कुछ नहीं चाहता, इतनी अपेक्षा अवश्य रहती है कि जो दिशाबोध दिया है उस दिशा बोध के अनुसार चलकर शिष्य भी भगवान बन जाए। यही उपकार है शिष्य के द्वारा गुरू के ऊपर। कितनी करुणा है। कितना पवित्र भाव है।

"मैं" अर्थात् अहंकार को मिटाने का यदि कोई सीधा उपाय है तो गुरू के चरण-शरण। उनकी विशालता, मधुरता, गहराई और अमूल्य छवि का हम वर्णन भी नहीं कर सकते। गुरू ने हमें ऐसा मंत्र दिया कि यदि नीचे की गहराई और ऊपर ऊंचाई नापना चाहो तो कभी ऊपर नीचे मत देखना बल्कि अपने को देखना। तीन लोक की

विशालता स्वय प्रतिबिंबित हो जायेगी।

"जो एग्गं जाणदि सो सव्व जाणदि" – अर्थात् जो एक को यानी आत्मा को जान लेता है वह सबको सारे जगत को जान लेता है। धन्य है; ऐसे गुरू, जिन्होंने हम जैसे राग-द्वेषी मोही, अज्ञानी और नादान के लिए भगवान बनने का रास्ता प्रशस्त किया। आज कोई भी पिता अपने लड़के के लिए कुछ दे देता है तो बदले मे कुछ चाहता भी है लेकिन गुरू की गरिमा देखो कि तीन लोक की निधि दे दी और बदले में किसी चीज की आकाक्षा नहीं है।

जैसे माँ सुबह से लेकर दोपहर तक चूल्हे के सामने बैठी धुआं सहती रसोई बनाती है और परिवार के सारे लोगो को अच्छे ढग से खिला देती है और स्वय के खाने की परवाह नहीं करती। आप जब भी मा की ओर देखेगे तब वह कार्य मे व्यस्त ही दिखेगी और देखती रहेगी कि कहाँ क्या कमी है? क्या-क्या आवश्यक है? क्या कैसा परोसना है? जिससे सतुष्टि मिल सके। पर गुरुदेव तो उससे भी चार कदम आगे होते है। हमारे भीतर कैसे भाव उठ रहे है? कौन सी अवस्था मे, समय में, कौन से देश या क्षेत्र में आपके पैर लड़खड़ा सकते है। यह पूरी की पूरी जानकारी गुरूदेव को रहती है। और उस सबसे बचाकर वे अपने शिष्य को मोक्षमार्ग पर आगे ले जाते है। युगो युगो से पतित प्राणि के लिए यदि दिशाबोध और सहारा मिलता है तो वह गुरू के माध्यम से ही मिलता है। गुरू का हाथ और साथ जब तक नहीं मिलता तब तक कोई ऊपर नहीं उठ सकता।

जैसे वर्षा होने से कठोर भूमि भी द्रवीभूत हो जाती है उसी प्रकार गुरू की कृपा होने से भीतरी सारी की सारी कठोरता समाप्त हो जाती है और नम्रता आ जाती है। इतना ही नहीं बल्कि अपने शिष्य के भीतर जो भी कमियां है उनको भी निकालने में तत्पर रहने वाले गुरूदेव ही हैं। जैसे काटा निकालते समय दर्द होता है लेकिन कांटा निकल जाने पर दर्द गायब होता है। उसी प्रकार कमिया निकालते समय शिष्य को दर्द होता है लेकिन कमिया निकल जाने पर शांति मिल जाती है। विषाक्तता बढ़ नहीं पाती। गुरूदेव की कृपा से अनंतकालीन विषाक्तता निकलती चली जाती है। हम स्वस्थ हो जाते हैं। आत्मस्थ हो जाते हैं, यही गुरू की महिमा है।

मरूभूमि के समान जीवन को भी हरा-भरा बनाने का श्रेय गुरूदेव को है। आज आप लोगों के द्वारा गुरू की महिमा सुनते-सुनते मन भर आया है। कैसे कहूँ? अथाह सागर की थाह कौन पा सकता है। उनके ऋण को चुकाया नहीं जा सकता। इतना ही है हम उनके कदमों पर चले जाए; उनके सच्चे प्रतिनिधि बनें और उनकी निधि को देख-देख कर उनकी सन्निधि का अहसास करते रहें। यह अपूर्ण जीवन उनकी स्मृति से पूर्ण हो जाये।

धन्य है गुरू आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज; धन्य है आचार्य शांतिसागर जी महाराज और धन्य है पूर्वाचार्य कुंदकुद स्वामी आदि महान् आत्माए जिन्होने स्वयं दिगम्बरत्व को अगीकार करके अपने जीवन को धन्य बनाया और साथ ही करुणा-पूर्वक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। जीवो को जीवन-निर्माण में सहारा दिया।

गुरुदेव ने अपनी काया की जर्जर अवस्था मे भी हम जैसे नादान को, ना-समझ को, हम ज्यादा पढ़े-लिखे तो थे नहीं फिर भी मार्ग प्रशस्त किया। गुरू उसी को बोलते हैं जो कठोर को भी नम्र बना दे। लोहा काला होता है लेकिन पारसमणि के संयोग से स्वर्ण बनकर उज्ज्वल हो जाता है। गुरूदेव हमारे हृदय मे रहकर हमें हमेशा उज्ज्वल बनाते जायेंगे, यही उनका आशीर्वाद हमारे साथ है।

हम यही प्रार्थना भगवान से करते है, भावना भाते हैं कि– "हे भगवान उस पवित्र पारसमणि के समान गुरूदेव का सान्निध्य हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाये। कल्याणमय बनाये उसमें निखार लाये। अभी हम मझधार मे है, हमें पार लगाये"। अपने सुख को गौण करके अपने दुख की परवाह न करते हुये दूसरों के दुख को दूर करने में, दूसरों में सुख शान्ति की प्रस्थापना करने मे जिन्होने अपने जीवन को समर्पित कर दिया ऐसे महान् कर्त्तव्यनिष्ठ और ज्ञान-निष्ठ व्यक्तित्व के धारी गुरूदेव का योग हमे हमेशा मिलता रहे। हम मन, वचन, तन से उनके चरणों मे हमेशा नमन करते रहे। वे परोक्ष भले ही है लेकिन जो कुछ भी हैं यह सब उनका ही आशीर्वाद है।

"गुरूदेव! अभी हमारी यात्रा पूरी नही हुई। आप स्वय समय समय पर आकर हमारा यात्रा-पथ प्रशस्त करते रहे, अभी स्वयं मोक्ष जाने के लिए जल्दी न करें, हमें भी साथ लेकर जाये" – ऐसे भाव मन मे आते है। विश्वास है कि गुरूदेव हमेशा हमारा मार्गदर्शन करते रहेगे। उनका जो भाव रहा वह पूरा अपने जीवन में उतारने और उनकी भावना के अनुरूप आगे बढ़ने का प्रयास हम निरन्तर करते रहेगे।

स्वयं मुक्ति के मार्ग पर चलकर हमे भी मुक्तिमार्गी बनाने वाले महान् गुरूदेव के चरणों में बारम्बार नमस्कार करते है इस जीवन मे और आगे भी जीवन मे उन्हीं जैसी शात-समाधि, उन्हीं जैसी विशालता, उन्हीं जैसी कृतज्ञता उन्हीं जैसी सहकारिता भीतर आये और हम उनके बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए धन्यता का अनुभव करते रहें। इसी भावना के साथ–

अज्ञानतिमिराधानां, ज्ञानांजनशलाकया
चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

□□

☐ रक्षा-बंधन

भारत पर्वों, उत्सवों, त्यौहारों का देश है। यों तो जीवन का प्रत्येक दिवस एक पुनीत पर्व की तरह है तथापि किसी घटना विशेष के कारण कुछ दिवस पर्व के रूप में भी मनाए जाते हैं। दशलक्षण पर्व और आष्टाहिन्क पर्व के समान ही रक्षा-बंधन पर्व का भी महत्व है। रक्षा-बंधन अद्भुत पर्व है। बंधन का दिन होने पर भी आज का दिन पर्व माना जा रहा है। सहज ही मन में जिज्ञासा होती है कि पर्व या उत्सव में तो मुक्ति होती है स्वतत्रता होती है आज का दिन बधन का दिन होकर भी क्यों इतना पवित्र माना गया है।

बात यह है कि आज का दिन सामान्य बधन का दिन नहीं है प्रेम के बधन का दिन है। यह बधन वात्सल्य का प्रतीक है। रक्षा बधन अर्थात् रक्षा के लिए बधन, जो आजीवन चलता है बड़े उत्साह के साथ। यह बंधन होकर भी मुक्ति मे सहायक है। क्योकि यह प्राणी मात्र की रक्षा के लिए सकल्पित करने वाला बधन है।

सभी जीवों पर संकट आते हैं और सभी अपनी शक्ति अनुसार उनका निवारण करते है पर फिर भी मनुष्य एक ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने और दूसरो के संकटो को आसानी से दूर करने में समर्थ है। मनुष्य चाहे तो अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। जीव रक्षा उसका कर्त्तव्य है उसका धर्म भी है।

आज के दिन की महत्ता इसीलिए भी है कि एक महान् आत्मा ने रक्षा का महान् कार्य सम्पन्न करके संसार के सामने रक्षा का वास्तविक स्वरूप रखा कि जीवों की रक्षा अहिंसा की रक्षा और धर्म की रक्षा ही श्रेष्ठ है। किन्तु आज यह रक्षा उपेक्षित है। हम चाहते है सुरक्षा मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थ पूर्ण सकीर्णता ही सब अनर्थो की जड़ बन गई है। मै दूसरो के लिए क्यों चिता करूँ, मुझे बस मेरे जीवन की चिता है। मै और मेरा आज का सारा व्यवहार यही तक सीमित हो गया है।

रक्षकपना लुप्त हो गया है और भक्षकपना बढ़ रहा है। रक्षाबंधन आदि पर्वों के

वास्तविक रहस्य को बिना समझे बूझे प्रतिवर्ष औपचारिकता के लिए इन्हें मनाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। यह ठीक नहीं है। स्वय की परवाह न करते हुए अन्य की रक्षा करना यह है इस पर्व का वास्तविक रहस्य। विष्णुकुमार मुनिराज ने क्या किया? बंधन को अपनाया, अपने पद को छोड़कर मुनियों की रक्षार्थ गये। क्यो? वात्सल्य के वर्श भूत होकर धर्म की प्रभावना हेतु, यह है सच्चा रक्षा-बधन। रक्षा हेतु जहाँ बधन को अपना लिया गया। लेकिन आज हमारा लक्ष्य ऐसा नहीं रह गया है।

बाहर से मधुर और भीतर से कटु ऐसा रक्षा बंधन नहीं होना चाहिये। हमारे द्वारा सपादित कार्य बाहर और भीतर से एक समान होने चाहिये। रक्षा बधन को सच्चे अर्थो मे मनाना है तो अपने भीतर करुणा को जाग्रत करे, अनुकम्पा, दया और वात्सल्य का आवलम्बन लेकर अषाढ़ और सावन के जल भरे बादलो की तरह करुणा भी जीवनदायिनी होती है। जो बादल मात्र गरजते है और बरसते नहीं है उनका कोई आदर नहीं करता। हमें भी जल भरे बादल बनना है रीते बादल नही। आज इस पर्व के दिन हम मे जो करुणा भाव है वह तन मन धन सभी प्रकार से अभिव्यक्त हो। इतना ही नहीं सदैव वह हमारा स्वभाव बन जाए ऐसा प्रयास करना चाहिये।

'मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवो से नित्य रहे' प्रतिदिन यह पाठ उच्चारित करते है पर इस मेरी भावना को व्यवहार में नहीं लाते। व्यवहार मे लाने वाले महान् बन जाते है। गांधीजी की महानता का यही कारण रहा कि वे करुणावान थे। एक बार की घटना है गांधी जी सर्दी मे अपने कमरे मे रजाई ओढ़े अगीठी ताप रहे थे। थोड़ी रात होने पर उन्हे कही से बच्चो के रोने आवाज सुनाई पड़ी। बाहर आने पर उन्होने कुत्तो के बच्चों को सर्दी के मारे रोते देखा। तब उनका हदय भी रो पड़ा वे उन बच्चो को उठाकर अपने कमरे मे ले आये और उन्हे रजाई ओढ़ा दी। यह थी गांधीजी की करुणा।

सभी के प्रति मैत्री भाव हो इसका नाम है रक्षा-बधन। रक्षा-बंधन पर्व सिर्फ एक दिन के लिए ही नहीं है। हमारे वात्सल्य, करुणा और रक्षा के भाव जीवन भर बने रहें इन शुभ संकल्पों को दोहराने का यह स्मृति दिवस है। अतः इस पुनीत पर्व पर हमारा कर्त्तव्य है कि हम आत्मस्वरूप का विचार करते हुए जीव मात्र के प्रति करुणा और मैत्री भाव धारण करे। तभी यह पर्व मनाना सार्थक होगा।

□□

☐ दर्शन-प्रदर्शन

यदि हमें महावीर भगवान बनना है तो पल-पल उनका चिन्तन करना अपेक्षित है। यह महावीर जयन्ती का आयोजन भले ही चौबीस घंटे के लिए हो, यदि यह महावीर बनने के लिए है तो सार्थक है। ऐसे ही यदि आप वर्ष का प्रत्येक दिन महावीर भगवान के लिए समर्पित कर दे तो फिर महावीर बनने में देर नहीं लगेगी। अर्थ यह हुआ कि जितना जितना समय आप भगवान के लिए उनके गुण स्मरण के लिए निकालेगे उतना ही उनकी ओर बढ़ सकेंगे। मात्र उनका जय-जयकार ही पर्याप्त नहीं है।

भगवान महावीर के दर्शन में प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं है। कारण यही है कि दर्शन अपने लिए है अपनी आत्मा की उन्नति के लिए है आत्मा की अनुभूति के लिए है। दर्शन का अर्थ है देखना लेकिन प्रदर्शन मे तो मात्र दिखाना ही है। देखना 'स्व' का होता है और दिखाने में कोई दूसरा होता है। आज तक संसारी प्राणी की सभी क्रियाएँ देखने के लिए न होकर दिखाने के लिए होती आयी है। प्रत्येक व्यक्ति इसी में धर्म मान रहा है। वह सोचता है कि मै दूसरे को समझा दूँ। यह प्रक्रिया अनादि काल से क्रमबद्ध तरीके से चली आ रही है। यदि ऐसी क्रमबद्धता दर्शन के विषय में होती तो उद्धार हो जाता।

व्यक्ति जब दार्शनिक बन जाता है तो वह हजारों दार्शनिकों की उत्पत्ति में निमित्त कारण बन जाता है और जब एक व्यक्ति प्रदर्शक बन जाता है तो सब ओर प्रदर्शन प्रारम्भ हो जाता है। प्रदर्शन की प्रक्रिया बहुत आसान है। देखा-देखी जल्दी होने लगती है उसमे कोई विशेष आयाम की आवश्यकता नहीं है। प्रदर्शन के लिए शारीरिक, शाब्दिक या बौद्धिक प्रयास पर्याप्त है लेकिन दर्शन के लिए एकमात्र आत्मा की ओर आना पर्याप्त है। दर्शन तो विशुद्ध अध्यात्म की बात है।

महावीर भगवान ने कितनी साधना की, वर्षों तप किया लेकिन दिखावा नहीं किया ढ़िढ़ोरा नहीं पीटा। जो कुछ किया अपने आत्म-दर्शन के लिए किया। सब कुछ पा लेने के बाद भी यह नहीं कहा कि मुझे बहुत कुछ मिला। प्रदर्शन करने से दर्शन का मूल्य कम हो जाता है। उसका सही मूल्यांकन तो यही है कि दर्शन को दर्शन ही रहने दिया

जाये। जब प्रदर्शन के साथ दिग्दर्शन भी होने लगता है तो उसका मूल्य और भी कम हो जाता है। प्रदर्शन का मूल्य भी हो सकता है लेकिन उसके साथ दर्शन भी हो। जिसने स्वयं नहीं किया वह दूसरे को क्या करवा सकेगा।

आज खान-पान, रहन-सहन आदि सभी में प्रदर्शन बढ़ता जा रहा है। आपका शृंगार भी दूसरे पर आधारित है। दूसरा देखने वाला न हो तो शृंगार व्यर्थ मालूम पड़ता है। दर्पण देखते है तो दृष्टिकोण यही रहता है कि दूसरे की दृष्टि मे अच्छा दिखाई पड़ सके। इस तरह आपका जीवन अपने लिए नहीं दूसरे को दिखाने के लिए होता जा रहा है। सोचिये, अपने लिए आपका क्या है? आपकी कौन-सी क्रिया अपने लिए होती है? सारी दुनिया प्रदर्शन मे बहती चली जा रही है। जीवन में आकुलता का यह भी एक कारण है।

महावीर भगवान का दर्शन तो निराकुलता का दर्शन है। वह अनुभूतिमूलक है। प्रदर्शन मे आकुलता है वहाँ अनुभूति नहीं, कोरा ज्ञान है। महावीर भगवान, उस ज्ञान को महत्त्वपूर्ण मानते है जो अनुभूत हो चुका है। पराया ज्ञान कार्यकारी नही है अपना अनुभूत ज्ञान ही कार्यकारी है। हमारे लिए जो ज्ञान, कर्म के क्षयोपशम से मिला है, वही ज्ञान सब कुछ है। भगवान का केवलज्ञान निमित्त बन सकता है लेकिन उस ज्ञान के साथ हमारे अनुभव का पुट नहीं है। उनका अनन्त ज्ञान क्षायिक ज्ञान है और हमारा क्षयोपशम ज्ञान है जो सीमित है। अनन्त ज्ञान हमारे लिए पूज्य है हम उसे नमस्कार कर देते है कि 'वन्दे तद्गुण लब्धये' – आपके गुणों की प्राप्ति के लिए आपको प्रणाम करते है। गुणो की प्राप्ति स्वय की अनुभूति से ही होगी।

स्वरूप का भान नहीं होने के कारण ऐसा हो रहा है कि अपने पास जो निधि है उसका दर्शन उस का अनुभवन भी हम नहीं कर पाते। सारा जीवन दूसरे के देखने-दिखाने मे व्यतीत हो जाता है और अधूरा रह जाता है। जो व्यक्ति अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है वह दूसरे पर आधारित नहीं रहेगा, दूसरे का आलम्बन तो लेगा लेकिन लक्ष्य स्वावलम्बन का रखेगा। आज तक हमारा जीवन हमारा ज्ञान अधूरा इसलिए रहा क्योंकि दूसरे के दर्शन करने और दूसरे के माध्यम से ही सुख पाने का हमारा लक्ष्य रहा। अभी भी कोई बात नहीं है जो होना था वह तो हो गया लेकिन आगे के लिए कम से कम उस ओर न जाये।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने कहा और अनुभव भी किया कि आत्मा वीतरागी है। हम रटने लगे कि आत्मा वीतरागी है। राग का अनुभव करते हुए मात्र आत्मा को वीतरागी कहने से काम नहीं चलेगा। हमारा यह ज्ञान ठोस नहीं माना जायेगा। यह उधार खाते का ज्ञान है। इसे अपनी अनुभूति बनाना होगा। वीतरागता को जीवन में अंगीकार करना

होगा। वीतरागता प्रदर्शन की चीज नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं कि मैं जो कह रहा हूँ उसे शत प्रतिशत ठीक तभी मानना जब अपने अनुभव से तुलना कर लो क्योंकि मैं जो कह रहा हूँ वह अपने अनुभव की बात कह रहा हूँ।

रत्नाकर कवि दक्षिण भारत के कवियों में मुकुट-कवि माने जाते हैं। भरतेश वैभव उनका श्रेष्ठ महाकाव्य माना गया है। उनका कहना है कि जो व्यक्ति दूसरे के माध्यम से जीवन व्यतीत कर रहा है वह तभी तक प्रशंसा कर सकता है जब तक उसे स्वयं अनुभव नहीं हुआ। अनुभव होने के उपरान्त वह जो वास्तविकता है उसे ही कहेगा। लेकिन आज तो जो व्यक्ति अपनी ओर जाता ही नहीं, देखता ही नहीं, अनुभव भी नहीं करता वह व्यक्ति भी अपने आत्मा का प्रदर्शन करने में लगा है। एक उदाहरण दिया है उन्होंने। एक कौआ था। वह पके हुए अंगूर खा रहा था। इतने में एक सियार वहाँ आया। उसने पूछा कि तुम क्या खा रहे हो। कौए ने कहा कि क्या कहूँ– बड़ा स्वाद आ रहा है। तुम भी यहाँ ऊपर आ जाओ तो मजा आ जायेगा। अगूर ऐसे पके कि बस कहने की फुरसत ही नहीं है। नीचे गिराऊँगा तो ठीक नहीं है। नीचे धूल है ऊपर ही आ जाओ।

सियार ने अगूर की प्रशंसा सुन ली, उसे खाने की इच्छा भी हो गयी। लेकिन वह ऊपर कैसे जाता। उसने तीन चार बार छलाँग भी लगा ली जब चौथी बार भी असफलता हाथ आयी तब उसने कह दिया कि अंगूर खट्टे हैं। यही हाल हमारा है। अनुभूति नहीं है मात्र कहा जा रहा है। प्रदर्शन हो रहा है। सैकड़ो उदाहरण प्रदर्शन के है। सभा मे फोटो खींचो गयी हो और उसमें अपना फोटो नहीं हो तो उस सारी फोटोग्राफी का कोई मूल्य नहीं है। एक व्यक्ति कमीज का कालर इधर-उधर कर रहे थे। हमने सोचा कोई कीड़ा वगैरह चला गया होगा। पर वहाँ कीड़ा नहीं था, वे गले मे पहनी हुए चेन दिखाना चाह रहे थे। चेन दिखाये बिना चैन नहीं आ रहा था। चेन के माध्यम से जो सुख चैन ढूढ़ रहा है वह पराश्रित है। उसे कभी सुख नहीं मिल सकता।

सुख की अनुभूति अपने ऊपर निर्धारित है। दूसरा कोई हमे सुख नहीं दे सकता। अनन्त चतुष्टय को धारण करने वाले भगवान भी हमे अपना सुख नहीं दे सकते। स्व पर का भेद-विज्ञान यही है। सम्यग्दृष्टि कम है। मिथ्यादृष्टि की संख्या अनन्त है। कोई कुछ भी कहे, हम अपने संसार के अभाव का प्रयत्न करें। सारे ससार की चिन्ता न करे। दिग्दर्शन वही कर सकता है जो स्वयं का दर्शन करता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है कि 'चुक्केज्ज छल ण घेत्तव्वं' – समयसार का दिग्दर्शन मैं आप लोगों को करवा रहा हूँ यदि चूक जाऊँ जो छल ग्रहण मत करना। अपनी अनुभूति से उसका मिलान कर लेना। पंचास्तिकाय भी उनका ही प्राकृत ग्रन्थ है। जयसेनाचार्य ने उसकी टीका मे

उल्लेख किया है कि श्रुत का पार नहीं है, काल बहुत अल्प है और हम दुर्मति वाले हैं अल्पज्ञ है इसलिए वही उतना ही सीख लेना चाहिये जिसके माध्यम से हमारा जन्म-मरण का जो रोग है वह दूर किया जा सके।

यही भाव कुन्दकुन्द स्वामी ने नियमसार के अन्त मे भी दिया है 'नाना कम्मा, नाना जीवा' – कि नाना जीव है नाना प्रकार के कर्म है बहुत प्रकार की उपलब्धियाँ है अनेक प्रकार के चिन्तन है अनेकमत हैं इसलिए व्यर्थ वचन-विवाद मे नहीं पड़ना चाहिये। अनुभूति और दर्शन को महत्त्व देना चाहिये। प्रदर्शन ठीक नहीं है। आचार्यो ने आत्म-कल्याण के ऐसे-ऐसे उदाहरण दिये है कि मैं कह नहीं सकता। उनकी उदारता का वर्णन वचनों में संभव नहीं है।

चुनाव करने वाले आप है प्रदर्शन आपको बहुत अच्छा लग रहा है किन्तु ध्यान रखिये कि सारा प्रदर्शनमय जीवन निरर्थक है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतत्र है आप जैसा जीना चाहें जी सकते हैं चूकि आत्मोन्नति और आत्मोपलब्धि दर्शन से ही सभव है। इसलिए अपने जीवन को स्वयं संभालने का प्रयास करिये।

□□

☐ व्यामोह की पराकाष्ठा

रात हो गयी। वर्षाकालीन मेघ-घटाएं आसमान में छाई हैं। बीच-बीच में बिजली भी चमक जाती है। मेघगर्जना के साथ मूसलाधार वर्षा होने लगी। किसने अनुमान किया था, किसने जाना था कि यह आने वाला कल, इस प्रकार खतरनाक सिद्ध हो सकता है। दुर्भाग्य का उदय था। वर्षा की रफ्तार तेज होती जा रही थी। जो नदी बहाव बढ़ने से तटों का उल्लघन कर गयी वह नदी कहाँ तक बढ़ेगी, पानी कहाँ तक फैलेगा कहा नहीं जा सकता। चारों ओर सुरक्षा की वार्ता पहुँचा दी गयी, लोग अपनी अपनी सुरक्षा मे लग गये। किंतु एक परिवार इस पानी की चपेट मे आ गया। समाचार मिलने के उपरांत भी वह सचेत नहीं हुआ।

जो बाँध बाँधा था वह नदी के प्रवाह में टूट गया। बाँध टूटते ही नदी का जल बेकाबू हो गया। बधा हुआ जल फैलने लगा मकान डूबने लगे। कुछ लोग जो सूचना मिलते ही घर छोड़कर चले गये थे, वे पार हो गये जिसने समाचार सुनकर भी अनसुना कर दिया था वह चिंतित हो गया। वह पत्नी से कहता है कि अब हम इस स्थान को छोड़कर कहीं अन्यत्र चलें तो ठीक रहेगा क्योंकि पानी ज्यादा बढ़ रहा है। पत्नी कहती है कि ठीक है मैं बच्चों को लेकर जाती हूँ आप भी शीघ्रता करिये।

पत्नी बड़े साहस के साथ दोनों बच्चों को साथ लेकर पार हो जाती है और वह व्यक्ति सोचता है कि क्या करूँ? क्या-क्या सामान बाध लूँ। कहाँ-कहाँ क्या-क्या रखा है वह उसे खोजने में लग जाता है और पानी की मात्रा बढ़ती जाती है। वह सोचता है कि यह सब सामान छोड़कर भाग जाऊँ तो इसके बिना रहूँगा कैसे? इसलिए इसे लेकर ही जाऊँगा। वह जान रहा है देख रहा है कि पानी बढ़ रहा है अंधेरा बढ़ रहा है। वह जानता हुआ भी अंधा बना हुआ है।

'जान बूझ कर अंध बने हैं आंखन बांधी पाटी। जिया जग धोखे की है टाटि। संसारी प्राणी की यही दशा है। काल के गाल में जाकर भी सुरक्षा का प्रबंध करना चाहता है। सिंह सामने खड़ा है और वह सोचता है कि सामान की सुरक्षा कर लूँ। धरती खिसक

रही है और वह विषय सामग्री के संचय में लगा है। वह व्यक्ति धन सामग्री लेकर जैसे ही आगे बढ़ता है नदी के प्रवाह मे बहने लगता है। जो कुछ सामान साथ में लिये था वह भी बहने लगता था। देखते-देखते नदी के प्रवाह में उसका मरण हो जाता है। लेकिन मरणोपरांत भी उसके हाथ मे पोटली नहीं छूटती जिसमें उसने सामान एकत्रित किया था। दूसरे दिन शव के साथ पोटली भी मिलती है। तो लोग दंग रह जाते है। यह तीव्र मोह का परिणाम है।

मोह को जीतना मानवता का एक दिव्य-अनुष्ठान है। इसके सामने महान योद्धा भी अपना सिर टेक देते हैं। विश्व का कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो मोह की चपेट में न आया हो, लेकिन इसके रहस्य को जानकर इस मोह की शक्ति को पहिचानकर, इस मोह की माया को जानकर, जो व्यक्ति इसके ऊपर प्रहार करता है वही इस संसार रूपी बाढ़ से पार हो जाता है। यह सन् १९५७ की घटना थी। महाराष्ट्र मे पूना के पास एक बांध था वह ध्वस्त हो गया था। यह आश्चर्यजनक घटना उस समय अखबारों में पढ़ने में आयी थी। पत्नी और बच्चे सुरक्षित निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच गये लेकिन मोह के कारण वह व्यक्ति बह गया। मोह का प्रभाव जड़ के ऊपर नहीं चेतन के ऊपर पड़ता है। जीवन के केंद्र पर चोट करता है मोह। आदमी मोह की चपेट मे आकर छोटी-छोटी बातों से प्रभावित हो जाता है और अपने आपको भूल जाता है।

प्रत्येक प्राणी जानता है कि मोह हमारा बहुत बड़ा शत्रु है लेकिन मोह से प्रभावित हुए बिना नही रह पाता। वह दूसरे को उपदेश दे देता है लेकिन खुद सचेत नही होता यही तो खूबी है मोह की। उस घटना को पढ़कर लगा कि बढ़िया तो यही है कि बाढ़ आने से पूर्व ही वहाँ से दूर चले जायें। क्योंकि जब बाढ़ आयेगी तो प्रवाह इतना तीव्र रहेगा कि इसमें हम बच नही सकेंगे। जानते हुए भी वहीं रहे आना इसे आप क्या कहेंगे। यह मोह से प्रभावित होना है, यह स्वयं की असावधानी भी है। जानबूझ कर अंध बने है, वाली बात है।

जो व्यक्ति मोह के बारे मे जानते हुए भी, उससे बचने का प्रयास नहीं करता वह संसार सागर मे डूबता है। वह व्यक्ति पार हो जाता है जो पार होने का संकल्प और विश्वास अपने अंदर रखता है और निरंतर मोह से बचने के लिए प्रयास करता है। वास्तव मे, जिसने जो जोड़ा है उसे वह छोड़ना बहुत कठिन होता है। पर पदार्थो की ओर से आंख मींच लेना आसान नहीं है। जबर्दस्ती कोई आंख मींच ले ये अलग बात है। आप खेल खेल मे भी आंख मींच सकते है यह भी आसान है लेकिन तब भी काम नहीं बनेगा। पर पदार्थो से दृष्टि हटाकर आत्मा की ओर ले जाना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

मोह के ऊपर प्रहार करना उसे जीतना, इसी का नाम है धर्म। कहीं भी किसी भी जगह आप चले जायें धर्म एक है और एक ही रहेगा। जो तैरना जानता है उसे तैरना आवश्यक होता है जो तैरना नहीं जानता उसे सीखना आवश्यक होता है। तैरना जानते हुए भी, पार करना जानते हुए भी वह व्यक्ति पार नहीं हो पाया। एक पत्नी थी, दो बच्चे थे मकान था और वह संग्रहीत द्रव्य था; यही उसका जीवन था संसार था। उसने पत्नी को, छोड़ दिया, बच्चों को भी छोड़ दिया, पर धन को नही छोड़ सका। अकेला होता तो धन की भी कोई जरूरत नही थी किंतु मन में तो परिवार का ख्याल था इसलिए धन की आवश्यकता हो गई और मोह का जाल बिछता गया, वह स्वयं ही बिछाता गया और ऐसा बिछाता गया कि पैर रखते ही उसमें फँसता चला गया। यह है व्यामोह की पराकाष्ठा। जहाँ अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।

इससे बचने के लिए जागृति परम आवश्यक है। जागृति के अभाव में मोह की चपेट में आ जाने से हमारा आचार विचार, हमारा दैनिक कार्यक्रम सारा का सारा पराधीन हो जाता है स्वतन्त्रता का एक अंश भी हमारे जीवन में नहीं आ पाता। जैसे मरण से पहले जागृति के साथ यदि मरण को पहचानने की कोशिश की जाए तो जन्म मरण से मुक्त हुआ जा सकता है ऐसे ही मोह को समझने; मोह के परिणामो को पहचानने का प्रयास यदि कोई जागृत होकर करता है तो मोह से बच सकता है।

एक बार एक सेठ बीमार पड़ा। बीमार पड़ते ही फोन करके डॉक्टर को बुलाया गया। उसने आकर सेठ को देखा और मन मे विचार आया कि बड़े सेठ है सम्पत्ति की कोई कमी नहीं, जो पैसा मुझे अन्य लोगों से मिलना है उससे अधिक यहाँ मिल सकता है। विचार आते ही डॉक्टर साहब बोले कि 'सेठ जी जो रोग आपको हुआ है वह असाध्य रोग है और इलाज भी क्या करें मेरी समझ मे नहीं आता। रोग पर काबू पाना असभव सा लगता है' सुन रहे है आप। वह डॉक्टर सब कुछ जानता है कि कौन सा रोग है और कितनी मात्रा मे बढ़ा है लेकिन भीतर बैठा हुआ मोह यह सब कहलवा रहा है।

डॉक्टर की बात सुनकर सेठजी के लड़के ने कहा कि डॉक्टर साहब। आप निश्चित रहिए और जो इलाज सम्भव हो वह करिए। आप जितना चाहेंगे आपको मिलेगा। और रुपये का बंडल डाक्टर को दिखा दिया। पर डाक्टर का मोह और बढ़ गया। उसने कहा कि भारत मे इस प्रकार की दवाई मिलना सभव नहीं है विदेश से मंगानी पड़ेगी। उसके लिए अधिक खर्च होगा। सेठ के लड़के ने अबकी बार सौ-सौ का एक बंडल और दिखा दिया। यह सब देखकर डाक्टर सोचने लगा कि देखें कहाँ तक रुपया बढ़ाता है।

संभव है थोड़ा और कह तो पचास-साठ हजार तक बात पहुँच जाए। और डॉक्टर ने आपरेशन की सलाह दे दी।

आपरेशन की बात से सभी चिंतित हो गये। सेठ के लड़के ने फौरन एक लाख रुपया डॉक्टर के सामने रख दिया और कहा कि आप आपरेशन करिये। पिताजी को किसी तरह बचा लीजिए। अब देखिए। यहाँ क्या होता है। एक लाख का नाम सुनते ही उस डॉक्टर को हार्ट अटैक हो गया। अब सोचिये यह कैसा ज्ञान है जो जीवन के लिए घातक सिद्ध हो गया जड़ पदार्थ के द्वारा चेतन का विनाश हो गया, यह सब मोह का प्रभाव है 'मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादी' मोह रूपी मदिरा का नशा संसार के प्रत्येक प्राणी को चढ़ा है फिर चाहे वह इंजीनियर हो, चाहे डॉक्टर हो चाहे और कोई हो।

जिसने इस मोह के रहस्य को पहचाना है उसने अपने जीवन को उज्ज्वल बनाया है। उससे बढ़ कर महान् व्यक्ति इस संसार में दूसरा नहीं है। दुखों की जड़ है मोह-मैं और मेरेपन का भाव। देखना और जानना आत्मा का स्वभाव है किंतु मोह के वशीभूत होकर संसारी प्राणी शरीर और पर पदार्थों को भी अपना ही समझता है। आप कुछ भी करते है, तो क्या कहते है। यही कि मैं बोल रहा हूँ, मैं बैठ रहा हूँ, मैं सो रहा हूँ। बताइये कौन सी क्रिया के साथ आप अपने आपको पृथक जानते हुए क्रिया करते है। सारी क्रियाएँ मैं ही कर रहा हूँ, सभी को यही अनुभव में आता है। कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह कहे कि मैं खिला रहा हूँ, मैं सुला रहा हूँ। बिरले ही लोग है जो शरीर से स्वयं को पृथक् अस्तित्व का अनुभव बढ़ता जाएगा इतना-इतना मोह के ऊपर प्रहार होता चला जायेगा। मोह को यदि क्षीण करना चाहते हो तो आत्म तत्त्व को पृथक् जान लो।

मरण के उपरान्त सब कुछ यहीं पर रखा रह जायेगा, मात्र आत्मा ही साथ जायेगा। ध्यानपूर्वक इस बात को देखो तो सही कि ऐसा कौन सा गठबंधन है जिससे दो पदार्थों में शरीर और आत्मा में एकता का अनुभव होता है। (शरीर को पड़ौसी समझना बड़ा कठिन काम है। जो सजग होकर वर्तमान का अनुभव करने का प्रयास करते हैं, वे शीघ्र ही समझ जाते हैं कि यह जो कुछ भी जुड़ाव है वह मोह का परिणाम है। शरीर को पृथक् जानकर उसके प्रति मोह ममता घटना चाहिये और चेतन के प्रति मोह-ममता निरन्तर बढ़ती जाना चाहिये। यही वास्तविक ज्ञान है। वीतराग-विज्ञान है।

आज के भौतिक-विज्ञान की किसी भी पोथी में यह नहीं लिखा कि देह का अस्तित्व पृथक् है और आत्मा का अस्तित्व पृथक् है। इस प्रकार का भेद-विज्ञान धर्म-ग्रन्थों की

देन है। जो बताता है कि किस प्रकार शरीरसे पृथक् आत्म-तत्व की अनुभूति करना संभव है। लेकिन आज तो जितना-जितना भौतिकता का ज्ञान बढ़ता जा रहा है उतना-उतना शरीर के साथ सबध और जुड़ता जा रहा है। पहले के लोग मोह को उत्पन्न करने वाले पदार्थों के साथ संबंध कम रखते थे, लेकिन आज का युग विकास के नाम पर मोह का विकास कर रहा है और आत्म-ज्ञान से वंचित होता जा रहा है।

दो दोस्त बहुत दिनों के बाद कहीं से आकर मिलते है तो चर्चा वार्ता होती है। परस्पर कह देते है कि अच्छा-अच्छा मैंने आपको पहिचान लिया लेकिन यथार्थ में दोनों ने अपने आपको नहीं पहचाना। मात्र पर का परिचय बढ़ रहा है लेन-देन की बातें आवागमन की बातें, और अर्थ के विकास की बातें ये सब मोह की पुष्टि के लिए हैं। अर्थ का विकास मोह का विकास ही है। आज मोह को क्षीण करने के लिए कोई रसायन तैयार नहीं किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में शान्ति प्राप्त करना कैसे संभव है? जिस त्याग तपस्या के रसायन से शरीर और आत्मा को पृथक् किया जाता है उससे यदि आप दूर रहोगे तो शान्ति नहीं मिलेगी।

एक व्यक्ति यात्रा के लिए निकला। उसे पहाड़ के ऊपर चढ़ना था। उसने अपने पैर में अच्छे जूते पहनकर चलना प्रारम्भ कर दिया। एकाध मील चला होगा कि उसे एक थैला पड़ा मिल गया। थोड़ा भारी था पर देखने मे अच्छा था उसने उठा लिया और इस तरह कंधे पर रख लिया कि जैसे थैले में स्वर्ण आदि श्रेष्ठ वस्तुएं रखी तो। जैसे-जैसे चढ़ता गया, वस वैसे उसे दिक्कत होने लगी। बोझ अधिक है ऐसा सोचकर उसने अपनी जो दूसरी थैली थी उसे रास्ते मे ही छोड़ दिया, थोड़ी देर में जूते भी उतार कर अलग कर दिये और आगे बढ़ते-बढ़ते जब बहुत थक गया तो सोचा थोड़ा विश्राम कर लूँ और देखूं तो थैले में क्या है? ज्यों ही उसने उस थैले को खोला तो उसमें और कुछ नहीं था एक मात्र पाषाण का टुकड़ा था। चटनी वगैरह बाटने का पत्थर था।

यही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है। जो वास्तव मे अपना है आत्म तत्त्व है उसे छोड़कर बाह्य पर पदार्थों को आप उठाकर आगे बढ़ रहे है और व्यर्थ बोझ सह रहे है। हम दुनियादारी की वस्तुओ को अपने ऊपर लादते चले जायें और चाहें कि मोक्ष मिल जाए मोक्ष का पथ मिल जाय तो नहीं है ऐसा कोई पथ नहीं है और कोई उपदेश नहीं है जो आपका भार उतार दे। आप संसार का संग्रह करते जाये और मोक्षमार्ग मिल जाये यह कैसे संभव होगा। मोह को समाप्त करना ही मोक्षमार्ग है।

मोक्षमार्ग पर चलने के लिए हल्का होना अनिवार्य है। आप यदि तूम्बी पर मिट्टी का लेप कर दें तो वह तैरना भूल जायेगी और पानी के अंदर तल में चली जायेगी लेकिन ज्यो ही मिट्टी का लेप हट जाएगा त्यों ही वह पानी के ऊपरी भाग पर आकर तैरने लगेगी। यही स्थिति आत्मा की है। आत्मा संसार के महासमुद्र मे डूब रही है और इसका एकमात्र कारण है मोह का बोझ। यदि यह छूट जाये तो हम नियम से ऊपर

आ जायेंगे। हमारी यात्रा निर्बाध होगी। यदि आप ऊपर उठना चाहते हो, पीड़ा से छुटकारा पाना चाहते हो तो अपने आप पर स्वयं दया करके मोह को छोड़ने का प्रयास करो।

जहर दो तरह का होता है एक मीठा जहर और एक कड़वा जहर। कड़वा जहर हो तो कोई भी पीते ही थूक देगा लेकिन मीठा जहर ऐसा है कि पीते ही चले जाना आनंद दायक लगता है। जब जीवन समाप्त होने लगता है तब मालूम पड़ता है कि यह तो जहर था। मोह ऐसा ही मीठा जहर है। जिसे संसारी प्राणी थूकना नहीं चाहता। इसकी मिठास इतनी है कि मृत्यु होने तक यह नहीं छूटता और दूसरे जीवन में भी प्रारम्भ हो जाता है। भव-भव में रुलाने वाले इस मोह के प्रति सचेत हो जाना चाहिये। तभी मुक्ति की ओर जाने का रास्ता प्रारम्भ होगा तभी अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति होगी। अपने-पराये को जानकर पराये के प्रति मोह छोड़ना ही हितकर है।

शरीर अपना नहीं है, अपना तो आत्मतत्त्व है यदि यह ज्ञान हो जाये तो भी कार्य आसान हो जायेगा 'स्व' को जानने की कला के माध्यम से 'पर' के प्रति उदासीनता आना संभव है। एक महिला थी और उसके छह बच्चे थे। उनका आग्रह था कि माँ हमें मेला दिखाओ। उस महिला ने सोचा कि चलो बच्चो का आग्रह है तो दिखा लाते हैं किंतु अभी बहुत छोटे हैं इसलिए इन्हें प्रशिक्षण देना आवश्यक है और वह उन्हें प्रशिक्षित कर देती है कि देखो, एक दूसरे का हाथ पकड़े रहना, मेले मे भीड़ रहती है कहीं गुम न हो जाना अन्यथा हम नहीं ले जायेंगे।

सभी ने कह दिया कि हम आप जैसा कहोगी वैसा ही करेंगे, पर हमें मेला दिखा दो। वह महिला सब बच्चों के साथ मेला में जा पहुँची। सारा झूला झुलवाया, खिलौने खरीदे, मिठाई खरीदी, सारा मेला घुमा दिया, बच्चों को बहुत आनंद आया। शाम हो गई तो उसने सोचा अब घर लौटना चाहिये। उसने बच्चों को देखा कि कही कोई गुम तो नहीं गया। गिनकर देखा तो छह के स्थान पर पाच ही थे। दुबारा गिना तो भी पांच थे। अब वह महिला घबरा गयी। इतना बड़ा मेला और हमारा छोटा सा लड़का, कहाँ खोजें समझ में नहीं आता वह रोने लगी। तभी एक सहेली मिल गयी और उसने पूछा कि क्यों बहिन क्या हो गया? तब वह महिला कहती है कि क्या बताऊँ, छह बच्चे लायी थी पांच ही बचे है एक बच्चा भीड़ में खो गया। तब वह सहेली गिनकर देखती है तो सारी बात समझ जाती है और पांच बच्चों को गिनने के बाद, उस महिला की गोद में सोये हुए बच्चे को थपथपाकर कहती है कि यह रहा छठवाँ लड़का।

यही स्थिति सभी की है। जो अत्यंत निकट है अपना आत्म-तत्त्व, उसे ही सब भूले हुए हैं। बाह्य भोग्य सामग्री की ओर दृष्टिपात कर रहे हैं उसे ही गिन रहे हैं कि हमारे पास इतनी कारें हैं, इतनी सम्पदा है। सुबह से शाम तक जो भी क्रियाएँ हो रही है यदि हम जान लें कि सारी की सारी शरीर के द्वारा हो रही हैं और मैं केवल करने का भाव कर रहा हूँ, मैं पृथक् हूँ तो पर के प्रति उदासीनता आने में देर नहीं लगेगी। कठपुतली

के खेल के समान सारा खेल समझ में आ जायेगा। शरीर के साथ जब तक आत्मा की डोर बंधी है तब तक संसार का खेल चलता रहेगा और जैसे ही यह डोर टूट गयी तो कठपुतली के समान नाचने वाला शरीर एक दिन भी नहीं टिकेगा।

जो ज्ञानी हैं मुमुक्षु हैं आत्मार्थी हैं वे इस रहस्य को जान लेते हैं। जो आस्तिक्य गुण से सम्पन्न हैं वे इस रहस्य को जान सकते हैं। आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करके ही उस आत्मतत्त्व को पाया जा सकता है। शरीर को पर मानना इतना ही पर्याप्त नहीं है उसके साथ-साथ शरीर से मोह भाव को कम करना भी अनिवार्य है। पर वस्तु के प्रति मोह भाव होने के कारण ही हम उसे अपना लेते हैं लेकिन जिस दिन मालूम पड़ जाता है कि यह तो पर है तब हँसी आती है कि आज तक हम किसके पीछे पड़े थे।

बंधुओ ! शरीर की गिनती तो कई बार हो चुकी, जो पर पदार्थ है उनकी गिनती भी कई बार हो चुकी लेकिन अपनी गिनती अभी करना बाकी है। मैं कौन हूँ- आज के वैज्ञानिक युग में इसकी खोज भी आवश्यक है। सांसारिक क्षेत्र में पदार्थों को जानने के लिए ज्ञान ही मुख्य माना जाता है लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में साधना और अनुभूति ही मुख्य है। जिसने अपने आप का अनुभव कर लिया वह पर के प्रति निर्मोही बनता चला जाएगा और एक दिन भगवान राम के समान, भगवान महावीर के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। संपूर्ण मोह के अभाव का नाम है मोक्ष और मोह के अभाव के लिए क्रम-क्रम से उसे कम करते हुए आगे बढ़ने का नाम है मोक्षमार्ग।

□□

आदर्श संबंध

अनंत जलराशि का वाष्पीकरण होता है सूर्य के प्रताप से और वह बादलो में ढल जाता है पुनः वर्षा के जल के रूप में नीचे आ जाता है। पर्वत के शिखर पर भी क्यो न गिरे, वहाँ से वह नीचे की ओर ही बहता है। जल जब तक द्रव रूप मे रहेगा तब तक वह नीचे की ओर ही बहेगा। किंतु जब हम उसे रोक देते हैं तो वह रुका हुआ मालूम पड़ता है किंतु वह रुकता नही है।

अभी उड़ीसा की तरफ मे हम आ रहे थे वहाँ पर सबलपुर के पास एक गाव है हीराकुण्ड। वहाँ महानदी को बाधने का प्रयास इस युग के मानव ने किया है। उस जल को बांधने के उपरांत भी वह गतिमान है। पहले वह नीचे की ओर जाता था अब ऊपर की ओर बढ़ रहा है। जितना-जितना पानी ऊपर की ओर बढ़ेगा उतना-उतना खतरा उत्पन्न होता जायेगा। बांध एक प्रकार का बधन है। जैसे बंधन मे बंधा व्यक्ति उग्र हो जाये तो काम बिगड़ जाता है। ऐसा ही बांध के पानी का है इसलिए बांध पर खतरा लिखा हुआ रहता है।

पहले जब पानी सहज गति से बहता था तो कोई खतरा नहीं था बल्कि देखने योग्य मनोरम दृश्य था लेकिन अब खतरा हो गया। एक भी ईट या पत्थर खिसक जाए तो क्या दशा होगी। जो जल ऊपर की ओर बढ़ रहा है उसे रोका नही गया है मात्र रास्ता बंद किया है और जब किसी का रास्ता रोका जाता है तो वह अपने विकास के लिए प्रयत्न करता है अपनी शक्ति का प्रयोग करता है और ऐसा होने से संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। नदियों के साथ संघर्ष नहीं है पर बांध के साथ संघर्ष है।

हम जब छोटे थे तब खेत में जाकर देखते थे। वहाँ पर किसान लोग चरस चलाते थे। पानी आता था और बने हुए रास्ते से गुजरता हुआ चला जाता था। गन्ने के खेत को पानी पिलाया जा रहा था। जहाँ वह जल मुड़ गया था उस मोड़ पर वह किसान बार बार मिट्टी के ढेले डाल देता था, कभी-कभी गन्ने के छिलके भी लगाता था ताकि मजबूत बना रहे क्योंकि वहाँ जल टकराता था इसलिए वहाँ संघर्ष था, मिट्टी रुक नहीं

पाती थी। जब इतने से जल के साथ सावधानी रखनी पड़ती है तब जहाँ बांध बनाया जाना है वहाँ कितना बड़ा काम है।

यह तो उदाहरण की बात है। ऐसी ही चारों गतियों के प्रवाह में जीव की स्थिति है। वहाँ उसकी शक्ति देखने में नहीं आती। लेकिन जब वह उर्ध्वगमन करने लगता है तब शक्ति देखने में आती है आणविक शक्तियों से भी बढ़कर काम करने वाली वह शक्ति है। अपने उपयोग को ऐसा बांध दिया जाए कि कर्म की चपेट से बच सकें। तो जीवन का प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है और धीरे-धीरे सिद्धालय की ऊँचाईया छू लेता है। यह बड़ी मेहनत का काम है बड़े-बड़े इंजीनियर भी इसमें फेल हो जाते है। बहुत साधना के उपरात भी सफलता मिले यह जरूरी नहीं है। बांध-बनाते समय भारी साधना, आत्मविश्वास और साहस के साथ इंजीनियर करता है फिर असाता कर्म का प्रवाह आते ही मारे के मारे खभे गिर जाते हैं।

इस युग के अंतिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामी को भी इस प्रवाह को रोकने और आत्मा को उर्ध्वगामी करने के लिए पूरे बारह वर्ष लग गए थे। आदि ब्रह्मा आदिनाथ को भी एक हजार वर्ष लग गये थे। वे कितने बड़े इंजीनियर थे उनकी उस यूनिवर्सिटी को देखने की आवश्यकता है। मै बार-बार चिंतन करता हूँ कि उस यूनिवर्सिटी म हमारा नम्बर आ जाए तो बड़ा अच्छा रहे। वहाँ नबर आये बिना काम बनने वाला नहीं है। उन्होंने अपने उपयोग रूपी बाध का निर्माण कैसे किया यह समझने की बात है।

यह जो आत्म-तत्त्व पानी के समान चारों गतियो में बह रहा है उसे नियंत्रित करना और उर्ध्वगामी बनाना बड़ा कठिन कार्य है। नदी पर बनने वाले बांध में तो सीमेंट और पत्थर लगाये जाते है लेकिन उपयोग के प्रवाह मे क्या लगायें, वह तो एक सेकण्ड म बदल जाता है। बांधने-बांधते ही रास्ता बदल लेता है। इतने सूक्ष्म परिणमन वाले परिवर्तनशील उपयोग को बाधना साधना के बिना संभव नहीं है जब हम स्कूल मे पढ़ते थे, तब एक पाठ पढ़ा था। एक ऐसी नदी चीन में है जो रातो रात पात्र बदलती है। बहने की दिशा कई बार बदल लेती है। तो लोगो को बड़ी घबराहट हो जाती है बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाता है। मै बार-बार सोचता हूँ कि इतने-इतने छोटे-छोटे कामों के लिए इतनी साधना की आवश्यकता होती है तब अपने आत्म प्रवाह को बांधने के लिए कितना पुरुषार्थ करना होगा।

भारतीय संस्कृति का इतिहास उज्ज्वल रहा है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप वैसे कोई भी कार्य कठिन नहीं है क्योंकि पराश्रित कार्य कठिन हो भी सकता है किंतु स्वाश्रित कार्य बहुत आसानी के साथ होते देखे जाते हैं। इतना अवश्य है कि ऐसे कार्यो के लिये

अपनी ओर देखें अपनी आत्म-शक्ति को जाग्रत करें और श्रद्धा रखें तो सफलता आसानी से प्राप्त हो जाती है। हमारा जीवन जो भोग विलास की ओर ढला हुआ है उसे योग की ओर कैसे लाया जाये? क्या पद्धति अपनायी जाये जिससे हमारा प्रवाह भोगों की ओर से हटकर योग की ओर आ जाए? रात-दिन खाने पीने की इच्छा, शरीर को आराम देने की इच्छा, सुनने की इच्छा, सूंघने की इच्छा, स्पर्श करने की इच्छा और मन में सभी भोगों का स्मरण चलता रहता है ऐसी स्थिति में योग कैसे धारण करें? तो इतना ही करना है कि जिस प्रकार आप उस ओर जा रहे है उसी प्रकार इस ओर आ जायें।

उपयोग की दिशा में बदलाहट लानी होगी। बड़ा दृढ़ श्रद्धानी और धैर्य वाला उपयोग चाहिये। जो बदलाहट के बोझ को सहन कर सके। जैसे आप सीढ़ियों के ऊपर चढ़ते जाते हैं और जरा सा घुमाव आ जाए तो आजू-बाजू सँभालकर चलना होता है उसी प्रकार उपयोग को भोग के धरातल से योग के शिखर तक लाना महान कठिन कार्य है। सावधानी की बड़ी आवश्यकता है। श्रद्धान दृढ़ बनाना होगा, दिशा का सही चयन करना होगा और सारी वि-दिशाओं को बंद करना होगा तभी ऊँचाईयों तक पहुँचना सभव है।

आज का भारतीय नागरिक भोग की ओर जा रहा है और भोग्य सामग्री को जोड़ता हुआ वह योग को पाना चाह रहा है। योग को पाने के लिए भोग का वियोग करना होगा उसे एकदम विस्मृत करना होगा तभी योग को पाया जा सकता है। भोग मेरे लिए अहितकारी है ऐसा सोचना होगा और अनुभव से ऐसी धारण बनानी होगी कि भोग मेरा साथी नही है उससे मेरा उद्धार अभी तक नहीं हुआ और कभी भी नहीं हो सकता। भोग मेरी दिशा और दशा को बदलने वाला है वह मेरे लक्ष्य में साधक नहीं बल्कि बाधक है। चारों ओर भोगों की ओर जाने वाला उपयोग यदि वहाँ जाना बंद कर दे तो उपयोग की धारा को योग की ओर ले जाना आसान हो जायेगा।

जैसे डाक्टर क्रमशः इलाज करता है और रोगी को रोग-मुक्त कर देता है। ऐसा ही यदि आप चाहें तो क्रमशः भोगों को कम करते-करते उससे पूरी तरह मुक्त हो सकते हैं और अपनी चेतना की धारा योग की तरफ मोड़ सकते हैं। साधना की बात है अभ्यास की बात है। घुड़सवार होते है घोड़े के ऊपर बैठ जाते है। आपने कभी गौर से देखा हो तो मालूम पड़ जायेगा कि वे घोड़े के ऊपर बैठते नहीं है जब घोड़ा दौड़ता है तो वे घोड़े की पीठ पर लटके पायदान पर पैर रखकर उसके ऊपर सारा वजन डाल देते हैं लगभग खड़े हो जाते हैं। घोड़ों को काबू में रखने के लिए ऐसा करना अनिवार्य है। इसी प्रकार उपयोग को रोकने के लिए योगीजन प्रयास करते हैं। सतर्क होकर धीरे-धीरे नियंत्रण करते हैं।

भारत का प्रत्येक नागरिक भोगों को क्रमशः नियंत्रित करने के लिए ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। विवाह करता है। विवाह की पद्धति के बारे में भारत की प्रथा एक अलग प्रथा है। यहाँ विवाह का अर्थ मात्र भोग का समर्थन करना नहीं है बल्कि भोग को नियंत्रित रखने की प्रक्रिया है। काम को क्रमशः जीतने का एक सीधा सरल तरीका है विवाह। जो व्यक्ति विवाह के बिना रहना चाहता है उसके लिए योग की साधना अलग है। जिसके माध्यम से वह जीवन की ऊर्जा को उर्ध्वगममान बनाता है। अपने जीवन मे फिर पीछे मुड़कर नहीं देखता। लेकिन इस प्रकार के व्यक्तियों की संख्या अत्यल्प है।

बहुसंख्यक लोगों के लिए, जो विवाह की पद्धति अपनाते हैं, उन्हें भी पूर्व भूमिका का प्रशिक्षण लेना चाहिये, जीवन को किस प्रकार ढालना है इस विषय में आज कोई नहीं सोचता। सोचना चाहिये यदि माँ पिता लड़की या लड़के को देखते है तो पहले धन नहीं बल्कि उनके चारित्र के बारे पूछताछ करना चाहिये, भारतीय सभ्यता के अनुसार तो विवाह की यही प्रक्रिया है। इसके बाद ही सबध होते है। सबध का क्या अर्थ है? 'समीचीन रूपेण बध इति' - समीचीन रूप से बधने का नाम ही संबध है।

आज अधिकतर सुनने मे आता है कि सबध बिगड़ गया। बिगड़ने का कारण क्या है तो यही कि पूर्वापर विचार नही किया। और सबध तय कर दिया। यही तो मुश्किल है। जो सबध होता है वह माता-पिता को द्वारा किया जाता है और वह वर वधू को मंजूर होता है। वे जानते है कि माता-पिता ने हमारे हित के लिए किया है।

एक बार की बात है। मुसलमानों के यहाँ शादी थी। पडाल में वर को बैठाया गया और वधू को बहुत दूर अदर पर्दे की आट मे। दोनो पक्षो मे मौलवी रखे गये थे उनके द्वारा पूछा गया कि क्यों यह सबंध दोनो को मजूर है तो वे कह देते हैं कि जी हाँ मंजूर है। यह एक बार नही तीन बार बोलना पड़ता है जैसे आप मन-शुद्धि वचन-शुद्धि और काय-शुद्धि बोलते हे हमने सोचा कि यह तो शपथ हो गयी। सभी के सामने शपथ ले ली ताकि संबंध पूरी जानकारी के साथ हो।

आज तो भारत की क्या दुर्दशा हो गयी है कभी आपने सोचा कि किस तरह भारतीय सभ्यता टूटती जा रही है विवाह के मामले में। यदि भारतीय सभ्यता से संस्कारित होकर शादी की जाए तो पति-पत्नि दोनों कुछ ही दिनों में भोगों से विरक्त होकर घर से निकलने का प्रयास करते हैं। भोगों को त्यागने की भावना उनके अंदर स्वतः ही आने लगती है और उसके उपरांत आत्मोद्धार करके वे अपने जीवन का निर्माण कर लेते है।

कुल परम्परा और संस्कृति का ध्यान रखकर जो विवाह होते हैं उनमें भोग की

मुख्यता नहीं रहती। विवाह के समय होने वाले विधि-विधान वर-वधू को सदाचार, विनय, परस्पर स्नेह, और व्यसन मुक्त होकर जीने का संदेश देते हैं। सप्तपदी विवाह में सात प्रतिज्ञाएं दी जाती हैं। जिनका पालन वर-वधू को जीवन-पर्यंत करना होता है। विवाह की सामग्री में अष्ठ मंगल द्रव्य और विशेष रूप से स्वस्तिक को रखा जाता है। हमने सोचा कि सांथिया के बिना यहाँ भी काम नहीं चलता। स्वास्तिक का अर्थ है- स्वस्थ अस्तित्व द्योतयति इति स्वास्तिक, अपने अस्तित्व को उद्योत करना, अपने-आप को पा लेना।

उसका सीधा सा अर्थ सही हुआ कि विवाह के समय कह दिया जाता है कि देखो, तुम दोनों मिलने जा रहे हो लेकिन ध्यान रखना सब कार्यों को मिल जुलकर करना अपनी दिशा को नहीं भूलना और 'स्व' के अस्तित्व को भी कभी नहीं भूलना। यह आत्मा को उन्नत बनाने की प्रक्रिया है। यह एक मात्र अवलम्बन है। जिस प्रकार नदी को पार करते समय नाव की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार जंगल को पार करते समय मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है, किसी सूचना या सकेत फलक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जीवन साथी के माध्यम से दोनों पार हो जायें भवसागर से, यह परस्पर आलम्बन बनाया जाता है।

इतना ही नहीं सबसे बड़ा संकल्प तो इस बात का किया जाता है कि 'मातृवत् परदारेषु' अर्थात् एकमात्र पत्नी को छोड़कर अब पति के लिए ससार में जितनी भी महिलाएं है उनमे अपने से बड़ी को मां के समान, बराबर उम्र वाली को बहिन के समान और छोटी को पुत्री के समान समझना ऐसा कह दिया जाता है। और वधू से कहा जाता है कि वर को छोड़कर सबको पिता के समान भाई के समान या पुत्र के समान जानना। इसके अलावा और कोई राग भाव नहीं आना चाहिये।

देखो, कितना अनुशासन है। महानदी असीम क्षेत्र में फैली हुई थी उसकी शक्ति को एकत्रित करके उस जल का उपयोग करने के लिए बाध का निर्माण किया गया। जो काम इतनी बड़ी नदी नहीं कर पा रही थी, वह अब बांध के द्वारा होने लगा। जहाँ तक वह पानी फैलाना चाहो, फैलाओ। सारा पानी काम आयेगा। क्योंकि बंधा हुआ बांध है अनुशासित है। अभी नदी के बहते हुए जल से बिजली नहीं बनती थी अब बांध के माध्यम से बिजली का भी निर्माण होगा।

विवाह का सबंध भी ऐसा ही अनुशासित बंधन है। जिससे उत्पन्न शक्ति के द्वारा समाज का विकास होगा, वह समाज के उपयोग में आयेगी। प्रत्येक सबंध का उद्देश्य ऐसी शक्ति का निर्माण करना है जो विश्व को प्रकाश दे सके, आदर्श प्रस्तुत कर सके।

सब कुछ भूल जाना लेकिन अपने आप को नहीं भूलना, इसी को बोलते है दाम्पत्य बंधन। अब दम्पति हो गये। अपनी अनत इच्छाओं का दमन कर लिया उनको सीमित कर लिया।

कभी आपने सोचा कि बांध कब टूटता है। बांध उस समय टूटता है जब बांध बनाने वाले को लोभ आ जाता है। इसी प्रकार आज दाम्पत्य बंधन के बीच में यदि धन सम्पति का लोभ आ जाता है, लालसा बढ़ जाती है तो दुर्घटना घट जाती है जिस जल राशि के द्वारा कल्याण होता था, उसी के द्वारा तबाही होने लगती है। परिवार और समाज की बदनामी हो जाती है। बांध टूट जाने पर पुन निर्माण उसी जगह संभव नही होता। बड़े-बड़े इंजीनियर लोग अपना दिमाग लगा देते है, तब भी जोड़ना मुश्किल पड़ता है। वस्त्र फट जाने पर आप जोड़ लगा देते है लेकिन पूरी की पूरी मजबूती रहे ऐसा जोड़ लगाना सभव नही होता। जोड़कर भी बेजोड़ बोलते है उसे बे-मेल हो जाता है वह संबध।

बधुओं। भोग से बचकर योग की ओर जाने के लिए एक ऐसा सबध विवाह के द्वारा बनाया जाता है कि जिसके उपरान्त जीवन का प्रवाह अपने आप ही आगे बढ़ जाये। शरीर भिन्न-भिन्न रहते हुए भी आत्मिक संबध ऐसा हो जाए कि जीवन बेजोड़, एक जैसा और अद्भुत मालूम होने लगे। एक गाड़ी में दो बैल जोते जाते हैं। एक बैल यदि पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर जाने लगे तो बैलगाड़ी आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता है। बैलगाड़ी चलाने वाला कितना भी होशियार क्यों न हो, वह भी परेशान हो जाता है। जब दोनो समान दिशा में चलेंगे तभी जीवन की गाड़ी चल पाती है। आचार-विचार मे ऐक्य होना आवश्यक है। जहाँ ऐक्य है वहाँ जीवन मे बहुत अच्छे-अच्छे कार्य हो सकते है। जीवन के खड-खड नही होने चाहिये जीवन अखड बने ऐसा भाव बनाना चाहिये।

आज की विवाह प्रक्रिया को देखकर लगता है कि व्यक्ति प्राचीनकाल मे चली आ रही सही पद्धति को छोड़ते चले जा रहे है। धन पैसे का लालच बढ़ता जा रहा है। आज बड़ी उम्र की कन्याएं दहेज के कारण अविवाहित बैठी रहती है। आज शादी के उपरांत भी कन्याएं दहेज के कारण तकलीफ पाती है उनका जीवन उनके घर मे सुरक्षित नहीं रहता। उन पिताओं पर क्या गुजरती है जिनकी बेटियों के ऊपर आए दिन दुर्घटनाए घटती हैं यह तो वही जानते है। अब तो विवाह न होकर यह तो व्यवसाय हो गया है। यह कैसी परम्परा यह कौन सा आदर्श प्रस्तुत किया जा रहा है पढ़े लिखे आज के समाज द्वारा।

अगर कोई कन्या आगे आकर ऐसा कह दे कि दहेज में हजारों रुपये देकर हमने लड़के को खरीद लिया तो क्या होगा? जीवन पर्यन्त के लिए जो एक हो रहे हैं क्या इस तरह उनके जीवन में ऐक्य हो पायेगा, क्या जीवन पर्यंत वे सुखपूर्वक जी सकेंगे? जो प्रतिज्ञाएं उन्हें दिलायी जाती हैं उनका कोई अर्थ जीवन में रह जाएगा। कोई अर्थ नहीं रहेगा ऐसे संबंध आत्म-कल्याण के लिए बाधक ही बनते हैं।

पाणिग्रहण होता है एक दूसरे का हाथ पकड़कर जीवन भर साथ चलने का संकल्प लिया जाता है। जीवन में कौन-कौन सी घाटियां आ सकती हैं, कैसी-कैसी बाधाएं आ सकती हैं इन सभी मे दोनो मिल जुलकर संतोष पूर्वक आनंद के साथ रहे दोनो परस्पर सहयोगी बने, एकता के साथ जिए यही भावना होती है। लेकिन अर्थ के प्रलोभन के वशीभूत होकर आज अनर्थ हो रहा है। समाज के द्वारा इस पर अंकुश लगाया जाना चाहिये। मात्र धर्म की चर्चा करने से कुछ नहीं होगा, आचार-विचार में धर्म आना चाहिए।

आचार्य उमास्वामी ने लिखा है 'अदत्ता दान स्तेय' - देने की भावना नहीं होने पर जो जबर्दस्ती दिलवाया जाये वह सब चोरी है पाप है। लड़की का पिता दहेज दे नहीं रहा है उसे देना पड़ रहा है उसकी देने की इच्छा नहीं है लेकिन भरे पंडाल मे उसे देने के लिए मजबूर किया जा रहा है तो यह क्या है? आप भले ही न माने पर आगम ग्रंथो मे इसे चोरी कहा गया है। पाच पापो मे एक पाप है।

आज जिसे आचार्यों ने कन्यादान माना है वह व्यवसाय हो गया है। सौदा हो गया है। चेतन का मोल जड़ के द्वारा किया जा रहा है जो कि मानवता के महापतन का सूचक है। शादी के बाद जब कन्या पति के घर आती है तब वह गृहलक्ष्मी मानी जाती है देवी के समान मानी जाती है। कन्यादान देने वाला पिता श्रेष्ठ पात्र को खोजकर यह दान देता है ताकि जीवन पर्यन्त उसकी उन्नति हो सुरक्षा हो। दोनों मिलकर आत्म कल्याण करें। सांसारिक विषय भोगों में ही न फंसे रहें बल्कि आत्मोद्धार के लिए अग्रसर हों। आत्म-चिंतन के लिए समय निकाल सकें। धर्मध्यान पूर्वक सदाचारमय जीवन व्यतीत करें।

यह सारे संस्कार, आचार विचार आज लुप्तप्राय हो गये है। कोई भी आदर्शमय विवाह देखने में नहीं आता। इतना पैसा कमा करके आप कहाँ रखेंगे? कहाँ ले जायेंगे? यह लोभ धर्म को नष्ट भ्रष्ट करता चला जा रहा है। सभ्य समाज पर इसका बुरा प्रभाव पड़ रहा है। समाज में यदि एक भी बुरा कार्य हो जाता है तो उसकी बुरी छाप पूरे समाज पर पड़ती है। भाई, यह अर्थ प्रलोभन ठीक नहीं है। भोग सामग्री की लिप्सा आपको कभी योग का स्वाद नहीं लेने देगी। अपने जीवन को ऐसा बनाओ जिससे लोग अच्छी

शिक्षा ले सकें। पुराणों में देखो सद्गृहस्थ का जीवन कितना उज्ज्वल था। कैसी निर्मल साधना थी।

एक साधु गेरुआ रंग के वस्त्र पहने हुए थे। हाथ में रुद्राक्ष की माला लेकर प्रभु के ध्यान में तल्लीन थे। मौन साधना चल रही थी। कोई बिना मांगे कुछ दे देता, तो ठीक, नहीं तो मांगने का कोई सवाल नहीं। तभी एक घटना घटी कि आकाश में बादल छा गए और वर्षा होने लगी। तापसी ने ऊपर देखा तो देखते ही बादल फट गये, बरसात बंद हो गयी और आकाश स्वच्छ हो गया। उसे विश्वास हो गया कि साधना पूरी हो गयी है। साधना का फल दिखाई देने लगा।

दूसरे दिन की बात है कि वही महात्मा जी एक पेड़ के नीचे बैठे थे। पेड़ की शाखा पर बैठे कबूतर ने उनके ऊपर बीट कर दी। उन्होंने जैसे ही आंख उठाकर कबूतर की ओर देखा और वह कबूतर भस्मसात हो गया। अब अपनी शक्ति पर अहंकार आ गया और सोचा कि धीरे-धीरे इसका प्रचार-प्रसार करना चाहिये। चमत्कार सभी को मालूम पड़ना चाहिए। आगे एक गांव की ओर चल पड़े। वहाँ जब अपने चमत्कार की चर्चा की तो एक व्यक्ति ने कह दिया कि इसमे विशेष बात नहीं है। गांव में ऐसे मौन साधक बहुत हैं जो घर गृहस्थी में रह कर भी ऐसे चमत्कार दिखा सकते है। साधु को आश्चर्य हुआ और सोचा कि चलकर देखा जाए।

एक घर के सामने पहुँचकर कहा कि भिक्षा देहि; भिक्षा देओ। अदर से आवाज आ गयी कि ठहरिये, ठहरिये अभी थोड़ा काम कर रही हूँ। थोड़ी देर ठहरकर साधु से रहा नहीं गया और कहा कि जानती हो मै कौन हूँ? अब की बार अदर से धान कूटने का कार्य कर रही महिला ने कहा कि जानती हूँ मुझे मालूम है आप कौन है। पर ध्यान रहे मै कबूतर नहीं हूँ।

अब तो साधु आपे से बाहर हो गया पर ज्यों ही उसने घर के अदर झाँककर देखा तो दंग रह गया। वह महिला धान कूटते-कूटते पति के लिए कुछ सामान देने उठी तो मूसल यूँ ही छोड़ दिया और चली गयी। मूसल जहाँ छोड़ा था वहीं हवा मे स्थिर हो गया। जब वह पति की सेवा से निवृत हुई तो मूसल ठीक से संभालकर रखा और साधु के पास पहुँच गयी और कहा कि क्षमा करियेगा महाराज। मै अपने पति की सेवा में व्यस्त थी इसलिए आपको भिक्षा देने में विलंब हुआ।

वह तपस्वी बहुत लज्जित हुआ उसका क्रोध जाता रहा और उसने कहा कि 'माई! आपकी साधना अद्भुत है आपका पतिधर्म श्रेष्ठ है।' सतीत्व के प्रभाव से ही वह मूसल हवा में स्थिर रह गया। ऐसी पतिव्रता स्त्रियाँ होती थी। ऐसा परस्पर प्रेमभाव हुआ करता

था। भोग-सामग्री के बीच रहकर भी योगी जैसा जीवन जीते थे। और गृहस्थ धर्म के संकल्पो को कर्त्तव्यो को भलीभाति पूरा करते थे। आज भी कुछ भारतीय लोग इन सस्कारो से सस्कारित है किंतु धीरे-२ पश्चिमी प्रभाव से सभी प्रभावित हो रहे हैं।

गृहस्थाश्रम को भी आदर्शमय बनाने का प्रयास गृहस्थ को करना चाहिये। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम की ओर गति होने चाहिये। जीवन पर्यन्त जब तक सबध रहे तब तक एक होकर रहना चाहिये। जीवन के अंतिम समय मे महिलाए आर्यिका व्रत ले सकती है और पुरुष साधु बन सकते है। यदि इस प्रकार की साधना कोई करे तो संसार का अत होने मे देर नहीं है। यही भोग से योग की ओर जाने का एक मात्र यात्रा पथ है। जो इस पथ पर आरुढ़ होता है उसका नियम से इस जीवन मे कल्याण होता है और दूसरे के लिए भी आदर्श प्रस्तुत होता है।

□□

☐ आत्मानुशासन

पिता और पुत्र दोनों घूमने जा रहे हैं। पिता को दर्शनशास्त्र का अच्छा अनुभव है। उम्र के हिसाब से भी वृद्ध है। अपने पुत्र से जाते-जाते रास्ते में चलती चक्की देखकर कहते हैं कि यही दशा इस संसार की है। 'चलती चक्की देखकर दिया कबीरा राय, दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय।' –संसार रूपी इस चक्की में सुख-दुख के दो पाटों के बीच सारा संसार पिसता जा रहा है। यहाँ किसी को सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। और दुख का अभाव नहीं हो पाता। क्योंकि दो पाटों के बीच में धान का दाना साबुत नहीं बच पाता।

यह बात सुनकर बेटा कहता है पिताजी जरा इस बात पर भी ध्यान दे कि 'चलती चक्की देखकर दिया कमाल ठिठोय, जो कीली से लग रहे मार सके नहि कोय।' यह कोई नियम नहीं कि संसार के सारे प्राणी दुख का ही अनुभव करते हैं। या संसार के सारे जीव जन्म मरण रूपी पाटों के बीच पिसते ही रहेंगे। जिसने धर्मरूपी कील का सहारा ले लिया है जिसका जीवन ही धर्म बन गया है। उसे संसार मे कोई भटका नहीं सकता। इस रहस्य को हर कोई नहीं जानता। यह घटना कबीर के जीवन की है। उनका बेटा कमाल था। उसने बात भी कमाल की कही। कहीं भागने की आवश्यकता नहीं है उसी चक्की में रहिये लेकिन चक्की के चक्कर में मत आइये। आप चक्कर में आ जाते हैं इसलिए पिस जाते हैं। कील का सहारा ले लिया जाए तो बचना आसान है। केंद्र में हमेशा सुरक्षा रहती है और परिधि में हमेशा घुमाव रहता है।

यह अज्ञानी संसारी प्राणी मृत्यु से डरता है किंतु उससे उसे छुटकारा नहीं मिलता और निरंतर मोक्षसुख को चाहता है किंतु चाहने मात्र से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ यह जीव व्यर्थ ही संसार में कष्ट पाता है। रहस्य नहीं समझ पाता। जो इस रहस्य को जान लेता है वह संसार समुद्र से पार उतर सकता है।

सुख-दुख दोनों अपनी-अपनी दृष्टि के ऊपर आधारित हैं। संसार में जितने जीव है सभी को दुख ही होता है ऐसी बात नहीं है जेल में देखो जो कैदी है जिसने

अपराध किया है जो न्यायनीति से विमुख हुआ है वही दुख पाता है किंतु उसी जेल मे जेलर भी रहता है उसे उस प्रकार का कोई दुख नहीं होता। बंधन कैदी के लिए है जेलर के लिए नहीं। जेलर और कैदी दोनों एक ही स्थान पर हैं किंतु एक सुख का अनुभव कर रहा है और एक दुख का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख और दुख का अनुभव करने मे कारण व्यक्ति की विचार-धारा ही बनती है। मन की स्थिति के ऊपर ही निर्धारित है उसका संवेदन। बिना उपयोग के वह सुख और दुख सभव नहीं।

समयसार जी में आचार्य कुंदकुंद देव कहते हैं कि कर्मों का उदय मात्र बंध का कारण नही है किंतु अपने अंदर विद्यमान रागद्वेष भाव एवं पर पदार्थों में ममत्व बुद्धि का होना ही बंध का कारण है। मात्र वस्तु बंध के लिए कारण नहीं है बल्कि उस वस्तु के प्रति हमारा जो अध्यवसान भाव है वही बध का कारण है। ससार में रहना तो अपराध है ही किंतु संसार में लीन होकर रहना और महाअपराध है। इससे बचने का उपाय बताने वाले सत लोग है जो हमारे लिए हितकारी मार्ग प्रशस्त करते है। ससार का रहस्य समझाने का प्रयत्न करते है। एक नई दिशा एक नया बोध देते है। वस्तुत बात सही है कि जिसने धर्म रूपी कील का सहारा ले लिया, रत्नत्रय का सहारा ले लिया तो वह संसार के जन्म मरण से बच गया।

ससार मे आवागमन करते हुए भी जिसने संयम का आधार ले लिया उसको भटकाने या अटकाने वाली कोई शक्ति अब संसार में नहीं है। इतना ही नहीं, दूसरी बात यह भी है कि जहाँ कहीं भी धर्मात्मा पुरुष चला जाता है वहाँ पहुँचने से पहले ही लोग स्वागत सत्कार के लिए तत्पर रहते हैं, और निवेदन करते है कि हमारी सेवा मजूर करके हम सभी को अनुगृहीत कीजिये। धर्मात्मा भले ही कुछ नही चाहता लेकिन उसके महान पुण्य के माध्यम से सभी उसकी प्रशसा करते हैं। जिनके जीवन में धर्म का सहारा नहीं है, खाओ पिओ मौज उड़ाओ वाली बात जिनके जीवन मे है उन्हें पग पग पर पीड़ा उठानी पड़ती है और अनंत काल तक इसी संसार रूपी चक्की में पिराना पड़ता है।

असयमी का जीवन हमेशा सक्लेशमय और कष्टदायक ही रहता है। जैसे गर्मी के दिनो मे आप आराम से छाया मे बैठकर प्रवचन का, धर्म का लाभ ले रहे है और यदि छाया न हो तो क्या स्थिति होगी, सारा सुख छिन जायेगा ठीक ऐसी ही स्थिति संयम के अभाव में धर्म के अभाव में अज्ञानी प्राणी की होती है। ध्यान रखो संयोगवश कभी असंयमी जीव देवगति में भी चला जाता है तो वहाँ पर भी संयम के अभाव मे प्राप्त हुए इन्द्रिय सुखों के छूटते समय और अपने से बड़े देवों की विभूति को देखकर संक्लेश करता है जिससे अधः-पतन ही हुआ करता है और निरंतर दुख सहना पड़ता है।

'विषय चाह दावानल दह्यो, मरता विलाप करत दुख सह्यो।' संसार में जो दुख

मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गए अशुभ परिणामों का फल है और जो सुख मिला है वह आत्मा के द्वारा किये गये उज्ज्वल परिणामों का फल है। यह ससार एक झील की भांति है जो सुखदायक भी है और दुखदायक भी है। नाव मे बैठकर यदि झील को पार किया जाए तो आनंद की लहर आने लगती है किंतु असावधानी करने से सछिद्र नाव में बैठने से प्राणी उसी झील में डूब भी जाता है। इस बात को आप उदाहरण के माध्यम से समझ लीजिये।

एक व्यक्ति के जीवन की घटना है जिसका पालन-पोषण शिक्षण सब बड़ी सुख सुविधा में हो रहा था। आना-जाना, खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना सब अंडरग्राउंड में ही होता था। वहाँ पर सारी व्यवस्था वातानुकूल एयरकंडीशन थी। साथ ही बातानुकूल अर्थात कहे अनुरूप भी थी। उसे सूर्य और बिजली या दीपक का प्रकाश भी चुभता था इसलिए रत्नदीपक के प्रकाश का प्रबंध रहता था। सरसों का दाना भी बिस्तर के नीचे आ जाए तो चुभता था नींद नहीं आती थी। भोजन भी सामान्य नहीं था कमल पत्रों पर रखे हुआ, चाँवल का भात बनता था। उसकी माँ थी पत्नियां थीं सभी की ओर से सुख सुविधा का ध्यान रखा जाता था।

पहले कमाल की बात आपने सुनी यह बात अब सुकमाल की है। यह सारी की सारी व्यवस्था सुकमाल की माँ ने कर रखी थी कि कहीं बेटा घर से विरक्त न हो जाये। एक दिन रत्नकंबल बेचने वाला आया और जब वह कीमती कंबल राजा नहीं खरीद पाया तो सेठानी ने अर्थात् सुकमाल की मां ने खरीद लिया। पर जब वह मुलायम रत्नकंबल भी सुकमाल को चुभने लगा तो सेठानी ने उसकी जूतियां बनावाकर बहुओ को पहना दीं संयोगवश एक जूती पक्षी उठाकर ले गया और राजा के महल पर गिरा दी। राजा को जब सारी बात ज्ञात हुई तो वह सुकमाल को देखने आया कि देखें सचमुच बात क्या है?

सेठानी ने राजा के स्वागत मे जब दीपक जलाया तो सुकमाल की आखो मे पानी आ गया। जब भोजन परोसा तो सुकमाल एक-एक चाँवल बीनकर खाने लगा क्योंकि साधारण चाँवल के साथ मिलाकर उस दिन कमल पत्र के चाँवल बनाये गये थे। राजा सब देखकर चकित रह गया और अचरज करता हुआ लौट गया। कुछ समय बीत जाने के उपरांत एक दिन राज्य में किसी मुनिराज का आगमन हुआ। वे मुनिराज और कोई नहीं सुकमाल के पिता ही थे जो सुकमाल के उत्पन्न होते ही विरक्त होकर वन में चले गये थे। सेठानी ने बहुत प्रयास किया कि मुनि इस नगर में ना आयें पर सयोग ऐसा ही हुआ कि एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में सामायिक आदि से निवृत होकर महल के समीप उपवन में पधारे उन मुनिराज ने वैराग्य पाठ पढ़ना प्रारंभ किया तो सुकमाल के अंदर ज्ञान की किरण जागृत हो गयी।

रत्नदीपक का किरणें तो मात्र बाहरी देश को आलौकित करती थीं किंतु भीतरी देश को प्रकाशित करने वाली ज्ञान और वैराग्य की किरणें सुकमाल के जीवन में अब जागृत हो गयीं। उन किरणों ने कमाल कर दिया, अज्ञान अंधकार समाप्त हो गया इसलिए रात्रि के अंतिम प्रहर मे ही चुपचाप उठता है, पत्नियां सब सोई हुई थी, इधर-उधर देखता है और एक खिड़की के माध्यम से नीचे उतरने की बात सोच लेता है। बिना किसी से कुछ कहे साड़ियों को परस्पर बांधकर खिड़की से नीचे लटका देता है और धीरे-२ नीचे उतरना प्रारंभ कर देता है। जिसके पैर आज तक सीढ़ियों पर नहीं टिके वही रस्सी को संभाले हुए नीचे उतर रहा है। सब कुछ सभव हो जाता है भइया, बस ज्ञान एवं वैराग्य जागृत होना चाहिये। प्रत्येक कार्य सपादित हुआ करते है और होते ही रहते हैं असंभव कोई चीज नहीं है।

जिसके सुख वैभव की इतनी पराकाष्ठा थी कि रत्नकंबल चुभता था आज वही व्यक्ति नगे पैरों चला जा रहा है पगतल लहूलुहान हो गए। ककर-काटे चुभते जा रहे थे फिर भी दृष्टि उस तरफ नहीं थी। अविरल रूप से आत्मा और शरीर के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की अनुभूति करने के लिए कदम बढ़ रहे थे। वह पगडडी ढूंढता-ढूढता एकाकी चला जा रहा है उस ओर, जिस ओर से माँगलिक आवाज आ रही थी। वहाँ पहुँचकर वीतराग मुद्रा को धारण करने वाले एक मुनि महाराज से साक्षात्कार हो जाता है। वह स्वय भी वीतरागता के प्रति अभिमुख हुआ है, काया के प्रति राग नहीं रहा भीतर भी रागात्मक विकल्प नहीं है।

जैसे ही उसे ज्ञात हो जाता है कि तीन दिन के उपरांत तो इस शरीर का अवसान होने वाला है। वह सोचता है कि बहुत अच्छा हुआ मै अत समय मे कम से कम इस मोह निद्रा से उठकर सचेत हो गया और महान पुण्य के उदय से सच्चे परम वीतराग धर्म की शरण मिल गयी। अब मुझे ससार में कुछ नहीं चाहिये। आत्म-कल्याण के लिए उसे उपादेयभृत वीतरागता को प्राप्त करना है जो इस ससार में सर्वश्रेष्ठ और सारभृत है। जिसकी प्राप्ति के लिए स्वर्गों के इद्र भी तरसते रहते है जिस निर्ग्रंथ मुद्रा के माध्यम से केवल ज्ञान की उत्पत्ति होने वाली है अक्षय अनत ज्ञान की उपलब्धि जिस मुनिपद को पाने के बाद होती है वही मुनि पद उसने पा लिया।

बंधुओ। शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए हमें रागद्वेष विषय-कषाय आदि सभी वैभाविक परिणतियों से हटना होगा तभी हम उस निर्विकल्पात्मक ज्ञानीपने को प्राप्त कर सकेंगे। उस ज्ञानी की महिमा क्या बताऊँ- 'णाणी रागप्पजहो हि सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो। णो लिप्पदि कम्म रयेण दु कद्दम मज्झे जहा कणयं।''। अण्णाणी पुण रत्तो हि सव्व दव्वेसु कम्म मज्झगदो, लिप्पदि कम्मरयेण दु कद्दम मज्झे जहा लोहं।।' आचार्य कुंदकुंद

देव कहते हैं कि ज्ञानी वह है जो कर्मों के बीच रहता हुआ भी अपने स्वभाव में रहता है अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता जैसे कीचड़ के बीच पड़ा हुआ स्वर्ण अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ता निर्लिप्त रहता हुआ सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहता है जगत-जगत मे रहता है और ज्ञानी जगत में भी जगत (जागृत) रहता है।

ज्ञानी अपने आप में जागृत रहता है और जगत को भी जगाता रहता है। वह बाहर नहीं भागता, वह निरंतर अपनी ओर भागता है। भीतर विहार करना यही तो यथाख्यात विहार विशुद्धि 'सयंम का प्रतीक है। वह राजकुमार सुकमाल अब मुनि दीक्षा धारण कर लेते है। और मोक्षमार्ग में स्थित हो जाते हैं। मोक्षमार्ग तो उपसर्ग और परिषहों से गुजरने वाला मार्ग है। अध्यात्म ग्रथों में आचार्य कुंदकुंद देव और पूज्यपाद स्वामी जैसे महान् आचार्यों ने लिखा है कि जो सुख के साथ प्राप्त हुआ ज्ञान है वह दुख के आने पर चलायमान हो जाता है और जो ज्ञान कष्ट परीषह झेलकर अर्जित किया जाता है वह अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी वातावरण में स्थायी बना रहता है।

जैसे पौधे को मजबूत बनाना है उसका सही विकास करना है तो मात्र खाद पानी ही पर्याप्त नहीं है उसे प्रकृति के सभी तरह के वातावरण की आवश्यकता भी है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मे आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। यदि आप सोचते हो कि बीज को छाया में बोने से अच्छी फसल होगी तो ध्यान रखना बीज अंकुरित तो हो जायेगा लेकिन फसल पीली पीली होगी, दाना ठीक नहीं आयेगा। उसे हराभरा होने के लिए सूर्य की तपन भी चाहिये। वह सूर्य की प्रखर किरणों को भी सहन कर सकता है। इसी प्रकार दर्शन ज्ञान और चारित्र को पुष्ट बनाने के लिए उपसर्ग और परीषहों से गुजरने की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में विकास, ज्ञान में निखार और मजबूती परीषह जय से युक्त चारित्र के माध्यम से आती है।

आज तक कोई जीव ऐसा नहीं हुआ जो उपसर्ग या परीषह को जीते बिना केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध परमेष्ठी बना हो। भरत चक्रवर्ती को भी सिद्ध पद प्राप्त हुआ भले ही अल्प काल में हुआ लेकिन मुनिपद को धारण किये बिना, सम्यक् चारित्र के बिना नहीं हुआ। उन्हें भी छठे सातवें गुण स्थान मे हजारों बार चढ़ना उतरना पड़ा। यह आवश्यक है। अल्पकाल हो या चिरकाल हो, चतुर्विध आराधना के बिना आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है।

संयम को धारण करके वह कोमल काया वाले सुकमाल जंगल में जाकर ध्यान में एकाग्रचित होकर लीन हो गये। वहाँ पूर्वभव के बैर से प्रेरित हुई उनकी भावज जा स्यालनी हो गयी थी, खून के दाग सूंघती हुई पहुँच गयी और वैर के वशीभूत होकर उस स्यालनी ने अपने बच्चों सहित मुनिराज बने सुकमाल की काया को विदीर्ण करना

प्रारंभ कर दिया, खाना प्रारंभ कर दिया। "एक स्यालनी जुग बच्चायुत पांव भख्यो दुखभारी।" ऐसा बड़े समाधिमरण पाठ में आता है। उसमें उपसर्ग और परीषह को सहन करने वाले और भी मुनियों का वर्णन किया गया है।

तीन दिन तक यह अखंड उपसर्ग चला जो मुनिराज के लिए स्वर्ग व अपवर्ग (मोक्ष) का सोपान माना जाता है। धन्य है वह जीव जिसको सरसो का दाना चुभता था, वही संहनन, वही काया, सब कुछ वही लेकिन इस प्रकार सहन करने की क्षमता कहाँ से आयी तो बंधुओं यह भीतरी परिणामों की बात है। भीतरी गहराई में जब आत्मा उतर जाती है तब किसी प्रकार का बाहरी वातावरण उस पर प्रभाव नहीं डाल सकता। आचार्य वीरसेन स्वामी ने एक स्थान पर लिखा है कि जब एक अनादि मिथ्या-दृष्टि, मिथ्यात्व से ऊपर उठने की भूमिका बनाता हुआ उपशमकरण करना प्रारंभ करता है तो उस समय तीन लोक की कोई भी शक्ति उस पर प्रहार नहीं कर सकती। किसी प्रकार के उपसर्ग का उस पर प्रभाव नहीं पड़ने वाला और उपसर्ग की स्थिति में भी उसकी मृत्यु सभव नहीं है।

यह सब माहात्म्य आत्मा की भीतरी विशुद्धि का है। आत्मानुभूति के समय बाहर भले ही कुछ होता रहे, अंदर तो आनंद ही बरसता है। यह आस्था विश्वास का परिणाम है। एकत्व भावना का परिणाम है। वह भावना उस समय कैसी थी कि 'अहमिक्को खलु सुद्धो दसणणाण मइयो सदारूवी, णवि अस्थि मज्झ किंचवि अण्णं परमाणुमित्तंपि।।'' अर्थात् मैं निश्चय से एक हूँ दर्शनज्ञान मय हूँ और सदा अरूपी हूँ, अन्य परपदार्थ परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। कैसी परिणामों की निर्मलता है कि स्यालिनी के द्वारा शरीर खाया जा रहा है और मुनिराज आत्मा में लीन है।

आप भी ऐसा कर सकते हैं। थोड़ा बहुत एकाग्र होते भी हैं प्रवचन सुनते है, अभिषेक करते हैं, पूजन करते हैं, स्वाध्याय करते हैं यदि इन सभी क्रियाओ को विशुद्धता पूर्वक संकल्प लेकर करते हैं तो असंख्यात गुणी निर्जरा क्षणभर में होना संभव है। आठ वर्ष की उम्र से लेकर पूर्व कोटि वर्ष तक कोई चाहे तो आठ मूलगुणों का पालन कर सकता है बारह व्रतों का पालन कर सकता है। इस प्रकार जीवन पर्यन्त निर्दोष व्रतों का पालन करते रहने से एक असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती मनुष्य या तिर्यच की असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा प्रति समय होती रहती है। असंयत सम्यग्दृष्टि की गुणश्रेणी निर्जरा मात्र सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति काल ही हुआ करती है अन्य समय में नहीं। लेकिन व्रती के गुणश्रेणी निर्जरा निरंतर होती है यही संयम का माहात्म्य है।

गणेश प्रसाद जी वर्णी कहा करते थे कि देखो, कोई असंयत सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है और वह सामायिक कर रहा है तो उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली

है और वह सामायिक कर रहा है तो उससे भी असंख्यात गुणी निर्जरा एक मामूली तिर्यंच पशु जो घासोपयोगी अर्थात जिसका उपयोग घास खाने में लगा है उसकी हो सकती है यदि वह पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती है। बड़ा अच्छा शब्द उपयोग में लिया है 'घासोपयोगी' -घास खाने में उपयोग लगा है। यह सब किसका परिणाम है यह सब देश संयम का परिणाम है। यहाँ विचारणीय बात तो यह है कि वह तिर्यंच होने की वजह से देश संयम से ऊपर उठने में सक्षम नहीं है लेकिन आप तो मनुष्य हैं। सकल संयम पालन करने की योग्यता आपके पास है फिर भी आप संयम के इच्छुक नहीं हैं।

जो सकल संयम धारण कर लेता है उसकी निर्जरा की तो बात ही निराली है। एक महाव्रती मुनि की निर्जरा सामायिक में लीन देशव्रती की अपेक्षा असख्यात गुणी है। जैसे जौहरी की दुकान में दिन भर में एक ग्राहक भले ही आये लेकिन सौदा होते ही ग्राहक और मालिक दोनों मालामाल हो जाते हैं ऐसी ही मोक्षमार्ग में महाव्रती की दुकान है। जैसे-जैसे एक-एक गुणस्थान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे विशुद्धि बढ़ने के कारण असंख्यात गुणित कर्मों की निर्जरा बढ़ती जाती है। प्रशस्त पुण्य प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग बढ़ जाता है। परिश्रम कम और लाभ ज्यादा वाली बात है।

इसी प्रकार एक-एक लब्धि स्थान बढ़ाते हुए उपसर्ग होने के बाद भी वह मुनिराज सुकमाल स्वामी कायोत्सर्ग में लीन थे। कायक्लेश जैसे महान तप को कर रहे थे। निरंतर आत्मचिंतन चल रहा था। क्लेश की बात ही मन में नहीं थी। बुंदेलखंडी भाषा में काय शब्द 'क्या है' के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो कायक्लेश का भाव यही निकलता है कि क्या है क्लेश अर्थात् कोई क्लेश नहीं है। आगम का गहराई से चिंतन मनन करें तो ज्ञात होगा कि अभ्यंतर तप के समान कायक्लेश आदि बाह्य तप भी कर्मनिर्जरा में प्रबल कारण हैं। बाह्य तप भी शुभोपयागात्मक हैं और जो शुभोपयोग बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी निर्जरा कराता है वह परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है। साक्षात् कारण मुक्ति के लिए शुद्धोपयोग है लेकिन उस शुद्धोपयोग का उपादन कारण शुभोपयोग ही बनेगा।

सम्यग्दृष्टि साधक की जो बाह्य तप के माध्यम से निर्जरा होती है वह उसके संयम का परिणाम है। सम्यक्त्व की निर्मलता का परिणाम है। मिथ्यादृष्टि को छहढाला में लिखा है कि वह 'आतम हित हेतु विरागज्ञान; ते लखैं आपको कष्टदान' - आत्मा के हितकारी वैराग्य को, तपस्या को कष्टदायी मानता है वीतराग विज्ञान को कष्ट की दृष्टि से देखता है किंतु सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु प्राणी निर्जरा तत्त्व की ओर देखता है और निर्जरा करता रहता है। संयमी की तो होल सेल दुकान है करोड़ो की आमदनी एक सेकेण्ड में होती है।

यह है वीतराग विज्ञान का फल जो आत्मानुशासन के द्वारा अपनी शक्ति को उद्घाटित करने वाले सुकमाल स्वामी को प्राप्त हुआ। उनके द्वारा मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए जो आत्मिक प्रयोग किया गया वह सफल हुआ। उपसर्ग को जीतकर उन्होंने सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त किया एवं अल्प काल में ही मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। बंधुओ उसी प्रकार की साधना एवं लक्ष्य बनाकर मंजिल की प्राप्ति के लिए सभी को कम से कम समय में विशेष प्रयास कर लेना चाहिये। ज्ञान को साधना के रूप में ढालकर आध्यात्म को जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिये। यह प्रथमानुयोग की कथा हमारे लिये बोधि और समाधि का कारण बन सकती है।

आचार्य समन्तभद्र ने इसीलिए ठीक लिखा है कि 'प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरित पुराणमपि पुण्यं। बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः।।' –परमार्थ विषय का कथन करने वाले चरित अर्थात एक पुरुषाश्रित कथा और पुराण अर्थात त्रेसठ शलाकापुरुष संबंधी कथा रूप पुण्यवर्धक तथा बोधि और समाधि के निधान रूप प्रथमानुयोग को सम्यक् श्रुतज्ञान जानो। आज वर्तमान में यदि हम इस प्रथमानुयोग की कथाओं को पढ़कर अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करना चाहें तो सहज संभव है। आप भी सुकमाल जैसा कमाल का काम कर सकते हैं। आत्मानुशासित होकर अपना कल्याण कर सकते हैं। धर्म का सहारा लेकर संसार परिभ्रमण से ऊपर उठ सकते हैं।

☐ अंतिम समाधान

एक लौहशाला की बात है। लोहार प्रभात में उठकर अपने प्रातःकालीन कार्यक्रमों से निवृत होकर अग्नि-देवता को प्रज्ज्वलित करता है। उसे प्रणाम करता है। (केवल यहाँ पर भाव ग्रहण करना यह पहले कहे देता हूँ।) फिर लोहे को तपाना प्रारम्भ कर देता है। कुछ समय के उपरांत उस लौह पिण्ड को बाहर निकाल लेता है और निहाई पर रखकर घन का प्रहार करता है। घन का प्रहार करते समय एक आवाज उसके कानों में आती मालूम पड़ती है, मानो अग्नि कह रही है कि 'मुझे इस तरह मत पीटो, मैं कुपित हो जाऊँगी तो सब जलकर राख राख हो जायेगा।'

इस वाणी को सुनकर लोहार मुस्करा देता है और कहता है कि तेरे पास अब वह हिम्मत नहीं रही, जो मुझे जला सको, क्योंकि अब तुम लोहे के आधीन हो और लौह पिण्ड मेरे आधीन है। यदि तुम स्वतंत्र होती तो बार-बार नमस्कार कर लेता लेकिन अब तुम परतंत्र हो गयी हो। लौह की संगति में उसके साथ तुम भी पिटोगी। अग्नि को बात समझ में आ गयी। उसे अपनी गलती महसूस होने लगी। 'संत समागम प्रभुभजन, तुलसी दुर्लभ दोय, सुन दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय।' आज तक संसारी प्राणी ने इस दोहे के रहस्य को नहीं समझा। जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये इस बात पर कभी विचार नहीं किया। और न ही इसके अनुरूप अपने जीवन को बनाने का प्रयास किया है। ऐसी संगति का समागम कर लिया है जैसे अग्नि ने लोहे की संगति की और पिटने के लिए मजबूर हो गयी।

संसारी प्राणी देह की संगति में आकर निरंतर संसार में दुखी हो रहा है और इस संगति को अच्छा समझकर छोड़ना नहीं चाह रहा है। जब देह छूटने लगती है तो देह को अक्षुण्ण बनाये रखने के उपाय करता है। संतो की वाणी निरंतर समझाती है कि श्रेष्ठ समागम करो, अपने आत्मा का समागम करो तुम स्वयं अरिहंत हो सकते हो तुम स्वयं सिद्ध हो सकते हो परमात्मा हो सकते हो आंखें खोलों और देखो कौन सी वस्तु पूज्य है और आज किसे आदर दिया जा रहा है।

भारतीय संस्कृति में वह वस्तु पूज्य है जिसके पास ज्ञान है जिसके पास संवेदना

है और जो चैतन्य पिण्ड है जिसमें परमात्म दशा प्रकट हो गयी है। इतना ही नहीं ऐसी पूज्य बनने की योग्यता प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है यह बात भी संतो ने कह दी है। वर्तमान में जिस प्रकार लोहे की संगति से लोहार के द्वारा अग्नि की पिटाई हो रही है उसी प्रकार अज्ञानता के कारण और मोह के प्रभाव से यह आत्मा संसार मे रुल रही है। जब तक आत्मा देह की संगति करेगी तब तक उसकी पिटाई होगी।

संत लोग करुणा करके स्वय लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए, जो लक्ष्यहीन जनता है जो सुख की चाह रखती है उसे दिशाबोध देते हैं ताकि सही रूप से लोगों का मार्ग प्रशस्त हो। भारत की यही विशेषता है कि यहाँ के संतो ने मात्र ज्ञेय पदार्थों की कद्र नहीं की बल्कि ज्ञान की कद्र की। दृश्य जगत की नहीं दृष्टा-पुरुष की कद्र की है। यहाँ भोग्य पदार्थ की नही भोक्ता आत्मा की कद्र है। यहाँ की संस्कृति का एकमात्र यही लक्ष्य है कि 'स्व' को पहचानो व उसे पाने का प्रयास करो। वही शक्ति अद्वितीय है जिसके द्वारा जीवन का मारा का सारा संचालन हो रहा है यह ऐसी शक्ति है जिसका कभी नाश नहीं हुआ और न होगा।

भारतीय संस्कृति इसी 'स्व-शक्ति' की उपासना सिखाती है। लेकिन आज प्रत्येक पदार्थ का मूल्यांकन हो रहा है उसकी कीमत आंकी जा रही है पर मूल्यांकन करने वाले का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान के द्वारा आविष्कृत ज्ञेय पदार्थों का मूल्य तो हम जानते हैं लेकिन ज्ञान का मूल्य नहीं रहा। ज्ञान का मूल्य आंकने वाला ज्ञान क्षीण होता चला जा रहा है। इसी को बोलते हैं भौतिकवाद।

यह भौतिकवाद का ही प्रभाव है कि ज्ञान को न पूज करके, ज्ञान के द्वारा बनाया गया पदार्थ पूजा जा रहा है। जैसे-जैसे भौतिकवाद बढ़ रहा है वैसे-वैसे अध्यात्मवाद घटता जा रहा है। ज्ञान को छोड़कर और ज्ञानी को छोड़कर मात्र ज्ञेय की उपासना करना, महान दुर्भाग्य की बात है। जो जड़ पदार्थ हैं उसे मूल्य नहीं देना चाहिये बल्कि उस ज्ञान को मूल्य देना चाहिये जिसके द्वारा आत्मा को शान्ति मिलती है। जो ज्ञान विश्व को शांति प्रदान कर सकता है जो ज्ञान परतंत्रता से छुड़ाकर स्वतंत्रता की ओर ले जात' है जो ज्ञान हमें मुक्ति तक ले जाता है उसी ज्ञान की पूजा हमें करनी है।

काँच के पीछे दौड़ने वाला यह युग कंचन को भूल गया है। ध्यान रूपी अग्नि के माध्यम से उस आत्म तत्त्व की उपलब्धि होती है जो कंचन के समान उज्ज्वल है। जो हीरे के समान कीमती है। अनमोल है। शरीर तो एकदिन अग्नि में जल ही जाना है जो अजर-अमर अविनाशी आत्म-तत्त्व है वही शेष रहने वाला है। आज कौन इसका मूल्याकंन कर रहा है। बहुत कम विरले ही लोग आत्म-तत्त्व की ओर अग्रसर हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारी दिशा बदल जाए। हमारा ज्ञान जिस

ओर भाग रहा है उसे सही दिशा बोध मिल जाए। यह बोध हो जाये कि शांति बाह्य भोग्य पदार्थों में नहीं है, वस्तुओं के संग्रह में नहीं है; शांति तो आत्म-तत्त्व की ओर आने में है उसे पाने में है। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को इस तथ्य का बोध जीवन के अंत समय में हुआ कि जिसके द्वारा दुख होता है वह असत्य है। सत्य तो वह है जिसके द्वारा आत्मोत्थ सुख होता है।

इस सत्य को पहचानने के लिए जड़ पदार्थों की संगति छोड़ना होगी। चेतन की संगति में जाना होगा। सज्जनों की संगति में रहना होगा। जड़ पदार्थों की संगति की अपेक्षा एक पागल व्यक्ति की संगति भी कभी-कभी श्रेष्ठ होती है। उससे भी कोई दिशाबोध लेना चाहे तो मिल सकता है। वह कभी अच्छे कपड़े नहीं मांगता। मान अपमान में कभी हर्ष विषाद नहीं करता। आप पागल बन जाओ मैं ये नहीं कह रहा हूँ उसकी वृत्ति से सीखने की बात कर रहा हूँ। जड़ पदार्थ की अपेक्षा उस चेतन तत्त्व की संगति लाभदायक ही है। जड़-पदार्थों की संगति से जीवन में कितनी आकुलताएं और वेदनाएं बढ़ती चली जा रही हैं यह बात सभी जानते हैं।

जड़ वस्तुओं की पूजा उपासना करना अर्थात उसके संचय में दिन रात लगे रहना यह सबसे बड़ी मूर्खता है। भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहाँ पर अध्यात्म की पूजा होती है। धन तेरस के दिन लोग धन सम्पत्ति की पूजा करते हैं यह ठीक नहीं है। उस दिन तो भगवान मुक्ति से पूर्व समवशरण रूपी वैभव को छोड़कर योग-निरोध के लिए चले गये थे। वह धनतेरस न होकर धन्य-तेरस कहलाती है। भैया, भौतिकवादी मत बनो। धन की पूजा पतन के गर्त में ले जाने वाली है। आत्मा की पूजा, गुणों की पूजा करना ही वास्तव में श्रेयस्कर है यही आध्यात्मवाद है। अपनी आत्मा को प्राप्त करके जो जीव परमात्मा बन गये हैं उनकी पूजा उनकी संगति हमें संसार से पार ले जाने वाली है।

संगति का असर गहरा होता है। एक मेघ का टुकड़ा आकाश में यहाँ से वहाँ डोल रहा है। वही वातातरण पाकर-जल बनकर बरसने लगता है वह बरसता हुआ शुद्ध जल नीचे आकर धूल में मिल जाये तो कीचड़ का रूप ले जाता है। यदि समुद्र में गिरे तो लवण का रूप ले लेता है। नीम की जड़ में जाकर वही जल की धारा कड़वेपन में बदल जाती है। इक्षुदण्ड (गन्ना) में पहुँच जाये तो मिठास का रूप धारण कर लेती है। यदि वही जल की धारा स्वाति नक्षत्र में समुद्र में पड़े सीप में चली जाती है तो मोती बन जाती है। सर्प के मुख में जाकर वही विष भी बन सकती है। धारा एक ही है लेकिन संगति का प्रभाव अलग-अलग रूप में उसे परिवर्तित कर देता हैं। जल का विकास यहाँ तक संभव हुआ कि मुक्ता बन गया। सीप की संगति का यह प्रभाव है।

आत्मा का भी यही हिसाब है वह धर्म की सीप में पहुँच जाये तो मुक्त हो जाती

है। उपादान में योग्यता है लेकिन निमित्त पाकर ही वह उद्घाटित होती है। पुरुषार्थ के अभाव में आपका उपादन कड़वी नीम में भी परिणत हो सकता है। कीचड़ के रूप में परिणत हो सकता है। जहर की तरह विषाक्त भी बन सकता है। उसकी कोई परणति नियामक नहीं है, बनाने वाला चाहिये। निमित्त बनाकर वह उसे किसी भी रूप में ढाल सकता है। बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

यदि आप अपने जीवन को मौलिक बनाना चाहते हो तो साधना की व सत्संगति की बड़ी आवश्यकता है। साधना पूर्ण हो जाने पर अनंत काल के लिए विश्राम है लेकिन साधना में तो परिश्रम करना होता है आराम तभी मिलेगा। संसारी प्राणी देह को विश्राम मिलने पर उसी को आराम समझ लेता है। यह समझ की कमी है। सच्चा आराम तो आत्मा को संसार से मुक्त होने पर ही मिलता है। शरीर को माध्यम बनाकर आत्मा को संसार से मुक्ति की ओर ले जाना यही हमारी संस्कृति है। जड़ पदार्थ जीवन नहीं है वह जड़ है। हम चेतन हैं हमारा जीवन उसके लिए नहीं है वह हमारे जीवन के लिए है।

कई लोग जो भौतिक जगत में काम कर रहे हैं वे आत्मा का रहस्य हमसे पूछते हैं। जिसे आंखों के द्वारा देखा नहीं जा सकता, किसी अन्य इंद्रिय के द्वारा भी ग्रहण नहीं किया जा सकता उस अतीन्द्रिय आत्मतत्त्व की बात सहज ही समझ में नहीं आयेगी। आप पहले अध्ययन करते हैं ग्रेजुएट और पोस्टग्रेजुएट तक पढ़ते हैं उसके उपरान्त ही शोधकार्य होता है। वर्षों अध्ययन के उपरान्त भी शोध में सफलता नहीं मिलती। इसी प्रकार किसी भी चीज की अनुभूति करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। प्रकृति में सब ओर जीवन है। पर उसमें जीवनत्त्व को पहचान पाने के लिए साधना से प्राप्त दिव्य आँख चाहिये।

पहले लोग वनस्पति को जड़ मानते थे अचेतन मानते थे। अब वनस्पति पेड़ पौधों को भी जीव मानने लगे हैं। जगदीशचंद वसु ने इस बात को प्रयोगों के द्वारा उद्घाटित किया। जीवत्व तो पहले भी था लेकिन हमारा ज्ञान उसे देख नहीं पाता तो हम कह देते है कि नहीं है। जीवात्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। संवेदन शीलता हो तो फिर सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

माली ने बगीचा लगाया है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे लगाये हैं। सभी में फूल खिले हैं। चारों ओर सौरभ फैल रही है। पवन उस सुगंध को दूर-दूर तक ले जा रहा है। माली का काम है पौधों को सिंचित करना, उनकी सुरक्षा करना। सभी को ठीक से संभालना। ज्यों ही माली बगीचे में उन पौधों के पास पहुँच जाता है वे पौधे भी हिलमिल कर उछलकूद करते मालूम पड़ते हैं। वे माली की भावनाओं को पहचानते हैं। माली

भी फूलों को प्यार देता है। माली के अलावा और भी बहुत सारे लोग बगीचा देखने आते हैं तब उन फूलों को संदेह होता है कि कहीं यह मुझे क्षति नहीं पहुँचा दें। कोई भी व्यक्ति फूल को उस पौधे पर मुस्कराते हुए नहीं देखना चाहता सभी अपने हाथ में लेना चाहते हैं और तोड़ भी लेते हैं।

जीव-विज्ञान बहुत सूक्ष्म है। समग्र वायुमंडल में तरंगायित है भावना। हमने भले ही फूल को हाथ नहीं लगाया केवल तोड़ने की भावना की है तो भी वह फूल जान लेता है कि यह मेरे लिए हितकारी नहीं है। मुझे स्वतन्त्रता देने वाला कौन है! मेरा शुभचिंतक और हितैषी कौन है? और कौन मेरे आनंद को छीन लेने वाला है। उस फूल को यह सब ज्ञान है। हित को जानना और अहित से बचना यह प्रत्येक जीव का लक्ष्य है। यह बात अलग है कि कौन लक्ष्य तक पहुँच पाता है कौन नहीं पहुँच पाता। फूल पत्तों के पास पेड़-पौधों के पास पैर नहीं है कि वे किसी की पकड़ से भाग निकले। पर उनकी भावनाए तो हैं। उन्हें भी सुख-दुख का अहसास होता है।

जो इन्हें तोड़ता है उसके प्रति उनमे भी घृणा का भाव होता है। उन्हें लगता है कि देखो जब तक मैं खिला नहीं था तब तक तो कोई नहीं आता था; ज्यों ही मैं खिला और आनंद से झूमने लगा त्यों ही यह लोग मेरे आनंद को छीनकर अपने आप को संतुष्ट बनाने का प्रयास करने लगे। जब माली आता है तो उनकी दशा अलग हो जाती है और कोई दूसरा व्यक्ति आता है तो उनकी दशा बदल जाती है। यह दशाये एक ही फूल में भिन्न-भिन्न प्रकार से क्यो होती हैं तो इतना तो ज्ञात हो गया है कि इनमें भी जीवन है ज्ञान है संवेदना है। लेकिन अभी और जानने शेष है। जीवतत्व इतना ही नहीं है।

एक बार की बात है। बहुत दिन हो गए। मैंने बचपन में एक चित्र देखा था जिसमें दिखाया गया था कि गीत के माध्यम से कैसे कमल खिल जाते हैं। संगीत के माध्यम से दीपक जलाया जाता है। जीवन को संगीत के माध्यम से आनंद विभोर किया जाता है। शब्दों में ऐसी शक्ति है। ऐसा बल है जिसके माध्यम से पेड़-पौधे भी आनंदित होते हैं। वे भले ही सुने या न सुने किंतु शब्द के माध्यम से आपकी भावना उन तक पहुँच जाती है। भाव तरंगें वे पकड़ लेते हैं। एक आनंद से उठा हाथ व्यक्ति को अभय का अनुभव करा सकता है और दूसरा क्रोध से उठा हाथ व्यक्ति को भयभीत कर देता है।

हमारे भावों की तरंगें वायुमंडल में तरंगायित हो कर हम जहाँ पहुँचाना चाहें वहाँ पहुँचा सकते हैं। आज का युग-इस बात को स्वीकार करता है। ग्रामोफोन, टेपरिकार्डर और टेलीफोन के उपरांत अब तो टेलीविजन भी आ गया जहाँ शब्दों के साथ व्यक्ति का चित्र भी दिखाई देता है। पहले मूक फिल्म चलती थीं, बोलते नहीं थे मात्र एक्शन

के माध्यम से समझ में सब आता था कि कहना क्या चाहते हैं। यह सारे भौतिक साधन तो पराश्रित हैं। टेलीपैथी सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। सम्प्रेषण एक कला है। जिसमें तन भी शांत हो जाता है और मन भी शांत हो जाता है। यह स्वाश्रित है। जैनाचार्यो ने हजारों वर्ष पूर्व इसका उल्लेख किया है। परामनोविज्ञान आज इस पर खोज कर रहा है।

इतना अवश्य कहना होगा कि जहाँ भौतिकवाद विश्रांत हो जाता है जहाँ जाकर मनो-विज्ञान भी ठहर जाता है वहाँ से अध्यात्म का प्रारंभ होता है। आत्मा को निकट से जानना एकदम आसान नहीं है। और दूसरे के साथ तादात्म्य जोड़ना अपनी भावना उस तक पहुँचाना भी आसान नहीं है। जिसने अपनी भाव प्रणाली को सूक्ष्म रूप से जान लिया है वही सम्प्रेषण कर सकता है। ज्ञान के माध्यम से वह सामने वाले की वेदना को समझ लेता है। सम्वेदना को अनुभूत कर लेता है। आज के वैज्ञानिकों ने इसकी फोटो लेने का प्रयास किया है।

जिसने अपने मन को संयत कर लिया है। इन्द्रियों से ऊपर उठकर मानसिक सफलता पा ली है। जो तामस वृत्ति से ऊपर उठ चुका है। वही इस बात का अनुभव कर सकता है। भावनाओं को ठीक-ठीक समझ सकता है। इसकी पृष्ठ भूमि है समता। जिसका ज्ञान पंचेन्द्रिय के विषयों से आकर्षित है वह व्यक्ति मन के माध्यम से विकास की ओर न जाकर विनाश की ओर ही जाता है। समता का विलोम तामस ही तो होता है। तामसता जिनमे अंत को प्राप्त हो जाए उसे संत कहेंगे। संत की व्याख्या यही तो है कि जो समता से भरा है और आत्म-कल्याण के साथ-साथ प्राणी मात्र के कल्याण की भावना रखता है। भावनाओं में कितना बल है इसका उदाहरण या कहें एक सत्य घटना आपको ज्ञात होगी।

एक राजा और उसके साथी वन में घूमने के लिए गए हैं। राजा के मन मे आया कि किसी न किसी जानवर का शिकार करूँ किंतु उस दिन कोई जानवर नहीं मिला। भटकते-भटकते अचानक एक हिरणों का समूह उन्हे कुछ दूर दिखाई पड़ा और राजा ने घोड़े को उनके पीछे भगाना प्रारंभ कर दिया। तीर कमान हाथ में था। यह दृश्य देखकर साथ में चल रहे साथी दीवान को ठीक नहीं लगा उसने सोचा कि भोले-भाले हिरणों जैसे निरपराध पशुओं के ऊपर यह अत्याचार ठीक नहीं है। इनकी रक्षा करना ही राजा का धर्म है पर आज वही इनका भक्षक बन रहा है। ऐसा विचार आते ही उस दीवान ने आवाज दी कि हे अनाथ हिरणों। ठहर जाओ। तुम्हारे इस समय भागने का कोई मतलब नहीं है। आज जब रक्षक ही तुम्हारा भक्षक बन रहा है तो तुम कहाँ जाकर अपने प्राण बचाओगे, तुम्हारा भागना व्यर्थ है।

ज्यों ही यह करुण भावनाओं से भरी आवाज हिरणों के कानों में पहुँची त्यों ही वे रुक गये। राजा चकित हो गया और तीर कमान चलाना भूलकर अपने साथी दीवान की ओर देखने लगा। वह सोच में डूब गया कि यह क्या मामला है। इसकी वाणी का यह कैसा चमत्कार है। भागते पशुओं का शिकार खेलना तो फिर भी ठीक है लेकिन इन ठहरे हुए पशुओं को कैसे मारूँ। लड़ाई तो तभी उचित है जब चुनौती हो। सामने वाला बिना लड़े ही हार मान ले तो क्या लड़ाई। राजा विचार में डूबा खड़ा रह गया। साथी से पूछा कि बात क्या है ये रुक कैसे गये।

साथी ने कहा राजन्! यह रुक गये हैं। आप व्यर्थ भाग रहे थे, अब चाहे तो शिकार करिये। राजा ने कहा कि नहीं पहले मैं यह जानना चाहता हूँ कि ये रुके कैसे? जीने की आशा ही छोड़ दी इन्होंने। अब बिल्कुल भय छोड़कर इतने पास आ गए, पहले तो काँप रहे थे अब आनंद के साथ खड़े हैं। यह बात क्या हुई? इनके कानों में तुमने क्या मंत्र फूक दिया। जब दो तीन बार बड़ी उत्कंठा से राजा ने चकित होते हुए पूछा तो साथी ने कहा आप सुनना चाहते है तो सुनिए। इन्हे रोकने में कारण है प्रेम की शक्ति। अहिंसा की शक्ति। दया और करुणा की आवाज।

राजन्! आप अपने पद की ओर जरा ध्यान दें। आपका कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, प्रजा का पालन करना। आपने अपने हाथ में धनुष और बाण जो लिया है वह निरपराध पशुओ की हिंसा के लिए नहीं बल्कि उनकी रक्षा के लिए होना चाहिए। राजगद्दी पर बैठते समय आपने सकल्प लिया था कि अनाथ दीन हीन प्राणियों की रक्षा करुँगा। क्या आप अपनी क्षत्रियता भूल गये।

राजा यह सब सुनकर चुप रह गया। उसने बात को समझने की दृष्टि से पुनः पूछा कि तुम्हारी वाणी उन्हें कैसे समझ में आ गयी। साथी ने कहा कि दया की पुकार रक्षा की पुकार सभी के समझ मे आती है। वह कान के बिना भी वाणी के बिना भी मात्र भावो मे भी समझ में आ जाती है। समझने के लिए संवेदना चाहिये। राजा ने किसी को नहीं मारा और उस दिन वह महल की ओर चला गया पर मन ही मन अपना अपमान महसूस करता रहा।

कुछ दिन के उपरांत राजा ने एक आदेश दिया कि शेर लाया जाये और शेर को पिंजरे मे बंद करके पाच छह दिन तक भूखा रखा जाये। फिर हम परीक्षा करेंगे कि अहिंसा की शक्ति कितनी है। तारीख नियुक्त कर दी। समस्त प्रजाजन और दरबारीगण उपस्थित थे। राजा ने दीवान को बुलाकर कहा कि अगर अंहिसा में बल है तो तुम इस सिंह को शाकाहारी बनाओ। दीवान ने कहा ठीक है। आप देख लीजिए। अहिंसा में बल है। एक जीव दूसरे जीव को अभी भी चाहता है। हिंसक से हिंसक पशु भी अहिंसा

की भाषा पहचानता है। पर अहिंसा की पुकार लगाने वाला व्यक्ति निर्विकार होना चाहिये।

विकार से विकार टकराता है। विकार का और निर्विकार का संघर्ष नहीं होता। निर्विकार से यदि विकार टकराता भी है तो विकार हारकर नीचे चला जाता है निर्विकार ऊपर आ जाता है। घी में घी मिलाओ तो मिलता चला जायेगा लेकिन घी में दूध मिलाओ या पानी मिलाओ तो घी ऊपर आ जायेगा। आप कितना भी उसे नीचे दबाओ वह ऊपर उठ जायेगा। घी विकार से प्रभावित नहीं होता। अहिंसा, हिंसा से नहीं हारती बल्कि अहिंसा के सामने हिंसा को हार माननी पड़ती है।

दीवान ने सिंह के पिंजरे का दरवाजा खोला और भीतर चला गया और सिंह के सामने जलेबियां और दूध रखकर कहा कि हे वनराज! यदि भूख मिटाना है तो ये जलेबियां खाकर और दूध पीकर मिटा लो और यदि माँस ही खाना है मैं उपस्थित हूँ। मुझे अपना आहार बना लो। सिंह ने दीवान की ओर दृष्टि डाली और दीवान की आँखों में असीम वात्सल्य देखकर चुपचाप जलेबियां खा लीं और शात भाव से एक ओर बैठ गया। देखने वाले सभी चकित रह गये। राजा हाथ जोड़कर खड़ा हो गया कि वास्तव में अहिंसक परिणामों में अद्‌भुत शक्ति है। हम अपने भावों की निर्मलता के द्वारा पेड़ पौधों और पशुओं सभी के ऊपर प्रभाव डाल सकते हैं। इसी को बोलते हैं आत्मीयता।

हमारे पास यह आत्मीयता की शक्ति विद्यमान है लेकिन धीरे-धीरे अस्त होती चली जा रही है। यह दुख की बात है। वस्तुतः यदि आप विश्व में शान्ति चाहते हैं या आत्म शांति चाहते हैं तो दयाधर्म का अनुपालन करना होगा। जीव तत्त्व की तलस्पर्शी खोज करनी होगी। उसे पहचानना होगा उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना होगा। इसी के माध्यम से सारे समाधान मिल सकते हैं।

यह घटना दीवान अमरचंद जी के साथ जयपुर में घटी थी। ऐसी घटनाएं समय समय पर घटती रही है। घटना ज्यादा पुरानी नहीं है किंतु भौतिकवाद का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अब उस ओर कोई गौर भी नहीं करता। विज्ञान भी इसे सत्य मानता है कि हजारों वर्ष में जो काम नहीं हो सकता वह इस प्रकार के संयत और अहिंसक मन के द्वारा अल्पकाल में संभव है। मन को संयत करने के लिए निर्विकार बनना आवश्यक है। समता लाना आवश्यक है। आप-तामस का विलोम कर दीजिये अर्थात् तामस को जीवन से हटा दीजिये। समता जीवन में आने लगेगी। यही मोक्ष की उपलब्धि का सूत्रपात्र है।

ज्ञान और अनुभूति

अक्षय तृतीया से जो यह श्रुत की वाचना का मंगल कार्य प्रारंभ हुआ था वह इस मंगलमय श्रुतपंचमी के अवसर पर सानंद सम्पन्न हुआ। आत्मा के पास यही एक ऐसा धन है जिसके माध्यम से धनी कहलाता है। जब यह श्रुतरूपी धन जघन्य अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो वह आत्मा दरिद्र हो जाता है। आगम ग्रंथों की वाचना के समय निगोदिया जीव का प्ररूपण करते समय जो बताया गया उसे सुनकर लग रहा था कि आत्मा का यह पतन निगोद में अंतिम छोर को छू रहा है।

लेकिन दरिद्रता का अर्थ धन का अभाव होना नहीं है बल्कि धन की न्यूनता या अत्यधिक कमी होना है। एक पैसा भी पैसा है वह रुपये का अंश है। रुपया वह भले ही न हो लेकिन रुपये की प्राप्ति में सहयोगी है। इसी प्रकार ज्ञान का पतन कितना भी हो किंतु जीव में कभी ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता यदि वास्तव में ज्ञान को धन मानकर हम उसका संरक्षण और संवर्धन करें तो आत्मा की ख्याति बढ़ती चली जायेगी। आत्मा में प्रकाश आ जायेगा कि वह विश्व को भी प्रकाशित कर देगा।

श्रुत पंचमी के दिन अपने चिंतन के माध्यम से श्रुत के बारे में बात समझनी चाहिये। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय आठ प्रकार का स्पर्श है, रसना इन्द्रिय का विषय पांच प्रकार का रस है, घ्राण इन्द्रिय का विषय दो प्रकार की गंध है चक्षु इन्द्रिय का विषय पांच प्रकार का रूप है और श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है शब्द। पांचों इन्द्रियां हमारे पास हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये जब पंडित जी (पं कैलाशचन्द जी सिद्धांत शास्त्री बनारसी) वाचना कर रहे थे प्रातः काल, तब जयधवलाकार ने बहुत अच्छे ढंग से कहा कि पांच इन्द्रियों का होना आवश्यक है पर इतना ही पर्याप्त नहीं है।

शब्द सुनने के लिये कान पर्याप्त हैं लेकिन तद्विषयक जानकारी के लिए श्रुत के लिए मन आवश्यक है। श्रुत यह मन का विषय है। मन लगाकर जब हम शब्दों को सुन लेते हैं तब कहीं जाकर आचार्यों के भाव हमारे समझ में आते हैं। मन लगाने का पुरुषार्थ अनिवार्य है। केवल वक्ता अपनी बात को रखता जाये और श्रोता मात्र सुनता जाये मन न लगाये तो कल्याण संभव नहीं है।

यहाँ अभी-अभी कई लोगो ने कहा कि यह वाचना जो हुई है पंडित जी ने अच्छे ढंग से इसे सुनाया है। यह सारा का सारा शब्द ही तो है जो कानों से सुनने में आया है। शब्द पढ़ने मे नहीं आ सकते, पढ़ने में जो आते हैं वह केवल उन शब्दों के सकेत है और ये संकेत सारे के सारे अर्थ को लेकर हैं। श्रुतभक्ति मे आया है– "अरिहंत भासियत्थ गणधर देवेहि गंथिय सम्म, पणममि भत्तिजुत्तो सुदणाण महोवय सिरसा।।" अर्थात् अरिहंत परमेष्ठी के द्वारा अर्थ रूप श्रुत का व्याख्यान हुआ है और इसे गणधर देव ने गूथकर ग्रथ का रूप दिया है। ऐसे महान् श्रुत को भक्ति पूर्वक मस्तक झुकाकर हम प्रणाम करते हैं। अर्थ हमेशा अनन्तात्मक होता है और अनंत को ग्रहण करने की क्षमता हमारे पास नहीं है उस अनंत को हम सुन नहीं सकते। मात्र शब्द सुनने में आ जाते है। शब्द इस अनंत अर्थ को अभिव्यक्त करने मे सहायक बनते हैं। अनंत की अभिव्यक्ति श्रुत के द्वारा शब्दो के माध्यम से की जाती है।

बहुत छोटी सी किताब है लेकिन इसके अर्थ की ओर जब देखते है तो लोक और आलोक दोनो में जाकर भी हमारा ज्ञान छोर नहीं छू पाता। वह ज्ञेय रूपी महासागर जिसके ज्ञान मे अवगाहित हो जाता है वह समाधिस्थ हो जाता है। उस ज्ञान की महिमा अपरम्पार है। उस अर्थ की प्राप्ति के लिए जो परमार्थभूत है यह सब सकेत दिये गये हैं। इन संकेतों को सचेत होकर यदि हम पकड़ लेते है तो ठीक है अन्यथा कुछ नहीं है। जिसका मन मूर्छित है अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयो से प्रभावित है वह इन सकेतो को पकड़ कर भी भावों मे अवगाहित नही हो पाता। अतर्मुहूर्त के भीतर वह जो सर्वार्थसिद्धि के देव है उन्हे भी जिस सुख का अनुभव नही हो सकता, उससे बढ़कर सुख का अनुभव एक संज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्य जो सयत है या सयतासयत है, वह अनुभव कर रहा है।

जैसे सूर्य प्रकाश देता है और प्रकाश से कार्य होता है किंतु सूर्य के प्रकाश देने मात्र से हमारा कार्य पूरा नही होता। सूर्य का प्रकाश पाकर हमे स्वय पुरुषार्थ करना होगा। दूसरी बात प्रात कालीन सूर्य जब किरणे फेंकता है तब हमारी छाया विपरीत दिशा में पड़ती है और सायकाल जब अस्ताचल में जाता है तब भी हमारी छाया विपरीत दिशा मे पड़ती है लेकिन वही सूर्य जब मध्यान्ह में तपता है तब हमारी छाया पर पदार्थो की ओर न जाकर हमारे चरणो मे ही रह जाती है। यही स्थिति श्रुत की है। जब हमारा श्रुतज्ञान बाह्य पदार्थो मे न जाकर आत्मस्थ हो जाता है तभी ज्ञान की उपलब्धि मानी जाती है। हम मध्य म रहे और मध्यस्थ रहें तो यह मध्यान्ह हमारे जीवन के लिए कल्याणकारी है।

जब तेज धूप पड़ती है और पंडित जी (पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर)

बार-बार कहते हैं कि महाराज बाहर बहुत ततूरी है। ततूरी का अर्थ बहुत अच्छा उन्होंने बताया था। मुझे मालूम नहीं था कि ततूरी का अर्थ इतना गम्भीर है। तप्त+उर्वी=तप्तूर्वी (ततूरी)। जिस समय उर्वी अर्थात् पृथ्वी तप जाती है उस समय बोलते हैं बहुत ततूरी है। इस ततूरी के समय मध्यान्ह में किसान लोग गर्मी के दिनों में भी शान्ति का अनुभव करते हैं शान्ति का अनुभव इसलिए करते हैं कि अब मृगशीतला आ गयी और कुछ दिन के उपरांत वर्षा आयेगी बीज बोयेंगे, फसल लहलहायेगी। यदि अभी धरती नहीं तपेगी तो वर्षा नहीं आयेगी।

इसी प्रकार जब तक श्रुत के साथ हम समाधिस्थ होकर अपने को नहीं तपायेंगे तबतक अनंत केवलज्ञान रूपी फसल नहीं आयेगी। जिस समय श्रुत आत्मस्थ हो जायेगा तब आत्मा नियम से विश्रुत हो जायेगी। विश्रुत का अर्थ है विख्यात होना। तब आत्मा की तीन लोक में ख्याति फैल जायेगी। तीन लोक मे उसी की ख्याति फैलती है जो संपूर्ण श्रुत को पीकर के विश्रुत हो गया। विश्रुत का दूसरा अर्थ श्रुतभाव या श्रुत से ऊपर उठ जाना भी है। तो जो श्रुत से ऊपर उठे हुए है वे ही केवल ज्ञानी भगवान तीन लोक मे पूज्य हैं।

श्रुतज्ञान वास्तव में आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु आत्म-स्वभाव पाने के लिए श्रुतज्ञान है। उस श्रुतज्ञान के माध्यम से जो अपने आपको तपाता है वह केवल ज्ञान को उपलब्ध कर लेता है। श्रुतज्ञान तो आवरण में से झांकता हुआ प्रकाश है। जब मेघों का पूर्ण अभाव हो जाता है तब जो सूर्य अपने सम्पूर्ण प्रकाश के साथ बाहर दिखने लगता है ऐसा ही वह केवलज्ञान है। श्रुतज्ञानावरणी कर्म का जब पूर्ण क्षय होगा। तब आत्मा मे एक नई दशा उत्पन्न होगी इसी दशा को प्राप्त करने के लिए यह श्रुत हैं

'श्रुतमनिन्द्रियस्य' मन का विषय श्रुत है। मन को अनंग भी बोलते हैं वह भीतर रहता है उसके पास अंग नहीं है किंतु वह अग के भीतर अनरंग होता है। इसी अंतरग के द्वारा ही सब कार्य होता है। यदि अंतरग विकृत हो जाए और बहिरग साफ सुथरा रहे तो भी कार्य नही होगा। जिसका अतरंग शुद्ध होगा उसके लिए श्रुत अंतर्मुहूर्त मे पूरा का पूरा प्राप्त हो जाता है। अंतर्मुहूर्त में ही उसे कैवल्य भी प्राप्त हो सकता है। वर्तमान मे यह अवसर्पिणी काल होने से श्रुत निरतर घटता चला जा रहा है। वह समय भी आया जब धरसेन आचार्य के जीवन काल में एक-एक अंग का अश ज्ञान शेष रह गया और आज उसका शतांश क्या सहस्रांश भी शेष नहीं रहा।

आज सुबह पढ़ लेते हैं शाम को पूछो तो उसमें से एक पंक्ति भी ज्यो की त्यों नहीं बता सकते। थोड़ा सा मन इधर उधर चला गया, उपयोग फिसल गया तो कहीं के कहीं पहुँच जाते हैं। क्या विषय चल रहा था, पता तक नहीं पड़ता हमारे पूर्वमें हुए आचार्यो

की उपयोग की स्थिरता, उनका श्रुत के प्रति बहुमान आदि देखते हैं तो उसमें से हमारे पास एक कण मात्र भी नहीं है किंतु भाव-भक्ति और श्रद्धा ही एकमात्र हमारे पास साधन है। यह श्रद्धा-विश्वास हमे नियम से वहीं तक ले जाएगा जहाँ तक पूर्व आचार्य गये है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार में कहा है कि' सद्दो णाणण हवदि जम्हा सद्दो ण याणदे किंचि, तम्हा अण्णं णाणं अण्ण सद्दं जिणा विंति। अर्थात् शब्द ज्ञान नही है क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता इसलिए ज्ञान भिन्न है। ऐसा जिनेंद्र भगवान का कथन है। यहाँ आशय यही है कि शब्द मात्र साधन है। उसके माध्यम से हम भीतरी ज्ञान को पहचान ले यही उसकी उपयोगिता है अन्यथा वह मात्र कागज है। जैसे भारतीय मुद्रा है वह कागज की होकर भी भारत मे मूल्यवान है दूसरे स्थान पर कार्यकारी नही है वहाँ उसको कागज ही माना जायेगा। इसी प्रकार यदि हम श्रुत का उपयोग भिन्न क्षेत्र मे लेते है तो उसका कोई मूल्य नही है। यदि स्वक्षेत्र मे काम लेते है तो केवलज्ञान की उत्पत्ति मे देर नही लगती। अर्थात् कोई भी क्रिया करो विधि के अनुसार करो। दान इत्यादि क्रिया दाता और पात्र की विशेषता द्रव्य और विधि की विशेषता से विशिष्ट हो जाती है। फलवती हो जाती है। औषधि सेवन में जैसे वैद्य के अनुसार खुराक और अनुपान का ध्यान रखा जाता है ऐसा ही प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी आवश्यक है।

स्वाध्याय करने का कहने से प्राय ऐसा होता है कि जो समय स्वाध्याय के लिए निषिद्ध है उन समयो मे भी स्वाध्याय करने लगते है। सिद्धात ग्रंथो के पठन पाठन का अष्टमी चतुर्दशी को निषेध किया है तो सावधानी रखना चाहिये शास्त्र के प्रति बहुमान, उसके प्रति विनय उसके लिए निश्चित काल आदि सभी आपेक्षित है। पढ़ना उसे ग्रहण और धारण करना सभी हो सके इसका ख्याल रखना चाहिये। एकवर्ष मे जो शांति से स्वाध्याय करना चाहिये उसे एक माह में कर ले तो क्या होगा मात्र पढ़ना होगा, ग्रहण और धारण नही होगा।

श्रुतज्ञान हमारे लिए बहुत बड़ा साधन है। श्रुतज्ञान के बिना आज तक किसी को भी मुक्ति नही मिली और न आगे मिलेगी। अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान का मुक्ति मे उतना महत्व नैही है जितना श्रुतज्ञान का है। केवल ज्ञान भी उसी का फल है। यदि इस महान् श्रुत का हम गलत उपयोग करते हैं तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है हमे श्रुत के माध्यम से आजीविका नही चलानी चाहिये। इसे व्यापार का साधन नहीं बनाना चाहिए। यह पवित्र जिनवाणी है। वीर भगवान के मुख से निकली है। जो श्रुत प्राप्त है उसके माध्यम से स्व पर कल्याण करना चाहिये।

श्रुत का फल बताते हुए परीक्षामुख सूत्र में आचार्य माणिक्यनंदी जी कहते हैं कि

'अज्ञान निवृत्तिर्हानोपानोपेक्षाश्च फलम्' – अर्थात् श्रुत की सार्थकता तभी है जब हमारे अंदर बैठा हुआ मोह रूपी अज्ञान– अंधकार समाप्त हो जाये और हेय उपादेय की जानकारी प्राप्त करके हेय से बचने का प्रयास किया जाये और उपादेय को ग्रहण किया जाय अर्थात् चारित्र की ओर कदम बढ़ना चाहिये। भले ही अल्प ज्ञान हो लेकिन उनके माध्यम से हमें संयमित होकर सदा गतिशील रहना चाहिये। यदि संयम की ओर गति होती रही तो हमारी प्रगति और उन्नति होने में देर नहीं है। हमारा अल्पज्ञान भी संयम के माध्यम से स्थिरता पाकर एक अंतर्मुहूर्त में अनंत ज्ञान में परिणत हो सकता है।

बधुओं ! आज यह पंचमकाल है इसमें नियम से ज्ञान में, आयु में, शरीर और अन्य मोक्षमार्ग मे सहयोगी अच्छी सामग्री में ह्रास होता जायेगा, अतः अपने अल्प श्रुत (क्षयोपशम) की ओर ध्यान न देकर ध्येय की ओर बढ़ने का प्रयास करना चाहिये। जिस प्रकार नदी छोटी होकर भी एक दिन समुद्र की दिशा में बढ़ने के कारण समुद्र मे मिलकर समुद्र का रूप धारण कर लेती है। उसी प्रकार जिसकी दृष्टि मुक्ति की ओर हो गयी है उसका भी एक दिन ऐसा आयेगा कि केवल ज्ञान रूपी महान सागर में समा जायेगा। यही एक मात्र उद्देश्य रहना चाहिये, सम्यक् श्रुतज्ञान से आपूरित हर आत्मा के इसी भाव को हमने एक कविता में बांधा है–

धरी से फूट रहा है/नवजात है/और पौधा/धरती से पूछ रहा है/कि/यह आसमान को कब छूयेगा/छू सकेगा क्या नहीं/तूने पकड़ा है/ गोद में ले रखा है इसे/छोड़ दे/इसका विकास रुका है/ओ माँ/माँ की मुस्कान बोलती है/भावना फलीभूत हो बेटा/आस पूरी हो/किन्तु आसमान को छूना/आसान नहीं है/ मेरे अन्दर उतर कर/तब छूयेगा/गहन गहराईयाँ/तब कहीं संभव होगा/आसमान को छूना/

ऊंचाईयों की ओर यात्रा उस पौधे की तभी संभव है जब वह पौधा धरती की गहन गहराईयों में उतरेगा। ध्यान रहे विकास दोनों ओर चलता रहता है। भले ही वह पौधा आधा नीचे की ओर चला गया पर धरती माँ कहती है कि आसमान मे ऊँचे जाना तभी संभव है जब धरती के भीतर जो कठोरता है उसको भी भेदकर भीतर जाने का साहस करेगा। पौधा जैसा आकाश में ऊपर हवा में हिलता रहता हे जड़ मे भी ऐसा हिलने लग जाये तो धराशायी हो जायेगा। पेड़ धरती से सबंध छोड़ दे तो जीवन बर्बाद हो जाता है।

इसी प्रकार जिन वाणी माँ से हमारा सबध है। बधुओ ! जीवन जब तक रहे तक तक जिनवाणी माता को कभी मत भूलना और जिनवाणी माँ को भूलकर अन्यत्र कहीं मत जाना अन्यथा पेड़ की तरह दशा होगी। उन्नति हम चाहते हैं लेकिन उन्नति कैसे होगी यह जानना चाहिये। श्रुत को आधार बनाकर चलेंगे तभी श्रुत के द्वारा वहाँ पहुँच

जायेंगे जहाँ तक महावीर भगवान पहुँचे हैं। कैवल्य होने से पूर्व बारहवें गुणस्थान के अंतिम समय तक श्रुत का आधार प्रत्येक साधक को लेना अनिवार्य है। थोड़ा सा श्रुत आने लगा तो अहंकार मत करो। अहंकार करना नादानी है। श्रुत की विनय करना आदर करना और जिस रूप में बताया है उसी रूप में करना आवश्यक है।

ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है और ध्यान का प्रयोजन केवल ज्ञान है। अनंत सुख और शान्ति है। इसी को पाने का ध्येय बनाकर ज्ञान का आदर हमें करना चाहिये। हमारे ज्ञान में यदि अस्थिरता रहेगी तो हमारी यात्रा उर्ध्वगामी नहीं होगी। जैसे-जैसे ऊपर जायेंगे वैसे-वैसे देखने में आयेगा कि आसमान असीम है ज्ञान का पार नहीं है। कैवल्य रूपी निरावरण ज्ञान का आसमान असीम है। यही हमारा साध्य है। इसी को पाने के लिए गणधर स्वामी जैसे महान् आत्मा और कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्य हमें निरन्तर ध्यान और आत्मलीनता की ओर प्रेरित करते हैं।

पानी को निम्नगा माना गया है वह नीचे की ओर बहता है। जल का यह स्वभाव है। लेकिन जल का यदि कुछ उपयोग करना है बिजली बनाना है या सिचन के लिए नहरें बनाना हैं तो क्या करते हैं। बाँध बनाते हैं। जल की यात्रा तब भी नहीं रुकती। वह अब नीचे न जाकर ऊपर बढ़ने लगता है। ज्ञानोपयोग की धारा भी निरन्तर बहती रहती है। बहने वाले उपयोग का इतना महत्व नहीं है जितना की जब वह उर्ध्वगमन कर रहा है तब महत्त्वपूर्ण होता है। श्रुतज्ञान होने पर ध्यान रूपी बाँध के द्वारा उस ज्ञान को ऊपर की ओर ले जाना ही उपलब्धि है। इसके लिए महान संयम की आवश्यकता है। श्रुतज्ञान का सदुपयोग यही है कि उसको संयम का बाँध बाँधकर ऊपर उठा लेना।

कैसे ऊपर उठाना तो ऐसे जैसे पंडित जी वाचना के समय लब्धि स्थानों के बारे में बता रहे थे कि श्रेणी कैसे चढ़ी जाती है। किसी प्रकार साधक अपनी साधना को ऊपर उठाता जाता है। वह अल्प समय मे ही भावों में विशुद्धता लाता है और देखते-देखते ऊपर चढ़ जाता है। आप भी चाहें तो संयमित होकर एक-एक गुणस्थान ऊपर चढ़ सकते हैं। यही श्रुतज्ञान रूपी प्रवाह में संयम का बाँध बाँधकर स्वय को ऊँचा उठाने का उपाय है। संयम रूपी बाँध में बंधे हुए श्रुत की यही महिमा है।

जैसे जल को तपाने पर वह वाष्प बनकर ऊपर चला जाता है उसे किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार जब कोई साधक, साधना करते-करते छद्मस्थ अवस्था की सीमा को पार कर जाता है तब अंतरिक्ष मे ऊपर उठ जाता है। केवल ज्ञान प्राप्त होते ही धरती से ऊपर उठ जाता है और आत्मा की अनंत ऊँचाईयाँ छू लेता है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि का यही एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये कि मेरा जो श्रुतज्ञान उपलब्ध है इसी में मुझे संतुष्ट होकर नहीं बैठ जाना है किन्तु इस ज्ञान के माध्यम से

निरावरित केवलज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना है।

मात्र उपदेश देने या सुनने से ज्ञान नहीं बढ़ता ज्ञान को उर्ध्वगमन संयम के द्वारा मिलता है। हम श्रुतज्ञान को केवलज्ञान में ढाल सकते हैं। लेकिन आज तक कोई व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसने संयम के बिना ही श्रुतज्ञान को केवलज्ञान का रूप दिया हो। श्रुत को केवल ज्ञान का साक्षात् कारण माना है। उसी श्रुत की आराधना आप लोगों ने एक डेढ़ माह लगातार सिद्धांत ग्रंथों के माध्यम से की है। जिस जिनवाणी को गुफाओं में बैठकर धरसेन, पुष्पदत-भूतबली और वीरसेन आचार्य जैसे महान् श्रुत सम्पन्न आचार्यो ने सम्पादित किया है उसे आज आप सभी सुख सुविधाओ के बीच रहकर सुन रहे है तो कोई बात नहीं इस प्रकार के ध्यान-अध्ययन की साधना करते-करते एक दिन आपको वह समय भी उपलब्ध हो सकता है जिस दिन संयमपूर्वक ज्ञान की आराधना के माध्यम से कैवल्य की प्राप्ति होगी।

अत मे उन गुरुवर श्री ज्ञानसागर जी महाराज का स्मरण कर रहा हूँ। जिनके परोक्ष आशीर्वाद से ही यह सारे कार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो रहे है। उन्हीं की स्मृति मे अपनी भावना समर्पित करता हूँ। 'तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश! करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।'

□□

☐ समीचीन साधना

आज की पावन बेला में भगवान महावीर को उस अलौकिक पद की प्राप्ति हुई है जिस पद के लिए उन्होने वर्षो तक अथक साधना की। उनकी वह साधना दुनिया के समस्त प्राणियों से भिन्न थी। दुनिया का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है किन्तु सुख के सच्चे साधनों के पति इतना उद्यमशील चितन मननशील नहीं होता जितना होना आवश्यक है। महावीर भगवान ने मन से, तन से और वचन से सही साधना अपनाकर साधना की और उसका फल भी पाया है।

साध्य की प्राप्ति के लिए साधना आवश्यक है। मोक्षसुख यदि साध्य है। प्राप्तव्य है तो उसके लिए साधना करना अनिवार्य है। सभी बाह्य साधना मिल जाने पर भी अतरग साधना अनिवार्य है। जब तक सही-सही साधना नहीं होगी तब तक अभीष्ट सुख से वंचित रहना पड़ेगा। अनंत सुख आत्मा का अनन्य और अत्यन्त निकटतम गुण है लेकिन उसे प्राप्त करना दुर्लभ है उसकी अनुभूति के लिए रागद्वेष और सासारिक आशा तृष्णा को समाप्त करने का पुरुषार्थ करना होगा। सम्यक् साधना करनी होगी।

भगवान महावीर का कहना यही था कि 'यह सुख की परिभाषा, ना रहे मन मे आशा। ईदृश हो प्रति भाषा, परित: पूर्ण प्रकाशा।' प्रात: काल होने को था। रात्रि विश्राम यहाँ बड़े बाबा के मंदिर में भीड़ भाड़ की वजह से यहाँ छोटे मदिर में किया था। एक व्यक्ति दर्शन के लिए आये। उन्होंने हाथ मे टार्च ले रखी थीं उसके माध्यम से प्रकाश होता है। उस प्रकाश मे जो वस्तु खो गई है वह हमे प्राप्त हो जाती है। उन सज्जन ने अनजाने में जैसे ही बटन दबाया तो प्रकाश उन्हीं के मुख पर पड़ा। मुझे चिंतन के लिए विषय मिल गया। उन सज्जन को क्या मिला यह तो वे ही जाने।

मैं सोच में डूब गया कि यहाँ प्रत्येक प्राणी सुख को बाहर खोज रहा है जबकि सुख अंदर ही है। जो ज्ञान हमारे पास है उसका उपयोग हम बाहरी पदार्थो को जानने में कर रहे हैं। यही ज्ञान का दुरुपयोग है। इसीलिए अनादिकाल से वह सुख हमारे पास होते हुए भी अज्ञात ही रहा है। हम बाहरी पदार्थो की ओर टार्च का प्रकाश डाल रहे हैं। गलती टार्च के प्रकाश की नहीं है उसका काम है मात्र दिखाना। यह हमारा काम है कि हम उसे किस ओर डालते है अपने ऊपर उस टार्च का प्रकाश हमने कभी

डाला नहीं। वह टार्च वाला व्यक्ति कभी भूलकर भी अपने आपको देखना नहीं चाहता, धोखे मे उसकी टार्च अपने ऊपर पड़ गयी। यहाँ एकमात्र हमारे पुरुषार्थ की कमी है। आपके पास साधन होने पर भी उसका समुचित उपयोग करना नहीं चाहते। इसी कमी के कारण अनादि काल से आपके पास अनंत सुख होते हुए भी उससे वंचित रहना पड़ा है।

'चेत चेतन चकित हो, स्वचितन बस मुदित हो। यों कहता मैं भूला, अब तक पर में फूला।' जिस समय वैराग्यमयी ज्ञान किरण आत्मा में उद्भूत होती है उस घड़ी हम समस्त विश्व को भूल जाते है और उपादेय भूत आत्म तत्त्व की अर्चना प्रारम्भ कर देते हैं। वह पावन घड़ी आज तक आप लोगों के जीवन में उपलब्ध नहीं हुई। आप सोचते हो कि किसी दूसरे को मिल जाए तो आपको भी मिल जायेगी। ऐसा नहीं है। दूसरे की विशुद्धि, दूसरे का पुण्य आपके काम नहीं आने वाला। भगवान महावीर स्वामी ने जिस समय अपने ध्यान चिंतन के फलस्वरूप अपने आत्मा को पाया उस समय और भी लोग वहाँ थे लेकिन प्रत्येक को उसका लाभ नहीं मिला। जो प्रयास करेगा उसे ही वह सुखद क्षण मिलेंगे।

ऐसी स्थिति मे हमें सोचना चाहिये कि हमारी साधना में कहाँ पर कमी है। और है तो क्यों है? उस कमी की पूर्ति कैसे होगी? ये तीन प्रश्न आपके मन में बार-बार उठना चाहिये और तदनुकूल प्रयास भी करना चाहिये। तभी वह पद हमें भी प्राप्त होगा जो महावीर भगवान ने प्राप्त किया था।

'वैराग्य से तुम सुखी, भज के अहिंमा। होता दुखी जगत है कर राग हिंसा।'

जहाँ पर प्रभु विराजमान है वहीं पर सारा का सारा ससार विद्यमान है। लेकिन उनको अनंत सुख है और संसारी प्राणी को अनंत दुख है। वहाँ पर मुक्ति है यहाँ पर बधन है। इसका करण यही है कि भगवान की साधना अहिंसा की है और आपकी हिंसा की है। उनकी साधन वीतरागता की है और यहाँ आपकी सरागता की है। यही बड़ा अन्तर है।

'संसार सकल त्रस्त है। पीड़ित व्याकुल विकल/इसमें है एक कारण/हृदय से नहीं हटाया राग को/हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को/जो है शरण तरण तारण।' एक व्यक्ति की दस खंड की बिल्डिंग खड़ी है और वहीं पड़ोस में बिल्डिंग है लेकिन दोनों के मुख में अन्तर है। यदि उसके मकान को देखकर आपका मन कहता हैकि कब इस प्रकार की बिल्डिंग का निर्माण करूँ। यह विचार ही आपके सुख को कम करने वाला है उसने कुछ नहीं किया, आपके दुख नहीं पहुँचाया आप स्वयं अपने भावों से दुखी तो हो सकते हैं। इसी प्रकार महावीर भगवान का निर्माण महोत्सव आपको सुखी तभी बना सकेगा जब आप उनके विपरीत न जाकर अपनी साधना को उनकी ओर ले जायेंगे।

'सत् साधना सहज, साध्य सदा दिलाती। दु: साधना विषम, दुख को ही पिलाती।।'

विपरीत साधना, राग की ओर जाना ही संसार के दुखो का कारण है। उसे छोड़े बिना सहज सुख मिलना असंभव है। आप रागद्वेष को विषय कषाय को हटाना नहीं चाह रहे है और वीतरागता की उपासना मात्र करना चाहते हैं, तो इस उपासना मात्र से अनंत सुख को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। तदनुरूप कार्य भी करना होगा। जिस प्रकार शब्द व्यक्ति को भाव तक पहुँचाने मे सीढ़ी का काम करते है। उसी प्रकार उपासना भी भगवान तक पहुँचाने में सीढ़ी के समान है। चलना और चढ़ना आपको ही पड़ेगा।

सच्चा साधक तो वही है जो प्रत्येक श्वांस में लक्ष्य को सामने रखता है और लक्ष्य के विपरीत बाधक कारणों से अपने को बचाकर गतव्य की ओर निरंतर गतिशील रहता है। भगवान महावीर की उम्र उस समय ३० वर्ष की थी जिस समय उन्होंने दीक्षा धारण की। बारह वर्ष के अथक परिश्रम के उपरांत उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। आज तीस-तीस साल के नौजवान कई हैं लेकिन किसी का मन इस प्रकार के लक्ष्य को पाने के लिए तीस मिनट क्या तीस सेकण्ड भी स्थिर नहीं रह पाता। क्षण भर में मन विचलित हो जाता है। भौतिक विषयों की चमक दमक मे लक्ष्य छूट जाता है।

'उस पथिक की क्या परीक्षा कि पथ मे शूल न हो। उस नाविक की क्या परीक्षा कि धारा प्रतिकूल न हो।' सच्चा पथिक तो वही है जो पथ में कांटे आने पर भी नही रुकता। सच्चा नाविक भी वहीं है जो प्रतिकूल धारा के बीच से नाव को निकालकर गतव्य तक ले जाता है। इसी प्रकार सच्चा साधक भी वहीं है जो विभिन्न संकल्प विकल्पो के बावजूद भी अपनी मुक्ति मंजिल की ओर अग्रसर होता रहता है। यही एकमात्र इसकी परीक्षा है परख है।

आज युवको के मुख से जब पढ़ाई के स्थान पर परीक्षा की तारीख बढ़ाने के लिए हड़ताल की बात सुनता हूँ तो दंग रह जाता हूँ कि ये संस्कार इनमें कैसे और कहाँ से आये। अब लोग परिश्रम से डरते हैं पुरुषार्थ करने से डरते हैं और यह बिना प्रयास सब पा लेने की नीति हमें रसातल की ओर ले जायेगी। विकास चाहते हुए भी विनाश ही होगा। भगवान महावीर ने सर्वप्रथम यह कहा कि आत्म-प्राप्ति के लिए सत् साधना अनिवार्य है। प्राप्ति के लिए देर भले ही लग जाये लेकिन अधेर नहीं होगा। रेडीमेड जीवन जीना और साधना से बचने का प्रयास करना यह गतव्य से विपरीत जाना है।

एक व्यक्ति ने बड़े विश्वास के साथ कलकत्ता से बम्बई जाने का टिकिट खरीदा, थका हुआ था, भ्रमवश देहली वाली गाड़ी में बैठ गया और निश्चिंत होकर सो गया कि अब तो सुबह जाकर के उठना है। गाड़ी जा रही है देहली की ओर उसे जाना था बाम्बे की ओर। ज्यों ही वह देहली के स्टेशन पर उतरता है तो चकित रह जाता है कि अरे ! यह तो दिल्ली आ गया। टिकिट चेकर पूछता है कि तुम्हारा टिकिट कहाँ है? अब क्या जवाब दे? टिकिट बाम्बे का है पहुँच गये दिल्ली। मात्र टिकिट ठीक खरीदने

से क्या होगा। ठीक दिशा वाली गाड़ी में बैठना अनिवार्य है।

जब एक सामान्य सी यात्रा में यात्री का कर्त्तव्य होता है कि स्टेशन पर आते ही पता करे कि गाड़ी किधर जा रही है और मुझे कहाँ जाना है। इसी तरह मोक्षमार्ग पर चलने वाले साधक को सावधान रखनी चाहिये। यदि किसी प्रकार की वह असावधानी करता है तो बहुत जल्दी लक्ष्य से च्युत हो जाता है।

साध्य के साथ ही साधन पवित्र होना भी अनिवार्य है भगवान महावीर ने साधनों के क्षेत्र में अहिंसा को ही सर्वश्रेष्ठ माना। मोक्ष के पथिक के लिए वही पाथेय है। इसके विपरीत हिंसा, रागद्वेष मोह है। जिनके माध्यम से कभी कार्य पूर्ण नहीं होगा। साधना यदि मोक्ष पहुँचने की करना है तो इन बाधक साधनों को हटाना भी अनिवार्य है बाधक कारण हटाने पर साधक कारण अपने आप आ जायेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है बाधक कारण का अभाव किये बिना ही आ जायेंगे। नहीं, बाधक कारणों के अभाव के लिए पुरुषार्थ करना होगा।

हिंसा का जैसे-जैसे अभाव होता जायेगा वैसे-वैसे जीवन मे अहिंसा आती जायेगी, कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। बाहर से प्रकाश को लाने की आवश्यकता नहीं मात्र भीतरी अंधकार को अज्ञान को हटाना है जैसे जैसे अज्ञान अंधकार मिटता जाएगा वैसे-वैसे ज्ञान का प्रकाश उद्भूत होता जाएगा।

साधन का समुचित उपयोग करना भी साध्य की प्राप्ति में आवश्यक है। जब तक स्पीकर से आवाज आती रहती है तब तक आप कानों को इधर-उधर की आवाज सुनने में लगाये रहते हैं लेकिन स्पीकर बंद हो जाये तो आपको एकाग्र होकर कान लगाकर सुनना पड़ता है वह साधन का समुचित उपयोग नहीं है। स्पीकर से आवाज सुनते समय भी एकाग्रता आनी चाहिये। अन्यथा स्पीकर होना व्यर्थ है। प्राप्त जीवन भी स्वयं एक साधन है आपने अपने जीवन को बहुत व्यस्त बना रखा है और व्यस्तता भी फालतू कामों की अधिक है।

व्यय उतना खतरनाक नहीं है जितना अपव्यय। अपव्यय जीवन मे आकुलता पैदा कर देता है। समय का अपव्यय, धन का अपव्यय, शारीरिक शक्ति का अपव्यय ऐसे बहुत प्रकार के अपव्यय होते हैं। इस तरह मालूम ही नहीं पड़ता कि हमारा सारा का सारा जीवन अपव्यय की कोटि मे जा रहा है। अंतिम समय में जब जीवन समाप्त होने लगता है तो पश्चाताप ही हाथ लगता है। 'आधे दिन पाछे गए हरि से किया न हेत। अब पछताये होत का चिड़िया चुग गयी खेत।।'

मान लो एक महिला दूध तपा रही है। उसने ध्यान दिया। करीब आधा घंटा हो गया अग्नि तेज होने से वह ऊपर आ रहा है उस समय यदि वह महिला उसे फूंकने लग जाये तो क्या होगा। फूंकते-फूंकते भी वह दूध बाहर आ जाता है बर्तन से जितनी उष्मा चाहिये थी उससे ज्यादा हो गयी तो उष्मा का अपव्यय हुआ साथ ही दूध नीचे

गिर गया यह भी अपव्यय हो गया। दोनों तरह से घाटा पड़ गया है। तो साधन का सदुपयोग सावधानी से करें अन्यथा हमारा सारा का सारा जीवन आदि से अत तक अपव्यय में ही चला जा रहा है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने मार्ग में आने वाले बाधक कारणो को हटाकर साधक कारणों को लाने का प्रयास कर रहा है साधन का सदुपयोग कर रहा है अपव्यय से बच रहा है और साधन की निर्मलता को बनाये रखता है वही मजिल को पा जाता है। प्रायः जो लोग विषय कषाय नहीं छोड़ते वे ही जीवन के अंतिम समय में पश्चाताप करते हैं। जब वे अपना इतिहास देखते हैं तो इन्हें रोना आ जाता है कि अपने जीवन में कुछ भी धार्मिक कार्य नहीं किया। अब मुझे नीचे जाना पड़ेगा। पतन के गर्त में स्वयं को जाते देखकर रोते है।

जिसने अच्छे कार्य किये हैं उसे अंत समय में रोना नहीं पड़ता, जीवन भर भी शाति बनी रहती है। उसका जीवन आगे भी सुखी होता है। बधुओ ! जो भी साधना हो वह अहिंसा पूर्वक हो रागद्वेष को कम करते हुए हो तभी समीचीन होगी। अहिंसा कोई अलग चीज नहीं है रागद्वेष को हटाना ही अहिंसा है। जो रागद्वेष से सहित है वे हिंसक है और साधना के मार्ग से स्खलित हो जाते हैं।

महावीर स्वामी ने अपने आपको बहुत जल्दी रागद्वेष से निवृत्त किया था। समीचीन साधनों को अपनाकर बारह साल में अपना कार्य पूरा किया। बारह साल तो प्रवाह की अपेक्षा से लगा था, कैवल्य की उपलब्धि तो अंतर्मुहूर्त में हो गयी। समीचीन साधना के पूरे होते ही सकल चराचर पदार्थो को जानने वाला वह केवलज्ञान उपलब्ध हो गया। इसी प्रकार हमें भी रागद्वेष की प्रणाली से बचते हुए अहिंसा की गोद में अपने आपको समर्पित करना है।

भगवान महावीर और उनके धर्म को लेकर कुछ लोगों का ऐसा मानना है कि इस धर्म मे परोपकार की कोई बात नहीं है। लेकिन आप लोग जिस परोपकार की बात करते हैं उस परोपकार से भी बढ़कर यदि कोई चीज है तो वह स्व के ऊपर उपकार यही भगवान महावीर और उनके बताये अहिंसा धर्म का आधार है। 'स्व' के ऊपर जो उपकार करेगा उससे बढ़कर और कोई परोपकार नहीं हो सकता जो 'स्व' के उपकार में लग जाता है उसके द्वारा 'पर' के प्रति कोई बाधा नहीं होती यही उसका 'पर' के ऊपर उपकार है। आज तो परोपकार में भी लेन-देन चलता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए परोपकार किया जाता है।

जैन धर्म में स्व-पर उपकार को धर्म माना है। जो अपने ऊपर उपकार करता है अपने आत्म-कल्याण मे लगा है, उसके द्वारा 'पर' का उपकार सहज ही हो जाता है। यदि आप दूसरे के लिए बाधा उत्पन्न न करें तो यही 'पर' के प्रति आपका महान उपकार माना जायेगा। जिस समय आप कोई भी प्रवृत्ति करेंगे उस समय दूसरे को कुछ न कुछ

धक्का अवश्य लगेगा। स्वर्णाभरण बनाते समय जिस प्रकार उसमें कुछ न कुछ बट्टा लगता है उसी प्रकार यहाँ पर भी है इसलिए सीधा उपाय है कि 'मरहम पट्टी बाधकर वृण का कर उपचार। ऐसा यदि ना बन सके डडा तो मत मार।।'' यह कहकर हम अपने आपको कृतार्थ बनाना चाहते हैं कि मैंने मरहम पट्टी की। मरहम पट्टी के माध्यम से हम उस व्यक्ति पर अपना उपकार लादना चाहते हैं और घाव ठीक होने के उपरान्त जब कभी वह मिल जाता है तो कहते हैं कि हमने तुम्हारी सेवा की थी।

यह सच्चा उपकार नही है। अपने इस तरह के उपकार के माध्यम से उस व्यक्ति पर अपना अधिकार जमा लिया। उसका भावी जीवन भी बध गया। समीचीन सेवा तो निस्वार्थ सेवा ही है। जो कि आज तक आपने नहीं की। किसी व्यक्ति ने एक बार मुझे सुनाया था कि एक व्यक्ति तालाब में डूब रहा था वह जिस समय तालाब में डूब रहा था उस समय एक दूसरे व्यक्ति ने उसे डूबते देख लिया। वह तैरना जानता था उसने फौरन जाकर उसे बचा लिया। बाहर निकलने के उपरान्त वह व्यक्ति जो डूब रहा था, वह बड़ा कृतज्ञ हुआ और नम्रीभूत होकर बोला कि आपने मुझे जीवन प्रदान कर बहुत उपकार किया, मैं यह कभी भूलूँगा नहीं। आप यदि कुछ सेवा मुझसे चाहो तो कहो।

डूबने वाला व्यक्ति प्रकाशक था। एक दिन बचाने वाला व्यक्ति उसके पास पहुँच गया और कहा कि आज मेरा थोड़ा सा काम है। सुनते ही वह व्यक्ति बोला हाँ हाँ कहिये आपका मेरे ऊपर बहुत उपकार है वह कभी भूलूँगा नही। तब उस बचाने वाले ने अपना एक कविता संग्रह देकर कहा कि मैंने इसे लिखा है आप उसे प्रकाशित कर दीजिये। वह प्रकाशक कविताएं पढ़कर बोला कि भाई साहब आप ऐसा करो कि मुझे तालाब के किनारे ले चलो मैं जिसमें डूबा था, आप मुझे डुबो दो। मुझे डूबना मजूर है लेकिन आपकी यह कविता संग्रह छापना मजूर नहीं है।

आज यही हो रहा है कि यदि कोई व्यक्ति उपकार करता भी है तो प्रत्युपकार की इच्छा से करता है। आप हिसाब लगाते रहते है कि मैंने इतने इतने कार्य किये है। यह उपकार नहीं यह तो एक प्रकार व्यवसाय हो गया। इस प्रकार के उपकार की बात महावीर भगवान ने नहीं कही। उपकार का वास्तविक रहस्य महावीर भगवान के जीवन मे प्रकट हुआ कि रागद्वेष से बचते रहो यही उपकार है। रागद्वेष 'पर' की अपेक्षा से होते है 'स्व' की अपेक्षा रागद्वेष कभी पैदा नहीं हुआ करते। हम वस्तु को किसी की अपेक्षा छोटा या बड़ा कहते हैं। पर जो वस्तु को न बड़ा कहता है न छोटा कहता है मात्र समता रखता है वही व्यक्ति भगवान महावीर के मार्ग पर चल पाता है। किसी को अच्छा कह दें तो दूसरे को बुरा लग सकता है इसलिए जो है यही ठीक है।

जो है सो है इसमें कभी रागद्वेष संभव नहीं है। लेकिन क्या है; कैसा है; कौन है; यह बात आते ही तेरा मेरा रूप रागद्वेष होना प्रारंभ हो जाता है। 'है' के रूप मे सब स्वीकार करना और तेरे-मेरे के भाव से ऊपर उठना ही सच्ची साधना है। 'है' यह

भाव केंद्र की तरह है और 'मैं' और 'मेरा-तेरा' यह सब परिधियाँ है। केद्र तक पहुचाने के लिए परिधि का त्याग परमावश्यक है। जो परिधि में अटक जाताहै वह केंद्र तक कभी नही पहुँच पाता। सुरक्षा तो केंद्र बिदु मे है ओर परिधि में मात्र भटकाव है, जीवन लीला वहाँ समाप्त हो जाती है।

महावीर स्वामी ने आज के दिन अनादि काल से चली आ रही, मै और मेरा रूप पर्याय बुद्धि को हटा लिया और जो ध्रौव्य है जिसे केंद्र बिंदु कहना चाहिये उसे प्राप्त कर लिया। केंद्र में रहने वाला व्यक्ति कभी पिसता नहीं है। जो केद्र से हटकर परिधि में रहा आता है वह चक्की के पाटों में धान के दाने की तरह पिसता रहता है। इसलिए जो सही जीवन जीना चाहता है जो जन्म जरा और मृत्यु से पार होना चाहता है उस व्यक्ति के लिए यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि महावीर भगवान ने जो केंद्र बिंदु बनाया था वह है मात्र सत्ता, जिस सत्ता मे किसी प्रकार की विक्रिया नही होती, उसी सत्ता को हमें प्राप्त करना है।

'व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दें। उसे महासत्ता मे मिला दे। आर-पार तदाकार। सत्तामात्र निराकार।' ऐसा जीवन बन जाये। जो आर-पार और निराकार हो जाए। हमारी दृष्टि पर्यायों में न अटके बल्कि महासत्ता मे लीन हो जाये। यही निर्वाण की दशा है। अंदर-कदर, मंदर सुदर-- अर्थात् जो अदर है द्रव्य है वहाँ ऐसा कदर अर्थात् ऐसी गहराई है कि जहाँ पहुँच जाने पर कोई बाहरी आवाज कानों तक नहीं आ सकती है। वहाँ पर सुंदर, मंदर अर्थात् चेतनात्मक ज्ञान दर्शन रूप आत्मा बैठा हुआ है।

अंत में यही कहना चाहूँगा कि यदि किसी पर उपकार नहीं कर सकते तो अपकार करने के भाव मत करो। किसी का अहित नहीं करना और 'स्व' हित में लगे रहना सही मायने में यही परोपकार है। जो अपने ऊपर उपकार करने में लगा है वही व्यक्ति वास्तव मे सभी जीवों के ऊपर उपकार कर सकता है। भगवान महावीर के आत्म-कल्याण में जन-कल्याण छिपा हुआ है। हमें उनके बताये मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहिये।

□□

☐ मानवता

सर्दी का समय है। रात की बात, लगभग बारह बज गये हैं। सब लोग अपने अपने घरों में अपनी-अपनी व्यवस्था के अनुरूप सर्दी से बचने के प्रयत्न में हैं। खिड़कियाँ और दरवाजे सब बंद हैं। पलंग पर विशेष प्रकार की गर्म दरी बिछी है। उसके ऊपर भी गादी है ओढ़ने के लिए रजाई है। पलंग के समीप अंगीठी भी रखी है। एक-एक क्षण आराम के साथ बीत रहा है।

इसी बीच कुछ ऐसे शब्द ऐसी आवाज सुनाई पड़ी जो दुख-दर्द भरी थी। इस प्रकार दुख भरी आवाज सुनकर मन बेचैन हो गया। इधर-उधर उठकर देखते हैं। तो सर्दी भीतर घुसने का प्रयास कर रही है। वह सोचते हैं कि उठूँ कि नहीं उठूँ। कुछ क्षण बीतने के उपरांत वह करुण आवाज पुनः कानों में आ जाती है। उठने की हिम्मत नहीं है सर्दी बढ़ती जा रही है पर देखना तो आवश्यक लग रहा है।

थोड़ी देर बाद साहस करके उठकर देखते हैं तो बाहर कुत्ते के तीन चार छोटे-छोटे बच्चे सर्दी के मारे सिकुड़ गये थे। आवाज इन्हीं के रोने की थी। उन्हें देखकर रहा नहीं गया और वे अपने हाथों में उन कुत्ते के बच्चों को उठा लेते हैं और जिस गादी पर वे शयन कर रहे थे उसी पर लिटा देते हैं। धीरे-धीरे अपने हाथों से उन्हें सहलाते हैं। सहलाने से वे कुत्ते के बच्चे सुख-शान्ति को अनुभव करने लगे। वेदना का अभाव सा होने लगा। उन बच्चों को ऐसा लगा जैसे कोई माँ उन्हें सहला रही हो।

सहलाते-सहलाते उनकी ऑखे डब-डबाने लगीं। आँसू बहने लगे। वे सोचने लगे कि इन बच्चों के ऊपर मैं और क्या उपकार कर सकता हूँ। इनका जीवन अत्यंत परतंत्र है। प्रकृति का कितना भी प्रकोप हो पर उसका कोई प्रतिकार ये नहीं कर सकते। ऐसा दयनीय जीवन ये प्राणी जी रहे हैं। हमारे जीवन में एक क्षण के लिए भी प्रतिकूल अवस्था आ जाए तो हम क्या करते हैं। सारी शक्ति लगा कर उसका प्रतिकार करते हैं। संसार में ऐसे कई प्राणी होंगे जो प्रतिकार की शक्ति के अभाव में यातना पूर्वक जीते हैं। कोई कोई तो मनुष्य होकर भी पीड़ा और यातना सहन करते हैं। उन्होंने इसी समय से संकल्प ले लिया कि "अब मैं ऐश-आराम की जिन्दगी नहीं जिऊँगा ऐश-आराम की जिंदगी

विकास के लिए कारण नहीं बल्कि विनाश के लिए कारण है। या कहो ज्ञान का विकास रोकने में कारण है। मै ज्ञानी बनना चाहता हूँ। मैं आत्म-ज्ञान की खोज करूँगा। सबको सुखी बनाने का उपाय खोजूँगा।'' उन कुत्ते के बच्चों की पीड़ा को उन्होंने अपने जीवन के निर्माण का माध्यम बना लिया। जीवन के विकास के लिए ऐसा ही कोई न कोई निमित्त आवश्यक होता है। यह कथा गांधी जी के जीवन की है। गादी पर सुलाने वाले और कुत्ते के बच्चों को सहलाने वाले वे गांधी जी ही थे।

इस घटना से प्रभावित होकर उन्होंने नियम ले लिया कि सभी के हित के लिए अपना जीवन समर्पित करूँगा। जिस प्रकार मैं इस संसार में दुखित हूँ उसी प्रकार दूसरे जीव भी दुखित हैं। मैं अकेला ही सुखी बनूँ यह बात ठीक नहीं है। मैं अकेला सुखी नहीं बनना चाहता, मेरे साथ जितने और प्राणी है सभी को सुखी बनाना चाहता हूँ। जो कुछ मेरे लिए है वह सबके लिए होना चाहिये। दूसरो के सुख में ही मेरा भी सुख निहित है। उन्होंने अपनी आवश्यकताएँ सीमित कर लीं। एकत्रित भोग्य पदार्थों की सीमा बांध ली।

एक दिन की बात। वे घूमने जा रहे थे। तालाब के किनारे उन्होने देखा कि एक बुढ़िया अपनी धोती धो रही थी। देखते ही उनकी आखों मे आसू आ गये। आधी धोती बुढ़िया ने पहन रखी थी और आधी धोती धो रही थी। आपने कभी सोचा? कितने हैं आपके पास कपड़े? एक बार मे एक ही जोड़ी पहनी जाती है यह बात सभी जानते हैं लेकिन एडवास मे जोड़कर कितने रखे है? बोलो, चुप क्यो?

आपकी जिन पेटियों मे सैकड़ो कपड़े बंद पड़े है उन पेटियो मे घुस-घुसकर चूहे कपडे काट रहे होंगे पर फिर भी आपके दिमाग में यह चूहा काटता रहता है कि उस दिन बाजार मे जो बढ़िया कपड़ा देखा था वह हमारे पास होता। जो पेटी मे बंद हैं उसकी ओर ध्यान नही है जो बाजार मे आया है उसे खरीदने की बेचैनी है। सारे काम छोड़कर उसी की पूर्ति का प्रयत्न है। यही तो अपव्यय है। यही दुख का कारण है। गाधी जी ने उस बुढ़िया की हालत देखकर सोचा कि अरे! इसके पास तो ठीक से पहनने के लिए भी नहीं है ओढ़ने की बात तो बहुत दूर है। कितना अभावग्रस्त जीवन है इसका लेकिन फिर भी इसने किसी से जाकर अपना दुख नहीं कहा। इतने में ही काम चला रही है। जब से गांधी जी ने जनता के दुख भरे जीवन को देखा तब से उन्होंने सादा जीवन बिताना प्रारम्भ कर दिया। छोटी सी धोती पहनते थे जो घुटने तक आती थी। आप जरा अपनी ओर देखें आपके जीवन में कितना व्यर्थ खर्च हो रहा है। जो किसी और के काम आ सकता था वह व्यर्थ ही नष्ट हो रहा हैं

आप भारत के नागरिक हैं। गांधी जी भारत के नेता माने जाते थे। उनका जीवन

कितना आदर्श था। उन्हें दूसरे के दुख का अनुभव था। उनके पास वास्तविक ज्ञान था। ज्ञान का अर्थ है देखने की आँखे। ऐसी आँखे उनके पास थीं जिनमें करुणा का जल छलकता रहता था। धर्म यही है कि दीन दुखी जीवों को देखकर आँखों में करुणा का जल छलक आयें अन्यथा छिद्र तो नारियल में भी हुआ करते हैं। दयाहीन आंखे नारियल के छिद्र के समान हैं। जिस ज्ञान के माध्यम से प्राणीमात्र के प्रति संवेदना जागृत नहीं होती उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं और वे आँखें किसी काम की नहीं जिनमें देखने-जानने के बाद भी संवेदना की दो तीन बूंदे नहीं छलकती।

एक अंधे व्यक्ति को हमने देखा था। दूसरे के दुख की बात सुनकर उसकी आँखों में पानी आ रहा था। मुझे लगा वे आँखे बहुत अच्छी हैं जिनसे भले ही दिखायी नहीं देता लेकिन करुणा का जल तो छलकता रहता है। गांधी जी के पास पर्याप्त ज्ञान था, विलायत जाकर उन्होंने अध्ययन किया और बैरिस्टर बने। बैरिस्टर बहुत कम लोग बन पाते है। यह उपाधि भी भारत में नहीं विलायत से मिलती है। इतना सब होने पर भी उनके भीतर धर्म था संवेदना थी। वे दया धर्म को जीवन का प्रमुख अंग मानते थे। या कहो कि जीवन ही मानते थे। उनके जीवन की ऐसी कई घटनायें हैं जो हमें दया से अभिभूत कर देती हैं।

दया धर्म का मूल है; पाप मूल अभिमान तुलसी दया न छांड़िये, जब लौं घट में प्रान। यह जो समय हमें मिला है जो कुछ उपलब्धियाँ हुई हैं वह पूरी की पूरी उपलब्धियाँ दया धर्म पालने के लिए ही है। ज्ञान के माध्यम से हमें क्या करना चाहिये तो सतों ने लिखा है कि ज्ञान का उपयोग उन स्थानो को जानने में करना चाहिये जिन स्थानों में सूक्ष्म जीव रह सकते हैं ताकि उनको बचाया जा सके। जीवों को जानने के उपरांत यदि दया नहीं आती तो उस ज्ञान का कोई उपयोग नहीं। वह ज्ञानी नहीं माना जा सकता जिसके हृदय में उदारता नहीं है जिसके जीवन में अनुकम्पा नहीं है। जिसका अपना शरीर तो सर्दी में कंप जाता है। किंतु प्राणियों की पीड़ा को देखकर नहीं कंपता, वह लौकिक दृष्टि से भले ही कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, परमार्थ दृष्टि से सच्चा ज्ञानी वह नहीं है।

आज पंचेन्द्रिय जीव जिनमें तिर्यंच पशुपक्षियों की बात तो बहुत दूर रही, ऐसे मनुष्य भी हैं जिन्हें जीने योग्य आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध नहीं हो पाती। समय पर भोजन नहीं मिलता, रहने को मकान नहीं है शिक्षा के समूचे साधन नहीं है। सारा जीवन अभाव में व्यतीत हो जाता है। कुछ मिलता भी है तो उस समय जब जीवन ढलता हुआ नजर आने लगता है। जैसे शाम तक यदि कुछ राशन मिल भी जाए तो सूरज डूबने को है और रात्रि भोजन का त्याग है। अब खाने की सामग्री होते हुए भी खाने का मन नहीं

है। आप सोचिये रात्रि भोजन का त्याग करने के उपरांत भी आप रात्रि में कितनी चीजें खाने योग्य जुटा लेते हैं। संसार में ऐसे भी लोग हैं जो दिन में भी एक बार भरपेट भोजन नहीं आ पाते। थोड़ा उनके बारे में भी सोचिये। उनकी ओर भी तो थोड़ी दृष्टि कीजिये। कितने लोग यहाँ हैं जो इस प्रकार का कार्य करते हैं। दूसरे के दुख में कमी लाने का प्रयास करते हैं।

आज इस भारत में सैकड़ों बूचड़खानों का निर्माण हो रहा है। पशु पक्षी मारे जा रहे हैं आप सब सुन रहे हैं देख रहे हैं फिर भी उन राम-रहीम और भगवान महावीर के समय में जिस भारत भूमि पर दया बरसती थी, सभी प्राणियों के लिए अभय था उसी भारत भूमि पर आज अहिंसा खोजे-खोजे नहीं मिलती।

आज बड़ी-बड़ी मशीनों के सामने रखकर एक-एक दिन में दस-दस लाख निरपराध पशु काटे जा रहे हैं। सर्वत्र बड़े-बड़े नगरों में हिंसा का ताण्डव नृत्य दिखाई दे रहा है। आपको कुछ करने की यहाँ तक कि यह सब देखने तक की फुरसत नहीं हैं क्या आज इस दुनियां में ऐसा कोई दयालु वैज्ञानिक नहीं है जो जाकर के इन निरपराध पशुओं की करुण पुकार को सुन सके, उनके पीड़ित जीवन को समझ कर उनकी आत्मा की आवाज पहचान कर हिसा के बढ़ते हुए आधुनिक साधनों पर रोक लगा सकें।

आज पशुओं की हत्या करके, उनकी चमड़ी माँस आदि सब कुछ अलग करके डिब्बों में बंद करके निर्यात किया जाता है। सरकार सहयोग करती है और आप भी पैसों के लोभ में ऐसे अशोभनीय कार्यो में सहयोगी बनते हैं। आप केवल नोट ही देख रहे हैं फॉरेन करेंसी। लेकिन आगे जाकर जब इसका फल मिलेगा तब मालूम पड़ेगा। इस दुष्कार्य में जो भी व्यक्ति समर्थक हैं उनके लिए भी नियम से इस हिंसा जनित पाप के फल का यथायोग्य हिस्सा भोगना पड़ेगा। समय किसी को माफ नहीं करता।

छहढाला का पाठ आप रोज करते हैं। 'सुखी रहे सब जीव जगत के' – यह मेरी भावना भी रोज-रोज भायी जाती है लेकिन निरंतर होने वाली हिंसा को रोकने का उपाय कोई नहीं करता। चालीस-पचास साल भी नहीं हुए गांधी जी का अवसान हुए और यह स्थिति उन्हीं के देश में आ गयी। जिस भारत भूमि पर धर्मायतनों का निर्माण होता था। उसी भारत भूमि पर आज धड़ाधड़ सैकड़ों हिंसायतनों का निर्माण हो रहा है। इसमें राष्ट्र के साथ-साथ व्यक्ति का भी दोष है। क्योंकि देश में प्रजातंत्रात्मक शासन है। प्रजा ही राजा है। आपने ही चुनाव के माध्यम से वोट देकर शासक नियुक्त किया है। यदि आपके भीतर निरंतर होने वाली उस हिंसा को देखकर करुणा जागृत हो जाए तो शासक कुछ नहीं कर सकते। आपको जागृति लानी चाहिये।

सौंदर्य प्रसाधन सामग्री भी आप मुंह मांगे दाम देकर खरीदते हैं। जीवन का आवश्यक कार्य समझकर उसका उपयोग करते हैं। क्या जानबूझकर आप उसमें होने वाली अंधाधुंध हिंसा का समर्थन नहीं कर रहे हैं। आप रात्रि-भोजन नहीं करते, अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाते, पानी छानकर पीते हैं नियमित स्वाध्याय करते हैं पर हिंसा के साधनों का, उपयोग करके हिंसा का समर्थन करते हैं। इस नश्वर शरीर की सुंदरता बढ़ाने के लिए आज कितने जीवों को मौत के घाट उतारा जा रहा है। दूध देने वाली भोली भाली गायें, भैंसें दिन दहाड़े मारी जा रही हैं। खरगोश, चूहे, मेंढक और बेचारे बंदरों की हत्या दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और आप चुप हैं। सब वासना की मूर्ति के लिए हो रहा है। पशुओं को सहारा देना, उनका पालन पोषण करना तो दूर रहा। उनके जीवन को नष्ट होते देखकर भी आप चुप हैं कहाँ गयी आपकी दया, कहाँ गया आपका लम्बा चौड़ा ज्ञान-विज्ञान, कहाँ गया आपका मानव धर्म।

आज मुर्गी पालन केंद्र के नाम पर मुर्गियों को जो यातना दी जा रही है वह आपसे छिपी नहीं है मछलियों का उत्पादन उनकी संख्या बढ़ाने के लिए नहीं उन्हें मारने के लिए हो रहा है। उस सबकी शिक्षा दी जा रही है लेकिन दया की उत्पत्ति अनुकम्पा की उत्पत्ति, और आत्म-शान्ति के लिए कोई ऐसी यूनिवर्सिटी, कोई कालेज या स्कूल कहीं देखने में नहीं आ रहा। मुझे यह देखकर बड़ा दुख होता है कि जहाँ परआप लोगों ने धर्म के संस्कारों के लिए विद्यालय और गुरुकुल खोले थे वहाँ भी धर्म का नामो निशान नहीं है। सारे लौकिक विषय वहाँ पढ़ाये जाते हैं लेकिन जीव दया पालन जैसा सरल और हितकर विषय रंचमात्र भी नहीं है।

आज नागरिक शास्त्र की आवश्यकता है। ऐसा नागरकि शास्त्र जिसमें सिखाया जाए कि कैसे श्रेष्ठ नागरिक बनें। कैसे समाज का हित करें। कैसे दया का प लन करें! उस नागरिक शास्त्र के माध्यम से हम सही जीवन जीना सीखें और दूसरे प्राणियों को अपना सहयोग दें। पशुओं की रक्षा करें। उनका सहयोग भी अपने जीवन में लें।

जहाँ पहले पशुओं की सहायता से खेतो में हल चलाया जाता था, चरस द्वारा सींचा जाता था। वहाँ अब ट्रेक्टर और पंप आ गया। जमीन का अनावश्यक दोहन होने लगा और कुंए खाली हो गये। चरस चलने से पानी धीरे-धीरे निकलता था, जमीनमें भीतर धीरे-धीरे घुसता चला जाता था जमीन की उपजाऊ शक्ति बनी रहती थी पानी का अपव्यय नहीं होता था। इस सारे कार्य में पशुओं का सहयोग मिलता था। उनका पालन भी होता था, मशीनों के अत्यधिक प्रयोग से यह सब नष्ट हो गया। लाभ के स्थान पर हानि हुई और हिंसा भी बढ़ गयी। आप सही तरीके से सोचें तो ज्ञात होगा कि सभी क्षेत्रों में सामाजिक क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में, शैक्षणिक क्षेत्र में ऐसा कोई भी कार्य नहीं हुआ

जिसकी तुलना हम पूर्व परम्परा से कर सकें और उसे अधिक लाभकारी कह सकें।

आप लोग चुपचाप सब बातें सुन रहे हैं। जीवन में परिवर्तन लाने का भी प्रयास करिये। अपनी संतान को इस प्रकार की शिक्षा देने में आपअपने आप को कृतकृत्य मानते हैं कि हमारा लड़का एम बी.बी.एस. हो जाये, इंजीनियर या ऑफीसर हो जाये। ठीक है पर उसके भीतर धर्म के प्रति आस्था, संस्कृति के प्रति आदर और अच्छे संस्कार आयें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये। जो कार्य आस्था के बिना और विवेक के बिना किया जाता है वह बहुत कम दिन चलता है। भीतर उस कार्य के प्रति कोई जगह न हो तो खोखलापन अल्प समय तक ही टिकता है। उच्च शिक्षा के साथ मानवीयता की शिक्षा भी होनी चाहिये।

नवनीत और छाँछ ये दो तत्त्व हैं। जिसमें सारभूत तत्त्व नवनीत है पर आज उसे छोड़कर हमारी दृष्टि मात्र छाँछ की ओर जा रही है। अपनी मूल संस्कृति को छोड़कर भारत, पाश्चात्य संस्कृति की ओर जा रहा है यह नवनीत छोड़कर छाँछ की ओर जाना है। बंधुओं, ज्ञान धर्म के लिए है मानवता के लिए है। मानव-धर्म ही आत्मा को उन्नति की ओर ले जाने वाला है। यदि ज्ञान दयाधर्म से संबंधित होकर दयामय हो जाता है तो वह ज्ञान हमारे लिये हितकर सिद्ध होगा। वे आखें भी हमारे लिए बहुत प्रिय मानी जायेंगी जिनमें करुणा, दया अनुकम्पा के दर्शन होते हो। अन्यथा इनके अभाव में मानव जीवन नीरस प्रतीत होता है।

आज सहनशीलता, त्याग, धर्म वात्सल्य और सह अस्तित्व की भावना दिनोंदिन कम होती जा रही है। प्रगति के नाम पर दिनोंदिन हिंसा बढ़ती जा रही है। भौतिकता से ऊब कर एक दिन बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी धर्म की ओर मुड़ने को मजबूर होना पड़ेगा, हो भी रहे है। कैसे जिये! कैसा व्यवहार करें! ताकि जीवन में सुख शान्ति आये इन प्रश्नों का समाधान आज विज्ञान के पास नहीं है। अनावश्यक भौतिक सामग्री के उत्पादन से समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। धन का भी अपव्यय हो रहा है। शक्ति क्षीण हो रही है। हमे इस सबके प्रति सचेत होना चाहिये।

हम जब बहुत छोटे थे, उस समय की बात है। रसोई परोसने वाले को हम कहते थे कि रसोई दो बार परोसने की अपेक्षा एक बार ही सब परोस दो। तो वह कह देते थे कि हम तीन बार परोस देंगे लेकिन तुम ठीक से खाओ तो। एक बार में सब परोसेंगे तो तुम आधी खाओगे और आधी छोड़ दोगे। इसी प्रकार आज हर क्षेत्र में स्थिति हो गयी है। बहुत प्रकार का उत्पादन होने से अपव्यय होरहा है सभी उसका सदुपयोग नहीं कर पा रहे हैं।

एक समय वह भी था जब धन संपत्ति का संग्रह होता भी था तो एक दूसरे के

उपकार के लिए होता था। धर्म का उपयोग धार्मिक अनुष्ठानों में होता था। जो धन दूसरों का हित करने वाला था वहीं धन आज परस्पर द्वेष और कलह का कारण बना है 'मैं किसी को क्यों दूँ' इस प्रकार की स्वार्थ भावना मन में आ गयी है। इसी लिए धन का उपयोग कैसे करें। कहाँ करें इस बात का विवेक नहीं रहा। अर्जन करने की बुद्धिमानी तो है लेकिन सही-सही उपयोग करने का विवेक नहीं है। जैनधर्म का कहना है कि उतना ही उत्पादन करो जितना आवश्यक है। अनावश्यक उत्पादन में समय और शक्ति मत गवांओ। धन का संग्रह करने की अपेक्षा जहाँ पर आवश्यक है वहाँ पर लगाओ। इसी में सभी का हित निहित है।

बहुत दिन पहले की बात है। राज्य व्यवस्था और राज्य शासन कैसा हो इस बारे में एक पाठ पढ़ा था। उस राजा के राज्य में धीरे-धीरे प्रजा की स्थिति दयनीय हो गयी। राजा के पास बार बार शिकायतें आने लगीं। राजा ने सारी बात मालूम करके कमियों को दूर करने के लिए सख्त आदेश दे दिया। कह दिया कि हमारे राज्य मे कोई भी व्यक्ति भूखा नहीं सो सकता। यदि भूखा सोयेगा तो दण्ड दिया जाएगा। कोई भूखा हो तो अपनी बात राजा तक पहुँचाने के लिए एक घंटा भी लगवा दिया।

एक दो दिन तक कुछ नहीं हुआ। तीसरे दिन घंटा बजने लगा। घंटा बजते ही जो सिपाही वहाँ तैनात था उसने देखा कि बात क्या है? घंटा बजाने वाला वहाँ कोई व्यक्ति नही था, एक घोड़ा अवश्य था। किसी ने घंटे के ऊपर थोड़ा सा घास अटका दिया था, उसको खाने के लिए वह घोड़ा सिर उठाता था तो घंटा बजने लगता था। राजा तक खबर पहुँची राजा ने सोचा कि जरूर यह घोड़ा भूखा है। उसके मालिक को बुलाया। पूछा गया कि बोलो यह कितने दिन से भूखा था। 'अन्नदाता, मैंने इसे जानबूझकर भूखा तो नही रखा' – उस घोड़े के मालिक ने डरते-डरते कह दिया। राजा ने पुनः प्रश्न किया कि फिर यह भूखा क्यों है? तब वह कहने लगा कि अन्नदाता! इस घोड़े के माध्यम से मैं जो कुछ भी कमाता हूँ उसमें कमी आ गयी है। पहले लोग जो किराया देते थे अब उसमें कमी करने लगे है। मेरा तो एक बार भोजन से काम चल जाता है पर इसके लिए कहाँ से पूरा पड़ेगा। मैंने सोचा कि अपनी बात यह स्वयं आपसे कहे इसलिए इसके माध्यम से घंटा बजवा दिया। अब आप ही न्याय करें।

राजा हंसने लगा वह सारी बात समझ गया कि कमी कहाँ है? मनुष्य मनुष्य के बीच जो आदान-प्रदान का व्यवहार है उसमें कमी आ गयी है। उसी दिन राजा ने आज्ञा दी कि जो जितना काम करे उसे उसके अनुरूप वेतन मिलना चाहिए फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु भी क्यों न हो। सभी को समान अधिकार है जीने का। यह कहलाती है शासन व्यवस्था! यही राजा का धर्म हैं आज इस धर्म के पालन में कमी आ जाने से

सभी दुख का अनुभव कर रहे हैं। हमें अधर्म से बचकर मानव धर्म के लिए तत्पर रहना चाहिये।

गांधी जी के माध्यम से भारत को स्वतंत्रता मिली। उनका उद्देश्य मात्र भारत को स्वतंत्रता दिलाने का नहीं था। व्यक्ति-व्यक्ति स्वतंत्रता का अनुभव कर सके, प्राणीमात्र स्वतंत्र हों और सुख शान्ति प्राप्त करें यह उनकी भावना थी। सब संतों का धर्मात्मा पुरुषों का उद्देश्य यही होता है कि जगत के सभी जीव सुख शान्ति का अनुभव करें। एक साथ सभी जीवों के प्रति अभय देने की भावना हर धर्मात्मा के अंदर होती है, होनी भी चाहिये। इस बात का प्रयास सभी को करना चाहिये।

प्राणी मात्र के भीतर जानने देखने की क्षमता है पशुपक्षी भी हमारी तरह जानते देखते है। किसी-किसी क्षेत्र में उनका इन्द्रिय ज्ञान हमसे भी आगे का है। यहाँ आप बैठे सुन रहे है लेकिन आप ही मात्र श्रोता हैं ऐसा नहीं है। पेड़ के ऊपर बैठी चिड़िया भी सुन सकती है। कौआ भी सुन सकता है बदर भी सुन सकता है और ये सब प्राणी भी अपने जीवन को धर्ममय बना सकते हैं। बनाते भी है। पुराणों के अंदर ऐसी कथाओं की भरमार है। इन कथाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि हम लोगों को तो अल्प-समय में ही बहुत उन्नति कर लेना चाहिये।

आज से आप लोग यह संकल्प कर लें कि नये कपड़े या अन्य कोई उपयोगी सामग्री खरीदने से पहले पुराने कपड़े और पुरानी सामग्री दया पूर्वक, जिसके पास नहीं हैं उसे दे दें। परस्पर एक दूसरे का उपकार करने का भाव बनायें।

इस युग में गांधी जी ने अपने जीवन को 'सिम्पल लिविंग एण्ड हाई थिंकिंग' सादा जीवन उच्च विचार के माध्यम से उन्नत बनाया था। वे सदा सादगी से रहते थे। भौतिक शक्ति भले ही कम थी लेकिन आत्मिक शक्ति धर्म का सम्बल अधिक था। उनके अनुरूप भी यदि आप अपना जीवन बनाने के लिए संकल्प कर लें तो बहुत सारी समस्याएँ समाप्त हो जायेंगी। जितनी सामग्री आवश्यक है उतनी ही रखें उससे अधिक न रखें, इस प्रकार परिमाण कर लेने से आप अपव्यय से बचेंगे साथ ही सामग्री का संचय नहीं होने से सामग्री का वितरण सभी के लिए सही ढंग से होगा। सभी का जीवन सुखद होगा। देश में मानवता कायम रहेगी और देश की संस्कृति की रक्षा होगी; आत्म कल्याण होगा।

□□

प्रवचन पर्व

आचार्य मुनिश्री विद्यासागर

प्रवचन पर्व

प्राक्कथन

पर्यूषण पर्व एक अद्‌भुत पर्व है। यह मानवीय भावनाओं के परिष्कार या उदात्तीकरण का पर्व है। इसका उद्‌देश्य व्यक्ति को तनाव के कारणो से मुक्ति दिलाना है। तनाव का कारण मनुष्य के अपने विकार हैं। इन विकारो का जन्म अधर्माचरण से होता है। अधर्म से बचते हुये धर्म का अनुपालन करने वाला जीव ही निर्विकार बन सकता है। शास्त्रों मे उस धर्म को दशलक्षण रूप बताया है।

हर वर्ष पर्यूषण पर्व मे उन दश धर्मो पर चिन्तन-मनन चलता है। जिस प्रकार दाल-रोटी शरीर की खुराक है, उसी प्रकार भजन-चिन्तन आत्मा की खुराक है। जब हमारी दृष्टि शरीर पर जाती है तो हमारा मन भोजन और भोग की ओर दौड़ता है तथा जब ध्यान आत्मा की ओर जाता है तो भजन और स्वाध्याय के प्रति रुचि जगती/बढ़ती है। प्रस्तुत कृति मे वर्णित दशलक्षण रूप धर्म के चितन से आत्महित मे प्रवृत्ति होती है तथा चित्त भोगाकाक्षाओ से हटकर योग-मार्ग मे रमण करने लगता है।

परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज इस सदी के संतों में शिरोमणि है। निर्दोष चर्या एव हृदयस्पर्शी वक्तृत्व-कला ने उन्हे जन-जन का ऋषि बना दिया है। सम्पूर्ण भारत मे 'राष्ट्रसत' के रूप मे उनकी ख्याति है। इस पुस्तिका मे दशलक्षणधर्म पर दिये गये उनके प्रवचन सङ्कलित किये गये है। उनकी प्रवचन-शैली की यह विशेषता है कि वह शास्त्रो के गहनतम रहस्यों को भी अपनी चुटीली भाषा और सहज युक्तियों से सरल एव बोधगम्य बना देते है। इन प्रवचनो मे कहीं भी पाडित्य का प्रदर्शन नहीं है, अपितु सर्वत्र अनुभव की सरसता है।

प्रस्तुत कृति मे पूज्य आचार्य श्री ने परम्परित दृष्टान्तों की अपेक्षा रोजमर्रा की जिन्दगी में देखे-समझे, उदाहरणो से अपने कथ्य को पुष्ट करने का अधिक प्रयास किया है। सीप और मोती, हलुवा और आग, दूध और घी, दोज के वक्र और पूनम के पूर्ण चन्द्रमा आदि के उदाहरण पुस्तकीय नहीं है। वे अनुभव की आँख से देखे गये है। उनका हृदय पर सीधा और गहरा असर होता है। शब्द-शक्ति पर उनकी कैसी पकड़ है, इसका परिचय भी इन प्रवचनो से मिलता है। अनेक स्थानों पर एक ही शब्द या वाक्याश से दो अथवा दो से अधिक अर्थो की अभिव्यक्ति चमत्कार उत्पन्न करती है।

'पर्व पूर्व भूमिका' शीर्षक अपने प्रथम प्रवचन मे पूज्य आचार्य श्री ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमे पंचेन्द्रियो के विषय को छोड़ते जाना है'। यदि धर्म का सेवन इन विषयो का विमोचन किये बिना करेंगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शांति और तृप्ति नहीं मिलेगी। आत्मा का हित चाहने वालो को अहित के कारणों से बचना

ही प्रवचनकार को इष्ट है और पूरी कृति मे यही लक्ष्य प्रमुखता से उसके सामने रहा है।

कहने के लिए भले ही धर्म के लक्षण दश है, किन्तु यथार्थ मे यह सब दश धर्म एक मे ही गर्भित हो जाते है। एक के आने से सभी आ जाते है।

उत्तम क्षमादि भाव वस्तुत आत्मा के गुण है। यह गुण हर जीव मे पाये जाते है। ससार मे ऐसा कोई व्यक्ति नही है, जिसके भीतर इन गुणो का खजाना न हो, किन्तु सदा बाहर की ओर देखने रहने की अपनी पुरानी आदत के कारण वह इन्हें देख या जान नही पाता है। यह प्रवचन व्यक्ति को अन्तर्यात्रा पर ले जाते है। अन्तर्यात्रा का अर्थ है स्वभाव मे जीने की कोशिश। जिस प्रकार उत्ताल लहरों का कोलाहल समुद्र की सतह पर ही सुनाई पड़ता है किन्तु उसके भीतर कोई हलचल नही होती, उसी प्रकार हमारे जीवन मे तनाव भी बाहर से आते है (सभी परनिमित्तक हैं) किन्तु यदि हम अपने भीतर झाँक कर देखें तो वहाँ शान्ति का अथाह साम्राज्य ही पायेगे। इसी का नाम स्वभाव है। उत्तम क्षमादि धर्मो का पालन उसी स्वभावगत शान्त या निराकुलता मे जीने या रहने की कला का ही दूसरा नाम है।

इस कृति के माध्यम से जीव मात्र तक को पूज्यश्री का करुणा का प्रसाद पहुँच रहा है। उनके हर प्रवचन मे आत्मा का सगीत सुनाई पड़ता है तथा पग-पग पर आत्मजागरण की प्रेरणा मिलती है। उनका यह उपकार हमारे लिये किसी अयाचित वरदान स कम नही है।

इन प्रशस्त प्रवचनो का सम्पादन उनके प्रतिभा-सम्पन्न सुयोग्य शिष्य पूज्य मुनि क्षमासागर जी महाराज एव ऐलक श्री अभयसागर जी महाराज ने किया है। कृति के अन्त मे जैन धर्म का पारिभाषित शब्द-कोष देकर उन्होने इसे और भी अधिक उपयोगी बना दिया है। वीतरागी एव हितानुशास्ता गुरुओ के चरणो मे हमारा शतश नमन।

फिरोजाबाद (उत्तर प्रदेश) नरेन्द्र प्रकाश जैन
दिनांक २७ जून, १९९३ (सम्पादक - जैन गजट)
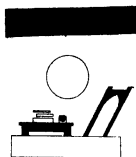
पर्व : पूर्व भूमिका

- यदि धर्म का सेवन हम विषयो का विमोचन किये बिना करेगे तो स्वाद नही आयेगा, शान्ति और तृप्ति नही मिलेगी। कम से कम धर्म को अगीकार करने से पहले विषयो के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिये। उनके प्रति आसक्ति तो कम करनी ही चाहिए।

कल पर्वराज आ रहा है और आत्मा के धर्म अर्थात् स्वभाव के बारे में वह हमसे कुछ कहेगा। दस दिनो मे आप तरह-तरह से आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति के लिये प्रयास करेंगे। कोई बार-बार भोजन की आकांक्षा छोड़कर एक बार भोजन करेगा। कोई एकाशन करने वाला कभी-कभी उपवास करने का अभ्यास करेगा और किसी दिन जो जोड़ रखा है उसे छोड़ने का भाव लायेगा। कोई भी कार्य किया जाता है तो भूमिका बनाना आवश्यक होता है। नींव यदि कमजोर है तो उसके ऊपर महाप्रासाद निर्मित कराना सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार आगामी दस दिनों मे आप जो भी अपने आत्म-विकास के लिये करना चाहें, उसकी आज से ही भूमिका मजबूत कर लेनी चाहिये।

एक रोगी व्यक्ति वैद्य के पास गया कि कुछ इलाज बताइये ताकि कमजोरी दूर हो और शान्ति मिले। तब वैद्य जी ने रोग का निदान करके औषधियाँ बता दी और कह दिया कि इन सभी का हलुवा बनाकर सेवन करना। कुछ दिनो के उपरान्त इसके सेवन से शक्ति और शान्ति मिल जायेगी। सभी चीजों का अनुपात और बनाने की विधि भी बता दी। उस व्यक्ति ने ठीक वैसा ही किया लेकिन उससे वह पौष्टिकता देने वाला हलुवा ठीक से खाया नहीं गया। दो-तीन दिन तक प्रयास करने के उपरान्त जब उसे वह हलुवा नही खाया गया तो वह वैद्य जी के पास पहुँचा और कहा कि रोग मे कोई लाभ नही हुआ। वह हलुवा जैसे तैसे खाया तो, लेकिन ठीक-ठीक खाया नही गया। आपने जैसा बताया था, वैसा ही किया। उसमे किसी बात की कमी नही रखी लेकिन उसके सेवन के उपरान्त मुझे जरा भी सुख, शान्ति या तृप्ति नही मिली। जैसा आस्वादन मिलना चाहिये वह भी नही मिला। वैद्य जी ने कहा यह सम्भव ही नही है। बताओ क्या क्या मिलाया था ? सभी चीजो मगाई गयी। कही कोई कमी नही थी। सभी चीजे नपी-तुली थी, अनुपात भी ठीक था, बनाने की विधि भी ठीक थी पर केशर की डिब्बी जब वैद्य जी ने उठाई तो समझ गये कि बात क्या है। पूछा कि यही केशर डाली थी। उस व्यक्ति ने कहा कि हाँ यही डाली थी। केशर तो असली है, उसमे गड़बड़ कैसे हो सकती है ? वैद्य जी मुस्कराये कहा कि केशर तो असली है पर केशर रखने की डिबिया मे पहले क्या था ? तो मालूम पड़ा कि डिबिया में पहले हीग रखी थी। उस हीग के सस्कार के कारण पूरा का पूरा हलुवा बेस्वाद हो गया। यही गलती हो गयी। इसलिये शान्ति नही मिली और तृप्ति भी नही मिली।

बात आपके समझ मे आ गई होगी। यदि धर्म का सेवन हम विषयो का विमोचन किये बिना करेगे तो स्वाद नहीं आयेगा, शान्ति और तृप्ति नही मिलेगी। कम से कम धर्म को अंगीकार करने से पहले विषयो के प्रति रागभाव तो गौण होना ही चाहिये। हमारा धर्म महान् है जिसमे भगवान आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थकर हुये। भरत जैसे चक्रवर्ती और बाहुबली जैसे कामदेव हुये। बाहुबली भगवान का कोई चिन्ह भले ही नही है, लेकिन उनकी तपस्या से हर कोई उन्हे पहचान लेता है। वे तप

दूर चलने के उपरान्त एक घाटी में से गुजरते समय कुछ मधुमक्खियाँ आने लगीं और गुरुजी को एक-दो स्थान पर काट लिया । गुरुजी पीड़ा से कराहने लगे और वहीं बैठ गये । कहने लगे कि अब चलना सम्भव नहीं है ।

शिष्य बड़ी दुविधा में पड़ गया कि आखिर बात क्या है ? उसने पूछ ही लिया कि गुरुजी अभी अभी तो सिह के आ जाने पर आप बिल्कुल विचलित नहीं हुये थे और अब इतनी छोटी सी मधुमक्खियो से विचलित हो गये । कुछ समझ में नही आया ? गुरुजी मुस्कराये और बोले उस समय जब सिंह आया था तब मेरे साथ भगवान थे, मै उन्हीं मे लीन था । विचलित या भयभीत होने की बात ही नही थी लेकिन अब तो तू मेरे साथ है । भयभीत होना स्वाभाविक है । यह है सगति का असर ।

आज चतुर्थ काल तो है नही । उत्तम सहनन का भी अभाव है । क्षायिक सम्यग्दर्शन भी होना सम्भव नही है । ऐसे विषम समय मे विषयो की सङ्गति मे पड़ कर अपने स्वभाव को भूल करके कर्तव्य से च्युत होने की सम्भावना अधिक है । इसलिये समय-समय पर वर्ष भर मे बीच-बीच मे ऐसे पर्व रखे गय है जिनसे श्रावकों के लिये तीन सौ पैंसठ दिन में कुछ दिन विषय-कषायो के सम्पर्क से बचने का और धर्म के निकट आने का अवसर मिलता है । दश-लक्षण पर्व इसीलिये महत्त्वपूर्ण पर्व है कि इनमे लगातार दस दिन तक विभिन्न प्रकार से धर्म का आचरण करके अपनी आत्मा के विकास का अवसर मिलता है, जो कि श्रावकों के लिये अनिवार्य है । मुनि महाराजो का तो जीवन ही दशलक्षण धर्ममय होता है ।

तो बात यह है कि वीतराग-धर्म सुनने से पूर्व उसके योग्य पात्रता बनाना भी आवश्यक है । जैसे सिहनी का दूध स्वर्ण पात्र मे ही रुकता है उसी प्रकार वीतराग धर्म का श्रवण करके उसे धारण करने की क्षमता भी सभी मे नही होती । उसके लिये भावो की भूमि मे थोड़ा भीगापन होना चाहिये तथा आर्द्रता होनी चाहिये, जिससे वीतरागता के प्रति आस्था और उत्साह जागृत हो सके । चारो ओर भोगोपभोग की सामग्री होते हुये भी इस काया के द्वारा उस माया को गौण करके भीतरी आत्मा को पहचानने और शरीर के पृथक् अवलोकन करने के लिये दश लक्षण धर्म को सुनना मात्र ही पर्याप्त नहीं है, उसे प्राप्त करना भी अनिवार्य है ।

जीवन का एक-एक क्षण उत्तम-क्षमा के साथ निकले । एक-एक क्षण मार्दव के साथ, विनय के साथ निकले । एक-एक श्वास हमारी वक्रता के अभाव मे चले । ऋजुता और शुचिता के साथ चले । पूरा जीवन ही दश-धर्म मय हो जाये । दश धर्म की व्याख्या तो कोई भी सुना सकता है लेकिन धर्म का वास्तविक दर्शन और अनुभव तो दिगम्बर वेश मे ही सम्भव है । उसके प्रतिफल रूप मुक्ति भी इसी दिगम्बरत्व के साथ सम्भव है । जो व्यक्ति दश धर्म के श्रवण और दर्शन के माध्यम से एक समय के लिये भी जीवन मे धर्म

की मूर्ति है। त्याग की मूर्ति है। वे संयम की मूर्ति हैं। विदेशी पर्यटक भी श्रवणबेलगोल (हासन-कर्नाटक) में आकर गोम्मटेश बाहुबली स्वामी की मूर्ति देखकर ताज्जुब करते है कि यह कैसी विशाल, भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा है, जो बिना बोले ही शान्ति का उपदेश दे रही है। हमें कहने की आवश्यकता न पड़े और हमारा जीवन स्वय ही उपदेश देने लगे, यही हमारा धर्म है। यही धर्म का माहात्म्य भी है।

विषय भोगो मे उलझते रहने की वजह से ही हमारे उपयोग की धारा आज तक भटकती आ रही है। बटती चली आ रही है और सागर तक नहीं पहुँच पाती। मरुभूमि में ही विलीन हो रही है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों के बीच आसक्त रहकर आज तक किसी को धर्मामृत की प्यास नही जगी। आज तक आत्मा का दर्शन नही हुआ। दशलक्षण धर्म के माध्यम से हमे दुनिया की और कोई वस्तु प्राप्त नही करना है किन्तु जो पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं, उनको छोड़ते जाना है। जिस रुचि के साथ ग्रहण किया है उसी के अनुरूप उसका विमोचन करना भी आवश्यक है। जिस प्रकार कचरे को व्यर्थ मानकर फेंक देते है उसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय के विषयो को व्यर्थ मानकर उनका त्याग करना होगा।-उनके प्रति आसक्ति कम करना होगी। धर्म की व्याख्या तो आप कल से सुनेग, लेकिन आज कम से कम धर्म की केशर की सुगन्ध लेने से पहले अपनी डिब्बी का पुराना सस्कार अवश्य हटा दे।

एक बार गुरु और शिष्य यात्रा के लिये निकले, छोटी सी कथा पढ़ी थी। आप लोगो को याद हो तो ठीक है, अन्यथा पुनः याद ताजा कर ले। कैसा है सङ्गा साथी का प्रभाव? गुरु और शिष्य दोनो चले जा रहे थे। चलते-चलते शाम हो गई। सामायिक ध्यान का काल हो गया। एक पेड़ के नीचे बैठ गये। आगे भयानक जङ्गल था। वह ध्यान मे बैठे ही थे कि शिष्य की दृष्टि जङ्गल की ओर से आते हुये सिह पर पड़ी। शिष्य घबरा गया कि अब बचना सम्भव नही है। गुरु जी को पुकारा पर गुरु जी तो भगवान् के ध्यान मे तल्लीन थे। शिष्य चुपचाप उठा और धीरे से पेड़ पर चढ़कर ऊँचाई पर बैठ गया। वही से बैठे-बैठे उसने देखा कि सिह गुरु जी के पास आया और सूघ कर परिक्रमा लगाकर सब ओर से देखकर लौट गया। शिष्य तो थर थर कापने लगा कि पता नही क्या होने वाला है। जब सिह चला गया तब दीर्घ श्वास लेकर वह नीचे उतरा और गुरु जी के चरणो मे प्रणाम करके बैठ गया।

थोडी देर बाद जब गुरु जी ध्यान से बाहर आये और कहा कि चलो। तब शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। शिष्य ने कहा कि गुरुजी आज तो बड़ा भाग्योदय था। बच गये। एक सिह आया था और बिल्कुल आपके पास तक आया था। आपको सूघा भी था। क्या आपको मालूम नहीं है? गुरुजी ने कहा कि नहीं मुझे नहीं मालूम। अब तो शिष्य और भी अचम्भे मे पड़ा और श्रद्धा से पैरों पर गिर पड़ा कि अद्भुत है आपका धैर्य और आपकी दृढ़ता। गुरुजी ने अपनी प्रशसा सुनकर मानो अनसुनी कर दी और कहा कि चलो अभी और यात्रा करना है। दोनो फिर आगे यात्रा पर बढ गये। थोड़ी

के प्रति सङ्कल्पित होता है , उत्तम क्षमा धारण करने का भाव जागृत करता है, मैं समझता हूँ उसका यह भाव ही उसके लिये भूमिका का काम करेगा ।

रावण ने एक बार मुनि महाराज के मुख से धर्म श्रवण किया । उसके साथी भी साथ मे थे । जब अत में सभी ने एक-एक करके मुनि महाराज से कुछ न कुछ व्रत लिये तब चारण-ऋद्धिधारी उन मुनिराज ने रावण को कहा कि हे अर्द्धचक्री रावण ! तुम तो बलशाली हो । कौन सा व्रत लेते हो ? ले लो । तब रावण ने कहा कि महाराज आज मुझे अपने से बढ़कर कोई कमजोर नही लग रहा है । मै आपसे अपनी कमजोरी कैसे कहूँ ? एक छोटा सा व्रत भी मेरे लिये पालन करना कठिन लगता है । इतना ही कर सकता हूँ कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी उसके साथ सम्बन्ध के लिये मै जबरदस्ती उसे बाध्य नही करूँगा, यही मेरा व्रत रहा ।

रावण ने सोचा था कि ऐसी कोई स्त्री नही होगी जो उसे नही चाहेगी । पर आपको ज्ञात ही है कि इस एक व्रत ने भी उसे बहुत अच्छी शिक्षा दी । सीता का हरण तो कर लिया लेकिन सीता को बाध्य नही कर सका । उसने जीवन को थोड़ा बहुत संस्कारित तो अवश्य किया । वैसे ही हमे भी व्रतो को अङ्गीकार करके स्वयं को संस्कारित करना चाहिये और व्रतियो को देखकर व्रतो के प्रति आकृष्ट होना चाहिये । सभी को व्रत, नियम, सयम के प्रति प्रोत्साहित भी करना चाहिये ।

बन्धुओ ! यदि एक बार शान्ति के साथ आप विषयों को गौण करके थोड़ा विचार करे, तो अपने आप ज्ञान होने लग जायेगा कि हमारा धर्म क्या है ? हमारा स्वभाव क्या है ? हमे विषय-कषायो की सङ्गति नही करना चाहिये । वीतरागी की सङ्गति करनी चाहिये ताकि धर्म का वास्तविक स्वरूप समझ मे आ सके । आज विलासिता दिनोदिन बढ़ती जा रही है । आज तीर्थ-क्षेत्रो पर भी सुख-सुविधा के प्रबन्ध किये जा रहे है । पर ध्यान रखना-सुख-सुविधा से राग ही पुष्ट होता है, वीतरागता नहीं आती । वीतरागता प्राप्त करने के लिए, धर्म धारण करने के लिये थोड़ा कष्ट तो सहन करने की क्षमता लाना ही चाहिये । स्वयं को सयत बनाने का भाव तो आना ही चाहिये । स्वभाव की पहचान करने के लिये विभाव-रूप विषय-कषायो को गौण करना अनिवार्य है । हिसा से दूर रहकर अहिसा का पालन करते हुये जो व्यक्ति इन दश धर्मो का श्रवण-चिन्तन-मनन करता है, उन्हे प्राप्त करने का भाव रखता है; वह अवश्य ही अपने जीवन मे आत्म-स्वभाव का अनुभव करने की योग्यता पा लेता है और जीवन को धर्ममय बना लेता है ।

उत्तम क्षमा

□ कोहुप्पत्तिस्स पुणो,
बहिरंग जदि हवेदि सक्खाद
ण कुणदि किंचि वि कोह,
तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥

– क्रोध के उत्पन्न होने के साक्षात् बाहरी कारण मिलने पर भी थोड़ा भी क्रोध नही करता, उसके क्षमा धर्म होता है । (बारसाणुवेक्खा ७१)

अभी कार्तिकेयानुप्रेक्षा का स्वाध्याय चल रहा है, उसमें एक गाथा आती है –

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

अर्थात् वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमादिभावों को धर्म कहते है। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने धर्म के विविध स्वरूपों को बताया है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है और यह भलीभाँति ज्ञात है कि वस्तु की अपेक्षा देखा जाए तो जीव भी वस्तु है। पुद्गल भी वस्तु है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल भी वस्तु है। सभी का अपना-अपना स्वभाव ही उनका धर्म है। अधर्म द्रव्य का भी कोई न कोई धर्म है। (हँसी) तो आज हम कौन से धर्म का पालन करें, कि जिसके द्वारा कम से कम दस दिन के लिए हमारा कल्याण हो। तब आचार्य कहते है कि स्वभाव तो हमेशा धर्म रहेगा ही लेकिन इस स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो किया जाने वाला धर्म है वह है–'खमादिभावो या दसविहो धम्मो'–क्षमादि भाव रूप दस प्रकार का धर्म वह आज से प्रारम्भ होने जा रहा है। ध्यान रखना आप लोगो की अपेक्षा, विशेष अनुष्ठान की दृष्टि से आज से प्रारम्भ हुआ माना जा रहा है, साधुओं के तो वह हमेशा ही है।

यह दस प्रकार का धर्म रत्नत्रय के धारी मुनिराज ही पालन करते हैं। इसलिए गाथा में आगे कहा गया कि 'रयणत्तयं च धम्मो'–रत्नत्रय भी धर्म है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप आत्मा की जो परिणति है उसका नाम भी धर्म है। लेकिन इतना कहकर ही बात पूरी नही की। इस रत्नत्रय की सुरक्षा किस तरह, किस माध्यम से होगी, यह भी बताना आवश्यक है। इसलिए कहा कि 'जीवाणं रक्खणं धम्मो'–जीवो की रक्षा करना धर्म है। जीव का परम धर्म यही अहिंसा है। जो उसे अपने आत्मस्वभाव-रूप धर्म तक पहुँचायेगा। इस अहिंसा धर्म के बिना कोई भी जीवात्मा अपने आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नही कर सकता।

इस अहिंसा धर्म की व्याख्या आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से की है। जो अहिंसा से विमुख हो जाता है उसके भीतर क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे कोई सरोवर शान्त हो और उसमें एक छोटा सा भी कङ्कर फेंक दिया जाए, तो कङ्कर गिरते ही पानी मे लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। क्षोभ पैदा हो जाता है। सारा सरोवर क्षुब्ध हो जाता है और अगर कङ्कर फेंकने का सिलसिला अक्षुण्ण बना रहे तो एक बार भी वह सरोवर शान्त, स्वच्छ और उज्ज्वल रूप में देखने को नहीं मिल पाता। अनेक प्रकार की मलिनताओं में उसका शान्त स्वरूप खो जाता है। क्षोभ भी एक प्रकार की मलिनता ही है। मोह-राग-द्वेष रूप भाव भी एक मलिनता है। जैसे सरोवर का धर्म शान्त और निर्मल रहना है, लहरदार होना नही है; ऐसा ही आत्मा का समता परिणाम है जो लहर रूपी क्षोभ और मोह रूपी मलिनता से रहित है, जो निष्कम्प और निर्मल है।

सरोवर में कङ्कर फेंकने के उपरान्त उसमें हम जब जाकर देखेंगे तो अपना मुख देखने में नहीं आयेगा और न ही सरोवर के भीतर पड़ी निधि/वस्तु का अवलोकन कर सकेंगे। मान लीजिये सरोवर शान्त है तथा कङ्कर भी नहीं फेंका गया किन्तु कीचड़ उसमे बहुत है तो भी उस सरोवर के जल में मुख दिखने मे नहीं आयेगा। आज मुझे यही कहना है आप लोगों से कि ऐसे ही हमारी आत्मा का सरोवर जब तक शान्त और मलिनता से रहित नही होगा तब तक हमे अपना उज्ज्वल स्वरूप दिखाई नही देगा। क्रोध के अभाव मे ही क्षमा धर्म जीवन में प्रकट होगा। एक बार यदि यह क्षमा धर्म अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाये और आत्मा से क्रोधादि कषायो का सर्वथा अभाव हो जाए तो लोक में होने वाला कोई भी विप्लव उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसे स्वभाव से च्युत नही कर सकता, नीचे नही गिरा सकता।

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या[२]–अर्थात् सैकड़ो कल्पकाल भी बीत जाये तो भी सिद्धत्व की प्राप्ति के उपरान्त किसी भी तरह की विकृति आना सम्भव नहीं है। जैसे सरोवर का जल स्वच्छ होकर बर्फ बनकर जम जाये, उसमे सघनता आ जाये तो कंकर के फेकने से कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसा ही आत्मा के स्वभाव के बारे मे समझना चाहिये। हमे आत्मा की शक्ति को पहचानकर उसे ऐसा ही सघन बनाना चाहिए कि क्षोभ उत्पन्न न हो सके। आत्मा को ज्ञान-धन रूप कहा गया है। हमारा ज्ञान,-घन-रूप हो जाना चाहिये। अभी वह पिघला हुआ होने से छोटी-छोटी सी बातो को लेकर भी क्षुब्ध हो जाता है। हमारे अदर छोटी सी बात भी क्रोध-कषाय उत्पन्न कर देती है और हम क्षमा धर्म से विमुख हो जाते है।

अनन्त काल हो गया तबसे हम इस क्रोध का साथ देते आ रहे है। क्षमा धर्म का साथ हमने कभी ग्रहण नहीं किया। एक बार ऐसा करो जैसा कि पाण्डवो ने किया था। पाण्डव जब तक महलो मे पाण्डव के रूप मे रहे तब तक कौरवों को देखकर मन मे विचार आ जाता था कि ये भाई होकर भी हमारे साथ बैरी जैसा व्यवहार करते है अत इनसे हमे युद्ध करना ही होगा। इन्हे धर्म-युद्ध के माध्यम से मार्ग पर लाना होगा। इस तरह कई प्रकार की बाते चलती थीं, सघर्ष चलता था। किन्तु जब वे ही पाण्डव गृहत्याग कर निरीह होकर ध्यान मे बैठ गये तो यह विचार आया कि 'जीवाण रक्खण धम्मो' – जीवो की रक्षा करना, उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा धर्म है। कौरव भी जीव हैं अब उनके प्रति क्षमा भाव धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। इसी क्षमा धर्म का पालन करते हुए जब उन पर उपसर्ग आया तो लोहे के गरम-गरम आभूषण पहनाने पर भी वे शान्त रहे। क्षुब्ध नहीं हुए, न ही मन मे शरीर के प्रति राग-भाव आने दिया और न ही उपसर्ग करने वालो के प्रति द्वेष भाव को आने दिया।

तप से तो तप ही रहे थे, ऊपर से तपे हुए आभूषण पहनाये जाने पर और अधिक तपने लगे। क्षमा-धर्म के साथ किये गये इस तप के द्वारा कर्मो की असख्यात गुणी निर्जरा होने लगी। जैसे प्रोषधोपवास या पर्व के दिनों मे आप लोग उपवास करते है या एकाशन करते

हैं और भीषण गर्मी ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप पड़ जाये तो कैसा लगता है ? दोहरी तपन हो गयी। पर व्रत का संकल्प पहिले से होने के कारण परीषह सहते हैं। ऐसे ही पाण्डव भी लोहे के आभूषण पहनाये जाने पर भी शान्त भाव से परीषह-जय में लगे रहे। कौरवों पर क्रोध नहीं आया, क्योंकि जीवन में क्षमा-धर्म आ गया था। जीवाणं रक्खणं धम्मो यह मन्त्र भीतर ही भीतर चल रहा था।

वे सोच रहे थे कि अब तो कोई भी जीव आकर हमारे लिए कुछ भी करे – उपसर्ग करे, शरीर को जला भी दे तो भी हम अपने मन में उसके प्रति हिंसा का भाव नहीं लायेंगे क्रोध नहीं करेगे और विरोध भी नहीं करेंगें। अब चाहे कोई प्रशंसा करने आवे तो उसमें राजी भी नहीं होंगे और न ही किसी से नाराज होंगे। क्योंकि अब हम महाराज हो गये है। महाराज है तो नाराज नहीं और नाराज है तो महाराज नहीं। लेकिन बात ऐसी है ध्यान रखना कि कभी-कभी लोगो के मन में बात आ जाती है कि महाराज जी तो नाराज है और आहार देते समय कह भी देते है कि महाराज तो हमसे आहार ही नहीं लेते, नाराज हैं। हमारी तरफ देखते तक नहीं है। अब उस समय हम कुछ जवाब तो दे नहीं सकते और ऐसा कहने वाले बाद मे सामने आते भी नहीं है। कभी आ जाये तो हम फौरन कह देते हैं कि भइया, हम नाराज नहीं हुए और अगर आपकी दृष्टि मे राजी नहीं होने का नाम ही नाराज होना कहलाता है तो आप अपनी जानो। आप तो इसी मे राजी होगे कि महाराज आप हमारे यहाँ रोज आओ।

ससारी प्राणी राग को बहुत अच्छा मानता है और द्वेष को अच्छा नहीं मानता। लेकिन देखा जाये तो द्वेष पहले छूट जाता है फिर बाद मे राग का अभाव होता है। दसवें गुणस्थान तक सूक्ष्म लोभ चलता है। मुनि महाराज तो प्रशसा मे राजी नहीं होते और न ही निंदा से नाराज होते है, अपितु वे तो दोनो दशा में साम्य रखते है। राग और द्वेष दोनों मे साम्य भाव रखना ही अहिंसा धर्म है, क्षमा धर्म है।

'रागादीणमणुप्पा अहिसगत्त ति देसिद समये।
तेसि चे उप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दट्ठा ॥'[१]

यह आचार्यो की वाणी है। रागद्वेष की उत्पत्ति होना हिंसा है और रागद्वेष का अभाव ही अहिसा है। जीवत्व के ऊपर सच्चा श्रद्धान तो तभी कहलायेगा जब अपने स्वभाव के विपरीत हम परिणमन न करे अर्थात् रागद्वेष से मुक्त हो। क्रोधादि कषायो के आ जाने पर जीव का शुद्ध स्वभाव अनुभव मे नहीं आता। संसारी दशा में स्वभाव का विलोम परिणमन हो जाता है। यही तो वैभाविक परिणति है, जो ससार में भटकाती है।

पाँचो पाण्डव ध्यान में लीन थे। सिद्ध प[illegible]ठी के ध्यान में लीन थे। शरीर मे रहकर शरीरातीत आत्मा का अनुभव कर रहे थे। वास्तव मे यही तो उनकी अग्नि परीक्षा की घड़ी थी।

'जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥'[४]

जिस प्रकार स्वर्ण को तपा दिये जाने पर भी सुवर्ण अपनी स्वर्णता को नहीं छोड़ता बल्कि जितना आप तपाओगे उतनी ही उसकी कीमत बढ़ती जायेगी, उतने ही उसके गुणधर्म उभरकर सामने आयेंगे । स्वर्ण को जितना आप कसौटी पर कसोगे उतना ही उसमे निखार आयेगा, उसकी सही परख होगी । आचार्यों ने उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार अग्नि में तपाये जाने पर स्वर्ण, स्वर्णपने को नहीं छोड़ता उसी प्रकार ज्ञानी भी उपसर्ग और परीषह के द्वारा खूब तपा दिये जाने पर भी अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता, 'पाण्डवादिवत्' यानी पाण्डवो के समान ।

पाण्डवों का उदाहरण दिया सो कौरवों के साथ युद्ध करते समय के पाण्डवों का या राज्य सुख भोगते हुए पाण्डवों का उदाहरण नहीं दिया । बल्कि उन पाण्डवों का उदाहरण दिया जो राजपाट छोड़कर वीतरागी होकर ध्यान में लीन हैं और उपसर्ग आने पर भी 'जीवाण रक्खणं धम्मो, रयणत्तयं च धम्मो' –जीवों की रक्षा को धर्म मानकर, रत्नत्रय को धर्म मानकर उसी की सुरक्षा में लगे हुए हैं । वे क्षमाभाव धारण करते हुए विचार कर रहे है कि जानना-देखना ही हमारा स्वभाव है । जो कोई इस आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता और अज्ञानी होता हुआ यदि बाधा उत्पन्न करता है; तो वह भी दया और क्षमा का पात्र है ।

कोई यदि स्वर्ण की वास्तविकता के बारे में संदेह कर रहा हो तो यही उपाय है कि उसको तपाकर दिखा दिया जाए या कसौटी के पाषाण पर कस दिया जाए ताकि विश्वास प्रादुर्भूत हो जाए । पाँडव ऐसी ही अग्नि परीक्षा दे रहे थे । आप भी यदि दूसरे के अदर स्वभाव के प्रति श्रद्धान पैदा कराना चाहते है या स्वयं के ज्ञानीपने की परीक्षा करना चाहते है तो आपको भी ऐसी अग्निपरीक्षा से गुजरना पड़ेगा । अपने जीवत्व की रक्षा के लिए सभी जीवों की रक्षा का संकल्प पहले करना होगा । तुलसी दया न छाँड़िये, जबलों घट मे प्राण–जब तक घट मे अर्थात् शरीर में प्राण हैं तब तक हम जीव दया अर्थात् जीवों की रक्षा करने रूप धर्म को नहीं छोड़ेगें, ऐसा संकल्प होना चाहिये । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने बोधपाहुड मे कहा है कि 'धम्मो दया विसुद्धो ।'–धर्म, दया करके विशुद्ध होता है । इस दया-धर्म के अभाव मे मात्र धर्म की चर्चा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

आत्मा के स्वभाव की उपलब्धि रत्नत्रय में निष्ठा के बिना नहीं होती और रत्नत्रय में निष्ठा दया धर्म के माध्यम से, क्षमादि धर्मों के माध्यम से ही जानी जाती है । जहाँ रत्नत्रय के प्रति निष्ठा होगी वहाँ नियम से क्षमादि धर्म उत्पन्न होंगे । तभी आत्मा के शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होगी । दस प्राणों से अतीत (मुक्त) आत्मा ही अपनी वास्तविक ज्ञान-चेतना का अनुभव करती है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि–

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा ॥

सभी स्थावर जीव शुभाशुभ कर्मफल के अनुभवन रूप कर्मफल चेतना का अनुभव करते है किन्तु त्रस-जीव उसी कर्मफल के अनुभव में विशेष रागद्वेष रूप कर्मचेतना का भी अनुभव' करते है। यह कर्मचेतना तेरहवें गुणस्थान तक चलती है। क्योंकि रागद्वेष का अभाव होने के बावजूद भी वहाँ अभी योग की प्रणाली चल रही है। कर्मों का सम्पादन हो रहा है। भले ही एक समय के लिए हो, लेकिन कर्मबन्ध चल ही रहा है। चौदहवें गुणस्थान में यद्यपि अभी स्वभाव की पूर्णत. अभिव्यक्ति अर्थात् गुणस्थानातीत दशा की प्राप्ति नहीं हुई है, तथापि तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। वहाँ योग के अभाव में कर्म का सम्पादन नहीं हो रहा अपितु मात्र कर्मफल की अनुभूति अभी शेष है। इसके उपरान्त दस प्रकार के द्रव्य प्राणों से रहित सिद्ध भगवान ही शुद्ध ज्ञान चेतना का अनुभव करते है।

ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप के समान हमारा भी स्वरूप है। 'शुद्धोऽहं, बुद्धोऽह, निरञ्जनोऽह, निर्विकार स्वरूपोऽहं' आदि-आदि भावो के साथ पर्यायबुद्धि को छोड़कर पाण्डव ध्यान मे लीन है। लेकिन प्रत्येक की क्षमता एक सी नहीं होती। क्षमा-भाव सभी धारण किये है, पर देखो कैसा सूक्ष्म धर्म है कि अपने बारे में नहीं, अपने से बड़े भाईयो के बारे में जरा सा विचार आया कि मुक्ति में बाधा आ गयी। वे नकुल और सहदेव सोचने लगे कि 'हम तो अभी युवा है, यह परीषह सह लेंगे। लेकिन बड़े भाई तो वृद्ध होने को है, वे कैसे सहन कर पायेगे। अरे ! कौरवो ने अभी भी वैर नहीं छोड़ा'–ऐसा मन मे विकल्प आ गया। कोई विरोध नहीं किया, मात्र विचार आया। क्षमा धर्म मे थोड़ी कमी आ गयी और उस विकल्प का परिणाम ये हुआ कि उन्हे सर्वार्थसिद्धि की आयु बन्ध गयी, मुक्तिपद नहीं मिल पाया।

मान लीजिये, कोई अरबपति बनना चाहता है तो कब कहलायेगा वह अरबपति ? तभी कहलायेगा जब उसके पास पूरे अरब रुपये हो। लेकिन ध्यान रखना यदि एक रुपया भी कम है तो भी अरबपति होने मे कमी मानी जायेगी। एक पैसे की कमी भी कमी ही कहलायेगी। यही स्थिति उन अंतिम पाण्डवो की हुई। 'जीवाण रक्खणं धम्मो' जीवों की रक्षा तो की, लेकिन अपने आत्म परिणामो की संभाल पूरी तरह नहीं कर पाये। शेष तीन पाण्डव निर्विकल्प समाधि मे लीन होकर अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करके साक्षात् मुक्ति को प्राप्त करने मे सफल हुए।

भइया ! क्रोध पर विजय पाने के लिए ऐसा ही प्रयास हमे भी करना चाहिये। आज तो सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जा सकते, तो कम से कम सोलह स्वर्ग तक तो जा ही सकते है। सोलहवे स्वर्ग तक जाने के लिए सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के योग्य अणुव्रत तो धारण करना ही चाहिये। आप श्रावक है तो इतनी क्षमा का अनुपालन तो कर ही सकते है कि कोई भी प्रतिकूल प्रसग आ जाये तो भी हम क्रोधित नहीं होगे। क्षमाभाव धारण करेंगे। रत्नत्रय हमारी सहज शोभा है और क्षमादि धर्म हमारे अलङ्कार हैं, इसी के माध्यम से हमारा जीवत्व निखरेगा। अनन्तकाल से जो जीवन संसार में बिखरा पड़ा है, उस बिखराव के साथ जीना, वास्तविक जीना नहीं है। अपने भावों को सम्भाल करते हुए जीना ही जीवन की सार्थकता है।

किसी कवि ने लिखा है कि 'असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । और मृत्यो मा अमृतोगमय !' जो असत् है या जो सत्य नहीं है, जो झूठ है, जो अपना नहीं है, जो सपना है, उससे मेरी बुद्धि हट जाये । मै मोह की वजह से उस असत् को सत् मान रहा हूँ और अपने वास्तविक सत् स्वरूप को विस्मृत कर रहा हूँ । हे भगवन् ! मुझे अज्ञान के अन्धकार से बचा ले और जल्दी-जल्दी केवल ज्ञान रूप ज्योतिपुञ्ज तक पहुँचा दे । मेरा अज्ञान रूपी अन्धकार मिट जाये और मै केवलज्ञान मे लीन हो जाऊँ ।

हे भगवन् ! यह जन्म, यह जरा, यह मृत्यु और मेरे कषाय भाव–यही हमारे वास्तविक जीवन की मृत्यु के कारण है । अमृत वहीं है जहां मृत्यु नहीं है । अमृत वहीं है जहाँ क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं है । अमृत वहीं है जहाँ क्रोध रूपी विष नहीं है ।

इस तरह हम निरन्तर अपने भावो की सम्भाल करे । रत्नत्रय धर्म, क्षमा धर्म या कहो अहिंसा धर्म यही हमे अमृतमय है । क्षमा हमारा स्वाभाविक धर्म है । क्रोध तो विभाव है । उस विभाव-भाव से बचने के लिए स्वभाव भाव की ओर रुचि जागृत करे । जो व्यक्ति प्रतिदिन धीरे--धीरे अपने भीतर क्षमा-भाव धारण करने का प्रयास करता है उसी का जीवन अमृतमय है । हम भगवान से यही प्रार्थना करते है कि हे भगवन् ! क्षमा धर्म के माध्यम से हम सभी का पूरा का पूरा कल्याण हो । जीवन की सार्थकता इसी मे है ।

क्षमा धर्म –

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा – गाथा क्रमांक-४७८

२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार-१३३

३. सर्वार्थसिद्धि-७/२२/७०५/२८१/७

४ समयसार-१९१

५. पञ्चास्तिकाय-३९

उत्तम मार्दव

- कुलरूवजादिबुद्धिसु
  तवसुदसीलेसु गारव किंचि ।
  जो ण वि कुव्वदि समणो
  मद्दवधम्म हवे तस्स ।।

--जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादि के विषय मे थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसके मार्दव धर्म होता है। (७२)

आज पर्व का दूसरा दिन है। कल उत्तम क्षमा के बारे में आपने सुना, सोचा, समझा और क्षमा भाव धारण भी किया है। वैसे देखा जाए तो ये सब दस-धर्म एक मे ही गर्भित हो जाते हैं। एक के आने से सभी आ जाते है। आचार्यों ने सभी को अलग-अलग व्याख्यायित करके हमें किसी न किसी रूप में धर्म धारण करने की प्रेरणा दी है। जैसे रोगी के रोग को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार से चिकित्सा की जाती है। दवा अलग-अलग अनुपात के साथ सेवन करायी जाती है। कभी दवा पिलाते है, कभी खिलाते है और कभी इंजेक्शन के माध्यम से देते हैं। बाह्य उपचार भी करते है। वर्तमान में तो सुना है कि रगों के माध्यम से भी चिकित्सा पद्धति का विकास किया जा रहा है। कुछ दवाए सुघाकर भी इलाज करते हैं। इतना ही नही, जब लाभ होता नही दिखता तो रोगी के मन को सान्त्वना देने के लिए समझाते है कि तुम जल्दी ठीक हो जाओगे। तुम रोगी नही हो। तुम तो हमेशा से स्वस्थ हो अजर-अमर हो। रोग आ ही गया है तो चला जायेगा, घबराने की कोई बात नही है। ऐसे ही आचार्यों ने अनुग्रह करके विभिन्न धर्मो के माध्यम से आत्म-कल्याण की बात समझायी है।

प्रत्येक धर्म के साथ उत्तम विशेषण भी लगाया है। सामान्य क्षमा या मार्दव धर्म की बात नही है, जो लौकिक रूप से सभी धारण कर सकते है। बल्कि विशिष्ट क्षमा भाव जो संवर और निर्जरा के लिए कारण है, उसकी बात कही गयी है। जिसमे दिखावा नही है, जिसमे किसी सांसारिक ख्याति, पूजा, लाभ की आकाक्षा नही है। यही उत्तम विशेषण का महत्त्व है।

दूसरी बात यह है कि क्षमा, मार्दव आदि तो हमारा निजी स्वभाव है, इसलिए भी उत्तम धर्म है। इसके प्रकट हुए बिना हमें मुक्ति नही मिल सकती। आज विचार इस बात पर भी करना है कि जब मार्दव हमारा स्वभाव है तो वह हमारे जीवन मे प्रकट क्यो नही है ? तो विचार करने पर ज्ञात होगा कि जब तक मार्दव धर्म के विपरीत मान विद्यमान है तब तक वह मार्दव धर्म को प्रकट नही होने देगा। केवल मृदुता लाओ, ऐसा कहने से काम नही चलेगा किन्तु इसके विपरीत जो मान कषाय है उसे भी हटाना पड़ेगा। जैसे हाथी के ऊपर बदी का बैठना शोभा नहीं देता, ऐसे ही हमारी आत्मा पर मान का होना शोभा नही देता। यह मान कहाँ से आया ? यह भी जानना आवश्यक है। जब ऐसा विचार करेगे तो मालूम पड़ेगा कि अनन्त काल से यह जीवन के साथ है और एक तरह से जीव का धर्म जैसा बन बैठा है। इससे छुटकारा पाने के दो ही उपाय है या कहो अपने वास्तविक स्वरूप को पाने के दो ही उपाय हैं। एक विधि रूप है तो दूसरा निषेध रूप है। जैसे रोग होने पर कहा जाए कि आरोग्य लाओ, तो आरोग्य तो रोग के अभाव मे ही आयेगा। रोग के अभाव का नाम ही आरोग्य है। इसी प्रकार मृदुता को पाना हो तो यह जो कठोरता आकर छिपकर बैठी है उसे हटाना होगा। जानना होगा कि इसके आने का मार्ग कौन सा है, उसे बुलाने वाला और इसकी व्यवस्था करने वाला कौन है? तो आचार्य कहते है कि हम ही सब कुछ कर रहे है। जैसे अग्नि राख से दबी हो तो अपना प्रभाव नही दिखा पाती, ऐसे ही मार्दव धर्म की मालिक

यह आत्मा कर्मो से दबी हुई है और अपने स्वभाव को भूलकर कठोरता को अपनाती जा रही है ।

विचार करे, कि कठोरता को लाने वाला प्रमुख कौन है ? अभी आप सबकी अपेक्षा ले लें । तो सङ्गी पञ्चेन्द्रिय के पाँचों इन्द्रियो मे से कौन सी इन्द्रिय कठोरता लाने का काम करती है ? क्या स्पर्शन इन्द्रिय से कठोरता आती है, या रसना इन्द्रिय से आती है, या घ्राण या चक्षु या श्रोत्र, किस इन्द्रिय से कठोरता आती है ? तो कोई भी कह देगा कि इन्द्रियो से कठोरता नहीं आती । यह कठोरता मन की उपज है । एक इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक कोई भी जीव ऐसे अभिमानी नहीं मिलेंगे जैसे कि मन वाले और विशेषकर मनुष्य होते है । थोड़ा सा भी वित्त-वैभव बढ़ जाए तो चाल में अन्तर आने लगती है । मनमाना तो यह मन ही है । मन के भीतर से ही मॉग पैदा होती है । वैसे मन बहुत कमजोर है, वह इस अपेक्षा से कि उसका कोई अङ्ग नही है लेकिन वह अङ्ग-अङ्ग को हिला देता है । विचलित कर देता है । जीवन का ढाँचा परिवर्तित कर देता है और सभी पांचो इन्द्रियाँ भी मन की पूर्ति में लगी रहती है ।

मन सबका नियन्ता बनकर बैठ जाता है । आत्मा भी इसकी चपेट में आ जाती है और अपने स्वभाव को भूल जाती है । तब मृदुता के स्थान पर मान और मद आ जाता है । इन्द्रियो की खुराक मिले या न मिले चल जाता है लेकिन मन को खुराक मिलनी चाहिये । ऐसा यह मन है । और इसे खुराक मिल जाये, इसके अनुकूल काम हो जाए तो यह फूला नही समाता और नित नयी मॉगे पूरी करवाने मे चेतना को लगाये रखता है । जैसे आज कल कोई विद्यार्थी कालेज जाता है । प्रथम वर्ष का ही अभी विद्यार्थी है अभी अभी कालेज का मुख देखा है । वह कहता है–पिताजी ! हम कल से कॉलेज नहीं जायेगे । तो पिताजी क्या कहें ? सोचने लगते है कि अभी एक दिन तो हुआ है और नहीं जाने की बात कहाँ से आ गयी ? क्या हो गया ? तो विद्यार्थी कहता है कि पिताजी आप नही समझेगे नयी पढ़ाई है । कॉलेज जाने के योग्य सब सामग्री चाहिए । कपड़े अच्छे चाहिए । पॉकेट मे पैसे भी चाहिए और यूनिवर्सिटी बहुत दूर है, रास्ता बड़ा चढ़ाव वाला है इसलिए स्कूटर भी चाहिए । उस पर बैठकर जायेंगे इसके बिना पढ़ाई सम्भव नही है।

यह कौन करवा रहा है ? यह सब मन की ही करामात है । यदि इसके अनुरूप मिल जाए तो ठीक अन्यथा गड़बड़ हो जायेगी । जैसे सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया, ऐसा लगने लगता है । कपड़े चाहिए ऐसे कि बिल्कुल टिनोपाल मे तले हुए हों हाँ जैसे पूरियाँ तलती है । यह सब मन के भीतर से आया हुआ मान-कषाय का भाव है । सब लोग क्या कहेंगे कि कॉलेज का छात्र होकर ठीक कपड़े पहनकर नही आता । एक छात्र ने हमसे पूछा था कि सचमुच ऐसी स्थिति आ जाती है तब हमें क्या करना चाहिए ? तो हमने कहा कि ऐसा करो टोपी पहन लेना और धोती कुरता पहनकर जाना, वह हँसने लगा । बोला यह तो बड़ा कठिन है । टोपी पहनना तो फिर भी सम्भव है लेकिन धोती वगैरह पहनूँगा तो सब गड़बड़

हो जायेगी। सब से (लग) हो जाऊँगा। लोग क्या कहेंगे? हमने कहा कि ऐसा मन मे विचार ही क्यों ने हो कि लोग क्या कहेंगे ? अपने को प्रतिभा सम्पन्न होकर पढ़ना है। विद्यार्थी को तो [व]द्या से ही प्रयोजन होना चाहिये।

आज यही हो रहा है कि व्यक्ति बाहरी चमक-दमक में ऐसा झूम जाता है कि सारी की सारी शक्ति उसी में व्यर्थ ही व्यय होती चली जाती है और वह लक्ष्य से चूक जाता है। यह सब मन का खेल है। मान कषाय है। मान-सम्मान की आकांक्षा काठिन्य लाती है और सबसे पहले मन में कठोरता आती है, फिर बाद में वचनों मे और तदुपरान्त शरीर में भी कठोरता आने लगती है। इस कठोरता का विस्तार अनादिकाल से इसी तरह हो रहा है और आत्मा अपने मार्दव-धर्म को खोता जा रहा है। इस कठोरता का, मान कषाय का परित्याग करना ही मार्दव धर्म के प्रकटीकरण के लिए अनिवार्य है।

आठ मदो में एक मद ज्ञान का भी है। आचार्यो ने इसी कारण लिख दिया है कि–ज्ञानस्य फल कि ? उपेक्षा, अज्ञाननाशो वा"। उपेक्षा भाव आना और अज्ञान का नाश होना ही ज्ञान का फल है। उपेक्षा का अर्थ है रागद्वेष की हानि होना और गुणो का आदान (ग्रहण) होना। यदि ऐसा नहीं होता तो वह ज्ञान कार्यकारी नही है। 'ले दीपक कुएँ पड़े' वाली कहावत आती है कि उस दीपक के प्रकाश की क्या उपयोगिता जिसे हाथ में लेकर भी यदि कोई कूप में गिर जाता है। स्व-पर का विवेक होना ही ज्ञान की सार्थकता है। पर को हेय जानकर भी यदि पर के विमोचन का भाव जागृत नहीं होता और ज्ञान का मद आ जाता है कि मै तो ज्ञानी हूँ, तो हमारा यह ज्ञान एकमात्र बौद्धिक व्यायाम ही कहलायेगा।

ज्ञान का अभिमान व्यर्थ है। ज्ञान का प्रयोजन तो मान की हानि करना है, पर अब तो मान ही हानि होने पर मानहानि का कोर्ट में दावा होता है। मार्दव धर्म तो ऐसा है कि जिसमें मान की हानि होना आवश्यक है। यदि मान की हानि हो जाती है तो मार्दव धर्म प्रकट होने मे देर नहीं लगती।

आप शान्तिनाथ भगवान के चरणों में श्रीफल चढ़ाते है तो भगवान श्रीफल के रूप मे आपसे कोई सम्मान नही चाहते न ही हर्षित होते है, बल्कि वे तो अपनी वीतराग मुद्रा से उपदेश देते हैं कि जो भी मान कषाय है वह सब यहाँ लाकर विसर्जित कर दो। यह जो मन, मान कषाय का स्टोर बना हुआ है, उसे खाली कर दो। जिसका मन, मान कषाय से खाली है वही वास्तविक ज्ञानी है। उसी के लिए केवलज्ञान रूप प्रमाण-ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। वही तीनों लोकों में सम्मान पाता है।

हम पूछते हैं कि आपको केवलज्ञान चाहिये या मात्र मान-कषाय चाहिये ? तो कोई भी कह देगा कि हमें केवलज्ञान चाहिये। लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति तो अपने स्वरूप की ओर, अपने मार्दव धर्म की ओर प्रयाण करने से होगी। अभी तो हम स्वरूप से विपरीत की प्राप्ति होने मे ही अभिमान कर रहे है। वास्तव में देखा जाए तो इन्द्रिय ज्ञान, ज्ञान नही है। इन्द्रिय-

ज्ञान तो पराश्रित ज्ञान है। स्वाश्रित ज्ञान तो आत्म-ज्ञान या केवलज्ञान है। जो इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय के विषयों में आसक्त नहीं होता, वह नियम से अतीन्द्रिय ज्ञान को प्राप्त कर लेता है; सर्वज्ञ दशा को प्राप्त कर लेता है।

'मनोरपत्यं पुमानिति मानवः'[१] कहा गया है कि मनु की संतान मानव है। मनु को अपनें यहाँ कुलकर माना गया है। जो मानवों को एक कुल की भाँति एक साथ इकट्ठे रहने का उपदेश देता है, वही कुलकर है। सभी समान भाव से रहें। छोटे-बड़े का भेदभाव न आवे तभी मानव होने की सार्थकता है। अपने मन को वश में करने वाले ही महात्मा माने गये है। मन को वश में करने का अर्थ मन को दबाना नहीं है, बल्कि मन को समझाना है। मन को दबाने और समझाने में बड़ा अन्तर है। दबाने से तो मन और अधिक तनाव-ग्रस्त हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। किन्तु मन को यदि समझाया जाये तो वह शान्त होने लगता है। मन को समझाना, उसे प्रशिक्षित करना, तत्व के वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाना ही वास्तव में, मन को अपने वश मे करना है। जिसका मन संवेग और वैराग्य से भरा है वही इस संसार से पार हो पाता है। जैसे घोड़े पर लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है। ऐसे ही मन पर यदि वैराग्य की लगाम हो तो वह सीधा अपने गन्तव्य-मोक्ष तक ले जाने मे सहायक होता है।

सभी दश धर्म आपस मे इतने जुड़े हुए है कि अलग-अलग होकर भी सम्बन्धित हैं। मार्दव धर्म के अभाव मे क्षमा धर्म रह पाना सभव नही है, और क्षमा धर्म के अभाव में मार्दव धर्म टिकता नहीं है। मान-सम्मान की आकाक्षा पूरी नही होने पर ही तो क्रोध उत्पन्न हो जाता है। मृदुता के अभाव में छोटी सी बात से मन को ठेस पहुँच जाती है और मान जागृत हो जाता है। जब मान जागृत होता है तो क्रोध की अग्नि भड़कने में देर नही लगती।

द्वीपायन मुनि रत्नत्रय को धारण किये हुए थे। वर्षों की तपस्या साथ थी। उस तपस्या का फल, चाहते तो मीठा भी हो सकता था किन्तु वे द्वारिका को जलाने मे निमित्त बन गये। दिव्यध्वनि के माध्यम से जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मेरे निमित्त से बारह वर्ष के बाद द्वारिका जलेगी तो यह सोचकर वे द्वारिका से दूर चले गये कि कम से कम बारह वर्ष तक अपने को द्वारिका की ओर जाना ही नही है। समय बीतता गया और बारह वर्ष बीत गये होगे-ऐसा सोचकर वे विहार करते हुए द्वारिका के समीप एक बगीचे में आकर ध्यानमग्न हो गये। वहीं यादव लोग आये और द्वारिका के बाहर फेकी गई शराब को पानी समझकर पीने लगे। मदिरापान का परिणाम यह हुआ कि यादव लोग नशे में पागल होकर द्वीपायन मुनि को देखकर गालियाँ देने लगे, पत्थर फेंकने लगे। जब बहुत देर तक यह प्रक्रिया चलती रही और द्वीपायन मुनि को सहन नहीं हुआ तो तैजस ऋद्धि के प्रभाव से द्वारिका जलकर राख हो गयी। तन तो सहन कर सकता था लेकिन मन सहन नहीं कर सका और क्रोध जागृत हो गया।

महाराज जी (आचार्य श्री ज्ञानसागर जी) ने एक बार उदाहरण दिया था। वही आपको सुनाता हूँ। एक गाँव का मुखिया था। सरपंच था। उसी का यह प्रपञ्च है। आप हँसिये

मत। उसका प्रपञ्च सबको दिशाबोध देने वाला है। हुआ यह कि एक बार उससे कोई गल्ती हो गयी और उसे दंड सुनाया गया। समाज गल्ती सहन नहीं कर सकती ऐसा कह दिया गया और लोगों ने इकट्ठे होकर उसके घर जाकर सारी बात कह दी। घर के भीतर उसने भी स्वीकार कर लिया कि गल्ती हो गयी, मजबूरी थी। पर इतने से काम नहीं चलेगा। लोगो ने कहा कि यही बात मञ्च पर आकर सभी के सामने कहना होगी कि मेरी गल्ती हो गयी और मैं इसके लिए क्षमा चाहता हूँ। फिर दण्ड के रूप में एक रुपया देना होगा। एक रुपया कोई मायने नहीं रखता। वह व्यक्ति करोड़ रुपया देने के लिए तैयार हो गया लेकिन कहने लगा कि मञ्च पर आकर क्षमा मांगना तो सम्भव नही हो सकेगा। मान खण्डित हो जायेगा। प्रतिष्ठा मे बट्टा लग जाएगा। आज तक जो सम्मान मिलता आया है वह चला जायेगा।

सभी ससारी जीवो की यही स्थिति है। पाप हो जाने पर, गल्ती हो जाने पर कोई अपनी गलती मानने को तैयार नही है। असल मे भीतर मान कषाय बैठा है वह झुकने नही देता। पर हम चाहे तो उसकी शक्ति को कम कर सकते है, और चाहे तो अपने परिणामो से उसे संक्रमित (ट्रांसफर्ड) भी कर सकते है। उसे अगर पूरी तरह हटाना चाहे तो आचार्य कहते है कि एक ही मार्ग है–समता भाव का आश्रय लेना होगा। अपने शान्त और मृदु स्वभाव का चिन्तन करना होगा। यही पुरुषार्थ मान-कषाय पर विजय पाने के लिए अनिवार्य है।

आत्मा की शक्ति और कर्म की शक्ति इन दोना के बीच देखा जाये तो आत्मा अपने पुरुषार्थ के बल से आत्म-स्वरूप के चिन्तन से मान कषाय के उदय मे होने वाले परिणामो पर विजय प्राप्त कर सकता है। मान को जीत सकता है। इतना सयम तो कषायो को जीतने के लिए आवश्यक ही है। सम्यग्दर्शन तो जीव जन्म से ही लेकर आ सकता है लेकिन मुक्ति पाने के लिए सम्यग्दर्शन के साथ जो विशुद्धि चाहिये वह चारित्र के द्वारा ही आयेगी। वह अपने आप आयेगी, ऐसा भी नही समझना चाहिये। आचार्यो ने कहा है कि आठ साल की उम्र होने के उपरान्त कोई चाहे तो सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र को अङ्गीकार कर सकता है। लेकिन चारित्र अङ्गीकार करना होगा, तभी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा और मुक्ति मिलेगी। कषायों पर विजय पाने योग्य समता परिणाम चारित्र को अङ्गीकार किये बिना आना/होना संभव नही है। आत्मा की अनन्त शक्ति भी सम्यक्चारित्र धारण करने पर ही प्रकट होती है।

एक बात और कहूँ कि सभी कषायें परस्पर एक दूसरे के लिए कारण भी बन सकती है। जैसे मान को ठेस पहुँचती है तो क्रोध आ जाता है। मायाचारी आ जाती है। अपने मान की सुरक्षा का लोभ भी आ जाता है। एक समय की बात है कि एक व्यक्ति एक सन्त के पास पहुँचा। उसने सुन रक्खा था कि सन्त बहुत पहुँचे हुए हैं। उसने पहुँचते ही पहले उन्हें प्रणाम किया और विनयपूर्वक बैठ गया। चर्चा वार्तालाप के बाद उसने कहा कि आप हमारे यहाँ कल का आतिथ्य स्वीकार करिये। अपने यहाँ हम आपको कल के भोजन के लिए

निमन्त्रित करते हैं। सन्त जी निमन्त्रण पाने वाले रहे होंगे, इसलिए निमन्त्रण मान लिया। देखो निमन्त्रण 'मान' लिया, इसमें भी 'मान' लगा है।

दूसरे दिन ठीक समय पर वह व्यक्ति आदर के साथ उन्हें घर ले गया, अच्छा आतिथ्य हुआ। मान-सम्मान भी दिया। अन्त मे जब सन्त जी लौटने लगे तो उस व्यक्ति ने पूछ लिया कि आपका शुभ नाम मालूम नहीं पड़ सका। आपका शुभ नाम मालूम पड़ जाता तो बड़ी कृपा होती। सन्त जी ने बड़े उत्साह से बताया कि हमारा नाम शान्तिप्रसाद है। वह व्यक्ति बोला बहुत अच्छा नाम है। मै तो सुनकर धन्य हो गया, आज मानों शान्ति मिल गयी। वह उनको भेजने कुछ दूर दस बीस कदम साथ गया और उसने फिर से पूछ लिया कि क्षमा कीजिये, मेरी स्मरण शक्ति कमजोर है। मै भूल गया आपने क्या नाम बताया था ? सन्त जी ने उसकी ओर गौर से देखा और कहा कि शान्तिप्रसाद, अभी तो मैने बताया था। वह व्यक्ति बोला हॉं ठीक-ठीक ध्यान आ गया आपका नाम शान्तिप्रसाद है। अभी जरा दूर और पहुँचे थे कि पुन वह व्यक्ति बोला कि क्या करूँ ? कैसा मेरा कर्म का तीव्र उदय है कि मै भूल-भूल जाता हूँ। आपने क्या नाम बताया था ? अब की बार सन्त जी ने घूरकर उसे देखा और बोले शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद--मैने कहा ना। वह व्यक्ति चुप हो गया और आश्रम पहुँचते-पहुँचते जब उसने तीसरी बार कहा कि एक बार और बता दीजिये आपका शुभ नाम। उसे तो जितनी बार सुना जाए उतना ही अच्छा है। अब सन्त जी की स्थिति बिगड़ गयी, गुस्से में आ गये। बोले क्या कहता है तूँ। कितनी बार तुझे बताया कि शान्तिप्रसाद, शान्तिप्रसाद। वह व्यक्ति मन ही मन मुस्कराया और बोला, मालूम पड़ गया है कि नाम आपका शान्तिप्रसाद है पर आप तो ज्वालाप्रसाद है। अपने मान को अभी जीत नही पाया, क्योंकि मान को जरा सी ठेस लगी और क्रोध की ज्वाला भड़क उठी।

बंधुओ ! ध्यान रखो जो मान को जीतने का पुरुषार्थ करता है वही मार्दव धर्म को अपने भीतर प्रकट करने मे समर्थ होता है। पुरुषार्थ यही है कि ऐसी परिस्थिति आने पर हम यह सोचकर चुप रह जायें कि यह अज्ञानी है। मुझसे हँसी कर रहा है या फिर सम्भव है कि मेरी सहनशीलता की परीक्षा कर रहा है। उसके साथ तो हमारा व्यवहार, माध्यस्थ भाव धारण करने का होना चाहिये। कोई वचन व्यवहार अनिवार्य नही है। जो विनयवान हो, ग्रहण करने की योग्यता रखता हो, हमारी बात समझने की पात्रता जिसमें हो, उससे ही वचन व्यवहार करना चाहिये। ऐसा आचार्यो ने कहा है। अन्यथा 'मौनं सर्वत्र साधनम्'--मौन सर्वत्र/सदैव अच्छा साधन है।

द्वीपायन मुनि के साथ यही तो हुआ कि वे मौन नही रह पाये, और यादव लोग भी शराब के नशे में आकर मौन धारण नही कर सकें। "मदिरापानादिभिः मनस. पराभवो दृश्यते"[1]--मदिरा पान से मन का पराभव होते देखा जाता है। पराभव से तात्पर्य है पतन की ओर चले जाना। अपने सही स्वभाव को भूलकर गलत रास्ते पर मुड़ जाना। गाली के शब्द तो किसी के भी कानों में पड़ सकते है लेकिन ठेस सभी को नही पहुँचती। ठेस तो उसी

के मन को पहुँचती है जिसे लक्ष्य करके गाली दी जा रही है। या जो ऐसा समझ लेता है कि गाली मुझे दी जा रही है। मेरा अपमान किया जा रहा है।

द्वीपायन मुनि को भीतर तो यही श्रद्धान था कि मै मुनि हूँ। मेरा वैभव समयसार है। समता परिणाम ही मेरी निधि है। मार्दव मेरा धर्म है। मैं मानी नही हूँ, लोभी नहीं हूँ। मेरा यह स्वभाव नही है। रत्नत्रय धर्म उनके पास था, उसी के फलस्वरूप तो उन्हें ऋद्धि प्राप्त हुई थी। लेकिन मन मे पर्याय बुद्धि जागृत हो गयी कि गाली मुझे दी जा रही है। आचार्य कहते है कि 'पज्जयमूढा हि परसमया'[4] जो पर्याय मे मुग्ध है, मूढ़ है वह पर-समय है। पर्याय का ज्ञान होना बाधक नहीं है परन्तु पर्याय में मूढ़ता आ जाना बाधक है। पर्याय बुद्धि ही मान को पैदा करने वाली है। पर्याय बुद्धि के कारण उनके मन मे आ गया कि ये मेरे ऊपर पत्थर बरसा रहे है, मुझे गाली दी जा रही है और उपयोग की धारा बदल गयी। उपयोग में उपयोग को स्थिर करना था, पर स्थिर नही रख पाये। उपयोग आत्म-स्वभाव के चिन्तन से हटकर बाहर पर्याय में लग गया और मान जागृत हो गया।

जो अपने आप मे स्थित है, स्वस्थ है उसे मान-अपमान सब बराबर है। उसे कोई गाली भी दे तो वह सोचता है कि अच्छा हुआ अपनी परख करने का अवसर मिल गया। मालूम पड़ जायेगा कि कितना मान कषाय अभी भीतर शेष है। यदि ठेस नही पहुँचती तो समझना कि उपयोग, उपयोग मे है। ज्ञानी की यही पहचान है कि वह अपने स्वभाव मे अविचल रहता है। वह विचार करता है कि दूसरे के निमित्त से मै अपने परिणाम क्यों बिगाड़ूं? अगर अपने परिणाम बिगाड़ूंगा तो मेरा ही अहित होगा। कषाय दु:ख की कारण है। पाप-भाव दु:ख ही है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है 'दु:खमेव वा'[5] आनन्द तो तब है जब दु:ख भी मेवा हो जाये। सुख और दु:ख दोनो में साम्य भाव आ जाये।

मान कषाय का विमोचन करके ही हम अपने सही स्वास्थ्य का अनुभव कर सकते है, साम्य भाव ला सकते है। जैसे दूध उबल रहा है अब उसको अधिक नही तपाना है तब या तो उसे सिगड़ी से नीचे उतार कर रख दिया जाता है या फिर अग्नि को कम कर देते हैं। तब अपने आप वह धीरे-धीरे अपने स्वभाव मे आ जाता है, स्वस्थ हो जाता है अर्थात् शान्त हो जाता है और पीने योग्य हो जाता है। ऐसे ही मान कषाय के उबाल से अपने को बचाकर हम अपने स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते है। मान का उबाल शान्त होने पर ही मार्दव धर्म प्राप्त होता है। मान को अपने से अलग कर दे या कि अपने को ही मान कषाय से अलग कर लें, तभी मार्दव धर्म प्रकट होगा।

अन्त मे इतना ही ध्यान रखिये कि अपने को शान्तिप्रसाद जैसा नही करना है। हाँ, यदि कोई गाली दे, कोई प्रतिकूल वातावरण उपस्थित करे तो अपने को शान्तिनाथ भगवान को नही भूलना है। अपने परिणामों को सभालना अपने आत्म परिणामो की सँभाल करना ही धर्म है। यही करने योग्य कार्य है। जिन्होने इस करने योग्य कार्य को सम्पन्न कर लिया

वे ही कृतकृत्य कहलाते है। वही सिद्ध परमेष्ठी कहलाते है, जिनकी मृदुता को अब कोई खण्डित नही कर सकता। हम भी मृदुता के पिण्ड बने और जीवन को सार्थक करें।

मार्दव धर्म –

१ (अ) अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् परीक्षामुख सूत्र-५/९

(ब) ज्ञस्वभावस्यात्मन. कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो व फलम्–सर्वार्थसिद्धि १/१०/१७०/७०५

२ कातन्त्ररूपमाला–प्रथम संदर्भ, सूत्र ४९३

३ तेषां मन प्राणापानाना मूर्तिमत्वमवसेयम्। कुत ? मूर्तिमद्भि. प्रतिघातादिदर्शनात्। प्रतिभयहेतुभिरशनिपातादिभिर्मनस प्रतिघातो दृश्यते, सुरादिभिश्चाभिभव. सर्वार्थसिद्धि ५/१९/५६३/२१९

४. अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥

प्रवचनसार-द्वितीय अधिकार (गाथा-१)

५. तत्वार्थसूत्र, ७/१०

उत्तम आर्जव

- मोत्तूण कुडिलभाव
  णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो ।
  अज्जवधम्म तइयो,
  नस्स दु सभवदि णियमेण ॥

जो मनस्वी पुरुप कुटिल भाव वा मायाचारी परिणामो को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है । (७३)

'योगस्यावक्रता आर्जवम्'[1] योगों की वक्रता न होना ही आर्जव धर्म है, ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में कहा है। मन, वचन और काय इन तीनों की क्रियाओं में वक्रता नहीं होने का नाम 'आर्जव' है। ऋजोर्भावो आर्जवम् ऋजुता का भाव ही आर्जव है। ऋजुता का अर्थ है सीधापन। ध्यान करते समय ध्यान के काल में आनन्द कब आता है? कौन सी वह घड़ी है जो आनन्द लाती है? तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि घड़ी देखते हुए ध्यान करने वालों के जीवन में ऐसी घड़ी नहीं आयेगी क्योंकि आपका मन अपने में लीन नहीं है। अपनी सीमा का उल्लंघन कर रहा है। अपनी सीमा से यहाँ तात्पर्य है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को सीमित करना और उसमें वक्रता नहीं आने देना। सीधे होने के उपरान्त ही एकाग्रता सम्भव होती है और एकाग्रता आये तो आनन्द की प्राप्ति स्वतः होने लगती है।

ध्यान में एकाग्रता लाने के लिए ध्यान में बैठने से पहले समझाया जाता है कि रीढ़ की हड्डी सीधी करके बैठना। जिस व्यक्ति के अभी रीढ़ में सीधापन नहीं आया, शरीर में सीधापन नहीं आया, वह ध्यान में एकाग्रता कैसे ला पायेगा? जीवन की रीढ़ सीधी होनी चाहिये, क्योंकि चारित्र ही जीवन की रीढ़ है। यदि वह न हो अथवा हो पर वक्र हो, तब आर्जव धर्म नहीं आ पायेगा।

विषय-कषाय मे उलझे हुए उपयोग को वहाँ से हटाकर योग की ओर ले आना और फिर योगों की व्यर्थ प्रवृत्ति को रोककर दृष्टि को अपने में स्थिर करना, सीधे अपने से सम्पर्क करना, एक पर टिक जाना, प्रकंपित नहीं होना, चचल नहीं होना ही ऋजुता है। यही आर्जव-धर्म है। जैसे जल के पास शीतलता है, तरलता भी है, अग्नि बुझाने की क्षमता भी है और बहने का स्वभाव भी है। इसके अलावा कोई आकर उसमें अपना मुख देखना चाहे तो झाँकने पर मुख भी दिख जाता है। यह जल की विशेषता है। लेकिन यदि जल स्पन्दित हो, तरंगायित हो, हवा के झोंकों से उसमें लहरें उठ रही हो; तब आप उस जल मे सामने जाकर भी अपना मुख नहीं देख पायेंगे। जल मे क्षमता होते हुए भी उस समय वह प्रकट नहीं है क्योंकि जल तरङ्गित हो गया है। इस प्रकार भोगो के माध्यम से आत्मा में होने वाले परिस्पन्दन के समय आत्मा को उसके वास्तविक स्वरूप में अनुभव नहीं किया जा सकता।

एक बात और है कि यदि जल शान्त भी हो और हमारी दृष्टि चलायमान हो, तो भी जल के तल में पड़ी वस्तु देखने में नहीं आयेगी। लेकिन जो व्यक्ति जल की वक्रता होते हुए भी अपनी दृष्टि को निष्पन्द कर लेता है तो वह लहरों को भेदकर भीतर की वस्तु को देखने में भी समर्थ हो जाता है। जिसकी दृष्टि में एकाग्रता रहती है उसको नियम से उस लहरो मे भी रास्ता मिल जाता है। इसी प्रकार साधक को अपने मन-वचन और काय की चञ्चलता के बीच एकाग्र होकर अपने आत्मस्वरूप का दर्शन करने का प्रयास करना चाहिये।

अपने यहाँ भेद विज्ञान की बड़ी विशेषता बतायी गयी है। भेद -विज्ञान का अर्थ इतना ही नहीं है कि जो बहुत सारे मिले-जुले पदार्थ हैं, उन्हें अलग-अलग करना; किन्तु भेद विज्ञान का अर्थ यह भी है कि भेद करके भीतर पहुँच जाना। लहरों के कारण वस्तु हमें ऊपर देखने में नहीं आती, लेकिन यदि हम भीतर डूब जायें तो ऊपर उठने वाली लहरों के कारण भीतर किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती। जो व्यक्ति एक बार वस्तु के स्वरूप मे डूब जाता है तो फिर बाह्य में पर्याय की चञ्चलता उसे बाधक नही बनती। अभी जिसकी दृष्टि में भेदने की क्षमता नहीं आयी तो वह ऊपर उठने वाली लहरों के समान पर्यायो को ही देखेगा और उन्हीं में उलझता रहेगा। उन्हीं को लेकर रागद्वेष करता रहेगा। वह जितना-जितना रागद्वेष के माध्यम से उलझेगा, उतना-उतना स्वयं को देख नहीं पायेगा। वह कहेगा अवश्य कि देख रहा हूँ, लेकिन मात्र सतह को ही देख पायेगा।

किसी को बुखार आ जाता है तो कोई हकीम-वैद्य की तरह हाथ की नब्ज देखने लगे, तो क्या देखेगा ? केवल नाड़ी की फड़कन को ही देख पायेगा। फड़कन देखना तो आसान है, उसे सभी देख लेते है लेकिन भीतर कहाँ क्या रोग हुआ है, इसका ज्ञान तो नाड़ी के विशषज्ञ को ही हो सकता है; क्योंकि नाड़ी का स्पन्दन भीतर की व्याधि की सूचना देता है। अकेले नाड़ी की फड़कन को देखना जैसे पर्याप्त नही है इसके माध्यम से भीतर की व्याधि को जानना भी आवश्यक है, इसी प्रकार 'भेद कृत्वा यद् विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्' या कहो कि 'भेदस्य यद्विज्ञानं तद् भेदविज्ञानम्'–भेद करके जो जानता है वह भेद विज्ञानी है अथवा भेद को अर्थात् भीतरी रहस्य को जो जानता है वह भेदविज्ञानी है।

जिन परमपैनी सुबुधि छैनी, डारि अंतर भेदिया।
वर्णादि अरु रागादि तैं निजभाव को न्यारा किया॥[1]

भेद विज्ञान रूपी अत्यन्त पैनी छैनी के द्वारा, जो एक जैसा दिखाई पड़ रहा है, वह पृथक्-पृथक् हो जाये। उसका भेद समझ में आ जाये, तो अपने निज-स्वभाव को उससे पृथक् किया जा सकता है। एक हंस होता है तथा एक बगुला होता है। दोनों सफेद होते हैं और दोनों की चोंच होती है लेकिन हंस की चोंच के भीतर ऐसी विशेषता है कि वह दूध और जल को पृथक्-पृथक् बना देता है और दूध का आसानी से सेवन करता रहता है और जल को छोड़ता जाता है ? तात्पर्य यह हुआ कि जिसके पास भेद-विज्ञान आ जाता है वह सीधे अपनी निजी वस्तु तक पहुँच जाता है और व्यर्थ के रागद्वेष में नहीं उलझता।

जब तक हम इस रागद्वेष में उलझते रहेंगे तब तक हम अपने भीतर वहाँ नहीं पहुँच पायेंगे जहाँ ऋजुता का पारावार है। वास्तव में देखा जाये तो दूसरे की ओर जाना ही टेढ़ापन है। रागद्वेष करना ही उलझना है। अपनी ओर आना हो तो सीधेपन से ही आना सम्भव है। रागद्वेष के अभाव में ही सुलझा जा सकता है। जैसे सीधी तलवार हो तो ही म्यान में जायेगी किन्तु यदि टेढ़ी हो तो नही जायेगी। ऐसे ही यदि ज्ञान का विषय सीधा ज्ञान ही

बन जाये तो नियम से समझना काम हो जायेगा। किन्तु यदि ज्ञान का विषय हम अन्य किसी को बनाते हैं और बाह्य पदार्थों के साथ अपने ज्ञान को जोड़ते हैं तो वक्रता नियम से आयेगी, रागद्वेष रूपी उलझन खड़ी हो जायेगी।

जैसे सीधे देखते हैं तो कोई एङ्गल (कोण) नहीं बनता, टेढ़ापन नहीं आता। यदि थोड़ा भी अपने सिवाय कोई आजू-बाजू की वस्तुओं पर दृष्टिपात करता है तो आँख को मोड़ना पड़ेगा और कोण बन जायेगा अर्थात् दृष्टि में वक्रता आ जायेगी। इसी प्रकार मोह-माया के वशीभूत होकर यह जीव अपने-अपने स्वभाव की ओर जब तक दृष्टिपात नहीं करता जो कि बिल्कुल सीधा है, तो नियम में वक्रता आती है। अपने स्वभाव से स्खलित होना पड़ता है। आर्जव धर्म अपने स्वभाव की ओर सीधे गमन करने पर ही सम्भव है।

बच्चो को आनन्द तभी आता है जब वे सीधे-सीधे न भागकर टेढ़े-मेढ़े भागते हैं। यही दशा वैभाविक दशा में संसारी प्राणी की है। उसे टेढ़ेपन में ही आनन्द आता है जबकि वह आनन्द नहीं है। वह तो मात्र सुखाभास है, जो दुःख रूप ही है। विभाव रूप परिणति का नाम ही एक प्रकार से वक्रता है। जल में कोई चीज डालो तो सीधी नहीं जाती, यहाँ-वहाँ होकर नीचे जाती है। जैसे ही संसार मे जब तक जीव रागद्वेष-मोह के साथ है तब तक वह चलेगा भी, तो जल में डाली गयी वस्तु के समान ही टेढ़ा चलेगा, सीधा नही चलेगा। उसका कोई भी कार्य सीधा नहीं होता। आप देख लीजिये आपके देखने में टेढ़ापन, आपके चलने मे टेढ़ापन, आपके खाने-पीने, उठने-बैठने में टेढ़ापन, बोलने और यहाँ तक कि सोचने में भी टेढ़ापन है। सोचना स्वयं ही स्पन्दन रूप है अर्थात् विभाव है और विभाव ही टेढ़ापन है। वास्तव में परमार्थ से देखा जाये, ऋजुता तो स्वभाव मे स्थित होने में ही है। सिद्धत्व में ही ऋजुता है, क्योंकि स्वभाव में किसी भी प्रकार की विक्रिया सम्भव नहीं होती और विभाव में किसी भी प्रकार की प्रक्रिया बिना विक्रिया के नहीं होती।

आपने युद्ध का वर्णन पुराणों में पढ़ा होगा। देखा-सुना भी होगा। दो तरह के आयुध होते है। कुछ जो फेककर युद्ध मे प्रयुक्त होते है वे 'अस्त्र' कहलाते है और कुछ हाथ में लेकर ही लड़ायी की जाती है वे 'शस्त्र' कहलाते है। धनुष वाण अस्त्र हैं। बाण से निशाना साधने वाला कितना ही दक्ष क्यों न हो यदि वह बाण टेढ़ा है तो लक्ष्य तक, मजिल तक नही पहुँच पायेगा। पहले वाण का सीधा होना आवश्यक है फिर सीधा वाण लेकर जब निशाना साधते है तो दृष्टि मे निष्पन्दता होनी चाहिये और हाथ भी निष्कम्प होना चाहिये। हृदय में धैर्य होना चाहिये। अव तो समय के साथ सव कुछ बदल गया। धनुष के स्थान पर बंदूकें आ गयीं क्योंकि हृदय में, हाथ में और दृष्टि मे सभी में चञ्चलता आती जा रही है। भय आता जा रहा है। आज तो छुप-छुप कर लड़ाई होती है। यह क्षत्रियता नहीं है, यह वीरता नही है बल्कि यह तो कायरता है। यह ऋजुता नहीं बल्कि वक्रता का परिणाम है।

आज का जीवन भय से इतना त्रस्त हो गया है कि किसी के प्रति मन में सरलता नही रही। आज आणविक-शक्ति का विकास हो रहा है। दूसरे पर निगाह रखने के लिए रडार

का उपयोग किया जा रहा है लेकिन यह सब चञ्चलता का सूचक है। जिस दिन यह चञ्चलता अधिक बढ़ जायेगी उसी दिन विस्फोट हो जायेगा और विनाश होने में देर नहीं लगेगी। बंधुओं ! सुरक्षा तो सरलता में है। एकाग्रता में नहीं। वक्रता या चञ्चलता में सुरक्षा कभी सम्भव नहीं है।

आपने दीपक की लौ देखी होगी उससे प्रकाश होता रहता है और ऊष्मा भी निकलती रहती है। लेकिन यदि दीपक की लौ स्पन्दित हो तो प्रकाश में तेजी नहीं रहती। आप इस प्रकाश में पढ़ना चाहें तो आसानी से पढ़ नहीं सकते और दूसरी बात यह है कि उस समय ऊष्मा भी कम हो जाती है। सीधी निष्पन्द जलती हुई लौ पर हाथ रखो तो फौरन जलन होने लगेगी। लेकिन यदि लौ हिल रही हो, प्रकम्पित हो तो हाथ रखने पर एकदम नहीं जलता। कुछ गरमाहट तो होती है लेकिन तीव्र जलन नहीं होती। कारण यही है कि लौ में एकाग्रता होने पर उसमें प्रकाश और ऊष्मा की सामर्थ्य अधिक बढ़ जाती है। लेकिन हवाओं के माध्यम से जब वही लौ चञ्चल हो जाती है, स्पन्दित होने लगती है, उसमे टेढ़ापन आ जाता है, वक्रता आ जाती है तो उसकी सामर्थ्य कमजोर पड़ जाती है। इसी प्रकार जब तक हमारा ज्ञान, माया रूपी हवाओ से स्पन्दित होता रहता है तब तक उसमें एकाग्र होने और जलाने की क्षमता अर्थात् कर्मों को जलाने या कर्मों की निर्जरा करने की क्षमता नही आ पाती। इसीलिए हमें अपने ज्ञान को एकाग्र अर्थात् सीधा बनाना चाहिये। ज्ञान की वक्रता यही है कि वह पर पदार्थों को अपना मानकर उनकी ओर मुड़ने लग जाता है। उनमें उलझने लग जाता है और यदि वह पर पदार्थों को पकड़ने के लिए न जाये, अपने में स्तब्ध, स्थिर एवं एकाग्र हो जाये तो वही ज्ञान कर्मों की निर्जरा में सहायक हो जाता है।

"ज्ञान का दूसरे की ओर ढुलक जाना ही दीनता है.... और ज्ञान का ज्ञान की ओर वापिस आना ही स्वाधीनता है।" धन्य है वह ज्ञान जो पर पदार्थों की आधीनता स्वीकार नही करता धन्य है वह ज्ञान जो बिल्कुल टङ्कोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायक पिण्ड की तरह रहा आता है। धन्य है वह ज्ञान जिस ज्ञान मे तीन लोक पूरे के पूरे झलकते है, लेकिन फिर भी जो अपने आत्म आनन्द मे लीन हैं।

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि-रज-रहस-विहीन ॥

संसारी प्राणी ज्ञान की चञ्चलता के कारण या कहें संसार में भटकने और उलझने की इच्छा के कारण त्रस्त हो रहा है और दीन-हीन हो रहा है। अपने स्वभाव की ओर देखने का पुरुषार्थ करे तो सुलझने में देर नही लगेगी। जिस प्रकार खाया हुआ अन्न देह मे, रग-रग मे मिलकर रुधिर बन जाता है, उसी प्रकार हमारे जीवन मे सरलता या सुलझापन हमारा अभिन्न अङ्ग बन जाये तो जीवन धन्य एवं सार्थ हो जावेगा।

अपव्यय के रूप मे उस कार में से एक बूँद भी पेट्रोल नीचे नहीं गिरा। मशीन भी ठीक काम कर रही थी पर देखा गया कि कार रुक गयी। उसमें एक बूँद पेट्रोल भी नहीं

बचा । अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए जितना पेट्रोल आवश्यक था उतना उसमें डाला गया था लेकिन वह पहले ही कैसे समाप्त हो गया ? तब उस चलाने वाले ने कहा कि कार तो और अधिक भी चल सकती थी, लेकिन रुकने का कारण यही है कि रास्ते की वक्रता के कारण पेट्रोल अधिक खर्च हुआ और दूरी कम तय की गयी । अगर रास्ता सीधा हो तो इतने ही पेट्रोल से अधिक दूरी तक कार को ले जाया जा सकता था । यदि सरल-पथ हो तो वह लाभ मिल सकता है ।

बंधुओं ! आज आर्जव-धर्म की बात है । ऋजुता के अभाव में जब जड़ पदार्थ भी ठीक काम नहीं कर सकता, तो फिर चेतन को तनाव तो होता ही । वक्रता तनाव उत्पन्न करती है । हमारे उपयोग मे वक्रता होने के कारण मन मे वक्रता, वचन में वक्रता और काय-चेष्टाओं में भी वक्रता आ जाती है । जैसा हम चाहते है, जैसा मन मे विचार आता है, वैसा ही हम उपयोग को बदलना प्रारम्भ कर देते है । लेकिन यह ठीक नहीं है । यही तनाव का कारण बनता है । वास्तव मे जैसा हम चाहते है उसके अनुसार नही, बल्कि जैसी वस्तु है उसके अनुसार हम अपने उपयोग को बनाने की चेष्टा करें तो ऋजुता आयेगी । हमें जानना चाहिये कि उपयोग के अनुरूप वस्तु का परिणमन नही होता । किन्तु ज्ञेयभूत वस्तु के अनुरूप ज्ञान जानता है, अन्यथा वह ज्ञान अप्रमाणता की कोटि में आ जाता है ।

विचार करे वक्रता कैसे आती है और क्यो आती है ? तो बात ऐसी है कि जिस प्रकार के जीवन को हम जीना चाहते है या जिस जीवन के आदी बन चुके है उसी के अनुसार ही सब कुछ होता चला जाता है । जैसे किसी पौधे को कोई कुछ प्रबन्ध करके सीधा ऊपर ले जाने की चेष्टा करे तो वह पौधा सीधा ऊपर बढ़ने लगता है । यदि कोई प्रबन्ध नहीं किया जाए तो नियम से पौधा विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर यहाँ वहाँ फैलने लग जाता है और उसकी ऊर्ध्वगति रुक जाती है । इसी प्रकार यदि हम अपनी शक्ति को इधर-उधर नही दौड़ाते तो हमारी यह शक्ति एक ही दिशा में लगकर अधिक काम कर सकती है । लेकिन आज टेढ़ा-मेढ़ा चलना ही संसारी प्राणी का स्वभाव जैसा हो गया है और निरन्तर इसी में शक्ति का अपव्यय हो रहा है । वक्रता बढ़ती जा रही है । वक्रता का संसार दिनोंदिन और मजबूत होता जा रहा है ।

सरलता की शक्ति को पहचानना होगा । सरलता की शक्ति अद्भुत है । आज जो कार्य यन्त्र नहीं कर सकता, पहले वही कार्य मनुष्य मन्त्र के माध्यम से अपनी शक्ति को एक दिशा में लगाकर कर लेता था । बात ऐसी है कि धारणा के बल पर जिस क्षेत्र में हम बढ़ने लग जाते हैं वहाँ पर बहुत कुछ साधना अपने आप होती चली जाती है । वस्तुतः यह एक दृष्टिकोण का कार्य है । एक आपने विचार बना लिया, या जिस रूप में धारणा बना ली, उसी रूप में वह वस्तु देखने में आने लगती है । जिस दिशा में हमारी दृष्टि सीधी-साफ होती है उसी दिशा में सफलता मिलना प्रारम्भ हो जाती है । वक्रता का अभाव और ऋजुता का सद्भाव होना चाहिये । जैसे आपकी दृष्टि किसी वस्तु को या मान लीजिये पाषाण को देखने में लगी है

और उसे साधना के बल से अनिमेष देखने लगें, तो सम्भव है कि उस दृष्टि के द्वारा पाषाण भी टूट सकता है और लोहा भी पिघल सकता है। इतनी शक्ति आ सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टि को सीधा रखा जाए और प्राण-प्रण से उसी में लगाया जाए।

मान लीजिये, आप बैठे हैं और जगह ऐसी है कि इधर-उधर जाने की कोई गुञ्जाइश नहीं है। अचानक एक बड़ा सा काला बिच्छू पास बैठा हुआ दिख जाए तो मैं पूछना चाहता हूँ कि आप अपने शरीर के किसी भी अङ्ग उपाङ्ग को हिलायेंगे-डुलायेंगे क्या ? नहीं हिलायेंगे, बल्कि एकदम स्तब्ध से होकर बैठे रह जायेंगे, जैसे कि कोई योगी ध्यान में बैठा हो।

"सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण उपल खाज खुजावते ॥"

मन-वचन-काय की क्रियाओं का भली प्रकार निरोध करके जैसे कोई योगी अपनी आत्मा के ध्यान में लीन हो जाता है। उसकी स्थिर-मुद्रा को देखकर वन मे विचरण करने वाले हिरण लोग उसे चट्टान समझकर अपने शरीर को रगड़ने लग जाते हैं। ऐसी ही दशा उस समय आपकी हो जायेगी। आपके पास यह शक्ति इस समय कहाँ से आ गयी ? वह कहीं अन्यत्र से नहीं आयी अपितु यह शक्ति तो पहले से ही विद्यमान थी। पर आप उस समय हिल जाते तो बिच्छू ही आपको हिला देता। इसलिए प्राणों की रक्षा की बात आते ही आपने अपनी ऋजुता की शक्ति का पूर्ण निर्वाह किया। अपनी शक्ति का सही उपयोग किया।

प्रत्येक क्षेत्र में यही बात है। आप चाहें तो धर्म के क्षेत्र में भी यही बात अपना सकते हैं। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और शैक्षणिक आदि सभी विधाओं के लिए एकमात्र दृष्टि की ऋजुता ही उपयोगी है। यदि एक ही वस्तु पर ध्यान केन्द्रित हो जाए तो नियम से क्रान्ति घटित हो जायेगी। एक व्यक्ति बहुत ही प्रेम-भाव के साथ देखता है। उसकी दृष्टि मे सरलता होती है तो सामने वाला व्यक्ति भी उसकी और सहज ही आकृष्ट हो जाता है। कोई व्यक्ति जिसकी दृष्टि में वक्रता है, जिसके भावों में कुटिलता है तो उसे देखकर हर कोई उससे बचना प्रारम्भ कर देता है। जैसे मुस्कराती हुई माँ की दृष्टि ज्यों ही सीधी बच्चे के ऊपर पड़ती है तो वह बच्चा रोना भूल जाता है और देखने लगता हैं। इतना सरल हो जाता है कि सब कुछ भूलकर उसी सुख मे लीन हो जाता है। यही सरलता की बात है।

जब हम ज्यामेट्री (ज्यामिति) पढ़ते थे, उस समय की बात है। उसमे कई प्रकार के कोण बनाये जाते थे। एक सरल-कोण होता था। एक सौ अस्सी अंश के कोण को सरल-कोण बोलते है। सरल कोण क्या है ? वह तो एक सीधी रेखा ही है। हमारी दृष्टि में आज भी इतनी सरलता आ सकती है कि उसमे सरल-कोण बन जाये। हम सरलता के धनी बन सकते है। जिसकी दृष्टि में ऐसा सरल कोण बन जाता है तो वह श्रमण बन जाता है। वह तीन-लोक में पूज्य हो जाता है। लेकिन हमारे जीवन में ऐसे बहुत कम समय आ पाते है जबकि दृष्टि में सरल कोण बने और दृष्टि में सरलता आये।

आँख के उदाहरण के माध्यम से हम और समझें कि हमारी दोनों आँखों को दोनों ओर दायें-बायें अपनी विपरीत दिशा की ओर भेज करके सरल कोण बनाना चाहें तो यह संभव नहीं है। दो आँखों से हम दो काम नहीं कर सकते। जब वस्तु के ऊपर दोनों आँखों की दृष्टि पड़ती है और दृष्टि चंचल नहीं हो तो ही वस्तु सही ढंग से दिखायीं पड़ सकती है, अन्यथा नहीं। बहुत कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अपनी दृष्टि को स्थिर रख पाते हैं और सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। नासाग्र दृष्टि ही ऐसी सरल दृष्टि है जहाँ विपरीतता समाप्त हो जाती है और समता आ जाती है। दृष्टि वहाँ दृष्टि में ही रह जाती है। दृष्टि का एक अर्थ यहाँ प्रमाण-ज्ञान से भी है और दृष्टि कोण का अर्थ नय ज्ञान से है।

'नयन' शब्द में देखा जाए तो नय + न अर्थात् नयों के पार जो दृष्टि है वही वास्तव में शांत निर्विकल्प और सरल दृष्टि है। नयनों को विश्राम देना हो, आराम देना हो, उनकी पीड़ा दूर करना हो तो एक ही उपाय है कि दृष्टि को नासाग्र रखो। भगवान कैसे बैठे है? 'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा दृष्टि नासा पे धरें।' हमारी यानी छद्मस्थों की दृष्टि वह मानी जाती है जो पदार्थ की ओर जाने का प्रयास करती है। और सर्वज्ञ की दृष्टि वह है जिसमें पूरे के पूरे लोक के जितने पदार्थ हैं–भूत, अनागत और वर्तमान वे सब युगपत् दर्पण में के समान झलक जाते है–

"तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥"

उमास्वामी महाराज ने अपने तत्वार्थसूत्र में कहा है कि 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।' और एकाग्रता का अर्थ बताते हुए अकलंक स्वामी अपने तत्वार्थवार्तिक में लिखते है कि 'व्यग्रतानिवृत्यर्थम् एकाग्रताशब्दस्य प्रयोगः'–एकाग्रता शब्द का प्रयोग व्यग्रता के निरोध के लिए आया है। जहाँ पदार्थ को देखने की व्यग्रता नहीं है, वहीं दृष्टि सरल है। केवलज्ञान के लिए ऐसे ही ध्यान की आवश्यकता है। ऐसी ही एकाग्र अर्थात् सरल दृष्टि की आवश्यकता है। वस्तु को जानने के लिए व्यग्र हुए ज्ञान के द्वारा केवलज्ञान नहीं होगा। जब ज्ञान स्थिर हो जायेगा उसमे व्यग्रता रूप वक्रता का अभाव हो जाएगा, वह ध्यान में ढल जायेगा तभी केवलज्ञान की उत्पत्ति मे सहायक होगा।

पूरे आगम ज्ञान का अध्येता भी क्यों न हो वह भी तब तक मुक्ति का अधिकारी नहीं बन सकता, अपनी आत्मा की अनुभूति में लीन नहीं हो सकता जब तक कि उसकी व्यग्रता नहीं मिटती। जब तक कि दृष्टि रागद्वेष से मुक्त होकर सरल नहीं होती। व्यग्रता दूर करने के लिए ध्यान ही एकमात्र उपाय है। ध्यान के माध्यम से हम मन-वचन-काय की चेष्टाओ में ऋजुता ला सकते है और इन योगों मे जितनी-जितनी ऋजुता/सरलता आती जायेगी, उपयोग में भी उतनी-उतनी व्यग्रता/वक्रता धीरे-धीरे मिटती जायेगी।

आचार्यों ने वक्रता को माया-कषाय के साथ भी जोड़ा है और माया को तिर्यंच आयु के लिए कारण बताया है। "माया तैर्यग्योनस्य।"–तिर्यक् शब्द का एक अर्थ तिरछा या वक्र

भी है। इधर-उधर दृष्टि का जाना ही दृष्टि की वक्रता है। इधर-उधर कौन देखता है? वही देखता है जिसके भीतर कुछ डर रहता है। आपने कबूतर को देखा होगा। एक दाना चुगता है लेकिन इस बीच इसकी दृष्टि पता नहीं कितनी बार इधर-उधर चली जाती है। मायाचारी व्यक्ति को दिशा जल्दी नहीं मिलती। मायाचारी तिर्यञ्च गति का पात्र इसी से बनता है।

माया अर्थात् वक्रता भी कई प्रकार की है अनन्तानुबंधी जन्य वक्रता अलग है, अप्रत्याख्यान तथा प्रत्याख्यान कषायजन्य वक्रता अलग है और सञ्ज्वलन की वक्रता अलग है। आचार्यों ने अनन्तानुबंधी जन्य वक्रता के लिए बाँस की जड़ का उदाहरण दिया है। गांठों में गाठें इस प्रकार उलझी रहती हैं कि उनको सीधा करना चाहो तो सीधी न हों। अप्रत्याख्यान जन्य वक्रता के लिए मेंढे के सींगों का उदाहरण दिया है। मेंढ़े के सींग घुमावदार होते हैं। प्रत्याख्यान की वक्रता गोमूत्र के समान कही है। उसमें जटिलता अपेक्षाकृत कम है और सञ्ज्वलन कषाय जन्य वक्रता खुरपे के समान है। जरा से ताप के द्वारा उसे सीधा किया जा सकता है। अब हमें देख लेना चाहिये कि हमारी उपयोग की स्थिति कैसी है? उसमें वक्रता कितनी है और किस तरह की है, उसमें कितने घुमाव और कितने मोड़ हैं?

इस वक्रता को निकालने के लिए पहले मृदुता की बड़ी आवश्यकता है। मृदुता के अभाव में ऋजुता नहीं आती। जैसे किसी लोहे की सलाई में वक्रता आ जावे तो उसको ताप देने के उपरान्त जब उसमें थोड़ी मृदुता आ जाती है तब एक दो बार घन उसके ऊपर पटक दिया जाए तो उसमें सीधापन आ जाता है। इसी प्रकार कषायों की वक्रता निकालने के पहले रत्नत्रय धर्म को अंगीकार करके तप करना होगा। तभी ऋजुता आयेगी और आर्जव धर्म फलित होगा। घर बैठे-बैठे उपयोग में ऋजुता लाना संभव नहीं है। सलाई को लुहार के पास ले जाना होगा अर्थात् घर छोड़ना होगा। ऐसे ही तीर्थक्षेत्र पर आकर अपने उपयोग को गुरुओं के चरणों में समर्पित करना होगा और वे जो तप इत्यादि बतायें इसे ग्रहण करके कषायों पर घन का प्रहार करना होगा, तभी उपयोग मे सरलता आवेगी।

आपने शुक्लपक्ष मे धीरे-धीरे उगते चन्द्रमा को देखा होगा। शुक्लपक्ष में प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा की एक कला खुलती है। लेकिन उसे देखना सम्भव नहीं है। दूज के दिन देखने मिले तो मिल सकता है। दूज के चन्द्रमा को कभी-कभी कवि लोग बङ्किम-चन्द्रमा भी कहते हैं। अर्थात् अभी चन्द्रमा में वक्रता है, टेढ़ापन है और जैसे-जैसे चन्द्रमा अपने पक्ष को पूर्ण करता जाता है, वैसे-वैसे उसकी वक्रता कम होती जाती है, जब पक्ष पूर्ण हो जाता है तब वह बङ्किम चन्द्रमा नहीं बल्कि पूर्ण चन्द्रमा कहलाने लगता है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो ग्रन्थियां पड़ी है, उन ग्रंथियों का विमोचन करके हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते है। महावीर भगवान का पक्ष अर्थात् उनका आधार लेकर जब हम धीरे-धीरे आगे बढ़ेगे, तभी पूर्ण सरलता की प्राप्ति होगी। ग्रन्थियों का विमोचन करना अर्थात् निर्ग्रन्थ होना, चारित्र को अङ्गीकार करना पहले अनिवार्य है। बारहभावना मे पं० दौलतराम जी कहते हैं कि –

'जो भाव मोहतै न्यारे दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे ।
सो धर्म जबै जिय धारै तब ही सुख अचल निहारै ।।'

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी धर्म को धारण करके सभी प्रकार की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ग्रन्थियों का विमोचन करके ही अचल सुख को पाया जा सकता है । अकेले किताबी ज्ञान से कुछ नहीं होगा ।

जीवन की प्रत्येक क्रिया में धर्म का ध्यान रखना होगा । जिसके पास क्षमा धर्म है, वही क्रोध का वातावरण मिलने पर भी शान्त रहेगा । जिसके पास मान कषाय नहीं है वही लोगों के माध्यम से अपनी प्रशंसा सुनकर भी समता-भाव धारण कर सकेगा । यथाजात निर्ग्रन्थ होकर ही कोई जीवन मे वास्तविक ऋजुता का दर्शन कर सकता है । किताबो में, कोशो मे या मात्र शब्दो के माध्यम से धर्म का दर्शन नहीं हो सकता । इतना अवश्य है कि कुछ सङ्केत मिल सकते है । धर्म का दर्शन तो जीवन मे धर्म को अङ्गीकार करने पर ही होगा या जिन्होंने धर्म को धारण कर लिया है उनके समीप जाने पर ही होगा । बालक अपनी माँ के पास बैठकर अपने हृदय की हर बात बड़ी सरलता से कह देता है उसी प्रकार सरल हृदय वाला साधक जब यथाजात होकर सभी ग्रन्थियाँ खोल देता है और सीधा-सीधा अपने मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर देता है तो उसके जीवन मे धर्म का दर्शन होने लगता है । वह स्वय भी धर्म का दर्शन करने लग जाता है ।

माया जब तक रहेगी, ध्यान रखना इस जीवन मे और अगले जीवन मे भी वह शल्य के समान चुभती रहेगी । मायावी व्यक्ति कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता । जिस समय काँटा चुभ जाता है उस समय तत्काल भले ही दर्द अधिक न हो, लेकिन बाद में जब तक वह भीतर चुभा रहता है तब तक वह आपको चैन नहीं लेने देता । स्थिति ऐसी हो जाती है कि न रोना आता है, न हँसा जाता है, न भागा जाता है और न ही सोया जाता है कुछ भी वह करने नहीं देता । निरन्तर पीड़ा देता है । ऐसे ही माया कषाय मायावी व्यक्ति के भीतर-भीतर निरन्तर घुटन पैदा करती रहती है ।

बधुओ ! अपने उपयोग को साफ-सुथरा और सीधा बनाओ । जीवन में ऐसा अवसर बार-बार आने वाला नहीं है । जैसे नदी बह रही हो, समीप ही साफ-सुथरी शिला पड़ी हो और साफ करने के लिए साबुन इत्यादि भी साथ में हो, फिर भी कोई अपने वस्त्रों को साफ नहीं करना चाहे तो बात कुछ समझ में नहीं आती । कितनी पर्यायें एक-एक करके यूँ ही व्यतीत हो गयीं । अनन्तकाल से आज तक आत्मा कर्ममल से मलिन होती आ रही है । उसे साफ-सुथरा बनाने का अवसर मिलने पर हमें चूकना नहीं चाहिये । कषायों का विमोचन करना चाहिये । बच्चे के समान जैसा वह बाहर और भीतर से सरल है, उसी प्रकार अपने को बनाना चाहिये । यथाजात का यही अर्थ है कि जैसा उत्पन्न हुआ, वैसा ही भीतर और बाहर निर्विकार होना चाहिये ।

यही यथाजात रूप वास्तव मे ऋजुता का प्रतीक है । यही एकमात्र व्यग्रता से एकाग्रता की ओर जाने का राजपथ है । इस पथ पर आरूढ़ होने वाले महान् भाग्यशाली है । उनके दर्शन प्राप्त करना दुर्लभ है । उनके अनुरूप चर्या करना और भी दुर्लभ है ।

'रहे सदा सतसङ्ग उन्ही का ध्यान उन्ही का नित्य रहे ।
उन ही जैसी चर्या मे यह चित्त सदा अनुरक्त रहे ।।'[10]

ऐसी भावना तो हमेशा भाते रहना चाहिये । तिर्यञ्च भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके एक देश सयम को धारण करके अपनी कषायो की वक्रता को कम कर लेते है तो हम मनुष्य होकर ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर यथाजात रूप को धारण क्यो नहीं कर सकते ? कर सकते है । यथाजात रूप को धारण करने की भावना भी भा सकते है । जो उस यथाजात रूप का बार-बार चिन्तन करता रहता है, वह अपने उपयोग की सरलता के माध्यम से नियम से मुक्ति की मञ्जिल की ओर बढ़ता जाता है और एक दिन नियम से मञ्जिल को पा लेता है ।

आर्जव धर्म–

१ सर्वार्थसिद्धि ९/६/७९७/३२३६

२ छहढाला (छठी ढाल-८)

३. मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० १२४-२५

४ छहढाला (छठवी ढाल-४)

५ पुरुषार्थसिद्धयुपाय-मगलाचरण १

६ तत्वार्थसूत्र ९/२७

७ तत्वार्थवार्तिक ९/२७/१२/६५० (एकाग्रवचनं वैयग्रयनिवृत्त्यर्थम्)

८ तत्वार्थसूत्र ६/१६

९. छहढाला (पाँचवी ढाल-१४)

१०. मेरी-भावना-५
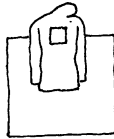
उत्तम शौच

- *कखाभावणिवित्तिं,*
  किच्चावेरग्गभावणाजुत्तो ।
  जो वट्टदि परममुणी ,
  तस्स दु धम्मे हवे सोच्चं ॥

जो परम मुनि इच्छाओ को रोककर और वैराग्य रूप विचारो से युक्त होकर आचरण करता है उसको शौच धर्म होता है। (७५)

जब मै बैठा था उस समय, सामायिक का था और एक मक्खी अचानक सामने देखने में आयी। उसके पख पड़े गीले से लग रहे थे। वह उड़ना चाहती थी पर उसके पंख सहयोग नहीं दे रहे थे। वह अपने शरीर पर भार अनुभव कर रही थी और उस भार के कारण उड़ने की क्षमता होते हुए भी उड़ नही पा रही थी। जब कुछ समय के उपरान्त पंख सूख गये तब वह उड़ गयी। मै सोचता रहा कि वायुयान की रफ्तार जैसी उड़ने वाली उस मक्खी के लिए पानी की छोटी सी बूँद भी बाधक बन गयी और उसकी उड़ने की पूरी की पूरी शक्ति ही मानों समाप्त हो गयी। थोड़ी देर के लिए उसे हिलना-डुलना भी मुश्किल हो गया। यही दशा ससारी-प्राणी की है। ससारी-प्राणी ने अपने ऊपर अनावश्यक न जाने कितना भार लाद रखा है और फिर भी आकाश की ऊँचाईयॉं छूना चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति ऊपर उठने की उम्मीद को ले कर नीचे बैठा है। स्वर्ग की बात सोच रहा है लेकिन अपने ऊपर लदे हुए बोझ की ओर नही देखता जो उसे ऊपर उठने मे बाधक साबित हो रहा है।

वह यह नही सोच पाता कि क्या मै यह बोझ उठाकर कही ले जा पाऊँगा या नही। वह तो अपनी मानसिक कल्पनाओ को साकार रूप देने के प्रयास में अहर्निश मन-वचन और काय की चेष्टाओ मे लगा रहता है। अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वह मूर्त सा व्यवहार करता है। यूँ कहना चाहिये कि अपने स्वरूप को भूलकर स्वय भारमय बनकर उड़ने मे असमर्थ हो रहा है। ऐसी दशा मे वह मात्र लुढ़क सकता है, गिर सकता है और देखा जाए तो निरन्तर गिरता ही आ रहा है। उसका ऊँचाई की ओर बढ़ना तो दूर रहा देखने का साहस भी खो रहा है।

जैसे जब हम अपने कंधो पर या सिर पर भार लिये हुए चलते है तो केवल नीचे की ओर ही दृष्टि जाती है। सामने भी ठीक से देख नही पाते। आसमान की तरफ देखने की तो बात ही नही है। ऐसे ही संसारी प्राणी के लिए मोह का बोझा उसके सिर पर इतना लदा है, कहो कि उसने लाद रखा है कि मोक्ष की बात करना ही मुश्किल हो गया है।

विचित्रता तो ये है कि इतना बोझा कन्धो पर होने के बाद भी वह एक दीर्घ श्वास लेकर कुछ आराम जैसा अनुभव करने लगता है और अपने बोझ को पूरी तरह नीचे रखने की भावना तक नही करता। बल्कि उस बोझ को लेकर ही उससे मुक्त हुए बिना ही मोक्ष तक पहुँचने की कल्पना करता है। भगवान के सामने जाकर, गुरुओ के समीप जाकर अपना दुःख व्यक्त करता है कि हमे मार्गदर्शन की आवश्यकता है। आप दीनदयाल है। महती करुणा के धारक है। दया-सिन्धु, दयापालक है। करुणा के आकर है, करुणाकर है। आपके बिना कौन हमारा मार्ग प्रदर्शित कर सकता है ?

उसके ऐसे दीनता भरे शब्दो को सुनकर और ऑखो से अश्रुधारा बहते देखकर सन्त लोग विस्मय और दुःख का अनुभव करते है। वे सोचते है कि कैसी यह संसार की रीत है कि परिग्रह के बोझ को निरन्तर इकट्ठा करके स्वय दीन-हीन होता हुआ यह संसारी प्राणी ससार से मुक्त नही हो पाता।

'शुचेर्भावः शौच्यम् ।' शुचिता अर्थात् पवित्रता का भाव ही शौचधर्म है । अशुचि भाव का विमोचन किये बिना उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । शुचिता क्या है और अशुचिता क्या है ? यही बतलाने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कारिका के माध्यम से सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गो का वर्णन करते हुए कहा है कि–

स्वभावतो ऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रते ।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥[1]

शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसमें पवित्रता यदि आती है तो रत्नत्रय से आती है । रत्नत्रय ही पवित्र है । इसलिए रत्नत्रय रूपी गुणो के प्रति प्रीतिभाव रखना चाहिये । रत्नत्रय को धारण करने वाले शरीर के प्रति विचिकित्सा नहीं करना चाहिये ।

चिकित्सा का अर्थ ग्लानि से है । या कहें कि एक प्रकार से प्रतिकार का भाव ही चिकित्सा है और विचिकित्सा का अर्थ विशेष रूप से चिकित्सा या ग्लानि लिया गया है । विचिकित्सा का अभाव होना ही 'निर्विचिकित्सा-अङ्ग' है । जीवन मे शुचिता इसी अङ्ग के पालन करने से आती है । शरीर तो मल का पिटारा है, घृणास्पद भी है । हमारा ध्यान शरीर की ओर तो जाता है लेकिन उसकी वास्तविक दशा की ओर नही जाता । इसी कारण शरीर के प्रति राग का भाव या घृणा का भाव आ जाता है । वासना की ओट में शरीर की उपासना अनादिकाल से यह ससारी प्राणी करता आ रहा है । लेकिन उसी शरीर मे बैठे हुए आत्मा की उपासना करने की ओर हमारी दृष्टि नहीं जाती ।

विषयों मे सुख मानकर यह जीव अपनी आत्मा की उपासना को भूल रहा है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार मे कहा है कि–

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं ।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥[2]

अर्थात् इन्द्र और चक्रवर्ती पुण्य के फलरूप भोगो के द्वारा देहादि की पुष्टि करते है और भोगो में लीन रहते हुए सुखी जान पड़ते है, लेकिन वास्तविक सुख वह नहीं है ।

लोभ के वशीभूत हुआ संसारी प्राणी विषय रूपी वासना में लिप्त होने के कारण आत्मिक सुख से वञ्चित हो रहा है । चार कषायों के द्वारा चार गतियों में निरन्तर भटक रहा है । नरको में विशेष रूप से क्रोध के साथ, तिर्यञ्चो में माया के साथ, मनुष्यों में मान के साथ और देवों में लोभ के साथ यह जीव उत्पन्न होता है । वैचित्र्य तो यह है कि और लोभी बनकर आज यह संसारी प्राणी देव बनना चाहता है । एक तरह से और लोभी ही होना चाहता है । देखा जाए तो स्वर्ग में भी सागरोपम आयु वाले इन्द्र और अहमिन्द्र को भी विषय कषाय के अभाव में होने वाली आत्मानुभूति का अनुभव क्षण भर को भी नहीं होता । भले ही उन्हें सुखानुभूति मनुष्यों की अपेक्षा अधिक रही आवे ।

प्रत्येक असंयमी संसारी प्राणी की स्थिति जोंक की तरह है। जैसे जोक किसी जानवर या गाय-भैंस के थनो (स्तनों) के ऊपर चिपक जाता है और वह सड़े-गले खून को ही चूसता रहता है।[7] वैसे ही स्वर्ग के सुखो की भी ऐसी ही उपमा दी गयी है। आचार्यों ने हमारे उपचार के भिन्न-भिन्न उपाय करते हुए भिन्न-भिन्न उपदेश दिये है। किसी भी तरह लोभ का विरेचन हो जाये, यही मुख्य दृष्टिकोण रहता है लेकिन इतने पर भी ऐसा उदाहरण सुनकर भी ससारी प्राणी लोभ का विरेचन करने के लिए तैयार न हो, तो उसका कल्याण कौन कर सकेगा ? जिस लोभ को छोड़ना था, उसी लोभ के वशीभूत हुआ आज ससारी-प्राणी अपनी ख्याति, पूजा, लाभ और यश-कीर्ति चाह रहा है।

स्वर्गो में सम्यग्दृष्टि के लिए भी ऐसी उपमा देने के पीछे आशय यही है कि विषय भोगो की लालसा यदि मन में है तो वह मुक्ति मे बाधक है। आज प्रगति का युग है, विज्ञान का युग है। लेकिन देखा जाये तो दुर्गति का भी युग है। क्योंकि आज आत्मा में निरन्तर कलुषता आती जा रही है। लोभ-लालसा दिनो-दिन बढ़ती जा रही है। जितने सुविधा के साधन जुटाये जा रहे है उतना ही व्यक्ति मे तृष्णा और असन्तोष बढ़ रहा है। कीचड़ के माध्यम से कीचड़ धोना सम्भव नही है। कीचड़ को धोने के लिए तो वर्षा होनी चाहिए। पवित्र-जल की वर्षा से ही पवित्रता आयेगी।

समसतोसजलेण जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं ।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्च हवे विमल ।।[8]

निर्मल शौच धर्म उसे ही होता है, जो समता और सतोष रूपी जल के द्वारा अपने तीव्र लोभ रूपी मल के पुञ्ज को धोता है और भोजनादि अन्य पदार्थों में अत्यन्त आसक्त नही होता। स्वर्गो मे देव पूरी तरह विषय भोगो का परित्याग तो नही कर सकते जैसा कि मनुष्य जीवन मे कर पाना सम्भव है। लेकिन वे देव भी जहाँ-जहाँ भगवान के पचकल्याणक होते हैं वहाँ-वहाँ अवश्य जाते है और परिवार सहित विषय-भोग को गौण करके उन महान् आत्माओ की सेवा, आराधना करके अपने आत्म स्वरूप की ओर देखने का प्रयास करते है।

भगवान की वीतराग-छवि और वीतराग स्वरूप की महिमा देखकर वे मन ही मन विचार भी करते है कि हे भगवन् ! आपकी वीतरागता का प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़े कि हमारा रागभाव पूरा का पूरा समाप्त हो जाए। आपकी वीतराग छवि से समत्व की ऐसी वर्षा हो कि हम भी थोड़ी देर के लिए शान्ति का अनुभव कर सके और राग की तपन से बच सकें। यदि देवगति मे रहकर देव लोग इस प्रकार की भावना कर सकते है तो आप लोग तो देवों के इन्द्र से भी बढ़कर हो। क्योंकि आप लोगो के लिए तो उस मनुष्य काया की प्राप्ति हुई है जिसे पाने के लिए देव लोग भी तरसते है। आपकी यह मनुष्य काया की उपलब्धि कम नहीं है, क्योंकि यह मुक्ति का सोपान बन सकती है। लेकिन यह उसे ही सम्भव है जो विषय-भोगों से विराम ले सके। जब तक हम विषय-भोगो से विराम नही लेगे तब तक आत्मा का साक्षात् दर्शन सम्भव नही है। पवित्र-आत्मा का दर्शन विषय-भोगों के विमोचन के उपरान्त ही सम्भव है।

यदि कषायो का पूरी तरह विमोचन नही होता तो कम से कम उनका उपशमन तो किया ही जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र जैसे महान आचार्य धन्य हैं, जिन्होंने इस भौतिक युग मे रहते हुए भी जल से भिन्न कमल के समान स्वयं को संसार से निर्लिप्त रखा और विषय-कषाय से बचते हुए अपनी आत्मा की आराधना की। विषय कषाय से बचते हुए वीतराग प्रभु के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने का प्रयास किया। रात-दिन अप्रमत्त रहकर, जागृत रहकर उस जागृति के प्रकाश मे अपने खोये हुए, भूले हुए आत्मतत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयास किया।

इतना ही नही ऐसे महान् आचार्यों ने हम जैसे मोही, रागी, द्वेषी, लोभी और अज्ञानी ससारी प्राणियो के लिए जो कि अन्धकार मे भटक रहे है अपने ज्ञान के आलोक से पथ प्रकाशित करके हमारी आँखे खोलने का प्रयास भी किया है–

अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलित येन, तस्मै श्रीगुरवे नम. ।।[५]

ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से हमारी आँखों को खोलकर अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश कर दिया है। ऐसे परम गुरुओ को हमारा नमस्कार होवे। उनके अपार उपकार का स्मरण करना चाहिये। ऐसे महान् आचार्यों के द्वारा ही हजारों-लाखो वर्षों से चली आ रही अहिंसा-धर्म की परम्परा आज भी जीवन्त है। वस्तुत ध्वनियाँ क्षणिक है, लेकिन जो भीतरी आवाज है, जो दिव्यध्वनि है, जो जिनवाणी है, वही शाश्वत और उपकारी है। एक बार यदि हम अपना उपयोग उस ओर लगा दे तो बाह्य-ध्वनियो की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस भीतरी ध्वनि के सामने दुनिया की सारी बाहरी शक्ति फीकी पड़ जाती है। जैसे प्रभाकर के सामने जुगनू का प्रकाश फीका है, कार्यकारी नही है, इस प्रकार उत्तम शौच का पालन करने वाले मुनियों के लिए बाह्य-सामग्री कार्यकारी मालूम नही पड़ती और वे निरन्तर उसका विमोचन करते रहते है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार का मङ्गलाचरण करते हुए कहा है कि–

वदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवम गदि पत्तो।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं ।।[६]

हे भव्यजीव ! मै शाश्वत, अचल और समस्त उपमाओ से रहित ऐसी पञ्चमगति को प्राप्त सब सिद्धो को नमस्कार करके श्रुत-केवली भगवान के द्वारा कहे गये समयप्राभृत ग्रन्थ को कहूँगा। उपनिषदो मे शुद्ध तत्त्व का वर्णन करते हुए जो बात नही लिखी गयी, वह आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने लिख दी कि एक सिद्ध भगवान को नही, सारे सिद्ध भगवानो को प्रणाम करके ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ। सिद्ध एक ही नही है, अनन्त है। सभी में, प्रत्येक जीवात्मा मे सिद्धत्व की शक्ति विद्यमान है। आचार्य महाराज ने भीतर बैठी इसी शुद्धात्मा की शक्ति को दिखाने का प्रयास किया है और कहा है कि यदि थोड़ा-थोड़ा भी, धीरे-धीरे भी लोभ का मल कम करके भीतर झाँकने का प्रयास करोगे तो जैसे दूध मे घृत के दर्शन होते है, सुगन्धी का पान करते है, रस का अनुभव आता है, ऐसे ही शुद्धात्मा का दर्शन, पान और अनुभवन सम्भव है।

आप दूध को तपाकर मावा बनाते है । उसे कहीं-कहीं खोवा या खोया भी बोलते हैं । वस्तुतः वह खोया ही है । दूध को 'खोया' तभी मिला खोया । (हँसी) यूँ कहो कि जो खो गया था, वह मिल गया । हमारा आत्म-तत्त्व मानो खो गया है और कषायो के नीचे दब गया है यदि हम लोभ को खो दें, तो हमारा खोया हुआ आत्म-तत्व हमें मिल जावेगा । तब खोया मिल जायेगा । लोभ की स्थिति बड़ी जटिल है । इसके माध्यम से ही सभी कषायों की सेना आती है । आचार्यो ने लिखा है कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये सभी क्रम-क्रम से उपशम या क्षय को प्राप्त होती है । सबसे अन्त मे लोभ जाता है । लोभ की पकड़ भीतर बहुत गहरी है । इस लोभ के पूरी तरह क्षय होते ही वीतरागता आने मे और भगवान बनने में देर नहीं लगती ।

मन मे यह जागृति आ जाये कि –'कि जानूँ कि मै कौन हूँ' तो सारी सासारिक लोभ, लिप्सा समाप्त होने लग जाती है । भीतर प्रज्ज्वलित होने वाली आत्म-ज्ञान की ज्योति मे अपने स्वभाव की ओर दृष्टि जाने लगती है । हमे ज्ञात हो जाता है कि भले ही मेरी आत्मा के साथ कर्म एकमेक हुए के समान हो और यह शरीरादि बाह्य सामग्री नोकर्म के रूप मे मुझे मिली हो । रागद्वेषादि भाव मेरे साथ मिलजुल गये हो । लेकिन इन सभी कर्म, नोकर्म और भाव-कर्म से मै भिन्न हूँ । वास्तव मे, बाहरी सम्बन्धो मे अपने को मुक्त कर लेने के उपरान्त हमारी आत्मा की दशा ऐसी हो जाती है कि फिर बाह्य वस्तुओं को पहचानना भी मुश्किल सा लगने लगता है । एक निर्मोही की दृष्टि मे बाह्य पदार्थों की जानकारी पाने के लिए उत्सुकता शेष नहीं रह जाती ।

संसारी प्राणियों मे बहुत सारी विचित्रताएं देखने मे आती है । मनुष्य की विचित्रता यह है कि वह सब कुछ जानते हुए भी अपने जीवन में कल्याण की बात नहीं सोचता मै पूछता हूँ आप सभी लोगों से कि आपने कभी परिग्रह को पाप समझा या नहीं । आपने वस्तुओ के प्रति अपने मूर्छा भाव को पाप समझा है या नहीं ? आप सभी यह मानते है कि हिसा को हमारे यहाँ अच्छा नहीं माना गया, झूठ भी पाप है । चोरी करना भी हमारे यहाँ ठीक नही बताया । कुशील की तो बात ही नही है । इस तरह आप चारो पापो से दूर रहने का दावा करते हैं किन्तु जो पापो का सिरमौर है, जो परम्परा से चला आ रहा है परिग्रह, उसे आप पाप नहीं मानते ।

बात यह है कि उसके माध्यम से सारे के सारे कार्य करके हम अपने आपको धर्म की मूर्ति बताने में सफल हो जाते है । भगवान का निर्माण करा सकते है, मन्दिर बनवा सकते हैं चार लोगो के बीच अपने को बड़ा बता सकते है । इस तरह हमने परिग्रह को पाप का बाप कहा अवश्य है, लेकिन माना नहीं है । बल्कि परिग्रह को ही सब कुछ मान लिया है । सोचते है कि यह जब तक है तभी तक हम जीवित है या कि तभी तक घर मे दीपक जल रहा है । हमे लगता है कि धन के बिना धर्म भी नहीं चल सकता । देखने मे भी आता है कि अच्छा मञ्च बनाया है, बड़ा पण्डाल लगाया है तभी तो घण्टों बैठकर प्रवचन सुन पा रहे है ।

लेकिन ध्यान रखना धर्म की प्रभावना के लिए धन का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि धन को छोड़ने का महत्त्व है। यह भगवान महावीर का धर्म है जिसमें कहा गया है कि जब तक धन की आकाङ्क्षा है, धन की महिमा गायी जा रही है; तब तक धर्म की बात प्रारम्भ ही नहीं हुई है। किसी आँग्ल कवि (इंगलिश पोयट) ने कहा है कि सुई के छेद से ऊँट पार होना सम्भव है, लेकिन धन के संग्रह की आकाङ्क्षा रखने वाले व्यक्ति को मुक्ति सम्भव नहीं है।

हमारे यहाँ धर्म के अर्जन की बात कही गयी है, धन के अर्जन की बात नहीं कही गयी; बल्कि धन के विसर्जन की बात कही गयी है। हम इस मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को समझें और यह भी समझे कि हम इस दुर्लभ वस्तु को किस तरह कौड़ियों के दाम बेच रहे है। किस तरह धन के पीछे हम अपना मूल्यवान आत्म-धन नष्ट कर रहे हैं। जैसे कोई हमेशा अन्धकार मे जीता रहे तो उसे कभी दिन का भान नहीं हो पाता, उसे पूर्व और पश्चिम दिशा का ज्ञान भी नहीं हो पाता। ऐसे ही जो व्यक्ति हमेशा धन की आकाङ्क्षा में और विषय भोगों की लालसा मे व्यस्त रहता है उसे यह पहचान ही नहीं हो पाती कि भगवान वीतराग कैसे है ? उन्होंने किस तरह परिग्रह का विमोचन करके तथा लोभ का त्याग करके पवित्रता, वीतरागता पायी है। ध्यान रखना वीतरागता कभी धन के माध्यम से या लोभ के माध्यम से नहीं मिलती।

परितः समन्तात् गृहणाति आत्मानम् इति परिग्रहः–जो आत्मा को चारो ओर से अपनी चपेट मे ले, वह परिग्रह है। लोग कहते हैं ग्रह दशा ठीक नहीं चल रही, तो मै सोचता हूँ कि परिग्रह से बड़ा भी कोई ग्रह है, जो हमें ग्रसित करे ? परिग्रह रूपी ग्रह ही हमे ग्रसित कर रहा है। इसी के कारण हम परमार्थ को भूल रहे है और जीवन के वास्तविक सुख को भूलकर इन्द्रिय सुखो को ही सब कुछ मान रहे हैं। जिसके पास जितना परिग्रह है या आता जा रहा है, वह मान रहा है कि परिग्रह (बाह्य पदार्थों का संग्रह) हमारे हाथ मे है और हम उसके मालिक है। लेकिन ध्यान रखना परिग्रह आपके वश में नहीं है बल्कि आप ही परिग्रह के वशीभूत हैं, परिग्रह ने ही आपको सब ओर से घेर रखा है। तिजोरी के अन्दर धन-सम्पदा बन्द है और आप पहरेदार की तरह पहरा दे रहे है और सेठ जी कहला रहे है। क्या पहरा देने वाला सेठ जी हो सकता है ? वह तो पहरेदार ही कहलायेगा वह मालिक नहीं नौकर ही कहलायेगा। धन संपत्ति मालिक बनी हुई है और आराम से तिजोरी में राज्य कर रही है, आप उसी की आरती उतार रहे हैं और स्वयं को धन्य मान रहे हैं। दीपावली के दिन भगवान महावीर को मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हुई थी, लेकिन आज लोग परिग्रह रूपी धन-संपत्ति को लक्ष्मी मानकर उसी की पूजा कर रहे हैं, जो अज्ञानता का ही प्रतीक है।

आचार्यों ने परिग्रह संज्ञा को संसार का कारण बताया है और संसारी प्राणी निरन्तर इसी परिग्रह के पीछे अपने स्वर्णिम मानव जीवन को गँवा रहा है। जिस आत्मा में परमात्मा बनने की, पतित से पावन बनने की क्षमता है वही आत्मा परिग्रह के माध्यम से, लोभ-लिप्सा के

माध्यम से संसार मे रुल रहा है । एक बार यदि आप अपने भीतरी आत्म-वैभव का दर्शन कर लें तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि अविनश्वर सुख-शांति का वैभव तो हमारे भीतर ही है । अनन्तगुणो का भण्डार हमारे भीतर ही है और हम बाहर हाथ पसार रहे हैं ।

कम से कम आज आप ऐसा सङ्कल्प अवश्य लेकर जाइये कि हम अनन्त-काल से चले आ रहे इस अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी अनन्त लोभ का विमोचन अवश्य करेंगे और अपने पवित्र स्वरूप की ओर दृष्टिपात करेंगे । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि –

अरसमरुवमगंधं अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं ।
जाण आलिगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसठाण ।।[9]

जो रस रहित है, जो रूप रहित है, जिसका कोई गन्ध नहीं है, जो इन्द्रिय गोचर नहीं है, चेतना-गुण से युक्त है, शब्द रहित है, किसी बाहरी चिन्ह या इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार बताया नहीं जा सकता, ऐसा यह जीव है आत्मतत्त्व है ।

जिन आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य पूज्यपाद जैसे महान् निष्परिग्रही आत्माओं के द्वारा इस आत्म स्वरूप की उपासना की गयी है, उन्हीं निष्परिग्रही आत्माओ के हम भी उपासक हैं, होना भी चाहिये । अभी जैसे आप स्वय ही अनुभव कर रहे है कि देह रूपी परिग्रह तक का ध्यान भूलकर किस तरह तन्मय होकर धर्मलाभ लिया जा सकता है । भाई ! अपने जीवन को इसी प्रकार लोभ-मल से बचाकर पवित्र होने का, शौच-धर्म प्राप्त करने का उपाय करना ही सच्चा पुरुषार्थ है ।

आज सीप का नहीं, मोती का, आज दीप का नहीं, ज्योति का, स्वागत करना है और अपने जीवन को, आदर्श भास्वत करना है । संसारी प्राणी इस रहस्य को नहीं जान पा रहा है कि शुचि क्या है और अशुचि क्या है ? इन दोनो के बीच भेद क्या है ? यह क्रम अनादि से चला आ रहा है, लेकिन ससारी प्राणी जैसे इस बात से अनभिज्ञ है । जहाँ पर कमल उगता है वहीं देखा जाए तो नीचे कीचड़ भी देखने में आता है । सीप मे से मोती निकलता है और दीप में ज्योति जलती है, प्रकाश होता है । मोती मूल्यवान है तथा प्रकाश की महत्ता है । भगवान के चरणो में चक्रवर्ती जैसे महापुरुष अञ्जुलि भर-भर कर मोती ही चढ़ाते है । कीचड़ मे उगने वाला कमल भगवान के चरणों मे चढ़ाया जाता है । कीचड़ को कोई छूना भी नहीं चाहता । किन्तु आज उस कमल का, उस ज्योति का और मोती का अनादर किया जा रहा है और अशुचि रूप कीचड़ मे ही जीवन लथपथ हो रहा है ।

ससारी प्राणी मोती को छोड़कर सीप मे ही चाँदी की कल्पना करके फँसता जा रहा है । इसी प्रकार अशुचि का भण्डार यह शरीर भी है । हम शरीर को ही आदर देते जा रहे हैं । अस्सी साल का वृद्ध भी दिन-भर में कम से कम एक बार दर्पण देखने का अवश्य इच्छुक रहता है । किन्तु आत्म-तत्त्व देखने के लिए आज तक किसी ने विचार नहीं किया । यह कोई नहीं सोचता कि ऐसा कौन सा दर्पण खरीद लूँ जिसमें मै अपने आपका वास्तविक रूप देख

सकूँ। आकर्षण का केन्द्र शरीर न होकर उसमें रहने वाली आत्मा ही आकर्षण का केन्द्र हो जाये। लेकिन संसार की रीत बड़ी विपरीत है। बहुत कम लोगों की दृष्टि इस ओर है।

'गगन का प्यार, धरा से हो नहीं सकता और मदन का प्यार कभी जरा से हो नहीं सकता। यह भी एक नियति है, सत्य है कि सृजन का प्यार कभी सुरा से हो नहीं सकता-विधवा को कभी अङ्गराग रुचता नहीं, कभी सधवा को भी संग त्याग रुचता नहीं, कभी संसार से विपरीत रीत, विरलों की ही होती है कि भगवाँ को कभी भी राग दाग रुचता नहीं ?

मै मानता हूँ अशुचिता से अपने आपके जीवन को ऊपर उठाना, हँसी-खेल नहीं है। लेकिन खेल नहीं होते हुए भी उस ओर दृष्टिपात तो अवश्य करना चाहिये। ऐसे-ऐसे व्यक्ति देखने मे आते है कि खेल कामेण्ट्री सुनने मे दिन-रात लगा देते हैं और भूख-प्यास सब भूल जाते हैं। शरीर की ओर दृष्टि नहीं जाती। यह एक भीतरी लगन की बात है। जैसे खेल नहीं खेलते हुए भी खेल के प्रति आस्था, आदर और बहुमान होने के कारण यह व्यवहार हो जाता है। उसी प्रकार यदि आज हम स्वय आत्मत्व का दर्शन नहीं भी कर पाते, उसे नहीं पहचानते तो कोई बात नहीं, किन्तु जिन्होने उस आत्म-तत्त्व को पहचाना है उनके प्रति आस्था, आदर और बहुमान रखकर उनकी बात तो कम से कम सुनना ही चाहिये।

माँ उस समय चिन्तित हो जाती है, जब लड़का अच्छा खाना नही खाता और खेलकूँद के लिए भाग जाता है। उसी प्रकार सारे विश्व का हित चाहने वाले आचार्यों को भीतर ही भीतर उस समय चिन्ता और दुःख होता है, जब संसारी प्राणी अपने आत्म-निधि से स्वयं ही वञ्चित होने लग जाता है और अपवित्रता की ओर अपने पैर बढ़ाता है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया आत्म-तत्त्व के अभाव में संसारी प्राणी अपने उस स्वभाव से जिसमें वास्तविक आनन्द है, जो वास्तविक सम्पदा है, उससे एक समय के लिए भी परिचित नहीं हुआ। आचार्य समन्तभद्र महाराज जो दर्शन (फिलासफी) के प्रति गहरी रुचि और आस्था रखते थे और जिनकी सिंह गर्जना के सामने हाथियो के समान प्रवादियो का मद (अहङ्कार) गल जाता था। वे कहते है संसारी प्राणी ने आज तक पवित्रता का आदर नही किया है और अपवित्रता को ही गले लगाया है। यही कारण है कि उसे आत्म-तत्त्व का परिचय नही हुआ। अशुचिमय शरीर मे बैठे हुए आत्मा का-जो ज्ञानदर्शन लक्षण वाला है, दर्शन नही हुआ।

कीचड़ के सयोग से लोहा जङ्ग खा जाता है लेकिन स्वर्ण, कीचड़ का सयोग पाकर भी अपने स्वर्णत्व को नही छोड़ता। ऐसे ही शरीर के साथ रहकर भी आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन गुण को नही छोड़ता। हॉं, इतना अवश्य है कि स्वर्ण-पाषाण की भांति हमारा आत्मा अभी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाया है। जैसे स्वर्ण पाषाण मे स्वर्ण है और उसे विधिवत् निकाला जाये तो निकल सकता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व को कर्म-मल के बीच से निकालना चाहे तो निकाला जा सकता है। वास्तविक मल तो यही कर्म-मल है जो अनादि काल से आत्मा के साथ चिपका हुआ है और आत्मा में विकार उत्पन्न करता है।

वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये आत्मा की विभिन्न दशाएँ है। इनमे से अपनी परमात्म-दशा को विधिवत् निकाल लेना ही सच्चा पुरुषार्थ है और जो ऐसा करता है वह फिर

शरीर को महत्त्व नहीं देता। बल्कि आत्मा को बचाकर पवित्र बनाने का प्रयास करने में जुट जाता है। शरीर का इतना ही महत्त्व है कि उसके माध्यम से आत्म-तत्त्व को प्राप्त करना है यह ज्ञानी जानता है और शरीर को सावधानी पूर्वक सुरक्षित रखकर आत्म-तत्त्व को प्राप्त करने में लग जाता है। हमे जानना चाहिये कि आत्म-तत्त्व के द्वारा ही शरीर को महत्त्व मिलता है अन्यथा उसे कोई नही चाहता। वह अशुचिमय है और आत्मा से पृथक् है। हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी अशुचिता को समझें और उसके प्रति आसक्ति को छोड़कर रत्नत्रय से पवित्र आत्मा के प्रति अनुरक्त हो।

वीतराग यथाजात दिगम्बर रूप ही पवित्र है, क्योंकि इसी के माध्यम से आत्मा चार प्रकार की आराधना करके मुक्ति को प्राप्त होती है और पवित्र होती है। वस्तुतः पवित्रता शरीराश्रित नही है लेकिन यदि आत्मा शरीर के साथ रहकर भी धर्म को अङ्गीकार कर लेती है तो शरीर भी पवित्र माना जाने लगता है, क्योंकि तब उसमें राग नही है और उसमें द्वेष भी नहीं है। वह सप्त-धातु से युक्त होते हुए भी पूज्य हो जाता है। शरीर के साथ जो धर्म के द्वारा संस्कारित आत्मा है, उसका मूल्य है और उस संस्कारित आत्मा के कारण ही शरीर का भी मूल्य बढ़ जाता है।

जैसे कोई व्यक्ति धागे को गले मे नही लटकाता किन्तु फूलो की माला के साथ या मोती की माला के साथ वह धागा भी गले मे शोभा पाता है और फूल सूख जाने पर फिर कोई उसे धारण नही करता। इसी प्रकार यदि धर्म साथ है तो शरीर भी शोभा पाता है। धर्म के अभाव मे जीवन शोभा नही पाता। उसे कोई मूल्य नही देता तथा उसे कोई पूज्य भी नहीं मानता। हमारे यहाँ जड़ का आदर नही किया गया। आदर तो चेतना का ही किया जाता है। जो इस चेतना का आदर करता है, उसका परिचय प्राप्त कर लेता है, वही वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर लेता है। वही तीन लोक में पूज्यता को प्राप्त होता है।

जैसे कोई अन्धा हो या आँख मूँद कर बैठा हो तो उसे प्रकाश का दर्शन नही होता और वह सोच लेता है कि प्रकाश कोई वस्तु नही है अन्धकार ही अन्धकार है। उसी प्रकार ससारी प्राणी लोभ के कारण अन्ध हुआ है उसे आत्म-तत्त्व प्रकाशित नही हो रहा है। उसे रत्नत्रय का दर्शन नही हो पा रहा है और उसका जीवन अन्धकारमय हो रहा है। वह सोचता है कि जीवन मे आलोक सम्भव ही नही है। लेकिन जो आँख खोल लेता है, लोभ को हटा देता है, विकारों पर विजय पा लेता है; उसे प्रकाश दिखायी पड़ने लग जाता है और उसका जीवन आलोकित हो जाता है। शरीर के प्रति रागभाव हटते ही शरीर मे चमकने वाला आत्म-तत्त्व का प्रकाश दिखायी पड़ने लगता है और वह आत्मा उस औदारिक अशुचिमय शरीर से मुक्त होकर परम-औदारिक शरीर को प्राप्त कर लेता है। परम पावन हो जाता है।

बन्धुओ! आज अशुचि का नही शुचिता का आदर करना है। सीप का नहीं मोती का आदर करना है। दीप का नही ज्योति का स्वागत करना है और अपने जीवन को प्रकाशित करना है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने वाले के लिए समन्तभद्र आचार्य ने लिखा है कि वह शरीर के बारे मे ऐसा विचार करें—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं ।
पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥"

ब्रह्मचारी वह है, जो शरीर को मल का बीज मानता है, मल की उत्पत्ति का स्थान मानता है और दुर्गन्ध तथा घृणास्पद चीजों का ढेर मानकर उससे राग नहीं करता । उससे विरक्त रहकर अपने ब्रह्म अर्थात् आत्म-तत्त्व का ही अवलोकन करने में आनन्द मानता है ।

जिस शरीर को शुद्ध बनाने के लिए, सुगन्धित बनाने के लिए हम नाना प्रकार के उपाय करते हैं, वह शरीर कैसा है उसका विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि

'केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी ।
देह परसतें होय अपावन निशदिन मलझारी' ॥"

केशर लगाओ, चाहे चन्दन छिड़को या सुगन्धित फूलों की माला पहनाओ, यह सब करने के उपरान्त भी शरीर अपावन ही बना रहता है । ये सभी चीजें शरीर का सम्पर्क पाकर अपावन हो जाती हैं । ऐसा यह शरीर है । शरीर की अशुचिता के बारे में ऐसा विचार किया जाए तो शरीर को सजाने-सँवारने के प्रति लोभ कम होगा और आत्म-तत्त्व की ओर रुचि जागृत होगी ।

शरीर की अशुचिता और आत्मा की पवित्रता का चिन्तन करना ही उपादेय है । आप शरीर की सुन्दरता और गठन देखकर मुग्ध हो जाते है और कह देते है कि क्या पर्सनालिटी है ? लेकिन वास्तव मे देखा जाए तो व्यक्तित्व, शरीर की सुन्दरता या सुडौलता से नहीं बनता, वह तो भीतरी आत्मा के संस्कारों की पवित्रता से बनता है । अशुचिता हमारे भावों में हो रही है उसे तो हम नहीं देख रहे हैं और शरीर की शुचिता में लगे है । हमें भावों में शुचिता लानी चाहिये । भावो में निर्मलता लानी चाहिये । भावों मे मलिनता का कारण शरीर के प्रति बहुत आसक्त होना ही है । इसी की सोहबत मे पड़कर आत्मा निरन्तर मलिन होती जा रही है । आत्मा की सुगन्धि खोती जा रही है और आत्मा निरन्तर वैभाविक परिणमन का ही अनुभव कर रही है ।

सम्यग्दृष्टि शरीर को गौण करके आत्मा के रत्नत्रय रूप गुणो को मुख्य बनाता है । वह जानता है कि जब तक शरीर के प्रति आसक्ति बनी रहेगी आत्मा का दर्शन उपलब्ध नही होगा । इसलिए शरीर के सम्बन्धों को, शरीर के रूप लावण्य को, शरीर के आश्रित होने वाले जाति और कुल के अभिमान को, लोभ को गौण करके एक बार आत्मा के निर्मल दर्पण में झाँकने का प्रयास करना ही श्रेयस्कर है । सिद्ध परमेष्ठी तो पारदर्शी काँच के समान हैं और अर्हन्त भगवान काँच के पीछे चाँदी का पालिश लगे हुए दर्पण के समान हैं । लेकिन यह संसारी प्राणी तो दर्प का पुतला बना हुआ है । लोभ का पुतला बना हुआ है । शरीर के प्रति जो दर्प (अभिमान) है उसे छोड़ने के उपरान्त ही दर्पण के समान निर्मल अर्हन्त पद की प्राप्ति सम्भव है ।

दर्पण स्वयं कह रहा है कि मुझमें दर्प न अर्थात् अहङ्कार नहीं रहा। सब उज्ज्वल हो गया। जैसा है वैसा दिखायी पड़ने लगा। बन्धुओं! शरीरवान् होना तो संसारी होना है। शरीर से रहित अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है। शरीर से रहित अवस्था ही वास्तव में पवित्र अवस्था है। अशरीरी सिद्ध परमात्मा ही वास्तव में परम पवित्रात्मा है।

ज्ञानशरीरी त्रिविधकर्ममल वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम भोगें शर्म अनन्ता॥[१२]

ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीनों प्रकार के कर्म-मल-द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो-कर्म अर्थात् शरीर रूपी मल से रहित है; ऐसे सिद्ध परमात्मा ही अत्यन्त निर्मल है और अनन्त-सुख का उपभोग करते हैं। हमें भी आगे आकर अपने सिद्ध स्वरूप को, आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

शौचधर्म–

१. रत्नकरण्डक श्रावकार-१३

२. प्रवचनसार-१७३/१२९

३ (प्रवचनसार गाथा ७३ टीका जयसेनाचार्य) यत्परमातिशयतृप्तिसमुत्पादक विषयतृष्णाविच्छित्तिकारक च स्वाभाविक सुख तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ता सुखाभासेन देहादीनां वृद्धि कुर्वन्ति।

४ कार्तिकेयानुप्रेक्षा-३९७

५. कातन्त्ररूपमाला-(मगलाचरण-५)

६. समयसार-४९

७. नियमसार-४६

८ मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० ३०७

९ मूकमाटी (महाकाव्य) पृ० ३५३-५४

१०. रत्नकरण्डक श्रावकाचार १४३

११. मङ्गतरायकृत बारहभावना १४

१२. छहढाला (तीसरी ढाल ६)
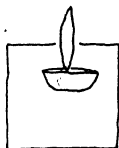
उत्तम सत्य

- *परसतावयकारण,*
  वयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
  जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु ,
  धम्मो हवे सच्चं ॥

जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित करने वाले वचन कहता है, उसके चौथा सत्य धर्म होता है। (७४)

आज 'उत्तम-सत्य' के बारे में समझना है। पिता जी बड़े हैं या पुत्र बड़ा है? पति बड़े हैं कि पत्नी बड़ी है? नाती बड़ा है या दादाजी बड़े हैं? तब लौकिक-व्यवहार में कहने में आता है कि पुत्र छोटा है और पिता जी बड़े हैं। पत्नी छोटी है और पति बड़े हैं। नाती छोटा है दादाजी बड़े हैं। यह सब सापेक्ष सत्य है। चूंकि जिस समय पुत्र हुआ उस समय पिता की उम्र पच्चीस-तीस वर्ष होगी इसलिए पुत्र को छोटा कह दिया। लेकिन देखा जाए तो जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, उसी समय पिता का भी जन्म हुआ। इससे पहले उस व्यक्ति को कोई पिता नहीं कहता था। वह पुत्र होते ही पुत्र की अपेक्षा पिता कहलाने लगा। इस तरह दोनो एक साथ उत्पन्न हुए। पिता और पुत्र समान हो गये। इसी प्रकार दादाजी और नाती के सम्बन्ध में कहा जायेगा। जिस समय विवाह हुआ उसी समय पति और पत्नि ऐसा कहने मे आयेगा। तब दोनों का एक ही मुहूर्त में जन्म हुआ।

यही बात जीव के सम्बन्ध मे भी है। कौन सा जीव बड़ा है और कौन सा जीव छोटा है? चींटी छोटी है और छिपकली उससे बड़ी है। परन्तु छिपकली छोटी भी है क्योंकि सर्प उससे भी बड़ा है और हाथी उससे भी बड़ा है। तो सत्य क्या है? इतिहास देखें, सभी जीवों का तो निर्णय करना और मुश्किल होगा कि बड़ा कौन है और छोटा कौन है? अगर जीव का लक्षण देखा जाए तो सभी जीवों में समान रूप से घटित होगा। 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि'[1]–द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और पुद्‌गल को छोड़कर शेष सभी द्रव्य अरूपी हैं। नित्य हैं अर्थात् हमेशा से है और रहेंगे। सभी जीव हमेशा से हैं और रहेगे। इस अपेक्षा देखा जाए तो कौन बड़ा और कौन छोटा? प्रवाह की अपेक्षा सभी समान हैं। सभी अनादि काल से चले आ रहे है और शेष जितनी भी सम्भावनाएँ हैं वे सब सापेक्ष हैं।

जीव के बाह्य रूप में संसार उलझा है और अपने आप के बड़प्पन को सिद्ध करने के लिए वह दूसरे से संघर्ष करता आ रहा है कि मैं बड़ा हूँ या कि तुम छोटे हो। यह विसवाद चल रहा है। जो वास्तव में देखा जाए तो असत्य है।

सत्ता नहीं उपजती उसका न नाश, पर्याय का जनन केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर वारिधि सत्य सत्ता, ऐसा सदैव कहते गुरुदेव वक्ता॥[2]

सत्ता क्या चीज है? द्रव्य क्या चीज है और पर्याय क्या चीज है? यदि ऐसा पूछा जाए तो भगवान कहते हैं कि सत्ता या द्रव्य तो वह है जिसका कभी नाश नही होता और न ही जो कभी उत्पन्न होती है। वह तो शाश्वत है। पर्याय की उत्पत्ति और नाश अवश्य देखने में आते हैं।

पर्याय तो सागर में उठती लहरों के समान है, जो क्षणभङ्गुर है। उठती और मिटती रहती है। शाश्वत सत्य सत्ता तो सागर के समान है। पर इस सत्य, सत्ता को देखना सहज सम्भव नहीं है। इसे देखने के लिए श्रद्धा की आँखें खोलने का प्रयास करना होगा। सत्य, श्रद्धा की आँखों से ही दिखायी देता है। लोक व्यवहार मे कहा जाता है कि मै सत्य बोलता

हूँ या तुम असत्य बोलते हो। लेकिन वास्तव में बोलने से सत्य आता ही नहीं है और जब सत्य बोलने में नही आता तो असत्य भी बोलने में नहीं आ सकता। फिर भी व्यवहार की कुछ सीमाएं बनायी गयी है। उसी के माध्यम से सत्य और असत्य का व्यवहार चलता है। जैसे आप सागर के तट पर खड़े है तब देखने मे क्या आ रहा है? लहरें देखने में आ रही है वे वही उठती है और वहीं समाती जाती है। कोई बालक यदि वहीं हो तो वह उन्हें पकड़ना चाहेगा। सीधा-सीधा दौड़कर हाथो से पकड़ने का प्रयास करेगा। जो कोई वहाँ सीनरी (दृश्यावली) देखने आये है वे उस दृश्य को आँखो के माध्यम से या कैमरे के माध्यम से पकड़ना चाहेंगे। कोई यदि कवि होगा तो वह शब्दो के माध्यम से कविता बनाकर उसे पकड़ने का प्रयास करेगा और आनन्दित होगा।

कोई ऐसा भी होगा जो सारे दृश्य को परख रहा होगा। इन सबके माध्यम से यदि पकड़ मे आयेगा तो कथञ्चित् सत्य ही पकड़ मे आयेगा। मै पकड़ना भी एक तरह से कथचित् सत्य कह रहा हूँ क्योंकि इसमें भी छोड़ना और ग्रहण करना है। वास्तव मे सत्य तो छोड़ने और ग्रहण करने से परे है। लहर अच्छी लगती है, तो सोचो मात्र अच्छी लगती है या वास्तव में अच्छी है। लहर तो लहर है, वह बनती है और मिटती भी है। उसको सत्य सत्ता नहीं कहा जा सकता क्योंकि सत्ता तो अविनश्वर है। उसे पकड़ना भी सम्भव नहीं है। जो पकड़ में आ रहा है, वह पूरी तरह सत्य नही है, किसी प्रकार से असत्य है और इसलिए दुःखदायी है। सत्य ही एकमात्र सुखदायी है।

बालक लहरो को पकड़ना चाहता है तब उसे पालक (आप लोग) समझाते है कि पकड़ो नही, मात्र परखो। 'परखो' का एक अर्थ यह भी है कि 'पर' यानी दूसरा और 'खो' यानी खोना। अर्थात् जो पर है, दूसरा है उसे खो दो। ऐसा परखना यदि हो जाए तो असत्य खो जायेगा। असत्य को खोना ही वास्तव मे परखना है। मोह को छोड़कर ही परखना सम्भव है। तभी सत्य हाथ आयेगा। वस्तु-तत्व को यदि आप परखना चाहो तो हमेशा माध्यस्थ होकर ही परखना होगा।

किसका स्वभाव क्या है? किसका क्या रूप है? क्या सत्य है और क्या असत्य है? यह जानने की कला तभी आ सकती है जब मोह का उपशम हो और माध्यस्थ भाव आये। जैसे स्वर्ण पाषाण में कितना स्वर्ण है और कितना पाषाण है यह बात उस विषय का ज्ञान रखने वाला परीक्षक या वैज्ञानिक जान लेता है और सब बता देता है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य को परखने की क्षमता हमारे पास है, उसे प्रकट करना आवश्यक है तभी सत्य का दर्शन होगा। सत्य सामने आ जाए तो हर्ष-विषाद नही होता। पिताजी सोचते है कि मैने पुत्र को बड़ा किया, खिलाया-पिलाया और अज्ञानी से ज्ञानी बना दिया; अतः हम बड़े है। लेकिन जो सम्यग्दृष्टि होगा वह द्रव्य के प्रवाह को देखेगा कि यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। इतना ही नहीं जिस लड़के का पालन-पोषण किया जा रहा है, सम्भव है वही पूर्व मे उसका पिता भी रहा हो। पुराणो में भी ऐसी बात (कथा) आती है। अध्यात्म भी यही कहता है।

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'[1] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है सत्ता । एक बार एक विद्वान् हमारे पास आये थे । कुछ दिन रहने के बाद एक दिन जब जाने लगे तो कहा कि महाराज जी ! मै जा रहा हूँ । तो हमने कहा पण्डित जी, आना-जाना तो लगा हुआ है । वे हँसने लगे । बात समझ मे आ गयी कि 'आना' तो हुआ 'उत्पाद', 'जाना' अर्थात् 'व्यय', लगा हुआ है यही द्रव्य की ध्रुवता है । यही सत् का लक्षण है । यह अनुभव में आ जाए तो बनने- मिटने पर हर्ष-विषाद नहीं होगा । छोटे-बड़े की बात नही आयेगी । कौन किसका पिता है ? कौन किसका पुत्र है ? यह मात्र पर्याय की ओर दृष्टिपात करने पर ही दिखायी देता है । यह मोह का परिणाम है । यही मोह छूट जाये तो वास्तविकता मालूम पड़ने लगती है कि शरीर का अवसान होने पर यह सारे सम्बन्ध छूट जाते है । शरीर यही पड़ा रह जाता है और जीव क्षण भर मे कहाँ पहुँच जाता है, किस रूप मे उत्पन्न हो जाता है पता भी नही पड़ता । जिसके मरण के उपरान्त आप यहाँ रो रहे होते है वह कही और उत्पन्न होने की तैयारी कर रहा है ।

कैसा वैचित्र्य है । एक नाटक की तरह रङ्गमञ्च पर जैसे विभिन्न पात्र आ रहे है, जा रहे हैं और देखने वाला जान रहा है कि यह सब नाटक है, फिर भी उसमे हर्ष विषाद करने लगता है । इसी प्रकार यह सारा संसार रङ्गमञ्च की तरह है । जो संसार से विरक्त है ऐसे वीतराग सम्यग्दृष्टि में यह सब नाटक की भाँति दिखायी पड़ने लगता है । वह सत्य को जान लेता है और पर्याय मे मुग्ध नही होता । हर्ष-विषाद नही करता । हम थोडा सा भीतर देखने का प्रयास करे और अपना इतिहास समझे कि मै कौन हूँ ? किस तरह छोटे से बड़ा हो गया और एक दिन मरण के उपरान्त सारे के सारे लोग इस देह को जला आयेगे मै फिर भी नहीं जलूँगा । यह सत्य है ।

जिनवाणी मे इसी सत्य का प्ररूपण किया गया है । 'काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यो एकेन्द्रिय तन धार ।'[2] अनन्तकाल हमने निगोद में व्यतीत कर दिया और एक इन्द्रिय की पर्याय धारण की । विचार करे तो अपने आप आँखे खुलने लग जायेगी । निगोद की बात आयी तो वह घटना स्मृति मे आ गयी कि चक्रवर्ती को चिन्ता हो गयी कि ये तीर्थङ्कर के वंश मे पैदा हुए और इस प्रकार गूँगे-बहरे कैसे हो सकते है ? यहाँ तो भगवान की वाणी गलत सिद्ध हो जायेगी । तब भगवान ने कहा कि हे चक्री ! तुम्हे मोह ने घेर रखा है इसलिए सत्य दिखाई नही पड़ता । सत्य यह है कि ये सभी भव्य है और निकट-भव्य है । ये तुम्हारे ही सामने दीक्षित होकर मुक्ति को प्राप्त हो जायेगे ।

चक्रवर्ती सुनकर दंग रह गये और वही हुआ भी । सभी ने भगवान ऋषभदेव के चरणो मे दीक्षा का निवेदन कर दिया और बोले कि सभी से क्या बोलना, हम तो सिर्फ आप ही से बोलेगे । सभी से बोलने के लिए हम गूँगे है । दीक्षित होकर उन्होने तप के द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति की और मुक्ति का सम्पादन कर लिया । चक्रवर्ती भरत ने पूछा कि भगवन् ! यह सब कैसे हुआ ? इनका इतिहास क्या है ? तब भगवान ने बताया कि ये सभी जीव निगोद

से आकर सीधे मनुष्य-भव धारण करके तुम्हारे पुत्र बनकर उत्पन्न हुए हैं। इनका वैराग्य इतना था कि किसी से नहीं बोले और इन्होंने अपना कल्याण कर लिया। तुम यहाँ समवशरण में चार-चार बार दिव्य ध्वनि सुन रहे हो और चार-चार बार लोगों को प्रवचन सुना रहे हो। पर इतने मात्र से क्या होगा ? उन्होंने कमाल कर दिया। निगोद से सीधे निकलकर आठ साल के भीतर-भीतर अपने आपको सँभाला और आठ वर्ष मे ही दीक्षित होकर मुक्ति प्राप्त कर ली।

कहीं-कहीं पर निगोद से आकर बीच में एक पर्याय इन्द्रगोपादि भी धारण की है, ऐसी चर्चा भी आती है लेकिन सीधे निगोद से आये हों, ऐसा भी सम्भव है। निगोद भी दो तरह का है–एक तो नित्य-निगोद है जहाँ से जीव आज तक नहीं निकला और न ही आगे निकलेंगे और दूसरा इतर-निगोद है जहाँ से जीव निकलकर आ सकता है और अपना कल्याण भी कर सकता है। हमें सीखने की बात यही है कि सत्य को जानने वाला फालतू बोलता नही है। वे सभी चक्रवर्ती के पुत्र दीक्षित होने तक दीक्षा से पूर्व किसी से नहीं बोले। उन्होंने सोचा कि जो ससार से विरक्त नहीं है उनसे एक विरक्त व्यक्ति का बोलने का प्रयोजन ही क्या है ? सत्य तो बोलने से प्राप्त नहीं होगा। पाप-क्रियाओ से मौन लेकर ही सत्य को प्राप्त किया जा सकता है।

आज तो सारा संसार जिसमें कोई प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है, उसी के पीछे पड़ा है। सत्य का बोध नही करता है। जल के अथाह समूह को सागर कहा जाता है उसमें कितनी भी लहरें उठें या मिटे लेकिन वह सागर बनता मिटता नहीं है। वह ज्यों का त्यों रहा आता है। कोई लहरो को देखकर खेद करता है, बालक हो तो देखकर हर्षित होता है, लेकिन जो संसार से विरक्त है, सत्य को जानता है, वह सोचता है कि जीवन भी इसी प्रकार लहरो की तरह प्रतिपल मिटता जा रहा है। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। अनन्त सुखों का भण्डार यह आत्मा अज्ञानता के कारण सत्य को नही समझ पा रहा है।

दुनिया मे सभी लोग दुनिया को देख रहे है। दुनिया को पहचानने की चेष्टा में लगे हैं लेकिन सत्य को पहचानने की जिज्ञासा किसी के अन्दर नहीं उठती। बार-बार कहने-सुनने के उपरान्त भी ज्ञान नहीं होता, तो यह मोह की प्रबलता का ही प्रभाव समझना चाहिये। इस मोह से बचने का उपाय यही है कि हम संसार से विरक्त होकर वस्तु तत्त्व का चिन्तन करें। वस्तु तत्त्व की वास्तविकता का चिन्तन ही हम लोगों के लिए कल्याण के लिए एकमात्र आधारशिला है।

'जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्'।[५] जगत् के स्वभाव के बारे में सोचो तो संवेग आयेगा अर्थात् संसार के दुःखो से बचने का भाव उत्पन्न होगा और शरीर के स्वभाव के बारे में विचार करोगे तो वैराग्य आयेगा। शरीर के प्रति, भोगों के प्रति निरीहता भी आ जायेगी। यही सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य है। आज तो मात्र ज्ञान की चर्चा है लेकिन अकेले

ज्ञान और सम्यग्ज्ञान में अन्तर है। शरीर के बारे में सम्यग्ज्ञान यदि हो तो ही निरीहता आयेगी। अकेले शरीर की जानकारी कर लेने मात्र से कुछ नहीं होता। कोई एम.बी.बी.एस. का करने वाले एक-एक अङ्ग के बारे में जानता है और कोई-कोई तो एक-एक अङ्ग विशेष में स्पेस्लिस्ट भी हो जाते हैं। लेकिन इतना सब जान लेने के बाद भी उसी नश्वर शरीर में रमे रहते हैं। ऐसा कैसा ज्ञान है कि भीतरी सभी घृणास्पद पदार्थों को देख लेने के बाद भी उससे विरक्ति नही होती। असत्य को जान कर भी उसे छोड़ने का भाव नहीं जाता। बल्कि असत्य के सम्पादन में ही लोग अपना ज्ञान लगाते हैं। कोई दुकान में असत्य का सम्पादन कर रहा है, तो कोई वकील बनकर कोर्ट में कर रहा है और कोई डॉक्टर बनकर अस्पताल मे कर रहा है। प्रत्येक का लक्ष्य मात्र पैसा हो गया है। विषयों का सम्पादन हो रहा है।

लौकिक दृष्टि से भले ही उन्हें प्रबुद्ध कहा जाता है, अनुभवी और शोध करने वाला कहा जाता है। लेकिन सभी की चेष्टा यही रहती है कि पैसा किस तरह कमाया जाए और दुनिया को किस तरह आकर्षित किया जाए। किन्तु परमार्थ की दृष्टि से यह ज्ञान कार्यकारी नहीं है। सही ज्ञान-कला तो वह है जिसके द्वारा आत्मिक शान्ति मिलती है। 'क' यानी आत्म-सुख, और 'ला' यानी लाने वाली; अर्थात् आत्मसुख लाने वाली कला ही वास्तविक 'कला' है। संसार की जितनी भी और कलाएँ है वे सब संसार के पदार्थों को जुटाने वाली और आत्मा को दु:ख के गर्त में ले जाने वाली हैं। इस सत्य का भान आज किसे है ?

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि छोटा-बड़ा कोई नहीं है। सभी समान हैं। यही सत्य है और जहाँ पर यह समानता की दृष्टि आ जाती है वहाँ पर सभी प्रकार के झगड़े समाप्त हो जाते हैं। जहाँ विषमताएँ हैं वहीं पर झगड़ा है, विसंवाद है और विषमता तो बुद्धिजन्य है। विषमता वस्तुजन्य नहीं है। वस्तु न अपने में बड़ी है न छोटी है, वह तो अपने मे समान है। जैसे देवों में ऊपर जो अहमिन्द्र हैं उनके वहाँ कलह नहीं है। वे बहुत शान्त हैं, क्योंकि सभी समान-रूप से इन्द्र हैं। कोई किसी से कम या अधिक पद वाला नहीं है।

समानता रूपी इस सत्य के साथ ही सुख और शान्ति का स्रोत फूट जाता है। हम सभी यदि पर्यायों की विषमता को गौण करके द्रव्य की समानता को मुख्यता दें तो यहाँ किसी जीव के प्रति बैर और किसी के प्रति राग हो ही नहीं सकता। सत्त्यार्थयुक्तं सत्यम् जो सत् से युक्त है वही सत्य है और असत् से युक्त है अर्थात् जो है ही नहीं, उसकी कल्पना में जो उलझा है वह असत्य है। वस्तुतः वस्तु अच्छी बुरी नही होती, हमारी कल्पना के द्वारा ही उसमें अच्छे बुरे का भेद आ जाता है। किसी जीव का लक्षण मूर्ख या बुद्धिमान्, छोटा या बड़ा हो; ऐसा कहीं नहीं आता। उपयोगो लक्षणम्[1] जीव का लक्षण उपयोगवान् होना है अर्थात् जो ज्ञानदर्शन से युक्त वह जीव है। प्रत्येक समय हमें इस सत्य की ओर ही दृष्टिपात करना चाहिये।

मोह के प्रभाव से संसारी जीव स्वयं को–

मैं सुखी-दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन बेरूप सुभग मूरख प्रवीन ॥

ऐसा मानता है और इसी मोह चक्र में फँसा प्रत्येक जीव संसार में निरन्तर चक्कर काटता रहता है, घूमता रहता है । लेकिन जो सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी है, जो वैराग्यवान् हैं वे संसार के स्वभाव को जानते हैं और संसार में रहते हुए भी मोह के चक्कर में नहीं आते । जैसे मेले में आपने हिण्डोलना देखा होगा । बच्चे-बड़े सभी उसमें बैठ जाते हैं और हिण्डोलना वाला उसे घुमाता है । सभी का मनोरञ्जन होता है लेकिन हिण्डोलना घुमाने वाला मात्र घूमते हुए हिण्डोलने को देखता रहता है उसमें मनोरञ्जन नहीं मानता । उसी प्रकार आप लोग भी चाहे तो जो दुनिया मे हिण्डोलने में बैठे हैं उन्हें बैठे रहने दें और स्वयं को मात्र देखने जानने वाला बनाये रखने का प्रयास करें । तो ससार का चक्कर धीरे-धीरे समाप्त कर सकेगे ।

बंधुओं ! पर्यायमूढ़ता तो बच्चो जैसा घूमने वाला खेल है और द्रव्य के स्वरूप में लीन होना अर्थात् जानने-देखने रूप स्वभाव मे स्थिर होना इस हिण्डोलना घुमाने वाले जैसा काम है । द्रव्य तो प्रतिक्षण परिणमनशील है । परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है लेकिन उस परिवर्तन मे हम अपने आप को मिटने वाला या उत्पन्न होने वाला समझ लेते है । यही हमारी गलती है । जन्म होने मे सुख और मरण मे दु:ख का अनुभव करने का अर्थ यही है कि अभी हिण्डोलने मे बैठने का खेल चल रहा है । यह मोह की चपेट जब तक है तब तक सुख शान्ति मिलने वाली नही है ।

जैसे पीपल का पत्ता बिना हवा के ही हिलता रहता है, लेकिन पीपल का तना, तूफान आने पर भी नही हिलता । इसी प्रकार द्रव्य कभी अपने स्वभाव से हिलता डुलता नहीं है, पर्यायें झूलती रहती है और झूलती हुई पर्यायो मे आप भी यूँ ही झूलने लगते है और भूल जाते है कि यह सारा का सारा परिणमन द्रव्य का ही है । द्रव्य का परिणमन कभी रुकता नही है वह तो प्रतिक्षण इतनी तीव्रता से होता रहता है कि उसकी सूक्ष्मता को पकड़ पाना सहज सम्भव नही है । उसे पकड़ पाने के लिए बड़ी पैनी दृष्टि चाहिये । वह दृष्टि तभी आयेगी जब हमारी दृष्टि बाह्य जगत् से हटकर सूक्ष्मता की ओर देखने का प्रयास करेगी ।

पाषाण में स्वर्ण उसी को दिखता है जिसे स्वर्ण की जानकारी है और जो पाषाण को स्वर्ण से पृथक् जानता है ।

ससार मे सब कुछ देखते हुए भी कोई चाहे तो शान्त और मध्यस्थ रह सकता है । पर इसके लिए संसार के प्रत्येक पदार्थ के प्रति अपनी दृष्टि को समीचीन बनाना होगा । कई दिन से लगातार उपदेश सुनते-सुनते एक व्यक्ति को ससार के प्रति वैराग्य हो गया और उसने जाकर अपनी पत्नी से कहा कि ससार की यथार्थता मुझे ज्ञान हो गयी है, इसलिए मै जा

रहा हूँ । अपना कल्याण करूँगा । पत्नी बोली बहुत अच्छा । हम भी यहाँ रहकर क्या करेंगे । हम भी साथ चलते है । उस व्यक्ति ने समझाया कि यह तो कोई बात नहीं हुई । मुझे तो उपदेश सुनकर वैराग्य हुआ है । तुमने तो उपदेश कुछ सुना ही नहीं है । पत्नी बोली कोई बात नहीं, उपदेश सुनने वाले आपको देखना ही पर्याप्त है । आपका वैराग्य ही मेरे वैराग्य में कारण बन गया है ।

दोनों प्राणी घर से विरक्त होकर जङ्गल की ओर चल पड़े । पति आगे-आगे चल रहा था और पत्नी पीछे-पीछे चल रही थी । चलते-चलते पति को सामने कुछ दिखायी पड़ गया और उसने झुककर थोड़ी धूल उस पर डाल दी । उसी समय पीछे से आकर पत्नी ने देख लिया और पूछ लिया कि क्या बात है ? क्या था ? पति ने सोचा बताना ठीक नहीं है । पता नहीं बताने से उसके मन में लालच न आ जाये इसलिए कह दिया कि कुछ नहीं था । पत्नी को हँसी आ गयी, बोली मैने सोचा था कि आपका वैराग्य पूरा है पर लगता है अभी कुछ कमी है । तभी तो मिट्टी के ऊपर मिट्टी डाल रहे थे । सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में तो सोने की डली भी मिट्टी ही है । कोई मिट्टी काली होती है, यह पीली मिट्टी है । यह सुनकर पति चकित रह गया और कहने लगा कि मैने तो समझा था कि स्त्रियो को स्वर्ण के आभूषणों का लालच कुछ अधिक ही रहता है इसलिए तुम्हे नही बताया, पर तुमने तो मुझे भी पीछे छोड़ दिया । अब तो पत्नी और हँसने लगी । बोली अरे ! आपकी दृष्टि मे अभी यह भेदभाव भी है । आप स्वय को पुरुष मान रहे है और मुझे स्त्री मान रहे हो । अभी आप तीन लोक के पति नहीं हो सकते । अभी तो आपका वैराग्य कमजोर है । वैराग्य की बात करना और वैराग्य से बात करना इन दोनों मे बहुत अन्तर है । वस्तु तत्त्व जिसको सही मायने मे पकड़ में आ गया है वही सत्य के माध्यम से वैराग्य से कभी नही डिगता ।

वह वस्तु के उत्पन्न होने मे हर्ष और नाश में विषाद नही करता क्योंकि वह सत्य को जानता है । आज 'उत्तम-सत्य' के दिन मै आपसे यही कहना चाहूँगा कि संसार को आप एक बार असत्य की दृष्टि से देखे । केवल मिटने के अलावा ससार कुछ भी तो नही है । जो स्थायी है वह दिखने में नही आता और जो दिखने मे आ रहा है वह निरन्तर मिट रहा है । यही संसार है । हम सयोगज पर्यायो से दृष्टि को हटाकर मूल की ओर देखे । तो तेरा-मेरा, छोटा-बड़ा आदि सभी विचार आपोआप शान्त हो जायेगे । सभी के प्रति समान भाव आने से परस्पर उपकार का भाव आयेगा । सभी परस्पर एक दूसरे के निकट आयेगे, और इस बहाने वस्तु तत्त्व को और अच्छे ढग से समझना सरल हो जाएगा ।

जैसे आप भोजन करते है तो भोजन करते हुए भी बीच-बीच मे साँस लेना आवश्यक है, लेते भी है । पानी पीते है तो साँस भी लेते रहते है । ऐसा नही है कि पानी पीना छोड़कर अलग से साँस ले, फिर पानी पियें । इसी प्रकार सम्यदृष्टि मोक्षमार्ग मे आरूढ़ होने के उपरान्त खुद भी धर्मामृत पीता रहता है और यदि कोई दूसरा आ जाता है तो उसे भी पिलाता है ।

जो सत्य को जान लेता है वह स्वयं भी लाभान्वित होता है, साथ ही दूसरों को भी उसके माध्यम से सत्य का दर्शन होने लगता है। यही सत्य है और यही सत्य की महिमा भी है।

सत्यधर्म–

१ तत्त्वार्थसूत्र ५/४

२ निजानुभवशतक, ३६ (आचार्य विद्यासागर-कृत)

३ तत्त्वार्थसूत्र ५/३०

४ छहढाला (प्रथमढाल-३)

५ तत्त्वार्थसूत्र ७/१२

६ तत्त्वार्थसूत्र २/८

७. छहढाला (द्वितीयढाल-४)
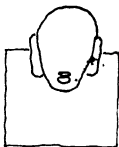
उत्तम संयम

- *वदसमिदिपालणाए*
  दंडच्चाएण इंदियजएण ।
  परिणममाणस्स पुणो,
  सजमधम्मो हवे णियमा ॥

व्रत व समितियो का पालन, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रियजय, यह सब जिसको होते हैं, उसको नियम से संयम धर्म होता है। (७६)

'अनाश्रिता लता स्वयमेव लीयते'—आश्रयहीन बेल अपने जीवन की अन्तिम बेला आने से पूर्व स्वयमेव ही समाप्त हो जाती है। स्वयं अपनी शक्ति के द्वारा जमीन से रस खींचकर अपना विकास करती है। इसके उपरान्त भी वह बहुत जल्दी समाप्त हो जाती है, क्योंकि वह अनाश्रित होती है। किन्तु बाग का होशियार माली जब उस बेल के फैलते ही उसे लकड़ी का सहारा देकर हल्के से बाँध देता है तब वह ऊर्ध्वगामी होकर बहुत ऊँचाई पर पहुँच जाती है। हल्का सा वह बाँधा गया बन्धन उसे उन्नति में बाधक नहीं बनता अपितु ऊँचे बढ़ने में साधक ही बनता है।

अगर विचार करे, तो ज्ञात होगा कि यह जो सहारा दिया गया उस बेल को, वह सहारा अपने आप मे है और बेल का बढ़ना अपने आप में है। फिर भी यदि सहारा नहीं मिलता तब वह बेल निश्चित ही ऊर्ध्वगामी न होकर अधोगामी हो जाती और शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाती। या यूँ कहिये कि उसका असमय मे ही जीवन समाप्त हो जाता। यह तो एक उदाहरण है, आप समझ गये होंगे सारी बात। जिस दिशा की ओर बढ़ने की हमारी भावना हो तथा जो हमारी दृष्टि या लक्ष्य हो, उसके अनुरूप फल पाने के लिए हमें एक सशक्त सहारे की और हल्के से बन्धन की आवश्यकता तो होगी है। आज का सयम धर्म आलम्बन और बन्धन दोनों रूपो में है।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥[1]

आचार्य समन्तभद्र स्वामी बहुत अच्छी बात हमारे लिए कहकर गये है कि जिसका मोहरूपी अन्धकार समाप्त हो गया है, जिसे सम्यग्दर्शन का लाभ होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सहज हो गयी है, इसके उपरान्त वह क्या करे ? जब तक अन्धकार का अभाव नही हुआ था, सम्यक्त्व का सूर्य नही उगा था, तब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े वह सोच रहा था और सोचना उसका ठीक भी था कि ज्यो ही सूरज का उदय होगा, अन्धकार हटेगा त्यो ही उसके कदम आगे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ जायेंगे। अब जब प्रकाश हो गया, अन्धकार हट गया तो अब क्या करे ? अब यह कहने की भी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि क्या करें ? जीवन की उन्नति का विचार रखने वाले के लिए प्रकाश अपने आप बता देता है कि क्या करना आवश्यक है ? ठीक ऐसे ही जैसे कि मन्दाग्नि समाप्त होने पर भूख लगती है और अपने आप ज्ञात हो जाता है कि मुझे क्या करना है ? सम्यग्दृष्टि को तो यह पूछने की आवश्यकता ही नही पड़ती कि अब क्या करना है ?

शान्तिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि—

न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन् पादद्वयं ते प्रजाः,
हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः ।
अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो,
ग्रैष्म.कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥[2]

हे भगवन् ! मैंने जो आपके चरणों की शरण गही है वह मात्र यह सोचकर नहीं कि आपके चरण बहुत सुन्दर है, बहुत अच्छे हैं, बहुत उपकारी हैं, उनके प्रति स्नेह करना चाहिये, और न ही आपके चरणों ने मुझे आपके पास आने का कोई सन्देश भेजा है पर फिर भी मैं आपके ही पास आया हूँ अन्यत्र नही गया । इसका कारण तो एक मात्र यह विचित्र कर्मो के समूह से सहित संसार रूपी भयकर समुद्र है, क्योंकि अत्यन्त प्रचण्ड किरणो से धरती को तपा देने वाला ग्रीष्मकाल का सूर्य स्वयमेव ही चन्द्रमा की किरणो से, पानी से और छाया से अनुराग करा देता है । कहने की आवश्यकता नही पड़ती अनादिकाल की प्यास और पीड़ा ही मुझे यहाँ तक ले आयी है । आपके प्रति अनुराग सहज ही हो गया । इसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उदय होते ही चरण शीघ्र ही मार्ग पर, मञ्जिल की ओर चल पड़ते हैं । राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए साधु-पुरुष चारित्र का आश्रय सहज ही ले लेते हैं ।

आज सयम का दिन है । उत्तम सयम का दिन है । आप लोगो के लिए अभी तक सयम एक प्रकार से बन्धन ही लगा करता है । लेकिन जैसे उस लता के लिए लकड़ी आलम्बन और बन्धन के रूप मे उसके अपने विकास के लिए आवश्यक है । उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान को अपनी चरम सीमा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने वाला ही सयम का आलम्बन और बन्धन है । उसका सहारा लेते समय ध्यान रखना कि जैसे योग्य खाद्य और पानी देना भी पौधे के लिए अनिवार्य है, अकेले सहारे या बन्धन से काम नही चलेगा, वैसे ही सयम के साथ शुद्ध भाव करना भी अनिवार्य है ।

आज तक संयम के अभाव मे ही इस ससारी-प्राणी ने अनेको दु ख उठाये हैं । जो उत्तम संयम को अङ्गीकार कर लेता है, साक्षात् या परम्परा से वह मोक्ष अवश्य पा लेता है । आत्मा का विकास संयम के बिना सम्भव नहीं है । संयम वह सहारा है जिससे आत्मा ऊर्ध्वगामी होती है । पुष्ट और सन्तुष्ट होती है । सयम को ग्रहण कर लेने वाले की दृष्टि मे इन्द्रिय के विषय हेय मालूम पड़ने लगते हैं । लोग उसके संयमित जीवन को देखकर भले ही कुछ भी कह दे, पागल भी क्यों न कह दें, तो भी वह शान्त भाव से कह देता है कि आपको यदि खाने मे सुख मिल रहा है तो मुझे खाने के त्याग मे आनन्द आ रहा है । मै क्या करूँ ? यह तो अपनी-अपनी दृष्टि की बात है । सम्यग्दृष्टि संयम को सहज स्वीकार करता है । इसलिए वह सब कुछ छोड़कर भी आनन्दित होता है ।

प्रारम्भ में तो संयम बन्धन जैसा लगता है लेकिन बाद मे यही जब हमें निर्बन्ध बना देता है, हमारे विकास मे सहायक बनता है हम ऊपर उठने लगते है और अपने स्वभाव को प्राप्त करके आनन्द पाते है, तब ज्ञात होता है कि यह बन्धन तो निर्बन्ध करने का बन्धन था । प्रारम्भ में मन और इन्द्रियों की स्वच्छन्दता को दूर करने के लिए सयम का बन्धन स्वीकार करना हमारे हित मे है ।

जब हम बचपन में साइकिल चलाते थे, तब साइकिल चलाना तो आता नहीं था और मन करता था कि साइकिल चलाये और पूरी गति से चलायें, तभी आनन्द आयेगा। साइकिल बड़ी थी और सीट पर हम बैठ नही पाते थे, क्योंकि शरीर की ऊँचाई कम थी और यदि सीट पर बैठ भी जायें तो पैर पैडिल तक पहुँच नही पाते थे। तब पहले-पहले पीछे कोई व्यक्ति पकड़ता था और आगे भी एक हाथ से हैण्डिल पकड़ता था। धीरे-धीरे हैण्डिल पकड़ना आने लगा लेकिन बिना सहारे चला नहीं पाते थे। फिर पैरो मे जब अभ्यास हुआ और हाथ से पकड़ने की क्षमता भी आ गयी और अपने बोझ को सँभालने का साहस भी आ गया तो हमने कहा कि भइया! तुम पकड़ते क्यो हो ? छोड़ दो लेकिन कुछ दिन वह पीछे से सहारा देकर पकड़े रहता था। कभी जरा छोड़ता था तो गिरने की नौबत आ जाती थी। फिर उसने कहा कि देखो मै इस तरह पकड़े हूँ कि तुम्हे चलाने में बाधा नही आती। पीछे पकड़कर मै खींचता नही हूँ, मै तो मात्र सहारा दिये रहता हूँ।

यही संयम का बन्धन ऐसा ही सहारा देने वाला है फिर जब पूरी तरह अपने बल पर चलने की क्षमता आ गयी तो उसने अपने आप छोड़ दिया। लेकिन समझा दिया कि ध्यान रखना मोड़ आने पर या किसी के सामने आ जाने पर ब्रेक का सहारा अभी भी लेना पड़ेगा। सयम के पालन मे निष्णात हो जाने पर भी प्रतिकूल परिस्थितियो मे विशेष सावधानी की आवश्यकता पड़ती है।

एक बार आनन्द लेने के लिए गाड़ी को हम चढ़ाव पर लेकर गये फिर उसके उपरान्त उतार पर गाड़ी को लगा दिया और पांच-छह पैडल भी तेज-तेज चला दिया। गति ऐसी आ गयी कि अब सँभालना मुश्किल लगने लगा। आगे एक मोड़ था और सँभालना नही आ रहा था। अचानक ब्रेक लगाऊँ तो गिरने का डर था। तब एक पगडण्डी जो सड़क के बाजू से जाती थी, जो थोड़ी चढ़ाव वाली थी। बस। हमने उस ओर हैण्डिल मोड़ दिया और गाड़ी उस पगडण्डी पर जाकर धीरे-धीरे थम गयी। अगर ऐसे ही छोड़ देता तो नियम से गिरना पड़ता। अर्थ यह हुआ कि सयम के साथ सावधानी की बड़ी आवश्यकता है।

आप लोग तो अभी ब्रेक लगाये बिना ही गाड़ी को दौड़ा रहे है और नीचे जाते हुए भी आँख मींचे बैठे है। अनन्तकाल यूँ ही व्यतीत हो गया। आप सोचते है कि हम सुरक्षित रह जायेगे लेकिन आप स्वय सोचो, क्या सयम के विना जीवन सुरक्षित रह पायेगा ? जैसे गाड़ी सीखने-समझने के उपरान्त भी संयम और सावधानी की बड़ी आवश्यकता है, ऐसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी संयम की बड़ी आवश्यकता है, कोई चैम्पियन भी क्यो न हो, उसे भी वाहन चलाते समय संयम रखना पड़ता है अन्यथा दुर्घटना होने में देर नही लगती। सड़क के नियमो का पालन न करे तो भी दुर्घटना हो सकती है। जैसे सड़क पर चलने वाले हर यात्री को सड़क के नियमो का पालन करना अनिवार्य होता है, उसी प्रकार मोक्ष के मार्ग मे चलने वाले के लिए नियम-सयम का पालन अनिवार्य है।

लेटे हुए व्यक्ति को कोई विशेष सावधानी की आवश्यकता नहीं पड़ती, पर बैठे हुए व्यक्ति को थोड़ी सावधानी की आवश्यकता है । क्योंकि बैठे-बैठे भी असावधानी होने से गिरना सम्भव है । इसके उपरान्त यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर खड़ा हो जाये और आँख मींच ले, तब तो बड़ी सावधानी रखने की आवश्यकता होती है । ऐसे ही मोक्षमार्ग में स्थिति होकर नियम-संयम से चलने वाले को सावधानी रखने की बड़ी आवश्यकता है ।

आचार्यों ने कहा है कि खड़े होकर साधक यदि ध्यान लगाये या महाव्रती आहार ग्रहण करे तो इस बात का ध्यान रखे कि दोनों पञ्जो के बीच में लगभग बारह अङ्गुल का और दोनों पैरों की एड़ियो के बीच कम से कम चार अंगुल का अन्तर बनाये रखें । तभी सतुलन (बैलेंस) अधिक देर तक बना रह सकेगा । अन्यथा गिरना भी सम्भव है । यह तो खड़े होने की बात कही, यदि आप चल रहे है और मान लीजिये बहुत सकरे रास्ते से चल रहे है तब तो और भी सावधानी रखनी होगी । शिखरजी में चन्द्रप्रभु भगवान की टोक पर जाते चढ़ते समय सकरी पगडण्डी से चलना पड़ता है । सीढ़ियाँ नही है, ऊबड़-खाबड़ रास्ता है, तो वहाँ सन्तुलन आवश्यक हो जाता है । वैसे ही सभी जगह सन्तुलन आवश्यक है ।

अभी आप यहाँ सुन रहे हैं । सुनने के लिए भी सन्तुलन की आवश्यकता है । जरा भी ध्यान यहाँ-वहाँ हुआ कि शब्द छूट जायेंगे । बात पूरी समझ मे नही आ पायेगी । अभी थोड़ी देर पहले हम बोलते-बोलते रुक गये थे । आप पूछ सकते है कि ऐसा क्यो हुआ ? तो बात ये है भइया ! कि आचार्यो ने हमारे लिए भाषा-समिति पूर्वक बोलने का आदेश दिया है । आचार्यो ने कहा कि हमेशा संयम का ध्यान रखना । असयमी के बीच बैठकर भी असंयम का व्यवहार नहीं करना । जिस समय बोलना सहज रूप से सम्भव हो उसी समय बोलना । यदि बोलते समय किसी व्यवधान के कारण बोलने में विशेष शक्ति लगानी पड़े तो भाषा समिति भङ्ग होने की संभावना रहती है । अभी ऊपर पण्डाल पर पानी की बूँदों के गिरने की तेज आवाज आ रही थी और माइक होते हुए भी आवाज आप तक नही पहुँच रही थी, अत. तेज आवाज में बोलना ठीक नही था, इसलिए चुप रह गया ।

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा'[1] प्रमाद पूर्वक प्राणों का घात करने से नियम से हिंसा होती है ।

अत. सयम सभी क्षेत्रों में रखना होगा । संयम से व्यक्ति का स्वयं बचाव होता है और दूसरे का बचाव भी हो जाता है । जब आप लौकिक कार्यों में भी संयम का ध्यान रखते हैं तो आचार्य कहते है कि जिस मोक्षमार्ग पर मुमुक्षु चलता है उसके लिए तो चौबीसो घण्टे या जीवन पर्यन्त ही सावधानी की, सयम की बड़ी आवश्यकता होती है । थोड़े समय के लिए भी यदि असयम भाव आ जायेगा तो नियम से वह गुणस्थान से नीचे गिर जायेगा अर्थात परिणामो से पतित हो जायेगा । तब जहाँ निर्जरा होना आपेक्षित थी वहाँ निर्जरा न होकर बन्ध होना प्रारम्भ हो जायेगा । असयम के द्वारा जो बन्ध होता है वह कभी भी पूरी तरह

निर्जरित नहीं हो सकता और मुक्ति भी नहीं मिलती। संयम के साथ जो संवर पूर्वक निर्जरा होती है उसी से निर्बन्ध दशा की प्राप्ति होती है। संयम के द्वारा प्रतिक्षण असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती रहती है।

तत्त्वार्थ सूत्र जी में एक सूत्र आया है–'सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोह-क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक-क्षीणमोह-जिनाःक्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः'[४] इसमें कहीं भी असंयम के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा होने का उल्लेख नहीं आया। सम्यग्दर्शन के साथ भी मात्र उत्पत्ति के समय असंख्यात गुणी निर्जरा होती है उसके उपरान्त नहीं। जीवन पर्यन्त सम्यग्दृष्टि अकेले सम्यक्त्व के द्वारा असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं कर सकता। लेकिन यदि वह देशसयम को अङ्गीकार कर लेता है, अर्थात् श्रावक के व्रत अङ्गीकार कर लेता है तो उसे असंख्यात गुणी निर्जरा होने लगती है। एक क्षायिक सम्यग्दृष्टि मान लीजिये सामायिक के काल में सामायिक करने बैठा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा नहीं होगी और वहीं एक देशव्रती भोजन कर रहा है तो भी उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा हो रही है। आचार्य कहते हैं कि यही तो संयम का लाभ है तथा संयम का महत्त्व है। यदि कोई सकल-संयम को धारण करके महाव्रती बन जाता है तो उसकी असंख्यात गुणी निर्जरा और बढ़ जाती है। एक देश संयमी श्रावक सामायिक में जितनी कर्म-निर्जरा करता है उससे असंख्यात गुणी निर्जरा एक मुनि महाराज आहार लेते समय भी कर लेते है। इसका कारण यही है कि जिसने संयम की ओर जितने कदम ज्यादा बढ़ाये हैं उसकी कर्म-निर्जरा भी उतनी ज्यादा होगी। इतना ही नहीं जिसने संयम की ओर कदम बढ़ाये उसके लिए बिना माँगे ऐसा अपूर्व-पुण्य का सञ्चय भी होने लगता है जो असंयमी के लिए कभी सम्भव ही नहीं है।

संयम वह है जिसके द्वारा अनन्तकाल से बन्धे संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं। तीर्थङ्कर भगवान भी घर मे रहकर मुक्ति नहीं पा सकते। वे भी संयम लेने के उपरान्त निर्जरा करके सिद्धत्व को प्राप्त करते है। सम्यग्दर्शन का काम इतना ही है कि हमें प्रकाश मिल गया। अब मञ्जिल पाने के लिए चलना हमें ही है। उद्यम हमें करना है और उस उद्यम में जितनी गति होगी उतनी ही जल्दी मञ्जिल समीप आ जायेगी।

संयम के माध्यम से ही आत्मानुभूति होती है संयम के माध्यम से ही हमारी यात्रा मञ्जिल की ओर प्रारम्भ होती है और मञ्जिल तक पहुँचती है। यात्रा-पथ तो संयम का ही है। देशसंयम और सकल संयम ही पथ बनाते हैं क्योंकि चलने वाले से ही पथ का निर्माण होता है। बैठा हुआ व्यक्ति पथ का निर्माण नहीं कर सकता। वह पथ को अवरुद्ध अवश्य कर सकता है। असंयम के संस्कार अगर देखा जाए तो अनादि काल से हैं तभी तो आज तक आप कभी भी, भूलकर भी, स्वप्न में भी दीक्षित नहीं हुए होंगे। कभी मुनि महाराज बनने का स्वप्न नहीं देखा होगा। हाँ, महाराजों को आहार देने का स्वप्न अवश्य देखा होगा।

जिसकी संयम में रुचि गहरी है वह स्वप्न में भी अपने को संयमी ही देखता है। जिसका मन अभी दिन मे भी भगवान की पूजा, भक्ति और संयम की ओर नहीं लगता, वह रात्रि

में स्वप्न में भगवान की पूजा करते हुए या संयम पूर्वक आचरण करते हुए स्वयं को कैसे देख पायेगा ? बन्धुओ ! अगर अपना आत्म कल्याण करना हो तो संयम कदम-कदम पर अपेक्षित है । लेकिन ध्यान रखना संयम के माध्यम से किसी लौकिक चीज की अपेक्षा मत रखना । अन्यथा वह बाह्य तप या अकाम-निर्जरा की कोटि में ही आयेगा ।

समन्तभद्र स्वामी ने स्वयम्भू स्तोत्र में शीतलनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि –

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
भवान् पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥

हे शीतलनाथ भगवन् ! आपने जो संयम धारण किया, आपने जिस चारित्र को अङ्गीकार किया उसका उद्देश्य साधारण नहीं था । अन्य तपस्वियों की तरह आपने 'अपत्य-तृष्णया' अर्थात् पुत्र-रत्न की प्राप्ति की वाञ्छा से या 'वित्त-तृष्णया' अर्थात् धन-प्राप्ति की आकाङ्क्षा से या 'उत्तरलोकतृष्णया' अर्थात् परलोक या कदाचित इहलोक के सुखों की प्राप्ति की आकाञ्क्षा से संयम धारण नहीं किया । अपितु जन्म-जरा और मृत्यु का नाश करने के लिए संयम को अङ्गीकार किया है । यही आपकी असाधारण विशेषता है । आप रात-दिन अपनी आत्मा में लीन रहे । कभी प्रमाद को अङ्गीकार नहीं किया तथा कषाय को भी अङ्गीकार नहीं किया । आपकी प्रत्येक क्रिया मे सावधानी ही नजर आती है । चलते समय आप सावधान रहे, भोजन करते समय भी आपने सावधानी को नहीं छोड़ा । अतः आप जैसे सयमी की चर्या से चौबीसों घण्टे उपदेश मिलता रहता है ।

संयमी का पूरा जीवन ही उपदेशमय हो जाता है । दौलतराम जी ने बारह-भावना का उपसंहार करते हुए पाँचवी-ढाल मे लिखा है कि–

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये ।
ताको सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥

और आचार्य पूज्यपाद स्वामी भी सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में कहते हैं कि "अवाक्–विसर्गं वपुषा निरूपयन्त मोक्षमार्गं" –वचन बोले बिना, कुछ कहे बिना, जिनके दर्शन मात्र से मोक्षमार्ग का निरूपण होता रहता है, ऐसे सकल-संयम के धारी वीतरागी आचार्य ही भव्य जीवों का कल्याण करने में सहायक होते है ।

जिसके भीतर संयम के प्रति रुचि है वह तो संयमी के दर्शन मात्र से ही अपने कल्याण के पथ को अङ्गीकार कर लेता है । जिसे अभी आत्मतत्त्व के बारे में जिज्ञासा ही नहीं हुई कि हम कौन है ? कहाँ से आये है ? ऐसे कब से है ? और ऐसे ही क्यों हैं ? हमारा वास्तविक स्वरूप क्या है ? वह मोक्षमार्ग पर कैसे कदम बढ़ायेगा । जिसके मन में ऐसी जिज्ञासा होती है, वही सयम के प्रति और संयमी के प्रति भी आकृष्ट होता है । वह ही सच्चा मुमुक्षु है ।

यह तो भीतरी बात हुई पर बाहर का भी प्रभाव कम नहीं है। एक संयमी व्यक्ति के संयमित आचरण को देखकर दूसरा भी संयम की ओर कदम बढ़ाने लग जाता है। जैसे क्लास में एक विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर आ जावे तो सारे के सारे विद्यार्थियों की दृष्टि इस ओर चली जाती है और मास्टर के कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि तुम सभी को और मेहनत पढ़ाई में करनी चाहिये। विद्यार्थी अपने आप पढ़ने में मेहनत करने लग जाते है। एक राजा यदि सयम ग्रहण कर लेता है तो अन्य प्रजाजनों के मन में भी संयम के प्रति अभिरुचि अवश्य जागृत होने लगती है। वीतरागता की सुगन्ध अपने आप सभी तरफ फैलकर अपना प्रभाव डालती है और स्वयमेव ज्ञात होने लगता है कि आत्मोपलब्धि के लिए संयम की बड़ी आवश्यकता है।

संयम का एक अर्थ इन्द्रिय और मन पर लगाम लगाना भी है और असंयम का अर्थ बे-लगाम होना है। बिन ब्रेक की गाड़ी और बिना लगाम का घोड़ा जैसे अपनी मञ्जिल पर नही पहुँचता; उसी प्रकार असयम के साथ जीवन बिताने वाले को मञ्जिल नहीं मिलती। एक नदी मञ्जिल तक तभी पहुँच सकती है, सागर तक तभी जा सकती है जब कि उसके दोनो तट मजबूत हों। यदि तट भंग हो जावें तो नदी वहीं-वहीं मरुभूमि में विलीन हो जायेगी। उसी प्रकार सयम रूपी तटों के माध्यम से हम अपने जीवन की धारा को मञ्जिल तक ले जाने मे सक्षम होते है। अकेला सम्यग्दर्शन विषयों की ओर जाते हुए इन्द्रिय और मन को रोक नहीं पाता। उसके साथ सम्यक् चारित्र का होना भी नितान्त आवश्यक है।

संयमी व्यक्ति ही कर्म के उदय रूपी थपेड़े झेल पाता है। जैसे बिजली के वायर में भारी से भारी करेण्ट क्यो न हो लेकिन एक जीरो वॉट का वल्व लगा दिया जाए तो वह सारे के सारे करेण्ट को सँभाल लेता है और धीमा-धीमा प्रकाश बाहर आ पाता है। जबकि उसी स्थान पर अगर सौ वॉट का वल्व लगा दिया जाये तो पूरा प्रकाश बाहर आने लगता है; इसी प्रकार भीतरी कर्म के उदय को सँभालने के लिए संयम जीरो वॉट के वल्व की तरह काम करता है। वह उदय आने पर विचलित नहीं होने देता। सयम बनाये रखता है। कर्म अपना प्रभाव पूरा नही दिखा पाता।

कर्म के वेग और बोझ को सहने की क्षमता असंयमी के पास नहीं है। वह तो जब चाहे तब जैसा कर्म का उदय आया वैसा कर लेता है। खाने की इच्छा हुई और खाने लगे। देखने की इच्छा हो गयी तो देख लिया। सुनने की इच्छा हुई तो सुन लिया। वास्तव में देखा जाये तो इन्द्रियाँ कुछ नहीं चाहतीं। वे तो खिड़कियों के समान हैं। भीतर बैठा हुआ मन ही उन खिड़कियों के माध्यम से काम करता रहता है। कभी कर्णेन्द्रिय के माध्यम से शब्द की ओर आकृष्ट होता है, कभी आँख के द्वारा रूप को देखकर मुग्ध हो जाता है, कभी नासिका के द्वारा सूँघ लेता है, कभी वह रसना इन्द्रिय के द्वारा रस चखने की आकाङ्क्षा करता है; तो कभी स्पर्श इन्द्रिय के माध्यम से बाह्य पदार्थों के स्पर्श में सुख मानता है। जो उस मन पर लगाम लगाने का आत्म पुरुषार्थ करता है वही सयमी हो पाता है और वही कर्म के उदय को, उसके आवेग को झेल पाता है।

वह संयमी विचार करता है कि इन्द्रियों के विषयों की ओर जाना आत्मा का स्वभाव नहीं है। मेरा/आत्मा का स्वभाव तो मात्र अपनी ओर देखना और अपने को जानना है। संयमी ही ऐसा विचार कर पाता है और संयमी ही आत्म पुरुषार्थ के बल पर अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

'न भूत की स्मृति, अनागत की अपेक्षा, भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं, वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥"

संयमी ही वास्तव में ज्ञानी है। जिसे पूर्व में भोगे गये इन्द्रिय विषयों की स्मृति करना भी नहीं रुचता और आगे भोगोपभोग की सामग्री मिले, ऐसी लालसा भी मन में नहीं आती। वह तो विषयों को विष मानकर छोड़ देता है और निरन्तर हमें/संसारी-प्राणियो को वैराग्य का पाठ सिखाता है। वैराग्य का पाठ सिखाने वाला संयमी के अलावा और कोई नहीं हो सकता। आप चाहो कि संयम के अभाव में मात्र सम्यग्दर्शन मे यह काम हो जाये तो सम्भव नहीं है।

मै पूछता हूँ कि यदि धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा मजबूत श्रद्धान आपका है तो मोक्षमार्ग पर चलने का साहस क्यों नहीं है? रात्रि में खाते नहीं है पर रात्रि भोजन का त्याग भी नहीं है। तात्पर्य यही हुआ कि कभी खाने का अवसर आया तो खा भी लेंगे। रास्ते से चलते समय आप देखकर चलते है क्योंकि कङ्कर-पत्थर या काँटा लगने का भय है, लेकिन नीचे देखकर चलने के पीछे चींटी आदि को बचाने का भाव कभी नहीं आता। खाने-पीने की चीज़े देखकर खाते पीते है कि कहीं भीतर जाकर शरीर के लिए बाधक न बन जाये। वहाँ दृष्टि आगम की अपेक्षा शोधन करने की नहीं है। अभिप्राय मे यही अन्तर असयम का प्रतीक है।

एक बार पन्द्रह अगस्त की बात है। जिस समय हम स्कूल जाते थे। स्कूल मे सुबह पहले प्रभात फेरी निकाली गयी फिर बाद में ध्वजारोहण किया जाना था। प्रबन्ध सब हो गया। ध्वजारोहण के साथ ही पुष्पवृष्टि की व्यवस्था भी की गयी थी। जब ध्वजारोहण के लिए डोर खींची गयी तो पुष्पवृष्टि नहीं हुई और ध्वजा भी नहीं फहरायी। बात यह हुई कि असावधानी हो गयी। ऐसी गाँठ ध्वजा की डोर मे लगा दी कि समय पर डोर खींचने से खुली नहीं और ध्वजा के साथ पुष्पवृष्टि भी नहीं हुई।

दुनियाँ के बन्धन सब ऐसे ही हैं। तब हमने उसी समय समझ लिया कि भइया! ऐसे बन्धन में नहीं बन्धना है कि जिसके द्वारा जीवन में पुष्पवृष्टि रुक जावे। धर्म का फल मुक्ति है, ऐसा श्रद्धान होते ही संयम में इस ढंग से बन्धो कि धर्म-ध्वजा ऊपर भी पहुँच जाय और ऊपर पहुँचकर फहराये तथा पुष्पों की वर्षा भी हो। बिना बन्धे तो ध्वजा ऊपर नहीं जायेगी और न ही पुष्प ऊपर जा पायेंगे इसलिए बन्धन तो अनिवार्य है, पर ऐसा बन्धन कि डोर खींचते ही ध्वजा फहराये और पुष्पों की वर्षा हो। गाँठ इतनी ढीली भी न हो कि बीच में ही खुल जाये और पुष्प गिर जायें। अकाल वृष्टि भी ठीक नहीं, अत: समय पर वृष्टि हो और वातावरण में सुगन्ध फैल जावे।

बन्धुओ ! संयम ऐसा चाहिये जो जीवन में सुगन्धि पैदा कर दे। संयम के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन मे आदि से लेकर अन्त तक पुष्पवृष्टि के द्वारा अभिषिक्त होता रहता है। उसके जीवन में कभी विषाद, या विकलांगता या दीनता-हीनता नहीं आती। वह तो राजाओं से बढ़कर अर्थात् महाराजा बनकर निश्चिन्तता को पा लेता है। उसे किसी बात की चिन्ता नहीं रहती। वह हमेशा खुश रहता है। ध्यान रखना– खुश्क नहीं रहता, खुश रहता है। (हँसी) हाँ ऐसा ही खुश। उसके वचन भी खुश रहते हैं। जीवन भी खुश रहता है। सभी कुछ खुश रहता है और इस खुशहाली का कारण उत्तम-संयम ही है।

सारे बन्धनो से मुक्त होकर, सभी कुछ छोड़कर एक मात्र सच्चे देव-गुरू-शास्त्र से बँधना होता है, तभी जीवन मे स्वतन्त्रता आती है। जीवन मे उच्छृंखलता ठीक नहीं है। भारत को स्वतन्त्रता पाये आज लगभग अड़तीस वर्ष हो गये, लेकिन स्वतन्त्रता जैसा अनुभव यदि कोई नहीं कर पाता तो उसका कारण यही है कि सयम को प्राप्त नहीं किया। वैसे तो स्वतन्त्रता को प्राप्त करना ही कठिन है, लेकिन स्वतन्त्रता के द्वारा आनन्द का अनुभव करना बिना संयमित जीवन के सम्भव नहीं है।

सयम के साथ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जीवन मे सुगन्ध आ रही है या नहीं ? जीवन मे सयम के साथ सुगन्ध तभी आती है जब हम संयम को प्रदर्शित नहीं करते बल्कि अन्तरङ्ग मे प्रकाशित करते है। प्राय करके यही देखने मे आ जाता है कि संयम का प्रदर्शन करने वालों के जीवन मे खुशबू न देखकर अन्य लोग भी सयम से दूर हटने लग जाते है। उन्हे समझना चाहिये कि कागज के बनावटी फूलो से खुशबू आ कैसे सकती है ? संयम प्रदर्शन की चीज नहीं है। दिखावे की चीज नहीं है।

अष्टपाहुड मे आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियो के लिए लिखा है कि 'भावेण होई णग्गो'[6] यानि भाव से नग्न हो। भाव से नग्नता ही जीवन को सुवासित करेगी, मात्र बाह्य नग्नता से काम नहीं चलेगा। साथ ही यह भी कह दिया कि सकल संयम का धारी मुनि अपने आप मे स्वयं तीर्थ है। उसे अन्य किसी तीर्थ पर जाना अनिवार्य नहीं है। लेकिन वह प्रमाद भी नहीं करता यानी तीर्थ के दर्शन मिलते हैं तो अवश्य करता है और नहीं मिलने पर अपने लिए जिन-बिम्ब का निर्माण भी नहीं कराता।

बड़ी सावधानी का काम है। जो भगवान को अपने हृदय मे स्थापित कर लेता है वह तो प्रतिक्षण उनके दर्शन करता ही रहता है स्वयम्भूस्तोत्र मे नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि –

स्तुतिः स्तोतु साधो कुशलपरिणामाय स तदा ।
भवेन्मा वा स्तुत्य फलमपि ततस्तस्य च सतः ॥
किमेवं स्वाधीनाज्जगति सुलभे श्रेयसपथे ।
स्तुयान्नत्वा विद्वान् सततमभि पूज्यं नमिजिनम् ॥[7]

हे नमि जिन ! आप यहाँ हो तो ठीक और यहाँ नहीं हो तो भी ठीक । कुशल परिणामों के द्वारा की गयी आपकी स्तुति फलदायिनी हुए बिना रह नहीं सकती । आपके द्वारा बताया गया श्रेयस्कर मार्ग उतना स्वाश्रित है और सहज सुलभ है । इसी से तो विद्वान्-जन आपके चरणों में नतमस्तक होते हैं और आपकी ही स्तुति करते हैं । यह है संयमी की आस्था । आस्था के साथ संयमपूर्वक भक्ति की क्रिया चलती है । इसलिये तो संयमी को कहा कि तुम स्वयं चैत्य हो । तुम स्वयं तीर्थ हो । धर्म की मूर्ति भी तुम स्वयं हो । तुम्हें देखकर अनेको को दिशाबोध मिल जाता है ।

ऐसा यह जिनलिङ्ग धारण करने वाले संयमी महाव्रती का माहात्म्य है । जिसने तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखा, आरम्भ और विषय कषाय सब छोड़ दिया । हाथ से भी छोड़ दिया और मन से भी छोड़ दिया । इस जिनलिङ्ग को धारण करने वाले हे मुनि ! अब स्मरण रखना कि कभी जोड़ने का भाव न आ जाये । भाव से भी नग्न रहना । अन्यथा सयम का बाना मात्र प्रदर्शन होकर रह जायेगा । संयम तो दर्शन की वस्तु है, उसे प्रदर्शन की वस्तु नहीं बनाना ।

संयम वह है जिसके द्वारा जीवन स्वतन्त्र और स्वावलम्बी हो जाता है । ऐसा संयम प्राप्त करना सरल भी है, और कठिन भी । जो चौबीसों घण्टे अपने मे लीन रहे, अपने आत्मा के आनन्द को पान करे उसे तो सरल है और जब कोई अपने अकेले होने से आनन्द के स्थान पर दुःख का अनुभव करने लगे तो यही उसे कठिन हो जाता है । जैसे कि बारात घर से चली जाती है तो घर में ऐसा लगता है कि भाग चले यहाँ से । हमारी निधि ही मानों यहाँ से चली गयी हो । सयमी व्यक्ति जब संयोग और वियोग सभी में समान भाव से रहता है तो संयम का मार्ग सरल लगने लगता है । अपने में लीनता आना ही सरलता की ओर जाना है । सयमित जीवन में प्रतिक्षण आत्मा का अध्ययन चलता रहता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने मुनियों के अट्ठाईस मूलगुणों मे षट् आवश्यक के अन्तर्गत अलग से स्वाध्याय नहीं रखा । नियमसार ग्रन्थ मे कह दिया कि प्रतिक्रमण ही स्वाध्याय है । जो चौबीसों घण्टे अपने आवश्यको में मन को लगाये रखता है, उसका स्वाध्याय तो निरन्तर चलता ही रहता है । ईर्या-समिति पूर्वक चलना, एषणा-समिति पूर्वक आहार ग्रहण करना, भाषा समिति पूर्वक बोलना, आदान-निक्षेपण समिति को ध्यान मे रखते हुए उठना-बैठना, उपकरणों को उठाना-रखना तथा मलमूत्र के विसर्जन के समय प्रतिष्ठापन-समिति का पालन करना, इन सभी के माध्यम से जो निरन्तर सावधानी बनी रहेगी जागरूकता और अप्रमत्तता बनी रहेगी, वही तो स्वाध्याय है ।

सयोग-वियोग मे जो समता परिणाम बनाये रखना है तथा अनुकूलता और प्रतिकूलता में हर्ष-विषाद नहीं करना ऐसा सयमी व्यक्ति ही सच्चा स्वाध्याय करने वाला है । अब तो कोई संयम पूर्वक ग्रन्थ की उपयोगी बातो को हृदयङ्गम नहीं करते, मात्र दूसरे को बताने की

दृष्टि से समयसार आदि महान ग्रन्थों को मुखाग्र कर लेते हैं। कहें कि मात्र शिरकम कर लेते हैं और इसी को स्वाध्याय मानकर बैठ जाते हैं।

बन्धुओ! वास्तव मे तो स्वाध्याय अपनी प्रत्येक क्रिया के प्रति सजग रहने मे है। 'स्व' का निकट से अध्ययन करने मे है। संयमपूर्वक प्रत्येक घड़ी, असख्यात गुणी निर्जरा करते हुए समय का सदुपयोग करना ही कल्याणकारी है और इसी मे मनुष्य जीवन की सार्थकता है।

सयम धर्म--

१ रत्नकरण्डक श्रावकाचार-४७

२ शान्तिभक्ति - १

३. तत्त्वार्थसूत्र ७/१३

४. तत्त्वार्थसूत्र ९/४५

५ स्वयम्भूस्तोत्र ४९

६ छहढाला (पाँचवी ढाल-१५)

७. समयसार-गाथा २२८ (हिन्दी पद्यानुवाद आ० विद्यासागर कृत)

८. भावपाहुड ७३

भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊण।

पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए॥

९. स्वयम्भूस्तोत्र-११६

उत्तम-तप

- *विसयकसायविणिग्गह,*
  भाव काऊण झाणसिज्झीए ।
  जो भावइ अप्पाण,
  तस्स तव होदि णियमेण ॥

पाँचो इन्द्रियो के विषयों को तथा चारों कषायो को रोककर शुभध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है उसके नियम से तप-धर्म होता है। (७७)

आम अभी हरा-भरा डाल पर लटक रहा है। अभी उसमें से कोई सुगन्ध नहीं फूटी है और रस भी चखने योग्य नहीं हुआ है, किन्तु बगीचे के माली ने उस आम्रफल को तोड़ा और अपने घर में लाकर पलाश के पत्तो के बीच रख दिया है। तीन-चार दिन के उपरान्त देखा तो वह आम्रफल पीले रग का हो गया, उसमे मीठी-मीठी सुगन्ध फूट गयी है और रस मे भी मीठापन आ गया, कठोरता के स्थान पर कोमलता आ गयी। खाने के लिए आपका मन ललचाने लगे, मुख में पानी आ जाये। ऐसा इतना अविलम्ब परिवर्तन उसमें कैसे आ गया ? तो माली ने बता दिया कि यह सब अतिरिक्त ताप/ऊष्मा का परिणाम है। तप के सामने कठोरता को भी मुलायम होना पड़ता है और नीरस भी सरस हो जाता है। सुगन्धी फूटने लगती है और खटाई, खटाई में पड़ जाती है। अर्थात् मीठापन आ जाता है।

आज तप का दिन है। बात आपके समझ मे आ गयी होगी। अनादि-काल से ससारी प्राणी इसी तरह कच्चे आम्रफल के रूप मे रह रहा है। तप के अभाव मे चाहे वह संन्यासी हो, चाहे वनवासी हो या भवनवासी हो अर्थात् महलो मे रहने वाला हो, उसका पकना सम्भव नहीं है। तप के द्वारा भी पूर्व सञ्चित कर्म पककर खिर जाते हैं मङ्गतराय की 'बारह भावना' में निर्जरा-भावना के अन्तर्गत कुछ पंक्तियाँ आती है-

उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली।
दूजी है अविपाक पकावै पाल विषै माली ॥'

जैसे वह माली पलाश के पत्तो मे पाल लगाकर आम्रफल को समय से पहले पकाने की प्रक्रिया करता है और बाहरी हवा से बचाये रखता है। तब वह आम्रफल मीठा होकर, मुलायम होकर सुगन्ध फैलाने लगता है, यही स्थिति यहाँ परमार्थ के क्षेत्र मे भी है। आत्मा के स्वभाव का स्वाद लेने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य जैसे महान् आचार्य हमे सम्बोधित करते है कि हे भव्य ! यदि रत्नत्रय को धारण कर लो तो शीघ्र ही तप के माध्यम से तुम्हारे भीतर आत्मा की सुगन्धी फूटने लगेगी और आत्मा का निजी स्वाद आने लगेगा। रत्नत्रय के साथ किया गया तपश्चरण ही मुक्ति मे कारण बनता है।

तपश्चरण करना अर्थात् तपना जरूरी है और तपने की प्रक्रिया भी ठीक-ठीक होनी चाहिये। जैसे किसी ने हलुआ की प्रशसा सुनी तो सोचा कि हम भी हलुआ खायेंगे। पूछा गया कि हलुआ कैसे बनेगा ? तो किसी ने बताया कि हलुआ बनाना बहुत सरल है। तीन चीजे मिलाना पड़ती है। आटा चाहिये, घी और शक्कर चाहिये। तीनों को मिला दो तो हलुआ बन जाता है। उस व्यक्ति ने जल्दी-जल्दी से तीनों चीजें मिला कर खाना प्रारम्भ कर दिया, लेकिन स्वाद नहीं आया। आनन्द नहीं आया। कुछ समझ में नहीं आया कि बात क्या हो गयी ? फिर से पूछा कि जैसा बताया था उसी के अनुसार तैयार किया है लेकिन स्वाद क्यों नहीं आया ? जैसा सुना था वैसा आनन्द नहीं आया। तो वह बताने वाला हँसने लगा, बोला कि अकेले तीनों को मिलाने से स्वाद नहीं आयेगा। हलुआ का स्वाद तो तीनो को ठीक-ठीक प्रक्रिया करके मिलाने पर आयेगा और इतना ही नहीं अग्नि पर तपाना भी होगा। फिर तीनो जब धीरे-धीरे एकमेक हो जाते है, स्वाद तभी आता है और सुगन्ध तभी फूटती है।

'जहँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच भेद् न जहाँ' ध्यान में पहुँचकर ऐसी स्थिति आ जाती है। चेतना इतनी जागृत हो जाती है कि ध्यान करने वाला, ध्यान की क्रियाऔर ध्येय; तीनों एकमेक हो जाते हैं। बिना अग्नि-परीक्षा के तीनों को मिलना सम्भव नहीं है। ध्यान की अग्नि में तपकर ही परम पद का स्वाद पाया जा सकता है। मिलना ऐसा हो कि जैसे हलुआ में यह शक्कर है, यह घी है और यह आटा है –ऐसा अलग-अलग स्वाद नहीं आता, एकमात्र हलुआ का ही स्वाद आता है, ऐसा ही आत्मा का स्वाद ध्यान में एकाग्रता आने पर आता है।

किसी को पकौड़ी या बड़ा खाने की इच्छा हुई तो वह क्या करेगा ? सारी सामग्री अनुपात से मिलाने के उपरान्त कड़ाही मे तलना पड़ेगा। बड़ा बनाने के लिए बड़े को अग्नि परीक्षा देनी होगी। बिना अग्नि में तपे बड़ा नहीं बन सकता। इसी प्रकार केवलज्ञान की प्राप्ति रत्नत्रय के साथ एक अन्तर्मुहूर्त तक ध्यानाग्नि में तपे बिना सम्भव नहीं होती। रत्नत्रय के साथ पूर्व कोटि व्यतीत हो सकते है लेकिन मुक्ति पाने के लिए चतुर्विध आराधना करनी होगी। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना अर्थात् रत्नत्रय की आराधना के साथ ही साथ चौथी तप-आराधना करना भी आवश्यक है।

जिस समय कोई दीक्षित हो जाता है, श्रमण बन जाता है तो उसे रत्नत्रय या पञ्चाचार का पालन करना होता है। किन्तु ध्यान रखना उसके साथ ही साथ उसके लिए एक तप और विशेष रूप से दिया जाता हैं। इसलिए कि तप का अनुभव वह साधक यहीं से प्रारम्भ कर दे और रत्नत्रय का स्वाद उसे आने लगे। साक्षात् मुक्ति रत्नत्रय से युक्त होकर तप के द्वारा ही होती है। अकेले रत्नत्रय से अर्थात् भेद रत्नत्रय से मुक्ति परम्परा से होती है। जैसे दुकान पर तुरन्त लाभ पाने के लिए आप कड़ी मेहनत करते हैं, ऐसे ही मोक्षमार्ग मे तुरन्त मुक्ति पाने के लिए आचार्यो ने तप को रखा है।

परमात्म प्रकाश मे योगीन्दु देव ने लिखा है कि –

> *जे जाया झाणग्गियएँ कम्म-कलंक डहेवि ।*
> *णिच्च-णिरंजण-णाण-मय ते परमप्प णवेवि ॥*[1]

उन परमात्मा को हम बार-बार नमस्कार करते है, जिन्होंने परमात्मा बनने से पहले ध्यान रूपी अग्नि में अपने को रत्नत्रय के साथ तपाया है और स्वर्ण की भाँति तपकर अपने आत्म स्वभाव की शाश्वतता का परिचय दिया है। स्वर्ण की सही-सही परख अग्नि मे तपाने से ही होती है उसमे बट्टा लगा हो तो निकल जाता है और सौ टञ्च सोना प्राप्त हो जाता है। जैसे पाषाण मे विद्यमान स्वर्ण से आप अपने को आभूषित नहीं कर सकते लेकिन अग्नि मे तपाकर उसे पाषाण से पृथक् करके शुद्ध करके उसके आभूषण बनाकर आभूषित हो जाते है; इसी प्रकार तप के माध्यम से आत्मा को विशुद्ध करके परम पद से आभूषित हुआ जा सकता है। यही तप का माहात्म्य है।

दक्षिण भारत में कर्नाटक के आसपास विशेष रूप से बेल्गाम जिले में ज्वार की खेती प्रायः अधिक होती है। वहाँ कुछ लोग पानी पड़ जाने के डर से समय से पूर्व आठ-दस दिन पहले ही यदि ज्वार को काटकर छाया में रख लेते हैं, तो घाटे में पड़ जाते हैं। लेकिन जो अनुभवी किसान हैं, वे जानते है कि यदि मोती जैसी उज्ज्वल ज्वार चाहिये हो तो उसे पूरी तरह पक जाने पर ही काटना चाहिये। इसलिए वे पानी की चिन्ता नहीं करते और पूरी की पूरी अवधि को पार करके ही ज्वार काटते हैं। जो पूरी की पूरी सीमा तक तपन देकर ज्वार काटता है उसके ज्वार घुँघरू की तरह आवाज करने वाले और आटे से भरपूर रहते हैं। वे वर्ष भर रखे भी रहें तो भी कीड़े वगैरह नहीं लगते। खराबी नहीं आती। इसी प्रकार पूरी तरह तप का योग पाकर रत्नत्रय में निखार आता है फिर कैसी भी परिस्थिति आये वह रत्नत्रय का धारी मुनि हमेशा अपनी विशुद्धि बढ़ाता रहता है। सङ्क्लेश परिणाम नहीं करता। जो आधा घण्टे सामायिक करके जल्दी-जल्दी उठ जाते हैं, वे जल्दी थक भी जाते है, विचलित हो जाते है। लेकिन जो प्रतिदिन दो-दो, तीन-तीन घण्टे सामायिक और ध्यान में लीन रहने का अभ्यास करते हैं, उनकी विशुद्धि हमेशा बढ़ती ही जाती है। इधर-उधर के कामो मे उनका मन नहीं भटकता और वे एकाग्र होकर अपने मे लगे रहते हैं।

तप की महिमा अपरम्पार है। दूध को तपाकर मलाई के द्वारा घी बनाते हैं तब उसका महत्त्व अधिक हो जाता है। घी के द्वारा प्रकाश और सुगन्धी दोनों ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वह पौष्टिक भी होता है। घी की एक और विशेषता है कि घी को फिर किसी भी तरल पदार्थ में डुबोया नहीं जा सकता। घी को दूध मे भी डाल दो तो भी वह दूध के ऊपर-ऊपर तैरता रहता है। इसी प्रकार तप के माध्यम से विशुद्ध हुई आत्मा लोक के अग्र भाग पर जाकर विराजमान होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा कि जब भी मुक्ति मिलेगी तप के माध्यम से ही मिलेगी। विभिन्न प्रकार के तपो का आलम्बन लेकर जो समय-समय पर आत्मा की आराधना में लगा रहता है, उसे ही मोक्षपद प्राप्त होता है। जब कोई परम योगी, जीव रूपी लोह-तत्व को सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूपी औषध लगाकर तप रूपी धौकनी से धौककर तपाते है, तब वह जीव रूपी लोह-तत्व स्वर्ण बन जाता है। संसारी-प्राणी अनन्त काल से इसी तप से विमुख हो रहा है और तप से डर रहा है कि कहीं जल न जायें। पर वैचित्र्य यह है कि आत्मा के अहित करने वाले विषय-कषायों मे निरन्तर जलते हुए भी सुख मान रहा है। आतम हित हेतु विराग ज्ञान। ते लखे आपको कष्ट दान'। जो आत्मा के हितकारी ज्ञान और वैराग्य है उन्हें कष्टकर मान रहा है। बन्धुओ ! जब भी कल्याण होगा ज्ञान, वैराग्य और तप के माध्यम से ही होगा।

आचार्यों ने तप के दो भेद कहे है – एक भीतरी अतरङ्ग तप और दूसरा बाहय तप। बाहरी तप एक प्रकार से साधन के रूप मे है और अंतरङ्ग तप की प्राप्ति में सहकारी है। बाहरी तप के बिना भीतरी तप का उद्भव सम्भव नहीं है। जैसे दूध को तपाना हो तो

सीधे अग्नि पर तपाया नहीं जा सकता । किसी बर्तन में रखकर ही तपाना होगा । दूध को बर्तन में तपाते समय कोई पूछे कि क्या तपा रहे हो, तो यही कहा जायेगा कि दूध तपा रहे हैं । कोई भी यह नहीं कहेगा कि बर्तन तपा रहे हैं । जबकि साथ में बर्तन भी तप रहा है । पहले बर्तन ही तपेगा फिर बाद में भीतर का दूध तपेगा । इसी प्रकार बाहरी तप के माध्यम से शरीर रूपी बर्तन तपता है और बाहर से तपे बिना भीतरी तप नहीं आ सकता । भीतरी आत्म-तत्त्व को तप के माध्यम से तपाकर सक्रिय करना हो तो शरीर को तपाना ही पड़ेगा । पर वह शरीर को तपाना नहीं कहलायेगा, वह तो शरीर के माध्यम से भीतरी आत्मा में बैठे विकारी भावों को हटाने के लिए, विकारो पर विजय पाने के लिए किया गया तप ही कहलायेगा ।

जो सही समय पर इन तपों को अङ्गीकार कर लेते है, वास्तव मे वह समय के ज्ञाता हैं और समय-सार के ज्ञाता भी है । ऐसे तप को अङ्गीकार करने वाले विरले ही होते है । तप के ऊपर विश्वास भी विरलो को ही हुआ करता है, उसकी चर्चा भी विरले लोग ही सुन पाते है । यह सभी दुर्लभ से दुर्लभ बाते है । कल्पना करे कि कैसा होता होगा जब साक्षात् भगवान के समवशरण मे तप की देशना होती होगी और भव्य आत्माएँ भगवान के सम्मुख समवशरण मे दीक्षित होकर तप को अङ्गीकार करती होगी । इतना ही नहीं बल्कि तप को अङ्गीकार करके अल्पकाल मे ही अपनी विशुद्ध आत्मा का दर्शन भी कर पाते होंगे । आप लोग यहाँ थोड़ा बहुत प्रोग्राम बना लेते है । दस दिन के लिए घर द्वार छोड़कर तीर्थ-क्षेत्र पर धर्म ध्यान करते है, तब सब भूल जाते है । लगता है संसार छूट गया और मोक्ष की ओर जा रहे है । दस-अध्यायो में भी देखा जाए तो क्रम-क्रम से मोक्ष-तत्त्व की ओर जा रहे है ।

ज्यो-ज्यो भावनाएँ पवित्र होती जाती है तो आत्मा को विशुद्ध बनाने की भावना भी प्रबल होती जाती है । इसी के माध्यम से क्रम-क्रम से एक न एक दिन हमे भी तप की शरण मिलेगी और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होगा । जैसे रोगी की जठराग्नि मन्द हो जाने पर पहले धीरे-धीरे मूग की दाल का पानी देते है । बहुत भूख लग जाये तो भी एक दो चम्मच मूंग की दाल के पानी से अधिक नहीं देते फिर बाद में थोड़ी शक्ति आने पर रोटी वगैरह देना प्रारम्भ कर देते है । उसी प्रकार हम भी पुराने मरीज है । एक साथ तप की बात बहुत मुश्किल लगती है तो धीरे-धीरे चारित्र को धारण करके हम अपने तप की अग्नि को बढ़ाते जाएँ और जितनी-जितनी तप मे वृद्धि होती जायेगी उतना-उतना आनन्द आयेगा और यही आनन्द तप मे वृद्धि के लिए सहायक बनता जाएगा ।

विशुद्धि के साथ किया गया तप ही कार्यकारी होता है । इसलिए आचार्यो ने कहा है कि अणुव्रतो को धारण करके क्रम-क्रम से विशुद्धि बढ़ाते हुए आगे महाव्रतो की ओर बढ़ना चाहिये । विशुद्धि हो तो विदेह क्षेत्र भी यहीं पर आ सकता है और विशुद्धि न हो तो विदेह भी लुप्त हो सकता है । जहाँ निरन्तर तीर्थङ्कर का सानिध्य बना रहता है वहाँ भी यदि विशुद्धि नहीं है तो तीन-तीन बार दिव्यध्वनि सुनने वाला भी उतनी निर्जरा नहीं कर सकता जितनी

कि यहाँ व्रतों के माध्यम से विशुद्धि बढ़ाकर निर्जरा की जा सकती है। बहुत कम लोग ही अवसर का लाभ उठा पाते है। संसारी प्राणी की यही विचित्रता है कि जब तक नहीं मिलता तब तक अभाव खटकता है और मिल जाने के उपरान्त वह गौण हो जाता है। उसका सदुपयोग करने की भावना नहीं बनती। जो निकट भव्य-जीव होते है वे नियम से तप का अवसर मिलते ही पूरा का पूरा लाभ लेकर अपना कल्याण कर लेते है।

आप लोगो से मेरा इतना ही कहना है कि तप एक निधि है, जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को अङ्गीकार करने के उपरान्त प्राप्त करना अनिवार्य है। बिना तप का अनुष्ठान किये मुक्ति का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जैसे दीपक की लौ यदि टिमटिमाती हो और स्पन्दित हो, चचल हो तो न ही प्रकाश ठीक हो पाता है और न ही उससे पर्याप्त ऊष्मा ही मिल पाती है। इसी प्रकार रत्नत्रय के साथ जब तक ज्ञान स्थिर नहीं होता और जब तक उसमें एकाग्रता नहीं आती तब तक अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को वह ज्ञान अनुभव नहीं कर सकता। अर्थात् मुक्ति मे साक्षात् सहायक नही बन सकता। चेतना की धारा एक दिशा मे बहना चाहिये, और ध्याता और ध्येय की एकरूपता होनी चाहिये।

बन्धुओ! दुनियादारी की चर्चा मे अपना समय व्यतीत नहीं करना चाहिये, उससे कोई भी लाभ मिलने वाला नहीं है। सही वस्तु का आलोड़न करने से ही उपलब्धि होती है। दस किलो दूध के दही से आप किलो, दो किलो नवनीत निकालो तो निकल भी आयेगा लेकिन उससे चौगुनी मात्रा मे भी पानी को मथकर नवनीत चाहो तो जरा भी नहीं निकलेगा। आप लोग दस दिन तक सुबह से शाम जिस प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक कार्य में लगे रहते हैं उसी प्रकार का कार्यक्रम हमेशा चलता रहना चाहिये। तब कहीं जाकर आत्मा में पवित्रता आना प्रारम्भ होगी। जितना समय इसमे देगे उतना ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा।

यावत् स्वास्थ्यशरीरस्य, यावत् इन्द्रियसपदा। तावत् युक्तं तपश्कर्म वार्धक्ये केवलं श्रमः
जब तक शरीर स्वस्थ है इन्द्रिय सम्पदा है, ज्ञान है और तप करने की क्षमता है तब तक तप को एकमात्र कार्य मानकर कर लेना चाहिये। क्योकि वृद्धावस्था में जब शरीर साथ नहीं देता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है और ज्ञान काम नहीं करता, तब हाथ क्या आता है? केवल पश्चात्ताप ही हाथ आता है। यह शरीर भोगो के लिए नहीं मिला और न ही देखने के लिए मिला है इसके द्वारा तो आत्मा का मन्थन करके अमृत पा लेना चाहिये। आज तो मात्र खाओ, पिओ और मौज करो वाली बात हो रही है। इसके बीच भी यदि कोई विषय-कषाय से विरक्त तप की ओर अग्रसर होता है तो यह उसका सौभाग्य है। इतना ही नहीं उसका सान्निध्य भी जिसे मिलता है वह भी सौभाग्यशाली है। संसारी प्राणी ने आज तक दृढ़ता के साथ तपश्चरण को स्वीकार नहीं किया और तो सैकड़ो कार्य सम्पादित किये लेकिन एक यही कार्य नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि दुःख मे ही सुख का आभास करने का सस्कार दृढ़ होता गया। आप पूजन करते समय बोलते अवश्य है कि–

ससार महादुःख सागर के, प्रभु दुःखमय सुख आभासो में।
मुझको न मिला सुख क्षण भर भी, कञ्चन-कामिनी प्रासादो में॥

लेकिन भीतर इस बात का अनुभव नहीं हो पाता। तप में दु:ख जैसा प्रतीत होता है और इन्द्रिय विषयों मे सुख जैसा लगता है। पर वास्तव मे देखा जाए तो सच्चा सुख तो तप में ही है। इन्द्रिय सुख तो मात्र सुखाभास है।

आत्मा की शक्ति अनन्त है। इस श्रद्धान के साथ जो व्यक्ति अपने इस जीवन को अविनश्वर सुख की खोज में लगा देता उसका जीवन सार्थक हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि –

अज्ज वि तिरयणसुद्धा, अप्पा झाएवि लहदि इदत्त।
लोयतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदि जंति ॥[६]

आज भी रत्नत्रय की आराधना करके आत्म-ध्यान मे लीन होकर इन्द्रत्व को प्राप्त कर सकते हैं, लौकान्तिक देव बन सकते है। इतना ही नहीं, वहाँ से नीचे आकर मनुष्य होकर नियम से मुक्ति पा सकते है। बन्धुओ! शेष जीवन न जाने किसका कितना रहा? अगर चाहें तो कम समय मे भी पूरी की पूरी कर्म-निर्जरा अपने आत्म-पुरुषार्थ और आत्म बल के द्वारा कर सकते है। जो व्यक्ति निमित्त पाकर भी अपने उपादान को जागृत नहीं करता, वह अभी निमित्त-उपादान के वास्तविक ज्ञान से विमुख है। निमित्त मे कार्य नहीं हुआ करता, कार्य तो उपादान मे ही होता है, लेकिन निमित्त के बिना उपादान का कार्य रूप परिणाम भी न हुआ और न कभी होगा।

रत्नत्रय के साथ बाहय और अन्तरङ्ग दोनो प्रकार के तपो का आलम्बन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति सम्पादन कर सकता है। यही एक मुक्ति का मार्ग है।

तपधर्म–

१. मंगतराय कृत बारहभावना १९
२ छहढाला (छठवीं ढाल ९)
३. परमात्मप्रकाश मगलाचरण
४. छहढाला (दूसरी ढाल-८)
५ देवशास्त्रगुरू पूजा - (जयमाल)
६ मोक्षप्राभृत ७७

उत्तम त्याग

□ *णिव्वेगतिय भावइ,*
मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु ।
जो तस्स हवेच्चागो,
इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन परिणाम रखता है, उसके त्याग धर्म होता है। (७८)

उत्तम त्याग की बात है। दान और त्याग ये दो शब्द आते हैं। दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। रागद्वेष से अपने को छुड़ाने का नाम 'त्याग' है। वस्तुओं के प्रति रागद्वेष के अभाव को 'त्याग कहा गया है। दान में भी रागभाव हटाया जाता है किन्तु जिस वस्तु का दान किया जाता है उसके साथ किसी दूसरे के लिए देने का भाव भी रहता है। दान पर के निमित्त को लेकर किया जाता है किन्तु त्याग में पर की कोई अपेक्षा नहीं रहती। किसी को देना नहीं है, मात्र छोड़ देना है। त्याग स्व को निमित्त बनाकर किया जाता है।

दान-रूप त्याग के द्वारा जो सुख प्राप्त होता है वह अकेले स्व का नहीं, पर का भी होता है। 'पुरुषार्थ सिद्धियुपाय' ग्रन्थ में आया है कि 'स्वपरानुग्रहहेतोः'[1] स्व के ऊपर अनुग्रह और पर के ऊपर भी अनुग्रह जिससे हो वही दान रूप त्याग धर्म है। जो धर्म में स्खलित हो गये हों, मोक्षमार्ग से च्युत होने को हों, संकट मे फँसे हुए हों, उनको सही मार्ग पर लगाना यह तो हुआ पर के ऊपर अनुग्रह और स्व के ऊपर अनुग्रह इस माध्यम से होने वाला पुण्य का सञ्चय है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धि स्वोपरोकारः पुण्यसञ्चय[2] जिन्हें दान दिया जाता है उनके सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि की वृद्धि होती है, यही पर का उपकार है और दान देने से जो पुण्य का सञ्चय होता है वह अपना उपकार है।

आचार्यों ने दान, पूजा और अभिषेक को श्रावक के प्रमुख कर्त्तव्यो में गिना है। अतिथि सत्कार करना भी प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है। यह सभी शुभ क्रियाएं लोभ को शिथिल करने के लिए है। जो लोभ कर्म हमारे आत्मप्रदेशों पर मजबूती से चिपक गया है, जिससे हमारी निःश्रेयस् और अभ्युदय की गति रुक गयी है, उस लोभ-कर्म को तोड़ने का काम यही त्याग धर्म करता है।

त्याग और दान का सही-सही प्रयोजन तो तभी सिद्ध होता है, जब हम जिस चीज का त्याग कर रहे है या दान कर रहे है, उसके प्रति हमारे मन में किसी प्रकार का मोह या मान-सम्मान पाने का लोभ न हो। क्योकि जिस वस्तु के प्रति मोह के सद्भाव मे कर्मो का बन्ध होता है, वही वस्तु मोह के अभाव मे निर्जरा का कारण बन जाती है। बन्धन से मुक्ति की ओर जाने का सरलतम उपाय यदि कोई है तो वह यही त्याग धर्म और दान है।

'आतम के अहित विषय कषाय, इनमे मेरी परिणति न जाय'[3]—सामान्य व्यक्ति भी अहितकारी वस्तुओं को सहज ही छोड़ देता है। विष को जिस प्रकार सभी प्राणी सहज ही छोड़ देते है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि विषय-भोग की सामग्री को अहितकर जानकर छोड़ देते है। विषयो को छोड़ने से नियम से भीतर पड़ा हुआ कषाय का संस्कार शिथिल हो जाता है। 'पद्मनंदी पञ्चविंशतिका'[4] मे तो एक स्थान पर यह उल्लेख किया है कि अतिथि के दर्शन से जो अहोभाव होता है, उसके निमित्त से मोह का बन्धन ढीला पड़ जाता है। सद्पात्र को दान देकर वह निरन्तर अपने मोह को कम करने मे लगा रहता है।

दान के माध्यम से 'स्व' और 'पर' के अनुग्रह मे विशेषता यह है कि 'पर' यानी दूसरा तो निमित्त है, उसका अनुग्रह हो भी और नहीं भी हो लेकिन 'स्व' के ऊपर अर्थात् स्वयं

के ऊपर अनुग्रह तो नियम से होता ही है। मान लीजिये, जैसे तालाब में बाँध बना दिया जाता है और पानी जब तेजी से उसमें भरने लगता है तो लोगों को चिंता होने लगती है कि कहीं पानी के वेग से बाँध टूट न जाये, क्योंकि संग्रहीत हुए पानी की शक्ति अपेक्षाकृत बढ़ जाती है। जो बाँध बनाते है वे लोगों को समझा देते हैं कि हमने पहले से ही व्यवस्था बना रखी है। घबराने की कोई बात नहीं है। हमारे पूर्वजों ने पहले ही हमें शिक्षा दे रखी है कि कहीं प्रवेश करो तो बाहर आने का रास्ता पहले ही देख लेना चाहिये, नहीं तो भीतर जाकर अभिमन्यु की तरह स्थिति हो सकती है।

तालाब को बाँधते समय ही पानी के निकालने की व्यवस्था कर दी जाती है। मोरी (गेट) बना देते हैं तब पानी अधिक होने पर उससे अपने आप बाहर निकलने लगता है। आपको 'जयपुर' की घटना याद होगी। कैसी भयानक स्थिति बन गयी थी ? राजस्थान में हमेशा पानी की कमी रहती है पर उस समय ऐसी वर्षा हुई कि लगातार दो दिन तक पानी ही पानी हो गया और भारी क्षति हुई। कारण यही था कि पानी तो आता गया लेकिन निकलने का मार्ग नहीं था। आप समझ गये होंगे कि संग्रह ही संग्रह करते जायेंगे तो क्या स्थिति बनेगी ? परिग्रह की सीमा होनी चाहिये। दान करने की आवश्यकता उसी परिग्रह को सीमित बनाये रखने के लिए है।

आप यहाँ तीर्थ क्षेत्र पर बैठे है। सुबह से शाम तक धर्मध्यान चल रहा है। यहाँ पर किसी प्रकार की द्विविधा नहीं है। सभी रागद्वेष से बचकर वीतराग धर्म की उपासना मे लगे है। यही यदि आप किसी बड़े शहर मे करना चाहते तो दुनिया भर की परेशानियाँ आतीं। नगर पालिका से या और लोगो से जगह के लिए स्वीकृति (परमीशन) की आवश्यकता पड़ती। वहाँ शोरगुल के बीच धर्मध्यान करना सम्भव नहीं हो पाता लेकिन यहाँ इस तरह की कोई बात नहीं है। यहाँ बन्धन नहीं है। यहाँ तो धर्मध्यान के द्वारा असख्यात गुणी निर्जरा ही हो रही है। तीर्थक्षेत्र का यही प्रभाव है, या कहिये श्रावक के चार धर्मो –'दाणं-पूजा-सीलमुववासो सावयाण चउव्वियो धम्मो'[5]-दान, पूजा, शील और उपवास मे से विशिष्ट दान का सुफल है।

महापुराण मे आचार्य जिनसेन लिखते है कि भूदान, ग्रामदान, आवासदान, यह सभी दान अभयदान के अन्तर्गत आते है। 'पाड़ाशाह' ने यहाँ मन्दिर का निर्माण कराया। शान्तिनाथ भगवान की मनोज्ञ विशाल प्रतिमा जी की स्थापना करायी, जिससे आज तक लाखों लोग यहाँ पर आकर दर्शन-वंदन का लाभ ले रहे है। अभिषेक और पूजन करके अपने पापों का विमोचन कर रहे हैं। वीतराग-छवि के माध्यम से वीतरागता का पाठ सीख रहे हैं। पूर्व में कैसे-कैसे उदार-दाता थे, यह बात इन तीर्थों को देखकर आज सहज ही समझ सकते है। त्याग हमारा परम धर्म है। कितनी अच्छी पङ्क्तियाँ कवि दौलतराम जी ने लिखी है –

'यह राग आग दहै सदा तातै समामृत सेइये।
चिर भजे विषयकषाय अब तो त्याग निजपद वेइये॥'[6]

संसारी प्राणी अपने जीवन के बारे में न जाने कितने तरह के कार्यक्रम बनाता है, पर अहित के कारणभूत रागद्वेष-भाव को त्याग करने का कोई कार्यक्रम नहीं बनाता। बन्धुओं! विषय-कषाय का त्याग ही उस संसार के भीषण दुःखों से बचने का एकमात्र उपाय है।

''इमि जानि, आलस हानि, साहस ठानि, यह सिख़ आदरौ।
जबलौ न रोग जस गहै तबलौं झटिति निज हित करो।''[7]

कितनी भीतरी बात कही है तथा कितनी करुणा से भरकर कही गयी है कि संसार की वास्तविकता को जानकर अब आलस मत करो, साहस करके इस शिक्षा को ग्रहण करो कि जब तक शरीर नीरोग है, बुढ़ापा नहीं आया तब तक जल्दी-जल्दी अपने हित की बात कर लो। भविष्य के भरोसे बैठना ठीक नहीं है। भविष्य का कोई भरोसा भी नहीं है। अगले क्षण क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। बाढ़ आती है और देखते-देखते लोग सँभल भी नही पाते और सब बाढ़ में बह जाते हैं। भूकम्प आते है और क्षण भर में हजारो की संख्या में जनता मारी जाती है। बन्धुओ! मृत्यु के आने पर कौन कहाँ चला जाता है पता भी नही लगता। सारी की सारी सम्पदा यहीं की यहीं धरा पर धरी रह जाती है। नाम-पता सब यही पर पड़ा रह जाता है। इस बीच यदि कोई अपने मन में त्याग का संङ्कल्प कर लेता है तो उसके आगामी जीवन में सुख-शान्ति की सम्भावना बढ़ जाती है।

जीवन्धर कुमार और उनके पिता राजा सत्यन्धर की कथा बहुत रोचक है। प्रेरणास्पद भ्री है। जीवन्धर के पिता जीवन्धर के जन्म से पहले विलासिता में इतने डूबे रहते थे कि राज्य का काम-काज कैसा चल रहा है, ध्यान ही नहीं रख पाते थे। मन्त्री ने सोचा अच्छी सन्धि (अवसर) है। उसने भीतर से भीतर राज्य हड़पने की योजना बना ली और किसी को कुछ पता ही नहीं चला। जब मालूम पड़ा तो राजा सत्यन्धर सोच में पड़ गये कि अब क्या किया जाए? जीवन्धर की माँ गर्भवती थी और जीवन्धर कुमार गर्भ में थे। वश का संरक्षण करना आवश्यक है, इसलिए पहले जल्दी-जल्दी उनको केकी (मयूर) यन्त्र चालित विमान में बिठाकर दूर भेज दिया और स्वयं युद्ध की तैयारी में लग गये। अपने ही मन्त्री काष्ठांगार से युद्ध करते-करते राजा सत्यन्धर के जीवन का अन्त समय जब निकट आ गया तो वे विचार मग्न हो गये –

'सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं, संसारकान्तारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्षमाणो, निलीयसे त्व परमात्मतत्वे॥'[8]

पहले राजा लोग बड़े सजग होते थे। पुत्र रत्न की प्राप्ति होते ही घर द्वार छोड़कर तपस्या के लिए वन में जाकर दीक्षा धारण कर लेते थे। यदि आकस्मिक मृत्यु का अवसर आ जाता तो तत्काल सब छोड़कर आत्म-कल्याण के लिए सङ्कल्पित हो जाते थे। यही राजा सत्यन्धर ने किया। वे रणाङ्गन में ही दीक्षित होकर सद्गति को प्राप्त हुए। त्याग जीवन का अलङ्कार

है, क्योंकि गृहस्थावस्था में भले ही राग भाव से विभिन्न प्रकार के अलङ्कार धारण किये जाते हैं लेकिन मुनि आश्रम में त्याग भाव ही अलङ्कार है।

पहले श्रावक होते हुए भी पण्डित वर्ग में त्याग की भावना कूट-कूट कर भरी थी। पं० दौलतराम जी के बारे में कहा जाता है कि वे छोटा सा वस्त्रों की रँगाई का काम करते थे। लेकिन 'छहढाला' का निर्माण किया, जिसे पढ़ने पर स्वतः ही मालूम पड़ जाता है कि कैसी भीतरी त्याग की भावना रही होंगी। 'कब मिल हैं वे मुनिराज' जैसी भजन की पंक्तियाँ लिखीं मिलती हैं, क्योंकि उस समय उनको मुनिदर्शन का अभाव खटकता होगा। शास्त्र में जैसे त्याग तपस्या के उदाहरण लिखे हैं उनको पढ़कर वे गद्‌गद् हो जाते थे और उसी की ओर अग्रसर होने की भावना रखते थे। तभी तो भजन के माध्यम से उन्होंने ऐसे भाव व्यक्त किये।

एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि त्याग की साक्षात् जीवित मूर्ति के समागम के बिना त्याग के मार्ग मे अग्रसर होना सम्भव नहीं है। जैसे कहा जाता है कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रङ्ग बदलता है अर्थात् पकने लगता है, ऐसे ही त्यागी-व्रती को देखकर त्याग के भाव सहज ही जागृत हो जाते है। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च[९]–बन्ध होते समय दो अधिक शक्त्यंश वाला, दो हीन शक्त्यश वाले का परिणमन कराने वाला होता है। कोई त्यागी ऐसा अद्‌भुत् त्याग कर देता है कि जिसे देखकर रागी के मन में भी त्याग भाव आ जाता है। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि त्याग स्वाधीन है अर्थात् अपने आधीन है। त्याग की भावना उत्पन्न होना स्वाश्रित है। निमित्त को लेकर उसमे तेजी आ जाती है। इसी अपेक्षा यह बात कही गयी है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है कि–

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता ॥[१०]

सांसारिक सुखो की वाञ्छा व्यर्थ है, क्योंकि सांसारिक सुख सब कर्माधीन हैं। कर्म का उदय कैसे कैसे परिवर्तन लायेगा कहा नही जा सकता। एक ही रात में नदी अपना रास्ता बदल लेती है और सब तहस-नहस हो जाता है। सुन्दर उपवन के स्थान पर रेगिस्तान होने में देर नहीं लगती। चले जा रहे हैं रास्ते में और अचानक जीप पलट गयी। जीवन का अन्त हो गया, तो जीप क्या पलटी वह तो भीतरी कर्म ही पलट गया। यही तो कर्माधीन होना है। सांसारिक सुखों की आकाङ्क्षा दुःख लेकर आती है, और दु.ख का बीज छोड़कर जाती है। ऐसे सासारिक सुखो में निकाङ्क्षित सम्यग्दृष्टि आस्था नहीं रखता। सम्यग्दृष्टि तो अर्थ (सम्पत्ति) मे नहीं परमार्थ में आस्था रखता है।

जैसे सांसारिक मामलो में सही व्यापारी वही माना जाता है, जो अपने व्यापार में दिन-दूनी रात-चौगुनी वृद्धि करता है और अर्थ के माध्यम से अर्थ कमाता है। ऐसे ही परमार्थ के क्षेत्र में परमार्थ का विकास परमार्थ के माध्यम से होता है अर्थात् अर्थ के त्याग के माध्यम

से होता है। जितना-जितना आप अर्थ के बोझ से मुक्त होंगे, अर्थ का त्याग करते जायेंगे उतना-उतना परमार्थ भाव के द्वारा ऊपर उठते जायेंगे। परमार्थ भाव से दिया गया दान अकेले बन्ध का कारण नहीं है, वह परम्परा से मुक्ति में भी सहायक बनता है। वह यहाँ भी सुखी बनाता है और जहाँ भी जाना हो, वहाँ भी सुख की ओर अग्रसर कराने वाला होता है।

यहाँ प्रसङ्गवश कहना चाहूँगा कि 'दौलत' का अर्थ निकालें तो ऐसा भी निकल सकता है कि जो आते समय व्यक्ति के सामने सीने पर लात से आघात करती है तो अहङ्कारवश व्यक्ति का सीना फूल जाता है। वह अकड़कर चलने लगता है। लेकिन वही दौलत जाते समय मानों अपनी दूसरी लात व्यक्ति की पीठ पर मारकर चली जाती है और व्यक्ति की कमर झुक जाती है। वह मुख ऊपर उठाकर नही चल पाता। यही दौलत की सौबत का परिणाम है। ज्ञानी वही है, जा वर्तमान में मिलने वाली विषय भोगों की सामग्री (धन-सम्पदा आदि) के प्रति हेय-बुद्धि रखता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार जी में कहा है कि-

उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धिए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी ।।"

ज्ञानी के सदा ही वर्तमान काल के कर्मोदय का भोग, वियोग बुद्धि अर्थात् हेय बुद्धि से होता है और ज्ञानी भावी भोगों की आकाङ्क्षा भी नही करता।

दान इत्यादि के प्रति ज्ञानी की हेय बुद्धि नही होती। पूजा, अभिषेक के प्रति भी हेय बुद्धि नहीं होती। अपने षट्-आवश्यको के प्रति भी हेय-बुद्धि नही होती, मात्र विषयभोगो के प्रति हेयबुद्धि आ जाती है। दान आदि के माध्यम से जो पुण्य का अर्जन होता है उसके प्रति भी हेयबुद्धि नहीं होती, किन्तु पुण्य के फलस्वरूप मिलने वाली सासारिक सामग्री के प्रति उसकी हेय बुद्धि अवश्य होती है। सम्यग्दृष्टि जैसे-जैसे भोगो का त्याग करता जाता है वैसे-वैसे ही उसे भोग सामग्री और अधिक प्राप्त होने लगती है लेकिन वह उसे त्याज्य ही मानता है और ग्रहण नहीं करता।

भगवान अभिनिष्क्रमण करते है, राजपाट और राजभवन के समस्त वैभवों का त्याग कर देते हैं और दीक्षा ले लेते हैं। तब राज्य के सभी जन उनकी सेवा के लिए साथ चलने को तत्पर हो जाते हैं। इन्द्र सेवा मे आकर खड़ा हो जाता है लेकिन भगवान किसी की ओर आँख उठाकर भी नही देखते। वे अपनी आत्मा की खोज में वन की ओर गमन कर देते हैं और भीतर ही भीतर आत्मध्यान में लीन होते जाते हैं। उपसर्ग आने पर भी प्रतिकार करने के लिए बाहर नहीं आते और न ही किसी की अपेक्षा रखते है। तब जाकर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है, और अभी इतना ही नहीं समवशरण की रचना होने लगती है। तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ समझी जाने वाली दैवीय सम्पदा समवशरण की रचना में लगायी जाती है। लेकिन भगवान ...... भगवान तो उस विशाल समवशरण के एक कण को भी नहीं छूते, वे तो कमलासन पर भी चार अङ्गुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान रहते है। यही हमारे वीतराग भगवान की पहचान है।

संसारी प्राणी जिस सम्पदा के पीछे दिन-रात भाग दौड़ कर रहा है वही सम्पदा भगवान के पीछे आकृष्ट हो रही है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा कर रही है। तभी तो केवलज्ञान के उपरान्त भी उनके नीचे, आगे-पीछे सब तरफ समवशरण के रूप में सम्पदा बिछी हुई है। अन्त में जब भगवान योग-निग्रह अर्थात् मन-वचन-काय की सूक्ष्म क्रियाओं का भी निरोध करने चल देते है तो समवशरण की वह सम्पदा भी पीछे छूट जाती है। यह त्याग की अन्तिम परम घड़ी है। इसके उपरान्त ही उन्हें मुक्ति का लाभ मिल जाता है।

बन्धुओं! आज तक त्याग के बिना किसी को मुक्ति नहीं मिली और मिलना भी सम्भव नहीं है। जब भी मुक्ति मिलेगी, त्यागपूर्वक ही मिलेगी। सोचो, सुमेरु पर्वत और सौधर्म स्वर्ग के प्रथम पटल के बीच बाल मात्र का अन्तर होते हुए भी कोई विद्याधर चाहे कि स्वर्ग के विमानों में चला जाऊँ तो छलाँग मारकर जा नहीं सकता। यही बात मुक्ति के विषय में है कि कोई बिना त्याग के यूँ ही छलाँग लगाकर सिद्ध शिला पर पहुँचना चाहे और सिद्धत्व का अनुभव करना चाहे तो नही कर सकता। त्याग के बिना यह सम्भव ही नही है।

ध्यान रखना, त्याग के द्वारा जो अतिशय-पुण्य का सञ्चय सम्यग्दृष्टि को होता है, वह पुण्य का सञ्चय मोक्षमार्ग मे कभी भी बाधक नहीं बन सकता। पुण्य के फल में राग भाव होना बाधक बने तो बन सकता है। क्योंकि पुण्य के फल में हर्ष-विषाद की सम्भावना होती है। पूज्यपाद स्वामी ने पुण्य की परिभाषा कही है कि पुनाति आत्मानं पूयतेऽनेन इति वा पुण्यम्[12] जो आत्मा को पवित्र बना दे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र होता है वह 'पुण्य' है। घातिया-कर्मों के क्षय करने के लिए यही सातिशय पुण्य आवश्यक है। तभी केवलज्ञान की प्राप्ति करके आत्मा स्व-पर प्रकाशक होकर पवित्र होती है।

इस तरह का पुण्य चाहने से नहीं मिलता। पुण्य के फल के प्रति निरीहता आने पर अपने आप मिलता है। जैसे किसी व्यक्ति का पैर फिसल जाए और वह कीचड़ में गिर जाये तो सारा शरीर कीचड़ से लथपथ हो जाता है, तब उस कीचड़ से मुक्त होने के लिए उसे जल की आवश्यकता महसूस होती है। जल उस कीचड़ को साफ करके स्वयं भी शरीर के ऊपर अधिक नहीं टिकता। जो दो चार बूंदे रह भी जाती हैं वे मोती के समान चमकती रहती हैं और कुछ देर में वे भी समाप्त हो जाती है। यही स्थिति पुण्य की है। पाप-पङ्क से मुक्त होने के लिए पुण्य के पवित्र जल की आवश्यकता पड़ती है। जो त्याग के फलस्वरूप स्वतः मिलता जाता है।

भगवान की भक्ति पाप के क्षय में तो निमित्त है ही, साथ ही साथ कर्तव्य-बुद्धि से की जाने पर पुण्य के सञ्चय में भी कारण बनती है। उसे तात्कालिक उपादेय मानकर करते जाइये तो वह भी मोक्षमार्ग में साधक है। केवल शुद्धोपयोग से ही संवर होता है या निर्जरा होती है, ऐसी धारणा नही बनानी चाहिये। शुभोपयोग को भी आचार्यों ने संवर और निर्जरा का कारण कहा है। उसे भी परम्परा से मुक्ति का कारण आचार्यों ने माना है। इसलिए दान और त्यागादि शुभ क्रियाओं के द्वारा केवल पुण्य बन्ध ही होता है, ऐसा एकान्त नहीं है।

इन शुभ-क्रियाओं द्वारा और शुभ भावों के द्वारा संवरपूर्वक असंख्यात गुणी निर्जरा संयमी व्यक्ति को निरन्तर होती है। व्रत के माध्यम से, भक्ति और स्तुति के माध्यम से तथा षडावश्यक

क्रियाओं के माध्यम से संयमी व्यक्ति संवर और निर्जरा दोनों ही करता है, तभी दानादि क्रियाएं पर के साथ-साथ स्व का अनुग्रह करने वाली कही गयीं हैं।

एक उदाहरण याद आ गया। युधिष्ठिर जी पाडवों में सबसे बड़े थे। दानवीर माने जाते थे। एक बार एक याचक ने आकर उनसे दान की याचना की। वे किसी कार्य मे व्यस्त थे तो कह दिया कि थोड़ी देर बाद आना या कल ले जाना। भीम जी को जब मालूम पड़ा तो वे आये और बोले भइया! ये भी कोई बात हुई। क्या आपने मृत्यु को जीत लिया है? क्या अगले क्षण का आपको भरोसा है कि बचेंगे ही? अभी दे दो। अन्यथा विचार बदलने में भी देर नही लगती। बन्धुओ! त्याग का भाव आते-आते भी राग का भाव आ सकता है क्योंकि राग का सस्कार अनादिकाल का है, इसलिये 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली बात होना चाहिये। ताकि त्याग का संस्कार आगे के लिए भी दृढ़ होता जाये।

राग के द्वारा ससार के बन्धन का विकास होता है तो वीतराग भावों के द्वारा ससार से मुक्त होने के मार्ग का विकास होता है। जो वीतराग बने है, जिन्होने उत्तम त्यागधर्म को अपनाया है, उनके प्रति हमारा हार्दिक अनुराग बना रहे। उनकी भक्ति, स्तुति और उनका नाम स्मरण होता रहे, यही एकमात्र संसार से बचने का सरलतम उपाय है, प्रशस्त मार्ग है।

त्यागधर्म –

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १६७
२ सर्वार्थसिद्धि ७/३८/७२६/२८९/७
३. दौलतराम कृत-जिनेन्द्रस्तुति
४. पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका-श्लोक ५/पृ० ११३ (द्वितीय अध्याय)
कान्तात्मजद्रविण मुख्यपदार्थसार्थ–
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्
दान पर परमसात्त्विकभावयुक्तम्॥
५ कसायपाहुड भाग १/८२/१००-दाण पूजासीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो
६. छहढाला (छठवीं ढाल १५)
७ छहढाला (छठवी ढाल १४)
८ अमितगति आचार्य कृत सामायिक-भावना-द्वात्रिंशतिका-१९
९ तत्त्वार्थसूत्र ५/३७
१० रत्नकरण्डक श्रावकाचार-१२
११. समयसार-२२८
१२. सर्वार्थसिद्धि ६/३/६१४/२४५/१२

उत्तम-आकिञ्चन्य

□ *होऊण य णिस्संगो,*
णियभाव णिग्गहित्तु सुहदुहदं ।।
णिद्दंदेण दु वट्टदि,
अणयारो तस्स किंचण्हं ।।

जो मुनि सर्व प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दुःख के देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोककर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसके आकिञ्चन्य धर्म होता है । (७९)

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥[1]

आदि तीर्थंकर भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं कि जिन्होंने सागर तक फैली हुई वसुन्धरा को, अपने समस्त राजवैभव को और यशस्वती और सुनन्दा जैसी वधुओं (पत्नियों) को छोड़ दिया और मुमुक्षु बनकर एकाकी वन में विचरण करने का सङ्कल्प ले लिया, संन्यासी हो गये, प्रव्रज्या को अङ्गीकार कर लिया; ऐसे आत्मवान् भगवान इक्ष्वाकु-वंश के प्रमुख थे। आपका धैर्य सराहनीय था। आप सहिष्णु थे तथा अपने मार्ग से कभी विचलित नहीं हुए।

तीर्थङ्कर का यह एक और नियम होता है कि दीक्षा के उपरान्त जब तक केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो जाती तब तक वे किसी से बोलते नहीं हैं। मौन-साधना में ही उनका काल व्यतीत होता है। आदिनाथ भगवान का काल भी ऐसा ही आत्म-साधना मे एकाकी मौन रहकर बीता। एकाकी होकर मुक्ति के मार्ग पर चलना, यही सही प्रव्रज्या है।

इसी बीच कुछ दिनों के बाद कहते हैं कि नमि और विनमि जो उनके पौत्र थे, वे आये और प्रार्थना करने लगे कि हे पितामह! हमें आपने कुछ नहीं दिया। हम तो कुछ भी पाने से वञ्चित रह गये। हमें भी कुछ दीजियेगा। हमें भी कुछ कहियेगा। जब बहुत देर तक कोई उत्तर नहीं मिला तो सोचा कि ये अपने ध्यान में होंगे अतः एकदम बार-बार पूछना ठीक नहीं है और अभी जब ध्यान से उठेंगें तो पूछ लेंगे। ऐसा सोचकर वे वहीं बैठ गये और सङ्कल्प कर लिया कि कुछ लेकर ही उठेंगे। लेकिन भगवान तो भगवान हैं। वे ध्यान में लीन रहे, कुछ नहीं बोले और कोई सङ्केत भी नहीं किया। समय बीतता गया। वे दोनों पौत्र भी वहीं बैठे रहे।

कहते हैं कि इन्द्र देव का सिंहासन हिल गया। वह आया और सारी बात समझकर बोला सुनो कुमार! आप देर से आये। भगवान तो ध्यानस्थ हो गये हैं। अब वे बोलेंगे भी नहीं, पर दीक्षा लेने से पहले वे हमसे कह गये है कि तुम दोनो के आने पर कह देना कि भगवान तुम्हें विजयार्ध का राज्य दे गये हैं। ऐसा इन्द्र ने उन्हें समझा दिया। जैसे आप लोग बोल देते हैं चौके में आकर कि महाराज! हम तो इतईं के आयें। बात जम गयी और दोंनो ने सोचा कि भगवान की आज्ञा शिरोधार्य करना चाहिये और वे उठकर विजयार्ध की श्रेणी में पहुँच गये। इन्द्र ने सोचा चलो अच्छा हुआ, अन्यथा भगवान की तपस्या मे विघ्न हो जाता। हमने विघ्न नहीं आने दिया।

लेकिन भगवान तो इस सबसे बेखबर अपने ध्यान मे लीन थे। एकत्व-भावना चल रही थी। कोई भी चला आवे, मन में बोलने का भाव नहीं आया। यहाँ जब किञ्चित् भी मेरा नहीं है तो किसी से क्या कुछ कहना। यही है उत्तम-आकिञ्चन्य भावना

'आप अकेलो अवतरै मरै अकेलो होय ।
यूँ कबहूँ इस जीव को साथी सगा न कोय' ॥[2]

अकेले उत्पन्न हुए और अकेले ही मर जाना है। यदि तरना चाहें तो अकेले ही तरना भी है। अकेले होने की बात और मरने की बात ये दोनों बातें संसारी प्राणी को नहीं रुचतीं।

एक व्यक्ति ज्योतिषी के पास गया और पूछा कि मेरी उम्र कितनी है बताइये? ज्योतिषी ने हाथ देखकर कहा कि क्या बतायें आपकी उम्र तो इतनी लम्बी है कि आपके सामने देखते-देखते आपके परिवार के सभी सदस्य मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे। सुनकर वह व्यक्ति बड़ा नाराज हुआ कहने लगा कि कैसा बोलते हो? और बिना पैसे दिये ही चला आया। पुनः वही दूसरे ज्योतिषी के पास पहुँचा और सारी बात बताकर पूछा कि मेरी उम्र– ठीक-ठीक बताइये, कितनी है? दूसरा ज्योतिषी समझ गया कि सत्य को यह सीधे सुनना नहीं चाहता। इसलिए उसने कहा कि भाई! आपकी उम्र बहुत लम्बी है। आपके घर में ऐसी लम्बी उम्र और किसी को नहीं मिली है, वह व्यक्ति सुनते ही बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे पैसे देकर खुशी-खुशी घर लौट आया।

बन्धुओ! ऐसी ही दशा प्रत्येक संसारी प्राणी की है। वह एकाकी होने से डरता है। वह मरण के नाम से डरता है। लेकिन अनन्तकाल से इस संसार में अकेला ही आ-जा रहा है। अकेला ही जनम-मरण कर रहा है। आचार्य शुभचन्द्र जी हुए है जो ध्यान के महावेत्ता और ध्याता भी थे। उन्होंने अपनी ध्यान की अनुभूतियों को लिखते हुए ज्ञानार्णव में कहा है कि पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर में ममत्व-बुद्धि को छोड़कर साधक को ऐसी धारणा बनाना चाहिये कि मैं अकेला हूँ, नित्य हूँ, अवस्थित हूँ और अरूपी हूँ। 'नित्य' इसलिए क्योंकि आत्मा कभी मिटने वाली नहीं है। 'अवस्थित' का अर्थ है अस्तित्व कभी घटेगा-बढ़ेगा नहीं। एक रूप ही रहेगा और रूप भी वैसा कि अरूपी स्वरूप रहेगा। ऐसी धारणा बनाने वाला तथा आकिञ्चन भाव को भाने वाला ही ध्यान के द्वारा मुक्ति पा सकता है।

मन में विचार उठ सकता है कि जब पूरा का पूरा परिग्रह छोड़ दिया, उसका त्याग हो गया एवं अकेले रह गए, तो क्या सोचना चाहिये तथा क्या धारणा बनाना चाहिये? तो कहा गया है कि अग्नि-धारणा, वायु-धारणा और जल-धारणा के माध्यम से ध्यान करना चाहिये। अग्नि-धारणा के माध्यम से कर्मों का ईन्धन जल गया है। वायु उसे उड़ा ले गयी है और जल की वृष्टि होने से साराा का सारा वातावरण स्वच्छ हो गया है। आत्मा विशुद्ध हो गयी है। कुछ भी उस पर शेष नही रह गया है। एक अकेली आतमा का साक्षात् अनुभव हो रहा है।

एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥[1]

मैं एक अकेला शाश्वत आत्मा हूँ, जानना-देखना मेरा स्वभाव है; शेष जो भी भाव हैं वे सब बाहरी हैं तथा संयोग से उत्पन्न हुए है।

एक सेठ जी थे। किसी ने मुझे सुनाया था कि वे बड़े अभिमानी थे। उन्होंने दस-बारह खण्ड के भवन का निर्माण कराया। एक बार कोई एक साधु जी उनके यहाँ आये। अतिथि की तरह उनका स्वागत हुआ और भोजन के उपरान्त सेठ जी बड़े चाव से उन्हें साथ लेकर पूरा का पूरा भवन दिखाने लगे और अन्त में दरवाजा आया तो सभी बाहर निकल आये। साधु जी के मुख से अचानक निकल गया कि एक दिन सभी दरवाजे के बाहर निकाल दिये जाते हैं, तुम भी निकाल दिये जाओगे। सेठ जी हतप्रभ खड़े रह गये। साधु जी चले गये। सेठ जी अकेले खड़े-खड़े सोचते रहे कि क्या मुझे भी एक दिन बाहर निकल जाना होगा? भइया! स्वर्ण की नगरी लङ्का नही रही, रावण नहीं रहा, अयोध्या का वैभव नहीं रहा। कृष्ण जी नारायण थे लेकिन उनका भी अवसान हुआ सो वह भी जङ्गल में। दुनिया में सैकड़ों आये और चले गये। ऐसे ही सभी को अकेले-अकेले ही यहाँ से चले जाना होता है।

चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त विजयार्ध पर्वत के उस ओर वृषभगिरि के ऊपर अपनी विजय की प्रशस्ति और अपना नाम लिखने जाते है तब वहाँ पहुँचकर मालूम पड़ता है कि हमसे पहले सैकड़ों चक्रवर्ती हो चुके हैं। पूरे पर्वत पर कोई स्थान खली नहीं मिलता जहाँ अपना नाम लिखा जा सके। यह ससार ऐसा ही है। अनादि काल से यह चल रहा है। 'जीव अरु पुद्गल नाचै यामैं कर्म उपाधि है'[४] इस रहस्य को समझना होगा। इसकी कथा इतनी लम्बी-चौड़ी है कि तीर्थंकर भगवान ही केवलज्ञान से विभूषित होकर इसे जान सकते हैं। इस रहस्य को थोड़ा बहुत जानकर के अपने आपको अकेला समझने का प्रयास करना चाहिये।

संसार एक ऐसा स्वप्न है जो सत्य सा मालूम पड़ता है। जैसे कोई व्यक्ति नाटक मे कोई भी वेश धारण करता है तो उसी रूप में अपने को मानने लगता है और खुश होता है। कभी-कभी वह नाना वेश बदल-बदल कर लोगो के सामने आता है तब अपने वास्तविक रूप को उस क्षण पहचान नहीं पाता। ऐसे ही संसारी प्राणी संसार मे सारे वेषो से रहित होकर अकेले अपने रूप का अनुभव नही कर पाता। स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने वाला कोई बिरला ही अपने इस आकिञ्चन्य भाव का अनुभव कर पाता है।

घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥[५]

देवागम स्तोत्र मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी आप्त की मीमासा करते हुए अन्त में अध्यात्म की ओर ले जाते है। शान्ति आत्मा के भीतर जाने में ही है। बाह्य परिधि मे चक्कर लगाते रहने से शान्ति नही मिलती। स्वर्ण की विभिन्न पर्यायों की अपेक्षा जो देखता है वह पर्याय में हर्ष या विषाद को प्राप्त होता है। एक को स्वर्ण के कुम्भ की आवश्यकता थी और दूसरे को स्वर्ण के मुकुट की आवश्यकता थी। मान लीजिये अभी स्वर्ण, कुम्भ के रूप में था और

अब सुनार ने उसे मिटाकर मुकुट का रूप धारण करा दिया तो कुम्भ या घड़ा जिसे चाहिये था वह रोने लगा कि मेरा कुम्भ फूट गया। जिसे मुकुट चाहिये था वह हँसने लगा कि मुझे मुकुट मिल गया। किन्तु जिसे स्वर्ण की आवश्यकता थी वह दोनों ही स्थितियों में न हँसा न रोया, क्योंकि उसे जो स्वर्ण चाहिये था वह तो मुकुट हो या कुम्भ हो, दोनों में विद्यमान था। यही तो स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने का फल है।

हमें विचार करना चाहिये,कि बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है/सो मै नहीं हूँ/और वह/मेरा भी नहीं है/ये आँखें मुझे (आत्मा) को/देख नहीं सकतीं/मेरे पास देखने की शक्ति है....[1] इन आँखों से केवल बाहरी वातावरण ही देखने में आता है। जो इन आँखों से देख रहा है वह नहीं दिख पाता। उसे ये आँखें देख नहीं पातीं। देख भी नहीं सकतीं। तब फिर जो दिखाई पड़ रहा है आँखों से, वह मै कैसे हो सकता हूँ और वह मेरा कैसे हो सकता है ?

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदा रूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्ण परमाणुमित्त पि ॥[2]

मै अकेला हूँ। शुद्ध हूँ। आतमरूप हूँ। मैं ज्ञानवान् और दर्शनवान् हूँ। मैं रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूप नहीं हूँ। सदा अरूपी हूँ। कोई भी अन्य परद्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। इस प्रकार की भावना जिसके हृदय घर में हमेशा भरी रहती है, ध्यान रखना उसका संसार का तट बिल्कुल निकट आ चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस भावना को निरन्तर भाते रहने से ही हमें वैराग्य आ सकता है। इस भावना के द्वारा ही हमारे भीतर के कर्म के बन्धन छूट सकते है। संसार में कर्तृत्व बुद्धि और भोक्तृत्व बुद्धि, स्वामित्व बुद्धि इन तीनों प्रकार की बुद्धियों के द्वारा ही संसारी प्राणी की बुद्धि समाप्त हो गयी है। वह बुद्धिमान होकर भी बुद्धू जैसा व्यवहार कर रहा है। अनन्तों बार जन्म-मरण की घटना घट चुकी है और अनन्तों बार जन्म-मरण के समय एकाकी ही इस जीव ने अपनी संसार की यात्रा की है। आज अपने को समझदार मानने वाला भी मझधार में ही है।

थोड़ा विचार करे तो ज्ञात होगा कि कितनी पर्यायें, कितनी बार हमने धारण कीं और कितनों का संयोग-वियोग हमारे जीवन में हुआ है। जिसके वियोग में यहाँ पर हम रोते हैं वह मरण के उपरान्त एक समय में ही अन्यत्र कहीं पहुँचकर जन्म ले लेता है और वहीं रम जाता है। विष्ठा का कीड़ा विष्ठा मे राजी वाली बात है। उसके वियोग में हमारा रोना अज्ञानता ही है। आचार्य कहते हैं कि यह सब पराये को अपना मानने का तथा पर-पदार्थों मे एकत्व-बुद्धि रखने का ही परिणाम है। पर के साथ एकत्व बुद्धि छोड़ना ही एक मात्र पुरुषार्थ है। छोड़ते समय जिसे ज्ञान और विवेक जागृत हो जाता है उसी की आँख खुल गयी है, ऐसा समझना चाहिये।

दुनिया के सारे सम्बन्धों के बीच भी मैं अकेला हूँ, यही भाव बना रहना आकिञ्चन्य धर्म का सूचक है। 'सागर' में एक बार बोली लग रही थी तब एक बोली तेरा सौ एक रूपये में गयी। हमने तो यही विचार किया कि अच्छा रहस्य खुल गया 'तेरा सो एक' अर्थात् हमारा यदि कुछ है तो वह हमारा यही एकाकी भाव है। इस संसार में किसी का कोई साथी-सगा नहीं है।

आप अकेलो अवतरै, मरे अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय ॥[६]

बन्धुओं ! समझ लो एवं सोच लो। यह जो ऊपर पर्याय दिख रही है, यह वास्तव मे हमारी नहीं है। हम इसी के लिए निरन्तर अपना मानकर परिश्रम कर रहे हैं, और दुःख उठा रहे हैं। विवेक के माध्यम से इस पर्याय को अपने से पृथक मानकर के यदि इस जीवन को चलाया जाये, जो जीवन आज दुःखमय बना है वही आनन्दमय हो जाएगा। जिसकी तत्त्व पर दृष्टि चली जाती है वह फिर पर्याय को अपना आत्म-तत्व नहीं मानता और न ही पर्याय में होने वाले सुख-दुःख को भी अपना मानता है। यही आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसके अभाव मे ही जीव संसार में कहाँ-कहाँ भटकता रहता है और निरन्तर दुःखी होता है।

हमारी इस प्रवृत्ति को देखकर आचार्यों को करुणा आ जाती है। 'कहें सीख गुरु करुणा धारि'[९] वे करुणा करके हमें उपदेश देते हैं, शिक्षा देते है कि पाँच मिनिट के लिए ही सही लेकिन अपनी ओर, अपने आत्म-तत्त्व की ओर दृष्टि उठाकर तो देखो जो कुछ संसार में दिखाई दे रहा है वह सब कर्म का फल है। अज्ञान का फल है। आत्मा के स्वभाव का फल तो जिन्होंने आत्म-स्वभाव को प्राप्त कर लिया है उसके चरणो में जा कर ही जाना जा सकता है। बाहर के जगत् में सिवा दुःख के और कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जगत् में जाकर देखें कि भीतर कैसा खेल चल रहा है। कर्म किस तरह आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करा रहा है।

यह आत्म-दृष्टि पाना एकदम सम्भव नहीं है। यह मात्र पढ़ने या सुनने से नहीं आती। इसे प्राप्त करने के लिए जो रत्नत्रय से युक्त है, जो वीतरागी हैं, जो तिल-तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते, उनके पास जाकर बैठिये। पूछिये भी मत, मात्र पास जाकर बैठिये तो भी अपने आप ज्ञान हो जायेगा कि वास्तव में सुख तो अन्यत्र कहीं नहीं है। सुख तो अपने भीतर एकाकी होने में है। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥[१०]

अर्थात् सम्यग्दर्शन का अन्तरङ्ग हेतु तो दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है लेकिन उसके लिए बहिरङ्ग हेतु तो जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे सूत्र-वचन और उन

सूत्रों के जानकार ज्ञाता–पुरुषो का उपदेश श्रवण है । इसके सिवाय और कोई ऐसा उपाय नहीं है जिसके माध्यम से हम दर्शन मोहनीय या चारित्र मोहनीय को समाप्त कर सकें और अपने आत्म–स्वरूप को प्रकट कर सकें ।

रागद्वेष रूपी रसायन के माध्यम से यदि कर्मो का वन्ध होता है, संसार का निर्माण होता है; तो वीतराग भावरूपी रसायन के माध्यम से सारे के सारे कर्मों का विघटन भी सम्भव है । वीतरागी के चरणों मे जाकर हमे अपने रागभाव को विसर्जित करना होगा, पर पदार्थों के प्रति आसक्ति को छोड़ना होगा तभी एकत्व की अनुभूति हो सकेगी ।

अकेले इच्छा करने मात्र से कोई अकेलेपन को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता । इच्छा मात्र से सुख की प्राप्ति नही होती और न ही मृत्यु से डरते रहने से कोई मृत्यु से बच पाता है । आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो, नित्य शिवम् वाञ्छति नास्य लाभः ।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादी ॥"

देखो यह ससारी प्राणी कितना अज्ञानी है कि मृत्यु से हमेशा डरता है । लेकिन मृत्यु से डरने मात्र से कभी मृत्यु से बचा नही जा सकता और सुख की इच्छा हमेशा रखता है लेकिन सुख की इच्छा मात्र से भी सुखी नहीं हो सकता । फिर भी यह ससारी प्राणी भय और कामवासना के वशीभूत होकर व्यर्थ ही स्वय को पीड़ा में डाल देता है ।

असल मे जब तक यह ज्ञान नही होता कि शरीर मेरा नही है तब तक इस के प्रति रागभाव बना रहता है । यही रागभाव हमारी मुक्ति में बाधक है । इसी के कारण मृत्यु से हम मुक्त नही हो पाते और न ही हमे शिव–सुख की प्राप्ति होती है ।

एक बार यदि यह संसारी प्राणी वीतरागी के चरणो में जाकर अपने को अकेला मानकर उनकी शरण को स्वीकार कर ले और भीतर यह भाव जागृत हो जाये कि 'अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम' एकमात्र वीतरागता के सिवाय, आकिञ्चन्य धर्म के सिवाय मेरे लिए और कोई शरण नही है । शरण यदि संसार में है तो एकमात्र यही है । तब संसार का अभाव होने मे देर नहीं लगेगी ।

राग सहित जग में रुल्यो, मिले सरागी देव ।
वीतराग भेंट्यो अबै मेटो राग कुटेव ॥"

अभी तक संसार मे राग सहित रुलता रहा, भटकता रहा और सरागता को ही अपनाता रहा । रागी व्यक्ति राग को ही खोज लेता है और उसी को अपनाता जाता है । उसी मे शरण या सुरक्षा मान लेता है, उसी को अपना सङ्गी–साथी और हितैषी मानकर संसार मे रुलता रहता है । "अगर मन में ऐसा विचार आ जाये कि संसार मे मै भी सरागता के कारण रुल

रहा हूँ। आज बड़े सौभाग्य से वीतरागता का दर्शन हुआ है। वीतरागी के चरण सान्निध्य का सौभाग्य मिला है। वीतरागी से भेट हो गयी है। अब यही वीतरागता मेरी राग की ओर बार-बार जाने वाली आदत को मिटाने में सहायक होगी, तो कल्याण होने मे देर नही।"

सभी के प्रति रागभाव से मुक्त होकर, एकाकी होकर अपने वीतराग स्वरूप का चिन्तन करना ही आज के आकिञ्चन्य धर्म की उपलब्धि होगी। हमारा क्या है? ऐसा विचार करे तो ज्ञात होगा कि हमारा तो सिद्धत्व है। हमारा तो ज्ञानपना है, दर्शनपना है। हमारा परिवार हम स्वयं ही हैं। हमारे पिता और माता भी हमी है। हमारी सन्तान, पुत्र आदि भी हमीं है। इस संसार में कोई पर पदार्थ हमारा नहीं है और हो भी कैसे सकता है? ऐसा भाव आप बनाते जाइये, एक समय आयेगा कि जब यह ऊपर का दिखाई पड़ने वाला सम्बन्ध मिट जायेगा और अनन्तकाल के लिए हम एकाकी होकर अपने आत्म-आनन्द मे लीनता का अनुभव करेंगे।

आकिञ्चन्य धर्म-

१. स्वयंभूस्तोत्र-३
२. भूधरदास-कृत बारहभावना-४
३ भावपाहुड-५९, नियमसार -१०२
४. मंगतराय-कृत बारहभावना-२१
५ देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा)-५९
६. मूक-माटी (महाकाव्य)-पृ. ३४५
७. समयसार-४३
८. भूधरदास कृत बारहभावना-४
९. छहढाला (पहली ढाल-१)
१०. नियमसार-५३
११. स्वयंभूस्तोत्र-३४
१२. विनयपाठ-१४

उत्तम—ब्रह्मचर्य

- *सव्वग पेच्छतो,*
  इत्थीण तासु मुयदि दुब्भाव ।
  सो बम्हचेरभाव,
  सुक्करि खलु दुद्धरं धरदि ॥

जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सुन्दर अंङ्गो को देखकर भी उनमे रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्य को धारण करना है। (८०)

मनोज और मनोरमा अर्थात् 'कामदेव' और उसकी सखी–साथी 'रति' दोनों घूमने जा रहे थे। कामदेव अपना प्रभुत्व दिखाने के लिए रति से कहता है कि मेरा कितना प्रभाव है कि तीन–लोक को मैंने अपने वश मे करके रखा है और रति भी उसकी हाँ मिलाती जा रही थी कि अचानक सामने बैठे दिगम्बर–मुनि पर दृष्टि पड़ते ही रति ने कामदेव से पूछ लिया, कि हे नाथ! यह यहाँ कौन बैठा है? कामदेव की उस ओर दृष्टि पड़ते ही वह निष्प्रभ हो गया। रति चकित होकर पूछने लगी कि नाथ! क्या बात हो गई? आप अभी तक सतेज थे, अब आपका सारा तेज कहाँ चला गया? मन्दी क्यों आ गयी? तब कामदेव उदास भाव से बोला कि क्या बताऊँ, हमने बहुत प्रयास किया, सभी प्रकार की नीति अपनायी लेकिन यही एक पुरुष ऐसा देखा जिस पर मेरा वश नहीं चला। पता नही इसका मन कैसा है? इसका प्रभुत्व कैसा है इसके ऐसा क्या प्रभाव है कि यह मेरे प्रभाव मे नही आया।

आखिर यह कौन सी शक्ति है जो काम वासना को भी अपने वश मे कर लेती है। बड़े–बड़े पहलवान कहलाने वाले भी जिस काम वासना के आगे घुटने टेक देते है, वही काम इस व्यक्ति की शक्ति के सामने घुटने टेक रहा है।

अन्तकः कन्दको नृणा, जन्मज्वरसखा सदा।
त्वामन्तकान्तक प्राप्य व्यावृत्तः कामकारत ॥[1]

अरहनाथ भगवान की स्तुति करते हुए समन्तभद्र आचार्य कहते है कि हे भगवन्! पुनर्जन्म और ज्वर आदि व्याधियो का साथी और हमेशा मनुष्यो को रुलाने वाला मृत्यु का देवता यम भी मृत्यु का नाश करने वाले आपको पाकर अपनी प्रवृत्ति ही भूल गया अर्थात् आपके ऊपर यम का कोई प्रभाव नही पड़ रहा है। आपकी इस वीतराग शक्ति के सामने आकर सभी नतमस्तक हो जाते है और अन्त मे रति के साथ कामदेव भी उन वीतरागी के चरणो मे नतमस्तक हो गया।

ठीक भी है।

चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि–
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन
किं मन्दराद्रिशिखर चलित कदाचित् ॥[2]

आचार्य मानतुंग महाराज ने भी वृषभनाथ भगवान की स्तुति करते हुए इस श्लोक मे इस भीतरी आत्म–शक्ति का प्रभाव बताया है। वे कहते हैं कि हे भगवन्! जैसे प्रलय काल के पवन से सामान्य पर्वत भले हीं हिल जाये लेकिन सुमेरु पर्वत जो पर्वतो का राजा है, शैलेश है, उसका शिखर कभी चलायमान नही हो सकता। अनन्तकाल व्यतीत हो गया लेकिन सुमेरु पर्वत को हिलाया नही जा सका। उसी प्रकार तीन–लोक की सुन्दर से सुन्दर अप्सरायें

भी क्यों न आ जायें, आपके मन को विचलित नहीं कर सकती हैं। राजभवन में सिंहासन पर बैठे राजा वृषभदेव के सामने जब इन्द्र ने नीलाञ्जना को नृत्य के लिए बुलाया था तब वे भले ही उससे प्रभावित होकर नृत्य देखते रहे हों, लेकिन वे ही अप्सराएं पुनः यदि अब भगवान वृषभनाथ के सामने आकर नृत्य के द्वारा उन्हें प्रभावित या विचलित करना चाहें, तो असम्भव है। अब तो उनका मन सुमेरु की तरह अडिग हो गया है। वे ब्रह्मचर्य में लीन हो गये हैं। इस ब्रह्मचर्य की शक्ति के सामने कामदेव भी नतमस्तक हो जाता है।

अपनी आत्मा पर विजय पाने वालों की गौरव-गाथा जितनी गायी जाये, उतनी ही कम है। वे महान् आत्माएँ अपनी आत्मशक्ति का प्रदर्शन नहीं करती, वे तो अपनी शक्ति के माध्यम से अपने आत्मा का दर्शन करती है। एक पंक्ति अंग्रेजी में हमने पढ़ी थी कि You Can Live As you Like आप जैसा रहना चाहे रह सकते है। रागद्वेष और विषय-भोगमय जीवन बनाकर रहना चाहें तो रह सकते है और रागद्वेष तथा विषय-भोग से मुक्त जीवन जीना चाहें तो भी जी सकते है। हमारे चौबीस तीर्थङ्करों मे पाँच तीर्थङ्कर ऐसे भी हुए हैं जिन्होने गृहस्थी तक नही बसायी। वे कुमार अवस्था मे ही दीक्षित होकर तपस्या मे लीन हो गये। वासुपूज्य भगवान, मल्लिनाथ भगवान, नेमिनाथ भगवान, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान, ये पाँचो इसी कारण 'बालयति' कहे जाते है। इनके आदर्शो पर हम चलना चाहें तो चल सकते है। ससार मे ससारी प्राणी जिन विषय भोगो मे फँसकर पीड़ित है, दुःखित है और चिन्तित भी है, उसी ससार मे इन पाँच-बालयतियों ने विषय भोगो की ओर देखा तक नहीं और अपने आत्म-कल्याण के लिए निकल गये। यही तो आत्मा की शक्ति हैं। जो इस शक्ति को जागृत करके इसका सदुपयोग कर लेता है, वह ससार से पार हो जाता है।

सब संसारी प्राणियो का इतिहास पापमय रहा है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह रूप चार सज्ञाएं (इच्छाएं) प्रत्येक ससारी प्राणी में विद्यमान है। सोलहवे स्वर्ग से ऊपर के देवों मे जो अप्रवीचार कहा है, उसका अर्थ यह नहीं है कि वे काम वासना से रहित हो गये हैं। चारों संज्ञाए उनके भी है। विषय भोगों का त्याग करने वाले वीतरागी के लिए जो सुख मिलता है उसका अनन्तवाँ-भाग अप्रवीचारी होने के बाद भी उन देवों को नहीं मिलता। जब कभी गुरुओ के उपदेश से, जिनवाणी के श्रवण करने से संसारी प्राणी यह भाव जागृत कर ले कि आत्मा का स्वभाव तो विषयातीत है, इन्द्रियातीत है तथा अपने में रमण करना है; तो फिर उसके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त होने में देर नहीं लगती। आज का यह अन्तिम ब्रह्मचर्य धर्म तब उसके जीवन मे आने लगेगा।

कभी विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि जीवन में निरन्तर कितने उत्थान-पतन होते रहते हैं। शरीरकृत, क्षेत्र और कालकृत तो फिर भी कम है किन्तु भावकृत परिवर्तन तो प्रतिक्षण होते ही रहते है और यह संसारी आत्मा निरन्तर उसी में रचती-पचती रहती है। हमने सुना था कि छत्तीसगढ़ के कुछ आदिवासी क्षेत्रों में लोगों को अभी भी चाँवल (भात) अत्यन्त प्रिय

है। वह चावल भी ऐसा नही जैसा आप लोग खाते हैं। उनका चावल तो ऐसा है कि सुबह पकने रख देते है एक मटकी में पानी डालकर और फिर जब भूख लगती है या प्यास लग आती है तो उसमें से चावल का पानी (क्या बोलते है आप माँड) हाँ वही निकालकर पी लेते है और एक दो लोटा पानी और उसी में डालकर पकने देते है। यही स्थिति संसारी प्राणी की है। प्रति समय मानों एक लोटा पानी वही सड़ा-गला पी लेता है और पुनः उसमें दो-एक लोटा पानी और डाल देता है। जैसे पकते-पकते वह चावल का पानी पौष्टिक और मादक हो जाता है, ऐसे ही ससारी प्राणी का मोह और पुष्ट होता जाता है तथा अधिक मोहित करने वाला हो जाता है।

यह निरन्तरता अरहट (रहट) या घटीयन्त्र के समान बनी रहती है। एक मटकी खाली नही हो पाती और दूसरी भरने लगती है। क्रम नही टूटता। शृंखला बनी रहती है। बन्धुओं! इस संसार की नि सारता के बारे मे और अपने वास्तविक स्वभाव के बारे मे आपको विचार अवश्य करना चाहिये।

दस दिन से धर्म का विश्लेषण चल रहा है। धर्म के विभिन्न नाम रखकर आचार्यो ने हमारे स्वभाव से हमारा परिचय कराने का प्रयास किया है। पहले दिन हमने 'धम्मो वत्थु सहावो' की बात कही थी। उसी की प्राप्ति के लिए यह सब प्रयास है। दस दिन तक आपने मनोयोग से सुना है। कल हो सकता है आपके जाने का समय आ जाये। आप चले जायेंगे लेकिन जहॉ-कहीं भी जाये इस बात को अवश्य स्मरण करते रहिये कि यह आना-जाना कब तक लगा रहेगा ? वस्तु का स्वभाव परिणमनशील अवश्य है, पर ससार में आना-जाना और भटकना स्वभाव नही है।

एक उदाहरण याद आ गया। 'कबीरदास' अपने पुत्र 'कमाल' के साथ चले जा रहे थे। कबीरदास आध्यात्म के भी रसिक थे। सन्त माने जाते थे। चलते-चलते अपने बेटे से उन्होने कहा कि बेटे! संसार की दशा तुमसे क्या कहें, उधर देखो जैसे चलती चक्की में दो पाटो के बीच में धान्य पिस रहे है, कोई भी धान्य साबुत नही बच पा रहा है, ऐसी ही दशा संसारी प्राणी की भी है। ससार में कुछ भी सार नही है। कहते है कि बेटा सुनकर मुस्करा दिया और बोला पिताजी! यह तो है ही लेकिन इस चलती चक्की मे भी कुछ धान्य ऐसे है जो दो पाटो के बीच में पिसने से बच जाते हैं। जरा ध्यान से सुनना, धान्य की बात है और ध्यान की भी बात है। (हँसी) जो धान्य चक्की में दो पाटो के बीच मे जाने से पहले ध्यान रखता है कि अपने को कहाँ जाना है? अगर पिसने से बचना है तो एक ही उपाय है कि कील के सहारे टिक जाएं। तब फिर चक्की सुबह से शाम तक भी क्यो न चलती रहे, वे धान्य कील के सहारे सुरक्षित रहे आते है।

'धम्म सरण पव्वज्जामि'–ससार मे धर्म की शरण ऐसी ही है, जिसके सहारे ससार से सुरक्षित रहा जा सकता है। धर्म रूपी कील की शरण मे ससारी प्राणी रूपी धान्य आ जावे तो वह कभी समार मे पिस नही सकता। कबीरदास सुनकर गद्गद् हो गये कि सचमुच कमाल ने कमाल की बात कही है। (हँसी)

बन्धुओं ! संसार से डरने की आवश्यकता नहीं है और कर्मों के उदय से भी डरने की आवश्यकता नहीं है । तत्त्वार्थ सूत्र जी में एक सूत्र आता है । जगत्कायस्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ।[1] जगत् के स्वभाव को जानना 'संवेग' का कारण है और शरीर के स्वभाव को पहचानना 'वैराग्य' में कारण है । जो निरन्तर संवेग और वैराग्य में तत्पर रहने वाली आत्माएँ हैं, उनको कर्मों के उदय से डरने की आवश्यकता नहीं है । संसार का गर्त कितना भी गहरा क्यों न हो, संवेगवान् और वैराग्यवान् जीव कभी उसमें गिर नहीं सकता । यह बिल्कुल लिखकर रखिये कि जब कभी भी संसार से मुक्ति मिलेगी तो उसी संवेग और वैराग्य से ही मिलेगी ।

मै आज यही कहना चाह रहा हूँ कि पाँचो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होने का नाम ही 'ब्रह्मचर्य धर्म' है । व्यवहार रूप से तो यह है कि स्त्री-पुरुष परस्पर राग जन्य प्रणय सम्बन्धों से विरक्त रहे, परन्तु वास्तव में तो पदार्थ-मात्र के प्रति विरक्ति का भाव आना चाहिये । पदार्थ के साथ, सम्बन्ध अर्थात् पर के साथ सम्बन्ध होना ही 'संसार' है । जो अभी 'पर' मे संतुष्ट है, इसका अर्थ है कि वह अपने आप में सन्तुष्ट नहीं है । वह अपने आत्म-स्वभाव में निष्ठ नहीं होना चाहता । तभी तो पर-पदार्थ की ओर आकृष्ट है । ज्ञानी तो वह है जो अपने आप मे है, स्वस्थ है । अपनी आत्मा मे ही लीन है । उसे स्वर्ग के सुखों की चाह नहीं है और न ही संसार की किसी भी वस्तु के प्रति लगाव है । वह तो ब्रह्म में अर्थात् आत्मा मे ही सन्तुष्ट है ।

युक्त्यनुशासन मे आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने एक कारिका लिखी है, वह मुझे अच्छी लगती है-

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठ, नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलै प्रवादै जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।।[2]

हे वीर भगवन् ! आपका मत-दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिए हुए है । नयों और प्रमाण के द्वारा सम्यक् वस्तु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और दूसरे सभी प्रवादो से अबाध है यानी बाधा रहित है, इसलिए अद्वितीय है । 'दया' अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव, अपने दस-प्राणों की रक्षा करना भी अपने ऊपर दया है । प्राणों की रक्षा तो महाव्रतों को धारण करने से ही होगी । इन्द्रिय-संयम का पालन करने से होगी।

'दम' का अर्थ है इन्द्रियो को अपने वश में करना । इच्छओ का शमन करना । जिसकी दया मे निष्ठा होगी वही दम को प्राप्त कर सकेगा । इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त किये बिना दया सफलीभूत नहीं होती । त्याग क्या चीज है ? तो कहते हैं कि विषय-कषायों को छोड़ने का नाम 'त्याग' है । त्याग के उपरान्त ही समाधि की प्राप्ति होती है । 'समाधि' तो उस दशा का नाम है जब हम आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त होते हैं । मानसिक पीड़ा या वेदना का नाम 'आधि' है और शरीरकृत वेदना को 'व्याधि' कहा गया है । 'उपाधि' एक प्रकार

का बौद्धिक आयाम है, जिसमें स्वयं को लोगों के बीच बड़ा बताने का भाव होता है। मेरा नाम हो इस बात की चिन्ता ही 'उपाधि' है। 'समाधि' इन तीनों से रहित अवस्था का नाम है।

समाधि का अर्थ ही यह है कि सभी प्रकार से समत्व को प्राप्त होना। एक लौकिक शब्द आता है समधी इससे आप सभी परिचित हैं। (हँसी) पर इसके अर्थ से बहुत कम लोग परिचित होंगे। जिसकी 'धी' अर्थात् बुद्धि, सम अर्थात् शान्त हो गयी है वह 'समधी' है। अभी तो लौकिक रूप से समधी कहलाने वालों का मन जाने कहाँ कहाँ जाता है ? एक सा शान्त कहीं ठहरता ही नहीं है। जब सभी बाहरी सम्बन्ध बिल्कुल छूट जाए और आत्मा अपने में लीन हो जाए वह दशा 'समाधि' की है।

सुनते है जब हार्ट-अटैक वगैरह कोई हृदय सम्बन्धी रोग हो जाता है तो डॉक्टर लोग कह देते हैं कि 'कम्पलीट बेड रेस्ट' यानी पूरी तरह बिस्तर पर आराम करना होगा। आना-जाना तो क्या, यहाँ तक कि अधिक सोचना और बोलना भी बन्द कर दिया जाता है। समय पर मात्र औधषि और पथ्य दिया जाता है, तब जाकर स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही तो समाधि में आवश्यक है। सन्तुलन आना चाहिये। शान्त भाव आना चाहिये। तभी स्वास्थ्य मिलेगा। जीवन मे वास्तविक ब्रह्मचर्य की प्राप्ति भी तभी होगी।

मन-वचन-काय की चेष्टा से जब परिश्रम अधिक हो जाता है, तो विश्राम आवश्यक हो जाता है। यह तो लैकिक जीवन मे भी आप करते है। ऐसे ही संसार से विश्राम-की दशा का नाम 'ब्रह्मचर्य' है। आपे मे रहना अर्थात् स्वभाव मे रहना। जैसे पिताजी से बात करनी हो तो बेटा डरता है और देख लेता है कि अभी तो पिताजी का मन बेचैन है, शान्त नहीं है। तो वह उनके पास भी नही जाता। यदि कोई कहे भी कि चले जाओ, पूछ आओ तो वह कह देता है कि अभी नहीं बाद मे पूछ लूँगा। अभी पिताजी आपे में नहीं है अर्थात् अपने शान्त स्वभाव मे नही है। कहीं-कहीं पर ब्रह्मचर्य के लिए 'शील' शब्द भी आता है शील का अर्थ भी स्वभाव है।

लौकिक व्यवहार में कुशील शब्द स्त्री-पुरुष के बीच अनैतिक या विकारी सम्बन्धों को सूचित करने के लिए आता है। लेकिन परमार्थ की अपेक्षा आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कहते है कि–

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।।[1]

अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है, ऐसा सभी जानते हैं; लेकिन परमार्थ की अपेक्षा देखा जाए तो सुशील तो वह है जो संसार से पार हो चुका है। कुशील का अर्थ है जो अपने शील/स्वभाव से दूर है। जैसे म्यान में तलवार तभी रखी जायेगी जब वह एकदम सीधी हो। थोड़ा भी टेढ़ापन हो तो रखना सम्भव नहीं है। उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव

में विचरण करे तो ही सुशील है। कर्मों के बन्धन के रहने पर वह सुशील नहीं मानी जायेगी।

अपने इस सुशील को सुरक्षित रखना चाहो तो विकार के प्रति राग मत रखो। अपने से जो भी पृथक् है उसके संसर्ग से दूर रहो क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग करने से अपने स्वाधीन सुख का विनाश होता है। बहुत दिनों पहले हिन्दी में एक छन्द लिखा था

क्या हो गया समझ मे मुझको न आता, क्यों बार-बार मन बाहर दौड़ जाता।
स्वाध्याय, ध्यान करके मन रोध पाता, पै श्वान सा मन सदा मल शोध लाता ॥[६]

मन को अच्छी से अच्छी चीज भी दो लेकिन बुरी चीजों की ओर जाने की उसकी आदत है वह उसे नही छोड़ता। ऐसे इस मन को काबू मे रखने का आसान तरीका यही है कि पहले उसके स्वभाव को समझा जाए। मन का तो ऐसा है कि जैसे सितार के तार जरा ढीले हो जाएँ तो सङ्गीत बिगड़ जाता है और अगर जोर से खींच दिये जाए; कस दिये जाये तो टूट जाते है। उन्हे तो ठीक से सन्तुलित कर दिये जाने पर ही अच्छा सङ्गीत सुनायी देता है। ऐसा ही मन को सन्तुलित करके रखा जाए तो उस पर काबू पाना आसान है।

मन तो ज्ञान की एक परिणति है। उसे सँभालना अनिवार्य है। जैसे ही पञ्चेन्द्रिय की विषय सामग्री सामने आती है या स्मृति मे आती है, वैसे ही तुरन्त मन उस ओर दौड़ जाता है। वस्तुत देखा जाए तो ज्ञान का यह परिणमन इतना अभ्यस्त हो गया है और विश्वस्त हो गया है कि वह 'इसी सामग्री के माध्यम से सुख मिलेगा' यह मान बैठा है और संस्कारवश उसी ओर ढलक जाता है। बन्धुओं! पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुख नहीं है। अगर सुख होता तो जो सुख एक लड्डू खाने में आता है उतना या उससे अधिक दूसरे में भी आना चाहिये और तृप्ति हो जानी चाहिये। लेकिन अभी तक किसी को भी तृप्ति नहीं हुई। यह बात समझ में आ जाये तो मन को जीतना आसान हो जायेगा।

एक विद्यार्थी की कथा सुनाकर आपको जागृत करना चाहता हूँ। एक गुरुकुल में बहुत सारे विद्यार्थी अपने गुरु के पास वर्षों से विद्याध्ययन कर रहे थे। साधना भी चल रही थी। एक बार गुरुजी के मन में आया कि परीक्षा भी लेनी चाहिये, प्रगति कहाँ तक हुई है? परीक्षा ली गयी। कई प्रकार की साधना विद्यार्थियों को करायी गयी, पर एक विशेष साधना में सारे विद्यार्थी एक के बाद एक फेल होते गये। गुरुजी को लगा कि शायद अब कोई परीक्षा में पास नहीं हो पायेगा। सिर्फ एक विद्यार्थी और शेष रह गया। उसकी परीक्षा अभी ली जाना थी। उसे बुलाया गया। परीक्षा यह थी कि मुख में एक चम्मच बूरा (शक्कर) रखना है, और परीक्षा हो जायेगी। विद्यार्थी ने आज्ञा का पालन किया और गुरुजी के कहने पर मुख खोल दिया और उसमें एक चम्मच बूरा डाल दिया गया। गुरुजी एकटक होकर उसकी मुख मुद्रा देखते रहे। उस विद्यार्थी के चेहरे पर शान्ति छायी थी और मुख में बूरा ज्यों का त्यों रखा था।

विद्यार्थी ने उसे खा। की चेष्टा भी नहीं की क्योंकि आज्ञा तो मात्र बूरे को मुख में रखने की थी, वह तो हो गया, रख लिया। स्वाद लेने या खाने का भाव ही नहीं आया। यह देखकर गुरूजी का मुख खिल गया। वे बोले तुम परीक्षा में पास हो गये। जितेन्द्रिय होना ही ब्रह्मचर्य ही सही पहचान है। यही सच्ची साधना और अध्ययन का फल है। बड़ी-बड़ी पोथी पढ़ने वाले भी उसमें हार जाते है। आज अधिकाश लोग इसी में लगे हैं। एक-एक भाषा के कई कई कोष तैयार हो रहे है। शोधग्रन्थ लिखे जा रहे है लेकिन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने की ओर किसी का ध्यान नही है। इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाले विरले ही लोग है।

आज का युग भाषा-विज्ञान मे उलझ रहा है और भीतर के तत्त्व को पकड़ ही नही पा रहा है जो ज्ञान, साधना के माध्यम से जीवन मे आता है वह भाषा के माध्यम से कैसे आ सकता है? साहित्य की सही परिभाषा तो यही है कि जो हित से सहित हो, जो हित से युक्त हो वही 'साहित्य' है। जिसके अवलोकन से आत्मा के हित का सम्पादन हो सके, वही 'साहित्य' है। ऐसा साहित्य ही उपादेय है जो हमें साधना की ओर अग्रसर करे। ज्ञानी भी वही है जो खाते हुए भी नही खाता, जो पीते हुए भी नहीं पीता, देखते हुए भी नही देखता। जैसे जब, जिस चीज की ओर हमारा उपयोग नहीं होता तब वह करते हुए भी हम उसमे नही रचते-पचते। यही स्थिति ज्ञानी की है। वह पाँचो पापो का पूर्णरूप से त्याग करके महाव्रतों को धारण करता है। ससार के कार्य वह अनिच्छापूर्वक करता है। पाँचों इन्द्रियो के विषयो से मन को हटाकर अपने आत्म-ध्यान से लगना ही ज्ञानीपने का लक्षण है।

बन्धुओ! छोटी-छोटी बात का सङ्कल्प लेकर भी हम अपने जीवन मे साधना कर सकते हैं और आत्मा को पवित्र बना सकते है। आत्मा की पवित्रता ही 'ब्रह्मचर्य' है। आप आज दशलक्षण धर्म का अन्तिम दिन मत समझिये। दशलक्षण धर्म तो तभी सम्पन्न हुए माने जायेंगे जब हम जितेन्द्रिय होकर शैलेषी दशा को प्राप्त कर लेंगे। मेरु के समान अपने शील-स्वभाव में निश्छल और निश्चल होंगे। तभी लोक के अग्र भाग पर अनन्त काल के लिए आत्मा मे रमण करेंगे। आत्मा में रमना ही सच्चा 'ब्रह्मचर्य' है जिसके उपरान्त किसी भी प्रकार की विकृति या विकारी भावों का प्रादुर्भाव होना सम्भव नही है।

निज माहि लोक अलोक गुण परजाय प्रतिबिम्बित भये।
रहिहैं अनन्तानन्त काल यथा तथा शिव परिणये॥
धनि धन्य है जे जीव नरभव पाय यह कारज किया।
तिन ही अनादि भ्रमण पञ्च प्रकार तजि वर सुख लिया॥[9]

कवि ने सिद्ध भगवान की स्तुति करते हुए 'छहढाला' के अन्त मे कहा है कि वे धन्य हैं जिन्होने मनुष्य जन्म पाकर ऐसा कार्य किया कि पुन: पुन अब किसी भी कार्य को करने की आवश्यकता नहीं रही। ससार के परिभ्रमण से मुक्त होकर उन्होने उत्तम-सुख को अर्थात् मोक्ष-सुख को पा लिया। मोक्ष लक्ष्मी का वरण कर लिया। अथवा यूं कहिये कि मोक्ष लक्ष्मी ने स्वयं आकर उनके गले मे मुक्ति रूपी माला पहना दी। हमेशा से यही होता आया है कि भोक्ता का वरण भोग्या द्वारा किया जाता रहा है।

'जयोदय महाकाव्य' में जय कुमार और सुलोचना स्वयंवर का मार्मिक चित्रण आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने किया है। यह स्वयंवर की परम्परा आदिब्रह्मा आदिनाथ के समय की है। यहाँ भी यही बात परिलक्षित होती है कि स्त्री ने पुरुष का वरण किया।

आज ब्रह्मचर्य के दिन मैं यही कहना चाह रहा हूँ कि वस्तुतः भोग्य पदार्थ की ओर झुका हुआ पुरुष वासना का दास बनकर संसार बढ़ाता है और भोग्य पदार्थ जब स्वयं उसकी ओर देखने लगें अर्थात् उसका वरण करने को उत्सुक हो जाएँ तो वह पुरुष तीन-लोक का नाथ बन जाता है। आज पुरुष की दृष्टि भोग्य पदार्थों की ओर जा रही है। यही विकृति है, विकार है। पदार्थों की ओर होने वाली दौड़ ही व्यक्ति को कङ्गाल बनाती है। जो अपने में है, स्वस्थ है; उसके पास ही मौलिक सम्पदा आज भी है।

जिसकी नासिका को देखकर निशिगन्धा भी लज्जा को प्राप्त हो रही है, जिसके नयन नीलकमल के समान सुन्दर हैं, जिसकी भृकुटियाँ देखकर इन्द्रधनुष भी अपने धन को खोता हुआ सा लग रहा है, जिसके विशाल भाल की शोभा वृहस्पति की शोभा को फीका कर रही है, जिनके केशों का घुघरालापन देखकर माया भी चकित है, जिसके अधर पल्लवों को देखकर मूँगा भी गूँगा सा होकर बैठ गया है, जिसके चरणो को देखकर सकल चराचर झुकने को तत्पर हो गये हैं, जिसके पद-नख की आभा के सामने चन्द्रमा की चाँदनी भी फीकी पड़ रही है, जिसके सुन्दर रूप को देखकर अप्सरायें भी मोहित हो जाती हैं और जिसके कर पल्लव संसार को अभयदान देने की सामर्थ्य वाले हैं; ऐसे अद्‌भुत् रूप सौन्दर्य के लिए एक पुरुष श्मशान में कार्योत्सर्ग मे लीन है।

उसका एकमात्र ध्येय मुक्ति-लक्ष्मी है। शेष सारा संसार इन क्षणों मे उसे हेय है। पर उसके रूप की ख्याति सुनकर मुग्ध हुई वहाँ के राजा की रानी का चित्त महल में भी विकल है। चतुर्दशी का दिन था। रात्रि आधी बीत गयी थी। श्मशान में निर्भय होकर तपस्या में लीन वह पुरुष अपने मनुष्य जीवन को सार्थक बना रहा है कि अचानक रानी की परिचारिका आकर कहती है कि हे सुन्दर पुरुष ! मेरे साथ चलो। अभी यह तप करने का समय नहीं है। यह तो भोग-विलास का समय है। अपने सुकुमार शरीर को इस तरह कष्ट मत दो। उठो और जल्दी करो, रानी तुम्हें याद कर रही हैं। तुम्हें क्या इस बात की तनिक भी खबर नहीं है ? वास्तव में वह पुरुष कान होते हुए भी जैसे सुनायी न पड़ा हो, ऐसा अपने में लीन अडिग है। ठीक भी है। परमार्थ के क्षेत्र में कान खुले रखना चाहिये; लेकिन विषय-भोग के क्षेत्र में तो कान बहरे ही होना चाहिये। परमार्थ के क्षेत्र में आँखें खुली रहनी चाहिये और विषय-वासना के क्षेत्र में अन्धा होकर रहना चाहिये। परमार्थ के क्षेत्र में कर्मों पर विजय पाने के लिए बाहुओं में शक्ति और प्रताप होना चाहिये, लेकिन दूसरे के ऊपर प्रहार करने के लिए बलहीन होना चाहिये। ऐसी ही अवस्था उस समय उस पुरुष की थी। जब दासी ने देखा कि यह तो अपने मे अडिग है, तो उसने उसे पूर्व नियोजित योजना के अनुसार उठवाकर महलों में ले जाने का प्रबन्ध कर लिया और वह पुरुष रानी के महल में पहुँचा दिया गया।

वहाँ रानी सारे उपाय करके थक गयी पर वह पुरुष ध्यान से विचलित नहीं हुआ। एक तरफ वासना थी तो दूसरी ओर उपासना थी। एक तरफ निश्चल पुरुष था तो दूसरी ओर चञ्चल प्रकृति थी। जीत उसी की होती है जो अपनी इन्द्रियों और मन को जीतने में लगा होता है, जो अपने में लीन है, जो उपासना में लगा है अर्थात् अपने समीप आने में लगा है। ठीक भी है अपने भीतर पहुँचने के उपरान्त तो अपना ही राज्य है, अपना ही देश है, अपना ही वेश है, अपना ही आदेश है और अपने ही सन्देश भी प्रचारित हो रहे है। (हँसी) वहाँ किसी बाहरी सत्ता का प्रवेश सम्भव कैसे हो सकता है ?

उपासना के सामने वासना को घुटने टेकने ही पड़ेगे। रानी ने घुटने टेक दिये फिर भी पुरुष ने स्वीकार नही किया। जहाँ श्रीकार हो वहाँ स्वीकार या नकार की बात कैसे सम्भव है ? 'श्री' का अर्थ है अन्तरङ्ग लक्ष्मी अर्थात् अपना ही आत्म-वैभव। जो अपने आत्म वैभव को पाने में लगा है वह बाह्य लक्ष्मी की चाह क्यो करेगा ? अपने को हारता देखकर वासना बौखला गयी। वासना की मूर्ति बनी रानी ने अपने वस्त्र फाड़ लिये। अपने हाथो अपने ही शरीर को नोंच लिया और शोर मचाने लगी। राजा को खबर पहुँचायी गयी। राजा सुनकर क्रोधित हो गया। तब रानी और चीख-चीख कर रोने लगी। सभी को विश्वास हो गया कि यह सारी करामात इस पुरुष की है। यह ध्यान मे लीन होने का ढोंग कर रहा है। यह सब मायाचारी है।

बन्धुओं ! यह है दुनिया की दृष्टि। जो मायाचारी कर रहा है, वह सच्चा साबित हो रहा है और सत्य को झूठा बनाया जा रहा है, लेकिन अन्त मे जीत सत्य की ही होती है। जब प्राणदण्ड के लिए उस पुरुष को शूली पर चढ़ाया जाता है तो देवता आकर शूली के स्थान पर फूलों की माला बना देते है। तब रहस्य खुलता है कि दोष इसका नही है, दोषी तो रानी है। यह पुरुष कोई और नही अपने ही नगर का महान् चारित्रवान् नागरिक 'सेठ सुदर्शन' है। गृहस्थ होते हुए भी आस्था और आचरण मे दृढ़ है। यही तो ब्रह्मचर्य धर्म के पालन मे सच्ची निष्ठा है। कि मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' यही वास्तव में वैराग्य है कि गृहस्थ भी परस्त्री को अपनी माता के समान मानता है और दूसरे के द्वारा सञ्चित धन सम्पत्ति को कङ्कर-पत्थर की तरह अपने लिए हेय समझता है।

महाराज जी (आचार्य ज्ञान सागर जी) कहा करते थे कि गृहस्थ को व्रत अवश्य लेना चाहिये। व्रत कोई भी छोटा नही होता। आज सुदर्शन सेठ का परस्त्री के त्याग का व्रत भी महाव्रत के समान हो गया। सभी ओर जय-जयकार होने लगी। सुदर्शन सेठ सोच मे डूबे है कि देखो कैसा वैचित्र्य है। मै जिस शरीर से मुक्त होना चाह रहा हूँ संसार के लोग उसी शरीर को चाह रहे है। उसके क्षणिक सौन्दर्य से प्रभावित हो रहे हैं और अपने शाश्वत आत्म सौन्दर्य को भूल रहे है।

बन्धुओं ! विचार करो कि एक अणुव्रती गृहस्थ श्रावक की दृढ़ता कितनी है। उसकी आस्था कितनी मजबूत है। उसका आचरण कैसा निर्मल है। पापो का एक देश त्याग करने

वाला भी संसार से पार होने की क्षमता और साहस रखता है। जिसने एक बार अपने स्वभाव की ओर दृष्टि डाल दी, उसकी दृष्टि फिर विकार की ओर आकृष्ट नहीं होती।

एक घटना याद आ गयी। एक युवक विरक्त हो गया और घर से जङ्गल की ओर चल पड़ा। पिता उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं कि अगर यह मान गया तो वापिस घर ले आयेंगे। रास्ते मे एक सरोवर के किनारे कन्याएं स्नान कर रही थी। युवक थोड़ा आगे था। अतः वह पहले निकल गया। तब वे स्त्रियाँ ज्यों की त्यों स्नान करती रहीं और जब पीछे उसके पिता को आते देखा तो सभी अपने वस्त्र सँभालने लगीं। पिता चकित होकर रुक गया और उसने पूछा कि बात क्या है? अभी-अभी मेरा जवान बेटा यहाँ से निकला था तब तुम सब पूर्ववत् स्नान करती रही, लेकिन मैं इतना वृद्ध हूँ फिर मुझे देखकर क्यों लज्जावश अपने वस्त्र सँभालने लगी। वे कन्याएँ समझदार थीं, बोलीं बाबा। यह जवान था और आप वृद्ध है, यह हम नही जानते। हम तो दृष्टि की बात जानते है। वह अपने मे खोया था, उसकी दृष्टि मे पुरुष या स्त्री का भेद ही नहीं था। वह तो सब कुछ देखते हुए भी मानो कुछ नही देख रहा था। लेकिन आपकी दृष्टि में अभी ऐसी वीतरागता नहीं आयी। आपको तो अभी भेद दिखायी दे रहा है।

कही एक कविता पढ़ी थी उसकी कुछ पंक्तियाँ मुझे बहुत अच्छी लगीं। पूरी तो ध्यान नही है, प्रसङ्गवश सुनाता हूँ .. 'अभी तुमने/आग के रङ्ग के/कपड़े पहने है/योग की आग मे/तुम्हारा काम अभी/पूरा जला नही है/अभी तुम्हें/स्त्री और पुरुष के बीच/फर्क नजर आता है/स्त्री के पीछे भागना/और स्त्री से दूर भागना/बात एक ही है/जब तक ये यात्रा जारी है/समझो अभी/संन्यास की यात्रा शुरू नही हुई।

आचार्य कुन्दकुन्द महाराज ने नियमसार मे कहा है कि–

दट्ठूण इच्छिरूव वाछाभाव णिवत्तदे तासु ।
मेहुणसण्णविवज्जिय परिणामो अहव तुरीयवद ॥[1]

स्त्रियो के रूप को देखकर उनके प्रति वाञ्छा भाव की निवृत्ति होना अथवा मैथुन-संज्ञा रहित जो परिणाम हैं, वह चौथा ब्रह्मचर्य व्रत है। अर्थात् परिणामों की उज्ज्वलता ब्रह्मचर्य के लिए बहुत आवश्यक है।

देखना भी दो प्रकार से हो सकता है। एक देखना तो सहज भाव से होता है, वीतराग भाव से होता है तो दूसरा विकार भाव से या राग-भाव से देखना होता है। वीतरागी के परिणामो मे जो निर्मलता आती है, उस पर फिर किसी विकार का प्रभाव नहीं पड़ता। जो विकार से बचना चाहता है उसका कर्तव्य सर्वप्रथम यही है कि वीतरागता की ओर वह दृष्टि-पात करे। स्वभाव की ओर देखे, केवल सन्यास-व्रत धारण करना या स्वाध्याय करना ही पर्याप्त नही है। अपने उपयोग की सँभाल प्रतिक्षण करते रहना भी आवश्यक है। अपने उपयोग

की परीक्षा हमेशा करते रहना चाहिये कि उसमें कितनी निर्मलता और दृढ़ता आयी है। उपयोग की निर्मलता और दृढ़ता के सामने तीन-लोक की सम्पदा भी फीकी लगने लगती है। उपयोग को विकारो से बचाकर, राग से बचाकर वीतरागता मे लगाना चाहिये, यही ब्रह्मचर्य धर्म है।

ब्रहामचर्य धर्म–

१ स्वयभूस्तोत्र–९३

२ भक्तामर स्तोत्र–१५

३. तत्त्वार्थसूत्र–७/१२

४ युक्त्यनुशासन–६

५. समयसार–१५२

६ निजानुभव-शतक–४९ (आचार्य विद्यासागर कृत)

७. छहढाला (छठवी ढाल १३)

८ मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु य. पश्यति स पण्डित ॥

९. नियमसार–५९

पारिभाषिक—शब्द-कोष

(आचार्य विद्यासागर जी महाराज के प्रवचनों में, आये
विशिष्ट शब्दों का परिभाषिक अर्थ)

अन्तरात्मा—आत्मा और शरीर के बीच भेद रेखा जानने वाला भेद विज्ञानी जीव ।

अन्तर्मुहूर्त—आवली (असंख्यात समय) से अधिक और मुहूर्त (४८ मिनिट) से कम काल का सूचक ।

अकाम निर्जरा—बेमन से किये गये विषय सुख के परित्याग और मजबूरीवश भोगोपभोग का निरोध हो जाने पर उसे शान्ति से सह लेने से होने वाली कर्म निर्जरा ।

अणुव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अकाम (ब्रह्मचर्य) और अपरिग्रह; इन पाँच व्रतों का आंशिक पालन ।

अधर्म—एक द्रव्य जो जीव और पुद्गल को ठहरने में सहायक है । यदि जीव और पुद्गल रुकना चाहे तो यह द्रव्य एक माध्यम की तरह मौजूद रहता है ।

अर्धचक्री—तीन खण्डो का अधिपति । नारायण या प्रतिनारायण । ज्ञातव्य है कि भरत क्षेत्र के समूचे छह खण्डो के अधिपति को चक्रवर्ती कहते है ।

अनन्तानुबंधी—अनन्त संसार के कारण-भूत मिथ्यात्व को बाँधने वाली क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय ।

अप्रत्याख्यान (अप्रत्याख्यानावरण)—देश संयम की प्रतिपक्षी कषाय । जिसके उदय से आंशिक सयम को यह जीव प्राप्त करने मे असमर्थ होता है ।

अभिषेक—परम पद में स्वयं को अभिषिक्त करने की पवित्र भावना से अर्हन्त आदि की प्रतिमा को अभिषिक्त करने की प्रक्रिया । (जल, दुग्ध, दधि, चन्दन, केशर आदि सुगन्धित औषधियो से कराया गया स्नान) ।

अभेद रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र द्वारा समाहित-विकल्प-जाल से मुक्त, अपने चैतन्य, आनन्दमय स्वरूप मे विश्रान्त आत्मा की दशा ।

असंख्यात-गुणी-निर्जरा— निर्जरा की प्रक्रिया में उदयावली में निर्जरा के लिए दिये जाने वाले द्रव्य को उदयावली में देने से पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त तक के लिए असंख्यात गुणे क्रम से संयोजित करके निर्जरित करना ।

असंज्ञी—मन-रहित जीव, मन के अभाव मे शिक्षा, उपदेश आदि ग्रहण करने व विचार तर्क आदि करने में असमर्थ जीव ।

आकाश—सभी द्रव्यों को ठहरने के लिए अवकाश देने वाला द्रव्य; जो अखण्ड और शाश्वत है ।

आचार्य—साधुओं को दीक्षा-शिक्षा देने वाले, ३६ गुणों से विशिष्ट, साधुसंघ के अनुशास्ता ।

आप्त—समस्त पदार्थों के ज्ञाता, परम हितोपदेशी, निर्दोष, अर्हत् परमात्मा ।

आत्मा—अनन्तगुणों से युक्त ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाली चैतन्य शक्ति ।

आदान-निक्षेपण-समिति— ज्ञान, संयम और शुद्धि के साधक उपकरणों को देख-भालकर सजग, शान्त भाव से उठाना, रखना ।

आदिनाथ—जैनधर्म के वर्तमानकालीन प्रथम तीर्थङ्कर, जो वेदों मे आदिब्रह्मा हैं । जन्म-अयोध्या, चैत्र कृ० ९, निर्वाण-कैलास पर्वत, माघ कृ० १४, आयु ८४ लाख पूर्व, अन्तिम कुलकर (मनु) नाभिराय के पुत्र । प्रथम चक्रवर्ती भरत के पूज्य पिता । प्रजा को कृषि आदि कर्म सिखाने वाले प्रजापति ।

आरम्भ—प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति/प्रक्रिया ।

आराधना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चारो का यथायोग्य रीति से दृढ़तापूर्वक धारण करना और जीवन भर पालन करना ।

आवश्यक—साधु और श्रावक को आत्मानुशासित बनाने के लिए नित्य किया जाने वाला कार्य/कर्त्तव्य । साधु के लिए–सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, वन्दना, स्तुति, कायोत्सर्ग। श्रावक के लिए–देव पूजा, गुरु की उपासना, शास्त्र का अध्ययन, सयम, तप एव दान ।

इन्द्रियाँ—शरीरधारी जीव को जानने के साधन-चिन्ह, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ।

ईर्या-समिति— मुनियो के द्वारा सूर्य के प्रकाश में आवागमन के योग्य (जीवाणु-रहित) मार्ग मे सजग-शान्त भाव से चार हाथ जमीन आगे देखकर गमन करना ।

उत्तम संहनन—श्रेष्ठ मुक्ति के योग्य शरीरगत ध्यान साधना मे निमित्तभूत अस्थियों का बन्धन विशेष । प्रथम सहनन-वज्रवृषभनाराच संहनन ।

उपयोग—चेतना का अनुगामी ज्ञान-दर्शनात्मक आत्मा का परिणाम ।

उपशम—जैसे फिटकरी डालने से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल कुछ देर के लिए निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार परिणामो की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है ।

उपसर्ग—साधु/संयमीजनों पर देवों, मनुष्यो, पशुओं या प्रकृति द्वारा अनायास आने वाली शारीरिक मानसिक बाधा/कष्ट विपत्ति ।

उपाध्याय—रत्नत्रय से युक्त, निर्ग्रन्थ, २५ विशिष्ट गुणो के धारक, जिनोपदेशित तत्त्वो के उपदेशक और मुनियों के अध्येता ।

उपादान–जो द्रव्य तीनों कालो में अपने रूप को कथञ्चित् छोड़ता हुआ या कथञ्चित् नहीं छोड़ता हुआ पूर्वरूप से या अपूर्व रूप से परिणमन करता है, वह उपादान कारण है।

उपादेय–ग्रहण करने योग्य।

एकत्व-भावना– बार-बार ऐसा चिन्तन करना कि जन्म, जरा और मरण के महादुःख का अनुभव करने के लिये अकेला मैं ही हूँ। मेरा कोई साथी इन दुःखों से मुझे बचा नही पाता। कोई साथी श्मशान से आगे नहीं जाता। अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने वाला मैं अकेला हूँ। धर्म ही एकमात्र साथी है।

एकान्त–अनेक धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म/पक्ष का सर्वथा अवधारण करके शेष धर्मों को नही मानाना मिथ्या एकान्त है। जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा पिता ही मानना। वस्तु के अनेक धर्मो को जानते हुए मुख्य रूप से किसी अपेक्षावश एक धर्म को ग्रहण करना सम्यक् एकान्त है। जैसे–किसी व्यक्ति को पुत्र की अपेक्षा पिता मानना।

एषणा–सजग/शान्त भाव से निर्दोष और प्रासुक आहार ग्रहण करना।

कर्म-चेतना– ऐसा अनुभव करना कि मै इसे करता हूँ, पर पदार्थो मे कर्तृत्त्व बोध सहित अशुद्ध चेतना।

कर्मफल-चेतना– ऐसा अनुभव करना कि मै उसे भोगता हूँ, अव्यक्त सुख-दु:खानुभव रूप अशुद्ध चेतना।

कर्म–जो जीव को परतन्त्र करे। जैन-दर्शन मे जीव मे होने वाले रागद्वेष, क्रोधादि भाव-भाव कर्म कहे गये हैं और इन रागादि भावो के द्वारा आत्मा के साथ सश्लिष्ट होने वाले पुद्गल कर्मो को द्रव्य कर्म माना गया है।

कल्पकाल–२० करोड़ × करोड़ सागर प्रमाण काल, एक अवसर्पिणी–और उत्सर्पिणी से मिलकर बनने वाली अवधि।

कषाय–आत्मा के स्वाभाविक रूप का विघात करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणाम।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा–आचार्य कुमार कार्तिकेय द्वारा रचित वैराग्य भावनाओ/अनुप्रेक्षाओ का प्रतिपादक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ।

काल–एक निष्क्रिय सूक्ष्म द्रव्य जिसके माध्यम से सभी द्रव्य परिवर्तन करते है। जो लोक के समस्त प्रदेशो पर कालाणु के रूप मे उपस्थित है। वह निश्चय काल है। घड़ी, घण्टा, दिन-रात, ऋतु, वर्ष आदि रूप व्यवहार काल है। काल की न्यूनतम इकाई समय है।

कुन्दकुन्द–ईसा की पहली शती में हुए दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रधान/श्रेष्ठ आचार्य। वे अध्यात्मवेत्ता और परम तपस्वी थे। तप के प्रभाव से उन्हें चारण ऋद्धि प्राप्त

हुई थी। वे ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड, मूलाचार आदि ८४ प्राभृतों के प्रणेता थे।

केवलज्ञान—एक निर्विकल्प अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान, जिसमे समस्त पदार्थ युगपत् दर्पण के समान झलकते है।

कुलकर (मनु)—आर्य पुरुषों को एक कुल की भाँति इकट्ठे रहने का उपदेश देने वाले महापुरुष। (सख्या-१४) अन्तिम कुलकर/मनु नाभिराय, जिनके पुत्र वृषभनाथ, प्रथम तीर्थङ्कर और प्रथम प्रजापति हुए। वृषभनाथ के पुत्र भरत के नाम से देश भारतवर्ष कहलाया।

गाथा—जैन-दर्शन में धर्म के प्ररूपण के लिए प्राकृत भाषा मे निबद्ध चार चरणो से युक्त काव्य।

गुणस्थान—मोह और योग अर्थात् मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरङ्ग भावो मे होने वाले उतार-चढ़ाव की दशाएँ। सिद्ध परमात्मा गुणस्थानातीत है। अर्हन्त परमात्मा १३वे और १४वे गुणस्थान वाले है।

चक्रवर्ती—छह खण्डरूप भरत आदि क्षेत्र का स्वामी, बत्तीस हजार राजाओ का तेजस्वी अधिपति, चौदह रत्न और नौ निधियो से युक्त, दिग्विजयी चक्र का स्वामी।

चतुर्थकाल—जैनागम मे काल परिवर्तन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप मे स्वीकृत है। उत्सर्पिणी काल मे जीवो के ऊंचाई, आयु और शक्ति आदि बढ़ते है तथा अवसर्पिणी में क्रमश: घटते जाते है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के अर्तगत विभाजित प्रथम, द्वितीय आदि छह काल होते है। चतुर्थकाल मे चौबीस तीर्थङ्कर आदि शलाकापुरुष होते है। इसका दूसरा नाम दुखमा-सुखमा काल भी है।

चारण- ऋद्धि—चरण अर्थात् चारित्र, संयम या पाप निरोध मे निपुण महामुनि को भूमि के समाज जल, फल, पुष्प, बीज, आकाश आदि पर जीव हिसा के बिना विचरण करने की सामर्थ्य प्राप्त होना।

चारित्र-मोहनीय— चारित्र को आच्छादित करने वाली कर्म प्रकृति।

चेतना—जिस शक्ति के कारण आत्म ज्ञाता-दृष्टा या कर्ता-भोक्ता होता है। जीव का स्वभाव ही चेतना है।

छद्मस्थ—घातिकर्म समूह से युक्त ससार मे स्थित जीव।

छहढाला—पं० दौलतराम कृत एक तात्त्विक सरल सुबोध हिन्दी रचना।

जिनवाणी—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये दिव्य-ध्वनि-रूप वचन और उन वचनो के आधार पर वीतराग निर्ग्रन्थ श्रमण/आचार्य भगवन्तों द्वारा निर्मित शास्त्र ग्रन्थ।

जिनसेन—वीरसेन स्वामी के शिष्य । आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय एवं वर्धमान पुराण के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य ।

जीव—जो जानता है, देखता है और चेतना का धनी है; ऐसा जीवनगुण से युक्त तत्व । जैनदर्शन में जीव, प्राणी, पुरुष, आत्मा ये सभी एकार्थवाची (सिनोंनिमस्) हैं ।

तत्त्व—जिस वस्तु का जो भाव है वह तत्त्व है । जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उसका उसी रूप में होना यही तत्त्व शब्द का अर्थ है ।

तीर्थङ्कर—संसार सागर को स्वयं पार करने वाले तथा दूसरे जीवों को पार कराने वाले महापुरुष, जिनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञानोत्पत्ति और निर्वाण इन पाँच अवसरों पर महान् उत्सव (कल्याणक) होते हैं । जो समवशरण सभा में जगत् के कल्याण का उपदेश देते हैं और धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं ।

तैजस- ऋद्धि—विशिष्ट तपश्चरण के प्रभाव के संयम के धारी महामुनि के लिए जीवों के अनुग्रह या विनाश में समर्थ दीप्तिमान शरीर का उत्पन्न होना ।

दर्शन-मोहनीय— जिसके उदय से आप्त, आगम और साधु के प्रति श्रद्धा भाव नहीं हो पाता अथवा तत्त्व के वास्तविक स्वरूप के प्रति रुचि जागृत नहीं हो पाती ।

दिव्य-ध्वनि— केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त/तीर्थङ्कर भगवान के सर्वाङ्ग/श्रीमुख से सहज निखरने वाली ओंकार ध्वनि । जो सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकाय रूप सत्य धर्म को प्ररूपित करती है ।

दीक्षा (प्रव्रज्या)—संसार से विरक्त होकर, गुरु की शरण में जाकर, समस्त परिग्रह का त्यागकर, यथाजात रूप प्राप्त कर, समता भाव से जीवन बिताने के लिए सङ्कल्पित होना ।

देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)—तत्त्वार्थ सूत्र के मङ्गलाचरण पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित ११५ संस्कृत श्लोकबद्ध न्यायग्रन्थ ।

देश-संयम (संयमासंयम)— संयम का अंशतः पालन करना । अर्थात् हिंसादि पाँच-पापो का स्थूल रूप से त्याग करना ।

द्वीपायन मुनि—रोहिणी के भाई, बलदेव के मामा । भगवान नेमिनाथ से यह सुनकर कि द्वारिका उनके द्वारा जलेगी तो वे विरक्त होकर मुनि हो गये । कठिन तपश्चरण द्वारा तैजस ऋद्धि प्राप्त हो गयी । भ्रान्तिवश बारह वर्ष से कुछ पहले ही द्वारिका देखने आये । नगर के बाहर मदिरा पीने से उन्मत्त हुए यादवों द्वारा कहे गये अपशब्द, भर्त्सना और पत्थरों की मार से क्रोधवश तैजस समुद्घात द्वारा द्वारिका भस्म करने में निमित्त बने । भावीकाल के चौबीस तीर्थङ्करों मे स्वयभू नाम के १९वे तीर्थङ्कर होंगे ।

द्वेष—अनिष्ट पदार्थो मे अप्रीति होना, किसी भी पदार्थ को बुरा मानना यह द्वेष है ।

धर्म द्रव्य– जीव और पुद्गल को चलने में सहायक एक निष्क्रिय शाश्वत माध्यम, जो ईथर की तरह पूरे आकाश में व्याप्त है ।

निःकांक्षित अङ्ग–सम्यग्दर्शन के आठ अङ्गों में से एक अङ्ग, क्षणिक/सांसारिक प्रलोभन से दूर रहने का भाव होना ।

निगोद–जो अनन्त जीवों को एक ही निवास दे वह निगोद है । निगोदिया जीव वे हैं जो स्वयं अनन्तानन्त जीवों की कालोनी/उपनिवेश होते हैं । जहाँ एक के मरण से सभी का मरण हो जाता है । ये सर्वत्र लोक में रहते हैं ।

निमित्त–प्रत्यय/कारण, कार्य की उत्पत्ति में साधकतम ।

नियमसार–आचार्य कुन्दकुन्द कृत अध्यात्म विषयक १८७ प्राकृत गाथाओं मे निबद्ध शुद्धात्मस्वरूप का प्रदर्शक ग्रन्थ ।

निर्जरा–कर्मो के आत्मा से आंशिक पृथक्करण की प्रक्रिया अपने समय पर स्वयं कर्मों का उदय मे आना और झड़ जाना सविपाक निर्जरा है । जैसे फल का पककर आपोआप वृक्ष से टूटकर गिर जाना । तपस्या के द्वारा समय से पहले ही कर्मो का झड़ जाना अविपाक निर्जरा है । जैसे माली के द्वारा आम तोड़कर पाल मे पकाना ।

निर्विकल्प-समाधि– समस्त शुभ-अशुभ विकल्पों से मुक्त, आत्म-ध्यान मे लीन, वीतराग अवस्था ।

नेमिनाथ–जैनो के बाइसवे तीर्थङ्कर, श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे । पिता समुद्रविजय और माँ शिव देवी, जन्म श्रावण शुक्ला ६, द्वारावती, निर्वाण आषाढ़ कृष्णा ८, ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार) ।

नो कर्म–शरीर एव अन्य बाह्य पुद्गल द्रव्य, कर्म के उदय से होने वाला औदारिक शरीर आदि पुद्गल परिणाम जो आत्मा के सुख-दु ख के वेदन मे सहायक होता है, नोकर्म कहलाता है ।

पञ्चमगति–मोक्ष/सिद्ध दशा । चार गतियो रूप ससार परिभ्रमण से पार ।

पद्मनन्दी पञ्चविंशति–आचार्य पदमनन्दी द्वारा सस्कृत छन्दो मे रचित मुख्यत गृहस्थ धर्म का प्ररूपक ग्रन्थ ।

परम औदारिक शरीर–निर्दोष, शुद्ध स्फटिक के समान सात धातुओं के विकार से रहित तेज मूर्तिमय केवली भगवान का शरीर ।

परमात्मा–कर्मकलङ्क से मुक्त आत्मा/परम पद अर्थात् अर्हन्त रूप में स्थित आत्मा ।

परमार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों मे परम उत्कृष्ट मोक्ष पुरुषार्थ है । मोक्ष पुरुषार्थ ही जिसका प्रयोजन है वह परमार्थ है ।

परमेष्ठी—जो परमपद (मोक्ष) मे स्थित हैं या परमपद के प्रति निष्ठावान होकर उसे प्राप्त करने के मार्ग में स्थित है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये पाँचों परमेष्ठी है।

परिग्रह—मूर्च्छाभाव, पर पदार्थो के प्रति स्वामित्व की आकांक्षा। यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का ममत्व भाव।

परीषह-जय— सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि बाधाएं आने पर भी अपने आत्म-चिन्तन मे अविचल रहकर कर्म-निर्जरा के लिए उन्हे शान्त भाव से सहन करना।

पर्याय—द्रव्य मे प्रतिक्षण होने वाला स्वभाव/विभाव रूप परिणमन/परिवर्तन।

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करे या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र हो। दानादि क्रियाओं द्वारा अर्जित किया जाने वाला शुभ-कर्म।

पुद्गल—पूरण-गलन स्वभाव वाला मूर्तिक जड़ पदार्थ (matter) जिसका अन्तिम घटक/अविभागी कण परमाणु है।

पूजा—अर्हन्तादि का नाम उच्चारित करके विशुद्ध प्रदेश मे पवित्र भावो से जल, चन्दन आदि अष्ट द्रव्यो का क्षेपण करना, अपने अहकार का विसर्जन करना, या भगवान के गुणो का चिन्तन करना।

पूज्यपाद—आप नन्दिसघ की पट्टावलि के अनुसार यशोनन्दि के शिष्य थे। असली नाम देवनन्दि था। चूँकि आपके पाद-प्रक्षालन के जल से स्पर्श से लोहा, स्वर्ण बन जाता था और पाँवो मे गगनगामी लेप के प्रभाव से विदेह क्षेत्र जाने की सामर्थ्य रखते थे, अत आपका नाम 'पूज्यपाद' पडा। प्रखर-प्रज्ञा के प्रभाव से देवो के द्वारा पूजित चरण होने से भी पूज्यपाद कहलाते थे आप लक्षण बनाने मे निष्णात, जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि सस्कृत ग्रन्थो के रचयिता महान् दिगम्बर जैनाचार्य थे।

प्रतिष्ठापन-समिति— एकान्त (निर्जन), ग्राम से दूर, छिद्ररहित, निर्विरोध और विशाल, ऐसे अचित्त, जीवाणु रहित स्थान मे अपने शरीर के मलमूत्र आदि का सजग/शान्त भाव से विसर्जन करना।

प्रत्याख्यान (प्रत्याख्यानावरण)—सकल सयम की प्रतिपक्षी कषाय जिसके उदय में यह जीव सयम/परिपूर्ण विरति को प्राप्त करने मे समर्थ नही हो पाता।

प्रभावना—ज्ञान-सूर्य की प्रभा से, महा उपवास आदि सम्यक् तपों से और भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने वाले सूर्य की प्रभा के समान जिन-पूजा के द्वारा सच्चे धर्म का प्रकाश करना। या रत्नत्रय के प्रभाव से आत्मा को प्रकाशमान करना।

प्रमाण—स्व-पर-प्रकाशक सम्यग्ज्ञान, जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है। वही प्रमाण है।

प्राण—जीव की चेतना-शक्ति जिसके द्वारा वह जीता है ।

बहिरात्मा—मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि से मलिन आत्मा की अवस्था, इस दशा मे जीव, आत्मा और देह की बीच कोई भेद रेखा नही मानता । वह देह को ही आत्मा मानता रहता है ।

बारह भावना (अनुप्रेक्षा)—वैराग्य-वृद्धि के लिए बार-बार चिन्तवन की जाने वाली भावनाएं ।

बाहुबली—आदिब्रह्मा तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती भरत के छोटे भाई । पोदनपुर के राजा । अपने ही भाई चक्रवर्ती भरत को युद्ध में परास्त करके विरक्त हो गये । दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण करके एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया और कैवल्य को प्राप्त करके, तीर्थङ्कर ऋषभदेव से पहले मोक्षगामी हुए ।

बोधपाहुड—आचार्य कुन्दकुन्द कृत ६२ प्राकृत गाथाओं मे निबद्ध ग्रन्थ । अष्ट पाहुड मे से एक पाहुड ।

भाषा-समिति— सजग और शान्त भाव से हित; मित और प्रिय वचन बोलना ।

भोगोपभोग—एक गुणव्रत, जो अणुव्रत के गुणो मे वृद्धि करता है । इसमें भोगं और उपभोग की सामग्री का परिमाण (लिमिटेशन) करना होता है । जो पदार्थ एक बार उपयोग किये जाने के उपरान्त पुन: उपयोग के योग्य नही होते, वे भोग पदार्थ कहे जाते है । जैसे–भोजन आदि । जो पुन पुन उपयोग मे आते रहते है वे उपभोग पदार्थ कहे जाते है । जैसे वस्त्र आभूषण आदि ।

महापुराण—आचार्य जिनसेन कृत कलापूर्ण संस्कृत काव्य । जिसमे भगवान ऋषभदेव तथा भरत-बाहुबली आदि का चरित्र वर्णित है ।

महाव्रत—जीवन भर पॉच पापो मे विरक्त रहने का सकल्प, महान तीर्थङ्करो के द्वारा इनका पालन किया गया, महान् मोक्ष प्राप्ति मे कारणभूत और स्वयं ही त्याग रूप होने से महान् (पूज्य) है, इसलिये इन्हे महाव्रत कहा गया ।

माध्यस्थ भाव—रागद्वेषपूर्वक पक्षपात से रहित भाव, एक गहरी तटस्थता ।

मानतुङ्ग—काशीवासी धनदेव ब्राह्मण के पुत्र । पहले श्वेताम्बर साधु रहे फिर वाद मे दिगम्बर दीक्षा लेकर भक्ति-विभोर भगवान ऋषभदव की स्तुति करते हुए भक्तामर स्तोत्र की रचना की ।

मुमुक्षु—परिग्रह-त्याग, मोक्ष की इच्छा करने वाला, ससार से विरक्त, जिनदीक्षा धारणकरने वाला, भव्यात्मा ।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है ।

मोह—जो मदिरा के नशे की तरह प्राणी को वस्तु की वास्तविकता का बोध न होने दे, वह मोह है ।

युक्त्यनुशासन—आचार्य समन्तभद्र-स्वामी-कृत न्याय और युक्तिपूर्वक जिनशासन की स्थापना करने वाला संस्कृत छन्दों (६५ श्लोक) में निबद्ध ग्रन्थ ।

योग—मन, वाणी और शरीर के निमित्त से होने वाला आत्म-प्रदेशों का हलन-चलन जो कर्मों के आगमन मे कारण बनता है ।

रत्नत्रय—सम्यग्यदर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही तीनों गुण रत्नत्रय कहलाते हैं ।

राग—इष्ट विषय भोगों के प्रति आसक्ति होना । किसी पदार्थ के बावत यह अच्छा है, ऐसा भाव होना राग है ।

लोक—छह द्रव्यों से व्याप्त आकाश लोक है जहाँ पुण्य-पाप का फल और सुख-दुःख दिखायी देते हैं ।

वीतरागी—ज्ञाता-दृष्टा भाववाले, रागद्वेष से रहित साम्य अवस्था वाले साधु का विशेषण ।

विजयार्ध पर्वत—चक्रवर्ती के विजय की आधी सीमा निर्धारित करने वाला पर्वत, जो प्रत्येक कर्मभूमि मे एक होता है ।

वृषभगिरि—भरतक्षेत्र आदि के छह खण्डो में उत्तर भरत क्षेत्र के तीन म्लेच्छ खडो में से मध्यखण्ड के मध्य भाग मे स्थित चक्रवर्ती के मान को खण्डित करने वाला विभिन्न चक्रवर्तियों के नामों से व्याप्त पर्वत ।

शान्तिनाथ—जैनों के १६ वें तीर्थङ्कर, जो चक्रवर्ती एव कामदेव भी थे, जन्म-हस्तिनागपुर, ज्येष्ठ कृष्णा १४, निर्वाण-सम्मेद शिखर, ज्येष्ठ कृष्णा १४ । आयु-एक लाख वर्ष ।

शुभचन्द्र—दिगम्बर जैन आचार्य । राजा मुञ्ज और भर्तृहरि के भाई । जैन ध्यान-योग पर विस्तृत विवेचन करने वाले ज्ञानार्णव ग्रन्थ के रचयिता ।

शुभोपयोग—सराग चारित्र या अपहृत संयम, धर्मानुराग से युक्त चेतना, उपयोग की शुभ परिणति, जो अर्हन्तो को जानता है, सिद्धों और साधुओ के प्रति श्रद्धा भाव रखता है और जीवो के प्रति अनुकम्पा से युक्त है, वह शुभोपयोगी है ।

शुद्धोपयोग—वीतराग चारित्र या परम उपेक्षा सयम, उपयोग की निरुपराग दशा, पदार्थो और सूत्रो को भलीभांति जानने वाला । सयम और तप से युक्त वीतरागी, सुख-दुःख मे साम्य भाव रखने वाला श्रमण शुद्धोपयोगी है ।

श्रमण—संसार से विरक्त होकर विवेक पूर्वक दिगम्बर यथाजात रूप धारण करने वाले अपरिग्रही, विषय भोगों से मुक्तज्ञान-ध्यान में लीन मुनि।

श्रावक—सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति श्रद्धा युक्त होकर धर्म-श्रवण करने वाला, विवेकवान और दान, पूजा, शील व उपवास रूप क्रिया में निष्णात पञ्चम गुणस्थानवर्ती आत्मा।

श्रुतकेवली—आगमज्ञ, आत्मज्ञ, सर्व श्रुतज्ञान के धारण करने वाले या आचार्य वस्तु मात्र या अष्ट प्रवचन मातृका रूप द्रव्य श्रुत से युक्त होकर अपनी शुद्धात्मा को जानने/अनुभवन करने वाले महामुनि।

संज्वलन—यथाख्यात चारित्र को घात करने वाली कषाय। जिसके उदय में सकल संयम बना रहता है।

संवर—गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र के माध्यम से जिसने कषाय और मन-वचन-काय की क्रिया को रोक लिया है, ऐसी आत्मा के नवीन कर्मों का आगमन रुक जाना ही संवर है।

संवेग—धर्म में निरन्तर हर्ष और सात्विक भाव होना तथा संसार को दुःखमय जानकर निरन्तर बचने का भाव बनाये रखना।

सकल-संयम— समस्त पापों से विरक्त महाव्रतों से युक्त मुनियों का आचरण।

सत्—स्वतः सिद्ध अस्तित्व का वाचक, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है।

सत्पात्र—मोक्ष के कारणभूत गुणों से संयुक्त आत्मा। दान आदि देने योग्य मोक्षमार्गी भव्य जीव।

सप्तधातुएं—शरीर में क्रम-क्रम से बनने वाले शरीर के पोषक तत्त्व रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र। इनकी उपधातुएँ वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म और उदराग्नि।

समता (साम्य)—जीवन-मरण, संयोग-वियोग, प्रिय-अप्रिय, सभी प्रसंगों में सम-भाव रखना/संतुलित रहना। सभी जीवों के प्रति सद्भाव-समभाव रखना।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के मर्मज्ञ, तार्किक और वाग्मी दिगम्बर जैनाचार्य, उरगपुर के नागवंशी चोल नरेश कीलिक वर्मन के कनिष्ट पुत्र, क्षत्रिय कुलोत्पन्न। आगामी तीर्थङ्कर होने के प्रमाण मिलते है।

समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द-कृत महान् आध्यात्मिक-कृति। प्राकृत-गाथा सूत्रों में निबद्ध जैन-अध्यात्म के रहस्यों को उद्घाटित करने वाली अद्भुत कृति।

समवसरण—सभी जीवों को समान रूप से शरण देने वाली तीर्थङ्कर भगवन्तों की धर्म-सभा। जहाँ सभी प्राणी समान रूप से बैठकर दिव्य-ध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं, श्रवण करते हैं।

समिति—आवश्यक क्रियाओं को यत्नपूर्वक जीवों की रक्षा करते हुए, सम्यक् प्रकार से, सजग/शान्त भाव से करना।

सम्यक् चारित्र—समीचीन आचरण, व्रत, समिति आदि का पालन करना व्यवहार चारित्र है और आत्म स्वरूप में स्थिति रूप समताभाव निश्चय चारित्र है।

सम्यग्ज्ञान—परमात्म-तत्त्व का बोध, जिस प्रकार से जीवादि तत्त्व/पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन—समीचीन श्रद्धा, जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदेशित सात तत्त्वों के प्रति रुचि या परमात्म तत्त्व के प्रति रुचि/आस्था या सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति समीचीन श्रद्धा/रुचि।

सर्वज्ञ—केवल ज्ञान से युक्त, समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायो को जानने वाले, जीवन्मुक्त, परम योगी।

सर्वार्थसिद्धि—दिगम्बर जैनाचार्य देवनन्दि पूज्यपाद स्वामी विरचित संस्कृत ग्रन्थ, जिसमें तत्त्वार्थ सूत्र की विशद विवेचना की गयी है।

सर्वार्थसिद्धि—देवों में सर्वश्रेष्ठ अनुत्तर विमानों मे से एक विमान। जहाँ उत्पन्न होने वाले देव आगामी मनुष्य भव में आत्मसाधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

साधु—मोक्ष प्राप्ति में सहयोगी विशिष्ट गुणों से युक्त, आत्म-साधना में निमग्न, प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव रखने वाले, विषय-वासना से मुक्त, निरारम्भ, अपरिग्रही, निर्ग्रंथ, यथाजात रूपधारी, ज्ञान-ध्यान में लीन योगी/महात्मा।

सुमेरु पर्वत—मध्यलोक में स्थित सर्वाधिक ऊँचे शाश्वत पर्वत। सुमेरु पर्वत संख्या में पाँच हैं। प्रत्येक पर्वत पर १६ जैन मन्दिर है।

सामायिक—समता भाव, एक निश्चित समय के लिए रागद्वेष और पाप-भाव से मुक्त होकर आत्म-ध्यान या परमात्मा के स्मरण में लीन रहना सामायिक है।

सिद्ध—आत्मा की समस्त कर्मों से रहित और ज्ञान, दर्शन और अनन्त गुणों से युक्त परम विशुद्ध दशा।

सिद्धशिला—सिद्धभूमि, अष्टम-पृथ्वी, ईषत् प्राग्भार-पृथ्वी, सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से १२ योजन ऊपर स्थित निष्कम्प/अचल शाश्वत स्थली जहाँ सिद्ध भगवान विराजते हैं। यह लोक का सीमान्त प्रदेश है।

स्वभाव—प्रत्येक वस्तु का अपना निजी आतरिक भाव । या कहें कि अपने असाधारण धर्म (गुण) के साथ होना ही वस्तु का स्वभाव है । प्रकृति, धर्म, गुण, शील, स्वभाव ये पर्यायवाची (सिनॉनिम्स) है ।

सौधर्म स्वर्ग—सोलह स्वर्गो मे प्रथम स्वर्ग, जहाँ देवो की सभा का नाम सुधर्मा-सभा और इन्द्र का नाम सौधर्म-इन्द्र है ।

स्वयम्भूस्तोत्र—आचार्य समन्तभद्र कृत सस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ, जिसमे चौबीस तीर्थङ्करो की स्तुति जैन न्याय/दर्शन और अनेकान्त की स्थापना करते हुए की गयी है ।

स्वर्ग—ऊर्ध्वलोक मे स्थित वैमानिक देवों के कल्प और कल्पातीत विमान । सोलह स्वर्ग रूप कल्प विमान है । इनके उपरान्त नव ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर ये सभी कल्पातीत विमान है ।

स्वाध्याय- सत्-शास्त्र का वाचन, चिन्तन, मनन, स्मरण और प्रवचन ही स्वाध्याय है । आलस्य का त्याग करके अपनी आत्मा का हित करने वाले ज्ञान/अध्ययन को स्वाध्याय कहते है ।

ज्ञान चेतना—निर्विकल्प ज्ञानानुभूति रूप चेतना की शुद्ध अवस्था, जो सिद्ध जीवो मे पायी जाती है ।

ज्ञानार्णव—आचार्य शुभचन्द्र द्वारा सस्कृत श्लोको मे रचित एक ध्यान विषयक ग्रन्थ ।

ज्ञानसागर—आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज के प्रथम मुनि शिष्य और आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के दीक्षा-शिक्षा-गुरू ।

क्षय—कर्मो का आत्मा से सर्वथा पृथक् हो जाना क्षय कहलाता है ।

□□□

पावन प्रवचन

पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठकर मोक्षसुख को पा पाता है। धर्म इसी आत्म-उत्थान का विज्ञान है।

☐ धर्म : आत्मउत्थान का विज्ञान

विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। इस सभी धर्मों में एक धर्म वह भी है जो प्राणीमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है। उस धर्म का नाम है– "जैनधर्म।"

जैन धर्म प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखने वाला धर्म है। आज इस धर्म की उपासना करने वाले और इसके अनुरूप अपना जीवन बनाने वाले साधक बहुत विरले हैं। धर्म के प्रचारक और प्रसारक बहुत है। जो अपनी सारी शक्ति प्रचार-प्रसार में लगा देते हैं। स्वयं को पतित से पावन बनाने का प्रयास नहीं करते। हमारा प्रथम कर्तव्य यही है कि हम स्वयं पाप से ऊपर उठे, स्वय पतित से पावन होने का प्रयास करें।

इस कलियुग मे पुण्यात्माओ का सान्निध्य दुर्लभ है। तीर्थंकर जैसे महापुरुषों का साक्षात् उपदेश सुन पाना दुर्लभ है। अब वे यहाँ हमे उपदेश देने नहीं आयेगे। उनका दर्शन और समागम अब यहाँ होना असभव है। इसके उपरान्त भी अभी धर्म टिका हुआ है। पचम काल के अत तक रहेगा। बीच-बीच में उत्थान पतन होते रहेगें। पतित से पावन बनाने वाले इस धर्म के उपासक संख्या में भले ही अल्प हों लेकिन गुणों की उपासना होती रहेगी। यही इस धर्म की उपलब्धि है।

कोई व्यक्ति पतित से पावन कैसे बने। यह बात विचारणीय है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको प्रारंभ से ही पावन मानता है उसे पावन बनने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। पावन से पावन बनने का प्रयास भी कौन करेगा? पेट भरने का प्रयास वही करता है जो भूखा है। जो तृप्त है, जिसका पेट भर गया है उसे प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है? तो पहले हमें जानना होगा कि हम पतित हैं, और पतित होने का कारण हमारे स्वयं के बुरे कर्म हैं। ससार में भटकाने वाले भी यही कर्म हैं।

जैन धर्म के प्रथम तीर्थकर वृषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थकर महावीर तक सभी ने इन कर्मो से विमुख होकर अपनी आत्मा को परमात्मा बनाया है। हमे भी इन

कर्मों से बचने का उपदेश दिया हैं।

उन्होंने कहा कि "पापी से नहीं बल्कि पाप से बचो। यही उच्च बनने का रास्ता है। यदि पापी से घृणा करोगे तो वह कभी पुण्यात्मा नहीं बन सकेगा और घृणा करने वाला स्वयं भी पतित हो जाएगा।'' इसलिए संसार की अनादिकालीन परम्परा के मूल कारण-भूत कर्म को नष्ट करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। जब तक बीज बना रहेगा, वृक्ष की उत्पत्ति भी होती रहेगी। धर्म के माध्यम से कर्मरूपी बीज को जला दिया जाए तो संसार-वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं है।

अब आप कहेंगे कि कर्म-बीज को जलाने के लिए क्या करें? इसकी साधना कैसे करें? तो बंधुओ ! रत्नत्रय के माध्यम से यह कार्य संभव है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और आचरण के माध्यम से हम अपनी आत्मा के अनादिकालीन कर्म संस्कारों को समाप्त कर सकते हैं। रत्नत्रय के पवित्र संस्कारों के द्वारा पाप के संस्कारो से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध बन सकती है। पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावो के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है वही संसार से ऊपर उठ पाता है। यह मात्र कल्पना नहीं है। यह सत्य है। यही सच्चा विज्ञान है।

जैसे मिट्टी ऊपर उठना चाहती है। अपना उद्धार करना चाहती है तो एक दिन धरती माँ से पूछती है कि माँ मुझे लोग पद्दलित करते हैं। मुझे खोदते, रौंदते और तरह-तरह की यातनाए देते है। क्या मेरे जीवन मे कभी ऐसा अवसर आएगा कि मैं भी सभी की प्रेम-भाजन बनूंगी। क्या ऐसा विकास मेरा भी संभव है? तब धरती माँ समझाती है कि हा, सभव है लेकिन इसमे बड़ी साधना और सहनशीलता की आवश्यकता है।

त्याग, तपस्या और विश्वास की आवश्यकता है। जो प्रक्रिया बतायी जायेगी उस प्रक्रिया को अपनाना होगा। तब एक समय ऐसा आयेगा जब सभी तुझे प्यार से संभालकर ऊपर रखेंगे।

यदि पतित से पावन बनने का विचार तेरे मन में आया है, तो जब भी कोई कुम्हार यहाँ पर आये, उसके हाथों में अपने को समर्पित कर देना। रोना चिल्लाना नहीं। उसके प्रति द्वेषभाव भी मत करना। वह जो प्रक्रिया बताये उसे ग्रहण करना। वह जैसा करे, करने देना। कुछ भी प्रतिक्रिया मत करना। यही पतित से पावन बनने का सूत्रपात होगा।

अच्छी बात है। मिट्टी प्रतीक्षा करती है। एक दिन कुम्हार आता है और फावड़े से मिट्टी को खोदने लगता है। अब मिट्टी क्या कहे? सब सहन करती है। उसे माँ

की वाणी पर विश्वास है। वह अपने भविष्य को विकसित देखना चाहती है। इसलिए अपने को कुम्हार के हाथों में सौंप देती है। फिर कुम्हार उसे ले जाकर पानी डाल-डालकर रौंदता है और लौंदा बनाकर चाक पर चढ़ा देता है। मिट्टी घबराती है। सोचती है अब क्या करूं? ऐसा कब तक सहन करूं? चाक पर घूमते-घूमते चक्कर आने लगा पर उसे माँ की बात ध्यान में आ जाती है कि विकास के रास्ते में सब सहन करना ही श्रेयस्कर है। वह सब सहन करेगी उसे माँ पर विश्वास है। जो संतान अपनी माँ के बताये हुए सत्यमार्ग पर विश्वास नहीं रखती उसका विकास अभी और आगे कभी भी संभव नहीं है।

आप लोगों ने शिखर जी की वंदना की होगी। एक-एक कदम ऊंचाई पर चढ़ना होता है। जितनी ऊंचाई बढ़ती जाती है, पैर उतने ही लड़खड़ाने लगते हैं। पसीना आ जाता है। कमजोर व्यक्ति हो तो सीने में दर्द होने लगता है। लेकिन ध्यान रखो उन्नति का रास्ता यही है। परिश्रम के बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

जो एक-एक कदम उठाता हुआ आगे रखता चलता है विकास की ओर, वही सफल होता है। लक्ष्यवान् साधक सभी बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

मिट्टी विकास की ओर अग्रसर है। सब कुछ समता भाव से सहन कर रही है। तब एक दिन वह कुंभकार के योग और उपयोग के माध्यम से कुंभ का रूप धारण कर लेती है। सोचती है कि यह तो एक नयापन मेरे अंदर आ गया है। ऐसा प्रयोग तो कभी नहीं हुआ था। अब यह सारे कष्टों को भूल गयी। सारी यातनाएं विस्मृत हो गयीं। चाक के ऊपर घड़े के रूप में मिट्टी बैठी है।

फिर उसे वहाँ से भी उठाकर कुंभकार धूप में रख देता है। मानो उष्ण परिषह प्रारंभ हो गया। घड़ा धीरे-धीरे थोड़ा सूखने लगा। एक दिन जब कुंभकार ने उसे हाथ में लेकर पानी सींचकर चोट मारना प्रारंभ किया, तब कुंभ सोचने लगा कि अरे! यह एक नयी मुसीबत और आ गयी। अब पिटाई हो रही है। पर धरती मां ने पहले ही समझा दिया था कि यह पिटाई नहीं है यह तो अंदर सोई हुई शक्तियों को उद्घाटित किया जा रहा है।

अभी तो यह प्रीवियस है। पूर्वार्द्ध है। अभी कुंभ कच्चा है। फाइनल एक्जा. मिनेशन भी होगा। अवे में तपना होगा। अंतिम अग्नि परीक्षा होगी। जैसे ही कुंभ को अवे की अग्नि में रखा जाता है। वह सोचता है कि यह तो हमारा विकास नहीं, लगता है विनाश हो रहा है। यह कौन सी पद्धति है। इतना अवश्य है कि मां की बात अहितकारी नहीं हो सकती। विकास की ओर जाने के लिए जलना भी होगा।

यह सोचकर कुंभ कोई प्रतिक्रिया नहीं करता और अग्नि में उत्तीर्ण होकर आ जाता है।

उसे बाहर निकालकर कुंभकार धीरे से बजाकर देखता है। सब ठीक है। अब कुंभ में जलधारण करने की शक्ति आ चुकी है। अब कोई क्रिया शेष नहीं रही। इसी जल धारण की क्षमता पाने के लिए मिट्टी से कुंभ का निर्माण हुआ है। फिर ज्येष्ठ के महीने में बड़े-बड़े सेठ साहूकार भी सोने-चांदी के बर्तन नहीं चाहते। उस समय तो शांति और शीतलता देने वाला मिट्टी का घड़ा ही अच्छा लगता है। सभी उसे फूल के समान हाथ में लिए रहना पसंद करते हैं। कोई उसे नीचे रखना नहीं चाहता। ऊँचे स्टूल आदि पर रखते हैं, प्यार के साथ, संभाल करके। अब पटक नहीं सकते। अपना अहकार गलाकर, मान-अपमान सहन कर यह मिट्टी का विकास संभव हुआ है। पतित से पावन ऐसे ही बना जाता है।

प्रत्येक आत्मा इसी प्रकार संस्कारों के माध्यम से अपना उत्थान कर सकती है। सभी संस्कार जन्म से नहीं आते। संस्कार पूर्व कर्मों पर आधारित नहीं है। वह तो धर्म पर आधारित हैं। संस्कारित होने वाली आत्मा तो चेतना है। चेतन के माध्यम से ही चेतन पर संस्कार डाले जाते है। जो अनंतकालीन संसार के संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। ऐसे उत्थान की ओर, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने वाले संस्कार ही वास्तविक संस्कार हैं।

मिट्टी अपनी घड़े बनने की निजी क्षमता को नहीं पहचान पाने के कारण अनादिकाल से पद्दलित होती पड़ी थी। कुंभकार के माध्यम से अपनी क्षमता को पहचानकर, अपने को संस्कारों के द्वारा संस्कारित करके, उसे प्रकट कर लेती है। वृषभनाथ जैसे, पार्श्वनाथ जैसे, बाहुबली जैसे और भगवान महावीर जैसे अनंत जो सिद्ध हुए हैं, वे भी अपनी क्षमता को पहिचान कर रत्नत्रय के संस्कारों से संस्कारित होकर सिद्ध हुए हैं। पहले से ही सिद्ध भगवान नहीं थे।

सिद्ध होने की क्षमता मिट्टी में कुंभ के समान अव्यक्त शक्ति के रूप में हर प्राणी में हुआ करती है। जिसे सुसंस्कारों के माध्यम से प्रकट किया जा सकता है। सिद्धत्व की प्राप्ति तभी संभव होती है। यही जैनधर्म का मूलभूत सिद्धांत है। प्रत्येक आत्मा अपने पुरूषार्थ के द्वारा परमात्मा बन सकता है। बहुत कम आत्माएं संस्कारों की महत्ता को जान पाती हैं। उसमें भी बहुत कम आत्माएं संस्कारों के माध्यम से जीवन को सफलता की ओर ले जाती हैं। आज बातें करने वाले बहुत सारे लोग मिल जाते हैं, पर ध्यान रखना आत्म-स्वरूप की पहचान जब तक नहीं होती तब तक मात्र बातें कर लेने से निर्वाण नहीं होता।

कर्म से संस्कारित यह आत्म-तत्व कैसे कर्म से मुक्त हो, कैसे इसका विकास हो, कैसे संस्कार डाले जायें? इन सब बातों के लिए आत्मपुरूषार्थ आपेक्षित है। शरीर से पृथक् आत्म-तत्व है। उस आत्म-तत्व का विकास करना हमारा लक्ष्य है तो सबसे पहले शरीर को अपने से पृथक् जानना होगा। उसे साधन मानकर उसका उपयोग करना होगा। शरीर साध्य नहीं है। वह तो साधन है।

आचार्य समन्तभद्र महाराज ने इस बात को बहुत अल्प शब्दों में कहा है कि–

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पविभ्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीति, र्मतानिर्विचिकित्सता।।

अर्थात् स्वभाव से तो यह शरीर अपवित्र है, गंदा है लेकिन जब कभी शरीराश्रित आत्मा मे रत्नत्रय का आरोपण होता है तो रत्नत्रय क द्वारा पवित्र शरीर में पूज्यपना आ जाता है। ग्लानि नहीं होती बल्कि गुणों के प्रति प्रीतिभाव होता है। यही समीचीन दृष्टि है।

जो इंद्रियों का दास बना हुआ है। विषय सामग्री की प्राप्ति में ही जीवन व्यतीत कर रहा है। शरीर को ही आत्म-तत्व मानकर उसकी सेवा में उलझा है। उसे अभी अपना वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए। आत्म तत्व की ओर दृष्टिपात करके सोई हुई शक्ति को उद्घाटित करना चाहिए। जो व्यक्ति आत्मा का विकास करना चाहता है उसे शरीरगत पर्यायों में नहीं उलझना चाहिए। शरीर तो स्वभाव से ही अशुचि रूप रहेगा। विकास आत्मा का करना है, इसलिए संस्कार शरीर का नहीं अपितु आत्मा का संस्कार करना है। मिट्टी के ऊपर मिट्टी का सस्कार नहीं किया जाता। मिट्टी के ऊपर जल और अग्नि के संस्कार कुभकार द्वारा डाले जाते है। विकास का मार्ग यही है।

महापुराण में एक प्रसंग आता है। कर्मभूमि के प्रारंभ में आदिब्रह्मा वृषभनाथ भगवान ने अपने राज्यकाल में तीन वर्णो की स्थापना की इसके बाद उन्हीं के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने एक चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना और की। उसका आधार संस्कार था। जन्म से कोई सर्वथा उच्च नहीं होता। उच्चता कर्म से आती है। मात्र जनेऊ पहनने से कोई उच्च नहीं होता किन्तु जिनवाणी की आज्ञा पालन करने वाला रत्नत्रय के द्वारा आत्मा को संस्कारित करके उच्चता को प्राप्त करता है।

भरत चक्रवर्ती ने चौथा वर्ण बनाने से पहले परीक्षा ली। तीनों वर्णों को दरबार में बुलाया। चक्रवर्ती की आज्ञा थी, इसलिए सभी व्यक्ति भागकर आये। जीवरक्षा का थोड़ा भी विचार नहीं किया। पर कुछ व्यक्ति सीधे रास्ते से न आकर घूमकर आये और थोड़ा विलम्ब भी हुआ। चक्रवर्ती ने पूछा कि ऐसा क्या कारण है कि आप

सीधे मार्ग से न आकर घूमकर आये। तब बताया गया कि पर्व के दिन हैं। सीधे रास्ते पर नये-नये कोमल अंकुर उग आये हैं। पैर रखने के लिए जगह नहीं है। भगवान की वाणी में यह बात आयी है कि वनस्पति कायिक जीव अनंत हैं। यदि हम उस सीधे रास्ते से आते तो उन जीवों का विघात होता।

जीव हमे भले ही दिखाई न देते हो लेकिन जिनेन्द्र भगवान की वाणी अन्यथा नहीं हो सकती।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्धं तदग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः।।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया तत्व सूक्ष्म है उसे किसी हेतु या तर्क के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता। वह इन्द्रियों के द्वारा अग्राह्य होने पर भी भगवान की आज्ञा से मानने योग्य है। इसलिए भले ही थोड़ा विलम्ब हो गया, अधिक चलना पड़ा लेकिन जीवरक्षा के लिए लम्बे रास्ते में चलकर हम आये हैं।

भरत चक्रवर्ती ने कहा- बहुत अच्छा परीक्षा हो गयी। तुम लोग पाप से विरत हो। व्रती हो। जीवदया रखते हो। त्रस जीवो के साथ-साथ स्थावर जीवों की भी रक्षा का भाव रखने वाला व्रती होता है। इसलिए उनका एक अलग ब्राह्मण-वर्ण बना दिया। महापुराण मे जिनसेनाचार्य महाराज ने उल्लेख किया है कि समाज की व्यवस्था के लिए, उसके उत्थान के लिए ही सभी वर्ण बनाये गये हैं लेकिन अब सब कथन मात्र रह गया है। दया का पालन नहीं होता, संयम भी नहीं रहा। मात्र विषयकषायों के बहाव में सभी बहते जा रहे हैं। इसे ही विकास मान रहे हैं।

बधुओ ! ग्रथों के प्रकाशन या प्रचार-प्रसार अकेले से हमारा प्रयोजन सिद्ध नही होगा। जिनवाणी के अनुरूप आचरण भी करना होगा। ग्रंथ तो हमें निर्ग्रथ होने के लिए प्रेरित करते हैं। वीतरागता की उपासना करने वाला, रत्नत्रय की आराधना करने वाला ही संस्कारवान् है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के निर्जरा अधिकार में आत्मा को शुद्ध बनाने के लिए तीन गाथाओं में बहुत सुंदर ढंग से उल्लेख किया है। प्रक्रिया बतायी है। आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेष रूपी कर्म कालिमा को दूर करने के लिए यदि कोई रसायन है, कोई औषधि है तो वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही है। इस औषधि से भावित करके आत्मा को तप रूपी अग्नि में तपाया, संस्कारित किया जाता है। तब आत्मा परमात्मा बनती है। जिसे भी परमात्मा बनना है उसे एक न एक दिन इसी प्रक्रिया को अपनाना होगा।

अपनी पुत्रवधू से सासुजी ने कहा कि बेटा दही ज़माना है। शाम होने से पहले

एक भगौनी को साफ-सुथरा करके मांजकर के उसमें दूध को जामन डालकर रख देना। सुबह-सुबह घी तैयार करना है। पुत्रवधु ने हां कह दिया। सुबह उठकर जब सासु ने देखा दंग रह गयी। दूध जमा नहीं था, फट गया था। बात क्या हुई? दूध कैसे फट गया? बहू से पूछा कि क्या किया था? बर्तन ठीक से मांजा था कि नहीं? बहू ने कहा– मां ठीक से मांजा था, देखो चमक रहा है। बर्तन ऊपर से चमक रहा था लेकिन भीतर ज्यों का त्यों था। अंदर से नहीं मांजा गया, यही चूक रह गयी।

बंधुओ ! संस्कार डालना आवश्यक है। मांजना आवश्यक है, लेकिन संस्कार मात्र ऊपर-ऊपर से न डाले जायें। अन्यथा दूध भी चला गया, दही भी नहीं मिला, घी भी नहीं बन पाया। भीतरी संस्कार आवश्यक है। जिनवाणी के माध्यम से पढ़कर, समझकर अपनी आत्मा को जो बाहर भीतर सब तरह से रत्नत्रय के द्वारा संस्कारित करता है; मांजता है, वही अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। बाह्य शरीर को मांजने वाला कभी भी आत्म-स्वरूप को उपलब्ध नहीं कर सकता।

अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि जिनवाणी माँ ही ऐसी माँ है जो अपने बेटे को हमेशा जगाती रहती है। मोहरूपी निद्रा में सोया हुआ यह जीव जिनवाणी माँ पर विश्वास करें तो आत्म-विकास कर सकता है।

सच्चे देवगुरु शास्त्र की उपासना, धर्म की उपासना का एक मात्र लक्ष्य आत्म-कल्याण होना चाहिए। आत्म-उत्थान होना चाहिए।

वही अधिष्ठान है
सुख का मृदु नवनीत
जिसका पुनः मंथन नहीं है
वही विज्ञान है
ज्ञान है निजरीत
जिसका पुनः कथन नहीं है
और वही उत्थान है
प्रिय संगीत
जिसका पुनः पतन नहीं है।

□□

भगवान वर्धमान महावीर अपने नाम के अनुरूप वर्धमान थे। वे अपनी आत्मा में निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान-चारित्र के धारी थे। पीछे मुड़कर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। अपने विकारों पर विजय पाने वाले अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने वाले वे सही मायने में महावीर थे।

□ अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर

कौन कहाँ से आया है। कहाँ जायेगा, यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन आया है तो उसे जाना होगा, यह निश्चित है। यह सत्य है। पर हम आने की बात से हर्षित होते हैं और आने को महोत्सव के रूप में मानते हैं। प्रेम के साथ अपनाते हैं। जाने की बात हमें रुचिकर नहीं लगती और जाने की बात हमें उदास कर देती है। यही हमारी ना-समझी है। इस बात को हमें समझ लेना चाहिए कि आने-जाने का प्रवाह निरन्तर है। महावीर भगवान इस प्रवाह के बीच तटस्थ ही नहीं बल्कि आत्मस्थ/स्वस्थ रहे। तभी वे वास्तव में महावीर बने।

महावीर बनने के लिए इस प्रवाह की वास्तविकता का बोध होना अनिवार्य है। दिन औ रात का क्रम अबाध है। उषा के बाद निशा और निशा के बाद उषा आयेगी। जो यह जान लेता है वह दोनों के बीच सहजता से जीता है। भगवान महावीर का जीवन ऐसा ही सहजता का जीवन है। वे स्वयंबुद्ध थे, विचारक थे, चिन्तक थे। जीवन के हर पहलू के प्रति सजग चिन्तन उनका था। जो हो चुका, जो हो रहा है और जो होगा सभी के प्रति सहज भाव रखना यही वस्तु के परिणमन का सही आकलन है।

जो स्वागत के साथ विदाई की बात जानता है। वह न स्वागत गान से हर्षित/प्रभावित होता है और न ही मृत्यु-गीत से उदास/दुखित होता है।

जीवन क्या चीज है? जीवन तो ऐसा है कि जैसे किसी के हाथ मे कुछ देर कांच का सामान रहा फिर क्षणभर में गिरकर टूट गया। जन्म हुआ और मरण का समय आ गया। साठ-सत्तर बरस पल भर में बीत जाते हैं। जो यह जानता है वह समय का सदुपयोग कर लेता है। यही बुद्धिमानी है। यही सन्मति है।

कहीं एक घटना पढ़ने में आयी थी। एक लाड़ली प्यारी लड़की थी, अपने माता-पिता की। एक ही थी इसलिए माता-पिता ने बड़े सोच समझकर योग्य वर की तलाश की। बहुत परिश्रम के बाद वर मिला। विवाह का शुभ-मुहूर्त आ गया। मंगल बेला की सारी तैयारी आनन्द-दायक लग रही थी। लेकिन सात फेरे पूरे भी

नहीं हुये और सातवां अंतिम फेरा प्रारंभ हुआ कि वर के प्राण देह से निकल गये। सब ओर हाहाकार मच गया। पर अब क्या हो सकता था?

"राजा-राणा छत्रपति हाथिन के असवार, मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।" जिसकी जब बारी आ जाये उसे जाना होगा। इस बात का बोध होने परही जीवन में समीचीनता आती है। सन्मार्ग की ओर कदम बढ़ते हैं। भगवान महावीर ने स्वयं सन्मार्ग पाया, वे स्वयं सन्मति थे और हमें भी वही सन्मार्ग दिखाया, सन्मति दी।

विवाह की मंगल बेला में भी जाने का समय आ गया। जाने की बेला आ गयी। जाने वाला चला गया। कौन कहाँ तक साथ निभायेगा, कौन कहाँ तक साथ देगा, यह कहा नहीं जा सकता पर इतना अवश्य है कि सिवाय धर्म के कोई और अंत तक साथ नहीं देता। कोई भी द्रव्य, कोई भी पदार्थ या कोई भी घड़ी यहाँ टिक नहीं सकती। बहाव है जो निरंतर बहता रहता है। परिणमन प्रतिक्षण है।

कोई भी वस्तु यदि रुक जाये परिवर्तित न हो तो वह वस्तु नहीं मानी जायेगी। वस्तु तो वही है जो प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट होते हुये भी अपने स्वरूप में स्थित है। भगवान महावीर की यात्रा भी अरुक थी, वह संसार में रुके नहीं, सतत् बढ़ते ही गये। जो इस प्रवाहमान जगत् में निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप की प्राप्ति की ओर बढ़ रहा है। वृद्धिंगत हो रहा है वही वर्धमान है। उसका प्रतिक्षण नित-नवीन वर्तमान है।

महावीर भगवान अपने नाम के अनुरूप ऐसे ही वर्धमान थे। वे अपनी आत्मा में निरन्तर प्रगतिशील थे। वर्धमान चारित्र के धारी थे। पीछे मुड़कर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। उन्हें अपने खो जाने का भय नहीं था। जो शाश्वत है, जो कभी खो नहीं सकता, महावीर भगवान उसी के खोजी थे। उसी में खोने को राजी थे। उनका उपदेश भी यही था कि जो नश्वर है, मिटने वाला है उसे पकड़ने का प्रयास या उसे स्थिर बनाने का प्रयास व्यर्थ है। वास्तविक सुख तो अपनी अविनश्वर आत्मा को प्राप्त करने में है।

यहाँ संसार में जो सुख है उसके पीछे दुःख भी है। संयोग के साथ वियोग लगा हुआ है। जो सुख-दुःख के पार है, जो संयोग-वियोग के पार है, उसका विचार आवश्यक है। उसका जन्म भी नहीं है, उसका मरण भी नहीं है मानो एक आवरण है जो इधर का उधर हट जाता है और वह जो मृत्युंजयी है वह हमेशा बना ही रहता है।

युद्ध से पूर्व अर्जुन को श्रीकृष्ण ने यही तो समझाया था कि जो कर्मयोगी है वह जन्म मरण का विचार नहीं करता, वह तो जीवन मरण के बीच जो शाश्वत आत्मतत्व है उसका विचार करता है और कर्त्तव्य में तत्पर रहता है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु, ध्रुवो जन्म मृतस्य च, तस्मातपरिहार्योऽर्थे, न त्वं शोचितुमर्हसि।" अर्थात् जिसका जन्म है उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म भी अवश्य होगा। यह अपरिहार्य चक्र है। इसलिये हे अर्जुन, सोच में मत पड़ो। अपने धर्म का (कर्त्तव्य का) पालन करना ही इस समय श्रेयस्कर है। जन्म मरण तो होते ही रहते हैं। हम शरीर की उत्पत्ति के साथ अपनी उत्पत्ति और शरीर के मरण के साथ अपना (आत्मा का) मरण मान लेते हैं। क्योंकि अपनी वास्तविक आत्म सत्ता का हमें भान ही नहीं है। जन्म-जयन्ती मनाना तभी सार्थक होगा जब हम अपनी शाश्वत सत्ता को ध्यान में रखकर अपना कर्त्तव्य करेगें और उसी की संभाल में अपना जीवन लगायेंगे।

भगवान महावीर स्वामी का कहना था कि यदि वस्तु को आप देखना चाहते हो या जीवन को परखना चाहते हो या कोई रहस्य उद्घाटित करना चाहते हो तो वस्तु के किसी एक पहलू को पकड़कर उसी पर अड़ करके मत बैठो। मात्र जन्म ही सत्य नहीं है और न मरण ही सत्य है। सत्य तो वह भी है जो जन्म मरण दोनों से परे हैं।

जो व्यक्ति मरण से डरता है वह कभी ठीक से जी नहीं सकता। लेकिन जो मरण के प्रति निश्चिंत है, मरण के अनिवार्य सत्य को जानता है, उसके लिए मरण भी प्रकाश बन जाता है। वह साधना के बल पर मृत्यु पर विजय पा लेता है। संसार में हमारे हाथ जो भी आता है वह एक न एक दिन चला जाता है, यदि जीवन के इस पहलू को, इस रहस्य को हम जान लें और आने-जाने रूप दोनों स्थितियों को समान भाव से देखें तो जीवन में समता भाव (साम्यभाव) आये बिना नहीं रहेगा। जो मुक्ति के लिए अनिवार्य है।

जीवन के आदि और अंत दोनों की एक साथ अनुभूति हमारे पथ को प्रकाशित कर सकती है। हम शान्त भाव से विचार करें और हर पहलु को समझने का प्रयास करें तो जीवन का हर रहस्य आपोआप उद्घाटित होता चला जाता है। अनेकान्त से युक्त दृष्टि ही हमें चिन्तामुक्त और सहिष्णु बनाने में सक्षम है। संसार में जो विचार वैषम्य है वह अपने एकान्त पक्ष को पुष्ट करने के आग्रह की वजह से हैं। अनेकान्त का हृदय है समता। सामने वाला जो कहता है उसे सहर्ष स्वीकार करो। दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान महावीर की दिव्य-देशना से सर्वथा असंबद्ध

था। यह बात जुदी है कि परस्पर सापेक्षता का ज्ञान न होने से दुराग्रह के कारण मतों मे, मान्यताओं में मिथ्यापना आ जाता है।

मैं बार-बार कहा करता हूँ कि हम दूसरे की बात सुनें और उसका आशय समझें। आज बुद्धि का विकास तो है लेकिन समता का अभाव है। भगवान महावीर ने हमें अनेकान्त दृष्टि देकर वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराया है। साथ ही साथ हमारे भीतर वैचारिक सहिष्णुता और प्राणिमात्र के प्रति सद्भाव का बीजारोपण भी किया है।

हमें आज आत्मा के रहस्य को समझने के लिए अनेकान्त, अहिंसा और सत्य की दृष्टि की आवश्यकता है। वह भी वास्तविक (रीयल) होनी चाहिये। बनावटी नहीं। यदि एक बार यह ज्योति (ऑख) मिल जाये तो मालूम पड़ेगा कि हम व्यर्थ चिंता में डूबे हैं। हर्ष विषाद और इष्ट-अनिष्ट की कल्पना व्यर्थ है। आत्मा अपने स्वरूप में शाश्वत है।

भगवान महावीर अपनी ओर, अपने स्वभाव की ओर देखने वाले थे। वे संसार के बहाव में बहने वाले नहीं थे। हम इस संसार के बहाव में निरन्तर बहते चले जा रहे हैं और बहाव के स्वभाव को भी नहीं जान पाते हैं। जो बहाव के बीच आत्मस्थ होकर रहता है वही बहाव को जान पाता है। आत्मस्थ होना यानी अपनी ओर देखना। जो आत्मगुण अपने भीतर हैं उन्हें भीतर उतरकर देखना। अपने आपको देखना, अपने आपको जानना और अपने में लीन होना- यही आत्मोपलब्धि का मार्ग है।

मैं कौन हूँ? यह भाव भीतर गहराता जाये। ऐसी ध्वनि प्रतिध्वनि भीतर ही भीतर गहराती जाये, प्रतिध्वनित होती चली जाये कि बाहर के कान कुछ न सुनें। हमारे सामने अपना आत्म-स्वरूप मात्र रहे। तो उसी में भगवान महावीर प्रतिबिंतिंत हो सकते हैं। उसी में राम अवतरित हो सकते हैं। उसी में महापुरुष जन्म ले सकते हैं। यही तो महावीर भगवान का उपदेश है कि प्रत्येक आत्मा में महावीरत्व छिपा हुआ है।

आत्मा अनंत है। चेतना की धारा अक्षुण्ण है। आवश्यकता उसमें डुबकी लगाने की है। दर्पण में जैसे कोई देखे तो दर्पण कभी नहीं कहता कि मेरा दर्शन करो, वह तो कहता रहता है कि अपने को देखो। मुझमें भले ही देखो, पर अपने को देखो। अपने दर्पण स्वयं बनो। दर्पण बने बिना और दर्पण के बिना स्वयं को देखना संभव नहीं है।

"गुणवश प्रभु तुम हम सम
पर पृथक् हम भिन्नतम

दर्पण में कब दर्पण
करता निजपन अर्पण।''

गुणों की अपेक्षा देखा जाये तो भगवान और हममें समानता है। लेकिन सत्ता दोनों की पृथक्-पृथक् है। दो दर्पण हैं समान हैं लेकिन एक दर्पण दूसरे में अपनी निजता नहीं डालता। मात्र एक दूसरे की निजता को प्रतिबिंबित कर देता है। भगवान महावीर में हम अपने को देख सकें यही हमारी बड़ी से बड़ी सार्थकता होगी।

नदी, पहाड़ की चोटी से निकलती है। चलते-चलते बहुत से कंदराओं, मरुभूमियों, चट्टानों और गर्तों को पार करती है और अन्त में महासागर में विलीन हो जाती है। हमारी जीवन यात्रा भी ऐसी ही हो। अनंत की ओर हो ताकि बार-बार यात्रा न करना पड़े। संसार का परिभ्रमण रूप यह जन्म मरण छूट जाये। महावीर स्वामी ने आज की तिथि में जन्म लेकर; जन्म से मृत्यु की ओर यात्रा प्रारंभ की, जो अन्त में मृत्युंजयी बनकर अनंत में विलीन हो गई।

आत्मा को निरन्तर शरीर धारण करना पड़ रहा है। यही एक मात्र दुख है। शरीर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाना ही सच्चा सुख है। अभी तो जिस प्रकार अग्नि लोह पिण्ड के सम्पर्क में आने से लोहे के साथ पिट जाती है, उसी प्रकार शरीर के साथ आत्मा घटी/मिटी तो नहीं है लेकिन पिटी अवश्य है। विभाव रूप से परिणमन करना ही पिटना है। अपने आत्म स्वरूप से च्युत होना ही पिटना है। जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहना ही पिटना है। हम इस रहस्य को समझें और जन्म मरण के बीच तटस्थ होकर अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयास करें। अनंत सुख को प्राप्त करने का प्रयास करें।

भगवान महावीर का तो यह जन्म अंतिम था। उनकी मृत्यु भी अंतिम थी। वे स्वयं भी अंतिम तीर्थंकर थे। इसके पूर्व और भी तेईस तीर्थंकर हुए। सभी ने अपने आत्म बल के द्वारा अपना कल्याण किया और हमारे लिए कल्याण का मार्ग बताया। लेकिन हम इस जन्म के चक्र से स्वयं को निकाल नहीं पाये। हमारा जीवन धर्मामृत की वर्षा होने के उपरान्त भी अमृतमय नहीं हुआ। जरा देर के लिए बाहर से भले ही अमृत से भीगा हो लेकिन भीतर तक भीग नहीं पाया।

भीतर तक भीगने के लिए अन्तर्मन की निर्मलता चाहिये। श्रद्धा भक्ति ही अन्तर्मन को निर्मल बनाती है। भगवान महावीर की जयन्ती मनाकर अपने अंतर्मन को निर्मल बनाने का प्रयास करें। पाँच पापों से मुक्त होकर, कषाय भावों को छोड़कर आत्मस्थ होने का प्रयास करें।

शरीर की बदली हुई नश्वर पर्यायों में न उलझें। शरीर का बदलना तो ऐसा

है कि जैसे पुराना वस्त्र जब जीर्ण-शीर्ण होकर फटने लग जाता है तब उसे उतारकर दूसरा वस्त्र धारण कर लिया जाता है ऐसे ही जब तक यह आत्मा संसार में मुक्त नहीं होती तब तक नई-नई पर्याय अर्थात् शरीर को धारण करती रहती है। यही शरीर का बंधन दुखदायी है। इस बंधन से मुक्त होना ही सुखकर है। यही आदर्श है। यही श्रेयस्कर है। यही प्राप्तव्य है।

इसी भावना के साथ अंत में इतना ही कहूँगा कि—

नीर निधि से धीर हो, वीर बने गम्भीर
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर।
अधीर हूँ मुझ धीर दो, सहन करूं सब पीर
चीर-चीरकर चिर लखूं, अंदर की तस्वीर।।

□□

हनुमान जी, अंजना और पवनंजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न था, इसलिए उन्हें कहीं-कहीं लोग बजरंगबली भी कहते है। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न और सुंदर शरीर को धारण करने वाले मोक्षगामी परम पुरुष थे।

☐ परम पुरुष भगवान हनुमान

सुगध की आवश्यकता होने पर हम फूल या अन्य किसी सुगंधित पदार्थ की गवेषणा करते हैं। प्रकाश की आवश्यकता होने पर सूर्य की, दीपक की प्रतीक्षा करते है। शीतलता की आवश्यकता होने पर सघन छायादान वृक्ष या शीतल गंगाजल चाहते हैं। वास्तव में पदार्थ की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी उस पदार्थ में विद्यमान शक्ति/गुणधर्म की है। यह ठीक है कि पदार्थ के बिना गुणधर्म नहीं होते। जैसे फूल आदि के बिना सुगध नहीं रह सकती, सूर्य या दीपक के बिना प्रकाश दुर्लभ है।

लेकिन जब हमारा ध्यान प्रकाश सुगध या शीतलता आदि गुणधर्म की ओर न होकर मात्र पदार्थ की ओर होता है तब हम चूक जाते हैं। आत्म-शक्ति की ओर न देखकर मात्र शरीर की ओर देखते रहने का परिणाम यह हुआ है कि जीव संसार मे ही भटक रहे है। ऐसे समय मे समय-समय पर महान् आत्माएं आकर स्वय अपने आत्म कल्याण के माध्यम से हमारे सामने आदर्श प्रस्तुत करती हैं और शक्ति की उपासना, गुणों की आराधना का संदेश देती है।

"हिंसाया दुष्यति तिरस्कारं करोति इति हिन्दु।"

अर्थात जो हिसा से दूर है वास्तव मे वही हिन्दु हैं। हिन्दु, यदि कोई व्यक्ति है तो उस व्यक्ति को ऊपर उठाने वाली शक्ति/गुणधर्म अहिंसा है। अहिंसा ही हिन्दू होने की कसौटी है। हम व्यक्ति का सम्मान नहीं करते बल्कि हम व्यक्ति के भीतर विद्यमान व्यक्तित्व का आदर करते हैं।

व्यक्तित्व के अभाव में व्यक्ति की पूजा नहीं होती। यदि आज भारत और भारतीय संस्कृति जीवित है तो इसी सारभूत व्यक्तित्व के मूल्यांकन के कारण ही जीवित है। हम वस्तु के धर्म, स्वभाव या उसके गुणों के विकास की ओर दृष्टिपात करें। व्यक्ति के विकास के लिए अहिंसा गुण होना चाहिए। किसी जाति, शरीर, सम्प्रदाय आदि का महत्त्व नहीं है। महत्त्व अहिंसा धर्म का है।

हम किसी एक नामधारी भगवान को पुकारते हैं तो उसके साथ भी अनेक प्रकार के आवरण और ले आते हैं आवरणातीत सभी कलंकों से, दोषों से रहित भगवान

और निर्दोष पवित्र अहिंसा धर्म को पहचान पाना इन प्राप्त हुई आंखों से संभव नहीं है। जिस दिन धर्म की सही सही पहचान हमें हो जायेगी उसी दिन भक्त और भगवान के बीच की दूसरी समाप्त हो जायेगी। असीम संसार भी स्वल्प रह जायेगा और अंदर की कलुषता समाप्त होने लगेगी।

सुख शांति के रसास्वादन का प्रथम कदम है अपने से भिन्न अन्य पदार्थो से चित्त को हटाकर निज निरावरित आत्मा की ओर आना यदि हमें सुख शान्ति चाहिये है यदि हम विश्व में शान्ति लाना चाहते हैं तो प्राप्तव्य वस्तु के गुणधर्म की ओर दृष्टिपात करें।

भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति में यही बड़ा अंतर है कि भारतीय संस्कृति वस्तु के बाह्य आवरण को हटाकर आंतरिक गुणधर्म की ओर जाने की शिक्षा देती है। पाश्चात्य संस्कृति के विचार मात्र आवरण तक ही सीमित रह जाते हैं। भारतीय संस्कृति में सम्यक् ज्ञान का महत्त्व ज्ञेय पदार्थो की अपेक्षा अधिक है। दर्शन का महत्त्व अधिक है दृश्य का नहीं। भोग्य पदार्थ का महत्त्व (मूल्य) कभी भोक्ता से अधिक नहीं हो सकता। होना भी नहीं चाहिये। क्योंकि भोक्ता (आत्मा) ज्ञानी है। संवेदक है। चैतन्य है और शेष सभी पदार्थ जड़ है, अचेतन है। सुख बाह्य पदार्थों में नहीं अपनी आत्मा में है। वास्तविक धर्म भी वहीं है जो हमें आत्म तत्व की ओर आना सिखाता है। निष्कलंक और आवरण से मुक्त करता है।

मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आपके नगर में हजारों घर होंगे, क्या आपने कोई ऐसा घर या महाप्रासाद देखा है जिसमें एक भी दरवाजा या खिड़की न हो। वह घास-फूस की झोपड़ी ही क्यों न हो पर उसमें एक दरवाजा अवश्य होगा जिस प्रकार समग्र विश्व में बिना खिड़की या दरवाजे के कोई मकान संभव नहीं उसी प्रकार सारे संसार में बिना गुण के कोई मनुष्य नहीं है। बस, गुणों को देखने की आवश्यकता है।

गुणों की गवेषणा करने वाली दृष्टि अपने आप गुणों को प्राप्त कर लेती है। जो गुणों की खोज करता है वह गुणी को भी प्राप्त कर लेता है। गुण और गुणी का संबंध अभिन्न है। धर्म और धर्मात्मा का संबंध भी अभिन्न है। धर्म के अभावमें धर्मात्मा और धर्मात्मा के अभाव में धर्म कहीं मिलने वाला नहीं है।

यही कारण है कि गुणग्राही व्यक्ति दूसरे के सुख को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करता तथा स्वयं भी सुख और शांति का अनुभव करता है। जो दूसरे के अवगुण देखता है और दूसरे को सुखी देखकर ईर्ष्या करता है, वह कभी तृप्ति, सुख और शांति का अनुभव नहीं कर सकता।

भोग की ओर दौड़ लगाने वाला यह युग धर्म का नाम तो लेता है किन्तु धर्म की भावना नहीं रखता। पदार्थ को देखकर मात्र भोगवृत्ति का होना ही व्यक्ति को गुणों से विमुख करता है। भोक्ता जो चैतन्यमूर्ति है, संवेदनशील आत्मा है वह दिखाई नहीं पड़ता। यही अशांति और दुख का कारण है। यदि हमने सुख शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया है, तो हमारा कर्तव्य है कि जिन्होंने सुख-शाति प्राप्त की है उनकी शरण में जाये और उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर गुणग्राही बनकर अपने आत्म-गुणों को प्राप्त करने का प्रयास करे।

जो आत्मनिर्भर होकर निष्कलंक परम अवस्था को प्राप्त हुये हैं जो किसी का किसी भी रूप में लाभ अथवा हानि नहीं करते। जो अपने आप में स्थित हैं– ऐसे प्रभु की गवेषणा करनी चाहिये। तभी हमें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होगा। तभी हम अपने अदर स्थित उस आत्मतत्व को जो अनादिकाल से अनुभव मे नहीं आया, अनुभूत कर सकेगे।

रामनवमी यहाँ कुछ दिन पहले मनाई जा चुकी है। उसके उपरान्त भगवान महावीर के पावन आदर्शों की स्मृति स्वरूप महावीर जयन्ती का आयोजन किया जा चुका है। उसी श्रृखला में आज हनुमान जयन्ती है। उनका व्यक्तित्व अनोखा था। वे अजना और पवनजय के पुत्र थे इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ और शक्ति सम्पन्न था इसलिए उन्हे कहीं-कहीं लोग बजरगबली भी कहते है। उनका प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुणसम्पन्न सुदर शरीर को धारण करने वाले परम पुरुष थे।

आज विष्णु की उपासना करने वाले वैष्णव हैं। बुद्ध की उपासना करने वाले बौद्ध हैं। जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन हैं पर ध्यान रखना धर्म सम्प्रदायातीत है। मै जैन हूँ मैं हिन्दु हूँ मैं सिक्ख हूँ या ईसाई हूँ या मैं मुस्लिम हूँ इस प्रकार की मान्यता हमारे समाज रूपी महासागर के विशाल अस्तित्व को समाप्त करने वाली है। इस तरह टुकडो टुकडो मे बटकर एक एक बूद होकर अपने अस्तित्व को खोने मे ज्यादा समय नहीं लगेगा। बूद को सुखाने के लिए थोडी सी सूर्य की तपन पर्याप्त होती है। हमारा कर्तव्य है कि हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझे, धर्म को जीवन मे लायें और एक साथ रहकर परस्पर एक दूसरे के प्रति, प्राणिमात्र के प्रति, समूचे अस्तित्व के प्रति सद्भाव रखे।

रामचद्रजी को बनवास हुआ। सीताजी का हरण हो गया। तब राम, सीता के वियोग मे विचलित हो उठे। कभी नदी के पास जाकर पूछते कि हे नदी मेरी सीता कहाँ गई है, तुम्हे मालूम होगा, तुम तो बहुत दूर से बहती आ रही हो, मेरी सीता जरूर तुम्हारे किनारे आयी होगी, पानी पिया होगा, सध्या वदना की होगी, तुम्हारे तट पर बैठकर अर्हन्त भगवान का ध्यान किया होगा, मेरी स्मृति मे रोती होगी।

कभी वृक्ष के समीप जाकर पूछते कि हे वृक्ष, तुम्हीं बताओ मेरी सीता यहाँ से गुजरते समय तुम्हारी छाया में बैठी होगी, रसदार फल खाये होंगे, फिर किस ओर चली गई।

कहते हैं कि रामचंद्र जी कंकर-कंकर से पूछते रहे, पर सीता का कहीं पता नहीं लगा। इसी बीच एक दिन जब सुग्रीव जो अपनी पत्नि के हरण हो जाने से दुःखी थे, शरण में आकर रोने लगे तो रामचंद्र जी ने उन्हें सांत्वना दी और कहा कि सीता की खोज बाद में करूँगा, पहले तुम्हारा दुःख दूर करूँगा। तुम्हारा दुःख दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है। शरणागत दीन-दुःखी असहाय प्राणी की आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसे संकटों से बचाकर उसका पथ प्रशस्त करना यही क्षत्रिय पुरुषों का काम है। यही श्रेष्ठ धर्म है।

कुछ समय में ही राम की मदद से सुग्रीव को अपनी खोयी हुई पत्नी सुतारा मिल गई और सुग्रीव भी अपनी सेना के साथ सीताजी की खोज के लिए तत्पर हो गया। परस्पर उपकार का यही सुफल होता है।

उपकार का प्रबल भाव रखने वाले एक विशेष व्यक्तित्व का आज जन्म हुआ था। न्याय का पक्ष लेने वाले वे रामभक्त हनुमान थे। न्यायप्रिय व्यक्ति अन्याय का कभी पक्ष नहीं लेता, चाहे अन्याय का पक्ष कितना भी प्रबल क्यों न हो। न्याय तो वही है जो सत्-पथ पर ले जाये। सच्चाई के मार्ग पर ले जाये। हनुमान सत्पथ पर चलने वाले महापुरुष थे। जैसे ही उन्हें ज्ञात हुआ कि रामचंद्र जी का मार्ग न्याय का मार्ग है, तो वे रावण से निकट संबंध होते हुये भी उनका साथ न देकर राम के साथ हो गये।

सीताजी की खोज में वे लंका पहुँचे। तथा विभीषण के साथ वहाँ अशोक वाटिका में पहुँच गये जहाँ ग्यारह दिन से उपवास किये, राम के विछोह में दुःखी सीताजी बैठी थी। उनका संकल्प था कि जब तक स्वामी राम की खबर नहीं मिलेगी तब तक आहार ग्रहण नहीं करूँगी। आज इस तरह के आदर्श को प्रस्तुत करने वाले विरले होते हैं।

हनुमान जी ने जाकर वंदना की और कहा कि मैं रामचंद्र जी के पास से आया हूँ। आपका विश्वास और दृढ़ता देखकर अचरज में पड़ रहा हूँ। आपका विश्वास सच्चा है। अब आप निश्चिन्त हो जाइये, श्रीराम कुशल हैं। सारा वृतांत सुनकर और रामचंद्र ही के द्वारा भेजी गई मुद्रिका देखकर सीता जी आश्वस्त और प्रसन्न हुई।

इस तरह न्याय का समर्थन करने वाले हनुमान को सफलता मिली। विभीषण ने भी अपने बड़े भाई रावण का साथ छोड़ दिया। प्रत्येक व्यक्ति के पास अपना-अपना पुण्य-पाप है। इसी के आश्रय से सारा संसार गतिमान है। चल रहा है

तेजोबिंदु उपनिषद् में यह बात पढ़ने में आई कि–

"रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्म सृष्टेष्ट तु कारणं,
संहारे रुद्रको सर्व एवं मित्येपि निश्चनो।"

अर्थात् विश्व की सृष्टि करने वाला कोई ब्रह्मा, संरक्षण करने वाला कोई विष्णु या संहारक रुद्र (शंकर) मानना मिथ्या धारणा है। भीतर बैठी हुई आत्मा ही अपने अच्छे बुरे भावों की कर्ता है। आत्मा ही अपने भावों का यथासंभव संरक्षण करने वाली है और वहीं अन्त में अपने भावों को मिटाने वाली है। अतः प्रत्येक आत्मा स्वयं ब्रह्मा है और स्वयं ही विष्णु और शंकर है।

इन तरह इस उपनिषद् में बड़ी आन्तरिक घटना का उल्लेख है। दूसरे पर कर्तृत्व का आरोप लगाना मिथ्या है। अपने स्वतंत्र अस्तित्व को समझने के लिए ये वाक्य अमृत जैसे हैं। संसारी प्राणी अपने जीवन की बागडोर दूसरे के हाथों में सौंपकर स्वयं निश्चिंत होना चाहता है किन्तु अपनी आंतरिक शक्ति को (जो मौलिक है) जानने की कोशिश नहीं करता।

आणविक शक्ति के आविष्कारक अल्बर्ट आइंस्टीन महान् वैज्ञानिक माने गये हैं। उन्होंने लिखा है कि मैंने अणु की शक्ति की खोज विश्व शांति के लिए मानव के कल्याण के लिए किये जाने वाले कार्यों के संपादन के लिए की है। मेरी दृष्टि विनाश की नहीं है। इतना अवश्य है कि जिस दिन मानव का दिल और दिमाग खराब हो जाएगा उसी दिन इस शक्ति के द्वारा प्रलय हो जाएगा।

जब तक हमारे भीतर का ज्ञान सही-सही देवता की उपासना करता रहेगा। जब तक मन निर्मल रहेगा और भौतिक बाह्य निधि भले ही मिट जाये लेकिन हमारी भीतरी निधि को मिटाना संभव नहीं होगा। वह अक्षुण्य बनी रहेगी। विनाश की शक्तियों के बीच भी अहिंसा की यह आत्मिक शक्ति अपराजेय रहेगी। रावण के अहंकार और हिंसात्मक आचार-विचार पर विजय पाने वाले हनुमान जैसे अहिंसा धर्म के उपासक चरित्रवान् और न्यायप्रिय महापुरुष आज भी पूज्य हैं।

रावण को हराकर धर्मज्ञ विभीषण को लंका का राज्य सौंपकर जब राम अयोध्या लौट आये और सुख शांति के साथ जीवन व्यतीत करने लगे तब एक दिन अपवाद की बात सुनकर सीता जी को वन में छोड़ आने का उन्होंने आदेश दे दिया। हनुमान जी ने विरोध किया पर राम अपने निर्णय पर अडिग रहे। कहा कि इसी में सभी का हित निहित है। यही दूरदर्शिता और मर्यादा है। अन्यथा राजा के न्याय के प्रति लोगों का विश्वास उठ जायेगा।

आज का न्याय केवल अर्थ (धनसम्पदा) और स्वार्थ पर निर्धारित हो गया है। परमार्थ का ध्यान नहीं। सच्चा अर्थपुरुषार्थ तो वह है जिसमें धनसम्पदा का संचय आत्मा के लिए किया जाता है तो जीवन के विकास में सहायक होता है।

राम की आज्ञा से सीता जी को तीर्थ यात्रा के बहाने ले जाकर वन में छोड़ते समय कृतान्तवक्र दुःखी होकर रोने लगे और कहा कि हे मातेश्वरी, राजा की आज्ञा से मुझे सेवक के नाते यह कार्य करना पड़ा लेकिन प्रभु के चरणों में अब यही प्रार्थना करता हूँ कि आगामी जीवन में कभी किसी की नौकरी न करना पड़े। आपके प्रति

जो भी हुआ वह ठीक नहीं हुआ।

इतना सुनते ही सीता जी ने कहा कि कृतान्तवक्र तुम दुःखी मत होओ और रामचन्द्र जी के प्रति ऐसा विचार मत लाओ, वे मेरे स्वामी हैं उनकी आज्ञा शिरोधार्य है। जो भी हुआ वह मेरे पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप हुआ है। इसमें किसी का कोई दोष नहीं है। तुम अपने राजा राम से जाकर इतना ही कहना कि सीता को छोड़ दिया सो कोई बात नहीं लेकिन कभी धर्म का पक्ष न्याय का पक्ष, नहीं छोड़ना।

बंधुआ ! महान् आत्मायें अपने ऊपर आने वाली प्रत्येक विपत्ति को सहर्ष स्वीकार करती हैं और धर्म के मार्ग पर आरूढ़ रहकर दूसरों के लिए धर्म का मार्ग प्रदर्शित करती हैं।

सीता को वन में अकेली छोड़कर कृतान्तवक्र चला गया। इसी बीच पुण्डरीकपुर के राजा वज्रजंघ अपनी सेना के साथ उस वन से निकले और सीता जी का हाल जानकर उन्हें अपनी धर्म बहिन मानकर पुण्डरीकपुर ले आये। वहीं सीता के दो परमवीर पुत्र उत्पन्न हुये। एक दिन जब नारद सीता का हाल जानने वहाँ पहुंचे तो दोनों पुत्रों लव और कुश ने उनका सम्मान किया। जिससे संतुष्ट होकर नारद ने कहा कि तुम्हारा वैभव और बल राम और लक्ष्मण की तरह हो।

तब दोनों पुत्रों लव-कुश ने पूछा कि ये राम-लक्ष्मण कौन है? तो नारद ने सारा वृतान्त सुना दिया। दोनों कुमारों ने सारी बात सुनकर राम-लक्ष्मण से युद्ध करने का विचार बना लिया और कहा कि हम अपनी माता के साथ किये गये इस व्यवहार का बदला लेंगे। सीता सोचने लगी कि अब क्या होगा? उन्होंने पुत्रों को समझाया कि श्रीराम के साथ विरोध करना उचित नहीं है। वे तुम्हारे पिता है, तुम बड़ी विनय के साथ जाकर नमस्कार करके पिता के दर्शन करो। यही ठीक रहेगा। पर लव-कुश नहीं माने। माँ से कह दिया कि आप चिंतित मत होओ हम आपके पुत्र है। वीरों का मिलन युद्ध स्थल में ही होता है। हम वन में आपको अकेला छोड़ने वाले अपने पिता से युद्ध में ही मिलेंगे, और माँ को प्रणाम करके अयोध्या की ओर चल पड़े।

जब कर्त्तव्य और न्याय में निपुण हनुमान को लव-कुश की वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो वे राम-लक्ष्मण की सेना को छोड़कर लव-कुश की सेना में आ गये; और कहा कि यही न्याय का पक्ष है। बड़ी विचित्र स्थिति बन गई जो हनुमान पहले राम के साथ थे, आज वे ही श्रीराम के विपक्ष में युद्ध के लिए प्रस्तुत हो गये। क्षत्रिय का धर्म यही है कि न्याय के पक्ष में धर्मयुद्ध करना और अन्याय का समर्थन नहीं करना।

युद्ध प्रारंभ हुआ और देखते-देखते राम-लक्ष्मण का पक्ष कमजोर पड़ने लगा। अंत में जब लक्ष्मण ने चक्ररत्न चलाया तो वह भी लव-कुश के पास पहुँचकर कांतिहीन हो गया। तब शीघ्र ही नारद ने जाकर लक्ष्मण जी को लव-कुश का परिचय दिया

और सीता के दुःखों का वृत्तान्त कह दिया।

तब स्नेह में आकुल होकर राम लक्ष्मण पुत्रों के समीप चल पड़े। दोनों पुत्रों ने भी रथ से उतरकर हाथ जोड़कर पिता को प्रणाम किया। सभी परस्पर मिले। हनुमान ने गद्गद होकर श्रीराम को प्रणाम किया और दोनों पुत्रों को गले लगा लिया। सभी समझ गये कि हनुमान ने क्यों राम का पक्ष छोड़ दिया था। ऐसे न्याय का पक्ष लेने वाले हनुमान धन्य है। जो व्यक्ति न्याय का पक्ष लेता है, उसके पक्ष में सारा विश्व हो जाता है।

सभी के परस्पर मिलन से सभी प्रसन्न थे। हनुमान, सुग्रीव आदि ने राम से सीता जी को वापिस अयोध्या ले चलने की बात कहीं तब श्रीराम ने कहा कि यद्यपि सीता निर्दोष है लेकिन सभी के सामने उनकी निर्दोषता प्रकट होनी चाहिये। सीता सहर्ष तैयार हो गई। सभी प्रियजन शोकाकुल हो गये। अग्नि-परीक्षा के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित की जाने लगी।

जिनका मन अत्यंत दृढ़ है, ऐसी सीता ने कायोत्सर्ग किया और अग्नि में प्रवेश करने से पहले कहने लगी कि हे अग्नि ! यदि राम को छोड़कर किसी अन्य पुरुष को स्वप्न में भी मन-वचन-काय से मैंने चाहा हो तो दूर रहकर भी तू मुझे भस्मसात कर दे और यदि सदाचार में स्थित मैं सती होऊं तो तू मुझे जला नहीं पायेगा। इतना कहकर जैसे ही सीता ने अग्नि में प्रवेश किया, उसी क्षण अग्नि, जल में परिवर्तित होने लगी। सब ओर जल फैलने लगा और जल के बीच सीता सिंहासन पर बैठी दिखाई पड़ी। देवों ने आकर पुष्पवृष्टि प्रारंभ कर दी। सभी लोग गद्गद कंठ से जय-जयकार करने लगे। सभी नतमस्तक हो गए।

श्रीराम हर्षित होकर कहने लगे कि 'परीक्षा में पास हो गई। सभी का मन का मैल निकल गया। सीता जी अब घर लौट चलो।' तब सीता ने शान्तभाव से कहा "कि अब भवन कहाँ अब तो वन में रहना ठीक है। मैं अग्नि परीक्षा में पास हो गई, इसमें शील धर्म की लाज बच गई। अग्नि में तपकर मेरे शीलव्रत में निखार आया है। अब तो जीवन पर्यन्त पंचमहाव्रत रूप शील को ग्रहण करूंगी।'' इस तरह सब से विरक्त होकर वे वन में जाकर आर्यिका के व्रतों को अंगीकार कर लेती है। केशलुंच करके मात्र एक साड़ी अपने पास रखती है और समस्त आरंभ परिग्रह से मुक्त होकर अर्हन्त प्रभु के ध्यान में लीन होकर विचार करती है कि–

"पाषाणेषु यथा हेमं, दुग्ध मध्ये यथाघृतम्।
तिलमध्ये यथा तैल, देह मध्ये तथा शिवः।
काष्ठ मध्ये यथा बह्नि शक्ति रूपेण तिष्ठति।
अयमात्मा शरीरेषु यो जानाति स पंडितः।।

अर्थात् जिस प्रकार पाषाण में सोना विद्यमान है, दूध में घी विद्यमान है, तिल में तेल और लकड़ी में अग्नि शक्ति रूप से विद्यमान है, उसी प्रकार शक्ति रूप से

इस देह में शिव (आत्मा) विद्यमान है। जो ऐसा जानता है वही विद्वान है, ज्ञानी है।

इस प्रकार ध्यान में लीन सीता की वदना करके गद्गद कंठ से श्रीराम कहने लगे कि हे आर्यिका माता मेरा जीवन धन्य हो गया। आपने यह अंतिम परीक्षा देकर हमें शिक्षा दे दी कि आत्मा पृथक है और देह पृथक है। आपका जीवन कृतार्थ हो गया।

यह सब देखकर कुछ समय के उपरान्त हनुमान जी भी संसार से विरक्त हो गये। कह दिया कि अभी तक न्याय का पक्ष लिया अब आगे आगम का पक्ष, आत्मा का पक्ष लूंगा और वन में जाकर परम दिगम्बर दीक्षा अंगीकार कर ली।

उन्होंने जीवन भर सत्य का साथ दिया और अंत में सत्य को प्राप्त करने के लिए मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ हो गये। मुक्ति को पा गये। वे चरम शरीरी सर्वांग सुन्दर देह को धारण करने वाले थे। उनके सौंदर्य को देखकर स्वर्ग की अप्सरायें भी मुग्ध हो जाती थीं। सभी उन्हे चाहते थे लेकिन वे अपने आत्म स्वरूप में लीन रहना चाहते थे, यही उनकी विशेषता थी।

जहाँ तक मुझे स्मृति है हनुमान जी का तीर्थक्षेत्र मांगी-तुंगी माना जाता है, जो कि महाराष्ट्र प्रान्त में है। वहाँ पर एक ऐसी ध्यान मग्न प्रतिमा है जिसका मुख दीवाल की तरफ है, जो इस बात की प्रतीक है कि अप्रतिम सौन्दर्य के धनी होकर भी हनुमान जी विश्व से विमुख रहे। अपनी ओर देखने में, आत्मज्ञ बनने में लगे रहे। उन्होने समस्त बाह्य पदार्थों से हटकर अपने अजर अमर आत्मतत्व की ओर दृष्टिपात किया।

आज इस जयन्ती समारोह के आयोजक विश्व हिन्दू परिषद् वालों को और उपस्थित सभी लोगों को संकल्प कर लेना चाहिये कि हम श्रीराम के अनुरूप, महावीर स्वामी के अनुरूप और मुक्तिगामी हनुमान के अनुरूप अपने जीवन को बनायेंगे। अहिंसा धर्म का पालन करते हुये हिंसा से दूर रहकर सत्य की उपासना करेंगे। जैन पुराणों के आधार पर मैंने आपके समक्ष यह राम और हनुमान की कथा रखी। इससे उज्ज्वल चरित्र हनुमान का अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। हमारा कर्तव्य है कि हम उनका अनुकरण करते हुये उचित मार्ग पर चलें और सिद्धपद को प्राप्त करें।

□□

□ प्रवचन-प्रमेय

1

यह पंचकल्याणक महोत्सव का अवसर आप लोगों को उपलब्ध हुआ है। जनता ने आग्रह किया था, प्रार्थना की कि आप भी यहाँ पर आयें- पधारें। हमने कहा–देखो ! जैसा अभी पण्डित जी ने कहा– महाराज जी कुछ कहते नहीं। मैं तो वह कहता हूँ जो आत्मा की बात होती है। आत्मा का स्वभाव देखना जानना है। इसलिए क्या होता है? आपको भी देखना है। लेकिन आप कुछ होने से पहले ही देख लेना चाहते हैं, जो सम्भव नहीं है।

वस्तु का परिणमन जिस समय, जिस रूप में होता है। उसी को देखा जा सकता है। और उसी का अनुभव किया जा सकता है। रागी, द्वेषी, कषायी, व्यसनी व्यक्ति परिणमन तो कर रहा है किन्तु वह जानना-देखना छोड़कर भविष्य की लालसा में पड़ जाता है। संसार की यही रीति है। यही रीति आप लोगों को पसंद आती है इसलिए ससार में है। जिस दिन वस्तु का वर्तमान परिणमन हमारा ध्येय बन जाये, पेय बन जाये,ज्ञेय बन जाए, उस दिन संसार में हमारे लिए कोई भी वस्तु अभीष्ट नहीं रह जायेगी। हमने यही कहा, अभी भी यही कहूँगा और आगे के लिए क्या कह सकता हूँ– पता नहीं? जब कभी पूछा जाए यही कहता हूँ नहीं भी पूछें। तो भी मैं यही कहना चाहता हूँ कि देखना-जानना अपना स्वभाव है तो उसे हम भूलें ना।

मंगलाचरण में आचार्य कुन्दकुन्द देव को नमोऽस्तु किया गया और प्रार्थना की कि हे भगवन्! जिस प्रकार आपका जीवन निष्पन्न-संपन्न हुआ, उसी प्रकार हमारा भी जीवन सम्पन्न हो। हमारा भी जीवन प्रतिपन्न हो। हम अभ्युत्पन्न-मति वाले हों। हमारे पास मति तो है, लेकिन वह मति चौरासी लाख योनियों में भटकने-भटकाने वाली है। उसको हम भूल जायें और आप जैसे बन जायें, बस और कोई इच्छा नहीं।

मोक्षमार्ग इतना बड़ा नहीं है, जितना हमने समझ रक्खा है। हम सोचते हैं कि **अनन्तकाल से परिचय में आने पर भी वह अधूरा-सा ही लगता है, कभी भी पूरा**

नहीं, अतः मोक्षमार्ग बहुत बड़ा है। लेकिन मोक्षमार्ग बहुत अल्प-स्वल्प है। कल्पकाल से आ रहे दुःख को शान्ति में परिवर्तित कराने की क्षमता इसमें है। मोक्षमार्ग बहुत प्रयास करने पर प्राप्त होता है, ऐसा भी नहीं है। यह तो बहुत शान्ति का मार्ग है। जैसे– एक भवन निर्माण कराना था। देश-विदेशों से इन्जीनियरों को बुलवाया गया। उन्होंने नक्शा आदि तैयार कर दस साल तक परिश्रम किया और दस-बीस लाख रुपये खर्च कर, उसे तैयार भी कर दिया। लेकिन वह पसंद नहीं आया। अब तो यही समझ में आता है कि जिस प्रकार तैयार होने में दस साल और लाखों रुपये लगे हैं, वैसे ही इसे साफ करने में और लगेंगे। इन्जीनियरों से पूछा गया– हमें यह पसन्द नहीं है। इसके निर्माण में तो दस साल लग गये तो क्या इसको गिराने में भी इतना ही समय लगेगा? उन्होंने कहा– नहीं ! निर्माण के लिए बहुत समय लगता है, नाश के लिए नहीं। इसी प्रकार "कर्मक्षय के लिए इतने प्रयास जंजाल और उलझनों की कोई आवश्यकता नहीं।" आपने जीवन में बहुत कुछ कमाया है, जमाया है, अर्जित किया है व उसको बांध-बूंधकर रखा है, लेकिन अब उसे छोड़ने के लिए लम्बे समय की आवश्यकता नहीं। इतना ही आवश्यक है कि अपनी खुली आंखों को इन पदार्थों की तरफ से मोड़ लें। "दृष्टि नाशा पै धरें" बन्द भी नहीं करना है। मात्र अपनी आंखों के बीच में एक "ऐंगिल" बन जाए– कोण बन जाए तो हमारा दृष्टिकोण भीतर की ओर आ जाएगा, यही पर्याप्त है। वहीं के वहीं परिवर्तन हो जाएगा। सब वस्तुएं वहीं धरी रहेंगी। सागर, सागर में है जयपुर जयपुर में है ! जयपुर वाले यहाँ पर तभी तक हैं जब तक कि उनका दृष्टिकोण उधर है– सम्बन्ध जोड़ रखा है। लेकिन न जयपुर आपका है ना हमारा। न सागर आपका है, ना किसी अन्य का। सागर, सागर में है। भवसागर, भवसागर में है। हम तो उसे तैर रहे हैं। **बस ! आप सागर में रहते हैं और हम सागर पर रहते हैं, इतना ही अन्तर है।**

बन्धुओ ! सागर पर रहने वाला, भवसागर में रहने वाला नहीं होता। यह संसारी प्राणी नहीं हुआ करता। वह तो मुमुक्षु हुआ करता है। चाहने वाले मोही का नाम मुमुक्षु नहीं हुआ करता। "मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः" मुमुक्षु, शब्द की व्युत्पत्ति ही कहती है कि वह जोड़ता नहीं, छोड़ने की इच्छा करता है। लेकिन संसारी प्राणी जोड़ने की इच्छा रखता है। भैया ! आप क्या चाहते हैं, जोड़ना या छोड़ना? जोड़ना चाहते हैं, इसीलिए मैं कहता हूँ– भैया ! मुमुक्षु की कोटि में नहीं आ सकते। पण्डित जी अभी बोल रहे थे कि क्या छोड़े? जो जोड़ा है, उसे ही छोड़ना है। जिसके साथ हमारी लगन है, प्यार है। जिसको हमने अपनी तरफ से इंगित किया, प्रयास के साथ अर्जित

किया, उसे ही छोड़ना है। लेकिन लगता है यदि भगवान् भी कह दें तो छोड़ना आप लोगों को संभव नहीं हो सकेगा। भगवान् कह भी तो रहे हैं– 'कि तुम्हें वही छोड़ना है, जो जोड़ा है। मैंने जो जोड़ा है, वह नहीं। पूर्वावस्था से मैंने भी जो जोड़ा था उसे छोड़ दिया। लेकिन अब जो यह जुड़ गया है वह अब जीवन का अंग/हिस्सा बन गया है। जीवन का स्वभाव धर्म है। धर्म को कभी नहीं छोड़ना है। फिर क्या छोड़ना है? छोड़ना वही है, जो आपने जोड़ा है। मुझे यह नहीं पता कि आपने क्या-क्या जोड़ रखा है। भगवान् का कहना तो इतना ही है कि, जो जोड़ रखा है, जोड़ते जा रहे हो और जो जोड़ने का संकल्प ले लिया है– भविष्य का, जीवन जीने के लिये जो तैयारी करने का प्रयास चल रहा है, बस ! उसको ही छोड़ना है। फिर सारा का सारा भविष्य ही अन्धकारमय नहीं हो जाएगा? अन्धकार नहीं होगा। यह जो "आर्टीफिशियल लाइट" है उससे आँखों पर चमक आ रही है। इसको फेंक दीजिए।

वर्तमान मे जितना भी प्रकाश है, वह आँखों को खराब करता है। अतः इस प्रकाश को छोड़ दीजिए। **यह प्रकाश, प्रकाश नहीं है। प्रकाश तो वह है, जिसमें कोई भी वस्तु अन्धकारमय नहीं रहे। कोई भी पदार्थ ज्ञातव्य नहीं रहे।** वह प्रकाश लाइये। बाहर से "स्टोर" किया गया प्रकाश हमारे काम का नहीं। वह अन्धकार के सामने शोर करता है और उसे भगा देता है। लेकिन भगाने वाला प्रकाश, प्रकाश नहीं हो सकता। "प्रकाश तो अपने-आप में सबको लीन कर लेता है, चाहे वह अन्धकार ही क्यों न हो।" समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा– **दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति।**

दीपक का प्रकाश तम को कभी भगाता नहीं, किन्तु तम को ही प्रकाशमय बना देता है। वस्तु का एक स्वभाव-गुण, प्रकाशमय होना भी है तो दूसरा विभाव अन्धकारमय होना। हमारा ज्ञान एक ही है; वही ज्ञान, अज्ञान हुआ है, अब उसे ही ज्ञान की ओर "डायवर्ड" करना है। और कोई क्रिया नहीं, वहीं के वहीं सब कुछ हो जाएगा। कहीं भागना नहीं, कहीं जाना नहीं। किन्तु जो जोड़ने का भाव है, जिसके साथ जुड़न चल रहा है, उसको जानना है, पहचानना है। यह कोई उलझन की बात नहीं। बहुत सीधी-सादी बात है। **मुमुक्षु के जुड़ नहीं रहा, जोड़ नहीं रहा, उसे छोड़ने की इच्छा कर रहा है। छोड़ने की इच्छा, इच्छा नहीं है। वह छोड़ेगा, और ऐसे छोड़ेगा कि बस यूं आँख फेर लेगा। अरे ! आँख क्या फेरेगा, उसमें भी तो गरदन को व्यायाम करने की आवश्यकता है लेकिन वह तो वहीं के वहीं, वैसा का वैसे ही स्वस्थ हो जाएगा।** अब आप भले ही पूछने लग जाएं कि– क्या बात हो गयी, ऐसी

कौन-सी उपेक्षा आ गई। उसके लिये तो अब उपेक्षा नहीं, मात्र किसी से भी अपेक्षा नहीं है, इतना ही है। दुनिया की दृष्टि में वह नटखट-सा लगने लगता है। जब हमारा पेट भरा हो तब किसी की आवश्यकता नहीं– अपेक्षा नहीं। आप मेहमान के यहाँ गये हैं। आपके सामने बहुत से व्यंजनों से शोभित थाली परोस दी गई और पूछा जाता है कि आपको क्या दें? क्या चाहिए?...........बस ! इतना ही चाहिये कि अब अधिक मत पूछिये। क्योंकि हमारा पेट भरा है। आपने जो अनेक प्रकार के व्यंजन बना रखे हैं, इन्हें इसमें डालें, ऐसा नहीं हो सकता। भरपेट होने पर कोई इच्छा नहीं। इच्छा बताने की आवश्यकता ही नहीं। जहाँ पर अपेक्षा है, वहाँ पूछताछ होती है। जहाँ पर अपेक्षा नहीं वहाँ उपेक्षा हो गई। इन शब्दों की व्युत्पत्ति यूं कहना चाहूंगा–

"अपगतं ईक्षणं यस्य सा इति अपेक्षा"

अर्थात् जिसके जानने-देखने की समीचीन दृष्टि ही समाप्तप्रायः है– हो चुकी है उसका नाम अपेक्षा है। और (**'ईक्षणस्य समीपं इति उपेक्षा"**) अर्थात् बिल्कुल निकट से देख रहा है। बहुत निकट आ चुका है इसलिए दूसरे पदार्थों की अपेक्षा नहीं, उसी का नाम उपेक्षा है। समन्तभद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र में अरहनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है–

"दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर ! पराजितः"

सम्यग्दर्शन-देखना, सम्पत्-आत्मा की सम्पदा ज्ञानधन। समन्तभद्राचार्य ने रत्नत्रय की विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न शब्दों से बात कही है, सम्पद्-वीतराग विज्ञान। ज्ञान नहीं, किन्तु वीतरागविज्ञान। चारित्र के लिए भी उन्होंने ऐसा शब्द चुना जिसे दुनिया "उपेक्षा" की दृष्टि से देखती है, रागद्वेष की दृष्टि से देखती है। चारित्र के लिये "उपेक्षा" भी बोलते हैं। जिसके पास आना किसी को इष्ट नहीं। दूर जाना तो बहुत इष्ट-सरल है। समझने के लिए- कोई व्यक्ति निर्धन था, अब उसे कुछ धन मिल गया तो उसमें गति आ गई। पहले गति तो थी लेकिन पैरों में थी। पैरों से पैदल चलता था। अब भी पैरों में गति है, लेकिन अब पैडल चला रहा है। साइकिल पर बैठ गया है। गति हो गई, प्रगति हो गई, किन्तु अभी रास्ते पर चल रहा है। जब विशेष रूप से धन कमाता है तो मोटरसाइकिल ले आता है। पहले "बाइसिकल" थी अब "मोटरसाइकिल" आ गई। यदि और धन आ जाता है तो उसमें गति और तेज हो जाती है। गति तो तेज होती है पर आत्मा को छोड़कर, केन्द्र को छोड़कर, बाहर की ओर होती है। आत्मा को बहिरात्मा बना देता है धन। जिससे भागने लगता है तेज चलने से "एक्सीडेन्ट" हो सकता है। धन की वृद्धि से वह अब मोटरसाइकिल से कार पर आ जाता है। इससे आगे कार से

भी उठने लगता है। कार भी बेकार लगने लगती है तो प्लेन की बात आ जती है। जैसे-जैसे धन बढ़ता गया, वैसे वैसे विकास तो होता गया, लेकिन धर्म को नहीं समझ पाया, जो इसकी निजी सम्पदा है। इस प्रकार धन के विकास में संसारी प्राणी अपनी सम्पदा-ज्ञान का दुरुपयोग भी करता जा रहा है।

कल्पना करिये, जो पैदल यात्रा करता है, यदि वह गिर जाता है तो क्या होता है? थोड़ी-बहुत चोट लग जाती है। फिर उठ जाएगा और चलने लग जायेगा। यदि साइकिल से गिर जाए तो? थोड़ी ज्यादा चोट लग सकती है। यदि मोटर साइकिल से गिरे तो? उसे उठाकर अस्पताल लाना होगा। यदि कार से दुर्घटना हो जाए तो? गंभीर समस्या हो जाती है और यदि प्लेन से यात्रा करते हुये "एक्सीडेन्ट" हो जाता है तो? वह तो देवलोक ही चला जाता है। दिवंगत हो जाता है। उसके मृत शरीर का दाह संस्कार करने की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

बन्धुओ ! धन असुरक्षित करता है और धर्म सुरक्षित। समन्तभद्रस्वामी ने कहा– भगवान कामवासना को आपने कौन-से शस्त्रों के द्वारा जीता? कामदेव को आपने अण्डर में कैसे रखा? दृष्टि-सम्यग्दर्शन सम्पद-सम्यग्ज्ञान और उपेक्षा-सम्यक्चारित्र वीतरागविज्ञान इन तीनों शस्त्रों के द्वारा ही आपने उस वासना को, जो उपयोग में ही लीन-एकमेक हो रही थी जीत लिया। अपने अण्डर में कर संयमित बना लिया, नियमित बना लिया। यह रास्ता बहुत सरल है। इसको समझने की ही देर है कि वह सारा का सारा काम समाप्त हो जाएगा जो अनन्तकाल से चला आ रहा है।

ऐसी ही भावनाओं को लेकर कोई भव्य -**कश्चिद्भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुर्विविक्ते परमरम्ये भव्यसत्त्वविश्रामास्पदे क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषन्मध्ये संनिषण्णं मूर्त्तमिव मोक्षमार्गमवाग्विसर्गं वपुषा निरूपयन्तं युक्त्यागमकुशलं परहितप्रतिपादनैककार्यमार्यनिषेव्यं निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसत्य सविनयं परिपृच्छति स्म।**

प्रत्यासन्न भव्य, प्रज्ञावान्-बुद्धिमान्-ज्ञानवान् है। इन उपाधियों के साथ एक उपाधि है, "स्वहितमुपलिप्सुः" यह मुमुक्षु का सबसे पैनी दृष्टिवाला लक्षण है। मुमुक्षु वही है, जैसा पहले कहा था– "मोक्तुमिच्छुः मुमुक्षुः।" "भोक्तुमिच्छुः बुभुक्षुः" हो जाता है। बुभुक्षु की चाह असमाप्त है और मुमुक्षु अपनी चाह को ही मेटना चाहता है। बुभुक्षु की दृष्टि, धन के विकास में नहीं। जैसे-जैसे धन का विकास चाहेगा वैसे-वैसे वह मुमुक्षु बनता चला जायेगा। भोग के पथ पर संसारी प्राणी अनन्तकाल से चलता आया है। यह ऐसा पथ है "**कालाध्वे पथि दुःखानाम्**" जिस पर "सउन्ड" लगाते हुये भी लगता है कि मैं बिल्कुल नये पथ पर चल रहा हूँ। वह पथ, जनपथ

की ओर ले जाता है, जिनपथ की ओर नहीं। जनपथ, जिस पथ पर वासना से युक्त लोग चलते रहते हैं। जिनपथ से विपरीत दिशा की ओर ले जाता है। जनपथ, जिनपथ कदापि नहीं बन सकता।

आज की यह आयोजना, जिनपथ पर चलने के लिए ही है। राग के समर्थन के लिए नहीं, वीतरागता एवं वीतरागी के समर्थन के लिए है। हमें धन का समर्थन–परिवर्तन नहीं करना किन्तु उसका परिवर्जन/विसर्जन करने का काम, इस अवसर पर करना है। धन के द्वारा नशा, वासना का ऐसा रंग चढ़ जाता है, जिससे लगता है कि हम बहुत सुख का अनुभव कर रहे है। लेकिन ध्यान रखिये ! जैसे-जैसे धन बढ़ता जायगा वैसे-वैसे धर्म ओझल होता जायेगा एवं उसका पथ भी। पथ पर चलने के लिए बोझिलपना भी आता जाता है। जहाँ से उपासना प्रारम्भ होती है वहाँ, बढ़ने के लिए इन पदों में शक्ति क्यों नहीं आ रही, कहाँ जा रही है? जबकि वासना की ओर बढ़ने के लिए स्वप्रेरित है। आत्मा को/जीव को उस ओर बढ़ने के लिए धन का विसर्जन आवश्यक होता है। इस प्रकार सारी इच्छाओं को विसर्जित कर अपने हित को चाहने वाला वह भव्य कहा जा रहा है "क्वचिदाश्रमपदे मुनिपरिषण्मध्ये" एकान्त स्थल में जहाँ मुनि-महाराजो की मण्डली के बीचों बीच बैठे हैं आचार्य महाराज ! वह रागी नहीं, वासनाग्रस्त नहीं, मोही नहीं, परम वीतरागी हैं। युक्ति और आगम में कुशल हैं। कुछ बोलते नहीं, वह तो अपनी मुद्रा के द्वारा, वीतरागछवि के द्वारा - नग्नकाया के द्वारा मोक्षमार्ग का, बिना मुख खोले उपदेश दे रहे हैं। जैसा कि पण्डितजी ने कहा था "चलते फिरते सिद्धों से गुरु" ऐसे सन्त जो अरहन्त के उपासक है, धनपति के नहीं। धन की चाह नहीं। जो चाह की दाह में झुलसा हुआ अपना आत्मतत्त्व है उस आत्मतत्त्व को बाहर निकाल कर, धर्मरूपी परमामृत में उसे डुबोना चाह रहे हैं, ताकि अनन्तकाल की दाह, झुलसन, उत्पीड़न और जलन शान्तिरूप परिवर्तित हो जाय।

इसी प्रकार शान्ति की तलाश में निकला, वह भव्य सोचता है कि– वर्तमान में जो चीजें अच्छी लग रही है। वे चीजें जहाँ तक अच्छी लगती चली जायेगीं, वहाँ तक उनके सम्पादन में लगा रहूँगा। और यह सब जनपथ का ही माहौल है। इससे मेरा उद्धार होने वाला नहीं। वह इस पथ से हटकर अपने हृदय में एक अद्‌भुत किरण की उद्‌भूति चाहता है। अतः जनपथ को छोड़कर जिनपथ की ओर आया है। वह ऐसे मुनिमहाराज आचार्य महाराज को देखकर कहता है– आज मैं कृतकृत्य हो गया। मुझे आज समझ में आ गया। **मैंने जो अन्यत्र देखा वह यहाँ पर देखने को नहीं मिला और जो यहाँ पर देखा वह अन्यत्र देखने के लिए नहीं मिला।** सुख की मुद्रा देखने का

अवसर आज मिला। सुख की मुद्रा यही है। अन्यत्र तो मात्र उसका अभिनय है।

नग्नकाया में रहने वाली, आत्मा के अंग-अंग से वीतरागता फूट रही है। यही एक मात्र आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन है। यही हितकारी मुद्रा है। हितैषी है। हितैषी का मतलब लोक हितैषी या स्वहितैषी? किसका हित? क्या संसार का हित करने की आप सोच रहे है। तो संसार का हित करने के लिए स्वयं अपने आपका हित करना आवश्यक है। **जो व्यक्ति हित के पथ पर नहीं चलता वह दूसरों का हित नहीं कर सकता। मात्र हित की बात कर सकता है, लेकिन हित से मुलाकात नहीं कर सकता। हित की बात करना अलग है और हित से मुलाकात अलग। मुलाकात में उसका साक्षात्कार है, बात में नहीं।** ऐसे हितकारी आत्मतत्त्व को दिखा नहीं सकते क्योंकि वह देखने में आता भी नहीं। पण्डित जी अभी-अभी कह रहे थे कि– जीवतत्त्व को पहचानना आवश्यक है। ठीक है ! लेकिन उसके साथ यह भी कह गये कि– अध्यात्म ग्रन्थ आत्मतत्त्व का साक्षात् स्पर्श करा देते हैं। बात प्रासंगिक है, इसलिये मैं उठाना आवश्यक समझता हूँ, ताकि चार-पांच दिनों तक उस पर विचार-विमर्श हो जाए।

सन्तों ने, धर्मात्माओं ने, लेखकों ने और विद्वानों ने जिनवाणी को मां की कोटि में रखा। उन्होंने कहा–

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवहिं सिरसा।।

उस श्रुतसागर को मेरा नमस्कार हो, जिस श्रुतसागर का उद्भव सर्वप्रथम वीरप्रभु जिन्होंने अर्हन्त पद प्राप्त किया उसके उपरान्त-उसका विश्लेषण किया, से हुआ है। वीर प्रभु ने हमें साक्षात् शाब्दिक वाणी नहीं दी, क्योंकि शब्दों का एक जाल होता है, सीमा होती है, शक्ति होती है और अपनी सामर्थ्य भी। जबकि वस्तु तत्त्व-विश्लेषण अनन्त होता है। शब्दो में अनन्त को बांध सकने की सामर्थ्य नहीं। इसलिए वस्तुतत्त्व उन शब्दों की पकड़ में आने वाला नही। अतः भगवान् ने (वीरप्रभु ने) जो बखान किया वह अर्थश्रुत है अर्थश्रुत को ही विश्व के सामने रखा। अब आप समझ लीजिये अर्थश्रुत अलग है और शब्दश्रुत अलग। दोनों में बहुत अन्तर है। शब्दश्रुत वह वस्तु है जो हम लोगों तक "डायरेक्ट लाइन" से मिलती है, सीधे अर्थ बोध कराता है। जबकि अर्थश्रुत– "इनडायरेक्ट लाइन" माध्यम बनाकर अर्थबोध कराता है; जैसे विद्युत लाइन दो प्रकार की होती है एक पावर वाली और एक घर की। पावर वाली लाइन "डायरेक्ट" होती है और घर वाली "इनडायरेक्ट" मिलती है। **वह स्टोररूम से शाखा-उपशाखाओं में विभक्त होकर घर तक दी जाती है, तभी वह जीरो वाट से सौ वाट तक के लिए पर्याप्त होती है। इसी प्रकार भगवान् ने जो अर्थश्रुत दिया**

वह अनन्तात्मक है, वह साक्षात् रूप में हमारे काम का नहीं। उसको सुनकर ही गणधर परमेष्ठी ने भी उनका अनन्तवां भाग समझ पाया। अर्थात् भगवान् ने जो कहा वह अनन्त और जो गणधर परमेष्ठी के पल्ले पड़ा वह उसका भी अनन्तवां भाग। छद्मस्थ के पास ऐसी कोई भी शक्ति नहीं, जो अनन्त को झेल सके। गणधर परमेष्ठी हमारे पूज्यनीय, हमसे बड़े हैं लेकिन वह भी छद्मस्थ ही हैं। इसलिए अनन्त को झेलने की क्षमता उनके पास भी नहीं। इसके बाद, उन्होंने जितना झेला, उसे पूरा का पूरा द्वादशांग के रूप में नहीं दे सके। कोई भी ''माइण्ड'' ऐसा नहीं है जो जितना विचार करे और उतने को-पूरे को ही शब्द का रूप दे सके। शब्द में उतना आ नहीं सकता। क्योंकि विचार, जानना वह तो बहुत प्रवाह के साथ होता है, लेकिन शब्द उसको बांधता है, जो आसान नहीं।

जिस प्रकार नदी प्रवाहक बहुत होती है, परन्तु बीच बीच मे ४०.५० मील पर बांध बांधकर काम लेते हैं, उसी प्रकार अनन्तप्रवाहरूप श्रुत को एक मात्र बाध के रूप में सग्रह किया, जिसका ही नाम जिनवाणी है। गणधर परमेष्ठी ने उन तत्त्वों को जो कि सासरिक उलझनों में काम आने की गुजाइश रखते है, समीचीन रूप से पिरोया है। अनन्ततत्त्वों को कभी गूंथा नहीं जा सकता। उनको मात्र जाना जा सकता है। गणधर परमेष्ठी ने अनन्त को अभी नहीं जाना, कैवल्य के उपरान्त जानेगे, यह बात अलग है।

भगवान् ने जो जाना वह अनन्त, जो कहा वह अनन्तवा हिस्सा। इसके बाद गणधर प्रभु ने जो समझा-झेला वह उसका भी अनन्तवां हिस्सा तथा जिसको शब्द का रूप दिया, वह उसका भी अनन्तवां हिस्सा। इसके उपरान्त, जो द्वादशांग के रूप मे कहा गया वह भी उसका अनन्तवां हिस्सा, जिसको ग्यारह अग और चौदह पूर्वों के नामों से जाना जाता है। इसके बाद–

''भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्''

इसके अनुसार क्षीण होता गया। जैसा हम लोगों का पुण्य उसी के अनुरूप यहाँ आ करके खड़ा हुआ है। आज एक अंश का भी ज्ञान नहीं है। जिन कुन्दकुन्द भगवान् को हम मंगलाचरण में याद करते हैं, उनको भी एक अंग का ज्ञान नहीं था। ऐसा जिनवाणी ही उचरती है। जितना था, उतना तो था, लेकिन इतना नहीं था जितना कि हम समझ लेते हैं। उनको अनन्त ज्ञान नहीं था। एक अंग का भी ज्ञान नहीं था, क्योंकि अंग का पूर्ण ज्ञान होना अलग है और उसके कुछ-कुछ अंशों का ज्ञान होना अलग। इसी कालक्रम में जिनवाणी की यह स्थिति आ गई कि उसे चार अनुयोगों के रूप में बांटा गया। चार अनुयोगों की जो परिभाषा वर्तमान में

हम लोग समझते है वह प्रायः सम्यक् नहीं है। हमें जिनवाणी मां की सेवा करना है तो उसके स्वरूप को भी समझना होगा। तभी नियम से उसका फल मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मां हमें मीठा-मीठा दूध पिलाती है, नीचे का, जिसमें कि मिश्री अधिक होती है क्योंकि उसे ही खिलाने-पिलाने का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ अच्छी-अच्छी बातें समझाने वाली मां ही होती है।

जिनवाणी - प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भागों में बांटी गई। लेकिन प्रथमानुयोग क्या है? करणानुयोग क्या है? चरणानुयोग क्या है? द्रव्यानुयोग क्या है? यह जानना बहुत ही आवश्यक है। इसके समझे बिना जिनवाणी को सही-सही जाने बिना भटक जायेंगे। जिनवाणी ऐसे-ऐसे "प्वाइन्ट" दे देती है जिससे हमारा कल्याण बहुत जल्दी हो सकता है/हो जाता है। वह हमें "शार्टकट" भी बता देती है। हमारा जीवन बहुत कम/छोटा है, उसमें भी काल का सदुपयोग हो तभी जिनवाणी का सही-सही ज्ञान एवं जिनवाणी के सहारे से चारों अनुयोगों का सही-सही ज्ञान हो सकता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी हुए हैं जो पहले भगवान् की प्रार्थना ना कर परीक्षा लेते थे और बाद में ऐसे "सरेण्डर" हो जाते थे कि उन जैसे शायद ही कोई अन्य मिले। इतनी योग्यता थी उनमें। उन्होंने कहा—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं, चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः।।

भगवान् आपका प्रथमानुयोग बोधि और समाधि को देने वाला है। बोधि - रत्नत्रय की प्राप्ति। समाधि - अन्तिम समय सल्लेखना के साथ समता के परिणाम अर्थात् रत्नत्रय को देने और उसमें सफलता प्राप्त कराने की क्षमता इस प्रथमानुयोग में है। प्रथमानुयोग बहुत "राउण्ड" खाकर के तत्त्व पर भले ही आता है लेकिन प्रथमानुयोग पढ़ने के उपरान्त समन्तभद्र स्वामी जैसे कहते है कि यह बोधि और समाधि का निधान अर्थात् भण्डार है। यह तो प्रथमानुयोग की बात हुई। अब चरणानुयोग क्या है इसे कहते है—

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

चरणानुयोग हमें चलना-फिरना सिखाता है। कैसे चलें और किस ओर चलें? इसका निर्णय तो हमने कर लिया, किन्तु चाहे सागार हो या अनगार, दोनों के लिए उस ओर जाने के साथ पाथेय होना अनिवार्य है। वह पाथेय इस चरणानुयोग से मिलता है। इसके बारे में कोई विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं है। मात्र करणानुयोग

और द्रव्यानुयोग को ही सही-सही समझना है कि, करणानुयोग क्या है? और द्रव्यानुयोग क्या है? इन दोनों के बारे में ही बहुत-सी भ्रान्तियां हुई हैं समन्तभद्राचार्य ने करणानुयोग के लिए कहा है–

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामति-रवैति करणानुयोगं च।।

जहाँ पर लोक और अलोक का, चारों गतियों का, नरक-स्वर्गादिक का विभाजन हो, अथवा कम शब्दों में कहे तो भौगोलिक-स्थितियों का वर्णन करने वाला करणानुयोग है। करणानुयोग का अर्थ हुआ - भौगोलिक जानकारी देने वाला। जैनाचार्यों का भूगोल किस प्रकार का है यह बताता है और खगोल किस प्रकार का यह भी। "गोल" होने की बात को गोल कर दीजिए क्योंकि यह तो आज विसंवादित विषय है। मैं तो यहाँ पर करणानुयोग का विषय बताना चाहता हूँ नरक, स्वर्ग, नदी, पहाड़, समुद्र, अकृत्रिम चैत्यालय और ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोकों के विस्तार को आदर्शमिव - दर्पण के समान करणानुयोग सब कुछ, स्पष्ट करता है– सामने रख देता है। ये चराचर जीव–

चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान।
तामें जीव अनादितैं भरमत है बिन ज्ञान।।

इस लोक में - संसार में भ्रमण कर रहे हैं? यह सब ज्ञान करणानुयोग से होता है। संस्थानविचयधर्मध्यान के लिए यह सब जानना आवश्यक है। यह जानना अनिवार्य है कि कौन-कौन जीव, कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं? हम कहाँ पर भटक रहे हैं? हमारा कहाँ उद्धार होगा? किन कारणों के द्वारा उद्धार हो सकता है। क्षेत्र की अपेक्षा भी ज्ञान होना चाहिए - हम कहाँ पर रह रहे है? निराधार तो नहीं है? कौन-सा आधार है? यह सब ज्ञान होना आवश्यक है।

अब द्रव्यानुयोग आ गया। द्रव्यानुयोग का रहस्य समझना बहुत कठिन है, बहुत गहरा है। अतः पहले उसे परिभाषित करना चाहूँगा। आचार्य समन्तभद्र स्वामी के शब्दों में–

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते।।

समन्तभद्राचार्य ही एक ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने चारों अनुयोगों को बहुत स्पष्ट किन्तु अल्प शब्दों में बहुत गहरे अर्थ के साथ परिभाषित किया। संसार में छोड़ने योग्य मात्र पाप और पुण्य, ये दो ही है, तीसरी कोई वस्तु नहीं। इन दोनों बन्धनों में ही सभी बंधे हुए हैं। उनको हम छोड़ना चाहते है लेकिन छूटे कैसे? कब और

किस विधि से? इसका वर्णन करने के लिए आचार्यों ने द्रव्यानुयोग की रचना की। बन्ध क्या है और मोक्ष क्या? आस्रव क्या और संवर क्या? किस गुणस्थान में कौन-कौन से कर्मों का आस्रव होता है और किस-किस का बन्ध? आस्रव और बन्ध ही तो संसार के कारणभूत है। इनके द्वारा हमारा कभी भी कल्याण होने वाला नहीं। संवर और निर्जरा, मोक्ष तत्त्व के लिए कारण है - मोक्षमार्ग है। मोक्षतत्त्व इनसे भिन्न है। इस प्रकार का विभाजन द्रव्यानुयोग में किया गया है। इन सातों तत्त्वों नव पदार्थो और छह द्रव्यों का जानना द्रव्यानुयोग से होगा। आप पूछ सकते है कि द्रव्यानुयोग में कौन-कौन से ग्रन्थ लेना चाहिए? कारण कि कुछ लोगों कि धारणा यह हो सकती है कि द्रव्यानुयोग में केवल समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थ ही आते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है।

इसके दो भेद करने चाहिए। जैसा कि अभी पण्डित जी ने भी कहा था कि आगम और परमागम दो नाम आते है। जैनाचार्यों ने इसे आगम और अध्यात्म नाम दिये हैं। ''अध्यात्म'' यह शब्द हमारा नहीं है बल्कि **आचार्य वीरसेन स्वामी** ने धवला की १३ वीं पुस्तक में उपयोग किया है। दो भेद हो गये– आगम और अध्यात्म। अब आगम के भी दो भेद करने चाहिए– दर्शन और सिद्धान्त। दर्शन– जो षट्दर्शनों का बोध देने वाला है अर्थात् न्याय की पद्धति को लेकर जैसा आचार्य समन्तभद्र, अकलकदेव, पूज्यपादस्वामी आदि कई आचार्यो ने न्याय की पताका फहरायी, न्याय का बोध कराया उसे दर्शन कहते हैं। उन्होंने जैनतत्त्व क्या है? इसको दर्शन के माध्यम से ही विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का प्रयास किया। इसी के माध्यम से हम विश्व को समझा सकते है, सिद्धान्त और अध्यात्म के माध्यम से नहीं। अध्यात्म के माध्यम से समझाया नहीं जाता, किन्तु वह तो, हमारे पास क्या है? हमारी स्थिति क्या है? इसकी जानकारी करा देता है। वह आत्मतत्त्व को स्पष्ट रूपेण बता देना है। वैसे तो आत्मतत्त्व को सब लोग मानते हैं परन्तु वे सभी अध्यात्मनिष्ठ नहीं हैं। इस प्रकार दर्शन और सिद्धान्त में भेद है। दर्शन के ग्रन्थों में भी न्याय-ग्रन्थों को संगृहीत करना चाहिए।

सिद्धान्त के दो प्रकार ''जीवसिद्धान्त'' और ''कर्मसिद्धान्त'' जानना चाहिए। कर्मसिद्धान्त में बन्ध क्या, मोक्ष क्या, संवर क्या और आस्रव क्या? यह सभी कुछ बताया जाता है। और जीव सिद्धान्त में जीव के भेद योनिस्थान् कहाँ-कहाँ पर रहता है? उसको जानने के लिए ढूंढने के लिए मार्गणा के अनुसार ढूंढना होगा– इस प्रकार का वर्णन होता है। षट्खण्डागम में मार्गणा के ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, मीमांसा आदि नाम बताये है। यानि जीवसिद्धान्त के बारे में और कर्मसिद्धान्त के बारे में

ऊहापोह करो, छानबीन करो। इस प्रकार आगम के भेद, दर्शन और सिद्धान्त को समझा। अब अध्यात्म की ओर आते है।

अध्यात्म को भी दो प्रकार से, एक भावना और दूसरा ध्यान, जानना चाहिए। भावनाओं में बारहभावना, सोलहकारणभावना, मेरी भावना और तपभावनाएं आदि-आदि लेना चाहिए। जिन भावनाओ के माध्यम से "डीप" उतर सकते हैं उन्हें लेना चाहिए।

"वैराग्य उपावन माई चिन्तै अनुप्रेक्षा भाई"

छहढाला की पंक्ति है यह। छहढालाकार दौलतरामजी ने तो गागर में सागर को समाहित कर दिया। अर्थात् भावना के साथ ही लक्ष्य में विशेष लगाव होता है। एक आग्ल कवि ने कहा– भोजन करने से पहले भोजन की भावना आवश्यक है। इससे भूख अच्छी लगती है, कड़ाके की लगती है, जिसे उदीरणा कहते है? भोजन के समय एक आमन्त्रण और एक निमन्त्रण, ये दो चीजें होती हैं। नहीं समझे ! आमन्त्रण करके जल्दी से नहीं बुलायेंगे। एक बार कहकर चले जाएँगे। ताकि आप लोग अन्य भावनाओं से निवृत्त होकर केवल भोजन की ही भावना करें। २.३ घण्टे होने पर कड़ाके की भूख आ जाएगी तब आप भोजन को बैठेंगे। अर्थात् भूख अच्छी खुल जानी चाहिए। इसे अपने शब्दों में कहें यदि भोजन करना है तो अच्छे ढंग से करो। इसीलिए आपको ६ बजे बता देगें कि भोजन अच्छा होगा, स्वादिष्ट होगा अमुक-अमुक चीजें बनेंगी, पर्याप्त मात्रा में मिलेंगी, लेकिन १२ बजे मिलेंगी- कहा जाता है।

यही बात भावना की है, वैराग्य की है। आप लोग ऊपर छत्र अर्थात् पंखा लटका रहे हैं - चला रहे हैं। और कहें– **"पल रुधिर राध मल थैली कीकस बसादिते मैली"** तो कभी भी शरीर के प्रति वैराग्य होने वाला नहीं। फिर कैसे हो? यह बहुत गन्दा है, ऊपर गन्ध न लगाकर गन्दगी की अनुभूति करिये, अपने आप ही इसके प्रति घृणा हो जाएगी। आज तो आप लाइफबाय लगा लेते हैं, क्रीम लगा लेते हैं। आप हमाम का प्रयोग करे, टीनोपाल के कपड़े पहनकर स्नो लगाकर बारह भावनाओं का चिन्तन करना चाहते हैं, लेकिन इस विधि से तो बारह भावनाओं मे न उतरकर, वैराग्य में न डूबकर, निद्रादेवी से घिर जाते है। यह वासना की स्थिति है। जिसका वर्णन हम नहीं कर सकते। इसलिए भावनाओं का सही रूप रखें, तब ही अध्यात्म में ज्ञान की गति होगी।

अब ध्यान की बात आती है। ध्यान कैसे करें और कौन करे? ध्यान की चर्चा तो समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि कुन्दकुन्ददेव का जितना भी साहित्य

है, वह करता ही है, लेकिन उस साहित्य के अनुरूप लीन होने की क्षमता किसमें है? स्वसमय में ही वह क्षमता है। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि मैंने तो एक ही गाथा में सब कुछ कह दिया जो कहना था। वह यह- सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से युक्त स्वसमय है तथा पर में स्थित वह परसमय है। यह स्वसमय एवं परसमय की चाकलेट जैसी परिभाषा है।** मैं कुन्दकुन्द देव की एक-एक गाथा को चाकलेट समझता हूँ। चाकलेट कौन खाता है और कैसे खायी जाती है? चाकलेट खायी नहीं जाती, चूसी जाती है। कौन चूसता है खाली पेट वाला? नहीं। खाली पेट वाला तो तीनकाल में नहीं चूस सकता। उसको तो भूख लग रही है। जल्दी-जल्दी खा लेना चाहता है, स्वाद भी नहीं ले सकता। वह यदि चाकलेट खाता है तो उसको कोई फल नहीं, कारण चाकलेट खाने की चीज ही नहीं। मैं यही सोच रहा हूँ कि एक ही गाथा के द्वारा, स्वाद ऐसा आ जाता है फिर चार सौ उनतालीस की क्या आवश्यकता। कोई भी एक गाथा ले लीजिए उसमें भी वही है। जिसको संसार के भोगों की भूख है वह इन गाथाओं को चाकलेट के रूप में काम न लेकर सीधा खा जाएगा और कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा निहित स्वाद को नहीं ले सकेगा। आज प्रायः यही हो रहा है। सारा समयसार मुखाग्र है। **अरे ! समयसार को मुखाग्र करने की जरूरत नहीं हृदयंगम करने की आवश्यकता है।** आज समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि का जो असर पड़ा है मात्र सिर तक ही पड़ा है। यदि भीतर उतर जाएंगे तो आपको ज्ञात होगा कि यह समयसार ग्रन्थ भी, जो बाहर दीख रहा है, भार हो जाएगा। यह ग्रन्थ भी ग्रन्थि का रूप धारण कर लेगा। किसके लिये? जो पेट भर खा लेता है उसे पेट भरने के बाद कोई भी अच्छी से अच्छी वस्तु दिखा दीजिए तब यही कहा जाएगा- "उहूं ! भैया ! ऐसा क्यो कह रहे हो? मान नहीं रहे हो आप तो मैं क्या करूं? नहीं एक और ले लीजिए? भैय्या ! लेने को तो ले लूंगा परन्तु उल्टी हो जाएगी।

उसी तरह समयसार पढ़ने के उपरान्त उल्टी - रागद्वेष की बात समझ में नहीं आती। चमक-दमक की ओर दृष्टि हो, स्व से बाहर आना खतरनाक न लगे, यह सब समझ में नहीं आता। पण्डितजी अभी कह रहे थे- मुनि महाराज बाहर आ जाए तो पंचपरमेष्ठी- परमात्मा और भीतर रहे - चले जाए तो आत्मा। आत्मा और परमात्मा को छोड़कर कुछ नहीं है। बिल्कुल ठीक। लेकिन अन्दर बाहर यह क्यों हो रहा है? जब तक सोलहवीं कक्षा पार नहीं कर ले तब तक यह होगा, कारण उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के "सब्जेक्ट" होते है परन्तु एम.ए. में एक ही रहेगा। एम. ए. के आगे वह विद्यार्थी नहीं रहता, परीक्षा नहीं होती। अब आया समयसार में।

समयसार अर्थात् शोध, सोलह कक्षाओं में पार होने के उपरान्त ही किया जाता है। लेकिन ध्यान रखिए–

"शब्द सो बोध नहीं,
बोध सो शोध नहीं"

शब्द कहते ही बहुत आगे की ओर चले जातें हैं, परन्तु उसका नाम बोध नहीं। शब्द अलग है और बोध अलग। इसी तरह बोध ही शोध नहीं है। बोध अलग है और अनुभव (शोध) अलग। पहले तो शब्द के माध्यम से बोध दिया जाता है कि संसार में क्या-क्या है, फिर उसके बाद एक विषय को ध्यान का विषय बनाते हैं।

आजकल की बात बिल्कुल अलग है, कि बिना निर्देशक के भी शोध हो रहे हैं। पण्डित जी ! आपने भी तो शोध किया है। अजमेर की बात है। जब पहली-पहली बार टोडरमल स्मारक से आये थे आप। उस समय मैं महाराज श्री के पास में ही बैठा था। धोती-कुर्ते पर नहीं आये थे, शायद आप पायजामा पहनते थे। उस समय किसी ने कहा था– आप शोध कर रहे हैं। क्या विषय है? टोडरमल जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर। बहुत अच्छी बात है। हमने पूछा– निर्देशक कौन हैं? सम्भव है "सागर यूनिवर्सिटी" से था कोई। प्रसंगवश ये भी बताया कि आजकल शोध की "थ्योरी" भी कुछ अलग है। आजकल ऐसे भी निर्देशक होते हैं, जिनके "अण्डर" में शोध किया जा रहा है, परन्तु उन्हें उस विषय का ना तो आगे का, ना पीछे का और ना बीच का ही ज्ञान है। वे उन्हें उपाधियां दिला रहे हैं। पण्डित जी ! जिन्हें ककहरा भी नहीं आता उनसे आप उपाधि ले रहे हैं। उनसे कोई उपाधि नहीं लेना चाहिए। यदि उपाधि लेना ही है तो कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्राचार्य, अमृतचन्द्र जी और जयसेन आदि है, इनसे लीजिए तो वह वस्तुतः उपाधि कहलायेगी। अध्ययन करना तो वस्तुतः अपने से ही होता है, निर्देशक तो मात्र व्यवहार चलाने के लिए है। आज निश्चय को कोई प्राप्त नहीं करना चाहता। अध्ययन अलग है और मनन-चिन्तन अलग। पठन-पाठन और भी अलग है। भिन्न-भिन्न शब्द है, भिन्न-भिन्न वस्तुएं। समभिरूढ़नय की अपेक्षा इनका वाच्यभूत विषय भी बहुत भिन्न-भिन्न है। इसलिए **"शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं।"**

हमें आत्मा का शोध - अनुभव करना है, इसलिए सर्वप्रथम ध्यान करना होगा और ध्यान के लिए भावना की आवश्यकता पड़ेगी। भावना, बिना भूमिका के नहीं होती। देख लीजिए संवर के प्रकरण को, आचार्य उमास्वामी आदि आचार्यों ने कहा–

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"

ये जितने भी हैं वह एक दूसरे के लिए निमित्त-नैमित्तिक या कार्य-कारणपने को लेकर हैं। अर्थात् संवर करने के लिए गुप्ति की आवश्यकता, गुप्ति के लिए समिति की, समिति के लिए धर्म की, धर्म के लिए अनुप्रेक्षा की, अनुप्रेक्षा के लिए परिषहजय की और परिषहजय के लिए चारित्र की आवश्यकता है और चारित्र प्राप्ति करने के लिए सबसे पहले बाधकतत्त्वों को छोड़ना पड़ेगा।

वत्थुं पडुच्च जं पुण, अज्झवसाणं तु होई जीवाणं।
ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्ति।।

आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् ने एक जगह बन्ध की व्याख्या करते हुए कहा– वस्तु मात्र से बन्ध नहीं होता। बन्ध तो अध्यवसान के कारण होता है। अध्यवसान स्वयं बन्ध तत्त्व है। एक शिष्य ने महाराज से कहा– आपने बहुत अच्छी बात कही कि अध्यवसान से बन्ध होता है तो हम अध्यवसान नहीं करेंगे। वस्तुओं को छोड़ने की बात अब छोड़ देना चाहिए! आचार्य ने कहा– मैं आपके ही मुख से यह बात सुनना चाहता था। बहुत अच्छी बात कही। मैं वस्तु के लिए कहाँ छुड़वा रहा हूँ? और यदि छोड़ने की कोशिश भी करोगे तो क्या-क्या छोड़ सकोगे? लेकिन मैं पूछता हूँ– वस्तु के प्रति जो राग है, मोह है उसे भी छोड़ना चाहोगे, कि नहीं? हां! उसको तो छोड़ना चाहूँगा। हमारे अन्दर जो राग, मोह, द्वेष हो रहे हैं वह वस्तु को बुद्धि में पकड़ रखने के कारण ही हो रहे हैं। इसीलिए हमने पहले वस्तु को छोड़ने की बात कही। समझने के लिए– आपके सामने एक थाली परोस दी गई, भले ही आप भोजन नहीं करना चाहते हैं। आप यह भी कह रहे हैं कि मुझे भोजन की इच्छा बिल्कुल नहीं। फिर भी कहा जा रहा है कि आप अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी खा लीजिए। अब आपका हाथ किस ओर जाएगा? बिना अभिप्राय आपका हाथ रसगुल्ला की ओर ही जाए, यह सम्भव नहीं। यह कोई "कम्प्युटर-सिस्टम" करके हाथ में ज्ञान भर दिया गया है क्या? इसलिए रसगुल्ला की ओर जाता है और वहीं पर रखी है रूखी-सूखी बाजरे की रोटी, उसे नाक सिकोड़कर उपेक्षा की दृष्टि से देख रहा है। आखिर ऐसा क्यों? हमने हाथ को पूछा, क्योंकि आपसे तो कुछ पूछ नहीं सकते, कारण आपने कह दिया– मेरे पास कोई राग नहीं, द्वेष नहीं, इच्छा नहीं। इसलिए हाथ को पूछा। लेकिन हाथ कहता है– मुझे क्या पूछ रहे हो? हम तो केवल काम करने वाले हैं। फिर करा कौन रहा है? भीतर पूछो, भीतर। भीतर कौन पूछे, कौन जाए भीतर? न जाइए, कोई बात नहीं; लेकिन मुखमुद्रा ही हृदय की सूचना है। हृदय में जो बात होगी, वही अंग और उपांग की चेष्टाओं से बाहर आयेगी। **इसलिए राग भीतर है तभी वस्तुओं का संकलन हुआ– "यह बात अमृतचन्द जी ने स्पष्ट रूप से**

कही आत्मख्याति में" इसीलिए हम अध्यवसान से पहले वस्तु को छुड़ा रहे हैं। यदि वस्तुओं को नहीं छोड़ा तो तीन काल में भी अध्यवसान छूटने वाला नहीं।

"बिन जाने तै दोष गुनन को कैसे तजिये गहिये"

वस्तुओं को छोड़िये और यह भी जानिये कि क्या छोड़ना है। यह ज्ञान जिसको नहीं होता वह तीन काल मे भी वस्तुतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता। हमें गुणों को तो प्राप्त करना है और दोषों को निकालना है। ध्यान रखिये, मात्र बातों के जमा खर्च से कुछ भी होने वाला नहीं, चाहे जीवन भी क्यों न चला जाये, कुछ करना होगा ! सर्वप्रथम जो ग्राह्य है उसे जानना-पहचानना आवश्यक है और इसके साथ उसके "अगेन्स्ट" को भी जानना आवश्यक है। उपाय के साथ-साथ अपाय भी जानिए। उस उपाय को प्राप्त करने में किससे बाधा आ रही है, दुःख क्यों हो रहा है? **दुःख को समझना ही सुख को प्राप्त करने का सही रास्ता है।** आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने एक जगह कहा– हे भगवन् ! हम आपके पास इसलिए नहीं आये कि आप बुला रहे है। इसलिए भी नहीं, कि आपकी पहचान पहले से है या आप सुख को जानते-देखते है। बल्कि हमें तो ऐसी पीड़ा हुई कि उससे हम भागने लगे और भागते-भागते हर जगह गये लेकिन शान्ति नहीं हुई, परन्तु आपके चरणो में आते ही मन को बहुत शान्ति हो गई, इसलिए आए है।

दुःख को हम छोड़कर आये; पुरुषार्थ हमारा है और भगवान् के सान्निध्य में आये। इधर रास्ते तो बहुत हैं– पथ बहुत हैं, जहाँ-जहाँ भटकने से च्युत होता गया, उनको छोड़ता गया और यहाँ तक आ गया। यही सच्चा पुरुषार्थ है - स्व की ओर मुड़ना ही पुरुषार्थ हैं।

इस प्रकार द्रव्यानुयोग के द्वारा - कर्मसिद्धान्त जीवसिद्धान्त के द्वारा जीव, अजीव, बन्ध और आस्रवादि तत्त्वों को जानिए। इनके १४८ प्रकार के कर्मों के बारे में जानिए। किस द्रव्य का कैसा-कैसा परिणमन होता है, इसको समझने का प्रयत्न करिये। जैनागम में तीन चेतनाएं - कर्मफलचेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना ही कहीं गई हैं। कोई चौथी - कालचेतना नहीं। आदि की दो चेतनाओं के द्वारा ही जीव संसार से बंधा हुआ है। एककर्म करने वाली चेतना, एक कर्म को भोगने वाली चेतना और एक केवल ज्ञान का संवेदन करने वाली चेतना। इन चेतनाओं को भी द्रव्यानुयोग से ही समझा जा सकता है।

'सब्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विदंति ते जीवा।।

जिसमें कर्मफलचेतना तो समस्त एकेन्द्रिय जीवों को हुआ करती है, कर्म के

फल को बिना प्रतिकार किये सहन करते रहते हैं। दूसरी कर्मचेतना कर्म करने रूप में प्रवृत्ति है जिसमें त्रसादिक जीव इष्टानिष्ट के संयोग-वियोग से प्रतिकारादिव की क्रिया, भाव करते रहते हैं। और तीसरी ज्ञानचेतना है जिसके संवेदन के लिए आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि उस ज्ञानचेतना की बात क्या बताऊं, जिसका संवेदन (अनुभव) मात्र सिद्धों को ही हुआ करता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में "पाणित्तमदिक्कंता" शब्द लिखा है। जिसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेनस्वामी लिखते है कि जो प्राणों से अतिक्रान्त/रहित हो चुके हैं यानि दस प्रकार के प्राणों से रहित, तो मात्र सिद्ध परमेष्ठी हुआ करते है, उन्हीं सिद्ध परमेष्ठियों के लिए इस ज्ञानचेतना का संवेदन हुआ करता है। धन्य है ज्ञानचेतना जिसकी अनुभूति संसार मे रहते हुए केवली अर्हन्त परमेष्ठी को भी नहीं हुआ करती है।

इस प्रकार चारों अनुयोगों के विभाजन को, जो निराधार नहीं, आधार के अनुसार कहा गया। एक बार पुनः द्रव्यानुयोग में आने वाले ग्रन्थों को गिन लें - जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला, महाबन्ध आदि ये सभी सिद्धान्त एवं समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, द्रव्यसंग्रह आदि अध्यात्म में। इसके साथ-साथ भावनाग्रन्थ भी गिनना चाहिए। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द ने कहा– भावना ही एकमात्र अध्यात्म का प्रवाह है। अतः अध्यात्म तक पहुँचने के लिए अनुप्रेक्षा आवश्यक है। भावना "आर्टिफिशियल" नहीं होना चाहिए। भावना, भावना के अनुरूप होती है तब–

"भावना भवनाशिनी"

भावना ही भव का, ससार का उच्छेद करा देती है। आप लोगों का यह जिज्ञासु-भाव सराहनीय है। आपकी भावना ऐसी ही होती रहे, ऐसी भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। आप प्रभावना की ओर न देखकर भावना की ओर देखें और समझें कि हमारी भावना किस ओर बढ़ रही है। यदि विषयों की ओर नहीं है तो मैं समझूँगा कि आज का यह प्रवचन सार्थक है, नहीं तो काल अपनी गति से चल ही रहा है और हम अपनी चाल से। इससे कुछ होने वाला नहीं। हमारे द्रव्य का परिणमन, गुण का परिणमन और आत्मपरिणति, तीनों अशुद्ध हैं, इस अशुद्धता का अनुभव करना हमें इष्ट नहीं। अतः शुद्धि के अनुभव की ओर बढ़े।

□□

२

वस्तु है, और उसके ऊपर आवरण है। वस्तु और उसके ऊपर दूसरे पदार्थों का दबाव है। जब वस्तुएं स्वतन्त्र हैं - अपना-अपना परिणमन करती हैं फिर इन बाहरी वातावरणों से प्रभावित होने का बंधन, आखिर क्यों? -इस प्रकार की जिज्ञासा लेकर प्रातःकाल कोई भव्य आया था, आचार्यश्री के चरणों मे। वह भावुक है, साथ में विवेकवान् भी। उसका लक्षण बहुत अच्छा है कि "अपना हित चाहता है।" बिलकुल ठीक, उपदेश जो होता है वह न देवों को होता है ना ही तिर्यंचों को। न भोगभूमि के जीवों के लिए होता है और ना नारकियो के लिए। उपदेश मात्र मनुष्यों के लिए है, वह भी जो समवसरण की शरण में गये हैं। वहाँ पर जितना क्षेत्र लांघना आवश्यक था, लांघकर गये हैं। उन्हीं को देशना मिलती है।

देशना देना भगवान् का लक्षण नहीं है। उनका कर्त्तव्य नहीं है। उनके लिए अब कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं। कोई लौकिकता भी नहीं रही। वे बाध्य होकर के भी नहीं कहते हैं। मात्र जो पुण्य लेकर के गया है– सुनने का भाव लेकर के गया है प्रभु के चरणों में, वह उसे पा लेता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है श्वेताम्बर साहित्य में देशना के बारे मे कहा है कि– "प्रभु की देशना सर्वप्रथम देवों के लिए हुई" परन्तु इसमें कोई तुक-तथ्य नहीं बैठता। जो भोगी होते हैं उनके लिए योग का व्याख्यान उपदेश हो, यह संभव-सा नहीं लगता, क्योंकि रुचि के बिना– "इन्ट्रेस्ट" के बिना "इन्टर" संभव नहीं है। उसके बिना भीतरी बात, जो यहाँ चल रही है उतरेगी नहीं। प्रभु की देशना में बाहरी बात भले ही चलती रहे लेकिन वे सभी भीतर के लिए चलती हैं और वे भीतर ही भीतर गूंजती भी रहती हैं।

उस भव्य ने हित तो चाहा है और वह हित किसमें है? ऐसा पूछा है। हित मोक्ष में है "स आह मोक्षः इति" ऐसा आचार्य परमेष्ठी ने कहा, फिर उसे प्राप्त करने के साधनों के बारे में कहा– बात ऐसी है कि साध्य के बारे में दुनिया में कभी विसंवाद नहीं होते, होते हैं तो मात्र साधन को लेकर और उसको लेकर हुए बिना रहते भी नहीं हैं। मंजिल में विसंवाद नहीं होता, मंजिल से पथ की ओर नहीं चलते, बल्कि

मंजिल को सामने कर जब चलना चाहते हैं तो पथ का निर्माण होता है। सबसे पहले पथ-विचारों में बनते हैं और विचारों के पथ का निवारण कैसे हो? बाह्य पथों में तो मंजिल की पहुँच से, आसानी से निवारण संभव है लेकिन विचारों में कैसे? प्रभु कहते हैं कि– उस समय हमारा ज्ञान पंगु ही रहेगा। अनन्तशक्तियों का पिण्ड जो आत्मा है उसमें अन्तरायकर्म के क्षय से होने वाला जो बल, वह भी घुटने टेक देगा; इसमें कोई सन्देह नहीं। उसका बल इतना होकर भी– कितना होकर? तीन लोक की सर्वाधिक शक्ति होकर भी, एक व्यक्ति को भी झुका नहीं सकती। विचारों की पावर (शक्ति) बहुत हुआ करती है। विचारों की शक्ति एक कील के समान है।

एक भैंसा था। बहुत शक्तिशाली होता है भैंसा। एक छोटी-सी कील के सहारे उसे बांध दिया जाता है। वह पूरी शक्ति लगाता है, फिर भी वह कील उखड़ती नहीं। क्यों नहीं उखड़ती? ऐसी क्या बात है। बात ऐसी है, उसके निकालने के लिए पहले हिलाना आवश्यक होता है। बिना हिलाये वह पूरी शक्ति भी लगा दे, तो भी उखड़ नहीं सकती। कुछ ठीक-ठीक मेहनत करने पर उस कील को तो उखाड़ सकता है। परन्तु तीन लोक के नाथ, जो अनन्तशक्ति से सम्पन्न हैं, वे भी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के ऊपर पड़ते प्रभाव को, भीतरी वस्तु के परिणमन में बाल-मात्र भी अन्तर नहीं करा सकते। वे निरावरण अपने लिए हुए हैं, दूसरों (हम लोगों) के लिए नहीं।

मोक्ष एक मंजिल है। वहाँ तक पहुँचने के लिए मार्ग की नितान्त आवश्यकता है। क्या है वह मार्ग? तीन बातें हैं– दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो कि "सम्यक्' उपाधि से युक्त हैं–

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

सम्यग्दर्शन का अर्थ क्या है? **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"** कहा है। आप सोचते होंगे कि हम कांच ले लें, चश्मा लगा लें, उपनयन खरीद लें ताकि तत्त्वों को देख सकें और उनके ऊपर श्रद्धान कर सकें। लेकिन नहीं, तत्त्व क्या है? इसकी चर्चा तो बहुत हो सकती है परन्तु "समझ में आ जाए, समझ में बैठ जाए", यह समझ से परे है। यहाँ पर तत्त्व और अर्थ के ऊपर श्रद्धान करने की बात कही गयी है न कि देखने की। ध्यान रखिये, तत्त्व कभी दीख नहीं सकता। जो दीखता है वह तत्त्व नहीं। जो दिखाने की कोशिश कर रहे हैं; वे भी दिखा नहीं सकते।

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।।

ऐसा कौन-सा विद्वान है, कौन-सा साधु-सज्जन है, जो यह कहे कि आज भी मैं वस्तुतत्त्व को यूं हाथ पर, हथेली के ऊपर रखकर देख रहा हूँ अपनी आंखों से?

अर्थात् कोई नहीं। यदि कोई कहता भी है तो वह कहने वाला विद्वान् नहीं हो सकता। चाहे गणधरपरमेष्ठी प्रवचन दे या स्वयं वीरप्रभु। या कोई और भी क्यों न हो, उनके प्रवचन में जो तत्त्व आयेगा वह परोक्ष ही होगा। कोशिश करके अनन्तशक्ति लगा करके भी किसी प्रकार से, किसी की आंखों से वस्तुतत्त्व को दिखा दें ताकि उसका भला हो जाए– यह सभव नहीं। देखने का नाम सम्यग्दर्शन कतई है ही नहीं। किसी भी अनुयोग में देख लीजिए, देखने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं। लेकिन ''पश्यति-जानाति'' इस प्रकार कहा तो है? हां कहा है, टीकाकार ने इसे खोला भी है कि देखने का नाम सम्यग्दर्शन न लेकर यहाँ पर ''देखने का अर्थ श्रद्धान लेना चाहिए, प्रातःकाल एक बात चली थी कि सम्यग्दर्शन का अर्थ अपनी आत्मा में लीन होना है तथा अभी कहा– तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है बात उलझन जैसी लगती है कि ''समयसार'' में भूतार्थ का नाम सम्यग्दर्शन है और तत्वार्थसूत्र में– तत्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन। जो तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है वह चूंकि अभूतार्थ माना जाता है। लेकिन इन दोनों में कोई विपरीतता नहीं है मात्र सोचने-समझने की बात जरूर है।

श्रद्धान जो होता है, वह परोक्ष पदार्थ का होता है। सामने आने के उपरान्त हमें उन चीजों पर श्रद्धान करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसमे लीन होने के बाद का नाम तो संवेदन है, जो कि अध्यात्मग्रन्थों में बार-बार सम्यग्दर्शन के लिए कहा जाता है। आगम ग्रन्थों में भी सम्यग्दर्शन की बात कही है पर उसमें विभाजन कर दिया गया है। वह विभाजन यह है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धान का ही नाम है लेकिन केवल श्रद्धान के द्वारा तीन काल में भी मुक्ति नहीं होगी। ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है लेकिन उससे भी मुक्ति नहीं होगी। इसी प्रकार चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी। फिर मुक्ति किससे होगी? मुक्ति होगी, जब भूतार्थता का अनुभव करेंगे तब। अर्थ यह हुआ कि ''सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों एक उपयोग की धाराऐं है। जिस उपयोग की धारा के द्वारा तत्त्वों पर श्रद्धान किया जाता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। जब वही उपयोग की धारा चिन्तन में लग जाती है तब सम्यग्ज्ञान कहलाती है। जब कषायों का विमोचन, राग-द्वेष का परिहार करने लग जाती है तो उपयोग की धारा को सम्यक्चारित्र संज्ञा मिल जाती है–

''तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।''

अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति की ये पंक्तियां हैं। बहुत कठिन लिखते हैं वे, लेकिन भाव तो समझ में आ ही जाता है– ज्ञान का श्रद्धान के रूप में परिणत होना सम्यग्दर्शन, ज्ञान का चिन्तन के रूप में परिणत होना सम्यग्ज्ञान और ज्ञान का रागद्वेष परिहार करने में उद्यत होना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता से ही मुक्ति संभव है, अन्यथा कभी नहीं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र– ये तीन नहीं हैं किन्तु उपयोग की धारा में जब तक भेद प्रणाली चलती है तब तक के लिए भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। आचार्यों ने अध्यात्मग्रन्थों में इसे खोला है। इसी का नाम सरागसम्यग्दर्शन, भेदसम्यग्दर्शन, व्यवहारसम्यग्दर्शन और शुभोपयोगात्मक परिणति आदि-आदि कहा है। इसी का नाम श्रद्धान भी है। जब तक आत्मा अपने गुणो को प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, तब तक उसे समझाना पड़ता है, उपदेश दिया गया है, कि तुम सर्वप्रथम इसको समझो, फिर इसको। समझो का अर्थ– श्रद्धान करो, उतारो। एक बार श्रद्धान मजबूत हो गया तब ही श्रद्धेय, पदार्थ की ओर यात्रा/गति होगी अन्यथा तीन काल में भी संभव नहीं? इसे आचार्यों ने वीतराग सम्यग्दर्शन का साधक सम्यग्दर्शन माना है। उन्होंने कहा है–

"हेतु नियत को होई"

जैसे प्रातःकाल भी छहढाला की पंक्ति कही गयी थी, कि निश्चय सम्यग्दर्शन के लिए हेतुभूत यह व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शन फालतू नहीं है, किन्तु पालतू है। अभूत नहीं है, वह बाह्य भी नहीं है। अभूतार्थ की व्याख्या ''जयसेनाचार्य जी'' ने इतनी बढ़िया लिखी है, अमृतचन्द्राचार्य जी ने भी अपनी आत्मख्याति में अभूतार्थ क्या वस्तु है इसे लिखा है। उन्होंने कहा है– भेदपरक जो कुछ भी है वह अभूतार्थ है और अभेदपरक "भूतार्थ"। इसको निश्चयसम्यग्दर्शन भी कहते हैं, इसी के साथ रत्नत्रय की एकता मानी गई है। लीनता मानी गई है। स्थिरता मानी गई है। जिसके द्वारा हमें साक्षात् केवल ज्ञान की उपलब्धि अन्तर्मुहूर्त के अन्दर हो जाती है। यह विभाजन हमें आगम अर्थात् धवला, जयधवला, महाबन्ध, गोम्मटसार आदि ग्रन्थों में नहीं मिल सकेगा। यह मात्र अध्यात्म ग्रन्थों में ही मिलता है। इसके द्वारा यात्रा पूर्णता को प्राप्त होती है, अन्यथा जो व्यक्ति अपनी यात्रा इस जीवन में नहीं कर पाता तो उसे मुकाम करने की आवश्यकता पड़ेगी। उसका मुकाम बीच में ही होगा, मंजिल पर नहीं। जो सीधे मंजिल जाना चाहते हैं, उनकी प्रमुखता के साथ यह बात– अभेदरत्नत्रय, की, की गई है।

सरागसम्यग्दर्शन परोक्ष-पदार्थ का हुआ करता है और श्रद्धान तब तक ही होता है जब तक पदार्थ परोक्ष है। वीतराग सम्यग्दर्शन का विषय "आत्मतत्त्व, शुद्धपदार्थ,

शुद्ध अस्तिकाय और शुद्ध समयसार है'' – ऐसा आचार्यों ने कहा है। इसको और भी बारीकि से खोलने का प्रयास किया है, उन्होंने कहा है कि– जिस प्रकार केवली भगवान् अपनी दृष्टि के द्वारा शुद्धतत्व का अवलोकन करते हैं, वैसा अवलोकन छद्मस्थावस्था में न भूतो न भविष्यति। क्योंकि बात यह है कि चाहे शुद्धोपयोग हो या शुभोपयोग या अशुभोपयोग, कोई भी उपयोग हो, जब तक कर्मों के द्वारा उपयोग प्रभावित होता है तब तक उसमें वस्तुतत्त्व का यथार्थावलोकन नहीं हो सकता। अतः बारहवे गुणस्थान तक निश्चयसम्यग्दर्शन की सज्ञा दी जाती है। इसके बाद शुद्धोपयोग की परिणति, केवलज्ञान के उपरान्त नहीं रहती। इसका मतलब यह हो गया कि– शुद्धोपयोग भी– आत्मा का स्वभाव नहीं है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग तो है ही नहीं। इसमें उन्होंने हेतु दिया– ध्यान का नाम शुद्धोपयोग है और ध्यान आत्मा का स्वभाव नहीं, अतः शुद्धोपयोग भी आत्मा का स्वभाव नहीं।

''इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव''

जब इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा, मन की अपेक्षा, श्रुत की अपेक्षा और कोई बाहरी साधनों की अपेक्षा से तत्त्वों का निरीक्षण करते हैं, तब शुद्धोपयोग भी ''प्रत्यक्ष'' संज्ञा को प्राप्त हो जाता है। लेकिन शुद्धोपयोग और केवलज्ञान में उतना ही अन्तर है, जितना सर्वज्ञता और छद्मस्थावस्था में। अध्यात्मग्रन्थों मे इस सबका खुलासा किया गया है। जो व्यक्ति इस परम्परा का सही ढंग से अध्ययन करता है उसके लिए कहीं पर भी विसंवाद का कोई सवाल ही नहीं।

सर्वप्रथम हमें जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होगा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन– सराग-सम्यग्दर्शन ही होगा। इसकी उत्पत्ति में दर्शनमोहनीय का और चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होना अनिवार्य है। इसी का नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसके बल पर ही आगे कदम उठेंगे। यदि व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं है तो मोक्षमार्ग में आगे कदम उठा सकने का कोई सवाल ही नहीं रह जाता है। महराज! एक प्रश्न बार-बार आता है कि व्यवहार पहले होता है या निश्चय? कैसे क्या होता है, कुछ यह भी बता दीजिये? भैय्या निश्चय, व्यवहार के बिना नहीं होता और व्यवहार जो होता वह निश्चय के लिए होता है। अब निर्णय करना है कि कौन पहले होता है, कौन बाद में। मैं तो आपसे यही कहूँगा कि यदि आपको समझना है तो दो की जगह तीन रखिये, अब क्रम स्पष्ट हो जायेगा। लौकिक दृष्टि में हमने निश्चय और निर्णय का भेद समाप्त कर रखा है, इसलिए यह विवाद है। लेकिन बन्धुओं! निर्णय अलग है और निश्चय अलग। सर्वप्रथम निर्णय होता है,

क्योंकि निर्णय के बिना– अवाय के बिना कदम ही आगे नहीं उठा सकते। और निश्चय संज्ञा जिसकी दी गई है उसका अर्थ– "पर्याप्त मात्रा में सब कुछ प्राप्त कर लेना है"। निश्चय का नाम साध्य है। व्यवहार साधन होता है। इस प्रकार जिस साध्य को सिद्ध करना– प्राप्त करना है उसका लक्ष्य बनाना निर्णय है और जिसके माध्यम से, साधन से साध्य सिद्ध होता है वह व्यवहार है तथा साध्य की उपलब्धि होना निश्चय है, इस तरह पहले निर्णय होता है फिर व्यवहार और अन्त में निश्चय। निर्णय के बिना जो मार्ग में आगे चलते हैं वह गुमराह हो जाते हैं। और व्यवहार के बिना जो व्यक्ति निश्चय को हाथ लगाना चाहते हैं उनकी क्या स्थिति होती है? तो आचार्य कहते हैं–

ज्ञान बिना रट निश्चय-निश्चय निश्चयवादी भी डूबे।
क्रियाकलापी भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे।।
प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे।
आत्मध्यान में लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पर तैर रहे।।

अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति के कलश में एक कारिका लिखी, जिसका यह भावानुवाद किया गया है– निश्चय-निश्चय, कहने मात्र से निश्चय कभी हाथ नहीं लग सकता और मात्र व्यवहार करते-करते भी कभी निश्चय की प्राप्ति नहीं हो सकती। निर्णय करने से भी मतलब सिद्ध होने वाला नहीं। निर्णय भी आगमानुकूल ही होना चाहिए। व्यवहार भी ऐसा हो जो निर्णय के अनुरूप आगे पग बढ़ा रहा हो और निश्चय की भूख खोल रहा हो। अन्यथा तीनों व्यर्थ हैं। अर्थात् वह निर्णय सही नहीं है जो व्यवहार की ओर कदम नहीं बढ़ाता और वह व्यवहार भी सही नहीं माना जाता जो निश्चय तक नहीं पहुँच पाता। मात्र व्यवहाराभास है। "हेतु नियत को होई" – व्यवहार वास्तविक वही है जो निश्चय को देकर ही रहता है। कारण वही माना जाता है जो कार्य का मुख दिखा ही देता है। ऐसा सभव नहीं कि, प्रभात के ५.६ तो बज जाएं और पौ न फटे। प्रातः सूर्योदय से पूर्व ही यह श्रद्धान हो जाता है कि ललाई आ चुकी है, अब प्राची दिशा में नियम से सूर्योदय होगा। यही बात यहाँ कही गई है कि श्रद्धान रखो, किसके ऊपर श्रद्धान रक्खें? तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान रखो, यही व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

धवला का वाचन हो रहा था। उस समय यह बात आई थी कि दर्शनमोहनीय क्या काम करता है? आचार्यों ने लिखा– जो सात तत्त्वों को विषय बनाने की क्षमता अथवा उनके ऊपर श्रद्धान करने की क्षमता को फेल कर देता है वह दर्शनमोहनीय है। मतलब यह हुआ कि मात्र शुद्धात्मा की बात ही नहीं कही गई धवला में। इसीलिए

आचार्य कहते हैं कि– दर्शनमोहनीय की वजह से जीव की दृष्टि "रांग" (गलत) हो रही है। दृष्टि अर्थात् श्रद्धान ही गलत है।

शुद्ध-आत्मतत्त्व विद्यमान है और उसको प्राप्त करने की क्षमता भी। लेकिन क्षमता होते हुए भी आज तक हम प्राप्त नहीं कर सके। इसमें क्या गड़बड़ी हो रही है? आचार्य कहते हैं कि– हमारा आत्मतत्त्व-द्रव्य उलट गया है, पलट गया है। हमारे द्रव्य का परिणाम कैसा हो रहा है? परिणमन जो हो रहा है वह पदार्थों-गुणों और द्रव्यों का हो रहा है। पर्याय का कभी भी परिणमन नहीं हुआ करता। पर्याय अपने-आप में "परिणाम" ही है। उसकी कोई परिणति नहीं होती। कर्ता जो होता है वही परिणमन करता है– परिणमनशील हुआ करता है। फिर द्रव्य शुद्ध कैसे माना जा सकता है, जैसा कि कहा जाता है। जिस द्रव्य से अशुद्ध पर्यायें पैदा हो रही है वह अशुद्ध ही है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि द्रव्य का परिणमन तो शुद्ध हो ओर उसके "परिणाम' पर्यायें अशुद्ध पैदा हों।

मैं गुण को लेकर के कुछ बात और कहना चाहूँगा कि शुद्धोपयोग गुण अपने आप में शुद्ध नहीं है, किन्तु शुद्ध होने का कारण होने से शुद्धोपयोग कहा जाता है।

शुद्धोपयोग आत्मा का स्वभाव तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए शुद्धोपयोग पैदा करने वाला जो आत्मा है वह शुद्धात्मा नहीं है। अतः स्पष्ट है कि ज्ञान गुण को शुद्ध बनाना होगा। आत्मद्रव्य को शुद्ध बनाना होगा। पर्याय को कोई कभी भी शुद्ध नहीं बना सकता। पर्याय तो पकड़ में भी नहीं आ सकती। ध्यान रखिये! हमें पर्याय को नहीं मांजना। पर्याय को मांजने में लग जाएंगे तो गड़बड़ हो जाएगा। महाराज! फिर द्रव्य को शुद्ध कैसे कहा गया है? आचार्य कहते हैं कि द्रव्य को शुद्ध इसलिए कहा गया कि उसमें शुद्ध होने की क्षमता है। शुद्ध भी दो प्रकार से अभिव्यक्त होने योग्य है– एक तो अनन्तकाल से एक द्रव्य में कोई अन्य द्रव्य के प्रदेश आकर चिपके नहीं। मिले नहीं। इसका उसमें और उसका इसमें कुछ भी संकर नहीं हुआ, व्यतिकर नहीं हुआ। इस अपेक्षा से द्रव्य को शुद्ध कहा गया है। यह भिन्न-द्रव्यों की अपेक्षा से कहा गया है। दूसरी, परिणमन की अपेक्षा से शुद्धि कही जाती हैं यानि "स्वभावात् अन्यथा भवनं विभावः" यह अशुद्धि है। ज्ञान गुण का स्वभाव से अतिरिक्त जो परिणमन है वह विभाव है।। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, शुभोपयोग, अशुभोपयोग, शुद्धोपयोग आदि जो कोई परिणमन है, केवलज्ञान के पूर्व की जितनी भी अवस्थाएं हैं वे सभी अशुद्ध गुण की परिणतियां हैं। इस प्रकार की श्रद्धा सम्यग्दृष्टि जीव गुरुदेव के मुख से सुनकर अथवा जिनवाणी

मां के इशारे से बना लेता है, भले ही वह तत्त्व देखने में नहीं आ रहा हो। इसीलिए कहा–

कोविविवच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं।।

आत्मतत्त्व का ऐसा ही स्वरूप है। इसलिए इसके ऊपर श्रद्धान नहीं रहने के कारण संसारी प्राणी दर-दर भटकता चला जा रहा है। अपनी शक्ति को एक बार भी उघाड़ने का प्रयास नहीं किया, अनन्तकाल व्यतीत हो गया इस जीव का। अनंतों बार मां के उदर में जा-जाकर कम से कम भी नौ-नौ महीनों तक शीर्षासन लगाया। ध्यान रखिये, कोई भी हो, उसे नौ महीने तक मां के उदर में शीर्षासन लगाना ही पड़ता है–

जननी उदर वस्यो नव मास अंग सकुचते पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।

कहाँ तक कही जाए उस वेदना की कथा। वेदना होना वहाँ स्वाभाविक है, लेकिन इतनी वेदना– पिटाई होने के बावजूद जीव कभी मिट नहीं सका। पिटना बात अलग है और मिटना अलग। द्रव्य पिट सकता है, मिट नहीं सकता। उसके ऊपर अमिट छाप है। वस्तु/द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह कभी मिट नहीं सकता। वह तो "था" "है" और "रहेगा"। ऐसा होने मात्र से उसे सुख नहीं, सुख का अनुभव नहीं हो सका आज तक। जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महान् रोग नष्ट नहीं हो सके। इसे जब तक अटूट श्रद्धान नहीं होगा कि "मैं भी शुद्ध बन सकता हूँ" मेरे गुण द्रव्य और मेरी जो कुछ भी स्थितियां हैं उन सबको शुद्ध बना सकता हूँ" तब तक ये राग-द्वेष नष्ट होने वाले नहीं। ऐसा श्रद्धान कौन बना सकता है? जिसका दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम-क्षय-क्षयोपशम होगा, वही कर सकेगा। इसके बिना श्रद्धान होना तीन काल में भी संभव नहीं। भले ही वह श्रद्धान को शब्दों में कह सकता है लेकिन श्रद्धान जैसी शुभ घड़ी उसे प्राप्त नहीं है।

धन्य हैं वे! जो भगवान् बनने चले हैं। वह व्यक्ति महान् भाग्यशाली है। जिसको इसके ऊपर यथार्थ श्रद्धान हो गया कि मैं भी इसी प्रकार का तत्त्व हूँ, ऐसा बन सकता हूँ, जो यद्वा-तद्वा जिस किसी भी व्यक्ति की कही बातों का श्रद्धान नहीं करता। सच्चे देव-गुरु शास्त्र पर श्रद्धान करता है उसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वह कर्मों के क्षय को उद्देश्य बनाकर तत्त्वश्रद्धान, सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ आगे कदम बढ़ायेगा और क्रमशः महावीर तक जाएगा।

विषय पुनः दुहरा दूँ। वीतराग सम्यग्दर्शन अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति के साथ ही

हुआ करता है। उपयोग की धारा जिस समय शुद्ध में ढल जाती है उस उपयोग को शुद्धोपयोग कहते हैं। शुद्धोपयोग वह वस्तु है जो सम्यग्दर्शन के द्वारा आगे बढ़कर, अपनी आत्मा में लीन हो जाता है। इसी को निश्चय सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। आचार्यों ने, अमृतचन्द्राचार्य ने और जयसेनाचार्य ने भी खोला है इसे। उन्होंने कहा– **"अत्र तु वीतरागसम्यग्दृष्टीनां कथनम्"** यहाँ पर वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही कथन है। नीचे वाले की विवक्षा नहीं है। फिर महाराज क्या नीचे वाला फेल माना जाएगा? नहीं, अपने आपमें– अपनी कक्षा में तो पास है। ऊपरी कक्षा में उसकी बात नहीं कही जाएगी, क्योंकि यहाँ पर अभेदरत्नत्रय की बात कही जा रही है। जबकि धवला, जयधवला, महाबन्ध इत्यादि में सम्यग्दर्शन को चतुर्थ गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक घटाते चले जाते हैं। परन्तु आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हम यहाँ पर जो बात कह रहे हैं, वह श्रद्धान वाली बात नहीं है किन्तु ध्यान वाली बात है– ध्यान से सुनिये आप।

ध्यान की बात करना अलग है और ध्यान से बात करना अलग। इन दोनों में बहुत अन्तर है। ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से कोई ध्यान में केन्द्रित नहीं होता। आज हम मात्र उपदेश देने में– ध्यान के केन्द्र खोलते जा रहे हैं, इससे अध्यात्म का प्रचार-प्रसार नहीं होगा किन्तु प्रचाल होगा। चार और चाल में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। चार का अर्थ स्वयं में चलने में आता है "चरति एव चारः" और प्रचाल में वह बाहर की ओर भाग रहा है। इतना अन्तर है दोनों में।

वीतराग-सम्यग्दर्शन अभेदपरक होता है और सराग-सम्यग्दर्शन भेदपरक। मोक्षमार्ग में दोनों आवश्यक हैं। एक उदाहरण दे देता हूँ– बहुत दिन पहले, गृहस्थावस्था की बात है। कार में बैठकर जा रहे थे। गाड़ी तेज रफ्तार से चल रही थी। उस समय ड्राइवर को सामने से एक गाड़ी आती हुई देखने में आ गई– कानों में "हार्न" की आवाज भी आ गई। ड्राईवर ने ऊपर वाली लाईट जला दी, जिसका प्रकाश सामने आती गाड़ी पर पड़ा। गाड़ी देख लेने पर लाईट पुनः नीची कर दी। निश्चय और व्यवहार, यहाँ दोनो घटित हो जाते हैं। निश्चय अपने लिए है और व्यवहार पर के लिए, ऐसा नहीं, किन्तु व्यवहार भी पर के साथ-साथ स्व के लिए होता है। जैसे कि गाड़ी की लाईट चूंकि दूसरी गाड़ी देखने के काम आती है। इसका अर्थ– वह लाईट मात्र दूसरों के लिए ही है, ऐसा नहीं है, किन्तु हम स्वयं "एक्सीडेन्ट" से बचें इसलिए भी उसका प्रयोग होता है। नीचे की लाईट यदि गुम कर दी जाए तो आगे चलना ही मुश्किल हो जाएगा। इसके साथ-साथ एक और स्थिति है कि बीच में एक गाड़ी जा रही थी। उसने ज्यों ही अपना ब्रेक लगाया त्यों

ही गाड़ी के पीछे जो "नम्बरप्लेट" थी उस पर लगी लाईट जल गयी। वह कैसी होती है भैया! लाल होती है। लाल नहीं होती! लाईट तो जैसी होती है वैसी ही है, लेकिन उसका कांच लाल होता है। वह सही-सही व्यवहार चलाने के लिए लगाया जाता है जिसके माध्यम से मार्ग बाधक-तत्त्वों से रहित होता है और गाड़ी की यात्रा आगे निर्बाध होती है।

व्यवहार और निश्चय, दोनों को समझने की आवश्यकता है। व्यवहार कोई खेल नहीं है। व्यवहार, निश्चय के लिए है। जब तक निश्चय नहीं है तब तक व्यवहार का पालन पोषण करना आवश्यक है, क्योंकि व्यवहार के द्वारा ही हम निश्चय की ओर ढलेंगे-बढ़ेंगे। निश्चय की भूमिका बहुत लम्बी-चौड़ी नहीं है, किन्तु केवल ज्ञान होने के उपरान्त निश्चय की– शुद्धोपयोग की वही स्थिति होती है जो शुद्धोपयोग होने के पूर्व शुभोपयोग और अशुभोपयोग की होती है। कार्य हो जाने पर कारण की कोई कीमत नहीं रह जाती, लेकिन कार्य से पूर्व कारण की उतनी ही कीमत है जितनी कार्य की। सरागदशा में, व्यवहार दशा मे हमें किस रूप में चलना है! इसको जानने की बड़ी आवश्यकता है। व्यवहार को व्यवहार के रूप में बनाए रखिए। व्यवहार को व्यवहाराभास मत बनाईये। व्यवहार जब व्यवहाराभास बन जाता है तो न वह निश्चय को पैदा करता है और न लौकिक व्यवहार को। उसका कोई भी फल नहीं होता। आभास मात्र रह जाता है। आभास मे सुख नहीं, शान्ति नहीं मात्र वह आभास है इसीलिए– **"प्रमत्त बनकर कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे"** आत्मा में अकम्प रहने का मतलब है आत्मा का अप्रमत्त होना। "प्रमत्त बनकर कर्म न करते" यह अवस्था बाबलेपन की अवस्था है जो भीतरी दृष्टि को फेल कर देती है। उसके द्वारा केवलज्ञान तीन काल में नहीं हो सकता। प्रमत्त बनने का अर्थ मिथ्यादृष्टि होना नहीं है, बल्कि सराग अवस्था में जाना। यह काम इस कक्षा का नहीं। यहाँ अप्रमत्त अवस्था का अभेद अवस्था का प्रसंग है। "अमृतचन्द्राचार्य" ने प्रवचनसार में कहा है कि, मात्र सम्यग्दर्शन के द्वारा मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। ज्ञान के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। चारित्र के द्वारा भी मुक्ति नहीं और उसके बिना भी मुक्ति नहीं। अन्त में उन्होंने कहा– रत्नत्रय के द्वारा भी मुक्ति नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी। तब आप कहेंगे– हमें रत्नत्रय का अभाव कर लेना चाहिए। आपके पास जब रत्नत्रय है ही नहीं तो अभाव क्या करेंगे? वस्तुतः मोक्षमार्ग ध्यान के अलावा और कुछ भी नहीं है। वह भी उपयोग की एकाग्रदशा का नाम है।

हलुआ में न हम शक्कर पाते हैं, ना घी और ना आटा। किन्तु शक्कर, घी और

आटा के बिना हलुवा कुछ नहीं है। हां! तीनों को तीन कोनो मे रख दीजिए तब हलुआ नहीं बनेगा। मिला दें तो भी नहीं बनेगा। फिर कब बनेगा? जब तक अग्नि का योग नहीं दिया जाएगा– तीनो मिलकर एकमेक नहीं होंगे तब तक हलुआ नहीं बन सकेगा। इसी प्रकार उपयोग में, जो बाहरी-वृत्ति को देखकर उथल-पुथल मच रही है। उसे भीतर कर लेने को ही "अभेद" कहते हैं। समयसार में एक गाथा आती है, जिसमें एक नामावली दी गई है–

बुद्धी ववसाओदि य, अज्झवसाणं मदी य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं, चित्तं भावो य परिणामो।।

विज्ञान कहो, परिणाम कहो, अध्यवसान कहो, ये नामावली एक ही बात की गठरी मे बध जाती है। मतलब इन सबसे ज्ञान का चिन्तन-उपयोग को भिन्न रखना है। सराग सम्यग्दर्शन के साथ चिन्तन का जन्म होता है, किन्तु वीतराग सम्यग्दर्शन में चिन्तन मौन-शून्य हो जाता है। सराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को सम्यक् माना जाता है जबकि वीतराग सम्यग्दर्शन में ज्ञान को स्थिर माना जाता है।

ज्ञान कम्पायमान है। उसकी व्यग्रता को मिटाने के लिए ध्यान है। ध्यान ही मुक्ति है। हाँ! पहले श्रद्धान होता है, ध्यान नहीं। वह श्रद्धान भी, जब तक वस्तु परोक्षभूत है तब तक ही अनिवार्य है, बाद में श्रद्धान नहीं। वीतराग सम्यग्दर्शन को धवला, जयधवला आदि मे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान मे घटाते है, जिसको "छद्मस्थ वीतराग" संज्ञा देते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते है कि वीतराग बनने के उपरान्त करना-धरना सब कुछ छूट जाता है। वस्तुत: यह एक सम्यक्प्रणाली है। इसके ऊपर प्रगाढ़ श्रद्धान करना ही जिनवाणी की सेवा है। श्रद्धान करना मात्र सेवा नहीं है, किन्तु उसके अनुसार अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को ढालते चले जाना ही सच्ची सेवा है। तब कहीं जिनवाणी का आशय-अभिप्राय क्या है? इसे ज्ञात कर सकेंगे। लेकिन हम तो ऐसा निर्णय ले लेते हैं कि सर्वप्रथम तो सारा का सारा सुना जाए बाद में हम करना प्रारम्भ करेंगे, जो होना असभव है। आचार्य एक-एक कदम आगे बढ़ने पर एक-एक सूत्र देते चले जाते है। यदि वह कदम उठाता है तो उसे आगे का सूत्र बताया जाता है। यदि नहीं उठाता तो, ज्यों का त्यों रहने देते हैं। उसे पीछे भी नही भगाते। कहते हैं– "यहीं पर रह जाओ, कोई बात नहीं। पीछे वाले आएँ तो उनके साथ आ जाना" ऐसा कहकर उसे छोड़ देते हैं साथ-साथ यह भी कह देते हैं कि तुम आगे बढ़ोगे तो तुम्हें भी नियम से सूत्र मिलेंगे।

भगवान् का, आचार्यों का हमारे ऊपर बड़ा उपकार है, जिन्होंने ऐसे-ऐसे गूढ़ तत्त्वों की, सामान्य से सामान्य व्यक्ति समझ सके, ऐसी प्ररूपणा की। उन्होंने इसे

मुड़कर भी नहीं देखा। मुड़कर देखना उनका स्वभाव भी नहीं है। कहाँ तक मुड़कर देख सकेंगे? अनन्त केवली हमारे सामने-सामने से निकल गए हैं, और इसी स्टेशन पर खड़े हैं। जैसे– गाड़ियां आती हैं-जाती हैं। आती हैं, चली जाती हैं। बहुत सारे लोग चले जाते हैं। जाते-जाते मुड़कर के देखते तक नहीं। हमें बुलाते नहीं। कदाचित् देख भी लें, आवाज भी दे दें, तब भी आते नहीं हैं। ऐसी कैसी बात है? कैसी करुणा है इनकी? भैय्या। उनका स्वभाव ही ऐसा है। क्या करें! कहाँ गये वे कुन्दकुन्द भगवान्, उमास्वामी, समन्त भद्राचार्य अकलंकस्वामी और सारे के सारे अनन्त तीर्थंकर कहाँ गये? वर्तमान में हम केवल उनका परोक्षरूप में स्मरण करते हैं। ऐसा समवसरण होता है, ऐसा गर्भकल्याणक, ऐसा जन्मकल्याणक, तपकल्याणक पांचों कल्याणक होते हैं। उनके तो कल्याणक हो गए– हो जाते है। यहाँ पर तो पंचों का कल्याण नहीं होता, दूसरी जनता की तो बात ही अलग है। क्यों नहीं होता? आचार्य कहते हैं– "**धम्मं भोगणिमित्तं**"। धर्म को हम भोग-ऐशो-आराम के लिए, ख्याति-पूजा-लाभ के लिए, नाम बढ़ाई के लिए करते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होना चाहिए। हम जो करते हैं वह हमारे लिए ही है, हमारी उन्नति के लिए है यह विश्वास पहले दृढ़ बनाना चाहिए। फिर भी यदि होता है तो क्या करें? अनन्तकाल से इस प्रकार का कार्य ही नहीं किया। इसलिए जो भावुकता में आकर कर लेते हैं, उनको भी समझना-समझाना होगा कि– देखो भैय्या! इसका परिणाम अच्छा निकलना चाहिए। यह काम तो बहुत अच्छा किया आपने। जैसे– आप सुन रहे हैं। तब मैं यह थोड़े ही कहूँगा कि आपका सुनना ठीक नहीं। बल्कि मैं तो यही कहूँगा कि पंचों का कल्याण इस प्रकार से कभी नहीं हो सकता। जब तक ये शब्द नहीं कहे जायेंगे तब तक कल्याण होने वाला नहीं। आचार्य कहते हैं– ख्याति-पूजा-लाभ के लिए नहीं किन्तु कर्मक्षय के हेतु धर्म होना चाहिए।

आदहिदं कादव्वं, जं सक्कई तं परहिदं च कादव्वं।
आदहिद-परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव की वाणी कितनी मीठी है और कितनी पहुँची हुई है तथा कितनी तीखी भी है। क्या कहती है? आत्मा का हित पहले स्वयं करें। आप तो सोचते हैं, अपना कल देखा जाएगा, आज तो दूसरों का करा दूँ। दूसरों का तू नहीं कर सकेगा। पहले तू खुद भोजन करने बैठ जा, तुझे देखकर दूसरों को भी रुचि उत्पन्न हो सकती है। भोजन की मांग हो सकती है। लेकिन स्वयं के बिना दूसरों को समझ में नहीं आयेगा। जो कुछ करना है कर लो। उपकार भी करना है तो लोगों से कह दो– तुम भी बैठ जाओ, भाई! तुम भी बैठ जाओ। लेकिन जिस व्यक्ति को

भोजन करना ही नहीं, तो उसकी ओर पीठ कर दें, और एक बार जल्दी-जल्दी भोजन कर लें। संसार में कोई स्थायी रहने वाला नहीं। "संसार" शब्द ही कह रहा है कि जल्दी-जल्दी काम कर ले, नहीं तो सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है। वह कभी भी रुकने वाला नहीं। उसको मैं क्या कहूँ, स्वयं आचार्य कहते हैं कि– भगवान् भी उसे रोकना चाहें तो नहीं रोक सकते, और भगवान किसी को रोकना नहीं चाहते।

काल रुकता नहीं और किसी को रोकता भी नहीं। इतना तो अवश्य है कि– चल-चल, मेरे साथ चल। तेरे भीतर ही भीतर परिवर्तन होता चला जाएगा, बस! तू अपने स्वभाव की ओर देख ले। मैंने तो अपने स्वभाव को न छोड़ा है, न कभी छोडूँगा। क्यों नहीं छोड़ता? आचार्य कहते हैं कि– कालद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य, शुद्धद्रव्य-शुद्धतत्त्व हैं। इनके लिए शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जीव और पुद्गल, ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो शुद्ध भी हो जाते हैं और अशुद्ध भी। पुद्गल द्रव्य ऐसा ही है कि वह शुद्ध होने के उपरान्त कालान्तर में अशुद्ध हो सकता है, परन्तु जीव तत्त्व ऐसा नहीं है। वह एक बार शुद्ध हुआ कि पुनः कभी भी अशुद्ध नहीं होता। उसके शुद्ध करने के लिए क्या करें, वह तो आज तक शुद्ध नहीं हो पा रहा है? उसे शुद्ध करने के लिए सारे के सारे साबुन बेकार हैं। फिर उसके लिए कौन-सा रसायन है जिसके द्वारा उसकी अशुद्धि मिट सकती है? आचार्य कहते हैं कि एकमात्र ही रसायन है उसके लिए, वह भी यह–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।

चार-चरणों में, चार बातें कहीं गयी हैं– बन्ध की व्यवस्था– राग करोगे तो बन्ध होगा, मुक्ति की व्यवस्था– वीतरागता को अपनाओगे तो मुक्ति मिलेगी, उपदेश– यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है। इसलिए "जो कुछ होना है सो होगा" ऐसा नहीं कह रहे कुन्दकुन्द भगवान्। क्या कहते हैं– "तम्हा कम्मेसु मा रज्ज" यह राग की बात छोड़ दे।

"यह राग-आग दहे सदा तातै समामृत सेइए"

अरे! ममता, मोह, मत्सर की इस देह को धारण करते-करते, अनन्तकाल व्यतीत हो गया। एक बार भी आंख मीचकर अपने आपको देख ले, कि "मैं कौन हूँ", "यहाँ पर क्यों आया हूँ", "कब तक चलना है", इसके बीच मे कोई रास्ता है कि नहीं?

आज अफसोस की बात तो यह है कि, इस संसारी प्राणी को ज्ञान मिलने के उपरान्त भी, "**धम्मं भोगणिमित्तं**" है। सोचता है, बहुत सोचता है, "**सद्दहदि**'–श्रद्धान

करता है, **"पत्तेदि"** प्रतीति करता है, **"रोचेदि"** रुचि करता है, **"फासेदि"** स्पर्श भी करता है। तत्त्व का ऐसा स्पर्श करता है जैसे- दो मगनेट मिल गए हों। फिर भी भीतर का भोग परिणाम समाप्त नहीं हो पा रहा है। कल या परसों के दिन हम सब देखेंगे कि- भोगों को किस प्रकार से उड़ा देते हैं- लात मार देते हैं भगवान्। इस सबकी आयोजना आप सुनेंगे, देखेंगे भी। गद्‌गद् हो जाएगा हृदय। आज हमारे पास एक कौड़ी बराबर भी भोग नहीं है, फिर भी उसको छोड़ने की हिम्मत नहीं होती। लेकिन तीन लोक की सम्पदा, उसको भी लात मारते हैं। यह कमाल की बात है, भीतरी बात है। भीतर से ही यह काम होता है, उसके बिना सम्भव नहीं है।

सही दृष्टि यही है, जिसको यह श्रद्धान हो गया है- तीन लोक की सम्पदा मेरे काम आने वाली नहीं। यह सम्पदा वस्तुतः सम्पदा ही नहीं। सम्पदा किसको कहते है? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने "स्वयंभूस्तोत्र" में अरनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है-

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः।
दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर! पराजितः।।

हे भगवान्! सम्पदा वही होती है, जो वीतराग-विज्ञान है, रत्नत्रय है। इसके माध्यम से उसी को प्राप्त कर सकते हैं जो अनन्तकाल तक अक्षय-अनन्त मानी जाती है। वही मेरे लिए प्राप्तव्य है- प्रयोजन है। इस प्रयोजन को बना करके जो व्यक्ति सात तत्त्वों के ऊपर श्रद्धान करता है, नौ पदार्थों, छह द्रव्यों के ऊपर श्रद्धान करता है, उसका श्रद्धान ही वीतराग-विज्ञान के लिए कारण बन जाएगा और अन्यथा प्रयोजन के साथ वही ख्याति-पूजा-लाभ या सांसारिक वैभव के लिए भी कारण बन जाएगा। जिनवाणी तो आपने पढ़ी, लेकिन भोगों के लिए पढ़ी तो प्रयोजन सही-सही नहीं माना जाएगा।

वर्णी जी की "मेरी जीवन गाथा" में एक घटना है। उसमें उन्होंने लिखा है- देखो बन्धुओं! ध्यान रखिये, **"कभी भी जिनवाणी माता के माध्यम से अपना व्यवसाय नहीं चलाना"**। क्योंकि, जिसके द्वारा रत्नत्रय का लाभ होता है उसको तुम क्षणिक व्यवसाय का हेतु बना रहे हो। चार पुरुषार्थ हैं- अर्थ, काम, धर्म और मोक्षपुरुषार्थ। तो अर्थ पुरुषार्थ करो और वित्त का अर्जन करो। जिनवाणी के माध्यम से तो रत्नत्रय की सेवा करो, रत्नत्रय को प्राप्त करने का व्यवसाय करो। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। बड़ी अच्छी बात कह दी। छोटी जैसी लगती है, लेकिन है बहुत बड़ी। ठीक है ! जिनवाणी का क्या गौरव होना चाहिये? उसे कैसे रखें, कैसे उठायें? इसका ख्याल रखना चाहिए। जैसे- आप लोग जब धुले हुए- साफ-सुथरे

अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनकर आ जाते हैं तो कैसे बैठते हैं? मालूम है आपको! आपके बैठने में आदान-निक्षेपण समिति आ जाती है। भीतर जेब में रखी रुमाल, एक प्रकार से पिच्छी का काम करने लग जाती है। उस समय हम सोचते हैं कि भैय्या! यह कौन-से मुनि महाराज आ गए। कैसी आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। यदि रुमाल नहीं है आपके पास तो फूंक ही मारते हैं और ऐसे बैठ जाते हैं, जैसे बिल्कुल ठीक-ठीक आसन लगाकर प्राणायाम होने वाला है। ऐसे कैसे बैठ गये? कौन-सा आसन है वह! आसन-वासन कुछ नहीं है वह, किन्तु वसन गन्दी न हो इसलिए ऐसा बैठते हैं आप लोग। इस प्रकार की प्रवृत्ति करते समय जरा सोचो तो बन्धुओ ! इससे किसकी रक्षा हो रही है? वस्त्र की या जीवों की। जब वस्त्रों की रक्षा आप इतने अच्छे ढंग से करते हैं तब जिनवाणी की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए ! आचार्यों ने कहा है– उसको नीचे मत रक्खो। जहाँ कहीं उसे ऊंचे आसन पर रखो। उसके प्रति आदर से खड़े होओ।

जब कभी मुझे समय मिलेगा, तब सम्यग्ज्ञान के बारे में कहूँगा। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग है, उसी प्रकार से सम्यग्ज्ञान के आठ अंग है। इन आठ अंगों को देखकर ऐसा लगता है कि हमारा ज्ञान अभी बहुत कुछ संकुचित दायरे में है। हम वस्तुत इन अंगों का पालन नहीं कर पा रहे है, फिर भी सम्यग्ज्ञानी होने का दम्भ रखते है। ऐसा सम्भव नहीं है कि "अंग के बिना अंगी की रक्षा हो जाए"। यदि सम्यग्ज्ञान की रक्षा चाहते हो तो उस जिनवाणी मा की रक्षा करो। ध्यान रखिये– जब तक इस धरतीतल पर सच्चे देव-गुरु-शास्त्र रहेगे, तब तक ही हमारी भीतरी आंखें खुल सकेगी। भीतरी आंख जितनी पवित्रता के साथ खुलेगी, उतना ही पवित्र-पथ देखने मे आयेगा। ज्यों ही इसमें दूषण आने लग जाएंगे तो पथ की पवित्रता नष्ट/समाप्त हो जाएगी। दृष्टि-दूषण के कारण कौन-कौन हैं? अज्ञान, राग, लोभ और भय। इन चारों के द्वारा ही दृष्टि में दूषण आता-आ सकता है। पवित्र वस्तुओ मे दूषण लगने के ये चार-मार्ग है। यदि हमारा राग जागृत हो जाए या लोभ जागृत हो जाए तो लोभ के कारण हम तत्त्व को इधर-उधर करने लग जाएंगे। जो हमारे लिए अभिशाप सिद्ध होगा। "वह घड़ी वरदान नहीं हो सकती, अभिशाप ही सिद्ध होगी क्योंकि जिनवाणी में परिवर्तन करना महान् दोष का काम है साथ ही महान् मिथ्यात्व का भी।" दर्शनमोहनीय का जो बन्ध होता है। उसके लिए "तत्वार्थसूत्र" में उमास्वामी महाराज ने कहा है– **"केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य"**

जिनवाणी का एक अक्षर भी यहाँ का वहाँ न हो, निह्नव न हो। इस प्रसंग

पर मैं पुनः कहूँगा कि **सरागसम्यग्दर्शन के साथ तत्त्व का श्रद्धान किया जाता है और वीतराग सम्यग्दर्शन के साथ ध्येय वस्तु को प्राप्त करने के लिए उपयोग को एकाग्र किया जाता है। ये दोनों सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाते हैं तो केवलज्ञान भी बहुत जल्दी प्राप्त हो जाता है। यही एक मात्र क्रम है।** जिसे वृहद्‌द्रव्यसंग्रह की टीका में स्पष्ट किया गया है–

"एषां भरतादीनां यत्सम्यग्दर्शनं तत्तु व्यवहारसम्यग्दर्शनं"

गृहस्थावस्था में जो भरतादि थे उनके सम्यग्दर्शन की बात है, तो उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन था उसे भी उन्होंने "व्यवहार-सम्यग्दर्शन" यह संज्ञा दी है। वीतराग सम्यग्दर्शन के लिए वे कहते हैं कि जिस समय मुनि महाराज अभेद रत्नत्रय में लीन हो जाते हैं तब ही वीतराग सम्यग्दृष्टि है। वे मुनि महाराज ही वीतराग ज्ञानी हैं और वे ही वीतराग चारित्री भी हैं। इसीलिए उनको आदर्श बनाकर उनके पगचिन्हों पर चलें तो नियम से एक दिन हमें भी वह घड़ी प्राप्त होगी, जिसकी प्रतीक्षा में हम अनादिकाल से हैं।

मैं भगवान् से बार-बार प्रार्थना करता हूँ कि आप लोगों की मति भी इसी ओर हो और मेरी मति इससे आगे बढ़ती हुई हो। जल्दी-जल्दी आगे पहुँच गए हैं जो, उनको आदर्श बनाकर वहाँ पर जाने के लिए याद रखें। जब तक हमारे सामने आदर्श नहीं रहेगा तब तक हमारे कदम ठीक-ठीक नहीं उठ सकेंगे। इस पंचमकाल में, वह भी हुण्डावसर्पिणी काल में यदि कोई शरण है तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र ही हैं। देव का तो आज अभाव है, लेकिन अभाव होते हुए भी स्थापनानिक्षेप के माध्यम से आज भी हम उन वीतराग भगवान् को सामने ला रहे हैं जिन भगवान् के बिम्ब-दर्शनमात्र से, भीतर बैठा हुआ अनन्तकालीन मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न हो जाता है। सारी की सारी कषाय छिन्न-भिन्न हो जाती है। ऐसी प्रतिमा की स्थापना के लिए ही आप लोगों ने पांच छह दिन की यह आयोजना की है। अपने वित्त का सदुपयोग और अपने समय का, जो कुछ भी था, न्यौछावर किया। आप लोग भी इस आयोजना को देखने के लिए आए।

भावना की थी। आज यही आपके लिए धर्म-प्रभावना का कारण है और ध्यान के लिए भी। लेकिन यह ध्यान रखिये– "धम्मं भोगणिमित्तं" रूप भावना नहीं होना चाहिए। आप लोगों ने बहुत कुछ किया जो फालतू नहीं, बहुत आवश्यक है, लेकिन इतना और कर लेना कि भीतर कभी भी भोगों की वांछा न हो। भीतर कभी भी ख्याति-पूजा-लाभ की वासना न हो। क्योंकि यह भावना जागृत हुई, कि सारा का सारा काम समाप्त। अन्दर रहने वाली बारूद में एक बार भी अगर, अगरबाती

लग गई तो विस्फोट होने से कोई नहीं बचा सकता। वह विस्फोट ऐसा भी हो सकता है, जिसका जीवन में कभी अनुमान न किया हो। इसलिए अन्दर बारूद रहते हुए भी उसे अन्दर ही सुरक्षित रखो और अगरबत्ती लगने से पहले ही उसकी बाती (बत्ती) को ऐसा तोड़ दो ताकि तीन काल में भी विस्फोट न हो। फिर चाहे उसे जेब में भी रख ले तो कोई डर नहीं।

अत: सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को आदर्श बनाकर चलना चाहिए, क्योंकि कुन्दकुन्द भगवान् भी जब उनको आदर्श मानकर चले हैं तो हम किस खेत की मूली हैं। क्या ज्ञान है हमारे पास? क्या चारित्र है? हमारे पास निश्चय से तो कुछ भी नहीं है। हम तो उनकी पग-रज होने के लिए जीवित हैं। नहीं तो इस संसार में हमारा कोई अस्तित्व नहीं। यदि वे नहीं होते तो हम अपनी आत्मा की आराधना कैसे करते? आत्मा की बात भी स्वप्न में नहीं आ सकती थी। हमें इस जिनवाणी की, ऐसे गुरुओं की और सच्चे देव की शरण मिली है, इसलिए हमारे जैसा बड़भागी और कौन हो सकता है। किन्तु बड़भागी कहकर रुकना नहीं चाहिए। रुकना वस्तु का स्वभाव नहीं और न ही पीछे मुड़कर देखना। इसलिए इस बड़भागीपन की याद रखते हुए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शरण में जाकर रत्नत्रय का लाभ प्राप्त कर भगवान् कुन्दकुन्द देव ने जिनको आदर्श बनाकर जो ज्ञान और चारित्र अंगीकार किया, वह हम कर सकें और सभी संसारी प्राणी उसे अंगीकार करने की चेष्टा करें।

OO

३

संसारी प्राणी जन्म को अच्छा मानता है और मरण को बुरा। इसलिए हम पहले मरण को समझ लें। जन्म के बारे में मध्याह्न में समझना अच्छा होगा। अभी का जो समय है उसमें पहले मरण को समझ लेते हैं फिर उसके उपरान्त स्वाध्याय और दान के विषय में भी कुछ समझने का प्रयास करेंगे।

पहले तो, मरण किसका होता है? मरण क्या वस्तु है? मरण क्या अनिवार्य है और मरण का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है? इसको समझ लें। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो मरण से न डरता हो, जबकि मरण एक अनिवार्य घटना है। फिर डरना क्यों? जहाँ जीवन भी एक अनिवार्य घटना और मरण भी। तो एक पहलू से प्रेम और एक पहलू को देखकर के क्षोभ क्यों? इसमें क्या रहस्य है? अज्ञान! अज्ञान के कारण ही संसारी प्राणी मृत्यु को नहीं चाहता और मृत्यु से बच भी नहीं पाता। अभी-अभी यहाँ जन्म महोत्सव मनाया जा रहा था। लेकिन जहाँ से निकल करके आ रहा है, वहाँ पर मरणकृत शोक छाया होगा। यह मात्र अज्ञान के खेल हैं। तो मरण क्या है? मरण, जीवन के अभाव का नाम है। जैसे– दीपक जल रहा है। वायु का एक झोका आ जाता है तो दीपक बुझने लगता है, भले ही उसमें तेल और बाती भी अभी जमाई हो, तब भी वह बुझ जाता है। इसी प्रकार आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है। जब आयुकर्म का क्षय होना अनिवार्य है तो हम इसे समझ लें कि आयु क्या है? आयु एक प्राण है। दश प्राण होते हैं उनमें से एक आयु भी है "दशप्राणैर्जीवति इति जीवः" दश प्राण इसलिए कह रहा हूँ कि यहाँ पर मनुष्य की विवक्षा रखी गई है। अर्थात् जो दश प्राणों से जीता था वह जीव है, जो अब भी जी रहा है वह जीव है तथा जो आगे भी जियेगा, वह जीव है। "अजीवत् जीवति जीविष्यति इति·वा जीवाः प्राणिनः"। इन प्राणों का अभाव होना ही मरण है। आयु का अभाव होना ही मरण है। आयुकर्म का क्षय होना ही मृत्यु है। संसारी प्राणी मरण से भयभीत है अतः समझ सके कि वह घटना क्या है? आयु का क्षय– अभाव क्यों आता है? जिस अभाव को वह नहीं चाहता तो वह क्यों होता है? जो हम चाहते

हैं वह क्यों नहीं होता? अनचाहा होता है तो उसके ऊपर हमारा अधिकार क्यों नहीं?

सन्तों का कहना है, हमें उस ओर नहीं देखना है जहाँ सूर्य का प्रवास चलता है, यात्रा चलती है अविरल रूप से १२ घण्टे। वह चलती ही रहती है। कभी रुकती नहीं, यह नियम है। कभी किसी को पीछे मुड़कर देखता नहीं और ना ही किसी की प्रतीक्षा करता है सूर्य। उसका यह कार्य है। लोग इसे पसंद करें, ठीक। नहीं करें, तो भी ठीक। वह चलता ही रहता है। इसी प्रकार आयुकर्म का खेल है। वह निरन्तर क्षय को प्राप्त होता रहता है। **आयुकर्म क्या है? आयु, आठ कर्मों में एक कर्म है, जिसका सम्बन्ध काल के साथ है लेकिन वह काल नहीं है। हमारा सम्बन्ध कर्म के साथ हुआ, न कि काल के साथ। हां! कर्म का सम्बन्ध कितने काल तक रहेगा, उसमें कितनी शक्ति है, कितने-किस प्रकार के उसमें परिवर्तन हो सकते हैं और कब, यह सब काल के माध्यम से जानते हैं।**

"आयु" कहते ही हमारी दृष्टि काल की ओर चली जाती है, लेकिन यह ठीक नहीं। क्योंकि दृष्टि से ही सृष्टि का निर्माण हुआ करता है। जिसके साथ आपका सम्बन्ध है उसी को देखिये। काल कोई वस्तु नहीं है। मैंने कल कहा भी था कि चेतनाएं तीन होती हैं, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। जीव का सम्बन्ध इन चेतनाओं के साथ हुआ करता है, अनुभव के साथ हुआ करता है, अन्य कोई चौथी काल चेतना नहीं है। अतः काल के साथ जीव का कोई भी सीधा सम्बन्ध नहीं है। यह बात अलग है कि काल, कर्म को नापने का माध्यम है। जैसे– ज्वर को थर्मामीटर के माध्यम से नापा जाता है। ज्वर आते ही थर्मामीटर की याद आती है। और उसको भिन्न-भिन्न अंगों पर लगाकर देख लिया जाता है। ज्वर थर्मामीटर को नहीं आता अर्थात् थर्मामीटर ज्वरग्रस्त नहीं होता, मात्र वह बता देता है। ज्वर तो हमारे अन्दर ही है। ज्वर, थर्मामीटर के अनुरूप भी नहीं आता, क्योंकि एक तो बुखार आने के उपरान्त ही उसका प्रयोग किया जाता है, आवश्यकता पड़ती है। दूसरी, पहले तो थर्मामीटर नहीं थे। मात्र नाड़ी के माध्यम से जान लेते थे। आज थर्मामीटर भी ६४ के नीचे काम नहीं करता और १०७.१०८ के ऊपर भी नहीं। कितनी गर्मी है, पता नहीं चलता। एक हड्डी का बुखार हुआ करता है, वह थर्मामीटर में आता ही नहीं, फिर भी ज्ञान का विषय तो बनता ही है। अर्थ यह हुआ थर्मामीटर होने से बुखार नहीं आता। वह तो मात्रा नापने में एक यन्त्र का काम करता है। उस यन्त्र में हम नहीं घुसें, और न उसके बारे में ज्यादा सोचें, सिर्फ इसके कि, बुखार कितना आया? कब तक रहेगा? जायेगा कि नहीं? इसके उपरान्त इलाज प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

इसी तरह आयु कहते ही हमारे दिमाग में काल की चिन्ता नहीं होनी चाहिए?

कि अब कितना काल रह गया, क्या पता? काल रुकता नहीं, काल टिकता नहीं, काल जाता नहीं, काल तो अपने-आप में है। फिर क्या वस्तु है काल? इसको हम आगम के माध्यम से या अनुमान के माध्यम से जान सकते हैं। भगवान् की वाणी द्वारा जो उपदिष्ट हुआ है उस पर श्रद्धान कर समझ सकते हैं। "काल कोई जानकार वस्तु नहीं है, जो हमें जान सके। हम ही उसे जानने की क्षमता रखते हैं" लेकिन वर्तमान में नहीं है, यह बात अलग है। वह केवल श्रद्धान का विषय है। भगवान् ने जो कहा, उसको हम मानते चले जाते हैं। काल के माध्यम से अपने-आपको आंक सकते हैं। काल हमारे परिणमन का ज्ञापक है और इन परिणमनों के लिये सहायक काल है। काल निष्क्रिय है, उसके पास पैर नहीं, हाथ नहीं, ज्ञान नहीं। उसके पास अपना अस्तित्व है, अपना गुण-धर्म और अपना स्वभाव है। इस काल के बिना आयुकर्म क्या करता है? नियम से अपने परिणामों के अनुरूप परिणमन करता चला जाता है। उसकी कई अवस्थाएं हुआ करती हैं, जिनका उल्लेख धवला, जयधवला एवं महाबन्ध में किया है।

"आयुक्षयेण मरणं" जैसे दीपक के तेल और बाती का समाप्त होना उसकी मृत्यु है, अवसान है। उसी प्रकार संसारी प्राणी के घट में भरा हुआ आयुकर्म समाप्त हो जाना। फिर चाहे वह मोटा-ताजा हो, हृष्ट-पुष्ट हो या पहलवान भी क्यों न हो, बाहर, से बिलकुल लाल-सुर्ख टमाटर के समान दीखने वाला हो, उसका भी अवसान बहुत जल्दी हो जाता है, क्योंकि भीतर आयुकर्म समाप्त हो गया।

एक व्यक्ति ने कहा था– महाराज जी! आजकल तो जमाना पलट रहा है। वैज्ञानिक, वस्तु की स्थायी सुरक्षा का प्रबन्ध करने जा रहे हैं, बस चन्द दिनों में उस पर कन्ट्रोल कर लेंगे। कोई भी वस्तु को मिटने नहीं देंगे। यदि मिटती भी है तो समय-पूर्व नहीं मिट सकती। जैसे शास्त्रों में जहाँ कहीं भी मर्यादा सम्बन्धी व्यवस्था की गई है, कि आटे की सीमा गर्मी में पांच दिन, ठण्ड में सात दिन और वर्षा में तीन दिन। लेकिन अब एक ऐसा यन्त्र विकसित हो गया है (बन गया है) कि उसमें आटा रखने से उम्र ज्यादा पाता है, उसकी सीमा अधिक दिन तक की हो जाती है। तथा आज जो बेमौसमी फल बगैरह मिल रहे हैं, वह सभी उसी की देन है। अब दीवाली में भी आम खा सकते हैं। आमतौर पर दीपावली में आम नहीं आ सकते, लेकिन फ्रिज में रख करके बे-मौसम के खाने के काम आते हैं। ..... बात बिल्कुल ठीक है कि आप एक फल जो कि पेड़ से तोड़ा गया है, रेफ्रिजरेटर में रख दीजिए, लेकिन उसके अन्दर भी काल विद्यमान रहता है और वह परिणमन करने में सहायक होता है, **क्योंकि परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है।**

"वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य"

कालद्रव्य का माध्यम बना करके प्रत्येक वस्तु का परिणमन निरन्तर चलता रहता है। यदि उस आम को ८-१० दिन के बाद, जब निकाल कर खायेंगे, तब रूप में, गन्ध में, रस में, वर्ण में और स्पर्श में नियम से अन्तर मिलेगा। यह बात अलग है कि इन्द्रियों के "अण्डर" में हुआ व्यक्ति उस रस के, रूप के और गन्ध के बारे में पहचान न कर पाये, लेकिन उनमें परिवर्तन तो प्रति समय होता जा रहा है। यही आम का मरण है। रूप का, रस का, गन्ध का, स्पर्श का और वर्ण का मरण है। प्रत्येक का मरण है। ध्यान रखिए ! मात्र मरण का कभी भी मरण नहीं होता। **कोई अजर-अमर है तो वह मरण ही है। कोई नश्वर है तो वह जीवन है। आयु ही जीवन है और उसका क्षय होना नश्वरता है, मरण है।**

कर्मों का क्षय करना है लेकिन, सुनिये! आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की निर्जरा बताई गयी है आगम में। कर्म मात्र हमारे लिए बैरी नहीं। "आठ कर्मों की निर्जरा करो" ऐसा व्याख्यान करने वाला अभी भूल में है। जिनवाणी में आठ कर्मों की निर्जरा के लिए नहीं लिखा, किन्तु सात को लिखा है,आयुकर्म की निर्जरा नहीं की जाती है। जो आयुकर्म की निर्जरा में उद्यमशील है उसे "हिंसक" यह संज्ञा दी गई है।

जो आयुकर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत है, कि "किसी भी प्रकार से जल्दी-जल्दी जीवन समाप्त हो जाए" इस प्रकार की धारणा वाला व्यक्ति, ना जीवन का रहस्य समझ पा रहा है, ना मृत्यु का। कर्म-सिद्धान्त के रहस्य को समझने के लिए, अध्ययन करने के लिए, यदि एक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी जीवन खपा दे, तो भी मैं समझता हूँ अधूरा ही रहेगा। फिर १० दिन के शिविरों में कर्म के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं समझ पायेंगे। कर्म के भेद-प्रभेद, उनके गुण-धर्म आदि-आदि बहुत विस्तार हैं। कहने को मात्र १४८ कर्म हैं लेकिन उनके भी असंख्यातलोकप्रमाण भेद हैं। इनका सम्बन्ध हमारी आत्मा के साथ है। इनका फल भी आत्मा को भोगना होता है और इनके करने का श्रेय भी आत्मा को है अतः कर्ता-भोक्ता दोनों आत्मा ही है। अपने भावों का कर्ता होते हुए भी, कर्मों का कर्ता कैसे बना? अपना परिणमन करता हुआ अन्य भावों को पैदा करने में योगदान कैसे देता है? इस सबका हिसाब-किताब बहुत गूढ़ हैं अतः इनके रहस्य को समझें।

आयुकर्म हमारे लिए प्राण है। प्राण– मतलब जिसके माध्यम से हमारा वर्तमान जीवन चल रहा है। वह पेट्रोलियम का काम करता है। आपको सम्मेदशिखर जी की यात्रा करनी है। आपने एक मोटर की। उसमें एक पेट्रोल टेंक भी रहता है।

वह क्या करता है? वह मोटर को चलाता है। और यात्री ऐशोआराम के साथ यात्रा सम्पन्न कर लेता है। अब यदि पेट्रोल टेंक फट जाय तो क्या होगा? गाड़ी तो बहुत बढ़िया है, ब्रेक भी ठीक है। ड्राइवर भी ठीक है– शराब भी पीकर के नहीं बैठा, आराम के साथ– यन्त्र देख-देखकर वह गाड़ी को चला रहा है। फिर भी पेट्रोल समाप्त हो जाने से आगे नहीं चलेगी वह,आप भी नहीं जा सकेंगे। मतलब पेट्रोल समाप्त, गाड़ी बन्द, यात्रा समाप्त। पेट्रोल क्या है? यही तो उस गाड़ी का आयुकर्म है।

आयुकर्म के बारे में बहुत समझना है, बहुत शान्ति से समझना है। उसकी उदीरणा-अपकर्षण-उत्कर्षण आदि-आदि जो भंग/करण हैं वह बहुत कुछ सोचने के विषय हैं, चिन्तनीय हैं। जीवन तो आप चाहते हैं, लेकिन जीवन की सामग्री के बारे में आप सोचते ही नहीं हैं। इसी से आपका पतन हो रहा है। मंजिल तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। कामना पूर्ण नहीं हो पा रही है। आयुकर्म आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होता है तो भावों के द्वारा ही स्थितियां और अनुभाग के साथ वर्गणाएं कर्म के रूप में परिणत हो कर आ जाती हैं। ऐसा पेट्रोलियम आपके साथ विद्यमान है तो जो काल के ऊपर आधारित नहीं, किन्तु अपना परिणमन वह पृथक् रखता है। जैसे दो कैरोसिन की गैसबत्ती हैं। वे तेल के माध्यम से जलती हैं। रात में आपको कुछ काम करना था अतः दुकान से किराये पर ले आये। दुकानदार से पूछा– यह कब तक काम देंगीं? १२ घण्टे तक। अच्छी बात है। अब उन्हें लाकर काम चालू कर दिया। दिन डूबते ही आपने बत्तियां जला दीं। लेकिन चार घण्टे के उपरान्त एक बन्द हो गयी, बुझ गई। तो वह दूसरी के सहारे काम करता रहा, रात के बारह बजे तक। सुबह जाकर के दुकानदार को कहा– मैं तो एक गैसबत्ती का किराया दूंगा एक का नहीं। क्यों भैय्या क्या बात है? एक बत्ती ने काम नहीं दिया, हो सकता है आपने इस गैसबत्ती में कैरोसिन कम डाला हो। मालिक ने कहा– नहीं जी, ऐसी बात नहीं है। मैंने नापतोल कर तेल और हवा भर दी थी, फिर इसने काम नहीं किया तो उसमें कुछ गड़बड़ी होनी चाहिए। उसने देखा कि एक सुराख हो गया है तेल टेंक में। यानि बर्नर के माध्यम से जो तेल जाता था, वह तो प्रकाश के लिए कारण बनता है किन्तु जो एक छिद्र हो गया है वह बिना प्रकाश दिये कैरोसिन को निकाल देता है। इसीलिए वह चार घण्टे में समाप्त हो गया। जिसे ८ घण्टे और चलना था, वह पहले ही समाप्त हो गया। हम पूछना चाहते हैं कि क्या तेल १२ घण्टे के लिए डाला गया था या चार घण्टे के लिये? तेल तो १२ घण्टे का डाला, किन्तु छिद्र होने से बीच में ही समाप्त हो गया। अपनी सीमा तक नहीं पहुँच सका। इसी प्रकार आयुकर्म है, वह अपनी स्थिति को ले करके बंधता है लेकिन बीच में

उदीरणा से स्थिति पूर्ण किये बिना ही समाप्त हो जाता है। इसमें कर्मों का कोई दोष नहीं, कर्मों का आधारभूत जो नोकर्म शरीर रूपी गैसबत्ती उसकी खराबी है। इसकी खराबी का कारण भीतरी कर्मों को दोष नहीं देना चाहिये। कर्म जिस समय बंध को प्राप्त होता है तो चार प्रकार से बंध हुआ करता है– प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग।

प्रकृतिबन्ध– स्वभाव को इंगित करता है। प्रदेशबन्ध– कर्मवर्गणाओं की गणना करता है। स्थिति बन्ध काल को बताता है कि इतने समय तक यहाँ रहूँगा जबकि काल द्रव्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं, मात्र अपनी क्षमता को काल के माध्यम से घोषित कर रहा है। और अनुभाग बन्ध अपने परिणामों को बताने वाला होता है। यह चार प्रकार के बन्ध एक ही समय में हुआ करते हैं। ऐसा नहीं है कि पहले प्रकृति बन्ध हो फिर प्रदेश बन्ध या पहले स्थिति बन्ध फिर अनुभाग बन्ध। पहले कुछ प्रदेश आ जाए, फिर शेष तीन प्रकार का बन्ध हो, ऐसा भी नहीं। जिस समय लेश्याकृत मध्यम परिणाम होते हैं वह समय आयुकर्म के बन्ध के योग्य माना गया है, ना कि अन्य परिणामों का। अब समझ लीजिए– किसी ने अस्सी साल की आयु की स्थिति प्राप्त की अर्थात् ८० वर्ष तक, वह कर्म टिकेगा, इससे आगे नहीं। लेकिन यदि बन्ध के बाद परिणामों में विशुद्धि आ गई तो स्थिति बढ़ जाने को उत्कर्षण कहते हैं और यदि परिणामों में अधः पतन/अवपतन/संक्लेश हो गया तो स्थिति और घट गई, वह अपकर्षण हैं ये दोनों ही करण अगली आयुकर्म की अपेक्षा से इस जीवन में बन सकते हैं। जिसका उदय चल रहा है जैसे– मनुष्यायु, तो इसमें ना उत्कर्षण संभव है ना अपकर्षण। इसमें तो उदीरणा संभव है। जितने भी निषेक, कर्मवर्गणाएं हमें प्राप्त हो गई हैं, उनका समय से पूर्व अभाव अर्थात् उदीरणा संभव है। इसी का नाम आचार्यों ने धवला में "कदलीघातमरण" कहा है। कदलीघातमरण यानि केले का पेड़ जो बिना मौत के मार दिया जाता है। क्योंकि वह ज्यों ही फल दे देता है, त्यों ही किसान लोग उसे काट देते हैं, कारण कि उसमें दुबारा फल नहीं आता। इसलिए ताजा रहते हुए भी उसको समाप्त कर देते हैं। इसी प्रकार बाहरी निमित्त को लेकर आयुकर्म की उदीरणा होती है।

आयुकर्म की स्थिति और मरण का काल, ये दोनों ही समान अधिकरण में नहीं होते हैं। अर्थ यह हुआ कि स्थिति को पूरा किये बिना ही वे सारे के सारे कर्म बिखर जाते हैं। कर्म-कार्मण शरीर का आधार होता है और कार्मण शरीर-नोकर्म का। ज्यों ही नोकर्म समाप्त हो गया, त्यों ही कार्मण शरीर की गति प्रारम्भ हो जाती है। एक आयुकर्म का अवसान हो जाता है पूरी स्थिति किये बिना ही। वीरसेन स्वामी का

कहना है यदि "जिसकी २५ वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गई तो उसकी उम्र २५ वर्ष की ही थी" ऐसा जो कहता है वह एक प्रकार से कर्म-सिद्धान्त का ज्ञान नहीं रखता। उन्होंने कहा है कि आयुकर्म का क्षय और उसकी स्थिति का पूर्ण होना एक समयवर्ती नहीं है। अर्थात् उस व्यक्ति की उम्र अभी भी ५५ वर्ष शेष थी, जिसको पूर्ण किये बिना ही उदीरणा के द्वारा अकालमरण को प्राप्त कर लेता है।

अकालमरण का मतलब यह कदापि नहीं है, कि वहाँ पर कोई काल नहीं था। अकालमरण का अर्थ वही है, जो कदलीघातमरण का और जो स्थिति को पूर्ण कर मरता है वह सकालमरण का अर्थ है। इस अकालमरण की अपेक्षा या उदीरणा मरण की अपेक्षा से भी भगवान् के ज्ञान में विशेषता झलकती है। वह क्या विशेषता है? भगवान् ने मृत्यु को देखा और साथ-साथ उसको अकालमरण के द्वारा देखा।

अकालमरण का अर्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए, जैसा कि कुछ लोग लेते हैं। वे डर की वजह से अकालमरण को ही अमान्य कर देना चाहते हैं। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। दुनिया में एक ऐसी भी मान्यता है कि आयुकर्म तो रहा आवे और शरीर छूट जावे, तो उसे प्रेतयोनि में जाना पड़ता है और जब तक आयु पूर्ण नहीं हो जाता तब तक उसे वहीं भटकना पड़ता है। (जैसे कि आप लोग राकेट को पेट्रोल भरकर भेज देते हैं ऊपर, तो भटकता रहता है– घूमता रहता है वह)। अतः उसका श्राद्ध करो, उसकी शान्ति करो, आदि-आदि कार्य करते हैं। नहीं तो सिर पर आ जाएगा। जैसे "स्काइलेब" के द्वारा आप लोग डर रहे थे। उसी प्रकार से भी डरते रहते हैं कि हमारे ऊपर वह भूत सवार न हो जाये। लेकिन कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा है– "आयुक्खयेण मरण" अर्थात् आयुकर्म के निषेक रहे आवें और मृत्यु हो जाए, यह संभव ही नहीं तथा आयुकर्म समाप्त हो जावे और जीवन रहा आवे, यह भी संभव नहीं। इसका अर्थ यह भी नहीं है, जितना समय निकल गया, उतने ही निषेक थे। लेकिन ऐसा संभव कदापि नहीं कि स्थितिबन्ध तो ८० वर्ष का था और २५ साल में ही जिसका अभाव हो गया– कदलीघातमरण हो गया, और भी कम में हो सकता है तो उतनी ही उम्र थी, ऐसा नहीं समझना चाहिए। उसकी क्षमता अधिक होती है। इसको एक अन्य उदाहरण से समझ लीजिए–

किसी एक व्यक्ति को नौकरी मिल गयी, कोई भी डिपार्टमेन्ट में। इस डिपार्टमेन्ट में नौकरी तो मिल गई– बहुत अच्छा काम मिला, लेकिन कब तक रह सकता हूँ? ५० वर्ष तक तुम रह सकते हो। अच्छी बात हैं इसके बाद कुछ और भी बातें लिखाई गई और कह दिया गया कि इन शर्तों के अनुसार आप ५० वर्ष तक नौकरी कर सकते हैं। वेतन भी इतना-इतना मिलेगा, सब तय हो गया। एक दिन उसी कर्मचारी

ने बदमाशी की, तो उन्होंने निकाल दिया, सस्पेण्ड कर दिया गया। अब वह कहता है कि हम तो हाईकोर्ट में नालिश करेंगे, आपने कहा था कि ५० वर्ष तक काम कर सकते हैं, फिर बीच में क्यों निकाला? यह कहाँ का न्याय है? उन्होंने कहा– हमने यह कहा था कि, हमारे जो कानून हैं उनके अनुसार चलोगे तो ५० वर्ष तक काम देंगे। इसका मतलब यह नहीं कि तुम यद्वा तद्वा करो। "चेयर" के ऊपर बैठ जाओ और ऊंघते रहो, काम कुछ भी न करो, मात्र वेतन के लिए हाजिरी लगा दो यह कैसे चलेगा। कानून भंग होते ही बीच में काम से हाथ धोना पड़ सकता है। यदि सज्जन हैं तो बात ही अलग है। इसी प्रकार आयुकर्म बंधने के उपरान्त कुछ ऐसी स्थितियां भी आती हैं जिनमें स्थिति को पूर्ण किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर सकते हैं और नहीं भी।

इस रहस्य को समझना है कि क्या मृत्यु को हम बचा सकते हैं? प्रश्न बहुत ही विचारणीय है,तेज है, समस्याप्रद है। क्योंकि हम जानते हैं कि आयुकर्म को टाला नहीं जा सकता, रोका नहीं जा सकता, परिमाण कितना है? गिना नहीं जा सकता, फिर कैसे इसकी रक्षा करें, मृत्यु से बचें? इसी के द्वारा जीवन चल रहा है। आचार्यों ने इसके विषय में उलझन न करके सुलझी-सी बात कही है– कि कर्म के ऊपर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं! स्वयं का भी अधिकार नहीं हैं। तब अन्य का क्या? कौन-सा कर्म कब और किस रूप में उदय में आ रहा है, आ जाए, इसको हम नहीं जान सकते। कोई भी रसायन ऐसा नहीं है कि जो कर्मों को रोक सके, दबा सके। वे तो अपने आप अबाधित गति से निकल रहे हैं। तब आचार्यों ने कहा कि– आयुकर्म की रक्षा तो कर नहीं सकते, लेकिन ओयुकर्म की जो उदीरणा हो रही है उसे रोक सकते हो। उस उदीरणा के स्रोत कौन-कौन-से हैं, तो कहा है– भयानक रोग के माध्यम से, भुखमरी से, श्वास के रोकने से, शस्त्र के प्रहार से, अति संक्लेशपरिणामों से तथा विषादिक के भक्षण से, ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अष्टपाहुड में भी अकालमरण के निमित्तों को लेकर एक तालिका ही दे दी है। उन जैसा विश्लेषण अन्यत्र नहीं मिलता। उन्होंने एक बात बहुत मार्के की कही है कि अनीति नाम के हेतु से भी यह संसारी प्राणी अतीतकाल में अनन्तबार अकालमरण का कवल (ग्रास) बन चुका है।

आज के इस जमाने को देखने से ऐसा लगता है कि अनीति पर कोई भी रोक-टोक नहीं है। "अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" आज कोई व्यक्ति कन्ट्रोल में नहीं है। लोकतन्त्र का जमाना और उसमें भी अनीति का बोलबाला है। अनीति राज्य कर रही है हमारे जीवन पर, फिर भी हम सम्यग्दर्शन

की चर्चा कर रहे हैं। आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने कहा है कि– जिस व्यक्ति के जीवन में बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के प्रति भीतर से पीड़ा नहीं, उस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन की भूमिका का भी सवाल नहीं उठता। आचार्य समन्तभद्र ही नहीं और भी कई आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनीति का खुलकर निषेध किया है। आज जो यद्वा-तद्वा व्यापार कर रहा है, घूसखोरी देकर के या और भी कुछ देकर, देने को तैयार है, नेता बनने का प्रयास कर रहा है, उसका सर्वप्रथम निषेध जैनाचार्यों ने किया है। उन्होंने कहा है– "न्यायोपात्तधनं"। न्याय के साथ जो धन कमाया जाता है वही आगे जाकर के धर्म-साधन में सहायक होगा। अन्याय के साथ जो धन कमाता है वह तीन काल में भी मुमुक्षु नहीं बन सकता। उसकी बुभुक्षा-पिपासा इतनी है कि वह तीन काल में भी अपने जीवन को सम्हाल सके, असंभव है। फिर सम्यग्दर्शन कोई आसान चीज नहीं है, सम्यग्ज्ञान कोई आसान नहीं है, सम्यक्चारित्र तो और भी लम्बी-चौड़ी बात है। सम्यग्दृष्टि का भी चारित्र होता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सम्यक्त्वाचरण चारित्र की परिभाषा बताते हुए अष्टपाहुड में कहा है– **जिस व्यक्ति के जीवन में शासन के प्रति प्रेम नहीं अर्थात् जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, उसके जीवन में प्रभावना होना तीनकाल में संभव नहीं।**

आज हम देख रहे हैं जैनियों के यहाँ भी ऐसे-ऐसे कार्य होते चले जा रहे हैं, जिनसे कि जैनशासन को नीचा देखना पड़ता है। आप भले ही यहाँ टीनोपाल के कपड़े पहनकर आयें, अच्छे से अच्छे साफ सुथरे पहनकर आयें लेकिन वहाँ पर तो लोग कहेंगे कि ये जैन हैं।

एक जमाना था कि जब टोडरमल जी थे, सदासुखजी थे, जयचन्द जी थे और दौलतराम जी थे। ये सभी ऋषि-मुनि नहीं थे, पण्डित थे। परन्तु उनके जीवन में सदासुख-सादगी थी। गांधी जी ने विश्व में तहलका मचा दिया और स्वतन्त्रता दिला दी। क्या पहनते थे वह, क्या रहन-सहन था उनका मालूम है? हर तरह से सादगी थी उनके जीवन में। जबकि, अब व्यक्ति ऐशोआराम में डूब रहा है। विलासता का अनुभव करने के लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है बन्धुओं! इसमें योग और साधना की सुगन्ध आनी चाहिए। एक बार गांधी जी को पूछा क्या– आप इस प्रकार से कपड़े पहनते हैं।, ऐसा जीवन बिताने से क्या होगा? अरे! शरीर की रक्षा के लिए तो सभी कुछ आवश्यक है? तब उन्होंने कहा–"हमने मात्र अपने विचारों को स्वतन्त्रता देने के लिए यह संग्राम छेड़ा है।" यहाँ जीवन के नाम पर ऐशोआराम नहीं करना है। **आज देश में सबसे बड़ा संकट/ सबसे बड़ी समस्या, भूख की नहीं, प्यास की नहीं बल्कि भीतरी विचारों के परिमार्जन करने की है इसी से विश्व में त्राहि-त्राहि**

हो रही है। यह समस्या धर्म के अभाव से, दया के अभाव से ही है। एक दूसरे की रक्षा करने के लिए कोई तैयार ही नहीं। जो रक्षा के लिए नियुक्त किये गये, वही भक्षक बनते चले जा रहे हैं। एक-दूसरे के ऊपर जो विश्वास था, प्रेम था, वात्सल्य था, वह सब समाप्त होता चला जा रहा है। अपनी मान-प्रतिष्ठा के लिए आज ऐसे-ऐसे घृणित कार्य किये जा रहे हैं। जिनसे कि जिनशासन और देश को अपार क्षति हो रही है।

मेरे पास, आज से २ साल पूर्व एक बन्द लिफाफा आया था, जिसमें एक कार्टून रखा था, उसमें कहा गया था कि महाराज! वनस्पति घी के नाम पर उसमें अशुद्ध पदार्थ डाले जा रहे हैं वह भी जैनियों के द्वारा। क्या आप ऐसा न करने के लिए उन्हें उपदेश नहीं दे सकते? इस शताब्दी में ऐसे-ऐसे जघन्यतम कार्य हो रहे हैं और उसमें भी जैन सम्मिलित हैं। विश्व में वित्त की होड़ लग रही है इसीलिए क्या हम भी वित्त कमा रहे हैं? आप अवश्य ही उपदेश दीजिए। मैंने कहा– भैय्या! मैं उपदेश देने के लिए मुनि नहीं बना हूँ, फिर भी यदि आप उपदेश चाहते हैं तो सामूहिक रूप में उपदेश दे सकते हैं। किसी एक व्यक्ति को नहीं, कारण कि वह उपदेश नहीं माना जाएगा। मुझे भी देखकर के खेद होता है कि आज जो काण्ड हो रहे हैं उनकी चाहे व्यापार में, बहुत आरम्भ के बारे में और चाहे बहुत परिग्रह के बारे में, कोई सीमा नहीं रही है। धन का इतना अधिक लोभ करने वाले व्यक्ति के धर्म, दया, प्रेम सुरक्षित नहीं रह सकते।

जैन शासन में जो पन्थ चलते हैं, वे सागार और अनगार के हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि का कोई पन्थ नहीं होता। अविरतसम्यग्दृष्टि तो मात्र उन दोनों पन्थों का उपासक हुआ करता है। जिसे जिनशासन के प्रति गौरव नहीं, आस्था नहीं, उसके पास चारित्र नहीं। **आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि– जिसके पास सम्यक्त्वाचरण चारित्र नहीं है उसके पास सम्यग्दर्शन भी नहीं है। जिस व्यक्ति में, साधर्मी भाइयों के प्रति करुणा नहीं, वात्सल्य नहीं, कोई विनय नहीं वह मात्र सम्यग्दृष्टि होने का दम्भ भर सकता है, सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता।** आज अनीति के माध्यम से कई लोग मृत्यु के शिकार बनते चले जा रहे हैं। ''हार्ट-अटेक'' क्यों होता है? इसीलिए तो, कि अन्दर डर रहता है और ऊपर से शासन के करों का/टेक्सों का अपहरण करते हैं। लेकिन **यह भगवान् महावीर का दरबार है। इसमें अनीति-अन्याय के लिए कोई स्थान नहीं मिलता। यहाँ तो नीति–न्याय के अनुसार, सादगीमय जीवन से काम लेना होगा।**

सदासुखदास जी के बारे में मुझे पंक्तियां याद आ रही हैं। सदासुखदास जी जयपुर में रहते थे। किसी शासनाधीन विभाग में कार्य करते थे वहाँ। वर्षों काम

करते रहे। एक बार सभी लोगों ने हड़ताल कर दी कि हमारे वेतन का विकास होना चाहिए। मांग पूरी भी कर दी गई। लेकिन सदासुखदास जी ने मांग ही नहीं की थी, तो मांग के अनुसार जब इनके पास ज्यादा वेतन आया तब उन्होंने कहा– ज्यादा क्यों दे दिया, कोई भूल तो नहीं हो गई? इतने ही हमारे होते हैं? इतने आपके हैं।...... नहीं, नहीं, सभी के वेतन में वृद्धि हो गई है। तब सदासुखदास जी ने कहा– सबके लिए हो सकती है लेकिन मुझे आवश्यकता नहीं। क्यों-क्या बात हो गई? सभी ने लिया है तो आपको भी लेना चाहिए। उन्होंने कहा– मालिक को बता देना, मैं आठ घण्टे की ड्यूटी कर उतना ही काम कर रहा हूँ कोई १६ घण्टे तो नहीं करने लग गया। जितना काम करता हूँ, उतना वेतन लेता हूँ। अतः उनसे कह दीजिए कि मुझे ज्यादा नहीं चाहिए। मालिक कहता है– ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो हड़ताल में शामिल नहीं हुआ। जाकर मेरा कह देना तो वह ले लेगा। सेवक ने कहा– भैय्या ले लीजिए, मालिक ने कहा है। नहीं, मैं नहीं ले सकता। अब मालिक ने उन्हें ही बुलाया और कहा मेरे कहने से ले लो। तब भी सदासुखदास जी ने कहा– मुझे नहीं चाहिए। फिर क्या चाहते हैं आप? मालिक ने पूछा। "मुझे यही चाहिए कि अब शेष जीवन का अधिक से अधिक समय जिनवाणी की सेवा में लगा सकूँ। अतः मुझे आठ घण्टे की जगह चार घण्टे का काम रहे और वेतन भी आधा कर दिया जाय।" इसको बोलते हैं मुमुक्षु और उसकी जिनवाणी के प्रति साधना-सेवा। जैसा नाम था वैसा ही काम "सदासुख"। उन्होंने कहा– हम धन्य हैं। हमारे राज्य में इस प्रकार के व्यक्ति का रहना, बहुत ही शोभास्पद है। सदासुखदास जी का जीवन कितना सादगीपूर्ण था। एक बार टीकमचन्द भागचन्द जी सोनी (जिन्होंने अजमेर के अन्दर नसिया जी का निर्माण कराया) के पास उनके द्वारा लिखे हुए पत्र मैंने स्वयं अपनी आंखों से पढ़े हैं। जब टीकमचन्द जी अपने परिवार सहित सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए जाने वाले थे, उस समय सदासुखदास जी जयपुर में रहते थे, अतः कहा गया कि आपको भी सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिए साथ चलने के लिए आना है। मैं सारा प्रबन्ध कर लूँगा, आपको कोई चिन्ता नहीं करना है। सारी चिन्ताएं छोड़कर चलना है। लेकिन जवाब में पण्डितजी ने लिखा– मैं नहीं आ सकता हूँ क्योंकि मैंने देशावकाशिक व्रत ले लिया है इससे हम सीमा को छोड़कर नहीं जायेंगे। साथ ही मैं सल्लेखना के लिए भी प्रयास कर रहा हूँ, इसीलिए मैंने ड्यूटी भी कम कर दी है। अब मुझे आत्मकल्याण करना है। अब तो–

अन्तःक्रियाधिकरणं, तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद् यावद् विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।।

समाधिमरण प्राप्त करने के लिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा– यदि वृद्धावस्था आ रही है तो जल्दी-जल्दी कीजिए, जब तक वैभव अर्थात् शक्ति है शरीर में, तब तक इस ओर सारी शक्ति लगा दीजिए अब, जिससे यह जीवन शान्त-निराकुलतामय बन जाए और आगे भी शान्ति का लाभ हो सके।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी के रत्नकरण्डक श्रावकाचार पर जो कि मूलतः श्रावकों के लिए लिखा गया है, सदासुखदास जी ने टीका की उसे आज भी आबाल-वृद्ध सभी पढ़ते हैं। मैं तो रत्नकरण्डक को रत्नत्रयस्तुति ग्रन्थ मानता हूँ। उसमें रत्नत्रय की स्तुति के माध्यम से सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की उपासना करता हुआ व्यक्ति, अन्त में सल्लेखना लेकर के बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह क्या? वह तो बहुत दूर की बात होगी, अब तो थोड़ा-सा भी परिग्रह शनि के रूप में मानकर दूर फेंक देगा। उनकी कृतियाँ आज भी धरोहर हैं। हम उनका मूल्यांकन करने चलते हैं तो पाते हैं कि कितना अपार अनुभवमय जीवन था उनका। कितनी सादगी थी। मुनि बन जाते तो, कितना उपकार कर जाते, पता नहीं। भजनों में लिखते हैं कि "वे मुनिवर कब मिल हैं उपकारी" यानि उनके जीवन में ऐसे मुनिमहाराजों के दर्शन भी सुलभ नहीं थे। लेकिन आज उनके भजन से ऐसा लगता है कि ये भी मुनिराजों से कम नहीं थे। उनके भीतर-मन में मरण से किंचित् भी डर नहीं था। वे मरण के ऊपर महोत्सव मनाने में लगे रहे। अन्तिम समाधि, सदासुखदास जी की कैसी हुई, मालूम है? उन्होंने पहले से तिथि लिख दी, कि फलां तारीख को इस समय, इस प्रकार की घटना होने वाली है। मैं कुछ भी नहीं कर सकूँगा। वही घटना, वही तिथि और वही समय। भागचन्द सोनी को आंखों में पानी आ रहा था सुनाते-सुनाते, कि इस प्रकार का उच्च आदर्शमय जीवन था सदासुखदास जी का। उन पत्रों को उन्हीं ने बताया था, जो कि एकत्रित कर रखे हैं।

एक जीवन ऊपर कहा जा चुका और एक आज का जीवन है। आज यद्वा-तद्वा आचरण कर असमय में ही मृत्यु की गोद में पहुँच रहे हैं लोग। इस आयुकर्म को अच्छी तरह से रखना है। जीवन में डर नहीं होना चाहिए, लोभ नहीं होना चाहिए।

"क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच"

जिसके जीवन में क्रोध है वह सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पाई-पाई के लिए लोभी बन रहा है वह जिनवाणी का, सत्य का प्रचार-प्रसार नहीं कर सकता। भीरुत्व, ये क्या कहेंगे? क्या पता, इसलिए पलट दो। आज कुछ, कल कुछ। अभी कुछ, रात को कुछ और सुबह कुछ। मन में कुछ, लिखना कुछ और कहना कुछ और ही। यह कुछ का कुछ, क्यों होता है। यह भीतरी दृढ़ता नहीं होने

के कारण होता है। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र स्वामी आदि के उपासक जैनियों को आज क्या हो गया? उनके साहित्य को लेकर के हम क्या कर रहे हैं। जिनवाणी मां के ऊपर आज कीमत लिखी जा रही है। भगवान् के ऊपर भी कहीं कीमत लिखी क्या? नहीं लिखी। गुरुओं के ऊपर कीमत है क्या? नहीं है। फिर जिनवाणी के ऊपर कैसे-क्यों लिखी जाती है-जा रही है? जिनवाणी का भी क्या कोई मूल्य है? आज ५० साल भी नहीं हुए गुजरात में श्रीमद् रायचन्द जी हुए जिन्होंने अगास में आश्रम खोला है। उन्होंने कहा था– जिनवाणी का कोई मूल्य नहीं होता है। अनमोल वस्तु है जिनवाणी, इसके लिए जितना भी देना पड़े कम है। वह जवाहरात की थाली लिए बैठे थे, जो भी व्यक्ति समयसार भेंट करता, उसको सारे जवाहरात दे देते थे। पर आज ५ रुपये, १० रुपये, २५ रुपये, होड़ लगी है। स्पर्धा हो रही है। क्या हो रहा है साहित्य का - जिनवाणी मां का। बिल्कुल गलत है यह तरीका, यह विधि। जैसा-तैसा प्रकाशन करना, यद्वा-तद्वा प्रचार करना। शादियों में भी समयसार बांटा जा रहा है, जैसे कि पूड़ी बांटी जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए। यह अनमोल है, तब क्या प्रत्येक व्यक्ति इसको पढ़ सकता है? यद्वा-तद्वा ही पढ़ेगा। जिनवाणी की सेवा यही है कि जो सुपात्र है, उसको आप दीजिए। जो ककहरा भी नहीं जानता, उसके सामने जाकर के अपना साहित्य देंगे तो वह उसकी कीमत ही नहीं करेगा। रद्दी में बेच देगा। आज मौलिक साहित्य रद्दी में बेचा जा रहा है। हमने अपनी आंखों से देखा है कि बड़े-बड़े ग्रन्थों को बिस्तर में बांध दिया गया और कहीं पर पटक दिया, यह आप भी जानते हैं। यह आज कि स्थिति है। आज जैनियों को क्या हो गया समझ में नहीं आता? यह सादगीपूर्ण जीवन के अभाव के कारण ही हो रहा है। अनाप-शनाप व्यवसाय करके वित्त आने से रात-दिन चैन नहीं। **आज विश्व में वित्त ज्यादा होने से विद् यानि ज्ञान का अवमूल्यन होता चला जा रहा है। उसी कारण से आज जिनवाणी के प्रति आदर नहीं है, सत्य की पहिचान नहीं है। पापों से भय नहीं है और सारी दुनिया भर से भय बढ़ता जा रहा है।**

मैं जयधवला का अध्ययन कर रहा था तब एक प्रसंग आया, कि– जिस व्यक्ति को भयकर्म की उत्कृष्ट उदीरणा हो रही हो उस व्यक्ति के पास नियम से मिथ्यात्त्व रहेगा। जिस व्यक्ति को विशेष रूप से लोभ रहेगा, बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह होगा, उसके नियम से मिथ्यात्त्व कर्म की उदीरणा होगी। लोभ के साथ दर्शनमोहनीय का विशेष सम्बन्ध है। धवला-जयधवला-महाबन्ध पढ़ने का प्रयास करिये, तब मालूम पड़ेगा कि हमारे परिणाम कब कैसे होते हैं। उन परिणामों के साथ कौन-सा परिणाम होना आवश्यक है। लोभ का यद्यपि चारित्रमोहनीय से सम्बन्ध है। लेकिन वह कहते

हैं कि जब अति लोभ होगा तब मिथ्यात्व कर्म की उदीरणा हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिए आप यदि स्वयं को तथा दूसरों को - दुनिया को सम्यग्दर्शन से सहित देखना चाहते हैं तो सर्वप्रथम बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह छोड़ दीजिये। वैसे स्वाध्याय ज्यादा आवश्यक नहीं जितना आरम्भ-परिग्रह का त्याग। बहुत से आचार्यों ने स्वाध्याय के लिए जोर दिया पर ध्यान रखिये यह मुनियों को भी आवश्यक रूप में नहीं है। स्वाध्याय २८ मूलगुणों में नहीं है। स्वाध्याय को तप के अन्तर्गत गिना गया है। आज केवल स्वाध्याय का, स्वाध्याय के द्वारा अनेक प्रकार की भीतरी वासनाओं को पूर्ण करने के लिए प्रचार-प्रसार किया जा रहा है जो कि बिल्कुल आगम विरुद्ध है। श्रावकों को भी आवश्यक नहीं बताया गया स्वाध्याय। ना धवला में, ना जयधवला में, ना महाबन्ध में, ना रत्नकरण्डकादि श्रावकाचारों में, आवश्यक बताया है। फिर यह प्रवाह कैसे आ गया? मुझे मालूम नहीं। लेकिन इसके उपरान्त भी कह सकता हूँ कि मान लीजिए, श्रावकों के षट्कर्मों में लिखा गया, तो पहले यह ध्यान रखिये कि षट्कर्म किसके होते हैं। आचार्यों ने कहा है– अहिंसाआदि व्रत, चाहे अणुव्रत हो या महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए, उन श्रावकों-मुनियों के लिए जीवन में छह आवश्यक कर्म बताये गये हैं। जैसे खेती की रक्षा बाड़ी के माध्यम से होती है उसी प्रकार आवश्यकों को जानना।

अब केवल स्वाध्याय-स्वाध्याय को करने-कहने की बजाय अपने जीवन से तामसी प्रवृत्तियों को कम करो, सत्य रखो, समता रखो, वात्सल्य रखो, प्रेम रखो और जीवन के प्रति गौरव रखो। हमारी कौन-सी संस्कृति है इस बात का ध्यान रखो, हम जैन हैं। जैन होने के नाते अपनी वृत्तियों को संयमित रखो।

जैन कहते ही पहले अदालतों से छुट्टी मिल जाती थी। लेकिन आज जैन कहने की हिम्मत नहीं हो रही है। अखबारों में छपे समाचारों को देखकर बहुत ही दुःख होता है कि आखिर हम भी तो उसी कोटि में माने जायेंगे/आ जायेंगे। वैसे साधु किसी संप्रदाय के नहीं होते, साधु तो विश्व का होता है। फिर भी हमारे साथ "जिन" एक ऐसा शब्द लगा है, वह उन भगवान् को इंगित करता है, जो राग-द्वेष नहीं करते, विषय-कषाय से रहित होते हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित होते हैं, ऐसे जिन भगवान् हुआ करते हैं। जिन भगवान् की उपासना करने वाले जैन माने जाते हैं, तब जैन का कार्य भी इन जैसा होना चाहिए। उनके कदमों पर चलना चाहिए, चलने की स्पर्धा होनी चाहिए होड़ होनी चाहिए, जबकि आज हम विपरीत दिशा में जाकर अपने को जैन सिद्ध करना चाहें तो दुनिया बावली नहीं, भोली नहीं, अंधी नहीं, आंखें लगाकर देखती है। आजकल आंखें तो क्या, आंखों के ऊपर आंखें

(सूक्ष्मदर्शी इत्यादि) लगाई जा रही है। आंखें (निगाहें) रखी जा रही हैं। कौन क्या-क्या कर रहा है, कौन क्या बोल रहा है, कौन-कैसा पलट रहा है कैसा उलट रहा है? कोई भी उसकी निगाहों से बच नहीं सकता।

सदासुखदास जी के जीवन से हमें ज्ञात होता है कि जीवन बहुत सादगी पूर्ण होना चाहिए। यह बुन्देलखण्ड है और मैं मानता हूँ कि यहाँ पर अभी यह हवा नहीं है या नहीं के बराबर है लेकिन आने मे देर नहीं। कहीं चक्रवात आ जाये तो इसे भी अपने चक्कर में ना ले ले, बस यही मैं चाहता हूँ, कामना करता हूँ। इसको शुद्ध रखने की अधिक से अधिक कोशिश की जाए। **हम भले ही शुद्ध-शुद्ध की चर्चा करते जाएँ कि आत्मा शुद्ध है, हम शुद्धाम्नाय वाले हैं किन्तु भगवान् कहते हैं कि जिसका अचारण शुद्ध है उसकी आम्नाय शुद्ध है, जिसका आचरण शुद्ध नहीं उसकी आम्नाय शुद्ध नहीं। आम्नाय (परम्परा) आचार और विचार की एकता से ही चलती है।** सही शुद्ध आम्नाय तो वही है जिसमें महान् चारित्रनिष्ठ आचार्य कुन्दकुन्ददेव हुए, समन्तभद्रस्वामी हुए और भी आचार्य हुए और हो रहे हैं। जिन्होंने श्रावकों के लिए, अल्पबुद्धिशालियों को ग्रन्थ रचना की और जिनशासन की प्रभावना की, अपनी भावना के द्वारा। अन्त में अपने जीवन का कल्याण किया तथा हजारों-लाखों जीवों का कल्याण किया, उनका मार्ग प्रशस्त किया। अब आप वह मार्ग अक्षुण्ण बनाये रखें, यही हमारा निवेदन है।

बन्धुओ ! नीति-न्याय को नहीं भूलिये। आज की पीढ़ी, जो कि २५ से ४० वर्ष के बीच की है, यह ऐसी पीढ़ी है कि जो सम्पन्न है, और उसमें करने की कुछ पाने की सामर्थ्य है साथ ही कुछ जिज्ञासाएं व संभावनाएं भी हैं। ऐसी पीढ़ी के सामने यदि आपने अपने अनीतिमय जीवन को रखा तो उनके जीवन को पाला लग जायेगा। "आप यदि करुणाकर, उनके भविष्यज्जीवन के बारे में करुणा करते हैं तो इस घृणित जीवन को आज से ही छोड़ दीजिए और संकल्प कीजिए की अब हम अपने जीवन में अनीति को कोई स्थान नहीं देंगे।'' तब समझा जाएगा कि प्रतिष्ठा-महोत्सव बहुत अच्छी बात है। अनीति से धनोपार्जन नहीं होना चाहिए और अनीति के द्रव्य का (धन का) दान नहीं देना चाहिए।

दान देने का अर्थ, यह नहीं है कि हम यद्वा-तद्वा दान दें। यदि एक व्यक्ति चोरी करके दान दे तो क्या उसका दान कहलायेगा? नहीं ! नहीं !! वह तो पाप का ही कारण बन जाएगा। जो आरम्भ-परिग्रह किया था उसके द्वारा पाप का ही आस्रव हुआ और पाप का ही उपभोग हुआ करता है। **अतः इसको छोड़ दो!.........बिना देखे छोड़ दो। जिस प्रकार मल को छोड़ते हैं उसी प्रकार इसको भी छोड़ने के लिए**

कहा है, किन्तु आज तो यह नाटक जैसा होता जा रहा है। जबकि सभी बातें सारी-दुनिया जान रही है, इसलिए अब किसी भी प्रकार के साहित्य के माध्यम से प्रचार-प्रसार नहीं किया जा सकता।

आज तो हमारी नीति, हमारा न्याय, हमारा आचरण, हमारे विचार, हमारा व्यवहार जो कि समाज के सामने है, उसे देखकर ही मूल्यांकन किया जावेगा। आज की पीढ़ी इस प्रकार से अन्धानुकरण कर चलने वाली नहीं है। अनीतिपूर्वक "गवर्मेन्ट" के "टेक्स" को डुबोकर, दान देना, दान नहीं माना जाता। आचार्य उमास्वामी जी ने कहा है-

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोनमानप्रतिरूपकव्यवहाराः

राज्यातिक्रम बहुत बड़ा दोष है और संभव है वह जैनियों के ऊपर कोई आपत्ति ला दे, इसीलिए सत्ता के विपरीत चलना धर्म नहीं, अधर्म माना जायेगा। **"जो सत्ता के विपरीत चलेगा, वह महावीर भगवान् के शासन को भी कलंकित करेगा, दूषित करेगा"**, बात यद्यपि कटु है लेकिन, कटु भी सत्य हुआ करता है। जैसे- मां को गुस्सा आ गया। क्यों आया? क्योंकि उसका लड़का उत्पथ-उन्मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है तो उसका सब कुछ कहना, करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए आप समझिये कि **जब तक भीतर आत्मा के परिणाम उज्ज्वल नहीं होंगे, हमारा आचार-विचार उज्ज्वल नहीं रहेगा, तब तक हमारा सम्बन्ध महावीर भगवान् से नहीं होगा। कुन्दकुन्द के साथ नहीं होगा। समन्तभद्र के साथ नहीं होगा।** इतना ही क्या? आप लोग सुनते ही हैं- जब पिताजी अवसान के निकट होते हैं, तब बेटा को बुलाते हैं। क्या आज्ञा है बाबूजी ! और कोई आज्ञा नहीं। बस यही, कि जब तक आज्ञा का उल्लंघन नहीं करेगा तब तक ही मेरा बेटा है। देख ! तेरे लिए ही सब कुछ किया - दुकान बना दी, मकान बना दिया। खेती-बाड़ी कर दी, सब कुछ तो कर दिया, अब कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन यह ध्यान रखना कि इस परम्परा में दूषण न लगें। नहीं तो उसी दिन से हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। अब फर्म मेरी नहीं, तुम्हारी है अतः फर्म की परम्परा देखकर काम करना। आप इन सब बातों को तो करने जल्दी कटिबद्ध हो जाते हैं। लेकिन यहाँ पर आप सोचते है कि- ऐसा करने से कहीं हमारा जीवन ही न मिट जाये। लेकिन हमारा जीवन वस्तुतः धार्मिक जीवन है और इस दृश्य को देखकर भगवान् महावीर क्या कहते होंगे, कुन्दकुन्द भगवान् क्या कहते होंगे और समन्तभद्र महाराज क्या कहते होंगे? जरा सोचो, विचार तो करो?

हमारा साहित्य तो बहुत ही उज्ज्वल है। विश्व-भर में भी इस प्रकार का साहित्य नहीं मिल सकता, लेकिन हमारे इस आचरण को देखकर लोग व्यंग्य में कहते हैं

कि क्या यह इस साहित्य की देन है। जो व्यक्ति इस प्रकार के साहित्य के साथ होने पर भी अनीति के साथ चलता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील करता है, परिग्रह की होड़ लगाता है तो उसके मुख से जो शब्द निकलेगा वह विनाशकारी होगा, कार्यकारी शब्द तीन काल में भी संभव नहीं है।

धन्य हैं वे समन्तभद्र ! धन्य हैं वे कुन्दकुन्द, जिन्होंने हमारे लिए मृत्यु की भीति से दूर हटा दिया। मृत्यु क्या है? दिखा दिया। जन्म क्या है? सब कुछ बता दिया।

जीव अरु पुद्गल नाचे यामें कर्म उपाधि है

अर्थात् जीव और पुद्गल कर्म ये दोनों मिलकर यहाँ पर नाच रहें हैं। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति नट (नाच दिखाने वाले) हैं, तो फिर देखने वाला कौन है? सारे के सारे नट ही हैं। देखने वाला कोई नहीं। अतः खुद ही अपनी आत्मा को सजग-जागृत बनायें और हम अपने नाटक को देखें, सोचें, लेकिन इसमें टिकें नहीं, भटकें नहीं। हम भटकते चले जा रहे हैं। राग-द्वेष-मोह-माया-मत्सर इत्यादि का स्वरूप समझें और इनको तिलांजलि दे दें। अपने एकमात्र शुद्धस्वरूप का, निरंजनस्वरूप अखण्डज्ञान का चिन्तन करें। कितना आनन्द, शक्ति और वैभव पड़ा है हमारे पास। एक महान् सेठ होकर भी संसारी-प्राणी अज्ञान और कषाय के वशीभूत होकर भिखारी के समान दर-दर, एक-एक दाने के लिये मुहताज हो रहा है। भगवान् कुन्दकुन्द को हमारे ऐसे जीवन पर दया, करुणा आती है, रोना आता है कि कैसे समझायें? मां का रोना स्वाभाविक है, क्योंकि आखिर उसकी वह संतान उसके जीवन के ऊपर ही तो निर्धारित है। मैं उसको दिशा-बोध नहीं दूँगी तो कौन देगा? -इस प्रकार वह सोचती रहती है, विचार करती रहती हैं।

बन्धुओ ! अनीति के व्यसन से बचिये ! वित्त की होड़ को छोड़ दीजिए और वीतरागता प्राप्त करने का एक बार प्रयत्न कीजिए। **जीवन में एक घड़ी भी वीतरागता के साथ जीना बहुत मायना रखता है और हजारों वर्ष तक राग-असंयम के साथ जीना कोई मायना नहीं रखता। सिंह बनकर एक दिन जीना भी श्रेष्ठ हैं। किन्तु १०० साल तक चूहे बनकर जीने की कोई कीमत नहीं।** सब कुछ छोड़ दीजिए - ख्याति, पूजा, लाभ, वित्त, वैभव। अपने आत्मवैभव की बात करिये अब।

इन पांच दिनों में २ दिन आपके थे और ३ दिन अब हमारे होंगे। अब भगवान् हमारे हो जावेंगे। अभी तक तो वह मोह के पालना में झूले, लेकिन कल मोह को छोड़ेंगे तब कैसा माहौल होगा? क्या वैराग्य, क्या आत्मा का स्वभाव होता है? ज्ञात होने लग जायेगा। जितना भी वैभव है सब कुछ छोड़कर निकलेंगे वे। आप लोगों के पास क्या है? षट्खण्ड का आधिपत्य भी छोड़कर चले जाते हैं। आपके पास

तो छह खण्ड का भी मकान नहीं है। एक खण्ड का है, वह भी चूंता है (रिसता। बरसात के दिनों में यदि तूफान आ जाए तो छप्पर भी उड़ जाए। इस प्रकार आप तो एक खण्ड के भी अधिपति-स्वामी नहीं हैं, एक मकान के भी स्वामी नहीं हैं। और फिर भी क्या समझ रहे हैं अपने आपको। यह सब पर्याय-बुद्धि है। इसमें कुछ भी नहीं है।

ऐसे अनमोल क्षण चले जा रहे हैं, आप लोगों के। इसलिए, यदि साधु नहीं बन सकते, मुनि नहीं बन सकते तो ना सही, परन्तु श्रावकाचार के अनुरूप सदासुखदास जी का तो साथ आप सबको देना ही चाहिए। यानि श्रावक के व्रतों को तो अंगीकार करना ही चाहिए जो कि परम्परा से मोक्ष-सुख के साधन हैं।

□□

४

प्रातःकाल जन्मकल्याणक महोत्सव हो चुका है। उसी के विषय में कुछ कहना चाह रहा हूँ। "भगवान् का जन्म नहीं हुआ करता, जन्म के ऊपर विजय प्राप्त करने से बनते हैं भगवान्। भगवान् का जन्म नहीं होता किन्तु जो भगवान् बनने वाले हैं उनका जन्म होता है। इसी अपेक्षा से यहाँ पर जन्मकल्याणक मनाया गया। यह जन्म महोत्सव हमारे लिये श्रेयस्कर भी होगा। क्या "हम भी अपना जन्म महोत्सव मनायें" इस पर भी कुछ कहना चाहूँगा। अन्य विषयों पर भी कुछ कहूँगा। तो सबसे पहले जन्म को समझें। आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक कारिका के द्वारा अठारह दोष गिनाये हैं–

क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते।।

इन दोषों से रहित होना ही भगवान् का सही-सही स्वरूप है। जिन्हें हम पूज्य मानते हैं, चरणों में माथा झुकाते हैं, आदर्श मानते हैं, उनके सामने घुटने स्वतः ही अवनत हो जाते हैं। यहाँ अठारह दोषों में एक जन्म भी आता है और मरण भी, किन्तु वह मरण महान् पूज्य हो जाता है जिसमें फिर जन्म नहीं मिलता।

प्रातः काल बात यह कही थी कि प्रत्येक वस्तु का परिणमन करना स्वभाव है। चाहे वह जीव हो या अजीव, कोई भी हो। इतना अवश्य है कि जीव-जीव के रूप में परिणमन करता है और अजीव-अजीव के रूप में। कभी भी अजीव, जीव के रूप में तथा जीव अजीव के रूप में परिणमन नहीं करता। तब भी हमारी दृष्टि में जीव का परिणमन, जीव के रूप में न आकर अजीव के रूप में आता है, जो हमारी ही दृष्टि का दोष है। आचार्यों ने तो आप्त, सच्चे देव की परीक्षा करके, लक्षण बता दिया। इसके माध्यम से क्या होने वाला है? हमारे साध्य की सिद्धि होने वाली है। वे तो आदर्श रहेंगे और उनके माध्यम से हमारा भाव, हमारे भीतर उद्भूत होगा, स्वरूप की पहिचान होगी। क्या कभी आपने दर्पण देखा है? दर्पण कहो, प्रतिमा कहो बात एक ही है। दर्पण देखा है ऐसा कह तो देंगे। परन्तु वस्तुतः दर्पण देखने में आता

ही नहीं। ज्यों ही दर्पण हम हाथ में लेते हैं त्यों ही उसमें अपना मुख दिखाई देने लगता है। दर्पण नहीं दीखता और दर्पण के बिना अपना मुख भी नहीं दीखता।

भगवान् भी दर्पण के समान है, क्योंकि वे अठारह दोषों से रहित है, स्वच्छ-निर्मल है। उनको देखकर, ज्ञान हो जाता है कि हमारे सारे के सारे दोष अभी विद्यमान हैं। इसलिए हमारा स्वरूप यह नहीं है। स्वरूप की पहिचान दो प्रकार से होती है एवं सुख की प्राप्ति भी दो प्रकार से होती है। इसी तरह ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। एक विधि रूप और दूसरा निषेधरूप। जैसे आपने बेटे से कहा– तुम्हें यहाँ पर नहीं बैठना है तो उसे अपने आप यह ज्ञान हो जाता है कि मुझे यहाँ न बैठकर वहाँ बैठना है। यदि वहाँ के लिए भी निषेध किया जाता है तो वह अन्यत्र प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार से निषेध से ही विधि का ज्ञान हो जाता है मात्र कहने का ढंग अलग-अलग है, बात तो एक ही है। इसी तरह मोक्ष मार्ग में कहा जाता है कि पकड़िये अपने आपको। तब आप कहते हैं क्या पकड़े महाराज ! कुछ भी दीखने में नहीं आता। कोई बात नहीं, यदि पकड़ में नहीं आता तो न पकड़िये, किन्तु जो पकड़ रखा है उसको छोड़िये'' – यह निषेध रूप कथन है। इससे निषेध करते-करते अपने आप ज्ञात हो जाता है कि यह हमारा स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने एक स्थान पर लिखा है कि– आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा का स्वभाव क्या है? आत्मा के लक्षण से हम स्वरूप को पहचान सकते हैं, स्वभाव को जान सकते हैं। तो मतलब यह हुआ कि लक्षण अलग है और स्वरूप-स्वभाव अलग। दोनों में बहुत अन्तर होता है। वर्तमान में लक्षण का संवेदन हो सकता है, होता है किन्तु स्वरूप का संवेदन नहीं होगा। उपयोग, आत्मा का लक्षण है। इससे ही आत्मा को पकड़ सकते हैं। स्वरूप का श्रद्धान भी इस लक्षण के माध्यम से ही होगा। जिसकी प्राप्ति के लिए श्रद्धान किया जाता है तो उसकी प्राप्ति में साधना की भी आवश्यकता होती है। जैसे कि भगवान् बनने के लिए प्रक्रिया कल से प्रारम्भ होने वाली है। साधना के लिए ''समयसार'' में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी जी ने लिखा है–

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।

जीव रूपवान् नहीं है। जीव गन्धवान् नहीं है। जीव रसवान् नहीं है। जीव स्पर्शवान् नहीं है। जीव संस्थान वाला नहीं है। जीव उपयोग वाला है। अब सोचिये– यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, फिर स्वभाव क्या है आत्मा का? अनिर्दिष्ट संस्थान। संस्थान आत्मा का स्वभाव नहीं है। फिर संस्थान क्यों मिला, क्या कारण है? जब

संस्थानातीत है तो संस्थान क्यों मिला, जो आकार-प्रकार से रहित है उसमें आकार-प्रकार क्यों? जो रूप, रस, गन्ध, वर्णवाला नहीं है फिर भी उसे रस, रूप, गन्ध के माध्यम से पहचान सकेंगे। जैसे पण्डित जी ने अभी कहा– क्या कहा था अपने आपको? हुकुमचन्द ही तो कहा था। कहने में भी यही आयेगा अन्यथा अपना परिचय देना कैसे संभव है? तब मैं सोच रहा था कि पण्डित जी अपनी आत्मा के बारे में क्या परिचय देते हैं? आखिर हुकुमचन्द यही तो कहना पड़ा। शब्द के माध्यम से ही अपनी आत्मा का बोध कराया, जो कि शब्दातीत है। अर्थ यह हुआ कि पण्डित जी ने विधि परक अर्थ कभी भी नहीं बताया, बता भी नहीं सकेंगे, क्योंकि कुन्दकुन्दस्वामी खुद कह रहे हैं "अरस" अर्थात् रस नहीं है। तो क्या है? भगवान् ही जाने ! अरस, अरूप, अगन्ध, अस्पर्श, अनिर्दिष्टसंस्थान– कोई आकार-प्रकार नहीं है, अलिंग्रहण रूप है। किसी बिम्ब के द्वारा, किसी साधन के द्वारा उसे पकड़ा नहीं जा सकता, फिर भी आँखों के द्वारा देखने में आ रहा है, छूने में आ रहा है, संवेदन भी हो रहा है। सब कुछ हो रहा है। हां ठीक ही तो है, संवेदन, आत्मा के साथ बना रहने वाला है। चाहे गलत ही सही। संवेदन, आत्मा का लक्षण है। महसूस करना, अनुभव करना आत्मा का लक्षण है। केवल ज्ञान आत्मा का लक्षण नहीं है, वह आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव की प्राप्ति उपयोग के ऊपर श्रद्धान करने से ही हुआ करती है। अन्यथा तीन काल में भी कोई रास्ता नहीं है। स्वभाव का श्रद्धान करो? जब ऐसा कहते हैं तो आप कहते हैं कि कुछ दीख ही नहीं रहा है महाराज! लेकिन श्रद्धान तो उसी का किया जाता है जो दीखता नहीं है, तभी सम्यग्दर्शन होता है।

लक्षण अन्यत्र नहीं मिलना चाहिए। उसका नाम विलक्षण है। विलक्षण होना चाहिए, भिन्न पदार्थों से। घुले-मिले हुए बहुत सारे पदार्थों को पृथक् करने की विधि का नाम ही लक्षण है। लक्ष्य तक पहुंचने के लिये लक्षण ही दीखता है, लक्ष्य नहीं। यदि लक्षण भी नहीं दीखता तो हम नियम से भटक रहे हैं ऐसा समझ लीजिए। आत्मा दिखेगा नहीं, आत्मा का स्वरूप भी नहीं दिखेगा। घबड़ाना नहीं। आचार्य कहते हैं– जो दिखेगा वह हमेशा बना रहेगा उसका लक्षण अलग है। चाहे सो रहे हों या खा रहे हों, पी रहे हों या सोच रहे हों। चाहे पागल भी क्यों न बन जायें पागल भी अपना संवेदन करता रहता है। महाराज ! पागल का कैसा संवेदन होता है? होता तो है लेकिन वह संवेदन पागल होकर के ही देखा जा सकता है, किया जा सकता है, कहा नहीं जा सकता, संवेदन कहने की वस्तु नहीं है।

इस प्रकार उपयोग रूप लक्षण को पकड़कर घने अन्धकार में भी कूद सकते

हैं। इसमें घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन जिस समय लक्षण हाथ से छूट जाएगा, उस समय अन्धकार में नियम से भटकन है। हमें इसलिए नहीं घबड़ाना है कि कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा, फिर कैसे प्राप्त करें उसे? किसके ऊपर विश्वास करें? "विश्वास उसके ऊपर करना है जो हमें प्राप्त करना है। और वर्तमान में क्या करना है? वर्तमान जो अवस्था है उसी को देखकर विश्वास को दृढ़ बनाते चले जाना है। आत्मा के वर्तमान में तो मात्र प्रत्यक्ष ज्ञानी ही देखते हैं और हम **"आगमप्रामाण्यात् अभ्युपगम्यमानानां"** से जानते हैं। दूसरी बात, जितनी भी अर्थपर्याय होती हैं वे सारी की सारी आगम प्रमाण के द्वारा ही जानी जाती हैं। ये स्वभावभूत पर्यायें जो हैं।

लक्षण पर विश्वास करिये, जो त्रैकालिक बना रहता है। स्वभाव त्रैकालिक नहीं होता। आप कहेंगे महाराज ! आचार्यों ने तो कहीं-कहीं पर स्वभाव को भी त्रैकालिक होता है ऐसा कहा है।.......... हां, कहा तो है लेकिन, जिस स्वभाव की बात यहाँ पर कह रहा हूँ, उस स्वभाव को त्रैकालिक नहीं कहा। उन्होंने कहा है– "अभूदपुव्वो हवदि।"

ज्ञान को, सामान्य बनाने पर, उपयोग को सामान्य बनाने पर, यह स्वभाव त्रैकालिक रहेगा। चाहे निगोद अवस्था हो या सिद्धावस्था, या और भी शेष अवस्थाएं। परन्तु केवलज्ञान रूप जो स्वभाव है, वह त्रैकालिक नहीं होता। तात्कालिक हुआ करता है। यह बात अलग है कि उत्पन्न होने के उपरान्त, वह अनन्तकाल तक अक्षय रहेगा, तब भी पर्याय की अपेक्षा तो क्षणिक रहेगा। अर्थपर्याय तो और भी क्षणिक होती है। क्षणिक होना ही तो बता रहा है कि क्षय से उत्पन्न होता है - हो रहा है। हां ! गुण जो है वे त्रैकालिक हैं। द्रव्य भी त्रैकालिक हुआ करता है। गुण की अपेक्षा से लक्षण होता है, पर्याय की अपेक्षा नहीं। केवलज्ञान को आत्मा का लक्षण माना जाएं तो "अव्याप्तिदोष" आ जाएगा। इसलिए वह लक्षण नहीं स्वभाव है। उस स्वभाव की प्राप्ति कैसे होती है? जब साधना करेंगे तब। साधना कैसी करें महाराज ! आचार्य कहते हैं– इसको (आत्मा को) अरस मान लें, अगन्ध मान लें, और अरूपी मान लें। जब अगन्ध है तो सूंघने के द्वारा हमें सुख नहीं आयेगा, जब अरस है तो चखने से पकड़ में नहीं आयेगा, अतः चखना छोड़ दें। देखने में तो रूपग्रहण होगा और आत्मा का स्वभाव अरूप है। अतः देखने का कोई मतलब नहीं, फिर उतार दीजिए चश्मा, आंख भी बन्द कर लीजिए, अब देखने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए, जो केवल भगवान् बनने वाले हैं वह नासादृष्टि करेंगे। क्यों करेंगे? कल ही समझ में आयेगा, कि मेरा अस्तित्व होते हुए भी, वह मुझे तब तक नहीं

मिलेगा जब तक सब ओर से दृष्टि नहीं हटेगी। आंख बन्द करूंगा, कान बन्द करूंगा - कानों को बन्द करने का अर्थ, अब रेडियो की आवश्यकता नहीं, ना सीलोन, ना विविधभारती और ना ही बी.बी.सी. लंदन। किसी से कोई मतलब नहीं। मतलब यही हुआ कि भीतर, अपने में उतरना है। भीतर की आवाज को सुनो, जो आवाज शब्द नहीं, अशब्द है। अगन्ध है, सूंघने के द्वारा पकड़ में नहीं आयेगी। किससे पकड़ें? जिन-जिन साधनों के माध्यम से यह संसारी प्राणी पकड़ने की चेष्टा कर चुका है, कर रहा है और आगे करने वाला है, उन सभी को मिटाने का प्रयास ही साधन हो सकता है।

तू अरूपी है, तो छोड़ दे रूप को और उसके पकड़ने के साधनों को। करण और आलोक प्रमाण की उत्पत्ति में कारण नहीं। जैसा कि "परीक्षामुख" में कहा है-

"नार्थालोकौ कारण"

अर्थ और आलोक के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। इसी तरह इन्द्रियों के द्वारा भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। इनके द्वारा मात्र पुद्गलपदार्थ ही पकड़ में आते हैं, और कुछ भी नहीं। मतिज्ञान के द्वारा आप क्या पकड़ेंगे? पंचेन्द्रियों के विषय ही तो पकड़ेंगे। इसके अलावा मतिज्ञान का क्षेत्र-विषय, और है ही नहीं। मतिज्ञान के द्वारा पचेन्द्रिय के विषयों का ग्रहण होता है, पंचेन्द्रिय के विषय तो आत्मा नहीं, मात्र जड़। फिर आपने आपको जानने के लिए- "मैं कौन हूँ" जानने के लिए आचार्य कहते हैं- "वह नहीं, जो आज तक तुम समझते थे। यह नहीं, यह नहीं, नेति-नेति, एक ऐसी मान्यता नीति है। इतना ही नहीं, "यह नहीं" के साथ "इतना भी नहीं" मानना होगा। फिर कितना? जितना पूछोगे, उतना नहीं। क्योंकि पूछना बाहरी दृष्टिकोण से हो रहा है और बात चल रही है अन्तरंग की। इसलिए "यह नहीं" कहते ही समझने वाला अपने आप समझ लेता है कि, यह ठीक नहीं अतः दूसरी प्रक्रिया अपनानी होगी।

आत्मा के लिए, दुनिया की किसी भी वस्तु की उपमा नहीं दी जा सकती। आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान रूप और अलिंगग्रहण है, और वस्तुएं इससे विपरीत। ऐसे विचित्र स्वरूप वाली आत्मा को हमें प्राप्त करना है। इसमें बहुत देर तो नहीं लगेगी, मात्र पांच इन्द्रियों के विषयों को गौण करना आवश्यक होगा। **दुनिया को गौण मत करो, दुनिया को समाप्त करने का प्रयास मत करो, अपनी दृष्टि को, अपने भावों को, अपने दृष्टिकोण को पलटने का प्रयास करो।**

राजस्थान की बात है। एक सज्जन ने कहा- महाराज ! आपकी चर्या बहुत

अच्छी है बहुत प्रभावित भी हुआ हूँ आपसे। लेकिन एक बात है, यदि आप नाराज न हों तो। नाराज होने की क्या बात? आपको जहाँ सन्देह हो, बताओ? देखिए, बात ऐसी है नाराज नहीं होइये। हां-हां, कह रहा हूँ, नाराज होना ही क्यों? नाराज हैं तो महाराज नहीं, महाराज हैं तो नाराज नहीं। तो महाराज ऐसा है, आप एक लंगोटी लगा लो तो अच्छा रहेगा। हमने सोचा– इन्होंने कुछ सोचा तो है। सामाजिक प्राणी है, संभव है इनके लिए विकार नजर में आ रहा हो। मैंने कहा– अच्छा ठीक है। बात ऐसी है कि एक लंगोट तो आप खरीदकर ला देंगे लेकिन फिर दूसरी भी तो चाहिए। एक दिन एक पहनूँगा, एक दिन दूसरी। दूसरी भी आ जाए तो उसके धोने आदि का प्रबन्ध करना होगा तथा फटने पर सीने या नयी लाने की पुनः व्यवस्था करनी होगी। हां, जीवन बहुत लम्बा चौड़ा है, इससे आप जैसे लोग भी बहुत मिलेंगे। अतः सर्वप्रथम आपसे ही मेरा सुझाव है कि आपको जब कभी भी यह रूप देखने में आ जाए तो उस समय आप अपनी ही आंखों पर एक हरी पट्टी लगा लीजिए, उसको लगाना आंखों को लाभदायक भी होगा और रोशनी से शान्ति-छुटकारा भी मिलेगा।

इतना कहते ही उनकी समझ में आ गया कि कमी कहाँ है। वस्तुतः विकार हमारी दृष्टि में है। विकार दुनिया में नहीं है, वस्तु में नहीं है। केवल दृष्टि में विकार को हटाना है, दृष्टि को मोड़ना है। दुनिया पर हर चीज थोपना नहीं चाहिए। ध्यान रखिये ! सामने वाले के ऊपर जितना थोपा जाएगा, उतना ही वह अधिक विकसित - अधिक दिमाग वाला होता जाएगा। वह विचार करेगा कि यह क्यों थोपा जा रहा है? जैसा किसी के पीछे जितनी जासूसी लगाई जाती है वह उतना ही उससे ऊपर निकलने का प्रयास करता है क्योंकि उसके पास माइन्ड है, ज्ञान है। वह काम करता रहता है। रक्षा का प्रावधान करता रहता है। इसलिए सबसे बढ़िया यही है कि बाहर की ओर न देखें।

मार्ग सरल है, स्वाश्रित है– पराश्रित नहीं है। आनन्दवाला है, कष्टदायक नहीं है। आंख मीच लो, १०.१५ मिनिट के उपरान्त, माथा का दर्द भी ठीक हो जाएगा। क्योंकि इन्द्रियों के माध्यम से जो मिल रहा है, हम उसकी खोज में नहीं हैं। हमारी खोज उस रूप के लिए है जो सबसे अच्छा हो, उस गन्ध के लिए है जो तृप्ति दे, उस शब्द के लिए है जो बहुत ही प्रिय लगे-कर्णप्रिय हो। यह सब इन्द्रियों के माध्यम से "ण भूदो ण भविस्सदि"। पंचेन्द्रिय के विषय मिलते रहते है और उनमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है। यह कल्पना आत्मा में उपयोग में होती है वह भी मतिज्ञान के द्वारा नहीं श्रुतज्ञान के द्वारा होती है। मतिज्ञान के द्वारा इष्ट-अनिष्ट

कल्पना, तीन काल में संभव नहीं है। मतिज्ञान एक प्रकार से निर्विकल्प-निराकार होता है। उसमें वस्तुएं दर्पणवत् झलकती हैं। झलक जाने के उपरान्त यह किसकी है? यह विचारधारा बनना श्रुतज्ञान की देन है, मतिज्ञान की नहीं। श्रुतज्ञान के माध्यम से ही उसे चाहा जाता है, इससे वस्तु पर श्रुतज्ञान का आयाम होता जाता है। या यूं कहें, यह मेरे लिए बुरा है, यह मेरे लिए अच्छा है, इस प्रकार की तरंगे उठती रहती हैं।

"मतिज्ञानं यद्गृह्यते तदालम्ब्य वस्त्वनन्तरं ज्ञानं"

अर्थात् मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु का अवलम्बन करके प्रकारान्तर से वस्तु का जानना श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान बहुत जल्दी काम करता है, क्योंकि वह सुख का इच्छुक है। हमें मतिज्ञान का कन्ट्रोल करके श्रुतज्ञान को कन्ट्रोल करने का प्रयास करना चाहिए। यही मोक्षमार्ग में "पुरुषार्थ" माना जाता है।

सुख क्या है? दुःख का अभाव होना ही सुख है। जिस प्रकार यह कहा गया उसी प्रकार से आत्मा के विषय में भी जानना चाहिए। कारण कि नास्ति और अस्ति दोनों कथन एक साथ संभव नहीं हैं। यह वस्तुस्थिति है। जिस समय वस्तु उल्टी होती है उस समय सुल्टी नहीं हो सकती। जिस समय सुल्टी है उस समय उल्टी नहीं। जिस समय आरोग्य रहता है उस समय रोग नहीं रहता किन्तु जिस समय रोग आ जाता है, उस समय आरोग्य का अनुभव भले ही ना हो, लेकिन आरोग्य का श्रद्धान तो रह सकता है अर्थात् रोग का अनुभव करना मेरा स्वभाव नहीं है अतः इसे मिटा देना होगा। जब तक रोग रहेगा, तब तक स्वभाव का, निरोगता का अनुभव सम्भव नहीं। महाराज ! अनुभव रहित स्वभाव को कैसे माने? आचार्य कहते हैं– मानो ! आगम के द्वारा कहे तत्त्व पर श्रद्धान रखो। छद्मस्थावस्था में स्वभाव का अनुभव तीन काल में भी सभव नहीं, केवलज्ञान के द्वारा वह साक्षात् हो सकता है। आचार्य कहते हैं कि अर्थपर्याय विशिष्ट द्रव्य को धारणा का विषय बनाना अलग है और उसका संवेदन-साक्षात्कार करना अलग बात है। वह केवलज्ञान के द्वारा ही संभव है।

"केवलज्ञानापेक्षया तु तत् मानसिकप्रत्यक्षं परोक्षमेव किन्तु इन्द्रियज्ञानापेक्षया तत्कथंचित्प्रत्यक्षमपि"

आचार्य कहते हैं कि– केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह मानसिक-प्रत्यक्ष या छद्मस्थ ज्ञान परोक्ष ही है। मानसिक प्रत्यक्ष को "प्रत्यक्ष" की संज्ञा इन्द्रिय ज्ञान के अभाव को लेकर दी गई है। वह भी श्रद्धान के अनुरूप चलती है अतः पराश्रित है। स्वभाव को हमें प्राप्त करना है अतः उसी का विश्वास-श्रद्धान आवश्यक है।

कैसा है वह? "अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो" ऐसा पंचास्तिकाय में कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि सिद्धत्वरूप जो स्वभाव है वह अभूतपूर्व है। अभूतपूर्व का मतलब क्या है? अभूतपूर्व का अर्थ बढ़िया– अपश्चिम है, अपूर्व वस्तु है। अर्थात् ऐसी अवस्था कभी हुई नहीं थी। इसी तरह का अर्थ करणों में भी आपेक्षित होता है। जब गुणस्थान के क्रम बढ़ने जाते है उस समय विशुद्धि बढ़ती जाती है– भावों में वृद्धि होती है। उन करणों में एक अपूर्व करण और एक अनिवृत्तिकरण भी है। जिनमें परिणामों की अपूर्वता होती है तुलना नहीं होती एक दूसरे से। इस प्रकार की व्यवस्था चलती रहती है उस समय।

अर्थ यह हुआ कि स्वभावभूत वस्तुतत्त्व आज तक उपलब्ध नहीं हुआ हमें। उसका रूप, उसका स्वरूप प्रतीकारात्मक है। यह नहीं है, यह नहीं है - ऐसा प्रतिकार करते आइये- पलटते जाइये। और बिल्कुल मौन हो जाइये। जिसको पलट दिया उसके बारे में कुछ भी नहीं सोचिये। आपके पास वस्तुओं की संख्या बहुत कम है। लेकिन दिमाग में– सोचने में, उससे कई गुनी हो सकती हैं। दिमाग की यह कसरत तब अपने आप रुक जाएगी जब यह विश्वास हो जाएगा कि इसमें मेरा "बल" नहीं है।

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव।।

तब तक अप्रतिबुद्ध होता है जब तक कि कर्म मे, नोकर्म में, मेरा-तेरा करता रहता है तब तक वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी माना जाता है। "यह मैं हूँ, यह मैं हूँ– ऐसा चौबीसों घण्टे इन्द्रियों के व्यापार के माध्यम से सचित्त-अचित्त-मिश्र पदार्थों से जो कि भिन्न हैं, सम्बन्ध जोड़कर चलना और उसके साथ जो पोषक द्रव्य हैं उनके संयोग से हर्ष और वियोग से विषाद का अनुभव करना, अज्ञानी का काम है। इसी के माध्यम से संसार की यात्रा बहुत लम्बी-चौड़ी होती जाती है। जैसे- अमेरिका में आपकी एक शाखा चलती हो। अब यदि अमेरिका पर बंबारडिंग होने लगे तो, आपके हृदय में भी वह शुरू हो जाएगी। तत्सम्बन्धी सुख-दुख होने लगता है। आप से पूछते है कि भैया ! आपका देश तो भारत है अमेरिका नहीं। वह तो विदेश है। बात तो ठीक है, लेकिन हमारा व्यापार सम्बन्ध तो अमेरिका से भी है। इसी प्रकार हमारा व्यापार भी वहाँ चलता है जहाँ इन्द्रियां हैं। उन्हीं से हित-अहित, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद का अनुभव करते हैं।

पण्डित जी ने अभी सात प्रकार की "टेबलेट" के विषय में बताया। लेकिन मैं तो यह सोच रहा था कि संसार में सात प्रकार के भय होते हैं और सभी प्राणी

उन भयों से घिरे हुए हैं। इसलिए उन्होंने सात प्रकार की गोलियां निकाली होंगी। परन्तु सम्यग्दृष्टि सात प्रकार के भयों से रहित होता है। इसलिए निःशंक हुआ करता है। जैसा कि "समयसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है–

सम्मादिट्ठिजीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका।।

सातों भयों से मुक्त हो गये तो फिर गोली की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, और न कोई शस्त्रों की। क्योंकि उसके द्वारा न आत्मा मरता है,.न मरा है और न मरेगा। महाराज ! फिर जन्म किसका हो रहा है आज? इसी को तो समझना है। पांच दिन रखे हैं जिनमें एक दिन जन्म के लिए भी है।

बहुत दिनों की प्रतीक्षा के उपरान्त एक के घर मे सन्तान की प्राप्ति हुई। जिस समय जन्म हुआ, उसी समय उधर ज्योतिर्विद् को बुलाकर कह दिया– भैय्या ! इसकी कुण्डली बनाकर ले आना और इधर साज-सज्जा के लिए कहा और मिठाई भी बंटने लगी। सब कुछ हो गया। लेकिन दूसरी घड़ी में ही ज्योतिषी कुण्डली बनाकर ले आया। कहता है– संतान की प्राप्ति बहुत प्रतीक्षा के बाद हुई, लेकिन, लेकिन क्यों कह रहे हो? महान् पुण्य के उदय से हुई, फिर लेकिन क्यों? ....हां-हां पुण्य के उदय से हुई थी और लम्बी प्रतीक्षा के बाद हुई, बिल्कुल ठीक है। लेकिन. ....। लेकिन क्यों लगा रहे हैं?......बात ऐसी है कि पाप और पुण्य दोनों का जोड़ा है। इसलिए "हुई थी" "पासटेन्स" है। अब वर्तमान में वह नहीं है, वह मर जाएगी। इतने में ही वहाँ से खबर आ गई कि मृत्यु हो गई। सुनते ही विचार में पड़ गया। बहुत दिनों के उपरान्त एक फल मिला था, वह भी किसी से नहीं देखा गया। उसके ऊपर भी पाला पड़ गया। सुना है कि एक महाराज आए हैं जो बहुत पहुँचे हुए है। कहाँ पहुँचे हैं? पता नहीं, लेकिन उनकी दृष्टि में तो बहुत कुछ है, होंगे। वह भागता-भागता गया, उस पुत्र को लेकर। कहा– जिस प्रकार इसको दिया, उसी प्रकार "दिया" (दीपक) के रूप में रखो तो ठीक है। नहीं तो क्या होगा? नहीं-नहीं आप ऐसा नहीं कहिए। आप करुणावान् हैं, दयावान् हैं, मेरे ऊपर कृपादृष्टि रखिये और इसे किसी भी प्रकार बचा दीजिए, क्योंकि आपके माध्यम से बच सकता है– ऐसा सुना है। महाराज बोले मेरी बात मानोगे? हां-हां, नियम से मानूंगा। जरूर मानूंगा। उसने सोचा अपने को क्या? यदि काम करना है तो बात माननी ही पड़ेगी। महाराज बोले– अच्छा ! तो तू कुछ सरसों के दाने ले आ, तेरा बेटा उठ जाएगा। इतना सुनना था कि वह तत्परता से भागने लगा। तभी महाराज ने कहा– इधर आओ, इधर आओ, तुम्हें सरसों के दाने तो लाना है लेकिन साथ में यह भी पूछ लेना कि

उसके घर में कभी किसी की मौत तो नहीं हुई? जिसके यहाँ मौत हुई हो, उसके यहाँ से मत लाना, क्योंकि वह सरसों दवाई का काम नहीं करते। ....ठीक है, ठीक है– कहकर वह चला गया। एक जगह जाकर कहता है– भैया! मुझे कुछ सरसों के दाने दे दो, जिससे हमारा पुत्र पुनः उठ (जी) जाये। अच्छी बात है, ले लो, ये सरसों के दाने, उसने दे दिए और देते ही वह भागने लगा कि याद आया और पूछा– अरे ! यह तो बताओ आपके यहाँ कोई मरा तो नहीं, अभी तो नहीं पर एक साल पहले हमारे काकाजी मरे थे। .... अच्छा, तब तो ये सरसों नहीं चलेंगे। दूसरे के यहाँ गया, वहाँ पर भी सरसों मांगे और पूछा– सरसों मिल गये और उन्होंने कहा-- इन दिनों तो कोई नहीं मरा पर कुछ दिनों पहले हमारे दद्दा (दादा) जी मरे थे। इस प्रकार सुनते ही उसने सरसों लौटा दी। ऐसा करते-करते वह प्रत्येक घर गया। लेकिन एक भी घर ऐसा नहीं मिला जिसमें किसी न किसी का मरण न हुआ हो। जो जन्मे थे, वही तो मरे होंगे। इस प्रकार मरण की परम्परा चल रही है। एक और घर में गया और देखा कि– एक जवान मरा पड़ा है, अभी ही मरा होगा, क्यों उसका शव अभी तक उठाया नहीं गया। उसके घर के लोग, अभी भी हाथ-पैर पटक रहे हैं, रो रहे हैं, चिल्ला रहे हैं। दृश्य देखकर मौन हो गया। भागते-भागते थक चुका था, अतः वहीं खड़े-खड़े कुछ सोचने लगा– किसी का घर ऐसा नहीं मिला जहाँ मरण न हुआ हो। सबके यहाँ कोई न कोई मरण को प्राप्त हुआ है। अर्थात् जिसने भी जन्म लिया है वह अवश्य मरेगा। इससे बचाना किसी के वश की बात नहीं है। उसे औषध मिल गयी, मंत्र मिल गया, सोचा– महाराज वास्तव में पहुंचे हुए हैं। ...... भागता-भागता उनकी शरण में गया और कहने लगा– महाराज! गलती हो गई? भैय्या ! लाओ सरसों के दाने,मैं अभी उठाये देता हूँ तुम्हारे पुत्र को। ....नहीं, महाराज, ! अब वह नहीं उठ सकता, मुझे बोध हो गया।

यह जीवन की लीला है बन्धुओ ! मालुम है आपको? व्याकरण में एक ''ज्या'' धातु आती है। उसका अर्थ ''वयोहानौ'' होता है। प्रातःकाल कहा था कि मरण की क्या परिभाषा है, मरण क्या है? ''आयुक्खयेण मरणं'' और जीवन की परिभाषा क्या, जीवन क्या? उम्र की समाप्ति होना या उम्र की हानि होती चली जाना जीवन है। मतलब यह हुआ कि मरण और जीवन में कोई अन्तर नहीं है मात्र इसके कि मरण में पूर्णतः अभाव हो जाता है और जीवन में क्रमशः प्रत्येक समय हानि होती चली जाती है। हानि किसकी और क्यों? वय की हानि, वय का अर्थ उम्र या आयुकर्म। अर्थात् 'आयुकर्म की हानि का नाम जीवन है और उसके पूर्णतः अभाव का - क्षय

हमारे जीवन में मृत्यु के अलावा और किसी का कुछ भी संवेदन नहीं हो रहा है। भगवती आराधना में एक गाथा आयी है, वह मूलाचार, समयसार आदि ग्रन्थों में भी आयी है, जिसमें आवीचिमरण का वर्णन किया है। आवीचिमरण का अर्थ यह है कि पल-पल प्रतिपल पलटन चल रहा है। कोई भी व्यक्ति ज्यों का त्यों बना नहीं रह सकता। कोई अमर नहीं। महाराज देवों को तो अमर कहते हैं? वहाँ अमर का मतलब है बहुत दिनों के बाद मरना। इसलिए अमर हैं। हम लोगों के सामने उनका मरण नहीं होता, इसलिए भी अमर है। किन्तु उन लोगों की दृष्टि में हम मरते रहते हैं अतः मर्त्य माने जाते हैं। रोज का मरना मरते हैं हम लोग। रोज मर रहे हैं? हां प्रतिपल मरण प्रारम्भ है, इसी का नाम आवीचिमरण है। मरण की ओर देखा तो मरण, और जीवन की ओर देखा तो मरण।

अंग्रेजी मे में एक बहुत अच्छी बात कही जाती है। वह यह है कि– एक दिन का पुराना हो या सौ सालों का, उसे पुराना ही कहते हैं। जैसे– "हाउ ओल्ड आर यू"। हम ओल्ड का अर्थ पुराना तो लेते हैं परन्तु बहुत साल पुराना लेते हैं। लेकिन नहीं पुरा का अर्थ मतलब एक सेकेण्ड बीतने पर भी पुरा है। **अब देखिये पुरा क्या है और अपर क्या है? एक-एक समय को लेकर चलिये, चलते-चलते एक ऐसे बिन्दु पर आकर के टिक जायेंगे आप, यहाँ पर जीवन और मरण, पुरा और अपर एक समय में घटित हो रहे हैं।**

मैं पूछता हूँ– सोमवार और रविवार के बीच में कितना अन्तर है, आप कहेंगे– महाराज ! एक दिन का अन्तर है। लेकिन मैं कहता हूँ कि सोचकर बताइये? इसमें सोचने की क्या बात महाराज ! स्पष्ट है कि एक दिन का अन्तर है। अरे! सोचिये तो सही, मैं कह रहा हूँ इसलिये सोचिये तो। फिर भी कहते हैं कि आप एक दिन का अन्तर है। तो कितना अन्तर है महाराज ! आप ही बताइये? लीजिये, सोमवार कब प्रारम्भ होता है और रविवार कब? रविवार कब समाप्त होता है और सोमवार कब, इस तथ्य को देखिये, तो पता चल जाएगा। आप घड़ी को लेकर के रविवार के दिन बैठ जाइये, क्रमशः एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा बीत रहा है। अब रात आ गयी। रात में भी एक-एक मिनट, एक-एक घण्टा बीत रहा है। घण्टों पर घण्टे निकलते चले गये तब कहीं रात्रि के ११ बजे। अब सवा ग्यारह, साढ़े ग्यारह और अभी बारह बजने को कुछ मिनट-कुछ सेकेण्ड ही शेष हैं तब भी रविवार है। आप देख रहे हैं, सुई घूम रही है। अब मात्र एक मिनिट रह गया, फिर भी रविवार है। रविवार अभी नहीं छूट रहा है। अब सेकेण्ड के कांटों की ओर आपकी दृष्टि केन्द्रित है। एक सेकेण्ड शेष है तब तक रविवार ही देखते रहे और देखते-देखते सोमवार

आ गया। पता भी नहीं चला। देखा आपने कि कितने सेकेण्ड का अन्तर है रविवार और सोमवार में? यदि आप उस सेकेण्ड के भी आधुनिक आविष्कारों के माध्यम से १० लाख टुकड़े कर दें तो और स्पष्ट हो जाएगा। लेकिन सिद्धान्त कहता है वर्तमान सेकिण्ड में असख्यात समय हुआ करते हैं। इन असंख्यात समयों में यदि एक समय भी बाकी रहेगा तो उस समय भी रविवार ही रहेगा। इस अंन्तर को अन्दर की घड़ी से ही देखा जा सकता है अर्थात् एक समय ही रविवार और सोमवार को विभाजित करता है।

इसी तरह जीवन और मरण का अन्तर है। आपकी दृष्टि में थोड़ा भी अन्तर आया कि देव-गुरु-शास्त्रों के बारे मे भी अन्तर आ गया। सम्यग्दर्शन में भी अन्तर आ गया। इसको पकड़ने के लिए हमारे पास कोई घड़ी नहीं है पर आगम ही एक मात्र प्रमाण है।

हे भगवान् ! कैसा हूँ? मेरे गुणधर्म कैसे है? भगवान् कहते है कि मेरे पास कोई शब्द नहीं है, जिनके द्वारा स्वरूप बोध करा सकूँ। कुछ तो बताइये, आपके आदेश के बिना कैसे दिशा मिलेगी? तो वे कहते है कि– "यह दशा तेरी नहीं है'' इतना तो मै कह सकता हूँ परन्तु "तेरी दशा कैसी है'' इसे ना मैं दिखा सकता हूँ और ना ही आपकी आंखो में उसे देखने की योग्यता है। नई आंखें आ नहीं सकती। सबको अपने-अपने चश्मे का रंग बदलना होगा भीतर का अभिप्राय-दृष्टिकोण बदलना होगा। इतना सूक्ष्म तत्त्व है कि विभाजन करना संभव नहीं। जैसे समय से भेद नहीं रविवार और सोमवार के बीच मे इतनी मेहनत के बाद भी अन्तर विभाजन करना संभव नहीं। पूरे के पूरे आविष्कार समाप्त हो गये, फिर भी कब रविवार समाप्त हुआ और कब सोमवार आ गया, यह बता नहीं सके। संभव है वह सन्धि आपकी घड़ी में स्पष्ट ना हो, लेकिन आचार्य कहते हैं कि– केवलज्ञान के द्वारा हम इसे साफ-साफ देख सकते हैं और श्रुतज्ञान के द्वारा इसे सहज ही प्रमाण मान सकते हैं।

देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर श्रद्धान करिये, ऐसा मजबूत श्रद्धान करिये, जिसमें थोड़ी भी कमी न रहे। ऐसा श्रद्धान ही कार्यकारी होगा। **सिद्धान्त के अनुरूप श्रद्धान बनाओ। तत्त्व को उलट-पलट कर श्रद्धान नहीं करना है। हमें अपने भावों को सिद्धान्त/तत्त्व के अनुसार पलटकर लाना है। जैसे रेडियो में सुई के अनुसार स्टेशन नहीं लगती बल्कि स्टेशन के नम्बर के अनुसार सुई को घुमाने पर ही विविधभारती आदि स्टेशन लगती है।** एक बाल मात्र का भी अन्तर हो गया– सुई इधर की उधर हो गयी तो सीलोन लग जाएगी। अब संगीत का मजा नहीं आयेगा। यही स्थिति भीतरी

ज्ञान-तत्त्वज्ञान की भी है। कभी-कभी हवा (परिणामों के तीव्र वेग) के द्वारा यहाँ की सुई इधर से उधर की ओर खिसक जाती है तो डबल स्टेशन चालू हो जाते हैं। किसको सुनोगे, किसको कैसे समझोगे? तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। वस्तु का परिणमन बहुत सूक्ष्म है, उसे पकड़ नहीं सकते।

जन्म-जरा-मृत्यु, ये सभी आत्मा की बाहरी दशायें हैं। अनन्तकाल से यह संसारी प्राणी आयुकर्म के पीछे लगा हुआ है। अन्य कर्म तो उलट-पलटकर अभाव को प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आयुकर्म का उदय एक सेकेण्ड के सहस्रांश के लिए भी अभाव को प्राप्त नही हुआ। यदि एक बार अभाव को प्राप्त हो जाए तो मुक्त हो जायें, दुबारा होने का फिर सवाल ही नहीं। आयुकर्म प्राण है जो चौदहवें गुणस्थान तक माना जाता है। वह जब तक रहता है तब तक जीव संसारी माना जाता है, मुक्त नहीं माना जा सकता।

जन्म क्या है, मृत्यु क्या है? इसको समझने का प्रयास करिये। ये दोनों ही ऊपरी घटनाएं हैं। आने-जाने की बात नयी नहीं है, बहुत पुरानी है। संसार में कोई भी नया प्रकरण नहीं है, अनेकों बार उलटन-पलटन हो गया। क्षेत्र, स्पर्शन के भंग लगाने पर तीन लोक में सर्वत्र उलटन-पलटन चल रहा है। अनन्तकाल से कस्सम-कस चल रहा है। जिस प्रकार से चूने में पानी डालने से रासायनिक प्रक्रिया होती है। उसी प्रकार जीव और पुद्‌गल, इन दोनों का नृत्य हो रहा है। इसे आंख बन्द कर देखिए, बहुत अच्छा लगेगा। परन्तु आँख खोलकर देखने से मोह पैदा होगा, राग पैदा होगा। जो व्यक्ति इस शरीर को, पर्याय को लेकर अपनी उत्पत्ति मान लेता है तो उसे आचार्य कुन्दकुन्ददेव सम्बोधित करते हैं कि- तू पर्याय बुद्धिवाला बनता जा रहा है, परिवर्तन-परिणमन तो आत्मा में निरन्तर हो रहा है। क्षेत्र में भी हो रहा है। इस क्षेत्र मे लाया गया। वहाँ अपना डेरा जमाया। नोकर्म के माध्यम से इसे जन्म मिला। इसमें मात्र पर्याय का परिवर्तन है, वह भी कर्मकृत पर्याय का परिवर्तन। उपयोग का नहीं। आत्मा का जो लक्षण पहले था अब भी है आगे भी रहेगा।

जो व्यक्ति इस प्रकार के जन्म से, जन्म-जयन्ती से हर्ष का– उल्लास का अनुभव करता है उसे जन्म से बहुत प्रेम है। जबकि भगवान् ने कहा है कि जन्म से प्रेम नहीं करिये। यह दोष है, महादोष है, इससे मुक्त हुए बिना भगवत् पद की उपलब्धि नहीं होगी। यदि आप जन्म को अच्छा मानते हैं, चाहते हैं तो जन्म जयन्ती मनाईये। यदि ऐसा कहते हैं कि भगवान् की क्यों मनाई जाती है? तो ध्यान रखिये– उनकी जन्म जयन्ती इसलिए मनाई जाती है कि वह तीर्थंकर होने वाले हैं। असंख्यात जीवों के कल्याण का दायित्त्व इनके पास है, इसकी साक्षी के लिये- इसे स्पष्ट करने

के लिए इन्द्र जो कि सम्यग्दृष्टि होता है, आता है और जन्मोत्सव मनाता है। आज पंचमकाल मे जो जन्म लेता है वह मिथ्यादर्शन के साथ जन्म लेता है, इससे जन्मोत्सव मनाना यानि मिथ्यादर्शन का समर्थन करना है, पर्यायबुद्धि का समर्थन है। इसलिए ऐसा न करें। सम्यग्दृष्टि तो भरत और ऐरावत क्षेत्र में पंचमकाल में आते ही नहीं। वे वहाँ जाते हैं जहाँ से मोक्षमार्ग का- निर्वाण का मार्ग खुला है। पुण्यात्माओं का जन्म यहाँ नहीं होता, यहाँ जन्म लेने वाले मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र के साथ ही आते हैं और उनकी जन्म-जयन्ती मनाना मिथ्यादर्शन -मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र की ही जयन्ती है इसमें सम्यग्दर्शन की कोई बात नहीं। सम्यग्दर्शन के लिए कम से कम आठ वर्ष लगते हैं। इससे पूर्व सम्यग्दर्शन होने की कोई गुंजाइश भी नहीं होती। और उस समय मिथ्याचारित्र ही होता है। जबकि जैनागम में सम्यक्चारित्र को ही पूज्य कहा गया है इसके अभाव में तीन काल में भी पूजता नहीं आ सकती। ध्यान रखिये बन्धुओ ! मिथ्यादृष्टि की जयन्ती मनाना, मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याचारित्र का पूजत्व स्वीकार करना है, जो कि संसार परिभ्रमण का ही कारण है। यदि हमें संसार से मुक्त होना है तो कुछ प्रयास करना होगा, और वह प्रयास आजकल की जन्म-जयन्तियों के मनाने में सफल नहीं होगा। बल्कि उनकी दीक्षा तिथि अथवा संयमग्रहणदिवस जैसे महान् कार्य के स्मरण से ही हमारी गति, उस ओर होगी जिस ओर हमारा लक्ष्य है।

सभी प्राणी लक्ष्य को पाना चाहते हैं, अतः उन्हें यह ध्यान रखना होगा, यह प्रयास करना होगा कि वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र का पालन एवं समर्थन न कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की ओर बढ़े, जो कि आत्मा का धर्म है एवं शाश्वत सुख (मोक्षसुख) को देने वाला है।

□□

५

उस धर्म को बारम्बार नमस्कार हो जिस धर्म की शरण को पाकर के संसारी प्राणी पूज्य बन जाता है। आराध्य बन जाता है। अक्षय/अनन्तसुख का भंडार बन जाता है।

अभी आपके सामने दीक्षा की क्रिया-विधि सम्पन्न हुई, यह मात्र आप लोगों को उस अतीत के दृश्य की ओर आकृष्ट करने की एक योजना है, कि किस प्रकार वैभव और सम्पन्नता को प्राप्त करते हुए भी, भवन से वन की ओर [illegible]। संसार महावन मे भटकने वाले भव्य जीवो ! थोड़ा सोचो, विचार करो, कि आत्मा का स्वरूप क्या है? अभी तक वैभव से अलंकृत वह शृंगार-हार, जो कुछ भी था, उस सबको उतार दिया। कारण, आज तक जो लाद रखा था उसको जब उतारेंगे नहीं, तब तक तरने का कोई सवाल नहीं होता। आप लदने में ही सुख-शान्ति का अनुभव कर रहे हैं और मुमुक्ष उसको उतारने में, सुख का, शान्ति का अनुभव कर रहे हैं, यह भीतरी बात है। देखने के लिए क्रिया ऐसी लगती है कि जैसे आप लोग कमीज उतार देते हैं और पहन लेते है लेकिन वहाँ पहनने का कोई सवाल नहीं। अब दिगम्बर दशा आ गई। अभी तक एक प्रकार से वे श्वेताम्बर थे, अब वो दिगम्बर बन गये और आप दिगम्बर के उपासक हैं इसलिए आप दिगम्बर हैं, वस्तुतः आप दिगम्बर नहीं है।

आप इसलिए सब वस्त्र पहनते हुए भी दिगम्बर माने जाते हैं। इस मत को जो नहीं मानते वो तो हमेशा वस्त्र में ही डूबे रहते हैं

आपके मन में एक धारणा बननी चाहिए कि मेरी भी यह दशा इस जीवन में कब हो ! वह घड़ी वह समय, वह अवसर कब प्राप्त हो मुझे। हे भगवन् ! मेरे जैसे आप भी थे, लेकिन हमारे बीच में से आप निकल चुके। कल तक मैं कहता रहा— भैया ! आदिकुमार-ऋषभकुमार आपके घर में हैं जो कुछ भी करना हो कर लो, सब कुछ आपके हाथ की बात है, लेकिन ज्यों ही वन की ओर आ जायेंगे, नियम से आप मेरे पास आ जाएंगे, कि महाराज ! अब आगे क्या करना है। वे मान नहीं

रहे हैं। घर में रहना नहीं चाहते, अब कहा जाएंगे पता नहीं। बस अब तो उन्हें पता है और आपको? सुनो ! आप लोग तो लापता हो जाएंगे, अब आपका कोई भी पता नहीं रहेगा। इसीलिए उस दिगम्बर की शरण में चले जाइये, वहाँ सबको शरण मिल जायेगी

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष-रक्ष मुनीश्वरः।।

हे यते ! हे यतियों में भी अग्रनायक ! हमारे लिए शरण दो। भगवान् को वैराग्य हुआ, उनके साथ चार हजार और दीक्षित हो जाते हैं। यहाँ पर तो उनके माता-पिताओं को भी वैराग्य हो रहा है। तीर्थकर अकेले लाडले पुत्र होते हैं। घर में यदि २ पुत्र हो जाएं तो, या तो छोटे के ऊपर ज्यादा प्रेम होगा या बड़े पर। और लोग तो समझते हैं कि जो कमाता है उसके ऊपर ज्यादा प्रेम बरसता है, जो नहीं कमाता उसके ऊपर करेंगे ही नहीं। इनका इतना तेज पुण्य होता है कि लाड़-प्यार जो कुछ भी मिलता है माता-पिताओं का वह एक के लिए ही मिलता है इसलिए वे विषयों में भूल जाते हैं और बाद में विषय से विरक्ति का संकल्प लेते है। यहाँ पर भी माता-पिता बनने का सौभाग्य भी बहुत मायने रखता है। तीर्थकर के माता-पिता, यह संसारी प्राणी आज तक नहीं बना, बन जाने पर नियम से एक-आध भव से मुक्ति मिलती है। इन लोगों (उपस्थित माता-पिताओं) की भावना हुई है कि इस पुनीत अवसर पर वे आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करें और अपने कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें। इस माध्यम से हम भी भगवान् से प्रार्थना करते हैं, जिस प्रकार प्रभु का कल्याण हो गया/ हो रहा है, इनका भी हो।

उधर भगवान् के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हुए, लेकिन उन्होंने दीक्षा नहीं दी किसी को। दीक्षा किसलिए नहीं दी? इसलिए नहीं दी कि, वे किसी को आदेश नहीं देंगे। दीक्षा लेने के उपरान्त वे गहरे उतरेंगे, किसी से कुछ नहीं कहेंगे। भीतर-भीतर आत्मतत्त्व में डुबकी लगाते-लगाते जब एक हजार वर्ष व्यतीत हो जायेंगे, तब कैवल्य की उपलब्धि होगी। इन एक हजार वर्षों तक मौन रहेंगे, आहार के लिए आयेंगे, सब कुछ क्रियायें होगीं लेकिन कुछ उपदेश नहीं देंगे। न आशीर्वाद देंगे, न कोई आदेश। मौन रहना ही इन्हें पसन्द होगा। इसके बाद बनेंगे ऋषभनाथ भगवान्। दिखाने के लिए कल ही कैवल्य हो जाएगा, कारण एक हजार साल तक तो आप वैसे भी प्रतीक्षा नहीं कर सकोगे। अतः मतलब ये है, कि इस प्रकार की साधना में उतरेंगे कि वह आत्मा का रूप बन जाएंगे। यही सत्य मार्ग है।

इस समय ज्यादा कहना आपको अच्छा नहीं लग रहा होगा क्योंकि आप

आकुलित हैं, भगवान् आपके घर से चले गये है। भगवान् नहीं थे वे, कुमार थे, और आपके अण्डर में नहीं रह पाये। ये ध्यान रखना माता-पिताओं का कर्त्तव्य होता है अपनी संतान की रक्षा करें। यदि वह घर में रहना चाहे, तो उसके लिए सब कुछ व्यवस्था करें। घर में नहीं रहता तो यह देख लेना चाहिए कि कहाँ जाना चाहता है। कहीं विदेश तो नहीं जाता। यदि विदेश आदि जाने लगे तो, नहीं, यह हमारी परम्परा नहीं है, यहीं पर रहो, यह काम करो, ऐसा समझाना चाहिए। और यदि आत्मा के कल्याण के लिए वन की ओर जाना चाहता है तो आपके वश की कोई बात नहीं है। यही हुआ आपके वश की बात नहीं रही और ऋषभकुमार निकल चुके घर से।

धन्य है यह घड़ी, यह अवसर, युग के आदि में यह कार्य हुआ था। और आज हमने उस दृश्य को देखा, जाना। किसके माध्यम से जाना यह सब कुछ? अपने आप जान लिया क्या? अपने आप आ गई क्या यह क्रिया? नहीं ! इसके पीछे कितना रहस्य छुपा हुआ है। बड़े-बड़े महान् सन्तों ने इस क्रिया को अपने जीवन में उतारा और किसी ने इस क्रिया को अपनी लेखनी के माध्यम से लिख दिया। यही एक मार्ग है जो मोक्ष तक जाता है और कोई नहीं।

विश्व में, सारे के सारे मार्ग को बताने वाले साहित्य हैं। लेकिन यहाँ पर साहित्य के साथ-साथ साहित्य के अनुरूप आदित्य भी हैं। आज तक हमारी यह परम्परा अक्षुण्ण है। यह हम लोगों के महान् पुण्य और सौभाग्य का विषय है। आज भी ऐसा साहित्य मिलता है, जिससे हम अध्यात्म-दशा को प्राप्त कर सकते हैं। कई बार पूछा जाता है कि कैसे प्राप्त कर सकते है हमें भी बता दो? तो यहाँ पर वही क्रियाएं हो रही हैं जिन्हें देखकर मालूम होता है कि ऐसे प्राप्त की जाती है वह अवस्था। इतना ही नहीं, आज कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा के अनुरूप चलने वाले, लिंग को धारण करने वाले भी मिलते हैं। तीन लिंग बताये गये हैं– 'एक मुनि का, एक श्रावक का और एक आर्यिका का या श्राविका का। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने दर्शनपाहुड में कहा है जैनियों के चौथा लिंग नहीं है–

"चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।"

आज हमारा कितना सौभाग्य है कि कुन्दकुन्ददेव ने, समन्तभद्र स्वामी ने, पूज्यपादस्वामी आदि अनेक आचार्यों ने इस वेश को धारण किया, कितने बड़े साहस का काम किया। सांसारिक वेश को उतार देना भी बहुत सौभाग्य की बात है। अनेक सन्त हुए और बीच में ऐसा भी काल आया, जिसमें सन्तों के दर्शन दुर्लभ हो गये थे। जैसे मैंने कल कहा था दौलतराम जी, टोडरमल जी, बनारसीदास जी, ये सब

तरसते रहे। जिन लिंग को देखना चाहते थे लेकिन केवल शास्त्रों को देखकर के रह जाना पड़ा उन्हें। यहाँ तक भी कहने में आता है कि टोडरमल जी के जमाने में धवला, जयधवला, महाबन्ध का दर्शन तक नहीं हो सका। पढ़ना चाहते थे वे। उन्होंने लिखा है कि मैंने गोम्मटसार को पढ़ा उसकी टीका के माध्यम से, उसमें भी उन्होंने लिखा केशववर्णी की टीका नहीं होती तो हम गोम्मटसार का रहस्य नहीं समझ सकते थे। ऐसे-ऐसे साधकों ने इस जिनवाणी की सेवा करते हुए केवल सेवा ही नहीं किन्तु इस वेश को भी धारण कर अपने को धन्य किया। कल पण्डितजी भी कह रहे थे कि हमने भी अपने जीवन में जिनवाणी की सेवा करने का इतना अवसर प्राप्त किया। किन्तु मैं समझता हूँ कि आज दीक्षा-कल्याणक का दिन है, पण्डितजी ! **जिनवाणी की सेवा तो जिन लिंग धारण करके ही करना सर्वोत्तम है।** यदि आप जैसे विद्वान् जिन लिंग धारण कर इस तरह सेवा करें तो सही सेवा होगी जिनवाणी की। धर्म की प्रभावना भी होगी।

बात ऐसी है जिनलिंग की महिमा कहाँ तक गायी जाये, जहाँ तक गायें, जितनी गावें उतनी ही आनन्द की लहर भीतर-भीतर आती जाती है। एक उदाहरण देता हूँ–

एक सन्त के पास परिवार सहित एक सेठ जी आते हैं। दर्शन करते हैं। पूजन करते हैं। जो कुछ भी करना कर लिया। इसके उपरान्त प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! संसार का स्वरूप बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। कारण, हमें समझ में आ गया है, लेकिन अब मुझे मुक्ति का स्वरूप बताओ? लोग मुझसे भी पूछते हैं कि महाराज ! आपको वैराग्य कैसे हुआ, मेरी समझ मे नहीं आता, चारों ओर चकाचौंध है विषयों की और आपको वैराग्य कैसे? हम जानना चाहते हैं। आपने न घर देखा, न बार, न कोई विवाह हुआ, कुछ समझ में नहीं आता क्या जानकर के आपने घर छोड़ दिया? "छोड़ने को क्या, क्या छोड़ा? कुछ था ही नहीं मेरे पास" – हमने कहा। समझदारी की बात तो मैं यह मानता हूँ– कहना चाहता हूँ कि जो फंसे हुए हैं, उनके मुख को देखकर के मैं भाग आया। कोई भी दिखता है, हँसता हुआ नहीं दीखता। रोता ही रहता है, अपना रोना ही रोता है। मैं समझता हूँ कि बहुत अच्छी बात है जो हम फंसे नहीं। यहाँ से दूर चलिये इसकी क्या आवश्यकता है। पढ़ने की, लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, अनुभव की कभी कोई आवश्यकता नहीं, जो अनुभव कर रहे हैं वही टेलीविजन (मुखमुद्रा) हम देख रहे हैं, इनको देख लो। इनकी समस्या समझ लो, बस अपने लिए वहीं रास्ता बन गया। तो वह कहता है कि मुक्ति का स्वरूप बताओ। किस प्रकार इनसे छुटकारा पाऊं? सन्त कहते हैं–

कुछ नहीं, सो जाओ। सो जाओ, कल आना "जैसी आज्ञा" - कहकर चला गया सेठ। घर पर सेठजी ने एक तोता बहुत ही लाड़-प्यार से पाल रखा था। उसने पूछा– आज कहाँ गये थे सेठजी ! महाराज जी आये थे उनके पास उपदेश सुनने गया था– सेठ ने कहा। क्या कहा महाराज ने– तोते ने पूछा। सेठ ने कहा– उन्होंने कुछ नहीं कहा सिवा इसके कि "कल आना"। लेकिन आज क्या करना– तोते ने पूछा। सो जा– सेठ ने कहा। अच्छी बात है। दूसरे दिन सेठ पुनः महाराज के पास पहुँच गया। क्यों, क्या बात है?– महाराज ने पूछा। महाराज आपने तो कहा था– आज सो जा, कल आ जाना, इसलिए आ गया। अरे ! मालूम नहीं पड़ा यही तो प्रवचन था– महाराज ने समझाया। सोने का प्रवचन था? **हां..........हां ! "जो व्यवहार में सोता है वह निश्चय में जागता है। और जो निश्चय में सोता है वह व्यवहार में जागता है।"** अब बात उसे समझ में आ गयी थी। उपदेश के बाद घर गया तो देखा तोता तो बिल्कुल अचेत पड़ा है, पिंजरे में। अरे ! यह क्या हो गया? महाराज जी ने उपदेश बहुत अच्छा दिया– अच्छा समझाया। मैं इसको भी बता देता, लेकिन यह क्या हो गया? मर गया, यह तो मर गया। हे भगवान् क्या हो गया? इस प्रकार करते हुए पिंजरे का दरवाजा खोलकर के उसको देखता है, बिल्कुल अचेत है, ओऽहो ! यू ही नीचे रख देता है तो वह उड़ जाता है और एक खिड़की के ऊपर जा कर बैठ जाता है, और कहता है महाराज ने बहुत अच्छा उपदेश सुनाया– बहुत अच्छा सुनाया। कैसे सुनाया? सेठ ने कहा। आपने तो कहा था आज सो जा– तोते ने कहा।

रहस्य को सेठ ने अब समझ लिया। **"एक बार सो जाओ मुक्ति मिल जायेगी।" लेकिन "सोना" कैसे? मखमल के गद्दे बिछाकर के नहीं। एयरकंडीशन में नहीं, बल्कि शरीर तो सो जाए और आत्मा अप्रमत्त रह जाए।** आज का विज्ञान क्या कहता है? आत्मा को सुलाओ ताकि रेस्ट मिल जाए, इस शरीर को। मतलब क्या? यही कि चिन्ताओं से, विचारों से विकल्पों से छुट्टी दे दो–

मा मुज्झह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जइ चित्तं विचित्तझाणप्पसिद्धीए।।

आत्मा के ध्यान की प्रसिद्धि के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है मन को एकाग्र करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष मत करो। इतना ही पर्याप्त है।

मोक्षमार्ग यह है और संसार मार्ग यह है। कौन सा आपको इष्ट है? आप चुन

सकते हैं। जबरदस्ती किसी को नहीं किया जा सकता। जबरदस्ती से मार्ग ही संभव नहीं। खुद स्वयं जो अंगीकार करे, उसी का ये मार्ग और जो अंगीकार करता है उसको हजारों व्यवधान आ जाते हैं। व्यवधान आने पर आचार्य कहते हैं कि वह सारे के सारे व्यवधान शरीर रूपी पहाड़ के ऊपर टूट सकते हैं, लेकिन आत्माराम के ऊपर उसका कोई भी स्पर्श तक नहीं हो सकता है। यही एक मोक्षमार्ग है। इस मोक्षमार्ग की कहाँ तक प्रशंसा करूँ, अपरम्पार है।

□□

६

दो दिन आपके थे अब तीन दिन हमारे हैं। हमारा यह प्रथम दिन है। आज ज्यों ही वृषभकुमार ने दीक्षा अँगीकार की, त्यों ही परिग्रह और उपसर्गों का कार्यक्रम प्रारंभ हो गया। इधर-ऊपर से बूंदाबांदी भी प्रारम्भ हो गई। **आप लोग भीतर-ही भीतर प्रार्थना कर रहे होंगे कि पानी रुक जाए भगवान्, लेकिन एक प्राणी (दीक्षितसंयमी) कहता है– जो भी परीक्षा लेनी हो, ले लो। उसके लिए ही खड़ा हुआ हूँ। यह जीवन संघर्षमय है, इसे बहुत हर्ष के साथ अपनाया है।**

तपः कल्याणक– अभिनिष्क्रमण में, घँर से निकाला नहीं गया किन्तु निकालने से पूर्व ही निकल गये। जो निकलते नहीं, उनकी फजीती इस प्रकार की होगी कि एक दिन चार व्यक्ति मिलकर कन्धे पर रख चौखट से बाहर निकाल देंगे। इसमें किसी भी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं। जो हमारा घर नहीं, उसमें हम छिपे बैठें और उसमें किसी भी प्रकार से रहने का प्रयास करें, तो भी उसमें रह पाना संभव नहीं। इसीलिए–

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र की रचना करते हुए आदिनाथ की स्तुति में कहा– भगवन्! आपने सागर तक फैली धरती को ही नहीं छोड़ा किन्तु जो प्यारी-प्यारी सुनन्दा-नन्दा थी, उनको भी छोड़ दिया। जिसके साथ गांठ पड़ी थी। उस गांठ को उन्होंने खोलने का प्रयास किया, जब नहीं खुली तो कैंची से काट दिया। अब कोई मतलब नहीं। जिसके साथ बड़े प्यार से सम्बन्ध हुआ था, उसको तोड़ दिया। आज अब किसी और के साथ सम्बन्ध हो गया। यह क्यों हुआ? अभी तक शान्त-सरोवर था। उसमें किसी ने एक कंकर पटक दिया, कंकर नीचे चला गया। उधर तल तक पहुँचा, इधर तट तक लहर आ गई। नीचे से कंकर ने संकेत भेजना शुरू कर दिये, बुलबुले के माध्यम से। यानि भीतर क्रान्ति हो गई। भीतर जल क्रान्ति होती है तब इस प्रकार के बुलबुले निकलते हैं। जब बुलबुला निकलता है तो वह आपको

बुला-बुला कर कहता है– "जीवन बहुत थोड़ा है। प्रतिसमय नष्ट हो रहा है ऐसी स्थिति में आपके भीतर उसके प्रति जो अमरत्व की भावना है, वह अयथार्थ है।"

राजा राणाछत्रपति, हथियन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार।।

जब मरने का, जीवन के अवसान का समय आयेगा, तब हम कुछ भी नहीं कर पायेंगे। मरण-मृत्यु आने से पहले हमें जागृत होना है। छत्र, चंवर और सम्पदा कुछ भी कार्यकारी नहीं होगी। ये तो इन्द्र-धनुष, आकाश की लाली और तृण-बिन्दु की भांति क्षणभंगुर हैं। बहुत जल्दी मिटने वाले हैं और बहुत जल्दी पैदा भी होते हैं। जो जल्दी पैदा होता है, वही जल्दी मिट भी जाता है। लेकिन अब ऐसी पैदाइश की जाए, जो अनन्तकाल तक रहे। ऐसा उत्पाद हो, जो उत्पात को ही समाप्त कर दे। ऐसा कौन-सा उत्पाद है। वह एक ही उत्पाद है जिसे भीतर जाकर देख सकते हैं जान सकते है। ऊपर बहुत खलबली मच रही हो और यदि भीतर में शान्त हो तो ऊपर की खलबली भीतर की शान्ति में कोई बाधक के रूप में कार्यकारी नहीं। अन्दर की शान्ति बारह भावनाओं का फल है। यह समझ वह (मुनि ऋषभनाथ) ध्यान में बैठ गए।

सोलहकारण भावनाओ के द्वारा जगत् का कल्याण करने का एक संकल्प हुआ, एक बहुत बड़ी इच्छा-शक्ति, जो संसार की ओर नहीं, किन्तु कल्याण की ओर खींच रही थी, उत्पन्न हुई। उस दौरान भावना भायी और फल यह निकला कि तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हुआ। कब हो गया, उन्हें ज्ञात नहीं। किस रूप में है? ज्ञात नहीं। फिर भी समय पर काम करने वाला है। अभी भी सत्ता में है, लेकिन सत्ता मे आकर भी, जिस प्रकार वह ककर बुलबुले के द्वारा संकेत भेज देता है उसी प्रकार उसने दिया, कि अब घर-बार छोड़ दीजिए। वन की ओर रवाना हो जाइये। इन्द्र, जो कि अभी तक चरणो मे रहा, कहता है कि आप ने नन्दा-सुनन्दा को छोड़ा। राज्य-पाट छोड़ा और सब कुछ छोड़ दो। लेकिन, कम से कम मुझे तो मत छोड़ो। मैंने आपको पाला है, दूध पिलाया है, ऐशोआराम की चीजें दी है। अतः जब तक रहो तब तक मुझे सेवा का अवसर प्रदान करते रहना चाहिए। तब जवाब मिलता है– मैं अकेला हूँ ! मैं अब कुमार के रूप में, राजा के रूप मे अथवा किसी अन्य रूप में भी नहीं हूँ। मुझे अब वन जाना है, अकेले ही जाना है। साथ में लेकर जाने वाला अब नहीं, यदि आप स्वयं आ जाए तो कोई आवश्यकता अथवा विरोध भी नहीं। मतलब यह हुआ, कि अभी तक अनेक व्यक्तियों के बीच में बैठा और अब अकेला होने का

भाव क्यों हुआ? हां ! इसी को कहते हैं मुमुक्षुपना–

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं, मुमुक्षोश्चक्रलांछनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते, जरत्तृणमिवाभवत् ।।

मुमुक्षुपन की किरण जब फूट जाती है हृदय में, तब बुभुक्षुपन की सारी की सारी ज्वाला शान्त हो जाती है। अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। सूर्य के आने से पूर्व ही प्रभात बेला आ जाती है। इसी को कहते हैं मुमुक्षुपन, तब लक्ष्मी, विभव, साम्राज्य, सार्वभौमपना ये जितने भी हैं सब "जरत्तृणवत्" – जीर्ण-शीर्ण एक तृण के समान देखने में आते हैं।

आपको यदि रास्ते पर पीली मिट्टी देखने में आ जाती है तो आपको यही नजर आता है कि पीली है तो सोना होना चाहिए? अब भीतर ही भीतर लहर आ जाती है कि झुककर देखने में क्या बात है? झुकलो ! भले ही कमरे में दर्द हो। झुककर जब हाथ में लेता है तो लगता है कि कुछ ऐसी ही है, सोना नहीं है, तो पटक देता है और यदि सोना हुआ तो उस मिट्टी के मिलने से ऐसा समझता है कि आज मेरा अहोभाग्य है ! भगवान् का दर्शन किया था इसलिए ऐसा हुआ। लेकिन यहाँ भगवान् ने तो आत्मसर्वस्व प्राप्ति के लिए सब कुछ छोड़ दिया, जीर्ण-शीर्ण तृण समझकर। उसे छोड़ दिया, उसकी तरफ से मुख को मोड़ लिया। प्रत्युत्पन्नमति इसी को कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार में कहा है–

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ।।

यदि तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य को अंगीकार करो। श्रामण्य के बिना कोई मतलब सिद्ध नहीं होने वाला, दुःख से मुक्ति तीन काल में भी संभव नहीं। "यू शुड अडेक्ट इक्वनमिटि वेयंर वाइ निर्वाना इज अटेन्ड।" इसके द्वारा तो मुक्ति का लाभ मिलता है भुक्ति का नहीं। भुक्ति तो अनन्तकाल से मिलती आ रही है। सुबह खा लिया तो शाम को फिर भूख आ गई, अन्थौ (सन्ध्या भोजन) कर ली तो नाश्ते की चिन्ता, कब नींद खुले और कब नाश्ता करें? अरे ! नाश्ता में आस्था रखने वालो ! थोड़ा विचारो-सोचो तो कि मुक्ति का कौन-सा रास्ता है। मुक्ति की बात तो तब चलती है जबकि भुक्ति की कोई भी वस्तु नहीं रहती है।

जब श्रमण बनने चले जाते हैं श्रमण परिषद् के पास, तब कहते हैं कि मुझे दुःख से मुक्ति दिलाकर अनुग्रहीत करो स्वामिन् ! मैं महाभटका हुआ, अनाथ-सा व्यक्ति हूँ। अब आपके बिना कोई रास्ता नहीं कोई जगह नहीं है। उन्होंने कहा– तुम दुःख से मुक्ति चाहते हो तो तुम्हें श्रमण बनना होगा। श्रमणता क्या है स्वामिन्!

अब बताते हैं कि श्रमणता क्या है और श्रमण बनने के पूर्व किस-किसको पूछता है। प्रवचनसार में इसका बहुत अच्छा वर्णन दिया गया है। वह श्रमणार्थी सर्वप्रथम मां के पास जाकर कहता है– मां! तू मेरी सही मां नहीं है। मेरी मां तो शुद्धचैतन्य आत्मा है। अब उसी के द्वारा पालन-पोषण होगा। आप तो इस जड़मय शरीर की मां हैं, फिर भी मैं व्यवहार से आपको कहने आया हूँ कि यदि आपके अन्दर बैठी हुई चेतन आत्मा जाग जाए तो बहुत अच्छा होगा। फिर तो आप भी मां बन जायेंगी। नहीं तो, मैं जा रहा हूँ। अब नकली मां के पास रहना अच्छा नहीं लगता। अब आप रोयें या धोयें, कुछ भी करें, पर मैं चल रहा हूँ। अब पिता के पास चला जाता है और कहता है– पिताजी ! आपने बहुत बड़ा उपकार किया, लेकिन एक बात है, वह सभी जड़मय शरीर का किया। किन्तु आज मुझे ज्ञान उत्पन्न हुआ कि मेरे पिता तो शुद्ध चैतन्य-आत्मतत्त्व हैं अन्य कोई नहीं। उसी के द्वारा ही मेरी रक्षा होती आ रही है। इसलिए मेरा चेतन आत्मा ही पिता है और चेतना मां। इतना कह उन्हें भी छोड़कर चल देता है। इसके बाद सबको कहता-कहता, बीच में ही जिसके साथ सम्बन्ध हो गया था, उसके पास जाकर कहता है– प्रिये ! आज तक मुझे यही ज्ञात था कि तुम ही मेरी प्रिया हो, लेकिन नहीं, अब मुझे ज्ञात हो गया कि चेतना ही मेरी एक मात्र सही प्रिया है, पत्नी है। वह ऐसी पत्नी नहीं है जो बीच में ही छोड़कर चली जाये। वह तो मेरे साथ सदा रहने वाली है। वही तो शुद्ध चेतना मेरी पत्नी है। बस, एक के द्वारा ही सारे सम्बन्ध है। वही पिता है, वही मां। वही पति है, वही पत्नी। वही बहिन भी है और भाई भी। जो कुछ है उसी एकमात्र से मेरा नाता है। इसके अलावा किसी से नहीं।

इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सबसे पूछना आवश्यक है। घबराओ नहीं, आप लोगों के जितने भी सम्बन्धी हैं वे कभी भी आपको आज्ञा नहीं दे सकते। हां ! आपको ही इस प्रकार का कार्यक्रम बनाना होगा, ऐसी उपेक्षा दृष्टि रखनी होगी, भीतर ही भीतर देखना आरम्भ करना होगा कि सभी अपने-अपने काम में जुट जाएं और आप उपेक्षा कर चल दें।

भगवान् को आपने कभी देखा है, क्या कर रहे हैं? कौन आता है, कौन जाता है यह देख रहे हैं? नहीं। लाखों, करोड़ों ही नहीं, जितनी भी जनता आ जाये और सारी की सारी जनता उनको देखने का प्रयास करती है किन्तु वह जनता को कभी नहीं देखते। उनकी दृष्टि नासा पर है, उसमें किसी प्रकार का अन्तर आने वाला नहीं। "नासादृष्टि" का मतलब क्या? न आशा, नासा। किसी भी प्रकार की आशा नहीं रही, इसी का नाम नासा है। यदि उनकी दृष्टि अन्यत्र चली गई तो समझिये

नियम से आशा है। वह आशा, हमेशा निराशा में ही घुलती गई यह अतीतकाल का इतिहास है।

न भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं?
वैराग्य-पाठ उनसे हम सीखते हैं।।

वे ज्ञानी हैं। वे ध्यानी हैं। वे महान् तपस्वी हैं। वे स्वरूप-निष्ठ आत्माएं है, जिन्हें भूत-भविष्य के भोगों की इच्छा-स्मृति नहीं है। मैंने खाया था इसकी कोई स्मृति नहीं है। बहुत अच्छी बात सुनी थी, एक बार और सुना दो तो अच्छा है। अनागत की कोई इच्छा नहीं। जब अनागत की कोई इच्छा नहीं और अतीत की स्मृति नही तो वर्तमान में भोगों की फजीती हो जाती है। वह उन्हें लात मार देती है। इसी को कहते हैं समयसार में हेय-बुद्धि। किसके प्रति हेय-बुद्धि? भोगोपभोग के प्रति। भोगोपभोग को लात मारना, खेल नहीं है। जहाँ भोगोपभोग सामग्री हमें लात मार देती है, फिर भी हम उसके पीछे चले जाते है। लेकिन ज्ञानी की यह दशा, यह परिभाषा अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, जिनके दर्शनमात्र से वैराग्यभाव सामने आ जाता है। जिनके स्वरूप को देखते ही अपना रूप देखने में आ जाता है।

सो धर्म मुनिन करि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताको सुनिये भवि प्राणी अपनी अनुभूति पिछानी।।

वह मुद्रा, जिसके दर्शन करने से हमारा स्वरूप सामने आ जाए। आत्मा का क्या भाव है, वह ज्ञात हो जावे। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, आज तक स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं हुआ? वैराग्य को वैराग्य से ही देखा जाता है। **"विरागी की दृष्टि रागी को देखकर भी, राग में विरागता का अनुभव करती है और रागी की दृष्टि विरागता को देख, विरागता में भी राग का अनुभव करती है।" यह किसका दोष है? यह किसका फल है, इसको कोई क्या कर सकता है, जिसके पेट में जो है वही तो डकार में आयेगा।**

दो टैंक थे तैरने के। एक में दूध था और एक में मट्ठा–मही था। उन टैंकों में दो व्यक्ति तैर रहे थे। दोनों को डकारें आईं। ज्यों ही डकार आई, एक ने कहा– वाह-वाह, बहुत अच्छा-बहुत अच्छा, क्या सुवास और सुरस है? भगवन्! अम्लपित्त जैसी डकार आ रही है, दूसरे ने कहा। अरे क्या बात हो गई। तुम तो दूध के टैंक में हो और अम्लपित्त की बात कर रहे हो? बात ही समझ में नहीं आती। दूसरा कहता है– तुम तो मट्ठे के टैंक में हो और फिर भी वाह-वाह कर रहे हो? ऐसी

कौन-सी बात है? बात ऐसी है कि आपके टैंक में दूध परन्तु पेट रूपी टैंक में महेरी खा रखी है, इसलिए उसी की डकारें आ रहीं हैं और हम यद्यपि मट्ठे के टैंक में हैं लेकिन मैंने क्या खा रखा है मालूम है? जिसमें बादाम-पिस्ता मिलाई गई ऐसी खीर उड़ाकर आया हूँ तब डकार कौन-सी, किस प्रकार की आयेगी?

बात ऐसी ही है कि समयसार की चर्चा करते-करते भी अभी डकार खट्टी आ रही है। इसका मतलब यही है, भीतर कुछ और ही खाया है। मैं तो यही सोचता हूँ कि इसको (समयसार) तो पी लेना चाहिए। जिससे भीतर जाने के उपरान्त जब कभी डकार आयेगी तो उसकी गन्ध से, जहाँ तक पहुँचेगी जिस तक पहुँचेगी, वह संतुष्ट हो जाएगा। उसका स्पर्श मिलते ही सन्तुष्ट हो जाएगा। उसकी मुख-मुद्रा देखने से भी सन्तुष्टि होगी। लोग पूछते फिरेंगे कि क्या-क्या खा रखा है, कुछ तो बता दो?

सफेद मात्र देखकर सन्तुष्ट मत होइये, परीक्षा भी करो कम से कम। कारण दोनों सफेद द्रव्य हैं, मट्ठा भी और दूध भी। लेकिन दोनों के गुण धर्म अलग-अलग हैं। स्वाद लीजिए उसे चखने की आवश्यकता है? आज लखने की आवश्यकता है, लिखने की नहीं? "लिखनहारा बहुत पाओगे, लखनहारा तो विरला ही मिलेगा।" लखनहारा जो भीतर उतरता है। लिखनहारा तो बाहर ही बाहर घूमता है, शब्दों को चुनने में लगा रहता है। बाहर आने पर भीतर का नाता टूट जाता है जो भीतर की ओर दृष्टि रखता है वह धन्य है।

आज वृषभकुमार को वैराग्य हुआ। उनकी दृष्टि, जो कि पर की ओर थी, अपनी ओर आ गई। अपनी ओर क्या, अपने में ही स्थिर होने को है। अपने में स्थिर होने के लिए बाहरी पदार्थों का सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक होता है। जब तक बाहरी द्रव्यों के साथ सम्बन्ध रहेगा, वह भी मोह सम्बन्धी तो दुःख और परेशानी ही पैदा करेगा। किन्तु स्वस्थ होने पर दुःख और परेशानी का बिल्कुल अभाव हो जाएगा। स्वस्थ होने के लिए बाहरी चकाचौंध से दूर होना अनिवार्य है। इसलिए समयसार में यह गाथा अद्वितीय ही लिखी गई है–

उप्पण्णोदयभोगे विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी।।

वह ज्ञानी उदय में आई हुई भोगोपभोग सामग्री को त्याग कर देता है, हेय बुद्धि से देखता है। उन भोगों की स्मृति तो बहुत दूर की बात, आकांक्षा की बात भी बहुत दूर की होगी, अब तो अनाप-सनाप-सम्पदा जो मिली है उसे कहता है– यह सम्पदा कहाँ, आपदा का मूल है। यह अर्थ अनर्थ का मूल है, परमार्थ अलग वस्तु है और

अर्थ अलग वस्तु। मेरा अर्थ, मेरा पदार्थ मेरे पास है, उसके अलावा मेरा कुछ भी नहीं। तिल-तुषमात्र भी मेरा नहीं है। मैं तो एकाकी यात्री हूँ। कहाँ जाऊँगा? कोई इच्छा भी नहीं। किससे मिलना? किसी से कोई मतलब नहीं। अब मुक्ति की इच्छा भी नहीं। इच्छा मात्र से भी कोई मतलब नहीं। बस, अपने आप में रम जाने के लिए तत्पर हूँ।

मुमुक्षु को अकेला होना अनिवार्य है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने दो स्थानों पर "मुमुक्षु" संज्ञा दी। एक - वृषभनाथ के दीक्षा के समय और दूसरी अरनाथ भगवान् जब चक्रवर्तित्व पद छोड़कर चले गये तब। उस समय अरनाथ भगवान् को सब कुछ क्षणभंगुर प्रतीत हुआ, दुःख का मूल कारण प्रतीत हुआ, इसीलिए उन्होंने उसको छोड़ दिया। ऐसा मुमुक्षु ही ज्ञानी-वैरागी होता है। उसी का दर्शन करना चाहिए। रागी का दर्शन करने से कभी भी सुख शान्ति का, वैभव-आनन्द का अनुभव होने वाला नहीं।

वृषभनाथ भगवान् के जमाने की बात। चक्रवर्ती भरत के कुछ पुत्र थे, जो कि निगोद से निकलकर आये थे, (बीच में एक-आध त्रस पर्याय सम्भव है) सभी के सभी बोलते नहीं थे। चक्रवर्ती को बहुत चिन्ता हुई। उन्होंने एक दिन आदिनाथ भगवान् से समवसरण मे जाकर पूछा— प्रभो ! तीर्थंकरों की वंशपरम्परा में ऐसे कोई पंगु, लूला, बहरे और अपांग नहीं होते, लेकिन कुछ पुत्र तो ऐसे है जो बोलते ही नहीं, हमें तो दिमाग में खराबी नजर आती है। मुझे जब अड़ोसी-पड़ोसी उलाहना देते हैं कि– "तुम्हारे बच्चे गूंगे हैं, बहरे हैं, तब बहुत पीड़ा होती है। मैं क्या करूँ? भगवान् वृषभनाथ ने कहा– वे गूंगे और बहरे नहीं हैं, बल्कि तुम ही बहरे हो। भगवान् कैसे बहरे हैं हम? बहरे इसलिए कि उनकी भाषा तुम्हें ज्ञात नहीं। देखो तुम्हारे सामने ही वे हमसे बोलेंगे। उन्होंने कहा– सब लोग राजपाट में घुसते चले जा रहे हैं। झगड़ा तुम्हारे सामने है। कलह हो रहा है। भाई-भाई में लड़ाई हो रही है, इससे इनको वैराग्य हुआ। अतः सब कुछ छोड़कर सभी पुत्र भगवान् के पास चल दिये और कहा– हे प्रभो ! जो आपका रूप सो हमारा रूप, जो आपकी जाति सो हमारी जाति, बस हम, आपकी जाति में मिल जाना चाहते हैं। और ॐ नमः सिद्धेभ्यः कह पंचमुष्ठी केशलौंचकर बैठ गये। तब चक्रवर्ती भरत ने कहा– वे गूगें नहीं थे क्या? नहीं ! इन्हें जातिस्मरण हो गया था। इसलिए नहीं बोलते थे।

बन्धुओ ! मैं जातिस्मरण की बात इसलिए कह रहा हूँ कि कुछ आपको भी स्मरण आ जाए। जातिस्मरण की बात जिससे नारकियों के लिए सम्यग्दर्शन होता है। उन्हें वहीं पर वेदना के अतिरेक से भी सम्यग्दर्शन होता है। परन्तु मनुष्यों को ना

जातिस्मरण से और ना ही दुःख का अतिरेक होने से होता है। मनुष्य भव में तो जिनबिम्ब के दर्शन से, जिनवाणी सुनने/पढ़ने आदि से ही होता है। मनुष्य को जातिस्मरण और वेदनानुभव से सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता? तो आचार्यों ने कहा– वह जाति की ओर देखता है। लेकिन जो भव्य है, सम्यग्दृष्टि है वह उससे दूर रहता है। देखो भरत ! तुम्हारे पुत्रों को बोलने की शक्ति होते हुए मात्र पर्याय को देखकर तुम्हारे साथ बोलना पसन्द नहीं, बोलने की इच्छा नहीं उनकी, क्योंकि कामदेव के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं, आप, भाई के ऊपर चक्र चलाने वाले हैं। सर्वार्थसिद्धि से तो उतरे हुए हो और धार्मिक सीमा का भी उल्लंघन करते हो। दोनों तद्भव मोक्षमागी हो अतः कामदेव एवं चक्रवर्ती दोनों ही अन्त में फकीरी (मुनि पद) अपना कर मोक्ष को चले जाओगे। इसीलिए मन्त्रियों ने कहा– तुम दोनों ही लड़ो, हम देख लेते हैं, कौन पास होता है। चक्रवर्ती भरत तीनों मे फेल हो गये और चौथे में भी। युद्ध तो तीन ही थे चौथा कौन-सा था? चौथा यह था कि सीमा का उल्लंघन नहीं करना, धर्म युद्ध करना। उन्होंने उसका भी उल्लंघन कर चक्र का प्रयोग कर दिया। छोड़ा नहीं, कसर बाकी नहीं रही।

सर्वार्थसिद्धि से उतरे थे। तीनों के साथ अनुगामी अवधिज्ञान आया था। तीन में वृषभनाथ तो दीक्षित हो गये, लेकिन इन दोनों को अवधिज्ञान की कुछ याद भी नहीं, फिर जातिस्मरण तो बहुत दूर की बात रही। अपना धन, अपना ज्ञान, वर्तमान में हम कहाँ से आये है? यह तक पता नहीं है। यह ज्ञान होना चाहिए कि अपने परिवार पर चक्र का कोई प्रभाव नहीं होता। लेकिन बुद्धि भ्रष्ट हो गई, धन के, मान-प्रतिष्ठा के पीछे। किन्तु बाहुबली का पुण्य बहुत जोरदार था, इसलिए उसने परिक्रमा लगाई और रुक गया। इस प्रकार बाहुबली ने तीनों युद्धों में तो हरा ही दिया और चौथे में भी सबके सामने नीचा दिखा दिया।

इस सब रहस्य को देख, अविनश्वर आत्मा का ज्ञान उन सब बच्चों को हो गया। इसलिए बोले नहीं किसी के साथ। जब तक उम्र पूर्ण नहीं हो जाती, योग्यता नहीं आती तब तक के लिए मौन और बाद में दीक्षा ले ली। वृषभनाथ भगवान् ने ऐसा जब कहा तब कहीं चक्रवर्ती को ज्ञात हुआ कि यह भी सम्भव है। मैं तो यह सोचता हूँ कि पिताजी सम्यग्दृष्टि और चक्रवर्ती भी थे तो कम से कम पिताजी के चरण छू लेने चाहिए थे, लेकिन नहीं। अभी बहुत छोटे हैं, दूध के दांत भी नहीं टूटे, पर उन्होंने एक बात समझने योग्य कही– रागी के साथ हम बोलने वाले नहीं ! हम तो वैरागी-वीतरागी सन्तों के साथ बोलेंगे। यह बहुत अद्भुत परिणाम जातिस्मरण का है। इस कथा को सुनकर ऐसा लगने लग जाता है कि दूसरे को देखना बंदकर

केवल अपनी आत्मा की ओर लगना चाहिए। भीतर जो बात रहेगी वही तो फूटती हुई बाहर आयेगी।

एक बच्चा था। वह काफी बदमाश था। स्कूल नहीं जाता था, ऐसे ही घूम-फिरकर आ जाता था। एक दिन माता-पिता को पता चला कि यह दिन खराब करता रहता है अतः फेल हो जायेगा तो मास्टर को कहा– इसे प्रतिदिन उपस्थित रखो और अच्छी शिक्षा दो। वह बालक होशियार भी था और बदमाश भी। एक दिन मास्टर ने पूछा– ५ और ५ कितने होते हैं? उसने कहा– १० रोटी। ४.४ कितने होते हैं? ८ रोटी। ३.३ कितने होते हैं? ६ रोटी। साढ़े तीन-साढ़े तीन कितने? सात रोटी। तब मास्टर ने सोचा यह रोटी क्यों बोल रहा है? क्या खाना खाकर नहीं आया? या मम्मी ने रोटी नहीं खिलाई? मास्टर ने पूछा– क्या रोटी नहीं खाई? उसने कहा जी, नहीं खाई। मम्मी ने कहा है, तब तक खाना नहीं जब तक स्कूल से पढ़कर नहीं आते। इससे ज्ञात होता है कि वह ८ बोल रहा है, किन्तु रोटी नही भूल रहा है। हम समयसार की कितनी ही गाथाएं याद कर लें, लेकिन हमारे भीतर जो अभिप्राय है वह याद आता जाता है। हमारे अभिप्राय के अनुसार ही कदम बढ़ते हैं, दृष्टि भले ही कहीं हो। ब्रन्धुओ ! आप लोग "रिवर्स" में गाड़ी चलाते हैं, अब भले ही ड्राइवर सामने देख रहा हो, लेकिन सामने के दर्पण में जो पीछे का बिम्ब है उसे देखता है। देखने को तो लगता है कि दृष्टि सामने है परन्तु दृष्टि नियम से रिवर्स की ओर ही रहती है। इसी तरह हम दृष्टि भी इन विषयों से रिवर्स कर लें, कैसे हो, रिवर्स होना ही बड़ी बात है।

जब ऋषभनाथ के जीवन में घटना घटी तो उन्होंने अपनी दृष्टि को मोड़ लिया अपने-आप मे समेट लिया। सबको उन्होंने समाप्त नहीं किया, किन्तु अपने को समेट लिया। यह अद्‌भुत कार्य है। हम दुनिया को समेटकर कार्य करना चाहते हैं जो "ण भूदो ण भविस्सदि।"

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।।

भगवन् ! आप अपने पद से च्युत नहीं हुए। "ज्ञानी जीव अपने पद से च्युत नहीं होते यही उनका ज्ञानीपना है।" मात्र जानने वाले को ज्ञानी नहीं कहते। ज्ञानी का अर्थ अच्छा खोल दिया– जो राग नहीं करे, द्वेष नहीं करे, मोह नहीं करे, मद-मत्सर नहीं करे, समता का अभाव न हो। उन्हीं का नाम श्रमण है। वे श्रमण बन चुके, इसलिए अपने पद को कभी छोड़ेंगे नहीं। ऐसे अच्युत और सहिष्णु हैं कि कितने भी उपसर्ग आ जाए तो भी चलायमान नहीं होंगे। मोक्षमार्ग परिषह और उपसर्गों

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः"

मार्ग अर्थात् संवर मार्ग से च्युति-स्खलन न हो, गिरावट न हो इसलिए उपसर्ग और परीषह सहन करने की आदत/अभ्यास करना चाहिए। अब यह नहीं चलेगा कि, उष्णता आ गई तो पंखा खोल लिया या कूलर चला दिया। यहाँ पर न कूलर ही होगा और न ही हीटर। यहाँ पर तो सभी वातानुकूल है और बातानुकूल भी। दोनों अनुकूल हैं। गर्मी पड़े तो निर्जरा, नहीं पड़े तो निर्जरा। उपसर्ग हो। तो ज्यादा निर्जरा, नहीं हो तो भी निर्जरा। कोई प्रशंसा करे तो भी निर्जरा, निन्दा करते तो भी निर्जरा। कोई आवे तो भी निर्जरा, नहीं आवे तो भी निर्जरा। बड़ी अद्भुत बात हो गई। लोग आयें तो अच्छा लगता है, नहीं आयें तो अकेले कैसे बैठें? जो व्यक्ति भीड़ में रहने का आदि हो उसको यदि मीसा में बन्द कर दिया जाये तो उसकी स्थिति एकदम बिगड़ जायेगी। कही "वेट" कम हो जायगा या कुछ और ही हो जाएगा। लेकिन जिसे मीसा में ही रहने की आदत हो गई है वह तो पहलवान होकर निकलेगा।

हमारे ऋषभनाथ का हाल भी इसी तरह का है कि उन्हें अब मीसा में बन्द करो या किसी अन्य में, उन्हें तो भीतर "पीस" है। आनन्द-सुख-शान्ति-चैन, सब कुछ अन्दर है। मैं अकेला हूँ तब बन्द करो या कुछ और, मुझे चैन ही मिलेगी ऐसा सोचते हैं। बड़ी अद्भुत बात है, कहीं भी चले जायें, कैसी भी अवस्था आ जाए, **कैसा भी कर्म का उदय आ जाय, अब अनुकूल हो या प्रतिकूल। बल्कि विश्वास तो यह है कि अब नियम से कूल-किनारा मिलेगा। इसी को कहते हैं श्रामण्य। श्रमणता पाने के उपरान्त किसी भी प्रकार की कमी अनुभूत नहीं होना चाहिए। मात्र ज्ञान से पूर्ति करता रहता है। समयसार के संवराधिकार में कहा है–**

जह कणयमग्गितवियं पि कणयसहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी दु णाणित्तं।।

ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, भले कितने कर्म के उदय कठोर से कठोरतम क्यों न आयें। जिस प्रकार कनक को आप कैसे भी तपाते जाए, तपाते जाए, वह सोना और भी दमकता चला जाता है। वह अपने कनकत्व को, स्वर्णत्व को नहीं छोड़ता। जयसेनस्वामी ने तो इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि– "पाण्डवादिवत्"। कौन पाण्डव? जो पाण्डव वनवास में भेजे गये थे, वे क्या? नहीं, नहीं। वे जो स्वयं अपनी तरफ से वनवास में आये थे, अर्थात् मुनि बनकर आये है और उनके शरीर पर तपे हुए लोहे की जंजीरें डाल दीं गई, फिर भी शान्त है। ऐसे "पाण्डवादिवत्"। रत्नत्रय में भी तप के बिना चमक नहीं आती, रत्नत्रय को

तपाना आवश्यक है। उसी से मुक्ति मिलती है। तपाराधना से ही मुक्ति मिलती है। रत्नत्रय से नहीं जैसे– हम हलुवा बनाते हैं तो, मिश्री हो, आटा हो और घी हो। उन्हें अनुपात में मिला दो। उसमें और कुछ भी मिलाना हो तो मिला दो। लेकिन अभी हलुवा नहीं बनेगा। कब तक नहीं बनेगा? जब तक की नीचे से अग्नि का उसे पाक नहीं मिलेगा। ज्यों ही अग्नि की तपन पैदा होगी त्यों ही तीनों चीजें मिलने लगेंगी और मुलायम हलुवा तैयार हो जाएगा। इसी तरह रत्नत्रय रूप में तीनों जब तक भिन्न-भिन्न रहेंगे और तप का सहारा नहीं लेंगे तो ध्यान रखिये ! कोटिपूर्व वर्ष तक भी चले जाए तब भी मुक्ति नहीं होगी। होगी तो तप से ही।

अभी एक बात पण्डित जी ने कही थी कि अन्तर्मुहूर्त में भरत चक्रवर्ती को केवल ज्ञान पैदा हो गया। बात बिल्कुल ठीक है, परन्तु मुक्ति क्यों नहीं मिली अन्तर्मुहूर्त में उन्हें? एक लाख वर्ष तक उन्हें तप करना पड़ा। जितनी तपस्या ऋषभनाथ ने की उतनी ही तपस्या भरतचक्रवर्ती ने की। अभी-अभी वाचना (खुरई मे) चल रही थी, उसमे भग आया था कि "अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान भले ही हो जाए परन्तु मुक्ति नहीं मिलती।" इसका अर्थ है कि केवलज्ञान अन्तिम स्टेज नहीं है, अन्तिम मंजिल नहीं है। वह तो एक प्रकार से बीच स्टेशन है जिसके उपरान्त मंजिल है। **केवलज्ञान यदि उपाधि नहीं तो वह बीच में अवश्य मिलेगा। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी तो मोक्षमार्ग पूर्ण नहीं होता। इसलिए मुक्ति देने की क्षमता केवलज्ञान में नहीं। जिसके द्वारा मुक्ति मिलती है उसे उपादेय मानिये। मात्र तपाराधना के द्वारा मुक्ति होती है। वह अन्तर्मुहूर्त में मंजिल तक पहुँचा देती है। देखिये !** भरत रह गये, ऋषभनाथ भी रह गये, परन्तु बाहुबली केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्वप्रथम मुक्ति के उद्घाटक बने। इस युग के आदि में पिताजी और भाई से पहले, आगे जाकर दरवाजा खोल कर बैठ गये। बाद में पिताजी आये और भरत भी।

एक मजे की बात तो यह रही कि ऋषभनाथ भगवान् को भी बाहुबली के सिद्ध स्वरूप का चिन्तन करना पड़ा। भरत को भी करना पड़ा। जिसका जैसा पुरूषार्थ होता है उसको वैसा ही फल मिलता है। इसलिए हमारा लक्ष्य मंजिल का है, स्टेशन का नहीं। जैसे दिल्ली जाने के लिए तो आगरा भी एक स्टेशन आयेगा जो मंजिल नहीं है, मंजिल के निकट अवश्य है पर उससे भी आगे जाना है दिल्ली अन्तिम स्टेशन एवं मंजिल के रूप में होगा। दिल्ली पहुँचते ही उतर जाइये और मस्त हो जाओ साथ ही यह देखते रहें कि पीछे क्या-क्या हो रहा है। गजकुमार स्वामी जैसों के उदाहरण हमारे सामने हैं। वह बालावस्था में जब मात्र बारह वर्ष के थे, गोद में बैठने की क्षमता रखते थे। उस समय मात्र अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति पा गये। वह भी

केवलज्ञान, प्राप्त कर लेते हैं। हां ! अन्तर्मुहूर्त में सब कुछ काम हो जाता है। एक और बड़ी बात कही गयी है कि जिसने आज तक त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की, जिसे वेद की वेदनाओं का अनुभव नहीं, अभी निगोद से निकलकर आ रहा है और आठ साल का होते ही मुनिवर के व्रत ले अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति प्राप्त कर लेता है– ऐसा आगम का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख अनन्त की संख्या में हैं, कोई भी अन्त वाला नहीं। अर्थात् ऐसे पुरुषार्थशील प्राणी अनन्त हो गये और होंगे। बस, अब हमारे नम्बर की बात है। इसी की प्रतीक्षा में हम हैं। हमें भीतरी पुरुषार्थ जागृत करना है। भीतर कितनी ऊर्जा शक्ति है? इसका कोई भी मूल्यांकन हम इन छद्मस्थ आँखों से नहीं कर सकते। इसे प्रकट करने में भगवान् ऋषभनाथ लगे हुए हैं। वे सोच रहे है कि– कोई भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल अवस्था आ जाये, मेरे लिये सभी कुछ समान है। उनका चिन्तन चल रहा है।

बाहर यह
जो कुछ दीख रहा है
"सो" मैं नहीं हूँ
और वह मेरा भी नहीं है
ये आखें
मुझे देख नहीं सकती
मुझमें देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा हूँ
सभी का मैं दृष्टा हूँ !!

बहुत सरल-सी पंक्तियां है, लेकिन इन पंक्तियों में बहुत सार है – यह जो कुछ भी ठाट-बाट दिख रहा है वह "मैं नहीं हूं" और वह "मेरा भी नहीं"। ऐसा हो जाए तो अपने को ऋषभनाथ बनने में देर न लगे। लेकिन बन नहीं पा रहा है। क्यों नहीं बन पा रहा है? भीतर से पूछो, भीतर की बात पूछो, क्यों नहीं हो पा रहा है। ऋषभनाथ कहते हैं– **तू तटस्थ होकर देख। देखना स्वभाव है, जानना स्वभाव हैं लेकिन चलाकर नहीं, चलाकर देखना राग का प्रतीक है। जो हो रहा है उसे होते हुए देखिये-जानिये।**

एक व्यक्ति जिसको वैराग्य का अंकुर पैदा हुआ है। पर अतीत में बहुत कुछ घटनाएं उसके जीवन में घटी थी। उन सबको गौण कर वह दीक्षित हो गया। दीक्षा लेने के उपरान्त एक दिन का उपवास रहा। अगले दिन चर्या को निकलने वाला था तो गुरुदेव ने कहा– चर्या के लिए जाना चाहते हो? जाओ ठीक है। पर ध्यान

रखना ! हां........हां आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी जो आज्ञा। वह जो सेठ हैं, उन्हीं के यहाँ जाना है। उनका नाम भी बता दिया गया। पर ! ....वहाँ महाराज? हां, मैं कह रहा हूँ। वहीं जाना है, अन्यत्र नहीं जाना। पसीना आने लगा नवदीक्षित साधु को, लेकिन महाराज की आज्ञा। अब क्या करें ! वह चल दिया। एक-एक कदम उठाते-उठाते चला गया, उसके घर की ओर। वह सोच रहा है– जिसके लिए मैं जा रहा हूँ। वह सम्भव नहीं। अभी भी कुछ बदला भोगना होगा। यह बात उसके दिमाग में गहरे घर करती जा रही है। फिर भी वह उसके सामने तक पहुँच गया। उस सेठ ने दूर से ही मुनि महाराज को देखकर सोचा धन्य है हमारा भाग्य !..... .... नमोऽस्तु.......नमोऽस्तु महाराज ! आवाज तो उसी सेठ की है, बात क्या है, क्या उसके स्थान पर कोई अन्य तो नहीं, दीखता तो वही है। उसी के आकार-प्रकार, रंग-ढंग जैसा है। जैसे-जैसे महाराज पास गये वैसे-वैसे वह सेठ और भी विनीत होकर गद्‌गद् हो गया। उसके हाथ कांपने लगे। सोच रहा है– विधि में कहीं चूक न हो जाये, गलती न हो जाय। उधर सेठ नमोऽस्तु........नमोऽस्तु नमोऽस्तु बोल, तीन प्रदक्षिणा लगाता है। इधर महाराज सोचते हैं कि– यह सब नाटक तो नहीं हो रहा है। क्योंकि इसके जीवन में यह संभव नहीं। मैं तो गुरु-आज्ञा से यहाँ आया हूँ। अन्यत्र जाना नहीं है। झूठ बोल सकने की अब बात ही नहीं, विधि तो मिल गई और पड़गाहन (प्रतिग्रहण) भी हो गया अब......। महाराज ! मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, आहार जल शुद्ध है। महाराज गृह-प्रवेश कीजिए, भोजनशाला में प्रवेश कीजिए - कांपते-कांपते सेठ ने कहा। मुनिराज सोच रहे थे कि यह कैसा परिवर्तन हुआ, जीवन के आदि से लेकर अभी तक के इतिहास में ३६ का आकड़ा था। लेकिन यहाँ तो ३६ का उल्टा ६३ हो गया, यह कैसे, अभी तक वह ३६ का काम करता था, पर अब ! यह ६३ शलाका पुरुषों का ही चमत्कार है। उसने अपने को ६३ शलाका पुरुषों के चरणों में जाकर के अर्थात् तीर्थंकर आदि के मार्ग पर चलने के लिए संकल्प कर लिया परिवर्तन कर लिया। और लिंग बदलते ही उसका जो बैर जन्मतः था, भव-भव से था वह टूट गया। किन्तु मुनिराज को अभी इस बात का ज्ञान नहीं था। वह सोच रहे थे कि– सम्भव हो अभी वह बैर भाव मेरे साथ बदला ले ले। लेकिन नहीं ! सेठ ने नवधा भक्ति के साथ आहार करवाया और आहार के बाद पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा व कहा– मैंने गलती की, माफ करिये, माफ करिये। मैं भीतरी आत्मा की छवि को नहीं देख पाया था। भीतर ही भीतर ऐसा एक परिवर्तन अब हुआ। मैं बिल्कुल पर्याय बुद्धि अपनाता चला गया। आत्मा की ओर मेरी दृष्टि ही नहीं गई। अब मुनि महाराज कहते हैं कि– यह दृष्टि

मेरी नहीं है भैय्या ! मैं तो भगवान् के पास गया था। उनकी शरण में जाने की ही कृपा है कि मुझे इस प्रकार की दिव्य-दृष्टि मिली। माफी तो हम दोनों मिलकर वहीं पर मागेंगे। चलो ! तुम भी चलो साथ उनके चरणों में। वहाँ पहुँचने पर महाराज बोलते है क्यों भैया ! मुलाकात हो गई? मुलाकात क्या, अब यह मुलाकात कभी मिटने वाली नहीं है। कारण, बैर भाव जो चलता है वह केवल पर्याय-बुद्धि को लेकर चलता है, यह समझ में आ गया।

आप लोग तो रामायण की बात करते होंगे, लेकिन मैं तो रावणयात्रा की बात करता हूँ। रावण, राम से भी दस कदम आगे काम करने वाला है। ये हलधर थे, तो वे तीर्थंकर बनेंगे। ऐसे तीर्थंकर होंगे सीतारानी का जीव स्वयं गणधर बनेगा। जितना विप्लव दोनों ने मिलकर किया था, उससे कहीं अधिक शान्ति धरती पर करके मोक्ष चले जाएंगे। लक्ष्मण का जीव भी तीर्थकर बनेगा, सीता की जीव बीच में कुछ पर्याय धारणकर गणधर परमेष्ठी बनेगा। रावण की "ब्राडकास्टिंग" करने गणधर बनकर बैठेगा। अब सोचिये। भव-भव का वह बैर कहाँ चला गया। संसारी प्राणी अतीत की ओर और अनागत की ओर नहीं देखता है इसके सामने तो एक वर्तमान पर्याय ही रह जाती है। प्रागभाव को भी देखा करो, प्रध्वंसाभाव को भी देखा करो और तद्भाव को भी देखा करो, तभी भव-भव का नाता टूट जाएगा। ऐसा भव प्रादुर्भूत हो जायेगा कि जिसका दर्शन करते ही अनन्तकालीन कषाय की शृंखला टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगी। कितना सुन्दर दृश्य होगा, रावण के भविष्य का उस समय, जब रामायण अतीत का दृश्य हो जाएगा। एक बार चित्र देखा हुआ, यदि दुबारा देखते है तो रास नहीं आता। जो नहीं देखा उसके बारे में बहुत भावना उठती है।

आश्चर्य की बात यह है कि भव-भव में बैर पकड़ने वाले ये जीव एक स्थान पर ऐसे बैठकर सब लोगों को हित के मार्ग का दर्शन देकर आदर्श प्रस्तुत करके मोक्ष चले जायेंगे।

इस प्रकार की घटनायें (रावण-सीता-राम जैसी घटनाएं) पुराणों में अनन्तों हो गई, भविष्यत् काल में अनन्तानन्त होंगी। जब अतीत काल की विवक्षा को लेते हैं तो अनन्त की कोटि में कहते हैं और अनागत की अपेक्षा से अनन्त नहीं, बल्कि अनन्तानन्त कहा जाता है। राम-रावण-सीता जैसी घटनाओं में कभी आप भी राम हो सकते हैं, कभी रावण और भी कुछ हो सकते हैं। नाम तो पुनः पुनः वही आते जाते हैं। क्योंकि शब्द संख्यात है और पदार्थ अनन्त। "फलाचंद" नाम के कई व्यक्ति हो सकते हैं। इसी सभा में १०.२० मिल सकते हैं। सागर सिटी में ५०.१०० मिल

सकते है। उस समय यदि किसी की दानराशि, उसी नाम वाले से मांगे तो घांटाला हो जाएगा। अब क्या करें? बोली किसने ली थी क्या पता? इसलिये सागर में भी मुहल्ला एवं अपने पालक का भी नाम बताओ? अर्थात् शब्द बहुत कमजोर हैं। शब्द के पास शक्ति नहीं और ना ही अनन्त है। इसलिए इन सब बातों को भूल जाओ। अभावों में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्या था यह ज्ञात हो गया।

महाराज सोचते हैं कि– वह बैर भाव अभी रह सकता है क्या? नहीं ! लेकिन लिंग (भेष) न बदलता तो संभव भी था। क्योंकि सजातीयता थी। लेकिन ज्यों ही मुनिलिंग धारण किया और मुद्रा लेकर चले, त्यों ही उस व्यक्ति के साथ जो बैर चल रहा था, जाता रहा। उसने सोचा– अब यह वह व्यक्ति नहीं, किन्तु इसका सम्बन्ध तो अब महावीर प्रभु से हो चुका। यह लिंग घर का नहीं है। इसलिए जिनलिंग देखने के उपरान्त समता आ जाती है। **किसी व्यक्ति विशेष का लिंग नहीं है यह। किसी व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं है जैनशासन में। किसी एक व्यक्ति का शासन नहीं चल सकता। किसी की धरोहर नहीं। यह तो अनादिकाल से चली आ रही परम्परा है और अनन्तानन्तकाल तक चलती रहेगी।** मात्र नाम की पूजा नहीं, नाम के साथ गुणों का होना आवश्यक है। स्थापना निक्षेप में यही बात होती है– "यह वही है" इस प्रकार का ऐक्य हो जाता है। अर्थात् यह वृषभनाथ ही हैं। इसमें और उसमे कोई फर्क नहीं। इस तरह का "बुद्ध्या ऐक्यं स्थाप्य" बुद्धि के द्वारा एकता का आरोपण करना, जैसा कि कल ही पण्डित जी कह रहे थे– "यह प्रतिमा नहीं भगवान् हैं, ऐसी ताकत होती है। तब कहीं वह बिम्ब सम्यग्दर्शन के लिए निमित्त बन सकता है, नहीं तो वह अभिमान का भी कारण है। इसीलिए किसी व्यक्ति को स्मरण में न लाकर उसे प्रागभाव की कोटि में ले जाइये। यदि प्रागभाव की कोटि में चला गया तो उसका क्षय हो चुका। इसीलिए अब उस व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध नहीं। उस भाव और इस भाव के बीच मे अन्तर हो गया है। वह तब राग के साथ सम्बद्ध था, पर अब वीतरागता से संबद्ध। "जो व्यक्ति इस प्रकार के लिंग को देख करके, उनकी पूजा-अर्चा नहीं करता, उनके लिए आहारदान नहीं देता तो उसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड में कहते हैं–

सहजुप्पणं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवदि एसो।।

कितनी गजब की बात कही है आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने - सम्यग्दर्शन और **मिथ्यादर्शन को एक दर्पण के सामने लाकर रख दिया है। "फेश इज दा इन्डेक्स आफ दा हार्ट" हृदय की अनुक्रमणिका मुख-मुद्रा है। हृदय में क्या बात है यह मुख**

के द्वारा समझ लेते है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि अभी भी तुम्हारी दृष्टि में बैर भाव है। अभी भी वह सेठ है। पर्यायबुद्धि है तेरी। तेरी दृष्टि में वीतरागता नहीं आ रही हैं। वीतरागता किसी की, अथवा घर की नहीं होती, न इसे चुराया जा सकता है और न किसी की बपौती है। नग्नत्व ही उसका साधन है। भगवान् महावीर या वृषभनाथ भगवान् और भी जिनको पूजते हैं उनका लिंग है। कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा - यथाजातरूप भगवान् महावीर और इस लिंग में कोई अन्तर नहीं है। इसको देखकर जो व्यक्ति मात्सर्यादिक भावों के साथ वन्दना आदि नहीं करता है। वह मिथ्यादृष्टि हैं। यह ध्यान रखिये ! यथाजातरूप होना चाहिए, क्योंकि वे ही जो छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती हैं वे ही आपके घर तक आहार के लिए आ सकते हैं, अन्य नहीं। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन है वह जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा और जिनेन्द्र भगवान् को देखते ही सब पर्यायों को भूल जाता है। यह मेरा बैरी था, मित्र था, पिताजी थे, मेरे भाई थे या और कोई अन्य सम्बन्धी, अब कोई सम्बन्ध नहीं, सब छूट गया। इस नग्नावस्था के साथ तो मात्र पूज्य-पूजक सम्बन्ध रह गया है। इसके उपरान्त भी अतीत ही ओर दृष्टि चली जाती है, रागद्वेष हो जाते हैं, परिचर्या में नहीं लगता है तो कुन्दकुन्दस्वामी ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा। आगे दूसरी गाथा में कहते हैं –

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।

अमरों के द्वारा जो वन्दित है, उस पद को तथा शील सहित व्यक्ति को देखकर भी जो गर्व करता है, उसका तिरस्कार करता है तो वह सम्यग्दर्शन से कोशों दूर है। ऐसा नहीं है कि एक बार सम्यग्दर्शन मिल गया फिर पेटी में बन्द कर, अलीगढ़ का ताला लगाकर ट्रेजरी में बंद कर दें। कहीं हिल न जाए। आचार्य कहते हैं कि - ऐसा नहीं है, अन्तर्मुहूर्त में ही कई बार उलट-पलट हो सकता है। भीतर के भीतर माल "पास" हो सकता है। ताला ऊपर रह जाये और माल भीतर से "सप्लाई" हो जाये। भीतर परिणामों में उथल-पुथल होता रहता हैं। यह सब पुण्य और पाप की बात है। इसी अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने एक जगह लिखा - "बाहुबली, सर्वप्रथम द्रव्यलिंगी की कोटि में हैं। बड़ी अद्भुत बात है। सर्वार्थसिद्धि से तो आये हैं और मुनि भी बने, फिर भी द्रव्यलिंगी की कोटि में उनको रखा। यह मात्र दृष्टि की बात है। बात ऐसी है कि -वर्द्धमान चारित्र वाला छट्ठे-सातवें गुणस्थान में तो परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसका वर्द्धमान चारित्र नहीं है वह व्यक्ति नीचे गिरकर छट्ठे से पांचवे में भी आ सकता है,चौथे में आ सकता है और क्षायिक

सम्यग्दृष्टि नहीं हैं तो प्रथमगुणस्थान तक आ सकता है। ऐसे भी भंग आगम में बनाये गये हैं। उन्होंने कहा - एक व्यक्ति क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ मुनिपद को अपनाता है, सातवें गुणस्थान को छू लेता है और अन्तर्मुहूर्त में छट्ठे में आ जाता है। फिर चतुर्थ गुणस्थान में आकर आठवर्ष और कुछ अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष व्यतीत कर सकता हैं।

धवला पढ़िये ! उसका अध्ययन करिये तब ज्ञान होगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो है पर असंयमी हो गया, अब कैसे आहार दान दें? परिचर्या कैसे करें? हो सकता है देने वाला पंचमगुणस्थानवर्ती हो और लेने वाले मुनि महाराज चौथे गुणस्थानवर्ती। यहाँ ध्यान रखिये मुनिलिंग की पूजा की जाती है। भीतर रत्नत्रय हैं या नहीं, यह आपकी आंखों का विषय नहीं। अब हम पूछते हैं कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी उसे ऊपर क्यों नहीं उठाया। जबकि अभी भी दिगम्बरावस्था है। जब सम्यग्दर्शन है तो चारित्र भी सम्यक् होना चाहिए। छट्ठे-सातवें गुणस्थान को छूना चाहिए। पर नहीं होता है। इसका कारण, भिन्न-भिन्न शक्तियों की सीमायें, लक्षणों और गुणों की सीमायें ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के कारण भी आगे नहीं बढ़ पाता। उसकी विशुद्धि इतनी घट गई कि ऊपर से तो मुनिलिंग की चर्या का अनुपालन करता हुआ पूर्वकोटि वर्ष तक सम्यग्दृष्टि बना रह सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं है वह लेते समय छट्ठे-सातवें गुणस्थान में था और अन्तर्मुहूर्त में ही मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गया। अब क्या करें ? क्या आप आहार देना बंद कर देंगे ? उसे कपड़े पहनना चाहिये क्या ? "अरे ! यदि कपड़ा नहीं पहनता तो धोखाधड़ी कर रहा है" ऐसा कहना बिल्कुल गलत है। ऐसा नहीं कहना चाहिए। यहां धोखाधड़ी करने की बात ही नहीं। सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं की बांध के रख लिया जाये। क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी छट्ठे-सातवें गुणस्थान से नीचे उतरना पड़े। हां ! यह तो अवश्य है कि चारित्र बांधा जा सकता है किन्तु भीतरी परिणामरूप चारित्र को नहीं बांधा जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म की भी अपनी शक्ति है। उसकी शक्ति के सामने किसी का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता।

द्रव्यलिंगी कहने से मिथ्यादृष्टि को ही नहीं लेना चाहिए। कारण, बाहुबली मिथ्यादृष्टि होने वाले नहीं। सर्वार्थसिद्धि से क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ आये थे। इसी प्रकार की कई बातें राम के जीवन में आती हैं। भूमिका के अनुसार जब-जब कर्मों का उदय आता है तब-तब उसकी चपेट से आत्मा के कैसे परिणाम होते हैं। उसे कहा है - कोउ-कोउ समै आत्माने कर्म दावे छे, कोउ-कोउ समै आत्मा कर्मने

दावे छे। अर्थात् कभी-कभी आत्मा कर्मों को दबाता है और कभी-कभी कर्म, आत्मा को दबाते हैं। यह कस्समकस्सा चलता रहता है। अन्त में जीत आत्मा की ही होगी। यह चलना भी चाहिए। मानलो, मैदान में दो कुश्ती खेलने वाले आ गये। एक मिनिट में ही एक गिर गया (चित्त हो गया) तो लोग कहते हैं कि मजा नहीं आया। कुछ दांव-पेंच होना चाहिए था। जब सारा का सारा बदन लाल हो जाए, २.३ बार गिर-उठकर एक बार चित्त करें तो - वाह...वाह ! कमाल कर दिया, कहेंगे। क्योंकि हमें आनंद तभी आता है। उसी प्रकार जब जाना ही है इस लोक से तो करामात कर दिखाने से नहीं चूकना चाहिए। कर्मों ने अनन्तकाल से इसको दबाये रखा, अब एक बार ऐसी सन्धि आयी है कर्मों को दबाने की। एक बार में ही न दबा दें बल्कि दबाते रहे-दबाते रहें, जब बिल्कुल लतफत हो जाये, कहे - मैं भाग जाऊँगा, चला जाऊँगा - ऐसा कर दो अपने आत्मा के बल से। जब सम्पूर्ण बल खुलकर सामने आयेगा तो सभी कर्म भागते फिरेंगे। तभी वीतरागता प्राप्त होगी।

वीतराग और अराग में क्या अतंर है? यह जो पृष्ठ, कागज का है यह अरागी है और भी जितनी भी वस्तुएं देखने में आ रही हैं वे सभी अरागी हैं, जड़ हैं, किन्तु चेतना वाले जीव ही कुछ रागी और कुछ वीतराग होते हैं। जिसके पास राग था, उसका अभाव करने से वीतरागता आती है। हमें अरागी नहीं वीतरागी बनना है।

आप लोग भी तो वीतराग हैं लेकिन कैसे ? "आत्मानं प्रति रागो यस्य न वर्तते इति वीतरागः" आत्मा के प्रति जिसका राग नहीं है वह भी वीतराग है और जिसकी आत्मा में राग नहीं वह भी वीतराग है। आपको आत्मा के प्रति राग न होते हुए भी आप सरागी माने जाते हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न जो अन्य वस्तुएं हैं उन सबके प्रति आपको राग है। **आप कहते तो हैं- यह भिन्न हैं, यह भिन्न हैं, लेकिन थोड़ी भी प्रतिकूल दशा आ जाये तो खेद-खिन्न हैं। यह पर है, यह पर है - फिर भी उसी में तत्पर हैं। यह सब नाटक क्या है**?

जब नये दीक्षित श्रमण ने महाराज के चरणों में नमन किया तो महाराज ने कहा - क्यों क्या बात है, निकल गया पूरा का पूरा कांटा ? महाराज ! आपने तो अच्छी संधि पकड़ी, हृदय की बात जान ली। भैय्या ! हम हृदय की बात जानते हैं बाद की बात नहीं। किसी और के पास नहीं पहुँचना था, क्योंकि सबके प्रति तुम्हारे क्षमा भाव हैं। जहाँ बैर नहीं वहाँ क्षमा भाव हैं। अब तुमने दीक्षा ले ली, लेकिन जिसके साथ तुम्हारा बैर-भाव था, वह निकला कि नहीं ? भीतर रहना नहीं चाहिए। उसको तुम्हीं टटोलो, और कहाँ पर ? वहीं पर जाकर। उसमें अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए उस श्रावक के, इस लिंग (जिनलिंग) को देखने मात्र से निष्ठा पैदा

हो गयी कि इस प्रकार का बैर रखने वाले भी मेरे आंगन तक आ सकते हैं। मान का पूरा का पूरा हनन। जो राजा था, दूसरों पर सत्ता रखता था, सब कुछ करता था, वही आज यूं हाथ पसारकर आया है। यह भीतर की अग्नि-परीक्षा है। "जो दिया जाय वह लेना'' बहुत ही कठिन व्रत है। उसमें अपनी मांग नहीं होना, बहुत कठिन है।

एक बार, सागर में वाचना चल रही थी, तब आचार्य गुणभद्र का संदर्भ देते हुए कहा था कि - श्रावक का पद कभी भी बड़ा नहीं होता, मात्र दान के अलावा। जिस समय उसके सामने तीन लोक के नाथ भी हाथ करते हैं, उस समय श्रावक को अपूर्व आनंद होता है और उसी आनंद के साथ अपना हाथ यूं करता है(दान देता है)। तब हमने कहा - बात तो बिल्कुल ठीक है, परंतु हाथ कांपते किसके हैं? देने वालों के ही हाथ कापते हैं, लेने वालों के नहीं। क्यों कांपते हैं ? क्योंकि देने वाला दे तो रहा है परंतु क्या पता, कैसे हो जाए, इसीलिए कांपते हैं। लेकिन महाराज निर्भीकता के साथ लेते हैं।

बंधुओ ! राजा हो या महाराजा, जब तक राजकीय मान सम्मान है तब तक तीन लोक का नाथ नहीं बन सकता। चाहे कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न कर लें। इसीलिए वृषभनाथ ने दीक्षा ली। इसका अर्थ यही है कि उनके पास भीतर बैठी हुई, क्रोध, मान, माया, लोभ भले ही अनन्तानुबंधी न हो पर शेष सभी कषाय तो विद्यमान होगी। इनका जब तक क्षय होगा तब तक उदयावली से उदय में आकर इनका कार्य देखा जा सकता है। वर्धमानचारित्र वालों को भी हो सकता है परंतु वह संज्वलन होगा। अतः उसको भी जीतने के लिए बार-बार प्रयास करना, और जो कर रहे हैं वे धन्य हैं। समयसारकलश में एक स्थान पर लिखा है -

बहती रहती कषाय नाली, शान्ति-सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी, वहीं प्यारकर मुक्ति-रमा मन हरती हैं।
तीन लोक भी आलोकित है अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुततम महिमा आतम की जय शीला है।

वहीं पर कषाय नाली है, वहीं अमृत का झरना। वहीं तीन लोक, वहीं मुक्तिरमा। वहीं पर तीनों लोको को आलोकित करने वाला अद्भुत-दिव्य-ज्ञान, लेकिन यह अतिशय लीला चेतना की ही है। धन्य हैं वे मुनिराज और उनकी चेतना, जो दीक्षा लेने के उपरान्त कषाय रहते हुए भी, कषाय नहीं करते हैं। कषाय चले जाने के बाद हमने कषाय जीत ली, ऐसा नहीं। जैसे - रणांगन में शत्रु के सामने कूदना ही कार्यकारी है। जब बैरी भाग जाए, उस समय कूदें तो क्या मतलब। शत्रु के सामने

हाथ में तलवार हो और ढाल तथा छाती यूं करके रणागन में कूद कर किये गये प्रहार से बच, संधि पा अपनी तलवार चलाने से काम होता है। **उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य रूपी ढाल को अपने हाथ में लेकर, ज्ञान की तलवार चलाने से अनन्तकालीन कर्म की फौज जो कि भीतर बैठी है, छिन्न-भिन्न हो जाती है।** बस अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है। हमें जितना भी पुरुषार्थ करना है वह मात्र मोह को जीतने के लिए ही करना है। मोह को जीतने पर ही विजय मानी जायेगी अन्यथा कोई मतलब नहीं। कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं।

उस श्रावक को भी ऐसा ज्ञान हो गया, कि भगवान् ! इनके साथ जो बैर था, जो गांठ पड़ गयी थी वह कभी खुलेगी, यह संभव नहीं लगता था। कम से कम इस भव में तो कतई संभव नहीं लगता था। उस पर्याय का प्रध्वंसाभाव हो गया जिससे कि हमारी गांठ बंधी थी। अब मुनिलिंग आ गया, मुनिलिग प्राप्त होते ही मेरे भीतर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं आये। कारण कि वे वीतराग होकर आये थे रागी-द्वेषी होकर नहीं। यदि हमारे सामने कोई वीतरागता के साथ आते हैं तो हमें भी वीतराग भाव की उपलब्धि होगी और यदि मान दिखाते हैं तो हमारे भीतर भी मान की उदीरणा हो जाती है। सामने वाला व्यक्ति मान नहीं दिखाता तो हमारा भी मान उपशान्त हो जाए। जैसे - सिंह देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मेरी ओर किस दृष्टि से देख रहा है, यदि लाल कटाक्षों से देखता है तो सिंह भी इसी प्रकार से कर लेता है। यदि वह शान्तरूप से चलता है तो सिंह भी शान्त मुद्रा से चला जाता है।

एक बार की बात। दो संत जंगल से चले जा रहे हैं, उधर से एक सिंह भी आ गया। सिंह का देखकर दोनों को थोड़ा-सा क्षोभ हो गया अब क्या होगा, क्या पता ? आजू-बाजू खिसकने के लिए कोई स्थान नहीं था। अब क्या करें? अब तो वह जैसा आ रहा है, वैसे ही हम चलें। रुकने से क्या मतलब ? जो करना हो कर लेगा। इसलिए चलने में कोई वाधा नहीं। बस, उस तरफ नहीं देखना है। ईर्यापथ से चलना है। नीचे देखते हुए दोनों चले गये। बीच में से वह भी क्रास कर चला गया। सिंह इधर चला गया और वे उधर। कुछ दूर जाकर इन लोगों ने मुड़कर देखा तो उसने भी देखा कि कहीं कोई प्रहार तो नहीं। दोनों शान्त चले गये और सिंह भी चला गया।

बंधुओ ! कषाय-भाव की दूसरों को देखकर भी उदीरणा होती है। इसलिए बहुत सम्भल कर चलने की बात है। कषायवान् के सामने जाने से कषाय की उदीरणा बहुत जल्दी हो जाया करती है। जिस प्रकार अग्नि को ईधन के द्वारा बल मिल जाता

है उसी प्रकार कषायवान् व्यक्ति **के सामने कोई कषाय करता है तो उसको बहुत** जल्दी कषाय आती है।

एक छोटा-सा लड़का मां की गोद में बैठा है। मां दूध पिलाती-पिलाती आंखें लाल कर ले तो वह दूध पीना छोड़कर देखने लग जाता है, कि क्या मामला है? गड़बड़-सा लगता है, तो मुंह का भी दूध वहीं छोड़ देगा। ज्यादा विशेष हो गया तो वह वहाँ से खिसकने लगेगा। लेकिन ज्यों ही चुटकी बजाकर प्यार दिखाया तो फिर पीने लगेगा। इसका मतलब यही हुआ कि दूसरों की कषाय समाप्त करना चाहते हो तो हमें भी उपशान्त होते चले आना चाहिए।

अतृणे पतिता वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति

जहाँ पर तृण नहीं। घास-पूस नहीं है वहाँ पर धधकती एक अग्नि की लकड़ी भी रख दो तो वह भी पांच मिनिट में समाप्त हो जाती है। ईंधन का अभाव होते ही शान्त हो जाएगी। इसी तरह हमारे पास कषाय है वह शान्त होते ही अपने आप शान्ति आ जाएगी। जब तक ईंधन का सहयोग मिलेगा ईंधन पटकते रहेंगे वह बढ़नी जायेगी। **उपशम भाव ही हमारे लिए अजेय और अमोघ अस्त्र है। इस अमोघ अस्त्र के द्वारा दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को जीतकर चलना है।**

जैसे आदिनाथ ने आज दीक्षा अंगीकार कर ली। ऐसे श्रमणत्व को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। ऐसा श्रमणत्व हम लोगों को भी मिले ऐसी भावना करनी चाहिए। अतीत में कितनी भी कषाय हो गई हो। उसकी याद नहीं करनी चाहिए। अनागत की ''प्लानिंग'' भी नहीं करनी चाहिए। यह सब पर्याय बुद्धि है। आप तो प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को घटाकर देख लीजिए सारा माहौल शान्त हो जायेगा।

एक वीरत्व की बात याद आ गई, वह और आपके सामने रख देता हूँ ताकि आप भी उसका उपयोग कर सके -

कौन कहता है कि आसमां में सुराख नहीं हो सकता।
एक पत्थर तो दिल से उछालकर देखो यारो।।

याद रखिये ! आत्मा के पास अनन्तशक्ति है। इस शक्ति का उपयोग कषायों के प्रहार करने के लिए कीजिए। हमारी यह शक्ति अब दबी नहीं रहनी चाहिए, सोई नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो चोरों का साम्राज्य हो जायेगा। क्या आप अपनी सम्पदा को चोरों के हाथ में देना चाहेंगे? नहीं ना। इसलिए दहाड़ मारकर उठो। जैसे सिंह कि सामने कोई नहीं आता। वैसे ही उठो। सिंह वृत्ति को अपनाओ। **चूहों से बनकर हजार वर्ष जीने की अपेक्षा सिंह जैसा बनकर एक दिन जीना श्रेष्ठ है।** मुनि महाराजों की वृत्ति ही सिंह-वृत्ति कहलाती है। वह सिंह जैसे क्रूर तो नहीं

होते किंतु सिंह जैसे निर्भीक जरूर होते हैं, निरीह होते हैं। पीठ-पीछे से धावा नहीं बोलते। छुपकर जीवन-यापन नहीं करते। उनका जीवन खुल्लमखुला रहता है। वनराजों के पास जाकर महाराज रहते हैं। भवनों में रहने वाले वनराजों के पास नहीं ठहर सकते।

आज भगवान् ने दीक्षा ली तो इन्द्र चाकर बनना चाहता था लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उसे कह दिया - तुम पालकी भी नहीं उठा सकते हो। पहले मनुष्य उठा लें, फिर कोई नहीं। ना ये, ना तुम। मैं मात्र अकेला हूँ, था और रहूँगा। इस एकत्व के माध्यम से आज तक हजारों आत्माएं अपना कल्याण कर गई, कर रही हैं, और आगामी काल में भी करेंगी। अपूर्णता से अपने जीवन को पूर्णता की ओर ले जायेंगी। मैं उन वृषभनाथ भगवान् को, जो आज मुनि बने हैं, यह पंक्ति बोलते हुए स्मरण में लाता हूं-

बल में बालक हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी।
तव गुण-गण की स्तुति करने से, पूर्ण बनूं तुम-सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहले पतली-सी ही चलती है
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है।।

□□

७

आज चौथा दिन है। कल ऋषीकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर ली है। इसके उपरान्त तप में लीन हैं, आज उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि होने वाली है। इसके पूर्व उन्हें भूख लगी। यह सब कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि तीर्थंकर की कोई भी चर्या "आर्टीफिशियल" नहीं हुआ करती, दिखावट नहीं हुआ करती, प्रदर्शन के लिए भी नहीं हुआ करती। दुनिया को उपदेश देने के लिए भी नहीं हुआ करती, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में वे उपदेश नहीं दिया करते हैं। दिखावटी कोई नाटक नहीं किया करते हैं। ऋषभनाथ, जो मुनिराज बने हैं वे, छठवे-सातवें गुणस्थान में घूम रहे हैं, क्योंकि उनका उपयोग अभी भी श्रेणी के लायक नहीं है। अर्थ यह हुआ कि उनकी चंचलता अभी नहीं मिटी और जब चंचलता नहीं मिटी तो वह क्रिया, केवल दिखाने के लिए नहीं है।

कल चर्चा चल रही थी कि, महाराज! तीर्थंकरों को पिच्छी-कमण्डलु का विधान तो नहीं है और कल तो यहाँ दिया गया? हां ! बात तो ठीक है। संसारी प्राणी को मुनिचर्या की सही-सही पहचान हो, ज्ञान हो इसलिए ये दिया गया है। जो तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, वे पिच्छी और कमण्डलु नहीं लेते, क्योंकि ज्यों ही वे दीक्षित होते हैं, त्यों ही उन्हें सारी ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, एक मात्र केवलज्ञान को छोड़कर। उनकी मन, वचन, काय की चेष्टा के द्वारा त्रसों का और स्थावरों का घात नहीं हुआ करता, इस प्रकार की विशुद्धि उनकी चर्या में आ जाती है। और वे वर्द्धमान चारित्र वाले होते हैं, इसलिए इसके बारे में कुछ ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे आहार के लिए उठते हैं, त्यों ही उपकरण का विधान उपस्थित हो जाता है।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रस्तुत किया है कि, अरे ! तूने तो सब कुछ छोड़ने का संकल्प लिया था। छोड़ने का संकल्प लेकर, अब ग्रहण करने के लिए जा रहा है। गृहस्थों के सामने हाथ यूं करेगा (फैलायेगा), बड़ी अद्भुत बात

है। चाहे तीर्थकर हों, चाहे चक्रवर्ती हों, चाहे कामदेव हों, कोई भी हों। कर्मों के सामने सबको घुटने टेकने पड़ेंगे। जब छोड़ने का संकल्प लेकर दीक्षा ग्रहण की थीं, तो इस समय ग्रहण करने क्यों जा रहे है- आचार्य कहते हैं- उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की सूचना आगम में है। जो व्यक्ति अपवादमार्ग को भूल जाता है वह भी फेल हो जाता है। और जो व्यक्ति उत्सर्गमार्ग को भूल जाता है वह भी फेल हो जाता है। दोनों में ही साम्य हो। वेतन देना अनिवार्य है। लेकिन यहाँ पर वेतन के साथ "कण्डीशन" भी है कुछ। वेतन के साथ शर्त हुआ करती हैं, उनको जो स्वीकारना है उसे कहते हैं साधु। साधु शर्तों के साथ ही अपनी आत्मा की साधना करता है। आगम के अनुकूल करता है। भगवान् की चर्या भी आगम के अनुकूल होती है, विपरीत नहीं हुआ करती। २८ मूल गुणों के धारक होते हैं वे। इसलिए एक बार ही आहार के लिए निकलने का नियम होता है, यह बात अलग है कि उनकी क्षमता ६ माह तक की रही, किन्तु ६ माह के उपरान्त वह भी उठ गये।

इस चर्या में जब चार हजार मुनि महाराज फेल हो गये तभी से प्रारम्भ हो गया है ३६३ मतों का प्रचलन। दिगम्बर होने के उपरान्त जो शोधन करके आहार नहीं करता वह अन्य समिति वाला है। सम्यक्समिति वाला नहीं माना जाएगा। वे मुनिराज श्रावक के घर आकर आहार कब ग्रहण करते हैं जबकि श्रावक की सारी की सारी क्रिया देख लेते हैं। नवधा-भक्ति देख लेते हैं। श्रावक यदि नवधा-भक्ति करता है तो ही आहार लेते हैं, नहीं तो नहीं लेते। तो क्या हो गया था? कल किसी ने कहा था कि उन्हें अन्तरायकर्म का उदय था। बिलकुल ठीक है किन्तु लड्डू लाकर के दिखा रहे थे, क्यों नहीं लिए उन्होंने? तब जवाब मिलता है, श्रावकों की गलती थी, मुनि महाराज की कोई गलती नहीं थी। श्रावकों की क्या गलती थी? तो उन्होंने कहा कि- नवधा-भक्ति नहीं की थी। जब तक नवधा-भक्ति नहीं होगी, तब तक लाये गए आहार को वे नहीं लेंगे। बहुत कठिन है, यह चर्या। एक माह, दो माह, तीन माह, चार माह, छह माह तक हो गये उपवास किये। उसके बाद ६ माह और अन्तराय चला। फिर भी उस क्रिया- चर्या की इति नहीं की। इस चर्या से डिगे नहीं वे। यह मात्र जड़ की क्रिया नहीं है, किन्तु यह भीतर में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलता हुआ जो ज्ञानवान् चेतन भगवान आत्मा है, उसी की क्रिया है- कर्म है।

एषणा के कारण ही संसारमें विप्लव मचा हुआ है। एक दिन के लिए भी भूख सताने लग जाए तो "मरता क्या न करता", "भूखा क्या-क्या करता" ये सब कहावतें चरितार्थ होने लगती हैं। लेकिन कितने ही कठोर उपसर्ग-परीषह क्यों न

हाँ तो भी मुनि महाराज अपनी चर्या से तीन काल में भी डिगते नहीं। टस से मस नहीं होते। वे कभी मांगते नहीं हैं, क्योंकि यही एक मुद्रा ऐसी रह गई है संसार में, जिसके पीछे रोटी है और बाकी जितने भी हैं वे सब रोटी के पीछे हैं। मात्र साहित्य से काम नहीं चलने वाला इस जगह। यदि हमारे पास क्रिया है, दिगम्बर मुद्रा है तो साक्षात् महावीर भगवान् को दिखा सकते हैं। युग के आदि में जो वृषभनाथ हुए थे उनकी चर्या का पालन करने वाले आज भी हैं। यह हमारा सौभाग्य है।

यह संसारी प्राणी चार संज्ञाओं से ग्रसा हुआ है। आहार की संज्ञा से कोई निर्वृत्त नहीं है छट्ठे गुणस्थान तक, अर्थात् यह संज्ञा छठवें गुणस्थान तक होती है। आहार संज्ञा का मतलब है आहार की इच्छा होना। आप लोगों को भी आहार की इच्छा होती है और मुनि महाराज को भी आहार की इच्छा है। किन्तु आप लोगों को आहार की इच्छा के साथ-साथ रस की भी इच्छा होती है। रस की इच्छा जिह्वा की भूख मानी जाती है और मुनिराज को मात्र पेट की भूख होती है। वह भूख वस्तुतः भूख नहीं है। रस की भूख ऐसी भूख है कि भूत लगा देती है। संसारी प्राणी इसी भूत के पीछे ही सारा का सारा श्रृंगार करता है। खाते तो आप भी हैं, उतना ही पेट है और मुनि का पेट भी उतना ही है। फिर भी लगता है कि आपके पेट में कहीं गुंजाइश अधिक है। जिससे अनथऊ (सांय का भोजन) की चिन्ता हुआ करती है आपको। मुनिराज को इसकी चिन्ता नहीं हुआ करती। उन्हें रात-दिन में एक बार ही चेतन को वेतन देने का काम है। इसीलिए ऋषभनाथ आपके घर आयेंगे।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने पूछा था समयसार पढ़ाते समय, बताओ– तीर्थंकर की प्रमत्त अवस्था कैसे पकड़ोगे? समयसार की व्याख्या पढ़ाने के उपरान्त पूछा था, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात करना था कि ये किस प्रकार अपनी बुद्धि से अर्थ निकाल पाता है। मैंने कहा– महाराज जी ! आपने इस प्रकार पढ़ाया तो है ही नहीं? इसीलिए तो पूछ रहा हूँ मैं, कि कैसे पकड़ोगे? आधा-एक मिनिट सोचता रहा फिर बाद में मैंने कहा कि महाराज ! जब तीर्थंकर चर्या के लिये उठते हैं,उस समय बिना इच्छा के नहीं उठते। आहार लेते समय मांगेंगे, वह भी बिना इच्छा के नहीं। तभी एक-एक ग्रास पर हम उनकी प्रमाद चर्या को पकड़ सकते हैं। जिस समय वे ग्रास लेते हैं उस समय छट्ठा गुणस्थान माना जायेगा, जो कि प्रमाद की अवस्था है। कारण कि लेने की इच्छा है। ध्यान रखना वे आहार को ऐसे ही नहीं ले लेते, हम लोगों जैसे, किन्तु यूं-यूं (अंजुलि बांधकर शोधन का इशारा) शोधन करते हैं। शोधन करने का नाम है अप्रमत्त अवस्था। ये यूं-यूं क्या अंगुली से? यह जड़ की क्रिया है क्या?

नहीं। ऐसा कभी मत सोचना कि यह जड़ की क्रिया है किन्तु यह सप्तम गुणस्थान की क्रिया है। इसको आगम में एषणा समिति बोलते हैं। यह अप्रमत्त दशा का द्योतक है। ग्रास को लेने के लिए हाथ को यूं नीचे फैलाना, यह तो आहार संज्ञा का प्रतीक है, उस समय छट्ठा गुणस्थान है, प्रमत्त है! किन्तु शोधन के लिए यूं-यूं अंगुली का चलाना, यह सप्तम गुणस्थान है। पुनः हाथ फैलाना छट्ठा और शोधन सातवां। इस प्रकार होती है उनकी क्रिया। इतना विशेष ध्यान रखना कि आहार लेते समय रस का स्वाद, रस में चटक-मटक नहीं करते। यह बहुत सुन्दर है, बढ़िया है। ऐसा कह देंगे या मन में ऐसा भाव आ जायेगा तो गुणस्थान से नीचे आ जाएंगे। लेकिन उन्हें बढ़िया-घटिया से कोई मतलब नहीं रहता। उनके अन्दर तो **"अरसमरूवमगंध"** वाली गाथा चलती रहती है।

आहार देते समय श्रावक लोग कह देते हैं कि महाराज ! जल्दी-जल्दी ले-लो। हम शोधन करके ही तो दे रहे हैं, लेकिन नहीं। मैं तो देखकर ही लूंगा। क्योंकि आपकी एषणासमिति तो आपके लिए है, मेरी एषणासमिति मेरे लिए है। तुम्हारी जो क्रिया होगी वह तुम्हारे गुणस्थान की रक्षा करेगी और मेरी जो क्रिया होगी वह मेरी रक्षा करेगी। मेरे गुणस्थान की रक्षा करेगी। आगम की आज्ञा का उल्लंघन हम नहीं कर सकते। वह जड़ की क्रिया अपितु जड़हीन अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा की क्रिया है।

क्षुधा होती है– भूख बहुत जोरों से लगी है। तो देख लो। एक पूड़ी भी थोड़ी-सी देर से आती है तो कैसी गड़बड़ी हो जाती है भैय्या ! या तो पहले भोजन पर नहीं बुलाते, बुलाना है तो पहले पूड़ी का प्रबन्ध तो कर लेते। दाल के बिना काम चल जाए लेकिन पूड़ी के बिना कैसे चले। कुछ तो मिल जाए थाली में। उसी के साथ खाकर, थाली खाली कर दें। होता यह है कि भूख की इतनी तीव्र वेदना होती है कि असह्य होती है। किन्तु मुनि महाराज कितनी ही भूख होने पर अपनी एषणा समिति को पालते हुए ही आगे का ग्रास लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो कहा है– मुनि की परीक्षा समिति के माध्यम से ही होती है। वो जिस समय सोयेंगे, उस समय समिति चल रही है। बोलेंगे उस समय भाषा समिति चल रही है। जिस समय उठेंगे-बैठेंगे उस समय आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। जब चलेंगे, ईर्यासमिति से चलेंगे। पूरी की पूरी समितियां चल रहीं हैं किसी भी क्रिया में कमी नहीं है। इसका मतलब है– अर्थ है कि प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी चल रही है, यानि चौबीसों घण्टे (हमेशा) स्वाध्याय चल रहा है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में भेद होने का मूल कारण यही है– एषणासमिति। अंजलि में डालते ही खा जाना, यह रागी का काम है। मांगना रागी का काम है। परन्तु महाराज का काम है, अंजलि में आते ही ठीक-ठीक शोधन करके खाना, रागी व्यक्तियों जैसे कभी भी नहीं खाना। शोधन करना बुद्धिमान् की क्रिया है। हमें इस बात का गौरव है, गौरव ही नहीं स्वाभिमान भी है कि कम से कम महावीर भगवान के वीतराग-विज्ञान का जो मूर्तरूप है उसका पालन तो कर रहे है। इसमें गौरव होना भी सहज है। मात्र बातों के जमा खर्च से काम नहीं चल सकता किन्तु आगम की जो आज्ञा है उसका सेवन करना सर्वप्रथम आवश्यक है। जिसका पेट खाली है, वह व्यक्ति कभी भी पेट पर हाथ रखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि उसे आत्मारास को भूखा रखना है। इसीलिए, मेरा कहना ये है ! मेरा क्या कहना? आचार्यों का कहना है, अब आचार्यों का भी क्या कहना, दिव्यध्वनि खिरने वाली है मध्याह्न में, उसी दिव्यध्वनि का कहना है कि यदि तुम सुख का अनुभव करना चाहते हो तो, अपनी चर्या को ऐसी (सदाचारपूर्ण) बनाओ। यद्वा-तद्वा चर्या बनाओगे तो नियम से मार खा जाओगे– भटक जाओगे। आज तक मार्ग से भटते रहे, कहीं रास्ता नहीं मिला, यही कारण है। कारण को सही-सही जानना आवश्यक है, क्योंकि कारण में ही विपर्यास हुआ करता है कार्य में नहीं। पहले भी कहा था– मंजिल में और सुख में कोई विसंवाद नहीं हुआ करता, मात्र सुख को प्राप्त कराने वाले कारणों में विसंवाद होता है। हमारी बुद्धि, जहाँ पर भी चर्या मे कठिनाई होने लगती है तो उसे भूलती-भूलती चली जाती है चलते समय की कठिनाईया होती हैं, बन्धुओ ! बैठ बैठ नहीं। इन सभी कठिनाइयों का पार करने का मार्ग भगवान् ने बताया है। वह आज चर्या करके आगे की परम्परा का भी मार्ग प्रशस्त कर रहे है। उनकी चर्या के उपरान्त सभी समझ सके थे कि मुनिराज को इस प्रकार चर्या करना चाहिए तथा श्रावकों को भी इसका ज्ञान हुआ।

ऋषभनाथ को १००० वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ, तब ६ ६ महिने के उपरान्त वे उठे, हजारों बार उठे। अर्थात् हजारों बार उन्हे भूख लगी, आहार की इच्छा हुई। यह छट्ठे गुणस्थान की बात है। आहार की क्रिया, जबकि सातवें गुणस्थान तक चलती है यह धवला, जयधवला और महाबन्ध के द्वारा ज्ञात होता है। अतः ज्ञानी को कोई रस सम्बन्धी, अन्न सम्बन्धी और कोई सामग्री सम्बन्धी परिग्रह नहीं रहता। जब मांगते है तो राग नहीं रहता क्या? रहता है। पर विषय सम्बन्धी नहीं रहता। फिर रहना भी है और नहीं भी रहता, यह क्या कह रहे आप? जैसा कहा है वैसा

ही तो कहूंगा, मैं अपनी तरफ से थोड़े ही कह रहा हूँ। विषय-सम्बन्धी राग को तो अनन्तकाल तक के लिए छोड़ दिया है उन्होंने। सामान्य जीवों जैसा ग्रहण करना उनका काम नहीं है। श्वेताम्बर कहते हैं– भगवान् बनने के उपरान्त भी, वे कवलाहार लिया करते हैं। तो आचार्यों को परिश्रम और करना पड़ा। उन्होंने कहा हमें बताओ, जब आहारसंज्ञा छट्टे गुणस्थान तक ही रहती है तब तेरहवें गुणस्थान में कैसे आहार लेंगे? इसलिए आज भी इस क्रिया का अवलोकन आप लोगों को करते रहना चाहिए। मात्र चाहिए ही क्या, किन्तु बहुत आवश्यक है, जिससे समझ में आयेगा कि दिगम्बर परम्परा में किस प्रकार इसक्रिया को निर्दोष रखा कुन्दकुन्द भगवान् ने। तूफान चला था तूफान, उस समय। जिसमें बड़े-बड़े पहाड भी उड़ रहे थे। लेकिन **"वुड्ढिसिरेणुद्धरियो समप्पियो भव्वलोयस्स"। इन महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ एवं मुनिचर्या को जीवित रखने का श्रेय, इस तूफान से बचाने का श्रेय, यदि किसी को है तो वह है आचार्य, कुन्दकुन्द स्वामी को। यह ध्यान रखना वे कुन्दकुन्दस्वामी केवल साहित्य लिखकर के इस मुनिमार्ग को जीवित नहीं रख पाये, किन्तु उन्होंने स्वयं इस चर्या को निभाया। और इसे उसी शुद्ध रूप में आज तक सुरक्षित पालन करने वाले अनेकानेक मुनिराज हुए, यह गौरव की बात है।**

ऐसे मुनि महाराज ही चौबीसों घण्टे स्वाध्याय करने वाले माने जाते है क्योंकि षट् आवश्यकादि क्रियाओं से उनका हमेशा ही स्वाध्याय चलता रहता है। इसलिए मात्र किताबों से ही स्वाध्याय होता है, ऐसा नहीं है। जैसे कल हमने बताया था। किसी को लगा होगा कि महाराज जी ने तो स्वाध्याय का निषेध कर दिया, किन्तु यहाँ स्वाध्याय का निषेध नहीं किया गया, बल्कि इन क्रियाओ से स्वाध्याय हमारा ठीक-ठीक हो रहा है या नहीं, इसका परीक्षण होता रहता है। जो इन क्रियाओं का पालन नहीं करता, उस व्यक्ति का स्वाध्याय, स्वाध्याय नहीं माना जाएगा। समयसार में भगवान् कुन्दकुन्द ने कहा है– **"पाठो ण करेदि गुणं"**। तोता रटन्त पाठ करना गुणकारी नहीं है– कार्यकारी नहीं है।

"आलस्याभावः स्वाध्यायः" कहा गया है। इसलिए नियमसार जी में उन्होंने (कुन्दकुन्द स्वामी ने) यहाँ तक कह दिया कि आपने स्वाध्याय को भुला ही दिया। स्वाध्याय को आपने बताया ही नहीं आवश्यकों के अन्दर? तो उन्होंने उत्तर दिया– एक गाथा के द्वारा-स्वाध्याय तो प्रतिक्रमण एवं स्तुति आवश्यकों में गर्भित हो जाता है यह नियमसार की गाथा है। कुन्दकुन्दस्वामी की आम्नाय के अनुसार एवं मूलाचार आदि ग्रन्थों को लेकर, आचार्य प्रणीत जितने भी आचार-संहितापरक ग्रन्थ हैं उनमें

कहीं भी २८ मूलगुणों में मुनियों के लिए स्वाध्याय आवश्यक नहीं बताया गया। यदि स्वाध्याय को आवश्यकों में गिनना शुरू कर देंगे तो २९ मूलगुण हो जायेंगे, या फिर एक को अलग करके उसे रखना होगा। यह सब ठीक नहीं, अवर्णवाद कहलायेगा। व्युत्क्रम भी नहीं कर सकते, अतिक्रम भी नहीं कर सकते, अनाक्रम भी नहीं कर सकते हैं हम जिनवाणी में।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेदयदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।

इस प्रकार ज्ञान की परिभाषा समन्तभद्र स्वामी ने की है। न्यूनता से रहित होना चाहिए। विपरीतता से भी रहित होना चाहिए। ज्यादा नहीं होना चाहिए। अन्यथा भी नहीं होना चाहिए। "याथातथ्यं" जैसा कहा गया है वैसा ही होना चाहिए अन्य नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि हमारे वे मुनिराज तीन काल में अपनी आत्मा को नहीं भूलते, क्योंकि यदि भूल करेंगे तो क्रियाओं में सावधानी नहीं आ सकेगी। ध्यान रखना दिव्य-उपदेश होगा मध्याह्न में, क्या कहेंगे भगवान्, किसको कहेंगे और किस रूप में कहेंगे? सर्वप्रथम देशनालब्धि का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में, जिसका कि अभी मंगलाचरण किया गया है, दिया है। जिसके पास योग्यता नहीं है उसे देशना मत दो। उसको यदि देशना देंगे तो वह अनादर-अपमान करेगा। जिनवाणी का अनादर हो जाएगा। उन्होंने कहा है– जो आठ अनिष्टकारक हैं, दुर्द्धर हैं, जिनका छोड़ना बहुत कठिन है। "दुरितायतनानि" पाप की खान है। पाप की मूल खान कौन है, मद्य, मांस, मधु और सात प्रकार के व्यसन जो इसमें आते हैं। "जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः" इन पापों का, इन व्यसनों का त्यागी जो नहीं है, उसको यदि तुम पवित्र जिनवाणी को दोगे तो सम्भव नहीं, उसका वह सही-सही उपयोग करेगा। इसे आप सामान्य चीजें साग-सब्जी जैसा नहीं समझें। कि ठीक नहीं लगा तो बदल लिया दो और रख दो, या कम कर दो। ऊपर से और डाल दो। ऐसा नहीं हो सकता। यह जिनवाणी है जिनवाणी? इसको जो सिर पर लेकर के उठायेगा वही इसका महत्व समझ सकेगा।

मैं स्वाध्याय का उस रूप में निषेध नहीं करता, किन्तु जिस व्यक्ति की भूमिका ही नहीं है स्वाध्याय करने की। उस व्यक्ति को यदि समयसार पढ़ने के लिए दे देते हो तो, आप नियम से प्रायश्चित्त के भागी होंगे। ऐसा मूलाचार में कहा है। मुनिराज को कहा गया है कि जो व्यक्ति जिनवाणी का आदर नहीं करता, उसको आप अपने

प्रलोभन की वजह से यदि जिनवाणी सुना देते हैं तो आप जिनवाणी का अनादर करा रहे हैं। हां, जिस किसी को भगवान् के दर्शन नहीं कराना, किन्तु पूछताछ करके कराना। समझने के लिए यहाँ पर कोई जौहरी भी हो सकता है। जो जवाहरात का काम करता हो। उससे मैं पूछना चाहता हूँ, वह अपनी तस्तरी में मोती-मणिकाओं को रखकर दिखाता-फिरता है क्या? बहुत सारी दुकानें हैं जयपुर के जौहरी बाजार में। अन्य दुकानों पर जैसा सामान लटकाए रहते हैं वैसा जौहरी बाजार में जाने के उपरान्त किसी भी दुकान में नहीं देखा। मैं पूछना यह चाहता हूँ, क्या उन्होंने बेचने का प्रारम्भ नहीं किया? किया तो है, दुकान तो खोली है, फिर ग्राहक आकर पूछता है कि क्यों भैय्या ! आपके पास में ये सामान है? हां ! है तो सही, लेकिन हमारे बड़े बाबाजी अभी बाहर गये हैं, आप यहाँ शान्त बैठिये। गए-बए कहीं नहीं थे। उस ग्राहक की तीव्र इच्छा की परीक्षा की जा रही थी। मात्र वह पूछने तो नहीं आया है। खरीदने के लिए भी आया है या नहीं। आप लोग उस समय तकिए के ऊपर आरामतलबी के साथ बैठे रहते हैं। ३.४ बार के निरीक्षण कर लेने के बाद, जब यह निश्चित हो जाता है कि, ये असली ग्राहक हैं तब आप डिबिया में से डिबिया, डिबिया में से डिबिया और भी डिबिया में से डिबिया...........फिर पुड़िया में से पुड़िया, पुड़िया में से पुड़िया......ऐसे निकालते चले जाने पर..........फिर लाल रंग का कवर, फिर नीले रंग का कवर, कभी और...
आते-आते अन्त में एक पुड़िया खुल ही जाती है, तो क्या कहते हैं उससे, हाथ नहीं लगाना उसको यूं दूर से ही दिखा देते हैं। किसी को नहीं कहना।

यहाँ पर भी इसी प्रकार की मूल्यवान वस्तु है जिनवाणी ! जो व्यक्ति आत्मा आदि को कुछ नहीं समझता। जानने की इच्छा भी नहीं कर रहा, उसको कभी भी नहीं देना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने कहा है– आत्मा की बात तो सामने रखना, लेकिन इतना ख्याल रखना कि उसका मूल्य किसी प्रकार से कम न हो जाए, इस ढंग से रखना। जबरदस्ती नहीं करना किसी को। क्योंकि वह व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकता। किसी ने कहा है कि– "भूखे भजन न होई गोपाला, ले लो अपनी कण्ठीमाला।'' ऐसा कहेंगे वे आत्मा के बारे में जो उससे अपरिचित व्यक्ति है। उसे अपनी माला की आवश्यकता है, अन्य की नहीं।

स्वाध्याय का निषेध नहीं कर रहा हूँ, बल्कि भूमिका का विधान है यह। स्वाध्याय की क्रिया को करना जिसने प्रारम्भ कर दिया है, वह तो नियम से स्वाध्याय कर ही रहा है। मैं बार-बार कहा करता हूँ– जिस समय आप शिवकी

बनाना चाहते हैं, उस समय भी आप स्वाध्याय कर रहे होते हैं। कैसे स्वाध्याय कर रहे हैं महाराज? मैं कहता हूँ कि आप बिल्कुल सही-सही ढंग से स्वाध्याय कर रहे हैं। क्योंकि उस समय आप अभक्ष्य से बचने के लिए एक-एक कणों का निरीक्षण कर रहे हैं। किसी ने कहा महाराज जी ! समता रखना चाहिए? किन्तु कब रखना चाहिए? प्रतिकूल वातावरण में, या अनुकूल वातावरण में? बन्धुओं! भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में कभी समता नहीं रखना चाहिए, ध्यान रक्खो। भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में यदि समता रखोगे तो नियम से पिट जाओगे और गुणस्थान से भी धड़ाम से नीचे गिरोगे। उस समय बुद्धि का पूरा-पूरा प्रयोग करना चाहिए। हां, तो एक-एक का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ पर। हेय चीजें, अभक्ष्य चीजें, अनुपसेव्य चीजें जो कुछ भी मिली हुई हैं, उनको अलग-अलग निकालना ही तो क्रिया-कलाप का स्वाध्याय है। ऐसा करना भगवान् की आज्ञा का अनुपालन भी है, यही सही स्वाध्याय है। जो प्रकाश रहते हुए तो इधर-उधर घूमता है जबकि अनथऊ का समय है, और जब प्रकाश नहीं रहता, उस समय जल्दी-जल्दी भोजन कर लेना चाहता है, और सोचता है एक बार स्वाध्याय कर लेंगे तो सारा का सारा दोष ठीक हो जाएगा, लेकिन ध्यान रखो बन्धुओ ! ऐसा नहीं होगा। वह क्रियाहीन स्वाध्याय फालतु माना जाएगा। उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी आस्था उसके प्रति नहीं है।

आप शंका कर सकते हैं महाराज जी ! छहढाला में आवश्यकों में स्वाध्याय को शामिल किया है? उसका उत्तर भी सुन लीजिए– छहढाला में जहाँ छटवीं ढाल में **"नित करें श्रुतिरति"** ये पाठ है वहाँ उसके स्थान पर संशोधन कर "प्रत्याख्यान" का प्रयोग कर लेना चाहिए। उन्हें, जिन्हें की हमेशा श्रुत की सुरक्षा की भावना रहती है। क्योंकि स्वयं छहढालाकार ने कहा है कि "सुधी सुधार पढ़ो सदा" इसलिए सुधारना लेखक के अनुकूल है। इसमें दूसरा हेतु यह भी है कि २८ मूलगुणों में प्रत्याख्यान नाम का एक मूलगुण ही समाप्त हो जाएगा। आप लोग तो मुनि नहीं है अतः इस ओर दृष्टि नहीं गई शायद। पर मैं तो मुनि हूँ, २८ मूलगुणों को पालना है– जानना है, अतः मेरी दृष्टि इस ओर रही। मैंने इसे देखने के लिए कुन्दकुन्द देव का साहित्य टटोला और जितने भी आचार्य हुए हैं उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को देखा। सब जगह प्रत्याख्यान ही मिला। किसी ने भी स्वाध्याय को ६ आवश्यकों में नहीं गिना। इसलिए स्वाध्याय स्वयं प्रतिक्रमण, स्तुति और वंदना में हो जाता है। जिसका समर्थन कुन्दकुन्ददेव ने अपने नियमसार में किया है। अतः दौलतराम

जी के विनीत भावों का आदर करते हुए जैसा कि उन्होंने कहा "सुधी सुधार पढ़ो सदा" प्रत्याख्यान पाठ कर लेना चाहिए।

एक बात का और ध्यान रखना होगा कि स्वाध्याय किस समय करें। हम स्वाध्याय करते हैं, किन्तु सामयिक के काल में नहीं करना चाहिए। तथा इसी प्रकार कुछ और समय आगम में कहे गये हैं उनमें नहीं करना चाहिए। जो कि स्वाध्याय के विधान करते हैं उस समय में यदि करना ही चाहें तो "आलस्याभावः स्वाध्यायः।" स्वाध्याय का अर्थ लिखना पढ़ना नहीं है। स्वाध्याय की अर्थ वस्तुतः आलस्य के भावों का त्याग है, अर्थात् जिस व्यक्ति का उपयोग, चर्या हमेशा जागरूक रहती है उसका सही स्वाध्याय माना जाता है।

प्रवचनसार के अन्दर उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है कि मुनिराज के पास किसी प्रकार का ग्रन्थ भी नहीं रहता। क्योंकि शुद्धोपयोग ही मुनिराज की चर्या मानी जाती हे। इससे उनके पास पिच्छी-कमण्डलु भी मात्र समिति के समय उपकरणभूत माने जाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, स्वाध्याय करते-करते आज तक किसी को शुद्धोपयोग नहीं हुआ और ना ही केवलज्ञान, न हुआ है, न हो रहा है और न होगा। अतः शुद्धोपयोगी मुनियों के कोई भी उपकरण नहीं होता।

दूसरी बात मैं यह कहना चाहूँगा कि, कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थों में रचयिता का नामोल्लेख करने का श्रेय किसको है? स्वाध्याय करने वालों से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी के साहित्य का आलोडन करने वालों से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी का यह समयसार है, प्रवचनसार है, पंचास्तिकाय है, इस प्रकार कहने वालों में किसका नम्बर है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो द्वादशानुप्रेक्षा के अलावा कहीं लिखा ही नहीं कि यह मेरी कृति है। इसलिए समयसार किसका है? यह कहने का प्रथम श्रेय किसको? भरी सभा में इसलिए पूछ रहा हूँ कि स्वाध्याय करो–स्वाध्याय करो, ऐसा कहने से कुछ नहीं होने वाला। बन्धुओ ! बहुत ही चिन्तन और मनन करने की बात है यह। जिसने कुन्दकुन्द स्वामी से पहचान करायी, उसका नाम लेओ, कौन है वह? बार-बार कहा जाता है कि अमृतचन्द जी ने टीका लिखकर बहुत महान् कार्य किया, बिल्कुल ठीक है। परन्तु उनकी टीका में कुन्दकुन्ददेव का नाम तक नहीं है। क्यों नहीं है? भगवान् जानें या कुन्दकुन्ददेव जानें या जानें स्वयं अमृतचन्द जी। कुन्दकुन्द स्वामी के नामोल्लेख का पूरा-पूरा श्रेय मिलता है जयसेनाचार्य जी को। कुन्दकुन्दस्वामी का नाम अपने मुख से लेने वालों को, बार-बार कहना चाहिए कि धन्य हैं वे जयसेनाचार्य।

यदि आज वे नहीं होते तो समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं इसे भी नहीं पहचान पाते। धन्य हैं वे टीकायें। ऐसी टीकायें लिखी है कि सामान्य व्यक्ति भी पढ़कर अर्थ निकाल सकता है। बन्धुओ ! स्वाध्याय करना अलग वस्तु है और भीतरी रहस्य - गहराई को समझना अलग वस्तु है। ये सभी बातें सभा मे रखना आवश्यक नहीं समझ रहा हूँ, अतः यदि विद्वान् आये तो हम उनसे विचार-विमर्श कर लें इसके बारे में। खुलकर विचार होना चाहिए। जो गुत्थियां है उन्हें समझाना होगा। तभी समझूँगा कि वस्तुतः स्वाध्याय क्या वस्तु है।

प्रवचनसार में, समयसार में, पंचास्तिकाय में पांच-पांच, छह-छह बार कहा है– ''कुन्दकुन्दाचार्यदिवैर्भणितं।'' उन्होंने लिखा है, हम आचार्य कुन्दकुन्द के कृपापात्र हुए हैं। ऐसे आचार्य महाराज के हम ऋणी हैं, जिन्होंने हमें दिशाबोध दिया है। जिन्होंने भी दिशाबोध दिया, उनका नाम लेना अनिवार्य है, **जैसा कल पण्डित जी ने कहा था– सर्वप्रथम और कोई आचार्य का नाम नहीं आता, मात्र कुन्दकुन्ददेव के अलावा। कुन्दकुन्दाम्नाय-कुन्दकुन्दाम्नाय ऐसा कहना चाहिये। लेकिन यहाँ ध्यान रक्खों कि कुन्दकुन्ददेव का नाम सर्वप्रथम कौन लेता है उसे भी १० बार याद करना चाहिये, अन्यथा हम अन्धकार में रह जायेंगे।** हमें जयसेनाचार्य को योग्य श्रेय देना होगा। अमृतचन्द जी का उपकार भी हम मानेंगे, लेकिन लोगों को जहाँ संदेह होता है, हो रहा है, उसका निवारण करना भी आवश्यक है। अमृतचन्द जी ने अपने नाम का उल्लेख प्रत्येक ग्रन्थ में टीकाओं के साथ-साथ किया है, अनेक विधियों से किया है, पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम एक बार भी नहीं लिया। क्यों नहीं लेते हैं? भगवान् जानें और अमृतचन्द जी स्वयं जानें कि उनसे क्यों नहीं लिया गया कुन्दकुन्ददेव का नाम। आप लोग तो मात्र कुन्दकुन्द का नाम लेते हैं किन्तु मैं कुन्दकुन्द का नाम लेता हूँ और उनके बिना चलता तक नहीं। साथ ही, बीच-बीच में जयसेनाचार्य को भी, याद किये बिना चल नहीं सकता। कारण कि, मुझे बिना टार्च (जयसेनाचार्य) के चला ही नहीं जाता। वह टार्च दिखाने वाले हैं, वस्तु को स्पष्ट करने वाले हैं आचार्य जयसेन जयसेन स्वामी हैं।

मैं उनको, उनकी कृपा को, उनके उपकार को कैसे भूल सकता हूँ। आज न जयसेन हैं न अमृतचन्द जी, न कुन्दकुन्द भगवान्। हम तो जिससे दिशा मिली उनका नाम लेंगे। कई लोग नाम नहीं लेना चाहते, क्यों नहीं लेना चाहते? इसके बारे में हमारे मन में शंका उठी है अतः इस गूढ़ विषय की ओर स्वाध्याय करने वालों को देखना-सोचना चाहिये। यह बात हिन्दी में नहीं मिलेगी। आप प्रशस्ति पढ़िये, एक-एक

पंक्ति पढ़िये। दिन-रात समयसार का स्वाध्याय करते हैं, फिर भी आज तक आप इस विषय से अनभिज्ञ रहे, कि भगवान् कुन्दकुन्ददेव को प्रकाश में लाने वाले कौन हैं?

बहुत से कुन्दकुन्दाचार्य नाम के मुनिराज हुये हैं, लेकिन प्रकृत कुन्दकुन्दाचार्य जी ने जो चर्या निभायी तथा उस चर्या को सुरक्षित रखकर, हम सभी को देने का श्रेय प्राप्त किया। उनके लिए बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा था कि वे महान्-तीर्थंकर होंगे। उनका गुणानुवाद करके हम धन्य हो गये।

अमृतचन्द जी समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की वृत्तियों द्वारा रहस्यों को तो खोलना चाहते हैं पर कुन्दकुन्दचार्य का नाम लिखना क्यों नहीं चाहते, यह बात समझ में नहीं आती। बड़े-बड़े व्याख्याकार यदि उनका नाम नहीं लेंगे तो हमारे लेने का क्या महत्व होगा? वे (अमृतचन्दजी) उन ग्रन्थों पर टीका करने वालों में आदि टीकाकार हैं, फिर नाम क्यों नहीं लेना चाहते। कुन्दकुन्ददेव के साहित्य का स्वाध्याय करने-प्रचारित करने वालों को तो कम से कम सोचना अवश्य चाहिए कि टीकाकार मूलकर्ता का नाम क्यों नहीं ले रहे है, विषय बहुत गंभीर एवं चिन्तनीय है।

आगे मैं यह कहना चाहता हूँ कि वही पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कह रहे हैं कि जब तक सप्तव्यसनों का त्याग नहीं होता, तब तक स्वाध्याय करने की योग्यता किसी भी व्यक्ति के पास नहीं आती। वैसे सप्त व्यसन राष्ट्र की उन्नति के लिए भी हानिकारक है और आत्मोन्नति के लिए भी। इस तरह जब देशनालब्धि की पात्रता के लिए सप्तव्यसनों के त्याग का विधान किया गया है, तब स्वाध्याय करने के पहले इतना तो नियम दिला देना/ले लेना चाहिए, बाद में स्वाध्याय आरम्भ करें। इसे मैं क्रमबद्ध स्वाध्याय कहता हूँ। अन्यथा आप क्रमबद्ध पर्याय की चर्चा तो करते रहेंगे, जिससे कि कुछ भी लाभ होगा नहीं तब तक, जबकि स्वाध्याय को कम से कम क्रमबद्ध नहीं करते।

एक आन्दोलन चला था, ब्रिटिश गवर्नमेंट को भारत से निकालने के लिए। कैसे निकाला जाए? तो उनकी जितनी भी चीजें हैं, परम्परायें हैं, उन सबको समाप्त कर देना आवश्यक होगा। इसी क्रम में शिक्षाप्रणाली को लेकर विरोध चला। गांधीजी ने शिक्षाप्रणाली को लेकर आन्दोलन चलाया। उस समय कई विद्यार्थी उनके पास आकर कहने लगे– भविष्य के साथ अहित कर रहे हैं। बेटा! क्या बात हो गई, बताओ तो? छात्र ने कहा– आप सब कुछ का विरोध करें– कर सकते हैं पर शिक्षण

का तो विरोध मत करो। बापू जी ने कहा– बिल्कुल ठीक है। लेकिन हम शिक्षण का विरोध तो नहीं करते।

वह लड़का कहता है– मेरी समझ में नहीं आ रहा, आप हमें घुमाना चाह रहे हैं? घुमाना नहीं चाह रहा हूँ बेटा ! मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षण होना चाहिए और सभी को उससे लाभान्वित होना चाहिए, शिक्षित होना चाहिए। परन्तु शिक्षण की पद्धति भी तो सही-सही होनी चाहिए। जैसे हम दूध पी रहे हैं, लेकिन दूध पीते हुए शीशी में पी रहे है। भारतीय सभ्यता शीशी से दूध पीने की नहीं है। शीशी भी ऊपर से बिल्कुल काली है, जिसमें पता भी नहीं चले कि दूध है या और कुछ भी। एक तो शीशी में तथा दूसरे काले रंग वाली शीशी में और ऊपर से शराब की दुकान पर बैठकर पी रहे हैं। मुझे ऐसा लगा, गांधी जी ने बहुत चतुराई से काम लिया। **उन्होंने शिक्षण का विरोध नहीं किया किन्तु शिक्षा प्रणाली का विरोध किया है।** इसमें रहस्य यही है कि हम जिस शिक्षण प्रणाली से शिक्षा लेंगे तो आपके विचार भी तदनुसार ही होंगे, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार यदि आपके हाथ में शीशी है वह भी काली, और उसमें रखा दूध आप शराब की दुकान पर से पी रहे हैं, तो एक भी व्यक्ति ऐसा न होगा जोकि देखकर आपको शराबी न समझे। इसलिए दूध को दूध के रूप में पिओ, भले ही दिखाकर पिओ, किं देखो दूध पी रहा हूँ। इसी तरह वस्तु-विज्ञान को दिखाओ पर दूसरों को विचलित न होने दो। जो वस्तु दिखा रहे हैं वह सत्ता के माध्यम से नहीं किन्तु आगम की पद्धति के अनुसार दिखाना चाहिए। इस प्रकार दिखाने से सामने वाले व्यक्ति का जो उपयोग है वह केन्द्रित होगा और उसका विश्वास हमारे ऊपर शीघ्र तथा ज्यादा होगा। वात्सल्य-प्रेम बढ़ेगा। यदि हठात् कहने लग जाएंगे तो एक भी बात मानने वाला नहीं होगा। अतः हमें जो शंका है उसे आगम के अनुरूप ही समाधान करके धारणा बनानी चाहिए।

धवला, जयधवला, महाबन्ध में आचार्यों ने कहा है कि श्रावकों का क्या कर्तव्य होना चाहिए– **"दाणं पूया सीलमुववासो"**। जयधवला को सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जिसे भगवद्‌गुणधर स्वामी ने लिखा है जिसकी टीका वीरसेन स्वामी ने की है उसमें उन्होंने श्रावक के चार आवश्यक धर्म बतलाये हैं। आवश्यकों को उन्होंने धर्म संज्ञा दी है। **जो व्यक्ति दान को, पूजा को, शील को उपवास को जड़ की क्रिया कहेगा तो उसके उस उपदेश से सारी की सारी जनता विमुख हो जाएगी। क्योंकि वह उपदेश प्रणाली ही आगम से उल्टी है। यह जड़ की क्रिया नहीं, धर्म की क्रिया है।** वस्तुभूत जो धर्म है। **वत्थुसहावो धम्मो** उस धर्म को प्राप्त करने के लिए श्रावकों के लिए चार

आवश्यकों का मार्ग ही सही प्रणाली-पद्धति है। यही भगवान् का संदेश और आज्ञा भी है। जो व्यक्ति आज्ञा का उल्टा प्रयोग करके केवल बन्ध के कारणों में इन धर्मों को गिनाता है, इसके द्वारा संवर, निर्जरा नहीं मानता, वह अपने व्याख्यान से जिनवाणी का-धर्म का अवर्णवाद कर रहा है।

यह वाक्य मेरे नहीं हैं। मैं तो केवल एक प्रकार का एजेन्ट हूँ। एजेन्ट का काम होता है कि सही-सही वस्तु का प्रसार करना। एक दुकान से दूसरी दुकान में पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ दिखाओ। फिर भले ही कोई उस वस्तु को अच्छा कहे या बुरा। अच्छा कहे तो भी वस्तु वही है तथा बुरा कहने पर भी वही है। उसको तो दिखाने का वेतन कम्पनी से मिल ही रहा है, उसमें कोई बाधा नहीं। इसी प्रकार मुझे भी अरहन्त भगवान् की तरफ से वेतन मिल रहा है। इसलिए इस प्रकार के व्याख्यान जब तक हम समाज के सामने नहीं रखेंगे तब तक सही-सही स्वाध्याय की प्रणाली आने वाली नहीं है। यह करना हमारा कर्तव्य है इसलिए इसे करना भी आवश्यक समझता हूँ समय-समय पर।

आज हम देख रहे हैं कि स्वाध्याय करते हुए भी जिस व्यक्ति के कदम आगे नहीं बढ़ रहे हैं, उसका अर्थ यही है कि उसे स्वाध्याय करना तो सिखा दिया है, किन्तु भीतरी अर्थ, जो वस्तुतत्त्व था, उससे उसे अपरिचित रखा है। उसको अंधेरे में रखा है। जो व्यक्ति वस्तुतत्त्व को अंधेरे में रखता है, वह व्यक्ति स्वयं भी खाली हाथ रह जाता है। और दूसरे को भी खाली हाथ भेजता है-घुमाता रहता है। लेकिन हमारी (जिनवाणी की) दुकान ऐसी नहीं है। हम भी नीची दुकान-मकान रखते हैं परन्तु ऊंचे पकवान रखते हैं। ''ऊंची दुकान फीके पकवान'' यह नहीं मिलेंगे।

''वक्तृप्रामाण्याद्वचन प्रामाण्यम्'' – वक्ता की प्रमाणता से वचन प्रामाणिक होते हैं। कारण कि वक्ता यद्वा-तद्वा नहीं कह सकेगा। उसके पास किसी प्रकार का पक्षपात नहीं हुआ करता। एजेन्ट जो होता है वह किसी प्रकार से कम-वेशी दाम नहीं बताता। जिसको लेना हो लो, नहीं लेना हो न लो। इससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। लोग पूछते हैं हम नहीं लेंगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा? वह कहता है कि हमारी दुकान कम्पनी बहुत बड़ी है। जिसमें बिना काम के भी काम चलता है। कभी कम्पनी फेल होने की संभावना भी नहीं। ध्यान रखना, लौकिक कम्पनियां फेल हो सकती हैं पर वीतराग भगवान् की कम्पनी तीनकाल में फेल नहीं हो सकती। इसलिए मैंने तो भैय्या ऐसी कम्पनी में नौकरी कर ली है कि, जितना हम काम करेंगे उतना दाम मुझे आयु

के अन्त तक मिलता रहेगा।

अब हमें अपने जीवन की आजीविका की कोई चिन्ता नहीं। **आचार्यों ने कहा है जिस चतुर वक्ता की आजीविका श्रोताओं के ऊपर निर्धारित है वह वक्ता वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। उन्होंने कहा है-** "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पंच।" वक्ता से पहले श्रोता को जान लेना चाहिए कि वक्ता कैसा-कौन है। जैसा पण्डित जी ने अभी कहा था– किसका लेख है यह किसका प्रवचन है? यह ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। यदि पाठक कुछ भी नहीं जानता और लेखक ठीक है तो वह सब कुछ मानने को तैयार है। नहीं तो वह मानने के लिए तैयार नहीं होगा। **सिद्धान्त कभी भी वक्ता के घर का नहीं चलता। जैसे घर की दुकान हो सकती है, लेकिन नाप-तौल के मापक घर के नहीं हो सकते।** क्यों भैय्या दुकानदारो ! दुकानदार का मतलब है, दो कान वाले। दो कान वाले दुकानदारों ! हम पूछनाचाहते हैं कि माल आपका, दुकान आपकी, सब कुछ आपका, किन्तु नाप-तौल भी आपका हो तो? पकड़े जायेंगे। सब कुछ आपका हो सकता है पर नाप-तौल तो शासकीय ही होगा।

इसी प्रकार प्रवचन आप कर सकते हैं ग्रन्थ भी प्रकाशित कर सकते हैं। परन्तु घर का लिखा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं कर सकते। आचार्यों के ग्रन्थों का सम्पादन/प्रकाशन करने वालों से हम यह कहना चाहते हैं कि वे ऐसा प्रकाशन करें, ऐसे सम्पादकों को रखें, अनुवादकों को रखें, जो जनसेवी हों और निर्भीक भी हों। विद्वानों के बिना यह काम सही-सही नहीं हो सकता, पर वे भी वेतन पर तुलने वाले नहीं होना चाहिए। कितने ही कष्ट आ जायें फिर भी वह इधर का डंडा (मात्रा) उधर लगाने को मंजूर न करता हो। इतना संयत हो।

वक्ता की परिभाषा करते हुए आचार्यो ने कहा है कि– वक्ता निरीह हो, वीतरागी हो, पक्षपाती न हो, किसी भी प्रकार से-प्रलोभन से उलट-पलट करने को तैयार न हो। वह होता है वक्ता।

एक वकील होता है और एक जज (न्यायाधीश) हुआ करता है। दोनों एल. एल.बी. हुआ करते हैं, किन्तु जजमेन्ट वकील नहीं दे सकता। जजमेन्ट जज का ही माना जाता है। एक बार ही दिया जाता है उसमें फिर हेर-फेर नहीं होता। चाहे अपील करें दूसरी अदालत में, यह दूसरी बात है। अदालत में एक बार लिख दिया जज़ ने सो लिख दिया। लेकिन वकीलों की स्थिति वह नहीं हुआ करती, उसके तो एक रात में हजारों "प्वाइन्ट" बदल जाते हैं। आज जज की बड़ी आवश्यकता है,

वकीलों की नहीं। वकील को पेशी पर जाना पड़ता है अतः पेशी कहलाती है। परन्तु जज की पेशी नहीं हुआ करतीं। कोर्ट में जज के सामने राष्ट्रपति को भी यूं (झुकना) करना पड़ता है। इसी तरह सिद्धान्त के सामने सबको झुकना पड़ता है। तीर्थंकर भी नमोऽस्तु करते हैं। जो वस्तुतत्व जैसा है, जिस रूप में है, वहीं सिद्धान्त है उसी को नमस्कार करना पड़ता है। अरहन्त परमेष्ठी को भी नमस्कार नहीं करना होता है, आचार्य को भी नहीं, साधु को भी नहीं, लेकिन वस्तुस्वरूप में अवस्थित सिद्धपरमेष्ठी को उन्हें भी (तीर्थंकरों को) नमस्कार करना पड़ता है। अर्थात् तीर्थंकर उस हाईकोर्ट को नमोऽस्तु करते हैं जिससे ऊपर कोई नहीं। जिसके कोट में कालिमा नहीं है। जज कैसे कपड़े पहनते हैं? फक-सफेद। और वकील? काला कोट पहनते हैं भैय्या ! इसलिए उनकी आज्ञा नहीं मानी जाती। जज की बात मानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी तरह सिद्धरूप शुद्धतत्त्व की बात मानने में हमारा कल्याण होगा, वीतरागी की बात मानने में कल्याण होगा, अन्य की में नहीं। बिना माने हमारा कल्याण संभव नहीं। यह सब हमारे आचार्यों ने कहा है, उसी तत्त्व तक ले जाने की बात उन्होंने की है।

बन्धुओ ! हमें शब्दों की ओर से भीतरी अर्थ की ओर झुकना है। कहाँ तक कहूँ कहा नहीं जाता। इन महान् आचार्यों के हमारे ऊपर बहुत उपकार है। हम उनका ऋण तभी चुका सकते हैं जब हम उनके कहे अनुसार (जैसा कहा वैसा) बनने का प्रयास करेंगे। कुन्दकुन्ददेव के समान तो नहीं चल सकते और उस प्रकार चलने का विचार भी शायद नहीं कर सकते, यह माना जा सकता है परन्तु उनका कहना है कि बेटा ! जितनी तुम्हारी शक्ति है उतनी शक्ति भर तो २८ मूलगुणों को धारण कर। उसमें यदि कमी नहीं करेगा तो मैं तुमसे बहुत प्रसन्न होऊँगा। तेरा उद्धार हो जाएगा, ऐसा समझो। तत्वार्थसूत्र में एक सूत्र आता है– **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि गुरु-शिष्य के ऊपर उपकार करता है और शिष्य गुरु के ऊपर। मालिक मुनीम के ऊपर उपकार करता है और मुनीम मालिक के ऊपर। शिष्य-गुरु से पूछता है कि हमारा उपकार आपके ऊपर कैसे हो सकता है? यह तो आपका ही उपकार मेरे ऊपर है जो कृपा की। तब आचार्य जवाब देते हैं कि गुरु का उपकार शिष्य को दीक्षा-शिक्षा देने में है और शिष्य का उपकार गुरु द्वारा जो बताया है उस पर चलने में होता है। इसी तरह मुनीम का भी। जब तक उनके अनुसार नहीं चलेंगे तब तक हम अपने बाप-दादाओं के, अपने गुरुओं के द्वारा किये गये उपकार को नहीं समझ सकते तथा उनके उपकार को

प्रत्युपकार के रूप में सामने लाना है नहीं तो हम सपूत नहीं कहलायेंगे।

"पूत के लक्षण पालने में" सब लोग इस कहावत को जानते हैं। शब्दों की गहराई में आप चले जाइये, और वस्तुतः शब्दों की गहराई में चले जाएँ तब कहीं जाकर अर्थ को पा सकेंगे। पूत का लक्षण है, माता-पिता-गुरु की आज्ञा को पालने का। जो लड़का/पूत माता-पिता-गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह तीनकाल में भी सपूत नहीं कहलायेगा। कहावत है– "पूत कपूत तो का धन संचय और पूत सपूत तो का धन संचय।" अर्थ यही हुआ सपूत को कुल का दीपक माना गया है। देश की, वंश की, कुल की, परम्परा में जो चार चांद लगा देता है वही सपूत है। हम अपने आपसे पूछ लें कि हम अरहन्त भगवान् के पूत हैं, सपूत हैं या..! कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम उनकी आज्ञा का यथासंभव पालन कर रहे हैं, जो हमारा कर्तव्य है, हम जिस तरह भी कदम बढ़ायें, यदि माता-पिता-गुरुओं का वरदहस्त हमारे ऊपर रहेगा तो हम उस ओर अबाधित बढ़ते जायेंगे।

आज १२-१३ साल हो गये, मालूम नहीं चला, कोई बाधा नहीं। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का वरदहस्त सदा साथ रहा। और उनके ऊपर रहने वाले अनेक महान् आचार्यों के वरदहस्त भी साथ हैं, ऊपर है।

घबड़ाना नहीं, जिस समय चक्रवात चलता है तो नाव आगे नहीं बढ़ती और पीछे भी नहीं जाती। तब ताकत के साथ स्थिर रखना होती है हमें नाम नहीं करना जोरदार, काम जोरदार करना है। हमें अपनी नाव मजबूत रखना है, उसे चक्रवात से हटा के अलग नहीं करना है क्योंकि नाव की शोभा पानी में ही है। तथा उसको निश्छिद्र रखना है। जिस समय किसी छिद्र के द्वारा नाव में पानी आ जाएगा तो नाव डूब जाएगी। हमें कागज की नावों में नहीं चलना है। कागजी नावों से आज सारा का सारा समाज, सारे प्राणी परेशान हैं। आज नावें भी सही नहीं हैं बल्कि आज नाव के स्थान पर चुनाव हावी होते जा रहा है, हमें अपने जीवन की नाव की भव-समुद्र में आये चक्रवात से रक्षा करके उस पार तक ले जाना है जहाँ तक अन्तिम मंजिल है।

आज ऋषभनाथ महाराज आहार के लिये उठेंगे। आप सभी नवधा भक्ति से खड़े होइये। १० भक्ति या ८ भक्ति नहीं करना है। नवधा-भक्ति ही जब पूरी-पूरी होगी तभी वे आहार ग्रहण करेंगे। आज हमें उनके माध्यम से दान की क्रिया, ज्ञान की क्रिया समझनी है, जो वस्तुतः भीतरी आत्मा के प्राप्त करने की एक प्रणाली है। दिगम्बर चर्या खेल नहीं है। बन्धुओ ! आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस चर्या के लिए महान्

से महानतम् उपमाएं दी हैं– यही प्रव्रज्या है, यही श्रमणत्व है, यही जिनत्व है, यही चैत्य है, यह चैत्यालय है, यही जिनागम है, यही सर्वस्व है, यही चलते-फिरते सिद्धो के रूप हैं। केवल ऊपर शरीर रह गया है, भीतर आत्मा वही है, जैसी कुन्दकुन्ददेव की है जैसी सिद्ध भगवान् की है। कहाँ तक कहा जाए। यह पथ, यह चर्या ऐसी है, जिसका स्थान कभी भी आंका नहीं जा सकता। अनमोल है यह चर्या, यह व्रत तो आज भी दिगम्बर सन्त पाल रहे हैं। अन्त में आचार्य ज्ञानसागर जी को स्मरणपथ पर लाकर यह व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

□□

८

जिस समय युग के आदि में वृषभनाथ को केवलज्ञान हुआ, उसी घड़ी वहाँ पर दो और घटनाएं घटी थीं। "भरत" प्रथम चक्रवर्ती माना जाता है, उसके पास एक साथ तीन दूत आकर के समाचार सुना रहे हैं। सर्वप्रथम व्यक्ति की वार्ता थी– प्रभो ! आपका पुण्य कितना विशाल है, पता नहीं चलता। कामपुरुषार्थ के फलस्वरूप पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है। दूसरा कहता है कि– हे स्वामिन् ! इसकी बात तो घर तक की सीमित है तथा यह अवसर कई बार आया होगा। अभी तक हम लोग सुना करते थे कि आप छह खण्ड के अधिपति हैं, लेकिन आज आयुधशाला में एक ऐसी घटना घट गई, जैसे आप लोगों में चुनाव के लिए उम्मीदवार के रूप में खड़े होने की संभावना पर "फलाने को टिकिट मिल गया" ऐसा सुनकर जीप वगैरह की भागा दौड़ी प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी ही स्थिति वहाँ पर हो गई थी। आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है, जो कि आपके चक्रवर्ती होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है। तीसरा दूत कहता है– यह सब स्वार्थ की बातें हैं, हमारी बात तो सुनो ! मैं इन सबसे अद्भुत बात बताऊँगा। अर्थपुरुषार्थ करके कई बार इस प्रकार के दुर्लभ कार्य प्राप्त हुए हैं तथा कामपुरुषार्थ करके कई बार पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गई, लेकिन धर्मपुरुषार्थ करके इस जीव ने अभी तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं की, पर आज आपके पिताजी मुनि वृषभनाथ जी को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।

इन तीनों में बड़ी बात कौन-सी है भैय्या! आप कहेंगे कम से कम लाला का मुख तो देखना चाहिए पहले। फिर दूसरी। अरे ! चक्ररत्न की प्राप्ति हो गई, हुकूमत और सत्ता हाथ में आयी है। **लेकिन यदि सही सत्ता की बात पूछना चाहते हो तो तीन लोक में वही सही सत्ता मानी जाती है, जिस सत्ता के सामने सारी सत्ताएं असत्ताएं हो जायें। केवलज्ञान-सत्ता ही वास्तविक सत्ता है, जिसके समक्ष अन्य सत्ताएं कुछ भी नहीं है।** तीनों की वार्ता सुनी और उठकर चलने को तैयार हो गये, लेकिन रनवास की ओर नहीं गये और न ही आयुधशाला की ओर, उन्होंने कहा यह सब तो बाद की बात है, सर्वप्रथम तो समस्त परिवारजन को तैयार करो, अष्टमंगलद्रव्य के साथ

और हाथी को उस ओर ले चलो जहाँ वृषभनाथ भगवान के समवसरण की रचना हो चुकी है। हमें सुनना है कि भगवान् अब क्या कहेंगे? पिताजी की अवस्था में कुछ और बात कहा करते थे, अब तो कुछ भिन्न ही कहेंगे। अब मुझे बेटा भी नहीं कहेंगे वे, और मैं भी तो उन्हें पिताजी नहीं कहूँगा। अब वो ऐसे बन गये, ऐसे बन गये कि जैसे अनन्तकाल से आज तक नहीं बने थे। आज तक उस दिव्य-दीपक का उदय नहीं हुआ था। अनन्तकाल से वह शक्ति छिपी हुई थी, केवलज्ञानावरणी कर्म के द्वारा, जो आज व्यक्त हुई है। इस तरह के विचारों में निमग्न होते हुए समवसरण में पहुँचे।

समवसरण में पहुँचते ही भरत चक्रवर्ती ने नमोऽस्तु कर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनी। सुनकर वे तृप्त हो गये। "मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरे जीवन में यह घड़ी, यह समय कब आयेगा, जब मैं अपने जीवन को स्वस्थ बनाऊँगा। भगवान् ने स्वस्थ बनने का प्रयास लगातार एक हजार वर्ष तक किया और आज वे स्वस्थ बन गये, आज उसका फल मिल गया।

मोक्ष-पुरुषार्थ किए बिना, मोह को हटाये बिना, तीनकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके उपरान्त ही मुक्ति मिलेगी। यह बात अलग है कि किसी को केवलज्ञान होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति मिल सकती है और किसी को कुछ कम पूर्वकोटी तक भी विश्राम करना पड़ता है।

अब दिव्यध्वनि क्यों? या यह कहिए कि केवल ज्ञान होने के उपरान्त उनकी क्या स्थिति रहती है, जानने-देखने के विषय में? यह प्रश्न सहज ही उठता है क्योंकि जब श्रेणी में ही निश्चयनय का आश्रय करके वह आत्मस्थ होने का प्रयास करते हैं तो केवल ज्ञान होने के उपरान्त दुनियां की बातों को देखने में लगेंगे क्या? ऐसा सवाल तो तीन काल में भी नहीं होना चाहिए ना, लेकिन नहीं। नियमसार मे आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है कि केवलज्ञान होने के उपरान्त केवली भगवान् इस तरह जानते हैं, देखते हैं–

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

शुद्धोपयोग अधिकार में कहा है कि केवली भगवान् नियम से अर्थात् निश्चय से या यो कहें नियति से, अपनी आत्मा को छोड़कर के दूसरों को जानने का प्रयास नहीं करते। परन्तु व्यवहार से वे स्व और पर दोनों को अर्थात् सबको-सब लोकालोक को जानते हैं, देखते हैं।

सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह उनके उज्ज्वल ज्ञान की एक परिणति मात्र

है अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है कि वे सबको जानते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो वस्तुतः अपना, अपने को, अपने साथ, अपने लिए, अपने से, अपने में जानने-देखने से सिद्ध हुआ करता है, ऐसा समयसार का व्याख्यान है। इस तरह का श्रद्धान रखना-बनाना ही निश्चयसम्यग्दर्शन कहा है तथा अन्यथा श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं इत्यादि। इसलिए–

सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि रज रहस विहीन।।

केवली भगवान् सबको जानते हैं व्यवहार की अपेक्षा से, किन्तु आनन्द का जो अनुभव कर रहे हैं वह किसमें? अपने भीतर कर रहे हैं। यही वस्तुतत्त्व है। णियमेण अर्थात् निश्चय से देखेंगे तो सबको नहीं देखेंगे, सबको नहीं जानेंगे। सबको जानने-देखने का पुरुषार्थ उन्होंने किया नहीं था। यदि सबको देखने-जानने का पुरुषार्थ कर लें तो गड़बड़ हो जाएगा। उनका ज्ञान स्वतन्त्र है, वे स्वतन्त्र हैं और उनके गुण भी स्वतन्त्र हैं। किसी के लिए उनका अस्तित्व, उनका वैभव नहीं, उनकी शक्ति नहीं। स्वयं के लिए है, पर के लिए नहीं। हमारे लिए वो केवली नहीं किन्तु स्वयं अपने लिए केवली हैं। हमारे लिए तो हमारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान है, वही साथ-साथ रह रहा है किन्तु केवली का ज्ञान तो हमारे लिए आदर्श होगा। आदर्श से हम भी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को मिटाकर केवलज्ञान में परिणत कर सकते हैं, ऐसा आदर्श ज्ञान देखकर हमारे भीतर भी आदर्श बनना चाहिए।

छद्मस्थावस्था में उपयोग हमेशा अर्थ पदार्थ को ही लेकर चलता है। छद्मस्थावस्था का सामान्य लक्षण भी यही बनाना चाहिये कि, जो ज्ञान पदार्थ की ओर मुड़कर के जानता है वह ज्ञान छद्मस्थ का है और जो पदार्थ की ओर मुड़े बिना अपने-आप से अपने आपको जानता है या अपने आप में लीन रहता है वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष पूर्णज्ञान है। चाहे मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो या मनःपर्यय, चारों ही ज्ञान पदार्थ की ओर मुड़कर के जानते हैं। यही आकुलता है। फिर ज्ञान की निराकुलता क्या है? ज्ञान की निराकुलता यही है कि वह पदार्थ की ओर न मुड़कर के अपनी ओर, अपने में ही रहे। केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो पदार्थ की ओर नहीं मुड़ता है, मुड़ना ही आकुलता है। स्व को छोड़कर के पर की ओर मुड़ा जाता है और पर को छोड़कर स्व की ओर मुड़ा जाता है। दो प्रकार के मोड़ हैं। हमारा मोड़ तो दूसरे की होड़ के लिए पर की ओर मुड़ता है। अपनी वस्तु को छोड़कर जिसका ज्ञान, पर के मूल्यांकन के लिए चला जाता है वह छद्मस्थ

का आकुलित ज्ञान, राग-द्वेषी का ज्ञान है। केवली का ज्ञान सब कुछ झलकते हुये भी अपने-आप में लीन है, स्वस्थ है।

ज्ञान का
पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही
परम-आर्त
पीड़ा है, दुःख है
और पदार्थ का
ज्ञान में झलक आना ही
परमार्थ
क्रीड़ा है सुख है...........?

हम दूसरों को समझाने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरों के लिए हमारा जीवन होता जा रहा है, लेकिन दर्पण जिस प्रकार बैठा रहता है उसी प्रकार केवलज्ञान बैठा रहता है। उसके सामने जो कोई भी पदार्थमालिका आती है तो वह झलक जाती है। यह केवलज्ञान की विशेषता है। सुबह मंगलाचरण किया था जिसमें अमृतचन्द्राचार्य जी ने कहा था देखो– "पदार्थमालिका प्रतिफलति यत्र तस्मिन् ज्योतिषि तत् ज्योतिः जयतु" – वह केवलज्ञान-ज्योति जयवन्त रहे जिस केवलज्ञान में सारे के सारे पदार्थ झलक जाते हैं लेकिन पदार्थों की ओर ज्योति नहीं जाती। दर्पण पदार्थ की ओर नहीं जाता और पदार्थ दर्पण की ओर नहीं आते फिर भी झलक जाते हैं। तो दर्पण अपना मुख बन्द भी नहीं करता। **ज्ञेयों के द्वारा यदि ज्ञान में हलचली हो जाती है, आकुलता हो जाती है तो वह छद्मस्थ का ज्ञान है ऐसा समझना और तीनलोक के सम्पूर्ण ज्ञेय जिसमें झलक जाऐं और आकुलता न हो, फिर भी सुख का अनुभव करें, वही केवलज्ञान है।** यह स्थिति छद्मस्थावस्था में तीनकाल में बनती नहीं है। इसलिए छद्मस्थावस्था में केवलज्ञान की किरण केवलज्ञान का अंश मानना भी हमारी गलत धारणा है। क्योंकि केवलज्ञान की क्वालिटी का ज्ञान छद्मस्थावस्था में मानने पर सर्वघाती प्रकृति को भी, देशघाती के रूप में अथवा अभावात्मक मानना होगा। जो कि सिद्धान्त-ग्रन्थों को मान्य नहीं है। इस जीव की वह केवलज्ञान शक्ति अनन्तकाल से अभावरूप (अव्यक्त) है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एक गाथा आती है–

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसि सत्ती
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स।।

पुद्गलके पास ऐसी अद्भुत शक्ति नियम से है, जिस शक्ति के द्वारा उससे जीव का स्वभावभूत केवलज्ञान एक प्रकार से नाश को प्राप्त हुआ है। कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में कर्म के दो भेद बताए गये हैं। "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" में पं० गोपालदास बरैया ने इसकी परिभाषा स्पष्ट की है, जिसे आचार्यों ने भी स्पष्ट किया है। वे दो भेद हैं– देशघाती और सर्वघाती। केवलज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव सर्वघाती बताया है। सर्वघाती प्रकृति को बताया है कि वह इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि सूर्योदय के समक्ष अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं, तथा अन्धकार के सद्भाव के साथ सूर्य का। अर्थ यह हुआ कि केवलज्ञान की जो परिणति है उस परिणति की एक किरण भी बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक उद्घाटित नहीं होगी, क्योंकि केवलज्ञानावरण कर्म की ऐसी "अपोजिट" शक्ति है जिसको बोलते हैं सर्वघाती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल के पास भी ऐसी शक्ति है कि जो बारहवें गुणस्थान में जाने के उपरान्त जीव को अज्ञानी घोषित कर देती है। बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ माने जाते हैं, लेकिन वीतरागी इसलिए है कि मोह का पूर्ण रूप से क्षय हो चुका है। बड़ी अद्भुत बात है, मोह का क्षय होने के उपरान्त भी वहाँ पर अज्ञान पल रहा है, यह भंग प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक चलता है। चाहे वो एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, चाहे पशु हो या देव, चाहे मुनि हो या आर्यिका, कोई भी हो बारहवें गुणस्थान तक, जब तक उसका पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक अज्ञान रूप भंग उसके सामने से हट नहीं सकेगा। घातिया कर्मों को नष्ट किये बिना केवलज्ञान का प्रादुर्भाव तीनकाल में भी नहीं हो सकेगा। उस केवलज्ञान की महिमा कहाँ तक कही जाये। कितना पुरुषार्थ किया होगा उन्होंने, उस पुद्गल की शक्ति का संहार करने के लिए ! बात बहुत कठिन है और सरल भी है कि एक अन्तर्मुहूर्त मेंआठ साल का कोई लड़का जो कि निगोद से निकल कर आया है, यहाँ पर उसने मनुष्य पर्याय प्राप्त की। आठ साल हुए नहीं कि, वह भी इतना बड़ा अद्भुत कार्य अपने जीवन में कर सकता है। इतना सरल है। और कठिनाई की तो आप जानते ही हैं कि १००० वर्ष तक कठिन तप किया भगवान् वृषभनाथ ने तब कहीं जाकर के केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

जीव के पास भी ऐसी-ऐसी अद्भुत शक्तियां हैं जिनसे कर्मों की चित्र-विचित्र शक्तियों को नष्ट कर देता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ कर्म होते हैं। आठ कर्मों में भी १४८ भेद और हो जाते हैं, यह संख्या की अपेक्षा है। परन्तु १४८ कर्म के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। किसके कर्म किस क्वालिटी के हैं–

जाति की अपेक्षा, नाम की अपेक्षा से तो मूल में आठ होते हुए भी उनकी भीतरी क्वालिटी के बारे में हम कोई अन्दाजा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा ज्ञान छद्मस्थ/अल्प है। इसीलिए किसी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होना संभव है और किसी को हजारों वर्ष भी लग सकते हैं

केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कई प्रकार की निर्जरा करनी पड़ती है। निर्जरा अधिकार में आचार्यों ने कहा है कि कर्म दो प्रकार के हैं पाप और पुण्य। इनकी निर्जरा किये बिना मुक्ति संभव नहीं, केवलज्ञान नहीं और कुछ भी नहीं। पहले-पहल पाप कर्मों की निर्जरा की जाती है, पुण्य कर्म की नहीं। पाप कर्मों से भी सर्वप्रथम घातिया कर्मों की निर्जरा की जाती है अघातिया कर्मो की नहीं, कुछ सापेक्ष रूप से हो जाती है यह बात अलग है। जैसे कुछ पौधों को बो दिया, लगा दिया, रोप दिया, खाद पानी दे दिया तो उसके साथ घास-पूस भी उग आया। तब घास-पूस को उखाड़ा जाता है लेकिन उसके साथ-साथ कुछ पौधे, जो कि रोपे गये थे उखड़ जाते है, उनको उखाड़ने का अभिप्राय नहीं होता। वस्तुतः इसी तरह सापेक्षित रूप से कुछ अघातिया कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है, की नहीं जाती। सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा करता है तो पाप कर्म की ही करता है, यह जैन कर्म-सिद्धान्त है। मैंने धवला में कहीं नहीं देखा कि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य कर्म की निर्जरा करता है। बल्कि यह कथन तो धवला में बार-बार आया है कि "सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि" प्रशस्त कर्मो के अनुभाग की निर्जरा सम्यग्दृष्टि तीनकाल में कभी भी नहीं करता, क्योंकि जो बाधक होता है मार्ग में, उसी की सर्वप्रथम निर्जरा की जाती है। इसी प्रकार हम पूछते हैं कि आस्रव और बन्ध की क्रिया में भी वह कौन-सी पुण्य प्रकृति को बन्ध होने से रोक देता है? १० वें गुणस्थान तक की व्यवस्था में जो प्रशस्त कर्म बंधते हैं तो कर्म सिद्धान्त के वेत्ता बताएं कि उनमें से कितने, कौन से प्रशस्त कर्मो को रोकता है? अर्थ यह हुआ कि कर्मों की निर्जरा किये बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, लेकिन कर्मों की निर्जरा का क्रम भी निश्चित है, वह कैसा है? यह देखने की बड़ी आवश्यकता है विद्वानों को, स्वाध्यायप्रेमियों को और साधकों को। इस क्रम को देखकर के, जानकर के जब हमारा श्रद्धान बनेगा तब ही हमारा श्रद्धान सही होगा, तीन प्रकार के विपर्यासों से रहित होगा। तीन प्रकार का विपर्यास हुआ करता है– एक कारण विपर्यास, दूसरा स्वरूप विपर्यास और तीसरा भेदाभेद विपर्यास। कौन-सा कारण, किसके लिए बाधक है, इसका सही-सही ज्ञान नहीं है वह कह देता है–

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके

सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों से परे होता है।-न वह पुण्य करता है और न ही पाप। तब कहीं आत्मिक सुख का अनुभव करता है। लेकिन यहाँ पर ध्यान रक्खो पं. दौलतराम जी संवर भावना का व्याख्यान कर रहे हैं, इसलिए पुण्य और पाप दोनों के कर्त्तव्य से भिन्नता की बात कही है। न कि कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा से। उन कर्मों की बन्धव्युच्छित्ति आदि की अपेक्षा से भी नहीं। आगम का कथन तो है कि १०वें गुणस्थान तक पुण्य के आस्रव को रोकने का कहीं भी सवाल नहीं। और दसवें गुणस्थान के ऊपर तो ना पुण्य कर्मों का और ना ही पाप कर्मों का साम्परायिक आस्रव होता है यह सब वहाँ भावनाकार पं. दौलतराम जी के कथन मे अविवक्षित है कारण कि वहाँ मात्र भावना की ही विविक्षा है। कल पण्डित्जी जो कह रहे थे कि "सम्यग्दृष्टि पूर्वबद्ध पुण्य-पाप कर्मों की निर्जरा करता है और नवीन पुण्य-पाप कर्मो को रोक देता है, जो पुण्यास्रव को रोकने का प्रयास नहीं करता, वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह तो अभी विपर्यास मे पड़ा है। अब आप ही देख लीजिए कि विपर्यास में कौन है? बात ऐसी है कि जब हम इन (धवलादि) चालीस किताबों का अध्ययन करते हैं तो बहुत डर लगने लग जाता है कि थोड़ी-सी भूल से हम जिनवाणी को दोषयुक्त करने में भागीदार हो जायेगे। बहुत ही सावधानी की बात है। संभाल-संभाल कर बोल रहा हूँ भगवान् यहाँ पर बैठे है, दिव्यज्ञानी हैं।

प० दौलतराम जी ने बहुत मार्के की बात कही है "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इसका अर्थ हुआ कि साम्परायिक आस्रव १०वें गुणस्थान तक होता है। साम्यपरायिक का अर्थ होता है कषाय, जिसके माध्यम से आगत कर्मो मे स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। इसके उपरान्त ईर्यापथ आस्रव होता है वह भी एक मात्र सातावेदनीय का। जो दुनिया को साता देता है, उस साता के अभाव में आप तिलमिला जायेंगे। केवल असाता-असाता का बन्ध कभी नहीं होता है, न ही संभव है। क्योंकि साता-असाता दोनों आवश्यक है संसार की यात्रा के लिए। पुण्य और पाप दोनों चाहिए। अकेला पुण्य का आस्रव दसवें गुणस्थान तक कभी भी नहीं होता और अकेले पाप का भी नहीं। केवल साता का आस्रव ११.१२.१३ वें गुणस्थान इन तीनों में होता है। इस कर्मास्रव (पुण्यास्रव) से हमारा कोई भी बिगाड़ नहीं होता। मुक्ति के लिए बिगाड़ फिर भी हैं, लेकिन केवलज्ञान के लिए यह कर्मास्रव (पुण्यास्रव) बेड़ी नहीं

है, क्या कहा? सुना कि नहीं। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल घातिया कर्मों का नाश करना होता है, घातिया कर्मों में, चाहे मूल प्रकृति हो या उत्तर प्रकृति, कोई भी प्रकृति प्रशस्त प्रकृति नहीं होती। इसलिए जैनाचार्यों का कहना है कि सर्वप्रथम पाप कर्मों की निर्जरा करके नवीन कर्मो को तू रोक ले पुण्य तेरे लिए कोई विपरीत काम नहीं करेगा, बाधक नहीं होगा। पुण्य को रखने की बात नहीं कही जा रही है, लेकिन निर्जरा का क्रम तो यही होगा कि सर्वप्रथम पाप का संवर करें, नवीन पापास्रव को रोकें, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करें और वर्तमान बन्ध को मिटा दें तो नियम से वह केवलज्ञान प्राप्त करा देगा। यह भी ध्यान रखना कि जब तक साता का आस्रव होता रहेगा तब तक उसे मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं है। केवलज्ञान होने के उपरान्त भी आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी वह रह सकता है। वैभाविक पर्याय में और केवल साता का आस्रव होता रहता है। उस आस्रव को रोकने के लिए आचार्य कहते हैं कि तृतीय व चतुर्थ शुक्ल ध्यान आवश्यक है, वे ही भीतर बैठे हुए अघातिया कर्मों का नाश करने में समर्थ हैं। अघातिया कर्मों की निर्जरा करने का नम्बर बाद में आता है, लेकिन घातिया कर्मों की निर्जरा करने का प्रावधान पहले है।

संवर के क्षेत्र में, बन्ध के क्षेत्र में भी इसी क्रम की बात आती है। इसलिए "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इस दोहे का अर्थ– मर्म सही-सही वही व्यक्ति समझ सकता है जो कर्म सिद्धान्त के बारे में सही-सही जानकारी रखता है। यदि इस प्रकार की सही-सही जानकारी नहीं रखता हुआ भी वह कहता है कि सम्यग्दृष्टि पाप पुण्य दोनों प्रकार के कर्मास्रव को रोक देता है, वह भी चतुर्थगुणस्थान में रोक देता है, तो उसे तो अपने-आप ही बन्ध होगा और कोई छोटा बन्ध नहीं, बहुत बड़ा बन्ध माना जायेगा, क्योंकि सामने वाला सोचेगा कि विकल्प तो मिटे नहीं फिर भी यह कह रहे हैं कि पुण्य नहीं होना चाहिए और हो रहा है तो इसका अर्थ है कि मेरे पास सम्यग्दर्शन नहीं है और धर्मात्मा भी नहीं हो सकता जब तक, तब तक कि पुण्य बन्ध को न रोकूं। ऐसा करने वाले व्यक्ति के पास जब खुद के सम्यग्दर्शन का पतियारा (ठिकाना) नहीं है, तो चारित्र की बात करना ही गलत हो जाएगी। इस प्रकार यदि श्रद्धान बना लेता है तो दोनों ही संसार की ओर बढ़े चले जा रहे हैं– उपदेश सुनने वाला भी और उपदेश देने वाला भी। जैसा कि कहा है–

"केचित्प्रमादान्नष्टाः केचिच्चाज्ञानान्नष्टाः, केचिन्नष्टैरपि नष्टाः"

कुछ लोग प्रमाद के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, कुछ लोग अज्ञान के द्वारा नष्ट हो

जाते हैं और कुछ लोग नष्ट हो रहे लोगों के पीछे-पीछे नष्ट हो जाते हैं। हम सिद्धान्त का ध्यान नहीं रख पाते हैं इससे बातों-बातों में कितना गलत कह जाते हैं, यह पता भी नहीं चलता। इसलिए बन्धुओ! यदि आप स्वाध्याय का नियम लेते हैं तो दूसरों को सुनाने का विकल्प छोड़कर लीजिए, तभी नियम ठीक होगा। दूसरों को समझाने की अपेक्षा से भी नहीं। दूसरों को समझाने चले जाओगे तो लाभ कम होगा, हानि ज्यादा होगी। इसके द्वारा जिनवाणी को सदोष बनाने में और हाथ आ जायेगा। भीति लगती है कि ४० किताबों में कहां-कहां पर कैसे-कैसे भंग बनते हैं, यह भी पता नहीं चल पाता और अपनी तरफ से उसमें जजमेंट देने लगते हैं। जबकि हम उसके अधिकारी नहीं होते। इसलिए सोच लेना चाहिए कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को कौन-कौन से पुण्य कर्म का संवर होता है? १४८ ही तो कर्मों की संख्या है, और कोई ज्यादा नहीं है जो कि याद न रह सके। यहाँ दुनियादारी के क्षेत्र में तो हम बहुत कुछ याद कर लेते हैं लेकिन १४८ में से चतुर्थगुणस्थान में कौन-कौन से कर्म का आस्रव रुका, संवर हुआ, उनमें प्रशस्त कितने, अप्रशस्त कितने हैं? पाप कर्म कितने हैं, पुण्य कितने हैं, यह याद नहीं रह पाता? यदि इसको ठीक-ठीक समझ लें तो अपने आप ही ज्ञात हो जायेगा कि हमारी धारणा आज तक पुण्य कर्म को रोकने में लगी रही, लेकिन आगम में ऐसा कहीं लिखा नहीं है।

बात खुरई की है जब आगम में निकला कि "सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि" तो देखते रह गये। वाह.........वाह! स्वाध्याय का यह परिणाम निकला। आप इस प्रकार के स्वाध्याय में लगे रहिये। ऐसा स्वाध्याय करिये, इसे मैं बहुत पसन्द करूंगा। इस प्रकार के सही-सही स्वाध्याय से एक-दो दिन में ही आप अपनी प्रतिभा के द्वारा बहुत-सी गलत धारणाओं का समाधान पा जायेंगे। लेकिन यह ध्यान रखना कि ग्रन्थ आर्षप्रणीत मूल संस्कृत और प्राकृत के हों उनका स्वाध्याय करना। उसमें भाषा सम्बन्धी कोई खास व्यवधान नहीं आयेगा। यदि कुछ व्यवधान आ भी रहे हों तो उसमें स्वाध्याय की कमी नहीं, हमारे क्षयोपशम की, बुद्धि में समझ सकने की कमी हो सकती है। आप बार-बार पढ़िये, अपने आप समझ पैदा होगी, ज्ञान बढ़ेगा। महाराज जी ने एक बार कहा था कि "एक ग्रन्थ का एक ही बार अवलोकन करके नहीं छोड़ना चाहिए। तो फिर कितनी बार करना चाहिए? १०८ बार करना चाहिए कम से कम, लेकिन वह भी ऐसा नहीं कि "तोता रटन्त पाठ करो" किन्तु पहले की अपेक्षा दूसरी बार में, दूसरी की अपेक्षा तीसरी बार में आपकी प्रतिभा बढ़ती रहनी चाहिए, तर्कणा पैनी होनी चाहिए, तो अपने-आप

शंकाओं का समाधान होता चला जाता है।

आज हमारी स्मरण शक्ति, बुद्धि १४८ कर्मों के नाम भी नहीं जानती और आद्योपान्त ग्रन्थ का अध्ययन करना तो मानो सीखा ही नहीं, और हम चतुर्थगुणस्थान में पुण्य-पाप, दोनों कर्मों के आस्रव से उस सम्यग्दृष्टि को दूर कराने के प्रयास चालू कर देते हैं, लेकिन सफल नहीं हो पाते और न आगे कभी सफल हो सकेंगे।

बन्धुओ! यह बात अच्छी नहीं लग रही होगी। परन्तु मां जिनवाणी की ही है, मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं तो बीच में मात्र भाषान्तरकार के रूप में हूँ। जिनवाणी कह रही है आप सोचिए और प० दौलतराम जी को सही-सही समझने का प्रयास कीजिए। वे संवर के प्रकरण को लेकर के, सर्वप्रथम मुनियों की बात कह रहे हैं कि बारह भावनाओं का चिन्तन कौन करता है? आप कहेंगे महाराज! क्या श्रावक नहीं कर सकते? नहीं। करना तो सभी को चाहिए, बात करने की नहीं। लेकिन भावना फलीभूत किसकी होगी? ठीक-ठीक किसकी होगी? तो उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में स्वयं कहा है कि–

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"

भावना सही-सही होनी चाहिए। भावना केवल पाठ न रह जाए, अत: चारित्र को अंगीकार करके परिषहों के साथ बारहभावनाओं का चिन्तन, धर्म को समीचीन बनाते हुए समितियों में सम्यक्पना लाते हुए, गुप्ति की ओर बढ़ना, यही एकमात्र संवर का यहाँ पर तात्पर्य परिफलित होता है। तो बारह भावनाओं का चिन्तन ज्यों ही तीर्थकरों ने किया, तो वन की ओर चले गए। उस समय ऊपर की ओर से कौन आते हैं? देवर्षि आते हैं। कौन होते हैं वे देवर्षि? लौकान्तिक देवों को कहते हैं देवर्षि, बालब्रह्मचारी होते हैं, पंचम स्वर्ग के ऊपर उनकी कालोनी बनी है उनमें रहते हैं। द्वादशांग के पाठी होते हैं, सफेद वस्त्र धारण करते हैं, वहाँ कोई भी देवियाँ नहीं होतीं तथा हमेशा बारहभावनाओं का चिन्तन करते रहते हैं। वे कहाँ से गए हैं? तो, जाते तो हैं वे मात्र भरत, ऐरावत एवं विदेह क्षेत्र की कर्मभूमियों से, भोग भूमि से कोई नहीं जा सकता वहाँ पर! महाराज क्या सम्यग्दृष्टि वहाँ जा सकते हैं? हां सम्यग्दृष्टि ही जाते हैं लेकिन "अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव नहीं हो सकते हैं।" किसी एक व्यक्ति से कल हमने सुना– वह कह रहे थे कि महाराज! वहां पर रात्रि में चर्चा चल रही थी कि अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकते हैं, लेकिन आप तो कह रहे थे कि मुनि बने बिना नहीं जा सकते हैं। कौन कहता है कि अविरतसम्यग्दष्टि लौकान्तिक देव हो सकता है? मैं तो अभी भी कह रहा हूँ

कि प्रत्येक मुनि के पास भी लौकान्तिक बनने की योग्यता नहीं। जो रत्नत्रय को पूर्णरूपेण निभाता है वह भावनाओं के चिन्तन में अपने जीवन को खपाता है, महाव्रतों का निर्दोष पालन करता है, इस प्रकार की चर्चा निभाते हुए अन्त में वह लौकान्तिक बनता है। तिलोयपण्णत्ति को उठाकर के देख लेना चाहिए। जो व्यक्ति मुनि हुए बिना चतुर्थगुणस्थान से लौकान्तिक देव बनने का प्रयास कर रहा है वह व्यक्ति इस ओर नहीं देख रहा है जो तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है। इस प्रकार की कई गलतियां हमारे अन्दर घर कर चुकी हैं। यदि अज्ञान के कारण कोई बात अन्यथा हो जाए तो बात एक बार अलग है, क्षम्य है। लेकिन तत्सम्बन्धी जिसे ज्ञान भी नहीं और ऊपर से आग्रह है तो उन्हें इस प्रकार के उपदेश या प्रवचन नहीं देना चाहिए। प्रवचन देने का निषेध नहीं है किन्तु जिस विषय के बारे में पूर्वापर ज्ञान हमें सही-सही नहीं है और उसका हम प्रवचन दें तो इसमें बहुत सारे व्यवधान हो सकते हैं। यदि इसमें कषाय और आ जाए तो फिर बहुत गड़बड़ हो जाएगा। मोक्षमार्ग बहुत सुकुमार है और बहुत कठिन भी। अपने लिए कठोर होना चाहिए और दूसरों के लिए सुकुमार होना चाहिए किन्तु कषायों की वजह से दूसरों को कठोर बना देते हैं और अपने लिए नरम बना लेना चाहते है। लेकिन मोक्षमार्ग है आप की इच्छा के अनुसार नहीं बनने वाला, भैय्या!

भगवान् के दर्शन अच्छे ढंग से करो, उनकी भक्ति करो। भगवान् की भक्ति करने से हमें कुछ नहीं होता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी कहते हैं कि–

अरिहंतु णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।

जो प्रयत्नवान् होकर के अरहन्तों की भक्ति करता है, भावों की एकाग्रता के साथ करता है तो नियम से वह कुछ ही दिनों में, घड़ियों में सभी दुःखों से मुक्ति पा जायेगा। "भावेण" यह शब्द बहुत मार्के का है। अर्थ यह है कि अरहन्त भक्ति करो पर "हेयबुद्धि से करना, इस पर मन कुछ सोचने को कहता है। कई लोग ऐसा व्याख्यान देते हैं कि भक्ति आदि क्रियाएं हेयबुद्धि से करना चाहिए, लेकिन वह मेरे गले नहीं उतरता है। कई लोग कहते हैं कि महाराज! कम से कम अरहन्तभक्ति करते समय हमारी हेयबुद्धि कैसे हो? हम तो हैरान हो जाते हैं कि भैया! इस प्रकार का प्रश्न तो आपने कर दिया हमारे सामने किन्तु इसके लिए उत्तर मैं कहाँ से ढूंढू? और यदि इसका उत्तर समीचीन नहीं देता हूँ तो मुझे दोष लगेगा। आपको कुछ

नहीं कहने पर आप और भी इस तरह की गलत धारणा बना लेंगे। दूसरी तरफ आगम मे ऐसा कुछ कहा भी नहीं जिससे आपका समाधान हो सके। अब तो फंदे में पड़ गये हम। किन्तु फिर भी ढूंढता रहता हूँ कि कौन-सा शब्द कहाँ पर किस रूप मे प्रयुक्त होता रहता है? मैं मजूर करता हूँ कि अरहन्त-भक्ति करते-करते किसी को भी केवलज्ञान नहीं हुआ, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अरहन्त-भक्ति के द्वारा संवर और निर्जरा भी नहीं होती। ऐसा कदापि नहीं मानना। सवर, निर्जरा नियम से होती है। इस सवर-निर्जरा के द्वारा साक्षात्केवलज्ञान नहीं होता। यह बात बिल्कुल अलग है कि जो केवलज्ञान प्राप्ति की भूमिका में है और "अरहन्त-भक्ति (अरहन्त-सिद्ध)" करता रहेगा तो उसे अरहन्त पद नहीं मिलेगा क्योंकि उसकी स्थिति अभी पराश्रित है।

समयसारादि ग्रन्थों में कहा गया है कि अरे! तू मुनि हो गया, अब शुद्धोपयोग धारण कर, शुद्धोपयोग में लीन हो जा। यदि शुद्धोपयोग में लीन हो जाएगा तो तू भी उसी के समान बन जाएगा जिसकी भक्ति कर रहा है।

सुबह प्रार्थना में भजन में कोई सज्जन कह रहे थे कि "भक्त नहीं भगवान् बनेंगे। मैंने सुना क्या बोल रहे हैं भजनकार? भैय्या यह तो बहुत गड़बड़ बात होगी कि जो भक्त तो नही बनेगा और भगवान् बनेगा। भगवान् तो बनना है लेकिन "भक्त बनकर भगवान् बनेंगे, ऐसा क्रम होना चाहिए। नहीं तो सारे के सारे लोग भक्ति छोड़कर भगवान् बनने बैठ जायेंगे तो मामला गड़बड़ हो जाएगा। प्रसंग को लेकर अर्थ को सही निकाला जाए तो कोई विसंवाद नहीं, किन्तु उसी पर अड़ जाये तो मामला ठीक नहीं। भक्ति के द्वारा जो केवल ज्ञान माने, तो वह समयसार नहीं पढ़ रहा है और समयसार पढ़ते हुए यदि हम यह कहें कि "भक्ति से कुछ नहीं होता" तो भी समयसार नहीं पढ़ रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि–

मग्गप्पहावणट्ठं, पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।।

प्रवचन भक्ति के द्वारा प्रेरित हुई मेरी आत्मा ने इस प्रवचन (आगम) के साररूप पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र को कहा। मार्ग की प्रभावना को दृष्टि में रखकर ऐसी भावना उद्भूत हुई। भक्ति से ओतप्रोत होकर के जिनवाणी का एक ऐसी सेवा करने का ऐसा भाव यदि इस भूमिका में नहीं होगा तो कौन-सी भूमिका में होगा? क्या सप्तम भूमि में होगा? नहीं होगा। करुणा से युक्त हृदय वाले ही भक्ति कर सकते हैं। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की अरहन्त भक्ति-श्रुतभक्ति नहीं होती तो यह जिनवाणी भी हमारे

सामने नहीं होती। आप भी तो बोलते है कि "तो किस भांति पदारथ पांति, कहाँ लहते रहते अविचारी" हां... हा ! जिनवाणी-भक्ति में क्या मार्मिक बात कही है, कि हमारा अस्तित्व कहाँ, यदि यह जिनवाणी न होती तो? किसी उर्दू शायर ने भी कहा है उसे भी याद ला रहा हूँ, बहुत अच्छी बात कही— उनकी ये दृष्टि हो या न हो, लेकिन मैंने तो इसका इस प्रकार अर्थ निकाला है—

नाम लेता हूं तुम्हारा लोग मुझे जान जाते हैं।
मैं एक खोई हुई चीज हूं जिसका पता तुम हो।।

मेरा कोई "एड्रेस" नहीं, पता नहीं। अगर कुछ है तो तुम ही हो ! तुम्हारी शरण छूट गयी तो हमारे लिये कोई शरण नहीं भगवान्!

"अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम" अरहंते सरणं पव्वज्जामि। हे भगवान्! (पंचपरमेष्ठी) आपके चरण कमलों की शरण को छोड़कर के कौन-सी मुझे शरण है? भगवान् की भक्ति करते हुऐ यदि हेयबुद्धि लाने का प्रयास करोगे तो बन्धुओ! ध्यान रक्खो "शुद्धोपयोग की भूमिका आपको नहीं मिलेगी और अशुभोपयोग की भूमिका छूटेगी नहीं।" भक्ति शुभोपयोग में हुआ करती है। लेकिन शुभोपयोग के द्वारा केवल बन्ध होता है, ऐसा नहीं है, शुभोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा भी होती है। सर्वप्रथम प्रवचनसार में आत्मख्याति लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा की टीका में लिखा है कि—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।।

यह प्रशस्तभूत जो श्रावकों की अरहन्त-भक्ति, दान और पूजादि रूप प्रशस्तचर्या है इसके द्वारा "क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य" ये शब्द अमृतचन्द्राचार्य के हैं। जयसेनाचार्य जी ने इसका और खुलासा किया है। सर्वप्रथम इन अध्यात्म ग्रन्थों में क्रमतः शब्द का प्रयोग किया है तो अमृतचन्द्राचार्य जी ने ही। जो व्यक्ति (अमृतचन्द्राचार्य) क्रमतः अर्थात् परम्परा से परम निर्वाण के सुख को प्राप्त करने के लिए सरागचर्या और अरहन्त-भक्ति को कारण मानते हैं तो उसके लिए "एकान्त से संसार का ही कारण मानना ऐसा कह देना, आचार्य अमृतचन्द्राचार्य को दुनिया से अपरिचित कराना है।"

शुद्धोपयोग के साथ कुछ भी आस्रव नहीं होता, बिल्कुल ठीक है। परन्तु शुभोपयोग के द्वारा केवल आस्रव ही होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए तो अमृतचन्द्राचार्य जी ने ये शब्द दिये "क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः"

और कुन्दकुन्द भगवान् क्या कहते हैं? "ताएव पर लहदि सांक्ख" अर्थात् उसी सरागचर्या के द्वारा क्रमशः निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ पर यदि मुनि कहे कि हम भी ऐसा ही करे, तो आचार्य कहते हैं कि– बावला कहीं का ! तुम्हारी शोभा इसमें नहीं आती, तुम्हारी तो भूमिका शुद्धोपयोग की है। शान्ति से बैठ जा, और आत्मा का ध्यान कर ले ! तुम्हे क्रमशः नहीं "साक्षात्" की भूमिका है। लेकिन वर्तमान में बन्धुओ ! इस विवक्षा को नहीं समझोगे तो उस भक्ति को भी खो दोगे और उधर भी कुछ नहीं मिलेगा, तब कहाँ रहोगे? इस सब अवस्था को देखकर भगवान् कुन्दकुन्द को कितना दुःख होगा, अमृतचन्द्राचार्य को कितना दुःख होगा? उन्होंने प्रयास किया लिखने में, टीका करने में और हम अर्थ निकालनेवाले ऐसा अर्थ निकाल रहे है? बेचारी इस भोली-भाली जनता का क्या होगा? इसलिए आचार्यों ने टीका के ऊपर टीकाएं, कुंजी, नोट्स ये वो सब कुछ लिखे हैं। लेकिन टीका की कीमत, कुंजी की कीमत, तब तक ही है जब तक मूल है,ताला है मूल नहीं तो टीका, कुंजी का बड़ा-सा गुच्छा अपने पास रख ले तो भी कुछ (कोई भी) कीमत नहीं।

आज किताब का तो अध्ययन कोई करता नहीं और कुंजियों के द्वारा पास होने वाले विद्यार्थी बहुत हैं। उन विद्यार्थियों को देखकर ऐसा लगता है कि जब ताला नहीं मिलेगा तो कुंजी का प्रयोग कहाँ करेगे ये लोग? उस कुंजी की कीमत तब है जब मूल किताब में कहाँ पर क्या लिखा है, उसको देखने मे "की" लगा दो तो ठीक है, लेकिन जब नवम्बर और अप्रैल आ जाता है उस समय कालेज के भी विद्यार्थी पढ़ाई प्रारम्भ करते है तो पास कैसे होंगे? "की" पढ़कर ही जैसे भी हो वैसे पास हो जायें, बस यही सोचते हैं। कदाचित् वे पास हो भी जाएं लेकिन यहां पर ऐसा नहीं चलेगा भैय्या! यहां पर पूरा का पूरा प्रयास करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अरहन्त-भक्ति मे तो विशेष रूप से कमाल किया है, वे कहते हैं–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः।।

हे भगवन्! हम आपकी भक्ति कर रहे है, स्तुति कर रहे हैं और आपको स्मरण कर रहे हैं, इसमें आपका कोई भी प्रयोजन नहीं है, क्योकि आप तो वीतरागी हैं। हे भगवन्! कोई भी आकर, आपकी निन्दा करे, तो भी आपको कोई प्रयोजन नहीं, क्योकि आप वीतद्वेषी हैं। आपके चरणों में भक्ति कर रहा हूँ मैं, इससे आपको तो कोई लाभ-प्रयोजन नहीं किन्तु मेरा ही मतलब सिद्ध हो जाता है, कारण कि अभी

तक बिगड़ा रहा, अब आज आपकी भक्ति के माध्यम से सुधर जाऊंगा, इसके लिए आप मना भी नहीं करते हैं। उन्होंने पांच कारिकाओं के द्वारा वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए मात्र पूजा का ही वर्णन किया है। वे कहते हैं कि–

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिकाविषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ।।

हे भगवन् आपकी स्तुति, पूजापाठ आदि करते-करते कोई श्रावक दोष का भागीदार नहीं होगा; सावद्य पूजन होने पर भी। क्योंकि पूजन के द्वारा इतना फल मिलता है– कर्मों की निर्जरा होती है कि क्या बताऊं? और उसके साथ-साथ यदि कुछ कर्मों का बन्ध भी हो रहा हो तो वह उसके लिए बाधक नहीं होगा। दोष के लिए सिद्ध नहीं होगा। क्या उदाहरण दिया है? समुद्र है, वह भी अमृत का, उसमें यदि विष की एक कणिका डाली जाय तो वह समुद्र को किसी भी प्रकार से विकृत नहीं बना सकती। मैं पूछना चाहता हूँ कि बड़ी-बड़ी सिटियों से लोग आये होंगे यहाँ पर। वहाँ पर आप सबकी दुकानें तो होंगी, भले ही घर की न हो, किराये से ले रखी हो। माल तो आपका ही होता है, मकान आपका नहीं लेकिन आप चाहते होंगे कि दुकान चकराघाट पर या तीनबत्ती पर खुल जाए। ताकि हमारी दुकान चौबीसों घण्टों चलती रहे, ग्राहकों का तांता लगा ही रहे। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि वहाँ पर दुकान मिलेगी कैसे? जो मांगे वह देने को तैयार है, हम दस लाख की पगड़ी देने को तैयार हैं, लेकिन मिल तो जाय कम से कम। मानलो मिल गई और धड़ाधड़ चलने भी लगी, मालामाल हो गये। तो मालूम है किराया लेने वाला (मालिक) क्या कहता है कि आपको किराया और बढ़ाना होगा? तब आप कहते हैं– बढ़ाओ कोई बात नहीं ले लो और ले लो, एक माह हुआ नहीं कि २९ तारीख के दिन ही निकाल करके रख देते हैं। आया नहीं कि दे दिया। क्योंकि गड़बड़ किया तो दुकान खाली करनी पड़ेगी, तब तो मुश्किल हो जाएगा। इसलिए सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। दुकान अच्छी चल रही है। अपनी गांठ का देना होता तो थोड़े ही निकालते। जो आ रहा है। उसी में से थोड़ा सा दे दिया। ये स्थिति होती है जिसकी निजी दुकान नहीं है, उसकी यह बात है, तब तो जिसकी दुकान भी घर की है जिसको कुछ भी, एक पाई भी न देना पड़े, खुद का घर, खुद की दुकान, नौकर भी नहीं, सब कुछ स्वयं करते हैं तो मालामाल हो जायेंगे। देने की आवश्यकता ही नहीं, मात्र लेना ही लेना है।

इसी प्रकार अरहन्त-भक्ति में, पूजा में लाभ ही लाभ है। अतः भक्ति आदिक

धार्मिक कार्य ''हेयबुद्धि'' से नहीं किये जाते किन्तु आचार्यों ने कहा है ''परमभक्तया एव अरहन्तभक्ति कुरु'' परम भक्ति के द्वारा अरहन्त भक्ति करो किन्तु उस भक्ति के द्वारा जो भी पुण्यबन्ध होता है, उस पुण्यबन्ध के उदय का जब फल मिलेगा तब उसमें आकांक्षा– रागद्वेष– हर्षविषाद नहीं करना। प० दौलतराम जी कहते हैं कि–

पाप पुण्य फल मांहि हरख बिलखो मत भाई।
यह पुद्‌गल परजाय उपज विनसे थिर नाई।।

क्या कहते हैं वे? पुण्य और पाप के फल काल मे न तो हर्ष होना चाहिये, न ही विषाद। किन्तु संसारी प्राणी का बिना इसके (हर्षविषाद के) चल नहीं सकता। फल के लिए जो व्यक्ति पुण्य करता है उसका वह पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है और जो व्यक्ति अरहन्त भक्ति, संवर और निर्जरा के निमित्त करता है, कर्मक्षय के लिए करता है, वही सार्थक है।

शुद्धोपयोग की भूमिका नहीं है तब क्या करूं? तो आचार्य कहते है कि चिन्ता मत कर बेटा! मै कह रहा हूँ, रास्ता यही है तेरे लिए ''क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः''। इस भव में नहीं तो ना सही, किन्तु मिलेगा तो परम आह्लाद की प्राप्ति होगी नियम से। सभी को आह्लाद पहुँचाने का प्रयास करो, जिससे व्यक्ति अरहन्त भक्ति करने लग जायेगा ऐसा प्रवचन दीजिये, ऐसा नही कि ''भुक्ति की भक्ति'' शुरू कर दे। ''अर्हन्त भक्त'' बनेगा तो नियम से वह मुनि बनेगा और अपनी आत्मा में स्वस्थ होगा। यह सब यदि करना चाहते हो तो नियम से अच्छे ढग से अरहन्त भक्ति करना चाहिए।

अरहन्त भक्ति करते-करते प्राण निकल जायें, ऐसा आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द भगवान् का कहना है। सल्लेखना के समय पर जिस व्यक्ति के मुख से अरहन्त भगवान् का नाम निकलता है वह बहुत ही भाग्यशाली है। जिसके मुख से ''अरहन्त'' नाम भी नहीं निकलता है, उसका तो कर्म ही फूट गया, खोटा है। महान् बड़भागी होते है वे जो जीवन पर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का काम करते है और अन्त मे भी ''णमोकारमन्त्र'' दूसरों को सुनाते जाते हैं, बहुत भाग्य की बात है। ''अरहन्त-सिद्ध'' मुख से नहीं निकलता, किन्तु कहते हैं– ''हाय रे! जल लाओ, भीतर तो सभी कुछ जला जा रहा है''। जीवन भर समयसार भी पढ़ लो गोम्मटसार भी रट लो, प्रवचनसार के प्रवचन भी कर लो, लेकिन जब अन्तसमय प्राणपखेरू उड़ने लग जाते है तो ''अरहन्त'' कहते नहीं पाये जाते, ऐसे भी कई उदाहरण आगम में दिये गये हैं। ४८ मुनियों को वैय्यावृत्ति में लगाया जाता है और बार-बार कहा

जाता है कि "आपके माध्यम से हमें मार्ग मिला है" और आप कह रहे हैं कि जल लाओ, भोजन लाओ। रात तो देखो, अपनी अवस्था को भी देखो, आप किस अवस्था में हैं और यह क्या कह रहे हैं। पूर्व की याद करो! नरकों की याद करो, जहाँ–

सिन्धु नीर तैं प्यास न जाए तो पण एक न बूंद लहाय

यह प्यास, भूख तो अनन्तकाल से साथ दे रही है। अब तो केवली भगवान् की बात सुनिए– घबड़ाओ नहीं, अरहन्त-भक्ति को याद रखो, आज भी नियमपूर्वक विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला जघन्य से ३ भव और उत्कृष्ट से ७-८ भव में मोक्ष जाता है।

पं० दौलतराम जी कहते हैं कि यदि तू मुनि नहीं बन सकता तो कम से कम श्रावक के व्रत तो पालन कर/धारण कर। दो ही धर्मों का व्याख्यान शास्त्रों में आता है– एक अनगार, दूसरा सागार। तीसरा कोई धर्म नहीं है। आप कहीं भी चले जायें, दो ही धर्म मिलेंगे, दोनों में चलने को कहा है। एक बात और कहना चाहूँगा कि अमृतचन्द्राचार्य जी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है आप लोग बहुत पढ़ते है उसको, जब भी उपदेश देओ तो सर्वप्रथम मुनि बनने को उपदेश देना, बाद मे श्रावक धर्म का'' क्योंकि सामने वाला यदि मुनि बनने की इच्छा से आया है और आप उसे गृहस्थाश्रम के योग्य धर्म का उपदेश देंगे तो दण्ड के पात्र होंगे। केवल एक धर्म का कभी भी वर्णन नहीं होना चाहिये। मात्र सम्यग्दर्शन कोई धर्म नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों मिलाने पर ही धर्म बनते हैं, ऐसा आचार्यों का कहना है।

बन्धुओ! या तो श्रावक बनो या मुनि बनो, तीसरा कोई उपाय नहीं है। यदि धर्म का पालन नहीं कर सकते तो, भाव तो रक्खो मन में कम से कम। इस प्रकार की भावना होना भी महादुर्लभ है।

कृष्णजी के सामने समस्या आ गई। वे कह देते हैं प्रद्युम्न आदि सब लोगों को चले जाओ, सबको हमारी तरफ से छुट्टी है मुनि बनने की, दीक्षा लेने की। बेटे ने कहा– आप भी चलेंगे पिताजी। मेरी भावना नहीं हो रही है। क्यों नहीं हो रही है पिताजी? कितने मार्के की बात है देखो, "सिद्धान्त कहता है कि जिस जीव को मनुष्यायु, तिर्यंचायु या नरकायु का बन्ध हो चुका है उसको कभी भी संयम लेने की भावना तक नहीं होती। लेकिन वह सम्यग्दृष्टि है तो दूसरे को दीक्षा लेने में कभी व्यवधान नहीं डालेगा।'' जो व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा का निषेध करता है वह व्यक्ति नियम से संयम के प्रतिपक्षी होने के कारण मिथ्यादृष्टि है। बन्धुओ! यह ध्यान रक्खो,

खुद मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकते तो कोई बात नहीं किन्तु "तुम चलो बेटा, तुम चलो बेटा, तुम चले जाओ। हम बाद मे आ जायेंगे, जब कभी हमारी शक्ति आ जायेगी तब, ऐसा प्रोत्साहन तो देता है। "मैं नहीं चल रहा हूँ इसलिए तुम कैसे आगे पहुँच सकते हो' इस घमण्ड से दूसरों के मार्ग मे बाधक का कार्य नहीं करा, "आज मोक्षमार्ग पर कोई नहीं बढ़ सकता", ऐसा भी कभी मत कहना, क्योंकि नियमसार की एक गाथा है आचार्य कुन्दकुन्ददेव की– "अनेक प्रकार के भाव होते है, अनेक प्रकार के कर्म होते हैं, अनेक प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। इसलिए आपस मे इस प्रकार का संघर्ष, कषाय करके "स्व" और "पर" के लिए कभी भी ऐसे बीज मत बोओ, जिसके द्वारा विषफल खाना पड़े। और नरक-निगोद आदि गतियों में जाना पड़े।

दिव्यध्वनि में भगवान् ने दो ही धर्मों का वर्णन किया है और सम्यग्दर्शन के साथ दोनों धर्म हुआ करते है। इनमें से एक परम्परा से मुक्ति का कारण है और एक साक्षात्। मुनिधर्म साक्षात् मुक्ति का कारण है और श्रावकधर्म परम्परा से, परन्तु आज तो दोनों ही धर्म परम्परा से हैं क्योंकि आज साक्षात् केवलज्ञान नहीं होगा। इसलिए इस सत्य को, इस तथ्य को सही-सही समझकर के अपने मार्ग को आगे तक प्रशस्त करने का ध्यान रखिये। क्योंकि–

ज्ञान ही दुःख का मूल है, ज्ञान ही भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल।।
चुन-चुन इनमें उचित को, मत चुन अनुचित भूल।
सब शास्त्रों का सार है, समता बिन सब धूल।।

□□

६

अभी-अभी बोलियां हो रही थीं। मैं सोच रहा था कि बोली लेने वाले यह जानते हैं और करने वाले भी जानते है कि पैसा अपने मे बिल्कुल भिन्न है। तब भी मुझे समझ में यह नहीं आ रहा था कि २२ ३३ बार बोलने के उपरान्त जैसे क्रेन के द्वारा कोई बड़ी वस्तु उठती है धीरे-धीरे, ऐसी ही बोलिया उठ रही थी ऐसा क्यों? जबकि धन विभिन्न पदार्थ है। उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं फिर भी ऐसा लग रहा था कि जैसे गोंद से आपका और उन नोटों का गठबन्धन हो गया है। नोट ट्रेजरी मे है और आप यहाँ आकर बैठे हैं, फिर भी नहीं निकल रहे है। बोली लेने वालों के तो नहीं निकल रहे हैं क्योंकि उनके मोह है, लेकिन यहाँ जो बोली करा रहे थे वह भी दो के साथ-साथ ढाई बोल रहे थे यानि उनका भी मोह और बढ़ रहा था।

आज मोह को छोड़कर ही शरीरातीत अवस्था प्राप्त हुई। कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है आत्मा के साथ, देख लीजिए। आज द्रव्य कर्म से, भावकर्म से और नोकर्म से, इन तीन कर्मों से अतीत होकर के उस आत्मा का जन्म हुआ है। सिद्धपरमेष्ठी की ही सही जन्म जयन्ती है आज के दिन। अनन्तकाल के लिए यह जन्म, ज्यो का त्यों रहेगा। अनन्तकाल के लिए मरण का मरण हो चुका अब। ऐसा उत्पाद हुआ, और ऐसा उत्पात हुआ कि कहना संभव नहीं। यह तो ऋषभनाथ ही जान सकते हैं। हम नहीं जान सकते।

आज इस बात को देखने (निर्वाणकल्याण) में इतना आनन्द आता है कि जितना कि अन्य में नहीं आता। निर्वाण कल्याणक में मुझे विशेष ही आनन्द आता है। हालांकि दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक भी कल्याणक है, लेकिन निर्वाण कल्याणक को देख अपूर्व ही आनन्द उमड़ता है। कल तक तो समवसरण की रचना थी, अब समवसरण बिखर गया। वृषभनाथ भगवान का समवसरण लगभग १६ दिन पहले ही बिखर गया, मुक्ति पाने से पहले। यानि १६ दिन तक समवसरण के बिना

रहे वे। समवसरण में विराजमान होते हैं तो अर्हन्त परमेष्ठी माने जाते हैं। छत्र, चंवर, सिंहासन और कमल के चार अगुल ऊपर अधर में बैठे रहते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी एक प्रतिमा जैसे हो जाते हैं। समवसरण में जब तक विराजमान रहेंगे तो उन्हें केवलज्ञान तो भले ही रहा आवे, लेकिन मुक्ति तीनकाल में मिलने वाली नहीं। किसी को भी आज तक कुर्सी पर बैठे-बैठे, किसी संस्था के सचालक को मुक्ति नहीं मिली। केवलज्ञान होने मे तथा मुक्ति में उतना ही अन्तर है, जितना कि १५ अगस्त और २६ जनवरी में। केवलज्ञान हुआ यह स्वतन्त्रता दिवस है और मुक्ति गणतन्त्र दिवस। यह बिल्कुल नियम है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले बात होती है, और कह दिया जाता है कि तुम्हे स्वतन्त्रता मिलेगी-दी जाएगी। लेकिन सत्ता जो है वह गणतन्त्र दिवस के दिन आती है। आज भगवान को अपनी निजी सत्ता हाथ लगी, जो कि पर के हाथ चली गई थी, उसके लिए उन्होंने बहुत कोशिश की, अनशन भी प्रारम्भ किये, तब कहीं जाकर के सत्ता मिली है। आप सोंचते हैं सत्ता को ले लेना आसान है, लेकिन नही दूसरों की सत्ता पर अधिकार नहीं करना है। अपनी सत्ता को प्राप्त करने के लिये आचार्यो ने कहा है कि अन्तर्मुहूर्त पर्याप्त है, पर यह सब व्यायाम करना आवश्यक है तभी जो ग्रन्थियां हैं छूट सकेगीं, जो कि आपकी नही है। उसी साधना में कठिनाई है। इसलिए साधु की यह विशेषता होती है कि वह केवल आत्मसाधना करता है। वही साधु हुआ करता है। कुछ इसमें आगे के होते है जो अपनी साधना को करते हुए भी दूसरों को उपदेश दे देते है वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते है। यदि कोई उपदेश ग्रहण कर मार्ग को, पंथ को अपनाना चाहता है तो उसे शिक्षा-दीक्षा देकर के पथ के ऊपर आरूढ़ करा देते है। "चरति आचारयति वा इति आचार्य"। वह आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं। और "मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्। ज्ञातर विश्वतत्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये"।। अरहन्त परमेष्ठी वे माने जाते हैं जो कि हितोपदेशी होते हैं, सर्वज्ञ होते है, मोक्षमार्ग के नेता होते हैं।

अरहन्तों में तीर्थकर भी होते हैं जो कि सिद्ध परमेष्ठी को नमोऽस्तु करते हैं। ऐसा क्यों? सभी के आराध्य देवता तो सिद्ध ही हुआ करते हैं। शेष सारे के सारे आराधक हैं, अरहन्त परमेष्ठी को मुनि माना जाता है। सिद्ध परमेष्ठी मुनियों की कोटि में नहीं आते। वे तो मुनियों से पूज्य है, शाश्वत सत्य हैं। अर्हन्त परमेष्ठी को भी साधु-जीवन की उपासना करनी पड़ती है। तब यह पद लिया ही क्यों उन्होंने? पूर्व जीवन में उन्होंने भावना भायी थी कि "क्षेमं सर्वप्रजानां"। दर्शनविशुद्धि आदि

षोडशभावनाए, जिनमें "सबका कल्याणहो, संसार में तिलतुष मात्र भी सुख नहीं, सभी को सही-सही दिशा बोध मिले, इन्हीं का तो फल है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी भावना नहीं हुआ करती, यदि होने लग जाए तो सभी को तीर्थंकर पद के साथ मुक्ति मिले। पर ऐसा असम्भव है। असंख्यातों में एक-आध ही सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना वाले होते हैं।

अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था कोई भगवद् अवस्था नहीं है। उन्हें उपचार से भगवान् कह देते हैं। उनके चार घातियां कर्मों के नाश हो जाने पर, अब जन्म से छुट्टी मिल गई, इसी अपेक्षा से या उपचार से कह देते हैं। दूसरी बात और कहूँ– उनको (अरहन्त) मुक्ति कब मिलती है? अरहन्त परमेष्ठी को मुक्ति तीनकाल में नहीं मिल सकती। आचार्य परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती, उपाध्याय परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती। मुक्ति के पात्र साधु परमेष्ठी हैं। मोक्षमार्ग के नेतृत्व को अपनाये रहेंगे जब तक, तब तक मुक्ति नहीं। उनके समवसरण में बैठे-बैठे कोई उपदेश सुनकर के भावलिंगी मुनि को मुक्ति हो सकती है, पर समवसरण के संचालक (तीर्थंकर) को मुक्ति नहीं होती। कितनी बड़ी बात है। हम लोग कम से कम कुर्सी का तो मोह छोड़ दें, कुर्सी मिल भी नहीं रही है सबको। लेकिन सभी झगड़ा करते हैं कुर्सी के लिए मात्र उस मोह के कारण। चुनाव भी लड़ते हैं। आज तो तीर्थंकर प्रभु की भी कुर्सी (सिंहासन) छूट गयी। तीन लोक में कहीं भी ऐसी सम्पदा नहीं मिलती हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना होती है, सारे भण्डार को खाली करके। समवसरण की रचना केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त क्यों हुई? सारी की सारी सम्पदा पहले भी कुबेर के भण्डार में थी, वह अपने लिए अथवा इन्द्र के लिए समवसरण की रचना क्यों नहीं कर सकता? नहीं! यह तो मात्र तीर्थंकर प्रकृति के उत्कृष्ट पुण्य का विपाक हैं उन्हीं के लिए यह सब कुछ सम्पदा मिलती है।

आचार्य परमेष्ठी भी जब तक आचार्य परमेष्ठी बने रहेंगे तब तक श्रेणी में आरोहण नहीं हो सकता। उपाध्याय परमेष्ठी को भी श्रेणी नहीं मिलेगी। और यहाँ तक की तीर्थंकर को भी, जब तक अर्हन्त परमेष्ठी के रूप में रहेंगे तब तक मुक्ति नहीं। सब कुछ यहाँ पर छोड़ना पड़ता है। सारा का सारा ठाट-बाट यहीं पर धरा रह जायेगा। आठ कर्मों को भी यहीं छोड़ जायेंगे और जाकर ऊर्ध्वलोक में विराजमान हो जाएंगे, अनन्तकाल के लिये।

इससे सिद्ध हो गया कि साधु की साधना छठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें

गुणस्थान तक चलती है। आप लोगों के यहाँ भी चौदह कक्षायें होती हैं। उनमें एक स्नातक और एक स्नातकोत्तर। ये चौदह गुणस्थान संसारी जीव की चौदह कक्षाएं हैं। एक-एक गुणस्थान चढ़ते-चढ़ते अर्हन्त परमेष्ठी स्नातक हुए हैं और तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ और वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त रह [illegible] स्नातकोत्तर हुए। ज्यों ही स्नातकोत्तर हुए तो निरुपाधि अवस्था की उपलब्धि हो गई उन्हें। जब तक कक्षाएं शेष रहती हैं तब तक छात्र ही माना जाता है। इसी प्रकार चौदहवं गुणस्थान तक तो सभी मुनि महाराज माने जाते हैं। किन्तु चौदहवे गुणस्थान के ऊपर चले जाते हैं तो वे नियम से सिद्ध परमेष्ठी होते हैं, शाश्वत सिद्धि प्राप्त हो जाती है उन्हें। धन्य है यह दिन, इस प्रकार से आत्मा का विकास करते-करते अन्त में उन्हें इस पद की उपलब्धि हुई जो कि आत्मोपलब्धि कही जाती है। उन्होंने अपना कुछ भी नहीं छोड़ा। जो पराया था वह सारा का सारा यहीं पर रह गया। जो निजी था वह शाश्वत सत्य बन गया। एक उदाहरण देता हूँ कि अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में कितना अन्तर है।

दूध है और घृत है। दोनों एक दूध में विद्यमान रहते हैं। पर जब आप दूध पीते हैं तब घृत का स्वाद नहीं आता आपको। घी, दूध मे ही है परन्तु घी का स्वाद नहीं आता। घी का स्वाद अलग है और दूध का अलग। इसी तरह दूध की गन्ध और घी की गन्ध की बात है। दूध की गन्ध दूर से नहीं आती जबकि घी की महक तो कहीं रखो अर्थात् दूर से भी आती है। दूसरी, दूध के द्वारा अर्थात् दूध से भरे बर्तन में आप अपनी मुखाकृति को नहीं देख सकते जबकि घी में आपकी मुखाकृति स्पष्ट दिखाई दे जाएगी। दूध में कभी भी मुख नहीं झलकेगा। यह बात अलग है कि मुख का मात्र बाहरी आकार ही दिखे। यदि दूध में आपका अवतरण नहीं हो सकता। तीसरी बात, दूध हमेशा कच्चा होता है अर्थात् कभी पर्यायान्तर (दही, तक्र) को प्राप्त हो जाता है, लेकिन घी में अवस्थानन्तर अब संभव नहीं, क्योंकि वह पूर्ण शुद्ध हो गया है। चौथी बात, दूध से कभी भी प्रकाश नहीं किया जा सकता अर्थात् दीपक में भरने पर प्रकाश नहीं देता जबकि घी सदा ही प्रकाश देता है जब आप चाहें। इसीलिए घी से आरती भी उतारी जाती है, दूध से नहीं। पांचवी बात, दूध में देखें तो उसकी पूर्णता (गहराई) नजर नहीं आती, जबकि घी में देखने पर उसकी सतह तक स्पष्ट दिखाई देता है। उससे पता चल जाता है कि कितना घी है। ऐसा ही अन्तर सिद्ध और अर्हन्त में होता है। क्योंकि सिद्ध परमेष्ठी शुद्धतत्त्व रूप से परिणमन करने लगे। एक कांच होता है और एक दर्पण। दोनों में जितना

अन्तर है उतना ही सिद्ध और अर्हन्त में है। सिद्ध परमेष्ठी काच होते है, अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण। काच तो शुद्ध साफ होने से जो कुछ भी आर-पार है स्पष्ट दिखा देता है परन्तु दर्पण हमारी दृष्टि को पकड़ लेता है, हम उस पार नहीं देख सकते दर्पण से।

इस प्रकार होने पर, णमो "अरहनाण" ऐसा क्यो हो जाता है पहले? कारण यही है कि सिद्ध परमेष्ठी हमें दिखते नहीं और अर्हन्त परमेष्ठी हमें दीखते हैं, उपदेश देते हैं। सिद्ध प्रभु हितोपदेशी नहीं। सर्वज्ञ तो हैं, कर्मों से मुक्ति भी है पर हितोपदेशी नहीं। हम तो स्वार्थी है। जिसके द्वारा हमारा काम निकले उन्हीं को हम पहले याद कर लेते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा हमे स्वरूप का उद्‌बोधन मिलता है, एक प्रकार से नेतृत्व भी करते है ओर चल भी रहे है। इसलिए अर्हन्त परमष्ठी को इन मूर्त आंखों से देख सकते है। सर्वज्ञत्व को हम देख नही सकते, वह भीतरी भाव है। हम भगवान् के दर्शन करते है, लेकिन उनके अनन्तगुणों में से एक के अलावा शेष गुणों को देख नहीं सकते है। मात्र वीतरागता वह गुण है जो दिखे बिना रह भी नहीं सकता। वीतरागता हमारी आंखो में आ जाती है। भगवान् को देखने से उनके कोई भी ज्ञान का पता नहीं चलता कि उनके पास केवलज्ञान है कि नहीं अथवा श्रुतज्ञान या मतिज्ञान। कुछ भी नजर नहीं आता मात्र नासादृष्टि पर बैठे वीतरागमुद्रा के। केवलज्ञान हमारी दृष्टि का विषय भी नहीं बन सकता, वह मात्र श्रद्धान का विषय है। लेकिन मुद्रा के देखने से ज्ञान हो जाता है कि हमारे प्रभु कैसे हैं? हमारे प्रभु वीतरागी है। वीतरागता आत्मा का स्वभावभूत गुण है। वीतरागता के बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में केवलज्ञान नही झलकता, सर्वज्ञत्व नही झलकता, किन्तु मिथ्या दृष्टि की दृष्टि में भी मे भी भगवान् की वीतरागता झलकती है। इसलिए वह भी बिना विरोध के वीतराग के चरणो मे नतमस्तक हो जाता है। यदि अरहन्त भगवान हमारे लिए पूज्य हैं तो वीतरागता की अपेक्षा से ही। पूरा का पूरा समाज आकर उनकी पूजा करता है। कौन से भगवान सही है? तो हर कोई कहेगा– जो रागी है, वह सही नहीं, जो द्वेषी है वह भी नहीं, जो परिग्रही वह भी नही। लेकिन जो वीतराग हो बैठे हैं, इनके पास कितना ज्ञान है, इससे किसी को कोई मतलब नहीं। वीतरागता जहाँ कहीं नहीं मिल सकती है। इसलिए धन्य है वह घड़ी आदिनाथ के लिए, जब उन्होने अपने आपको इस संसार से पार कर लिया तथा हमारे लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया। युग-युग व्यतीत हो गये, इस प्रकार का कार्यक्रम किये। यद्यपि संसार अनादिकाल से चल रहा है तो

सिद्ध होने का क्रम भी अनादि ही है, फिर भी हम लोगों का नम्बर सिद्धों में नहीं आ पाया। अतः हमें अब इसके लिये पुरुषार्थ करना होगा। एक ही पुरुषार्थ है, मोक्ष पुरुषार्थ जो आज तक नहीं किया।

जानने के लिये तो तीन लोक हैं, परन्तु छद्मस्थ के ज्ञान से यह कार्य नहीं बनने वाला। और छोड़ने को मात्र राग, द्वेष और मोह, ये तीन हैं। इन राग, द्वेष और मोह को छोड़े बिना हमारा ज्ञान सही नहीं कहलायेगा। इसलिए संघर्ष करो, और जो कुछ भी करना पड़े करो, मात्र राग-द्वेष-मोह छोड़ने के लिये। जिसने संघर्ष किया, वह अपनी आत्मसत्ता को लेकर के बैठ गया। उसका साम्राज्य चल गया। आज तक जो नौकर था, वह सेठ बन गया। जो सेठ था वह नौकर की चाकरी कर रहा है, गुलामी कर रहा है। इस शरीर के पीछे क्या-क्या अनर्थ करना पड़ता है इस आत्मा को। कैसे-कैसे परिणाम करता रहता है। आप्तपरीक्षा में विद्यानन्द जी महाराज ने लिखा है कि–

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ्गतः।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः।।

उन्होंने इसको (शरीर को) जेल बताया है। इसीलिये कल तक भगवान् को अनन्तसुख था लेकिन अव्याबाध नहीं था। कुछ लोग पूछते हैं मुझसे– महाराज! अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। मैं कहता हूँ– जैसे जेल में किसी को कह दिया "कल तुझे जेल से छुटकारा मिल जाएगा।" अभी नहीं मिला है। जब तक जेल से बाहर नहीं जायेगा तब तक वस्तुतः सुख नहीं है। सुखानुभव के लिये तो जेल से बाहर आना होगा। जिस प्रकार जेल से बाहर आते समय, जेल का जो ड्रेस होता है, एड्रेस होता है, सबका सब उतार दिया जाता है। उसी प्रकार यह संसार का ड्रेस है, इसको छोड़ने पर ही सही सुख, अव्याबाध-सुख मिलता है। यही अन्तर है अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में। लेकिन हम हैं कि एक ड्रेस के ऊपर और ड्रेस पहनते जा रहे हैं। और यूं सोचते हैं कि तुम्हारे पास तो ऐसा ड्रेस ही नहीं, ऐसा मुझे अभी तक मिला ही नहीं था। उन सबको छोड़कर आज ऋषभनाथ सिद्ध हो गये। और क्या-क्या छोड़ दिया उन्होंने? तीनों कर्मों को छोड़ दिया और साथ-साथ। "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव आदि भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं जो पारिणामिक भाव में भव्यत्व भाव था उसको भी छोड़ दिया। क्या मतलब है महाराज? मतलब समझाते हैं जैसे–

आप स्टेशन पर चले गये। आपको देहली जाना है। रेल का टिकिट ले लिया,

जितने पैसे मांगे उतने दे दिये। टिकिट लेकर रख लेते हैं। कहाँ रखते हैं! वहाँ रखते है महाराज! जहाँ गुम न हो सके। सब कुछ सामान गुम जाए संभव है लेकिन टिकिट गुम जाए तो क्या होगा? कम से कम दोनों कान पकड़ो और उठ्ठक-बैठक करो स्टेशन पर, (आजकल यह नहीं होता) तलाशी होगी, कहाँ से आये, क्यों आये, कहाँ जा रहे हो, ये सभी प्रश्न और उसके साथ सजा या जुर्माना। अतः अच्छे ढंग से रख लेते हैं। ज्यों ही स्टेशन आ गया, प्लेटफार्म आ गया। गाड़ी रुकी और उतर जाते हैं, उस समय वह टिकिट टिकिट-चेकर के हाथ में थमा देते हैं और गेट के पार हो जाते हैं। टिकिट नहीं देते हैं तो बाहर नहीं जाने देगा। क्योंकि टिकिट यहीं तक के लिये था। बाहर चले जाने पर टिकिट का कोई काम नहीं। चेकर टिकिट को लेकर फाड़ देता है। वह जब फाड़ता है तब आप रोते नहीं, दुःखी नहीं होते। कारण, अब फाड़ो या अपने पास रखो, यह सभी कुछ तुम जानो। हम तो अपने स्थान पर आ गये।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभिव्यक्ति का कारणभूत जो भव्यत्व परिणाम उत्पन्न हो गया था वह इनके साथ ही समाप्त हो गया, हो जाता है। जिस तरह टिकिट स्टेशन पर। चौदहवें गुणस्थान की वार्डर आते ही यह रत्नत्रय की टिकिट को कोई भी ले ले, क्योंकि संसार की अपेक्षा से है। मेरा ज्ञायक तत्त्व तो कोई भी ले नहीं सकता। ऐसे में एक समय में सात राजु पार करके फिर वहाँ लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, जो स्वभाव होता है वह अमिट होता है, अनन्त होता है फिर वहीं तक जाकर क्यों रुक गये सिद्ध भगवान्? भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार में कहा है धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण, लोक के शिखर पर जाकर के वे सिद्ध प्रभु विराजमान हो जाते हैं। उनकी मात्र वह सात राजु की योग्यता नहीं, किन्तु उनकी योग्यता तो अनन्त है, किन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण आगे गमन नहीं होता।

इस प्रकार तो उन्होंने अपनी गति को प्राप्त कर लिया। अब आप भी फेरी के बाद अपनी-अपनी गति पकड़ेंगे। किसी की मोटर पर, किसी की मोटरसाइकल पर तो किसी की साइकल पर। आप पूंछ सकते हैं कि महाराज! आप भी तो गति करेंगे, कौन-सी और किस ओर करेंगे? भैय्या हमारी सदागति रहती है। कहीं टिकती ही नहीं। ना हमारे पास ड्रेस है और ना ही एड्रेस। भगवान का कहना है कि "ड्रेस रखोगे तो पकड़ में आ जाओगे। एड्रेस रखोगे तो पुलिस आ जायेगी। इसलिए बिना

ड्रेस, एड्रेस के रहा' ''। इसलिए अनियत विहार करता हूँ, पता नहीं पड़ता। सदागति तभी तो होती है। ऐसा होना भी आवश्यक है।

आप सभी ने पांच-छह दिनों में जो कुछ भी देखा, सुना, अध्ययन किया, मनन किया, भावना की वह वस्तुतः दुनियां मे कहीं भी चले जाये, मिलने वाली नहीं। कई दुकाने मिलेगी, लेकिन इस प्रकार की चर्या, दृश्य कहीं भी नहीं मिलेगा। यहाँ पर कोई कडीशन (शर्त) नहीं है। "विदाउट कडीशन'' ही आत्मा का स्वभाव है। कंडीशन से ही दुःख का अनुभव हो रहा है। उस भव्यत्व की टिकिट को छोड़कर के भी उन्होंने मार्ग को पूरा कर लिया और मंजिल पर ली। धन्य है यह मोक्षमार्ग, धन्य है यह मोक्ष और धन्य हैं वे, जिन्होंने मोक्ष और मोक्षमार्ग का कथन किया। वह स्वरूप अनन्तकाल से चला आ रहा है, आज हमें भी उसका पाठ पढ़कर के अपने जीवन में उपलब्ध करने का प्रयास करना है।

□□

१०

बन्धुओ! जैसी भावना की थी, आज उससे भी बढ़कर के फल मिल गया है। ऐसी स्थिति में किसे अपार आनन्द की अनुभूति नहीं होगी? नियम से होगी। जब कोई एक छात्र ३६५ दिन अध्ययन करता है और अन्तिम चार-पाँच दिनों में उत्तीर्ण हो जाता है, उस समय उसे खाने पीने की चिन्ता नहीं रहती किन्तु अपनी मित्र मण्डली को खूब मिठाई बाटने में लग जाता है। इसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है। जब कोई धर्मिक अनुष्ठान करता है तो उसके दिल में (हृदय में) आनन्द की ऐसी बाढ़ आती है। ऐसे महान् विषम पंचमकाल में भी इसी प्रकार का महान् सत्युग योग्य कार्य हो जाता है तो सहज ही आनन्द का अनुभव हो जाता है।

मैं आज आपके सामने यह बात कहना चाह रहा हूँ, जिसकी प्रायः करके जैनियो के यहा कमी रह गई, क्योंकि हम यदि पूरी की पूरी "शबासी" दे दे तो आप लोगों की गति के रुकने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है, लेकिन यह बात हो ही नहीं सकती। इसीलिए जैनियों को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हम जैनियो की सीमा तक ही धर्म का प्रचार-प्रसार करे। आज मैं लगभग बीस साल में दक्षिण से उत्तर की ओर आया हूँ। दक्षिण में प्रायः करके जो धार्मिक आयोजन होते है, उनमें निमन्त्रित जनता सभी आती है उसमे इसका भी पता नहीं चलता कि कौन जैन है और कौन अजैन।

आज यहा इस गजरथ महोत्सव में भी मात्र जैन ही नहीं आये है– सभी आये है। इस सन्दर्भ मे जैनाचार्यो ने यह बात कही है कि जब कोई भी धार्मिक आयोजन सम्पन्न होता है तो यह ध्यान रखना कि सर्वप्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, सब की नियुक्ति होना अनिवार्य है। हम जड़रूप काल की तो प्रशसा कर लेते है, जैसे अभी पण्डित जी ने कहा कि– 'क्रमबद्धपर्याय काल के अनुसार हो जाए' इत्यादि। हम अचेतन की प्रशसा नहीं सुनना चाहते हैं। जो चेतन जीव हैं, जिसके द्वारा हमें सयोग प्राप्त होता है, उसके सयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

आचार्यों ने अपनी मांगलिक लेखनी के माध्यम से शास्त्रों की रचना करके लिखा है कि एक आचार्य परमेष्ठी अपने जीवन काल में तपस्या के माध्यम से, शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से धर्म की जो प्रभावना करते हैं, उसका छठवां भाग उस क्षेत्र के नेता (राजा) को प्राप्त हो जाता है। सुना आप लोगों ने। मैं यह कह रहा हूँ कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करता है, धर्म कार्य करता है तो उस क्षेत्र के नेता को छठा भाग चला जाता है। उन लोगों का सहयोग यदि नहीं मिलेगा तो आज इस धर्म-निरपेक्ष देश में जो धार्मिक बातें मंच लगा करके कर रहे हैं, वह सब नहीं कर सकेंगे। क्योंकि देश के सामने विदेश का आक्रमण, विदेशी आक्रमण के लिए उन्हें क्या-क्या करना पड़ रहा है मालूम है आपको? नहीं! जो व्यक्ति राजकीय सत्ता का अतिक्रमण करके कोई कार्य करता है तो वह अपनी तरफ से धार्मिक कार्य में बाधा उपस्थित करता है। शास्त्रों में आचार्यों के ऐसे कई उल्लेख हैं। इसलिए हमें यह सोचना चाहिए कि अहिंसा ही विश्व धर्म है।

पुराण ग्रन्थों में, शास्त्रों में उल्लेख किया गया है कि जो धर्म से स्खलित है, पथ से दूर है, उन्हें धर्ममार्ग पर लाने का प्रयास करना चाहिए। बीस साल से मैं देख रहा हूँ कि सम्यग्दृष्टि को ही उपदेश देना चाहा जा रहा है। लेकिन सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जहां पर अन्धकार हो, वहां पर प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश मे यदि आप लाइट जलाते हैं तो देश को– धर्म को खतरा है सभी को खतरा है। मतलब यह हुआ कि जहा पर जिसकी उपयोगिता है वहां पर उसको करना चाहिए। दूसरी बात धर्म प्रभावना की है, तो जो पतित से पतित है, आचार-विचारों में उन्हें जाकर के गले लगाना चाहिए। आज कल तो ५.६ व्यक्ति बैठ जाते हैं। एक मीटिंग कर लेते है और कहते हैं कि हम अखिल भारतीय दिगम्बर समाज की कमेटी वाले है। ऐसी कमेटिया समाज में बहुत सारी हैं, किन्तु इन पार्टियों से कोई मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है। जो धर्म करता है उसे सोचना चाहिए कि जो अधर्मात्मा है, जो मानव जन्म को प्राप्त करके भी भीतर की चीज को पहचान नहीं पा रहा है, उसके पास जा करके, उसकी कमियो को देख करके, उसकी आवश्यकता को पूर्ण करके उसे आकृष्ट किया जाना चाहिये।

दान के बिना अहिंसाधर्म की रक्षा ना आज तक हुई है और न आगे होगी। यदि पैसे वाला, पैसे वाले को दान दे, तो कुछ नहीं होगा। जैनाचार्यों का कहना है कि जो सेठ है, साहूकार है उन्हें, गरीबों के पास जाकर के अपनी सम्पदा का उपयोग-प्रयोग करना चाहिए। भूदान, आवासदान, शैक्षणिक दान आदि-आदि जो

अनेक प्रकार के दानों के विधान किये गये हैं वे आज जैनियों के यहां से प्रायः कर निकल चुके हैं। चार दानों में, अभयदान भी हमारे यहां माना गया है, लेकिन आज तो जो दान के नाम से केवल अन्नदान या शास्त्रदान को ही समझते हैं, उन जैनी भाईयों से मेरा कहना है कि वह अभी दान की नामावली भी नहीं जानते हैं।

दान कितने होते हैं– मालूम है आपको? सर्वप्रथम कहेंगे शास्त्रदान। शास्त्रदान नाम का कोई दान नहीं है। उपकरण दान कहा गया है। शास्त्र भी एक प्रकार का उपकरण है। आज एक सज्जन ने अपने वित्त का उपयोग करके एक चैत्यालय का निर्माण किया। जिनबिम्ब का निर्माण कराया। हजारों-लाखों व्यक्तियों को जो दर्शन दिलाने में निमित्त हुआ, वह भी उपकरण दान है। कल या परसों हमने एक बात कही थी कि जो व्यक्ति अपने दर्शन-धर्म-विचारों से दूसरों को आकृष्ट करना चाहता है। तो उसका कर्तव्य है कि, उसकी कमियां क्या हैं? यह जाने। यदि बच्चा रोता है तो उसे खिलाने की आवश्यकता है या पिलाने की या खेल खिलाने की आवश्यकता है, यह जानना जरूरी है। ऐसा नहीं है कि जब वह रोने लग जाए तो उसे केवल खाना खिलायें और दूध पिलायें। किन्तु वह आपकी गोद में बैठना चाहता है और आप उसे नीचे रख दें तो उसका पेट भरा होने पर भी रोने लग जाएगा। यही स्थिति धार्मिक व्यक्तियों की हुआ करती है। इसलिए आज दिनों-दिन जैनियों की बहुत कमी होती जा रही है। आज तक कभी भी सुनने में नहीं आया कि जो व्यक्ति बिल्कुल अभक्ष्य-भक्षी है उसे भक्ष्य-भक्षी, शाकाहारी बनाने का भी कोई उपक्रम किया जा रहा है।

भारतवर्ष शाकाहार प्रधान देश माना जाता है। विश्व में कई देश हैं। उन देशों मे गणना करने पर ८० % जनता मांसाहारी सिद्ध हुई और केवल १८ % ही शाकाहरी बच रही, उसमे से छुप छुप कर मांसाहार करने वालों की बात सामिल नहीं है। आज "डायरेक्ट" खाने वाली वस्तुओ में शाकाहार जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है। इसलिए वर्तमान में अहिंसा को मुख्यतया देकर– अहिंसा ही हमारा धर्म है, अहिंसा ही हमारा उपास्य देव है, उसकी रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कदम बढ़ाना चाहिए।

आज भारतवर्ष में कई स्थानों पर अनेक प्रकार की हत्याओं के माध्यमों से औषधियां और प्रसाधन सामग्री निर्मापित की जा रही है (बनाई जा रही है) और "इन्डायरेक्ट" रूप मे आप लोग ही उसका उपयोग करते हैं। अभी सर्वप्रथम पण्डित जी ने कहा था कि यह बुन्देलखण्ड है, लेकिन बुन्देलखण्ड में भी ऐसी हवा आने लगी हैं जहां पर अनेक प्रकार की आचार-विचार विधान की व्यवस्थाएँ थीं लेकिन वहां पर भी ऐसी सामग्री आने लगी है। समझने के लिए साबुन को ले लीजिए।

पहले साबुन को जैनी लोग नहीं बेचते थे। बीड़िया वगैरह भी नहीं बेचते थे। तम्बाखू की बिक्री करते थे, तो अष्टमी-चतुर्दशी को इसे भी बन्द कर दिया जाता था। सोडा-साबुन अष्टमी-चतुर्दशी और अन्य पर्वों के दिनों में उपयोग नहीं करते थे। आज के साबुन में तो अनेक प्रकार की चर्बियां आ गई हैं। साबुन में ही क्या? खाने-पीने की चीजों में भी चर्बियां आ चुकी है, भले ही आप लोगो को ज्ञात ना हो। पहले दिन ही मैंने कहा था कि "मद्य-मास-मधु का त्याग" इस त्याग का मतलब मात्र "डायरेक्ट" सेवन त्याग से नहीं है, किन्तु ऐसी-ऐसी वस्तुएं आपके खाने-पीने में आ चुकी है, जिनमे बहुमात्रा में मद्य का, मांस का, मधु का पुट रहता है। इन चीजों को त्यागकर ही अहिंसा धर्म की रक्षा कर सकते है, अन्यथा नहीं।

दूसरी बात, शिक्षणप्रणाली भी ऐसी आ चुकी है कि आज का लड़का, जो पढ़ा-लिखा है वह हमारे सामने आकर के कहता है– महाराज! अण्डा तो शाकाहार है और दूध तो अभक्ष्य है। मास के अन्तर्गत आता है। आप सोचिये! जीवन कितना परिवर्तित होता चला जा रहा है, अब केवल "सम्यग्दर्शन. ... ... सम्यग्दर्शन" ऐसा चिल्लाने से कोई चीज प्राप्त होने वाली नहीं है। जो व्यक्ति इन बातों को नहीं समझ रहा है, वह प्रभावना नहीं कर रहा है, बल्कि अप्रभावना की ओर जनता को आकृष्ट कर रहा है। "खाना-पीना, क्रियाकाण्ड की बात है" ऐसा कह करके टालना, एक प्रकार से अहिंसा देवता को धक्का लगाना है।

मैं कह रहा था कि आचार्य जो कि जीवन पर्यन्त तपस्या करते है तो उसका छठवा हिस्सा एक राजा को मिला करता है। भले ही वह राजा धार्मिक कार्य कुछ भी न करता हो, लेकिन रात-दिन उसकी दृष्टि में रहता है कि राजकीय सत्ता की सुरक्षा हो, अन्य देशों की सत्ता का आक्रमण न हो। यदि सत्ता पलट जाए और विदेशी आ जाए तो आप को एक घण्टे क्या, एक समय के लिए भी धर्मध्यान करने का अवसर न मिले।

आज भारतीय सेना "बार्डर" पर खड़ी है अपने शस्त्रों को लेकर। आप सोचेंगे कि इन शस्त्रों को लेना हिंसा है? लेकिन शस्त्रो को लेना हिंसा नहीं हैं किन्तु आप सभी के अहिंसाधर्म की रक्षा के लिए इन लोगों ने हाथों में शस्त्र ले रखे हैं। ध्यान रक्खो? इनकी प्रशसा, उनके गुणगान यदि करते हो तो आप अहिंसक माने जाएंगे। यह बात अलग है कि वे कैसी दृष्टि वाले हैं? हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं, लेकिन वस्तुस्थिति तो यही है कि जिस जीव की जीवो के ऊपर उपकार करने की दृष्टि है जीवों की पीड़ा में सुख-दुख में पूरक बनने की दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा समझता हूँ। उस सम्यग्दृष्टि की देवता लोग भी आरती उतारते हैं। आप लोगों

को इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि सम्यग्दर्शन कोई खिलौना नहीं है जो बाजार से खरीद सकें अथवा समयसारादि ग्रन्थों को पढ़कर प्राप्त हो जाए और यह भी नहीं है कि मन्दिर में बैठने से या मात्र सन्तसमागम से ही वह प्राप्त होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन की स्थिति बड़ी विचित्र है, वह कब,किसे, कैसे प्राप्त हो जाए कुछ कह नहीं सकते। क्योंकि धर्म किसी की बपौती नहीं है।

कुछ लोगों की धारणा होती है कि जैनधर्म, जैन जाति से सम्बन्धित है। लेकिन जाति जो होती है, वह शरीर से सम्बन्ध रखती है, जबकि धर्म का सम्बन्ध भीतरी आत्मा, भीतरी उपयोग से होता है। ऐसे ही धर्म का आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर भगवान् के द्वारा तीर्थ का सचालन हुआ है। आज हम लोगों के पाप कर्म का उदय है, जो ऐसे साक्षात् तीर्थकरों का दर्शन नही हो पा रहा है, किन्तु आज भी उनका तीर्थ अवशिष्ट है, सच्चे देव गुरु-शास्त्र के रूप मे हमारे सामने उपस्थित है, यही सौभाग्य है।

जड़ के प्रति तो राग सभी रखते है और जड़ की रक्षा के लिए अपने जीवन को बलिदान भी कर देते हैं। किन्तु जो व्यक्ति चेतन-आत्मा की बात देखकर दु:खी जीवो को देखकर यदि आंखों में पानी नहीं लाता, उस पत्थर जैसे हृदय से हम कभी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमारा हृदय कोमल होना चाहिए। जिसके ऊपर "एटमबम" भी फोड़ दिया जाये तो भी भीतर के रत्नत्रय धर्म को सुरक्षित रख सके। राम का जीवन देख लीजिए, पाण्डवो के जीवन को देख लीजिए। उसके साथ-साथ कौरवों और रावण के जीवन को देखिये। रागी-विषयी, कषायी पुरुषों के जीवन का कैसा अवसान हुआ? किस रूप में जीवन का उपसंहार हुआ? तथा वीतरागपुरुषो के जीवन का, धर्म की रक्षा करने वालों का क्या उपसहार हुआ। वन मे रहकर भी राम ने प्रजा की सुरक्षा की और भवन मे रहकर के भी रावण प्रजा के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ।

आज हम केवल चर्चा वाला धर्मध्यान करना चाहते हैं। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि जब निर्ग्रन्थ साधु यत्र-तत्र विचरण करते हैं तो वहां के जीव आपस में बैरभाव को छोड़कर, उनके चरणों में बैठ जाते हैं। यह किसकी महिमा है? आचार्य कहते हैं– यह वीतरागता की महिमा है, प्रेम का, वात्सल्य का प्रभाव है। जीवों को देखकर के हमें आह्लाद पैदा होना चाहिए, लेकिन हम कैसे हैं? हमारी दृष्टि कैसी है? जैसे कि नेविला और सर्प के बीच में हुआ करती है, बस वैसी ही है। ऐसे वातावरण में हम धर्मात्मा बनना चाहते हैं जो कि असम्भव है।

जैनधर्म की विशालता यही है कि वह व्यक्ति को जन्म से जैन न होते हुए भी

उसे कर्म से जैन बनाता है। आठ साल तक वह एक प्रकार से पशुओं जैसा आचरण कर सकता है, इसके बाद यदि वह धार्मिक संस्कार पा लेता है तो, उसके जीवन में धर्म आ सकता है। चेतन की परीक्षा करने की चेष्टा करिये। कहां पर कौन दुःखी है, पीड़ित है, इसको देखने की आवश्यकता है। ऐसे फोन लगा लीजिए, कैसे फोन? बिना तार के बिना "वायरलेस" के ही दुखी प्राणियों तक आपका उपयोग पहुच जाए और मालूम हो जाये कि कौन-सा जीव कहां पर पीड़ित है। कौन-से जीव को क्या आवश्यकता है। ऐसा भी कभी हो सकता है? हां, हो सकता है एक उदाहरण दू आपको।

एक बार की बात, एकदम हिचकियां लग गईं। एक व्यक्ति ने कहा कि पानी पीलो, पानी पियेंगे तो हिचकिया आना बन्द हो जाएगा। मैंने पूछा– वह हिचकिया आती क्यों हैं? उसने कहा– तुम्हें इस समय किसी ने याद किया होगा। दूर स्थित व्यक्ति ने याद किया वहा और हिचकियों की प्रक्रिया यहां चालू हो गई। ऐसा सुनकर मैं सोचता रहा, विचार करता रहा। इसी प्रकार धार्मिकभाव को लेकर के अपने उपयोग को भेज दो, जहां कभी भी दुःखी जीव हों, नियम से उन पर प्रभाव पड़ेगा। उन विचारों के अनुरूप कल्याण का मार्ग मिलेगा। बस ऐसा करने की चेष्टा प्रारम्भ करिये फल अवश्य मिलेगा।

आज करोड़ों रुपया बरसाया जा रहा है, लेकिन गरीब व्यक्तियों को, पतित विचारवालों को धार्मिक बनाने का भाव किसी के मन में नहीं आ रहा है। इसलिए इस प्रकार (पंचकल्याणक महोत्सव) के आयोजनों के माध्यम से, उस प्रकार के कार्यक्रम आज से ही प्रारम्भ किये जाये। जो गरीब है, अशिक्षित है, अनाथ है, उसके लिये सनाथ बनाने का प्रयास किया जाए। बाद में उन्हें धार्मिक शिक्षण देने का प्रयास करो तो आज का यह आयोजन ठीक है, अन्यथा नाममात्र के लिए ही आयोजन रह जाएगा। दस व्यक्ति बैठकर इसकी प्रशंसा करने लगें, करें लेकिन मैं इस सिंघई पदवी का समर्थन-प्रशंसा नहीं कर सकूँगा। एक जमाना था जब इस प्रकार का आयोजन कर उपाधियां दी जाती थीं पर आज यह जरूरी नहीं है।

इन उपाधियों का मैं निषेध कर रहा हूँ किन्तु इनके माध्यम से अड़ोस-पड़ोस में जब तक सौहार्दमय व्यवहार नहीं बढ़ता तब तक इन उपाधियो का क्या प्रयोजन? हमारे भगवानों ने तो कहा है कि– आधि, व्याधि और उपाधियां संसार में भटकने वाली है। अतः उपाधियों से दूर हो समाधि की साधना करें, तो वृषभनाथ भगवान् की जय जयकार करने में सार्थकता आ जायेगी। अन्यथा मात्र प्रशंसा से कुछ भी सार्थकता नहीं होने वाली।

विश्व में क्या हो रहा है? इसको देखने की चेष्टा करो। धर्म कहां नहीं है? हमारे पास धर्म है, दूसरे के पास नहीं। हम सम्यग्दृष्टि हैं दूसरे मिथ्यादृष्टि। हम जैनधर्म की ज्यादा प्रभावना कर रहे हैं, दूसरे नहीं। इस प्रकार के भाव जिसके मन में हैं वह अभी जैनधर्म की बात समझ ही नहीं रहा है। वह जैनधर्म से कोसो दूर है।

"न धर्मो धार्मिकैर्बिना"

दो हजार वर्ष लगभग हो चुके हैं आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने डंका बजाया था। बन्धुओ ! जो मद के आवेश में आकर धर्मात्माओं के प्रति यदि अनादर का भाव व्यक्त कर रहा है तो वह अपने शुद्ध अहिंसा धर्म की ही हत्या कर रहा है। क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैर्बिना" कहा है। हमारे अन्दर संकीर्णता आ चुकी, आती जा रही है। सन्तो का कहना है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्"। आज जैनी-जैनी, हिन्दू-हिन्दू भी एक प्रकार के दायरे/सीमाओं में बंधते चले जा रहे हैं। यह संकीर्णता धर्म का परिणाम नहीं है, इसे ध्यान रखिये। बातों से धर्म नहीं होता, कारण कि जो बहिरा है वह भी धर्म कर रहा/सकता है। जो अन्धा है, लूला है वह भी धर्म को कर सकता है। परन्तु जो पंचेन्द्रिय होकर के हाथ-पैर अच्छे होकर भी, मात्र ऊपर-ऊपर बातें करता है तो वह कर्मसिद्धान्त से अभी भी सौ कोस दूर है। पास आने की चेष्टा करनी चाहिए उसे। एक बार तो कम से कम, गरीबों की ओर देखकर दया का अनुभव करो। धर्मात्मा यही सोचता रहता है, ऐसा सोचना ही अपायविचय धर्म ध्यान है।

अपाय विचयधर्मध्यान का अर्थ क्या है व उसका क्या महत्व है? आचार्य कहते हैं कि जितना आज्ञाविचय धर्मध्यान का महत्व है उतना ही अपायविचय धर्मध्यान का है। जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना, सर्वज्ञ की आज्ञानुसार चलना यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है। इसकी सच्चाई से अपायविचय धर्मध्यान की महत्ता कहीं अधिक है। "संसारी प्राणी का कल्याण हो, इनका दुःख दूर हो, सभी मार्ग का अनुसरण करें" ऐसा विचार करना अपायविचय धर्मध्यान है। इस प्रकार की ही भावना में जब वृषभनाथ भगवान् की पूर्वावस्था की आत्मा तल्लीन हुई थी, उससमय तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध हुआ था। उसी का परिणाम दूसरे जीवन में असंख्यात जीवों का कल्याण, एक जीव के माध्यम से हुआ। सुभिक्ष हुआ दिशाबोध दिया और सर्वोसर्वा बने। आज भी उनके नाम से असंख्यात जीवों का कल्याण हो रहा है। ऐसा कौन-सा कमाल का काम किया उन्होंने? यही किया जो उनके दिव्य-उपदेश से स्पष्ट है–

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया ना छोड़िये, जब लौं घट में प्राण।।

क्या कहता है यह दोहा? जब तक इस संसार में रहें, घट में प्राण रहें तब तक दया धर्म करो, तभी सबका, स्व-पर का कल्याण हो सकता है। यदि दया की जगह अभिमान घट में आया हुआ है तो तीन काल में भी कल्याण होने वाला नहीं। पाप का मूल अभिमान है। लोभ के वशीभूत होकर व्यक्ति अन्याय-अत्याचार के साथ वित्त का संग्रह करता है और मान के वशीभूत होकर यदि दान करता है तो वह कभी भी प्रभावना नहीं कर सकता, ना ही अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है। सबसे पहले नीति-न्याय से वित्त का अर्जन करें, फिर दानादिकार्य के माध्यम से अड़ोस-पड़ोस की सहायता करे, जैन आयतनों की रक्षा करने के लिए कदम बढ़ायें। इस प्रकार करना प्रत्येक सद्‌गृहस्थ का कर्तव्य है– ऐसी सन्तों की वाणी है। इस वाणी का जब तक अनुसरण होगा, धर्म का अभाव नहीं होगा, लेकिन जिस दिन जिनवाणी का अनुसरण बन्द हो जायेगा और अभिमान के वशीभूत हो जायेंगे उस दिन रावण-राज्य आने में देरी नहीं।

एक उदाहरण दे रहा हूँ जिसमें धर्म क्या है? कैसा है? क्या तिर्यंच धर्मशास्त्र का स्वाध्याय करते हैं? क्या कभी तिर्यंच आपके सामने आपके ऊपर उपकार करते हैं? क्या वे कोई धार्मिक अनुष्ठान करते हैं? कभी मन्दिर भी आते जाते है? यदि आ जाते हैं तो उन्हें धर्मलाभ होता है क्या? आचार्यों ने कहा– धर्मलाभ हो यह कोई नियम नहीं। अभी पण्डित जी ने भी कहा था– आयोजन जितने भी है सभी साधन के रूप में हैं, साध्य के रूप में तो धर्म रहेगा। ये साधन हैं इनमें उलझे रहें, उपाधियों में उलझे रहे तो तिर्यंच हमसे कहीं आगे बढ़े हुए होंगे, जो इनसे सर्वथा दूर है।

रामायण आपने पढ़ी होगी, सुनी होगी। पद्मपुराण में भी यह कथा आती है। जटायू पक्षी की वह कथा जिसने रामायण की पृष्ठभूमि बना दी है। राम जब बनवास पर थे। सीता और लक्ष्मण भी साथ-साथ है। जंगल में अपना काल व्यतीत कर रहे हैं। एक दिन की बात, एक सन्त आये। सभी ने आहार दान दिया। आहार दान के समय सन्त के पैर धोए गये थे। उस जल में एक जीव आकर बैठ गया और उसमें लोट-पोट करते ही, उसका सारा का सारा बदन व बाल स्वर्ण के हो गये। उसकी सभी ने प्रशंसा की। तभी एक पेड़ पर बैठा जटायु पक्षी यह दृश्य देख रहा था। सन्त चले गये और बात भी जाती रही। ...... एक दिन की बात। सीता को रावण हरणकर ले जाने वाला है तो जटायु पक्षी सोचता है– एक अबला, उसको हरण कर रहा है, उसके ऊपर प्रहार कर रहा है। और मैं यहां बैठा देख रहा हूं। जबकि मैं संकल्पित हूँ–

"रघुकुल रीति सदा चली आई। प्राण जायें पर वचन न जाई।"

राम ने मुझे प्रतिज्ञा दिलाई कि अनाथ के ऊपर यदि किसी का हाथ उठता है तो देखते न बैठना। हम लोग नश्वर जीवन को नहीं समझ रहे हैं, इसे अविनश्वर बनाने का प्रयास कर रहे हैं। **जिस समय किसी धर्मात्मा के ऊपर संकट आ जाता है उस समय दूसरा धर्मात्मा यदि छुपने का प्रयास करता है तो वह कायर है। उसे नश्वर जीवन के सदुपयोग के लिए सिंह के समान गर्जना करते हुए आना चाहिए। मुझे कोई भय नहीं। जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं। यही मेरा धर्म है, यही जीवन।** धर्म सदा ही मेरे साथ रहेगा। मैं जीवित रहू या नहीं। यह सोच वह आक्रमण करने के लिए तैयार हो जाता है। वही सच्चा धर्मात्मा माना जाता है।

धर्मात्मा के ऊपर आज पहाड़ टूट रहे हैं और हम देख रहे हैं, फिर भी अपनी आत्मा को धर्मात्मा मानते हैं। उसे मैं तो जीवित भी नहीं मानता। जड़ का धर्म मानना भल ही स्वीकार कर लूगा। आप लोग जिस प्रकार धन की रक्षा करते हैं. उससे भी बढ़कर धर्म की रक्षा करनी चाहिए। धर्म के द्वारा ही जीवन बन सकता है। यदि धर्मात्मा का अनादर मन से, वचन से, काय से, कृत-कारित-अनुमोदन से स्वप्न में भी करते हैं, तो उसके धर्म का नहीं, वरन् स्वयं के अहिंसा धर्म को अनादृत करते हैं, ऐसी गर्जना इसयुग में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसे महान् आचार्यो ने की है। मान बहुत बढ़ता जा रहा है, यह सब पचम काल की देन है। हमारा जीवन ऐसा बनना चाहिए, जैसी सिगड़ी के ऊपर भगौनी का। उसमें दूध तप रहा है दो किलो। तीन किलो और भी हो सकता है उसमें। लेकिन उतना ही दूध तपने के उपरान्त ऊपर आने लग जाता है। तपन के कारण वह ऊपर आता रहता है। ज्यों ही ऊपर आता है, त्यों ही तपाने वाला दूध समाप्त न हो जाए, इस भय से पास आ जाता है और क्या करता है उस समय? उस समय वह जल्दी-जल्दी शान्तिधारा छोड़ देता है, दूध नहीं ढांकता, बल्कि एक चम्मच जल पटक देता है। पटकते ही दूध नीचे चला जाता है। इसका क्या मतलब हुआ? मतलब तो ये हुआ कि जब अग्नि ने दूध में जो जल था उसे जलाया तो दूध ने भी सोचा कि जब मेरे मित्र, दोस्त, मेरे सहयोगी के ऊपर यदि अग्नि ने धावा बोला है, तो मैं भी इसे समाप्त करूंगा। यही सोचकर वह उबलता हुआ, अग्नि की ओर आने लगा। लेकिन दूध खाने वाले ने डर करके के अग्नि के प्राण न निकल जाए, शान्तिधारा छोड़ दी। अरे भैय्या ! तुम्हारे मित्र को हम दे देते हैं, तुम बैठ जाओ। तो दूध बैठ जाता है।

ऐसी होनी चाहिए मित्रता। उसको ही मित्र, दोस्ती, साथी और सहयोगी कहते हैं, जो विपत्ति के समय पर, प्रसंग पर साथ दे। अन्यथा ना तो वह साथी माना जाएगा,

ना धर्मात्मा ही। बन्धुओ ! मान प्रतिष्ठा के लिए संसारी प्राणी सब कुछ त्याग कर देता है, लेकिन अपने आत्मोदय के लिए कुछ भी नहीं करता। मैं इन सभी कार्यक्रमों की प्रशंसा तभी करता हूं, जब आप लोगों के कदम इस दिशा की ओर भी बढ़ते हैं। यह जीवित कार्य है। इस युग में यह कार्य हुआ की नहीं है। हुआ भी है तो बहुत कम हुआ है।

विनोबा जी, जिस समय दक्षिण की ओर भूदान को लेकर के आए थे, तभी मुझे महापुराण के भूदान की बात याद आ गई। वहां पर गृहस्थों के चार धर्मों में पूजा भी रखी है। पूजा का अर्थ भूदान लिखा गया है। जी हाँ ! महापुराण का उल्लेख है। जो व्यक्ति खाने के लिए मुहताज हो रहा है, उसके लिए आश्रय दे दीजिए तो वह नियम से धर्म को अपनायेगा-अपनायेगा। आज हम तात्कालिक उपदेश तो दे देते हैं। उसके द्वारा ही उसके कार्य की पूर्ति होने वाली है। इस कारण वह धर्म के प्रति जल्दी आकर्षित नहीं होता। युग बदल चुका है। विनोबा जी की बात को सुनकर मैंने सोचा– हां, आज भी भूदानयज्ञ की बात जीवित है जो कि जैनाचार्य के द्वारा घोषित की गई थी।

आज कौन-कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो आवासदान देने को तैयार है। कभी आपने सोचा जीवन में कि जो गर्मी-सर्दी से पीड़ित है उसे आवास दान दें, एक मकान बनवा दें। आवास देने के उपरान्त उनको ऐसा ही नहीं छोड़ा जाए, किन्तु उन्हे कह दिया जाए कि देखो भैय्या ! तुम्हारी आवास सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति तो हो गई, अब कम से कम धर्म-कर्म करना चाहिए।

राजस्थान की बात है। जहां पर सेठ जी ने एक फैक्टरी (मिल) खोली थी। उसमें जो गरीब-गरीब व्यक्ति थे। उनको काम पर लगाया और उनकी सारी की सारी, वेतनादि की भी रक्षा कर दी गई। फिर कहा गया– हमने इतना सारा प्रबन्ध आपका कर दिया है अब प्रत्येक व्यक्ति को रात्रिभोजन, मद्य, मांस, मधु का त्याग और देवदर्शन के उपरान्त ही मिल में काम करना चाहिए। जब तक वे रहें, तब तक तो कार्यक्रम वैसा ही चलता रहा, बाद में वह समाप्त हो गया और मिल भी उनके हाथ से निकल गया।

बन्धुओं ! जो कोई भी कार्य किया जाता है। धर्म के लिए किया जाता है। वह भी क्रम से, विधिपूर्वक करना चाहिए। मात्र जय-जयकार करने से कुछ नहीं होगा। अभी मैं देख रहा था कि, जुलूस प्रारंभ हो गया, रथ भी प्रारंभ हुआ हम आगे-आगे चल रहे थे। इस आयोजन को देखने के लिए हजारों-लाखों की जनता आई पर चलने वाले लोग प्रशस्त चाल से नहीं चल रहे थे, साथ में लाठी वाले तो धूल भी

उड़ा रहे थे, जिसमें दृश्य देखना ही बन्द हो गया था। यहां इन अवसरों पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि जो दूर-दूर से व्यक्ति आये हैं, उन्हें भी पूरा-पूरा लाभ मिले। यही प्रेम है, वात्सल्य है। उन्हें पहले व आगे बैठना चाहिए। लेकिन हम आगे बैठ जाते हैं। वे हमारे सर्वप्रथम अतिथि हैं, उनका सत्कार-सम्मान करना चाहिए। हम तो यहीं के हैं। इस प्रकार का वातावरण हो जाए तो इसी का नाम राम-राज्य है।

आज हम कहते तो हैं कि राम-राज्य आ जाये। भगवान् महावीर स्वामी का राज्य आ जाये। महावीर भगवान का सन्देश मिल जाए, लेकिन कहने मात्र से तीन काल में भी मिलने वाला नहीं। बातों के जमा-खर्च से कभी कुछ नहीं होता। जिस प्रकार दूध में ज्यों ही पानी डाला, वह शान्त हो गया। उसी प्रकार हम भी यदि अपने साधर्मियों के प्रति वात्सल्य रखेंगे सद्व्यवहार करेंगे तो मैं कहता हूं कि स्वप्न में भी किसी के ऊपर कोई संकट आने वाला नहीं। अभी पण्डित जी ने कहा था– धर्मसंकट में है, धर्मगुरू संकट में हैं। जिनवाणी भी संकट में है। किन्तु मैं कहता हूँ कि ये तीनों संकट मुक्त हैं तभी मुक्ति के साधन है। संकट तो हमारे ऊपर है। संकट तभी आते हैं जब हमारे भीतर ये तीनों जीवित नहीं रहते। धर्म-कर्म से हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं रहेगा तो जीवन बिना संकट के रह नहीं पायेगा। इनकी रक्षा की जाए तो कोई आपत्ति नहीं। इनकी रक्षा का अर्थ यही है कि हम धर्म को ही जीवन समझ लें। मात्र लिखना-पढ़ना धर्म नहीं है, धर्म तो जीवित वस्तु का नाम है।

हम अहिंसा परमो धर्म की जय बोलते है, "अहिंसा अमर हो'' ऐसा कहते हैं। लेकिन गांधी जी ने, जिनके पास मात्र दो सूत्र थे, अहिंसा और सत्य। इन दोनों सूत्रों के माध्यम से ढाई सौ वर्षों से आई हुई ब्रिटिश सत्ता से बिना, शस्त्र, पिस्तौल, बिना रायफल, तलवार, ढाल, तोप और बिना एटमबम के ही स्वतन्त्रता दिलाई। उन्होंने सत्य, अहिंसा का ऐसा "एटमबम'' छोड़ दिया कि सभी देखते रहे गये औरसोचते रहे, ऐसी कैसी खोपड़ी है। हम लाखों रुपये भी दे दें तो भी नहीं मिलने वाली। लाख क्या? कई लाखों में भी मिलने वाली नहीं। यह अहिंसा की उपासना है, उसी का यह प्रभाव है कि ब्रिटिश सरकार को यहां से भागना पड़ा। आज ३५-४० वर्ष हो गये स्वतन्त्रता मिले इस देश को लेकिन इसका सदुपयोग, सही-सही नहीं हो रहा है। आज हम आपस में लड़ रहे हैं कुर्सी के लिए। ऐसी-ऐसी भी लड़ाई हमने देखी-सुनी है कि एक कुर्सी के लिए दस व्यक्ति लड़ रहे है तो कुर्सी नियम से टूटेगी ही। पहले तो ऐसा नहीं था कि– कहते थे कि कुर्सी पर आप बैठिये, आप ही इस पर बैठने के पात्र हैं। हम तो आपके निर्देशन के अनुसार चलेंगे। पर आज?

प्रत्येक व्यक्ति नेता बनना चाहता है। कोई पीछे चलना नहीं चाहता। पागल भी हमेशा आगे चलता है उसके पीछे हंसने वाला। पागल कभी भी हंसता नहीं। क्या नेता बन जाएगा वह? नहीं ऐसा, तीन काल में भी नहीं हो सकता। कुर्सी केवल एक निमित्त है। उस कुर्सी का प्रयोजन इतना ही है कि उस पर बैठकर अपनी आंखों से देख सकें कि– कहां पर, कैसे-कैसे रह रहे हैं। हम उनके दुःख-दर्द को समझ सकें और मिटाने का प्रयास रात-दिन करें। एक जगह लिखा है–

"परिहर्तुमनायसि"

जो निरपराध जीव हैं, उनके ऊपर प्रहार करने के लिए क्षत्रियो के हाथ म तलवार नहीं दिए गये। किन्तु अपराधियों को मारने नहीं। अपराधियो को भयभीत करने के लिए शस्त्र दिये गए है। उपदेश भी इसीलिए होता है कि दुःख दूर हो और शान्ति की प्रस्थापना हो।

आप लोगों का कार्य आगे होने वाला है। मैं भगवान् से यही प्रार्थना करता हूँ, कि आपकी भावना, धर्म के प्रति दिन दूनी रात चौगुनी निष्ठा के साथ बढ़ती रहे। तीन घण्टे हो गये किसी को भी ना खाने की चिन्ता है, ना पीने की। पीछे क्या हो रहा है इसका ख्याल भी नहीं रहा। गर्मी में भी सभी लोग पैदल चल रहे हैं, उस पर भी नग्न पैरों। फिर भी सभी के मुख पर आनन्द की लहरें दिखाई दे रहीं है। मुझे देखकर यही लगता है कि आज भी अटूट श्रद्धा है, ऐसी ही बनी रहे यही भगवान् से प्रार्थना करते हैं। कैसा भी युग आ जाये, उसको भी शान्ति के साथ, वात्सल्य-प्रेम के साथ निभायें। रूखी-सूखी रोटी हों, इसकी भी कोई परवाह नहीं, बस ! प्रेम के साथ दो व्यक्ति मिलकर एक रोटी भी खाते हैं तो पहलवान बन जाते हैं। एक अकेला ही व्यक्ति दस रोटी भी ईर्ष्या के साथ खाता है तो उसे अस्पताल जाने की आवश्यकता पड़ती है। बाजरे की सूखी-रूखी खाओ, लेकिन धर्म की रक्षा के लिए धर्मात्मा बन कर खाओ। तीन काल में भी आपको कष्ट नहीं होगा। देव आकर आपकी रक्षा करेंगे। दानव जब उपसर्ग करेंगे तो देव आकर हटायेंगे, खदेड़ेंगे और रक्षा होगी।

अहिंसा धर्म एवं धर्मात्मा की रक्षा करना देवताओं का काम है। इसीलिए उन्हें शासनदेवता भी कहते हैं। जब हम धर्म करते हैं– उसमें दृढ़ रहते हैं तो वे ऊपर से आ जाते हैं। वे भी देखते रहते हैं कि कौन क्या कर रहा है। जैसे पुलिस लड़ते हुए व्यक्तियों के बीच नहीं आती और ना ही आने की आज्ञा शासन की है। लड़-भिड़कर गिर जाते हैं, जब उठाना भी मुश्किल हो जाता है, उस समय पुलिस पहुंचकर पकड़ती है। कॉलर पकड़कर कहती है क्या कर रहे हो ! अपराधी कहते हैं– आप जो कहो मैं वह करने को अब तैयार हूं। इसी प्रकार देवता

लोग भी आकर सहायता करते है। यदि आपका कार्य ठीक-ठीक चल रहा है तो उनके सहयोग की आने-जाने की कोई आवश्यकता नहीं। उस समय तो वह अपनी प्रशंसा करके वदना करेंगे और अपने आपको कृतकृत्य मानेगे।

धन्य है यह नर साधना
इन्द्र पद ने भी की हो, जिसकी आराधना।

ऐसे इन्द्र भी, आप लोगों की प्रशसा के लिए आये। अतः धन्य हैं। अन्तिम मगलाचरण के रूप में यह दोहा आपके सामने है–

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोड़।
हरी-भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।।

□□

☐ प्रवचनिका

□ प्रारम्भ

दरबार में आसीन है चक्रवर्ती सिंहासन के ऊपर प्रसन्न मुद्रा में एक सेवक आनद विभोर होता हुआ नतमस्तक होकर कहता है कि प्रभो। आपका पुण्य अतुलनीय है आप महान भाग्यशाली हैं और हम भी भाग्यशाली हैं कि आप जैसी भाग्यशाली पुण्य का उपभोग करने वाली आत्मा को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। तब चक्रवर्ती पूछते हैं कि बताओ आखिर बात क्या है? ऐसी कौन सी घटना घट गयी, तो सेवक कहता है कि आपको काम पुरुषार्थ के उपरान्त वह सफलता प्राप्त हुई है कि आपको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। आप आदेश दीजिये कि हम उत्सव मना सकें और क्षणभर व्यतीत हुआ कि दूसरा सेवक उससे भी ज्यादा प्रशंसा के साथ गद्गद होता हुआ आकर कहता है कि यह तो महलों के भीतर की बात हो गयी। हम तो बताने आये हैं कि आपका यश आपकी कीर्ति आपकी ख्याति सब ओर फैलने वाली है।

आयुध शाला में अर्थ पुरुषार्थ के फलस्वरूप आपको चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है। अब आप चक्रेश हो गये, नरेश हो गये। अभी तक सुनते थे हम कि ३२ हजार मुकुट बद्ध राजा जिनके चरणों में आकर अभिवादन करते हैं, वह चक्रवर्ती कहलाते हैं आप ऐसे ही चक्रवर्ती हो गये।

और अगले ही क्षण भागता-भागता हुआ एक सेवक आ जाता है कि क्या बतायें हम शास्त्रों में पढ़ते थे सुनते थे और भगवान से प्रार्थना करते थे कि आँखें उस दृश्य को साक्षात् देखकर कब पवित्र होंगी। साक्षात दिव्य ध्वनि सुनकर कान कब पवित्र होंगे। आप भाग्यशाली हैं कि आपके जीवनकाल में ऐसा महोत्सव देखने को मिल रहा है। मुक्ति मानो साक्षात् आकर खड़ी हो गयी है। आदिनाथ भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है। (तालियां)

आप तालियां बजाकर हर्ष प्रकट कर रहे है। ठीक भी है। एक भव्यात्मा को केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उसके प्रकाश मे सारा अंधकार भी अंतर्धान हो जाता है और चलने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अभी तक तो उस प्रकाश की बात सुनी थी आज तो प्रकाश में स्नपित होने का अवसर आया है। केवल ज्ञान से विभूषित होकर अब आपके पिता (व्यवहार की अपेक्षा कह रहा हूँ) जगत् पिता हो गये हैं। आदिम तीर्थकर,

तीर्थ के सचालक हो गये हैं।

इतना सुनते ही उसी समय चक्रवर्ती ने कहा कि चलो सपरिवार धूमधाम से भगवान के समवशरण में चलेंगे और शेष काम तो बाद में होते रहेंगे। अभी न हुकूमत की ओर दृष्टि है न सतान की ओर दृष्टि है अभी तो ज्ञानगुण जो हमारा है उसकी एक सतान को शुद्ध पर्याय जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई वही वास्तविक सतान है जो दुनिया को प्रकाशित करेगी। उसी का दर्शन करेगा। 'तज्जयति पर ज्योति' सम समस्तैरनन्तपर्यायै। दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।। – वह कैवल्य ज्योति जयवन्त हो जिसमे दर्पण के समान सभी पदार्थ अपने अनत पर्यायो सहित प्रतिबिम्बित होते है।

सम्यग्दृष्टि को अपनी सतान की इतनी चिन्ता नहीं रहती अपने धन के बारे मे भी कोई चिन्ता नहीं रहती और हुकूमत चलाने मे भी विशेष उल्लास नहीं होता। सम्यग्दृष्टि को अपनी आत्मा के बारे मे सुनने का उल्लास अधिक होता है। यह अपेक्षकृत बात कह रहा हूँ और सभी बातों की अपेक्षा अधिक उल्लास तो धर्म की बात का ही होता है चक्रवर्ती सोचता है कि हम अभी कवलज्ञान नहीं हुआ कोई बात नहीं लेकिन वृषभनाथ को केवल ज्ञान हुआ वहाँ समवशरण की रचना होगी और हमें अपने भविष्य के बारे मे अपने धर्म के बारे मे अपनी आत्मा के बारे में सुनने का अवसर मिलेगा। यह घडी धन्य है और वह सभी बातों को गौण करके कवल ज्ञान की पूजा करने चला जाता है।

वह अपना द्रव्य अपना तन मन धन सभी कुछ लगा देता है और पूजा करके अपने आप को कृतकृत्य अनुभव करता है। धन्य है यह अवसर। आप दुनिया की बाते करने हो आत्मा की बात करनी चाहिये। आप दूसरे की बात करते हो अपनी बात करनी चाहिये और अपनी भी मात्र ऊपर ऊपर की नहीं भीतरी बात करनी चाहिये। आनद बाहर नहीं भीतर है। आँख के अभाव में ज्ञान के अभाव में भीतरी दृश्य का अवलोकन नहीं हो पा रहा। आत्मा का वैभव इस भव मे रच पचे होने के कारण लुटा हुआ है।

दर्पण बहुत उज्ज्वल है बहुत साफ है ठीक है लेकिन अपना मुख उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ है उसका भी उज्ज्वल होना महत्वपूर्ण पहले हैं दर्पण की धूल हम हटाते हैं साफ करते हैं उज्ज्वल बनाते हैं इसलिये कि अपना मुख देख सकें। अपने आप को देखना मुख्य उद्देश्य है। दर्पण सहायक है। इसी प्रकार परमात्म पद को हमे प्राप्त करना है तो जो परमात्मा बना है उसे देखकर हम प्रयास करें। केवल ज्ञान हमें प्राप्त करना है तो जिसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया उसकी वाणी को श्रवण करके धर्मामृत का पान करके हमें अपनी ओर आना है। हमें अपनी ओर यात्रा की दिशा मोड़ लेनी है जो बाहर हम भाग रहे हैं वह भीतर की ओर आना प्रारंभ हो जाये तो सौभाग्य है।

युग के आदि में वृषभनाथ भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तो समवशरण की रचना हुई। भरत चक्रवर्ती को उनकी पूजा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और प्रथम

श्रोता-श्रावक के रूप में हजारों प्रश्न करके अपनी भीतरी जिज्ञासा शान्त की। आप बाहरी बात पूछते हैं। भविष्य की बात पूछ लेते है लेकिन चक्रवर्ती ने आत्मतत्त्व की गहराई की बात पूछी। जो चक्रवर्ती अभी रागी है वीतरागी नहीं है। गृहस्थ है सन्यासी नहीं है। असयमी है सयमी नहीं है लेकिन सयम की ओर सयम की गध का आस्वादन करने के लिय भ्रमरवत् अपनी वृत्ति रखने वाला है। रागद्वेष में कमी करता हुआ आत्मा के रहस्य को सुनने का भाव रखने वाला है। यही विशेषता स्वभाव की ओर दृष्टि रखने वाले प्रत्येक मुमुक्षु की होनी चाहिये।

बधुओ ! आज ध्वजारोहण का कार्य सपन्न हुआ है जो अभी पचकल्याणक होगे। आज उसकी भूमिका बन रही है। युग के आदि मे कैसे कैसे यह पचकल्याणक की घटना घटित हुई होगी उसको आज से एक एक दिन उसी रूप म चित्रित किया जायेगा। इसका मूल उद्देश्य यही है कि हम निर्मोही बने। हम वीतरागी बनें। हम असयम से सयम की ओर चल और सयम के बल पर अपन भीतर बैठी हुई मोह की सत्ता पर प्रहार करते चले जायें। हम मोहाविष्ट नहीं होना किन्तु मोह को वश म करना है। मन के काबू में नहीं रहना मन को अपने काबू म रखना है। इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होना इन्द्रियों को अपन वश में रखना है। यह सब हमारे आधीन है।

यह सब हमार साधन हैं और हम अपन साध्य स्वय है। इस श्रद्धान के साथ हमे आग बढना चाहिये। धन्य हैं वह चक्रवर्ती का जीवन जिनकी दृष्टि कितनी पैनी होगी कि अर्थ की ओर नहीं गये। काम के फल की ओर नहीं गये किन्तु एकमात्र केवलज्ञान से प्रकाशित सूर्य के दर्शन के लिये गये। यह चित्रण (उदाहरण) आप अपने सामने रखकर दखिये। आप कितने सासारिक प्रलोभन से ग्रसित हैं। आप कितने ससार के लोभो से अकृष्ट हैं। आप कितने विषयों की ओर झुक हुये हैं। एक बात और ध्यान में लाइये कि छ्यान्नव हजार रानियाँ जिनके साथ हैं जिनक हजारो पुत्र और अपार सम्पदा हाथी घोडे नव निधियाँ और चौदह रत्न हैं। बत्तीस हजार मुकुट बद्ध राजा और स्वर्ग से नीचे उतरकर आया हुआ दिव्य वैभव जिनके चरणो में पडा है। जिन्हें आदिम तीर्थंकर के आदिम पुत्र होने का गौरव प्राप्त है लेकिन जब भीतरी बात आती है तो ऐसा लगता है कि किस कोने में बैठा हुआ है वह आत्मन् और वहाँ से पूछ रहा है कि तेरा वैभव क्या है? तेरा स्वभाव क्या है? तेरा वास्तविक रूप और लावण्य क्या है? और तू 'पर' के ऊपर क्यो इतना मुग्ध हुआ है। ऐसा विचार आते ही कभी कभी विस्मय हो जाता है। कभी कभी खेद खिन्नता भी आ जाती है और कभी कभी स्वभाव की ओर दृष्टिपात होने से यह सब बाहरी तरगे हैं लहरें हैं ऐसा मालूम पडने लगता है।

स्वभाव तो यथावत् चल रहा है अनादि अनिधन। थोड़ा हवा का झोंका आ जाता है तो ध्वजा लहरदार हो जाती है। वस्तुत ध्वजा लहरदार नहीं है। इसी प्रकार मोह

का प्रवाह चलता है, झोंका आ जाता है तो संसारी आत्मा में, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मै राजा हूँ, मै बड़ा हूँ, या मैं छोटा हूँ, आदि आदि अनेक लहरें, सकल्प-विकल्प उत्पन्न हो जाते हैं और जैसे ही तत्त्वज्ञान की भूमिका में अपने आपके स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेते हैं तो वहाँ सरोवर तो सरोवर है ध्वजा तो ध्वजा है सब एकदम शान्त, निर्मल और निस्तरग।

स्वभावनिष्ठ वह भगवान हमारे सामने हैं। उनमें आप स्वय को देखे, वहा तरगे नहीं हैं, मात्र अतरग हैं, शान्त स्तब्ध एकमात्र स्वभाव का साम्राज्य फैला है। जो अथाह अगम्य है। और वही स्वरूप की दृष्टि से देखा जाये तो हमारे पास भी विद्यमान है। उसे देखने की आवश्यकता है उस पर श्रद्धान करके उसे प्राप्त करने की आवश्यकता है। भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि है इसलिये उनके जीवन म इतनी गभीरता और इतनी सादगी है जो अपार वैभव मिलने के उपरान्त भी कायम है।

थोडा सा वैभव मिल जाता है तो वही बात होती है कि अधजल गगरी छलकत जात या कहो उछलत जात। आधा भरा कुम्भ हो तो छलकता जाता है और वही जब भरपूर हो जाता है ता कुछ बोलता नहीं। स्वभाव निष्ठ हो जाता है। 'आवाज निकलने से अर्थात् व्याख्यान देने मात्र से स्वरूप का भान होता है'' – यह गलत धारणा है। धारणा तो यह होनी चाहिये कि भरपूर होने के उपरात ही स्वरूप का व्याख्यान प्रारभ हो जाता है। स्वभाव हमेशा उमडता रहता है। उसे सप्रयास लाने की आवश्यकता नहीं पडती।

जब सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, भगवान के स्वरूप को जानने वाला मुमुक्षु इस स्वभाव को परिचय में लाता है। प्रभु के दर्शन से या इस प्रकार के धार्मिक आयोजनों के माध्यम से तब उसे लगता है कि मेरे भीतर भी यही एकमात्र मानसरोवर है जिसमें अनन्तता छिपी हुई है और वह अपने इस शात स्वभाव मे ठहर जाता है किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होती और इस प्रकार जितना जितना अपने भीतर जाने का उपक्रम, प्रयास चलता है उतनी उतनी शाति मिलनी प्रारभ हो जाती है। आप जितने सतह की ओर, बाहर की ओर आयेगे उतनी ही आपका आकुलता सताने लगेगी। इन बाह्य आयोजनों के माध्यम से अतर्मुखी दृष्टि आ जाये, यही उपलब्धि है।

दृष्टि के ऊपर ही हमारे भाव निर्भर हैं। जैसी हम दृष्टि बनाते हैं वैसा ही भावो क ऊपर प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे अतर्दृष्टि होती जाती है भाव भी अपने आप शात होते चले जाते हैं। उबलता उफनता हुआ दूध हानिकारक है लेकिन तपने के उपरात वही जब स्वस्थ/शात हो जाता है तो लाभप्रद हो जाता है। आज विश्व मे कषायों की तपन और उद्वेग बढ़ता जा रहा है। एक व्यक्ति के जीवन में बढ़ता हुआ कषाय का उद्वेग विश्व में प्रलय लाने में कारण बन सकता है,वहीं यदि एक व्यक्ति का मन मानससरोवर

की तरह शात और निर्मल हो तो उसके तटों पर बहुत दूर-दूर से आये भव्य जन रूपी हंस बैठकर शाति का अनुभव कर सकते हैं। एक की शान्ति अनेको मे क्षोभ को शात करने के लिये पर्याप्त है और एक का क्षोभ अनेकों की शांति को भंग करने में निमित्त बन सकता है। इसलिये बधुओ! स्वभाव की ओर दृष्टि लानी चाहिये जिससे भावों मे शाति आये।

जिसके जीवन में स्वभाव से अभी परिचय नहीं हुआ है उसी के जीवन में आकुलता होती है। एक हाथी उन्मत्त हो जाये, स्वभाव से च्युत हो जाये तो उसके सामने खडे होना सभव नहीं है, लेकिन जब वह अपने आप मे शात हो जाता है और अपनी मद चाल स चलने लगता है तो बालक और बूढ़े सभी उसक सामने नृत्य करने लग जाते है। उस पर बैठ भी जाते हैं। स्वस्थ और उन्मत्त हाथी– यह दाना कषायो के उपशमन और उद्वेग के प्रतीक हैं जो स्वभाव से अपरिचित हे वह प्रलय मे कारण बनता है और जो स्वभाव में लीन है तो उस लय मे अनत जीव अपना कल्याण कर लेते है।

धर्म का प्रवाह आज का नहीं। जब स ससार ह तब स अबाध चल रहा है। पूरे के पूरे ससार का कल्याण हो एसी भावना भायी जाये ता आज भी ऐसी लहर उत्पन्न हो मकती है जा हमारे कल्याण मे निमित्त बन मकती है। मव कल्याण की पवित्र भावना भान वाल, वे आर्य, वे सद्पुरुष, वे महामानव युग क आदि म ऐसे कार्य कर गये जो आज भी लोगों के लिये आदर्श बने हुये हैं। आदर्श का एक अर्थ दर्पण भी होता है। दर्पण में देखकर, आदर्श (भगवान) के दर्शन करके हमें ज्ञात हो जाता है कि हमारा कर्त्तव्य क्या है? हमारा स्वभाव क्या है? हमारे प्रभु कोन है? और हमारे लिये उन्होने क्या सदेश दिया है। इतना यदि हम समझ ल तो जीवन कृतकृत्य हो जायेगा।

आज इस पचमकाल में भी हम कृतकृत्यता का अनुभव कर सकते हैं क्योंकि अलौकिक कार्य की शुरूआत में भी तृप्ति का अनुभव होता है। आम जब पक जाते हैं तो रस निकालते हैं पीते हैं तृप्ति मिलती है यह तो ठीक है लेकिन जिसे अधपके/गदरे आम आप बोलते हैं उसका अपने आप में अलग स्वाद होता है। खटमिट्ठा भले ही रहता है पर वह भी तृप्तिकर लगता है। इसी प्रकार तृप्ति का अनुभव मुक्ति में तो यह आत्मा करेगी ही लेकिन जिस समय वह सम्यक् श्रद्धान के साथ मोक्षमार्ग पर अपने कदम रखता है उस समय मार्ग में भी उसे अलग आनद और तृप्ति का अनुभव होता है।

जैसे घर में भोजन करो और वन मे जाकर पिकनिक मे भोजन करो तो उसका अलग आनद आता है। भूख नहीं भी लगी हो तो खाने का मन हो जाता है। यह क्यों होता है? क्योंकि वातावरण भिन्न होने से भावों मे भी अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार जिन्हें केवलज्ञान हो गया हो उनकी छांव में जाकर उनके प्रवचन सुनने और दर्शन करने से जो एक तृप्ति का अनुभव होता है वह भी अपने आप में अलौकिक है।

बंधुओ ! नदी/सरितायें सागर से मिलने को आतुर हो जाती हैं लेकिन बात ऐसी है कि सागर भी मिलने को आतुर था आज। अभी-अभी हमने देखा था। सागर तटस्थ नहीं था, बह रहा था। बहता हुआ सागर कौन सा है यहाँ, और कहाँ जाकर मिलना चाहता है? यह निश्चित है कि सागर यदि बहता है तो वह मीठा हो जाता है। यदि तटस्थ रहता है तो प्रसिद्ध है कि खारा तो वह है ही। बहता हुआ सागर यही है कि सारा सागर-नगर धर्म की ओर बह रहा है। धर्मामृत को पीने के लिये आतुर है। यही तो वे क्षण हैं जब आबालवृद्ध हर्षित होकर उसमें डूब जाते हैं। यह क्षण बहुत दुर्लभ होते हैं यह पैसे खर्च करने से नहीं, किसी व्यक्ति विशेष को आमंत्रित करने से नहीं, कोई मेवा-मिष्ठान खाने से भी नहीं किन्तु भावों की निर्मलता से आते हैं।

जब आप अपने आपको/अपने अहंकार को भूल जाते हैं और मात्र आदर्श सामने रह जाता है और उसी में लीनता आ जाती है तो सभी का मन उल्लास से नाचने लग जाता है। युवकों और बालकों के साथ वृद्ध भी झूमने लगते हैं। दादाजी के पैर भी नाती के साथ नृत्य के लिये उठ जाते है। हमारी अहकार वृत्ति, हमारी दीनता, हीनता, हमारी जो भी कमियां है सारी की सारी समाप्त हो जाती हैं। धर्म में लीनता जब आती है तो दीनता-हीनता चली जाती है। अभी विषयों मे आपकी लीनता है इसलिये आप दीनहीन बनते जा रहे है। अहंकारी बनते जा रहे हैं।

जब हम देखते हैं उस अपार को और विराट की ओर दृष्टिपात करते हैं तब अपने आप की लघुता हमें प्रतीत हो जाती है। जब सागर में मिलने के लिये बड़ी गंगा, सिंधु, ब्रह्मपुत्र जैसी नदियां जिनमें बड़े-बड़े जहाज चलते हैं मिलने के लिये आ जाती हैं। उस समय अपने आपको देखती है तो बहुत पतली बहुत छोटी, नहीं के बराबर मालूम पड़ती है। अपारता का दर्शन इसी प्रकार हमें भी करना है।

इस अपारता के माध्यम से ही हम पार पा जायेंगे। हमारी लघुता समाप्त हो जायेगी उस विराटता में। धन्य हैं वे प्रभु जिन्होंने हमारे अधूरे/अपूर्ण व्यक्तित्व को पूर्ण होने का संदेश दे दिया। उनका दिया उजाला हम लोगों के लिये पथ प्रदर्शक बन गया।

अंत में इतना ही कहना चाहूंगा कि चक्रवर्ती के समान भावना हमारे/आप लोगों के जीवन में भी आये। आज जो स्थिति है वह कर्म के उदय में है उसमें रचे-पचे नहीं, यथावत् उसको देखने का प्रयास करें। पुरुषार्थ अधिक से अधिक आप करें। अर्थ के क्षेत्र में, काम पुरुषार्थ के क्षेत्र में ही नहीं बल्कि धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को अपने सामने रखकर पुरुषार्थशील बने। जिस महान पुरुषार्थ के फलस्वरूप वृषभनाथ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ उसी प्रकार जीवन में भी वह शुभ घड़ी आयेगी, ऐसा सत्-पुरुषार्थ हम करें जिसके द्वारा कैवल्य की उपलब्धि हो। धर्म की ध्वजा फहराती रहे।

□□

☐ श्रेष्ठ संस्कार

सुनते हैं कई प्रकार के मोती होते हैं। जल की बूंदें मोती के रूप में परिणित हो जाती हैं। वह जल की बूँदे धूल में मिलकर अपने आप के जीवन को समाप्त न करके एक मोती का रूप धारण कर लेती है तो वह कंठहार बन जाती है। कभी सोचा आपने कि जब जल मोती बन सकता है तो जो अविरल धारा बहती रहती है वर्षा ऋतु में, वह जल मोती का रूप धारण क्यों नहीं करता। उपादान जल है तो वह मोती के रूप में परिवर्तित हो जाये लेकिन बिना निमित्त के ऐसा संभव नहीं है। इसलिए निमित्त की सार्थकता को ओझल नहीं किया जा सकता।

मोती एकेन्द्रिय है पृथ्वीकायिक है और जल भी एकेन्द्रिय है जलकायिक है लेकिन जब सीप जल की बूंदों को स्वीकार कर लेता है तभी वे मोती का रूप धारण करती हैं। निमित्त की यही विशेषता है। उपादान जो भीतरी की शक्ति है उसका प्रस्फुटन उसकी अभिव्यक्ति सामने तब आती है जबकि योग्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि निमित्त जुट जाते हैं। अन्यथा वही बूंदें नीम की जड़ में चली जाती हैं तो कटुता का अनुभव करने लग जाती हैं। बबूल की जड़ में चली जाती हैं तो कांटे का रूप धारण कर लेती हैं। सर्प के मुख को प्राप्त हुई वही बूंद हालाहल का रूप धारण कर लेती है। सूर्य के ताप को वह प्राप्त कर लेती है तो वाष्प बनकर उड़ जाती है। वस्तु का परिणमन बड़ी अद्वितीय शक्ति को लेकर चलता रहता है।

आज जो जीव गर्भ में आया है वह कहाँ से आया? वह क्यों तीर्थंकर बना और कैसे? किन परिणामों के द्वारा माता-पिता ने उसे धारण किया? तो उत्तर में यही कहा जायेगा कि यह सब संस्कार की देन है। आज यह दिन भी संस्कार का दिन है। एक ऐसा जीव सीप में प्रवेश करेगा तो कालान्तर में मोती का रूप धारण कर लेता है। इसकी अधिकारी वही सीप होगी जो जल को बड़ी सावधानी से ग्रहण करती है। प्रत्येक सीप में मोती बने यह नियम नहीं है। स्वाति नक्षत्र में जब कोई सीप अपना मुख खोलती है और ऊपर मेघों से गिरती जल की बूंद भीतर प्रवेश करती है तब सीप अपने मुख को बंद करके सागर के नीचे चली जाती है। ऐसा यह नैसर्गिक संस्कार का कार्य होता है। परिष्कार का कार्य होता है तभी मोती की उपलब्धि होती है।

आज परिष्कार की बात तो चलती है लेकिन संस्कार की बात नहीं होती। एक सीप के संस्कार को देखो। कैसा संस्कार डाला भीतर कि वह बाहर का जल जो खारा था भीतर वही मोती का रूप धारण कर गया। जल का उपादान, इस भीतरी संस्कार के कारण मोती के रूप में परिवर्तित हो गया। जब किसी के लिये बुखार टाइफाइड हो जाता है जिसे हिन्दी में मोतीझरा बोलते हैं तो एक दो मोती पानी में उबालकर दिये जाते हैं तो वह पानी भीतर के बुखार को निकालने में सक्षम हो जाता है। मोती से मोतीझरा बुखार भी झर जाता है। साधारण पानी में यह गुण नहीं होता। मोती के द्वारा संस्कारित होने पर यह क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार तीर्थंकर होने वाले जीव को अपने गर्भ में प्रवेश होने के पूर्व में माता पिता ने कितनी निर्मल भावना भायी होगी। तीन लोक का कल्याण जिसके ऊपर निर्धारित है ऐसा वह महान् जीव आने वाला है। उसे आधार देने वाला भी कितना कल्याणकारी होगा। यह बात बहुत कम लोगों को समझ में आती है। लेकिन जो वस्तु के उद्गम स्थान की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि वर्तमान, वर्धमान तभी बनता है जब अतीत भी उज्ज्वल होता है। जड़ें मजबूत होती हैं तभी वृक्ष विकास पाता है। संस्कार की ओर अर्थात् मूलभूत जड़ों की ओर भी देखना आवश्यक है। आज तो कलम (क्रास वीड) का युग आ गया। आम की गुठली नहीं बोयी जाती। आम की कलम लगा दी जाती है। संस्कार नहीं दिया जाता मात्र बाहर से थोड़ा परिष्कार कर दिया जाता है। आम भले ही बहुत आते हों लेकिन खाने का स्वाद और पौष्टिकता नहीं मिल पाती।

जो पहले से संस्कार डालना प्रारंभ कर देता है भावों के माध्यम से कि हमारे निमित्त से कोई लोकोत्तर जीव आ जावे जो तीन लोक को दिशा बोध दे सके। तो हम धन्य हो जायेंगे। यह भी एक उज्जवल भावना है। धन्य हैं वह माता और वह पिता। आप लोग तो आज क्या भावना करते हैं कि हमारा लड़का वकील बन जाये, इंजीनियर बन जाये, डाक्टर बन जाये, प्रोफेसर बन जाये। कुछ भी बन जाये लेकिन कमाऊ बन जाये, साधु न बने जाये (हंसी)

यैः शान्तरागरूचिभिः परमाणुभिस्त्वं – हे भगवान् शांति के जितने भी परमाणु थे आपकी देह उनके द्वारा निर्मित हो गयी। आप इसी से अद्भुत हैं। ऐसी शक्ति के परमाणुओं से निर्मित देह की भावना भाने वाले विरले ही माता पिता होते हैं। भारतीय संस्कृति में प्रत्येक क्षण संस्कार के साथ बीते, इस बात को महत्व दिया गया है। प्रत्येक क्रिया संस्कार के साथ चलती है। विवाह संस्कार मात्र वासना की पूर्ति के लिये नहीं है बल्कि संतान की उत्पत्ति और धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये

किया जाता है। ऐसा महापुराणादि ग्रन्थों में आप देख सकते हैं। कब कैसे संस्कार डाले जायें। मन वचन काय की प्रवृत्ति कैसी रखी जाये, कितने बार खाया जाये, कब खाया जाये, क्या खाया जायें और क्यों खाया जाये। इन सभी बातों की सावधानी रखी जाती है।

संस्कार ऐसे हो कि जिससे आने वाली सतान धार्मिक/सात्विक जीवन का संस्कार लेकर आये। उसका तामसिकता की ओर झुकाव न हो। जब विभिन्न प्रकार के सुगंधित फूलों की प्रजातियों को पैदा करते समय आवश्यक हवा, पानी और वातावरण आदि की सावधानी रखी जाती है तो आप विचार करें कि जिसके द्वारा तीन लोक में सुगधमय वातावरण बनेगा ऐसा जीव यहाँ गर्भ में आया है तो कितनी सावधानी रखी गयी होगी। कैसे अद्भुत पवित्र संस्कार किये गये होंगे। तीन लोक के सकल चराचर पदार्थों को अपने मे धारण करने की क्षमता जिसके ज्ञान में आ जाये, जो प्राणिमात्र के दुख दारिद्र्य को दूर करने मे निमित्त बन जाये। यह सब संस्कार का ही प्रतिफल है।

साधना अभिशाप को वरदान बना देती है। भावना पाषाण को भगवान बना देती है। पर आज का युग स्वय एकदम भगवान बनना चाहता है। साधना के नाम पर कुछ करना नहीं चाहता। महान आत्माओं के चरणों मे झुकना नहीं चाहता। सब समय के भरोसे छोड़ देता है। बधुआ! साधना भगवान बनने स पूर्व की बात ह और अनिवार्य है। भगवान बनने के उपरान्त साधना नहीं की जाती। फल पक जाने के उपरान्त पानी का सिंचन नहीं किया जाता। साधना से ही संस्कार पड़ते हैं।

पहले मंत्रों के द्वारा सहज ही कार्य सिद्ध हो जाते थे, इसका कारण है कि मंत्र सिद्ध होने के उपरान्त ही कार्य सिद्ध हो जाता है। मत्र सिद्ध न हो, मत्र की साधना न हो तो मंत्र पढ़ने मात्र से कार्य संपन्न नहीं होता। साधना पहले आवश्यक है। जीवन को वासना से दूर रखने की साधना की जाये तभी आने वाली सतान, आत्मा की उपासना करने में सक्षम होगी, उपादान की योग्यता के साथ-साथ निमित्त का भी प्रभाव पड़ता है।

गाधी जी ने नहीं कहा लेकिन लोगों ने स्वय उन्हें महात्मा गाधी कहा। वे तो अंत तक यही कहते रहे कि मेरी महानता तो माता-पिता के ऊपर निर्धारित है। उन्होंने ही मेरे ऊपर संस्कार डाले। विदेश में जा रहे हो तो ध्यान रखना माँस-मदिरा का सेवन मत करना। यह गांधी जी के जीवन की घटना है। विदेश जाते समय उनकी माता ने यह शपथ दिलायी थी।

आयुर्वेद में औषधियों की शक्ति भावना पर ही आधारित है। जितना ज्यादा

औषधि को भावित किया गया होगा भावना दी गयी होगी, पुट दिया गया होगा उतनी ही वह शक्तिशाली होगी। जैनाचार्यों ने इस शक्ति को अनुभाग कहा है। जिस भावना के साथ जो कर्म आ जाता है उनमे ऐसी शक्ति पड जाती है कि दुनिया की कोई शक्ति आ जाये पर उसे समाप्त नहीं कर सकती। पुण्य कर्म की स्थिति तो ऐसी है कि यदि उसे मिटाना/हटाना चाहा तो जितना उससे बचने के लिये जायेंगे उतनी ही उसकी शक्ति और बढ जायेगी। पापो से मुक्त होकर जो पुण्य मे लग जाते हैं और पुण्य के फल का त्याग करते जाते हैं उन्हें और अधिक पुण्य का सचय होने लगता है।

स्वर्ण यदि असली हो तो उसको आप कितनी ही बार कसौटी पर परखो वह खरा ही उतरेगा। उसे जितना तपाओ समाप्त करना चाहो वह उतना ही उज्ज्वल हो जाता है। कचन तो कचन ही है यह भावना का फल है। साधारण पीपल नहीं यदि चौंसठ प्रहरी पीपल हो तो क्षय रोग को भी दूर करने मे सक्षम होता है। चौंसठ प्रहर तक मूसल की चोट जिस पापल के ऊपर पडती है वह पीपल आयुर्वेद मे चौंसठ प्रहरी पीपल कहलाता है। पल पल उस पीपल ने चौंसठ प्रहर के प्रहारो को अपने मे पी लिया। वह सस्कारित हो गया। आप मशीन के द्वारा एक घटे मे उतनी ही चोट डाल दो वह शक्ति नहीं आयेगी, ध्यान रखना क्योकि वहा चोट तो जुड़ी है लेकिन भावना नहीं जुड़ी। एक में व्यवसाय है एक मे साधना स्वाध्याय है।

बधुओ ! तीन लोक का दारिद्र्य जो मोह के कारण है उसे यदि दूर करना चाहते हो तो वित्त के द्वारा नहीं, धन सपदा के द्वारा नहीं बल्कि चेतन भावो के द्वारा ही, वीतराग भावो के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। लोक कल्याण की भावना का यह सस्कार अद्भुत है। धन्य है वह माता पिता जो अपनी सतान में ऐसे भाव पैदा करने के लिये प्रयास करते है। हम मन वचन काय की ऐसी चेष्टा करनी चाहिये ताकि विश्व का कल्याण हो।

भावो मे ऐसी उज्ज्वलता लायें जैसे मोती के लिये सीप प्रयासरत है। सीप में मोती भले ही एक हो जैसे तीर्थंकर अपने माता पिता के एक ही होते हैं पर सारा लोक आकृष्ट हो जाता है। एक मोती ही पर्याप्त है। एक तीर्थंकर की योग्यता वाला पुत्र ही पर्याप्त है। हमारा पुत्र हमारे लिये ही नहीं बल्कि विश्व के कल्याण के लिये हो ऐसी भावना बिरला ही कोई कर सकता है। इतना ही नहीं उस पुत्र को लोक के लिये समर्पित करके आनदित भी होता है। उसे स्वय से अधिक समझदार मानता है। नाभिराज और माता मरुदेवी किसी के कुछ पूछने पर उसे समाधान के लिये अपने पुत्र आदिकुमार के पास भेज दिया करते थे। यहाँ पर्याय बुद्धि छोड़नी पड़ती है। छोटा/बड़ा कोई उम्र से या शरीर से नहीं मापा जाता अंतरंग योग्यता देखनी चाहिये।

आप इन कार्यक्रमों को लौकिक कार्यक्रम न समझे। किन्तु पारलौकिक आत्मा की ओर ले जाने के लिये प्रतीक मानें प्रेरणा लें। आप भी माता पिता है आपके भी सतान है उसे सस्कारित करे। अतर्दृष्टि दे और स्वय भी सस्कारित हो जिससे सबका भविष्य उज्जवल बने।

एक दीप हजारो दीपक जलाता है। एक दीपक के साथ बुझ हुये हजार दीपक अपने आप जल जाते है। परिश्रम की आवश्यक्ता नहीं होती और एक वह भी दीपक होता है जो रत्न दीपक कहलाता है। इस माटी के दीपक मे तो बाती होती है तेल डाला जाता है और वह बुझ भी सकता है लेकिन रत्न दीपक क लिय बाती और तेल की आवश्यकता नहीं होती वह हवा के द्वारा बुझता भी नही ह। किसी का जलाता नही स्वय जलता रहता ह ऐसे रत्न दीपक से भी श्रेष्ठ दीपक गर्भ म आ चुका ह। उसकी पात्रता को ध्यान में रखकर कल पूवपाठिका क रूप मे सीप और माता की बात कही थी।

आज उस श्रेष्ठ दीपक की बात करना चाहता हू जिसक गर्भ म आते ही सब ओर शाति का वातावरण बन जाता ह। मगल छा जाता ह और आत्मा का महात्म्य सुनाई देने लगता है। एक विकासमान दीपक एक प्रकाशमान दीपक जो विश्व का शान्त प्रदान करन वाला है वह गर्भ म भले ही है लेकिन अपनी प्रभा को बाहर बिखर रहा है। कैसी अद्भुत भावना पूर्व जीवन म भायी होगी कि जो आज गर्भावस्था म रहकर भी विश्वप्रिय है। सब आतुर हैं कि कब भगवान का दर्शन होगा? पर्याय की दृष्टि मे देखे तो वे कुमार की तरह जन्म लेंगे अभी भगवान नहीं है लेकिन अतर्दृष्टि मे देखा जाये तो प्रत्येक आत्मा भगवान है।

एक ऐसी आत्मा जो इसी पर्याय से अपनी आत्मा को जगमगायेगी। जिसके माध्यम से तीन लोक अपन आप क स्वरूप को पहचानेगा। ऐसी आत्मा/परमात्मा के प्रभाव से उनके परिवार का ही नहीं सभी का दारिद्र दूर हो जाता है मात्र शारीरिक रोग ही नहीं भव रोग का भी अत होने लग जाता है और दिन रात शुद्धात्मा की चर्चा/अर्चा प्रारभ हो जाती है। पूरा का पूरा परिवार राग से वीतरागता की ओर चला जाता है। यह सब पूर्व भव मे इस जीव के द्वारा स्व और पर के कल्याण की भावना का परिणाम है।

इस तरह जिस आत्मा का गर्भ म आना कल्याणकारी होता है और इतना ही नहीं बल्कि अब इस जीव को दुबारा गर्भ में नहीं आना पडेगा और न ही उसकी माँ को अधिक गर्भ धारण करने होगे वह भी एकाध दो भव में मुक्ति का भाजन बनेगी। इसलिय भी यह गर्भ कल्याण रूप है। गर्भ मे आना भी कल्याणक के रूप मे मनाया जाता है।

किसी कवि ने छोटी सी कविता लिखी है कि "मैं एक अवयस्क वृद्ध हूँ। कविता

का रहस्य अपने आप में बहुत है। अभी जीव गर्भ में आया है लेकिन उसका अनुभव वृद्धत्व का प्राप्त है जैसे दीपक छोटा सा लगता है लेकिन रात्रि के साम्राज्य का छिन्न भिन्न करने में सक्षम है फिर यह कोई सामान्य दीपक नहीं है जिसके तले अंधेरा हो। यह सामान्य रत्न दीपक भी नहीं है बल्कि विशिष्ट चैतन्य रत्न दीपक है। इसकी गरिमा शब्दों में नहीं कही जा सकती। शब्द बहुत बौने पड़ जाते हैं। शब्दों में विराटता का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है लेकिन भावो की उमड़न रुक नहीं पाती जिससे बार-बार गुणानुवाद का मन हो जाता है जैसे सूर्य की आरती दीपक से की जाती है।

हीरा बहुमूल्य होता है लेकिन आत्मतत्त्व रूपी हीरा तो अमूल्य है। अद्वितीय है। इस एक आत्म तत्त्व के प्रति अपने आपको समर्पित करने वाली यह महान् आत्मा धन्य है जिसने अतीत में भी रत्नत्रय की साधना की, और आगे भी रत्नत्रय की आराधना करके मुक्ति को पायगी। जन्म के उपरान्त देखने में भले ही कोमल बालक दिखेगा लेकिन तीन लोक का पालक होगा। आज का प्रत्येक बालक कल का नागरिक बन सकता है लेकिन प्रत्येक नागरिक राष्ट्रपिता नहीं बन सकता। उसके लिये अलग योग्यता चाहिये। फिर यह गर्भस्थ शिशु तो मात्र राष्ट्रपिता नहीं बल्कि तीन लोक का नाथ बनने वाला है उसकी योग्यता कितनी होगी। यह इस अवसर पर विचार करना चाहिये।

आज की यह धर्मसभा गर्भस्थ आत्मा का कल्याणक मनाने के लिये आतुर है वहीं दूसरी ओर विज्ञान के माध्यम से यह परीक्षा की जाती है कि गर्भस्थ आत्मा लड़का है या लड़की है। यदि लड़की है तो हटा दो। लड़का है तो रहने दो। कौन-से ऐसे संविधान में लिखा है, किस देश की संस्कृति इस जघन्य अपराध को इस पाप को ठीक मानती है। कुछ समझ में नहीं आ रहा। यह कहाँ का न्याय है, यह तो अन्याय है। यह विज्ञान का दुरुपयोग है। आप धर्म की बात सुनना चाहते हैं लेकिन गर्भस्थ शिशु की पीड़ा को नहीं सुनना चाहते।

गर्भस्थ शिशु पर किये गये इंजेक्शन और दवाईयों के प्रयोग से उसे जो मर्मान्तक पीड़ा होती होगी वह आप देखना नहीं चाहते। ऐसा जघन्य काम हो रहा है इस भारत वर्ष में और लोग चुप है। दंड की बात दूर है धन के द्वारा पुरस्कृत किया जा रहा है। मैं आलोचना नहीं कर रहा हूँ आपके लोचन खोलना चाह रहा हूँ। आज गर्भ कल्याणक के अवसर पर इस युग की यह समस्या विचारणीय है।

क्षत्रियों का धर्म तो यही है कि अबोध बालक-बालिका पर, उन्मत्त/पागल व्यक्ति पर, नारी के ऊपर और निःशस्त्र योद्धा के ऊपर प्रहार कभी न किया जाये। लेकिन आज क्या हो रहा है दोनों कुलों के यश को वृद्धिगत करने वाली बालिका पर प्रहार किया जा रहा है। नारी जगत ने इतिहास में कितना कुछ किया है और आगे भी करने

की क्षमता रखती है। यह किसी से छिपा नहीं है। जीव का परिणमन है। शरीर को लेकर कर्म प्रकृति को लेकर अंतर संभव है लेकिन आत्मा जो सभी में वही है। अनंत शक्तिवान है, बंधुओ, सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया अर्थात् सभी जीव अंतर्दृष्टि से देखा जाये तो शुद्धत्व को प्राप्त करने की क्षमता वाले हैं। अपने आपको सम्यग्दृष्टि मानने वालो थोड़ा तो विचार करो।

यदि आप जीवन प्रदान नहीं कर सकते तो आपको जीवन लेने का क्या अधिकार है? वह जीव तो स्वयं जीवन लेकर आया है। उसका कल्याण वह स्वयं करेगा। भगवान महावीर की धरती पर, भगवान वृषभनाथ की धरती पर, भगवान राम की धरती पर, माता मरुदेवी और राजा नाभिराज की धरती पर यह जघन्य कृत्य ठीक नहीं है। इसका समर्थन शासन क्यों करता है, शासन तो आपके हाथ में है प्रजातंत्र है आप ही शासक हैं और शासित भी आपको होना है। लोकतंत्र में "टके सेर भाजी टके सेर खाजा, अंधेर नगरी और चौपट राजा'' यह नहीं चलेगा। आत्म गौरव होना चाहिये। स्वाभिमान होना चाहिये। अपनी उज्ज्वल संस्कृति का ख्याल होना चाहिये।

ऐसा आज कोई अहिंसा को मानने वाला जैन क्यों नहीं है जो खुले आम निडरता से इसे बंद कराने का प्रयास करे होना चाहिये। आप सोचते हैं, अकेले धार्मिक कार्य करने से पुण्य संचित होता है ऐसा एकान्त नहीं है। पुण्य संचय तो सादगी पूर्ण जीवन से, संयत जीवन जीने से होता है। दुःशासन का शासन भी भंग हो गया था, द्रोपदी के आत्मानुशासन के सामने। भरी सभा में दुःशासन ने द्रोपदी को निरावरित करना चाहा था लेकिन पसीना पसीना हो गया था पर वस्त्र हट नहीं पाया। ऐसी शीलवान द्रोपदी की कथा आप पढ़ते हैं और गर्भस्थ बालक पर प्रहार करते हैं कुछ समझ में नहीं आता।

गर्भस्थ शिशु का भविष्य कैसा है। यह कोई नहीं जानता। क्या पता कौन सा शिशु महात्मा गांधी बन जाये। कौन अकलक निकलंक जैसा धर्म रक्षक बन जाए। कौन जिनसेन स्वामी जैसा महान् बन जाये और कौन बालिका चंदनबाला जैसी आर्यिका बनकर संघ का नेतृत्व संभालकर युग को संबोधित करे। आपके सागर नगर से क्षमा सागर जी, सुधासागर जी, जैसे मुनि निकले हैं और दृढ़मती जैसी आर्यिका गणिनी भी है जिसके अनुशासन में पच्चीस, तीस-तीस आर्यिकायें हैं।

बंधुओ! सब अपने-अपने कर्म लेकर आते हैं। संसार में किसी का पालन पोषण हमें करना है– ऐसा व्यर्थ है। कर्म सिद्धान्त पर अगर आपको विश्वास है तो संकल्प कीजिये कि हम अपने जीवनकाल में कभी गर्भस्थ शिशु की हत्या नहीं होने देंगे। जीवनदान बड़ा महत्वपूर्ण दान है। एक महान आत्मा का जन्म ही सारे विश्व में उजाला करने के लिये पर्याप्त है। धर्मात्मा यदि बचा रहेगा तो सारी प्रकृति धर्ममय बनी रहेगी। सब ओर सुख शांति होगी। ☐☐

☐ जन्म मरण से परे

सत का नाम सुना था। आज उनके चरणों में आकर वह अबला रो रही है। अपने दुख की अभिव्यक्ति कर रही है। वह क्या माग रही है अभी यह भाव खुल नहीं पाया है। वह कह रही ह कि जब आपने दिया था ता बीच म ही वापिस क्यों ले लिया। एक अबला के साथ यह ता अन्याय हुआ है। हम कुछ ओर नहीं चाहते जैसा आपने दिया था वेसा ही वापिस कर दीजिये। क्योकि हमने सुना ह आप दयालु हैं। प्राणों की रक्षा करन वाल ह। पतितो के उद्धारक हें और इस तरह अपना दुख कहकर दखी होकर वह अबला वहीं गिर पडी।

सत जी उसका दुख समझ रहे हैं उसका एक ही बेटा था। आज अकस्मात् वह मरण को प्राप्त हा गया है। यही दुख का कारण है। सत जी न उस सात्वना दी लेकिन अकेले शब्दों से शान्ति कहाँ मिलती है। वह कहने लगी कि आप तो हमारे बेटे को वापिस दिला दा। सत जी न अब थोडा मुस्कराकर कहा बिल्कुल ठीक है। पूर्ति हो जायेगी। बेटा मिल जायेगा। लेकिन सारा काम विधिवत् होगा। विधि को मत भूलो। सबके लिये जो रास्ता है वही तुम्हें भी बताता हूँ।

वह अबला तैयार हो गयी कि बताओ क्या करना है? अपने बेटे के लिये सब कुछ करने को तेयार हूँ। बेटा जीवित होना चाहिये। सत जी न कहा ऐसा करो कि अपने अडोस पडास मे जाकर कुछ सरसों के दाने लेकर आना। म सब ठीक कर दूँगा। इतना सुनते ही वह बुढिया अबला जाने को तैयार हो गयी तो सत जी ने रोककर कहा कि सुनो। मैं भूला जा रहा था एक शर्त है कि जिस घर से सरसों लेना वहाँ पूछ लेना कि तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं है। जहाँ कोई कभी नहीं मरा हो वहाँ से सरसों ले आना बस।

अबला ने सोचा कि दुनिया में एक मैं ही दुखी हूँ और शेष सारे के सारे सुखी हैं। मरण का दुख मुझे ही है। शेष किसी के यहाँ कोई नहीं मरा और वह जल्दी से पड़ोस में गयी और जाकर कहा कि सतजी ने कहा है कि तुम्हारा बेटा वापिस मिल जायेगा लेकिन एक मुट्ठी सरसों के दाने लेकर आओ। तुम मुझे मुट्ठी भर सरसों दे दो और पड़ोसिन से सरसों लेकर वह जल्दी-जल्दी चार कदम भाग गई पुन: वापिस

लौटकर आयी और कहा कि पहले यह तो बताओ कि तुम्हारे घर में कोई मरा तो नहीं। तो पड़ोसिन वाली अभी फिलहाल कोई नहीं मरा लेकिन तीन वर्ष पहले आज के दिन ही उनकी मृत्यु हो गयी थी ! अरे तब ऐसे सरसों तो ठीक नहीं ऐसा सोचकर वह बुढ़िया सरसों वापिस करके दूसरी सहेली के पास चली जाती है।

वहाँ भी ऐसा ही हुआ। सरसों लेकर चार कदम आगे बढ़ी कि गुरू के वचन याद आ गये कि जहाँ कोई मरण को प्राप्त न हुआ हो वहाँ से सरसों लाना।

बंधुओ ! मोक्षमार्ग में भी गुरुओं के वचन हमेशा-हमेशा काम में आते हैं। "उवयरणं जिणमग्गे लिगं जहजादरूवमिदि भणिदं। गुरुवयणं पिय विणओ, सुत्तज्झाणं च निद्दिट्ठं।।" आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने हम लोगों के लिये जो मोक्षमार्ग में आरूढ़ हैं, कहा है कि मोक्षमार्ग में चार बातों का ध्यान रखना तो कोई तकलीफ नहीं होगी। पहली बात यथाजात रूप अर्थात् जन्म के समय जैसा बाहरी और भीतरी रूप रहता है। बाहर भी वस्त्र नहीं भीतर भी वस्त्र नहीं। वैसा ही निर्ग्रंथ निर्विकार रूप होना चाहिये।

पहले आठ दस साल तक बच्चे निर्वस्त्र निर्विकार भाव से खेलते रहते थे। ऐसा सुनने में आता है कि ऐसे भी आचार्य हुये हैं जिन्होंने बालक अवस्था से लेकर मुनि बनने तक वस्त्र पहना ही नहीं और मुनि बनने के उपरांत तो निर्ग्रंथ रहे ही। आचार्य जिनसेन स्वामी के बारे में ऐसा आता है, दूसरी बात गुरू वचन अर्थात् गुरू के वचनों का पालन करना। गुरूमंत्र का ध्यान रखना, शास्त्र तो समुद्र हैं शास्त्र से ज्ञान बढ़ता है लेकिन गुरू के वचन से ज्ञान के साथ अनुभव भी प्राप्त होता है। गुरू, शास्त्र का अध्ययन करके अपने पूर्व गुरू महाराज की अनुभूतियों को अपने जीवन में उतार करके और स्वयं की अनुभूतियों को उसमें मिलाकर देते हैं, जैसे – मां, बच्चे को दूध में मिश्री घोलकर पिलाती है और कुछ गाती बहलाती भी जाती है।

तीसरी बात है विनय, नम्रता, अभिमान का अभाव। यदि विनय गुण गुम गया तो ध्यान रखना, शास्त्र-ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होगा। अंत में रखा है शास्त्र का अध्ययन, चिंतन, मनन करते रहना, जिससे उपयोग में स्थिरता बनी रहे, मन की चंचलता मिट जाये। तो गुरुओं के द्वारा कहे गये वचन बड़े उपकारी हैं।

उस अबला बुढ़िया को सरसों मिलने से खुशी हो जाती लेकिन जैसे ही मालूम पड़ता कि इस घर में भी गमी हो गई है तो वह आगे बढ़ जाती। ऐसा करते-करते उस बुढ़िया को धीरे-धीरे आने लगी बात समझ में "अनागत कब मरण में, अतीत कब विस्मरण में ढल चुका पता नहीं, स्वसंवेदन यही है," संसार में इसी स्वसंवेदन के अभाव में संसारी प्राणी भटक रहा है। यहां कोई अमर बनकर नहीं आया। ऐसा सोचते-सोचते वह बुढ़िया संतजी के पास लौट आयी।

संतजी ने कहा– कि विलम्ब हो गया कोई बात नहीं। लाओ सरसों ले आयी। मैं तुम्हारा बेटा तुम्हें दे दूंगा। बुढ़िया बोली– संतजी आज तो हमारी आंखें खुल गयी। आपकी दवाई तो सच्ची दवाई है। आपने हमारा मार्ग प्रशस्त कर दिया। आपका उपकार ही महान उपकार है। मेरा बेटा जहाँ भी होगा वहाँ अकेला नहीं होगा क्योंकि अड़ौसी-पड़ौसी और भी हैं जो पहले ही चले गये हैं। यह संसार है यहाँ यह आना-जाना तो निरंतर चलता रहता है।

आप लोग सनराइज कहते हैं। सनवर्थ कोई नहीं कहता और सनसेड सभी कहते हैं लेकिन सनडेथ कोई नहीं कहता, यह कितनी अच्छी बात है। यह हमें वस्तुस्थिति की ओर वास्तविकता की ओर ले जाने में बहुत सहायक है। सनराइज अर्थात् सूर्य का उदय होना और सनसेड अर्थात सूर्य का अस्त हो जाना। उदय होना, उगना कहा गया, उत्पन्न होना नहीं कहा गया। इसी प्रकार अस्त होना, डूबना कहा गया, समाप्त होना नहीं कहा गया। यही वास्तविकता है। आत्मा का जन्म नहीं होता और न ही मरण होता है। वह तो अजर-अमर है।

संसारी दशा में जीव और पुद्गल का अनादि संयोग है और पुद्गल तो पूरण गलन स्वभाव वाला होता है कभी मिल जाता है कभी बिखर जाता है। उसी को देखकर आत्मा के जनम-मरण की बात कह दी जाती है। केवलज्ञान के अभाव में अज्ञानी संसारी प्राणी शरीर के जन्म होने पर हर्षित होता है और मरण में विषाद करता है और यही अज्ञानता संसार में भटकने में कारण बनती है।

आज यह बात वैज्ञानिक लोग भी स्वीकार करते हैं कि जो नहीं है उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता और जो है उसका कभी नाश नहीं हो सकता उसका रूपांतरण अवश्य हो सकता है। रूपांतर अर्थात् पर्याय का उत्पन्न होना या मिट जाना भले ही हो लेकिन वस्तु का नाश नहीं होता। बंधुओ! जो पर्याय उत्पन्न हुई है उसका मरण अनिवार्य है किन्तु ऐसा मरण आप धारण कर लो कि जिसके बाद पुनः मरण न हो। और ऐसी सिद्ध पर्याय को उत्पन्न कर लो जो अनंतकाल तक नाश को प्राप्त नहीं होती।

आज जिसका जन्म कल्याणक मनाया जा रहा है वह ऐसी आत्मा का जन्म है जिसे अब आगे बार-बार जन्म धारण नहीं करना पड़ेगा। यह अंतिम जन्म है। शरीर के जन्म को हम आत्मा का जन्म न मानें और न ही शरीर के मरण को अपना मरण मानें बल्कि आत्मा के अजर-अमर स्वरूप को पहचानकर उसे प्राप्त करने के लिये कदम बढ़ायें। यही इस जन्म कल्याणक की उपलब्धि होगी। □□

☐ समत्व की साधना

समय अत्यल्प रह गया है। आज अभी-अभी भगवान की दीक्षा के उपरान्त आर्यिका दीक्षायें सम्पन्न हुई हैं। भगवान ऋषभदेव के समय जब भगवान का वहाँ दीक्षा-कल्याणक महोत्सव मनाया जा रहा है तो पूरी नगरी में उल्लास छाया हुआ है। सब अपने अपने कर्त्तव्य में लगे हुये हैं। सबका मनोयोग उसी मे लगा हुआ है। आज कैसा भावों का परिवर्तन होने जा रहा है। अभी तक जो आदि कुमार राजा सभी के स्वामी थे अब अपने स्वय के स्वामी बनने जा रहे हैं। द्रव्य क्षेत्र और काल का परिवर्तन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना भावों का परिवर्तन महत्वपूर्ण है। आज भावों के परिवर्तन का दिन है।

किसी को यह अच्छा भले ही न लगे (परभिप्राय निवृत्तयशक्यत्वात् दूसरे के अभिप्राय का निवारण करना वैसे भी अशक्य है।) किन्तु मोक्षमार्ग में भावों की प्रधानता है। अभी तक राजसत्ता थी। दडसहिता चल रही थी साम दाम, दड भेद की बात चलती थी किन्तु अब तो अभेद की यात्रा प्रारभ हो रही है। अब कोई आज्ञा मागे तो भी आज्ञा नहीं दी जायेगी। अब तो 'दु:खे-सुखे वैरिणी बधु वर्गे, योगेवियोगे भवने वने वा। निराकृता शेष ममत्वबुद्धि, सम मनो मेस्तु सदापि नाथ।।'

अब तो सभी के प्रति ममत्वबुद्धि को छोडकर आत्मा समत्व में लीन होना चाह रही है। भीतर से वैराग्य उमड रहा है। यह घटना आत्मोन्नति के लिये प्रेरणादायी है। भारत की सस्कृति आज जीवित है तो इन्हीं आत्मोन्नति की घटनाओं के माध्यम से जीवित है। धन सम्पदा के कारण नहीं। ज्ञान-विज्ञान के कारण नहीं बल्कि त्याग, तपस्या के कारण भारतभूमि महान् है।

वैभव तो "वै'' अर्थात् निश्चय से 'भव ' यानी ससार ही है। इसलिये वैभव, वैरागी को नहीं चाहिये। उसे तो भव से दूर होने के लिये चरित्र वृक्ष की छांव चाहिये है। 'स भव विभव हान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्ष' -भव भव की पीड़ा समाप्त हो जावे इसीलिये चरित्ररूपी वृक्ष का सहारा लिया जाता है।

कुछ लोग वैराग्य के आदर्श के रूप में आदिनाथ भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती का नाम लेते हैं। मुझे तो लगता है कि वैराग्य के आदर्श पात्र यदि कोई है तो रामचंद्र

जी के छोटे भ्राता भरत हैं। जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शान को, राजा दशरथ के वंश की और अपनी माता की कोख को भी शोभा प्रदान की है। जिन्हें सिंहासन की भूख नहीं थी। वैराग्य की भूख थी। उन्हें भवन नहीं चाहिये वन चाहिये था। उनके आग्रह को सुनकर राम ने कहा कि "भइया मुझे पिताजी की आज्ञा है वन जाने के लिये और तुम्हें पिताजी की आज्ञा से सिंहासन पर बैठना है। तुम राज्य मुझे देना चाहते हो तो ठीक है। मैं तुम्हारा बड़ा भ्राता वह राज्य तुम्हें सौंपना चाहता हूँ।

एक तरफ पिताजी की आज्ञा और ज्येष्ठ भ्राता जो पिता तुल्य है उनकी आज्ञा और दूसरी तरफ भीतर मन में उठती वैराग्य की भावना। मुनि बनने की प्यास। परीक्षा की घड़ी है और अंत में भरत जी ने कहा कि भइया जैसी आपकी आज्ञा। मैं सब मंजूर करता हूँ। मैं यहाँ पर रहूँगा आपका कार्य करूँगा। आपका जैसा निर्देशन मिलेगा वैसा ही करूंगा। लेकिन आपके चरण चिह्न इस सिंहासन पर रखना चाहता हूँ।

कैसी अद्भुत घटना है यह इतनी त्याग-तपस्या घर में रहकर भी। यह है राजनीति, कि राजा बनना पड़ता था, बनाया जाता था। राजा बनने की इच्छा नहीं रखते थे क्योंकि क्षत्रिय कभी पैसे के भूखे नहीं रहते। अब तो वैश्य वृत्ति आ गयी। पैसे और पद का राग बढ़ गया है। सिंहासन के ऊपर ज्येष्ठ भ्राता के चरण चिह्न रखकर उनको तिलक लगाकर उनकी चरण-रज माथे पर लगाकर प्रजा के संरक्षण के लिये एक लघुभ्राता और पिता की आज्ञा से बन जाने वाले एक ज्येष्ठ भ्राता की बात अब मात्र पुराण में रह गयी है। रामायण में रह गयी है।

इस दीक्षा कल्याणक के आयोजन में कि जिसमें मुकुट उतारे जा रहे हैं सिंहासन त्यागा जा रहा है। वैराग्य की बाढ़ आ रही है सब कुछ देखकर भी आपकी सत्ता की भूख शासन की भूख बढ़ती जाये तो क्या कहा जाये। बंधुओ ! उन राम को याद करो। लघुभ्राता भरत को याद करो। अपने ज्येष्ठ भ्राता के पीछे-पीछे चलने वाले लक्ष्मण और महलों में रहने वाली रानी सीता के त्याग को याद करो। सारे प्रजाजनों की आंखों में आंसू हैं लेकिन राजा राम अपने कर्त्तव्य में अडिग हैं।

कैसी विनय और वैराग्य का आचरण है। यह वैराग्य की कथा आज के श्रमणों को भी आदर्श है, गृहस्थों के लिये तो आदर्श है ही। श्रमण की शोभा राग से नहीं, वीतराग निष्कलंक पथ से है। दैगम्बरी दीक्षा ही निष्कलंक पथ है। राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने कहा है कि– "मेदनी पति भी यहाँ के भक्त और विरक्त थे। होते प्रजा के अर्थ ही रोज कार्यासक्त थे" प्रजा के लिये राजा होते थे मात्र सिंहासन पर बैठने के लिये या अहंकार प्रदर्शित करने के लिये नहीं। उनकी प्रभुभक्ति और संसार से विरक्ति हमेशा

बनी रहती थी। आज भी ऐसे ही नीति-न्यायवान्, भक्त और विरक्त भरत और राम के आये बिना शांति आने वाली नहीं है।

अंत में यही कहना चाहता हूँ। धन्य हैं वे वृषभनाथ भगवान जिन्होंने राष्ट्र पद्धति को अपनाते हुये प्रजा को अनुशासित किया और बाद में स्वयं आत्मानुशासित होकर दीक्षा लेकर वन की ओर बिहार कर गये। भरत चक्रवर्ती आदि भी उनकी आज्ञा के अनुसार प्रजा का पालन करते हुये मुक्त हुये। हमें क्षात्र-धर्म की रक्षा के लिये और दिगम्बरत्व की सुरक्षा के लिये वीतरागता को ध्यान में रखना चाहिये। जंगल में भले ही न रह पायें लेकिन जंगल को याद रखना चाहिये वीतरागता के बिना न शिरपुर मिलेगा और न ही शिवपुर ही मिलेगा। वीतरागता की उपासना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। वही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

□□

☐ धर्म-देशना

रथ आगे बढ़ता जा रहा है। अश्वगतिमान है। गन्तव्य तक पहुँचना है। मंगल का अवसर है। जीवन में वह अवसर वह घड़ी एक ही बार आती है। उस घड़ी की प्रतीक्षा में लाखों जनता लगी हुई है। यात्री पथ में है, और अबाधित पथ को लांघता हुआ चला जा रहा है। अपने मनोरथ की पूर्ति हेतु संकल्प उसके पास है। लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वह आतुर है। लेकिन संयत होकर अपने कदम बढ़ा रहा है और कुछ ही दूरी रह गयी है पर लग रहा है कि संकल्प पूरा नहीं हो पायेगा। संकल्प परिवर्तन के योग्य भी नहीं है क्योंकि संकल्प तो जीवन की उन्नति के लिये जीवन के उत्थान के लिये किया जाता है।

संकल्प मात्र जीवन निर्वाह के लिये नहीं होता वह तो जीवन के निर्माण के लिये होता है। लेकिन मुक्ति के स्थान पर बंधन नजर आने लगे। जीवन परतंत्रता में फंसता चला जाये तो वह संकल्प ठीक नहीं माना जायेगा। आनंद के स्थान पर चीत्कार सुनाई पड़े तो ठीक नहीं। यही बात हुई और उस पथिक ने कहा– कि रोकिये, रथ को रोकिये। रथ रुक जाता है। वह यात्री नीचे उतर जाता है और कहता है कि ठहरिये आप लोग यहीं पर। मै अकेला जा रहा हूं और वह अकेला ही आगे बढ़ जाता है।

कोई उसके पीछे जाने का साहस नहीं कर सका। अब क्या संकल्प उसके मन में आया है। यह तो वही आत्मा जानता है या तीन लोक के नाथ जानते हैं। इतना अवश्य सभी के समझ में आ रहा है कि रास्ता बदल गया है। यह वार्ता हवाओं में फैलती चली गयी। सभी चकित हैं कि यह कैसा हुआ। हमने बहुत सोच समझकर मुहुर्त निकाला था लेकिन यह अकस्मात परिवर्तन कैसे हो गया। सब किंकर्तव्यविमूढ़ हैं। आप समझ गये होंगे। विवाह का मंगल अवसर था और पशुओं का क्रन्दन सुनकर उन्हें बंधन में पड़ा देखकर नेमिनाथ कुमार ने पथ परिवर्तित कर लिया।

अब जीवन का लक्ष्य बंधन मुक्त होना है। जीवन आज तक बंधनमय रहा अब बंधन का सहारा नहीं चाहिये। अब आजादी के स्वर कानों में प्रविष्ट हो रहे हैं। मूक पशुओं की आजादी के साथ अपनी कर्म बंधन से आजादी की बात आ गयी है। निमित्त मिल गया। निमित्त हमें भी मिलता है लेकिन हमारा पथ परिवर्तित नहीं होता और सारी

बात सुनकर वहाँ एक दूसरी आत्मा भी उसका अनुकरण करती चली जाती है। वह रास्ता चला गया है गिरनार की ओर गिरनार पर्वत का नाम पहले उर्जयन्त था बाद में गिरनार पड़ा। राजुल ने जहाँ गिर गिरकर भी अपने संकल्प को नहीं छोड़ा। केवल स्वार्थ सिद्धि के लिये पथ बदलने वाली वह आत्मा नहीं थी।

जो अहिंसा का उपासक है वह उसी पथ पर बढ़ता है जिस पथ में अहिंसा का पोषण होता है। गिरनार के झाड़ झंखाड़ में भी उसे मार्ग प्रशस्त अनुभव हुआ। अहिंसा के पथ का पथिक अपने पथ का निर्माण स्वयं करता चला जाता है। पथ का निर्माण तो चलने से ही होता है। महाव्रती ही अहिंसा के पथ पर चल सकता है। महाव्रती इसीलिये कहा जाता है कि वह अकेला ही महान पथ पर चल पड़ता है फिर उसके पीछे बहुतों की संख्या चली आती है।

'अयंनिज' परोवेत्ति गणना लघु चेतसाम् उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' ' यह मेरा है वह तेरा है ऐसी मनोवृत्ति संकीर्णता का प्रतीक है। उदार आचरण वाले उदारमना तो सारी वसुन्धरा को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं, अपना परिवार मानते हैं। ऐसे ही उदार चरित्र वाले मुक्ति के भाजन बनते हैं। जिस पथ के माध्यम से मेरा उद्धार हो और दूसरे का पथ भी प्रदर्शित हो ऐसे पथ पर वे चलते हैं। भले ही उस पथ पर कंटक बिछे हों। वह पथ मेरे लिये नहीं है जिसके द्वारा हिंसा का पोषण होता हो जिसके द्वारा जीवों को धक्का लगता हो, जिसके द्वारा जीवन पतित बनता हो, जिसके द्वारा एक दूसरे के बीच दीवार खड़ी हो जाती हो। स्वार्थ परायणता आती हो, वह पथ अहिंसा का पथ नहीं है।

यही कारण था कि तोरणद्वार के पास पहुँचकर भी पथ बदल गया। कानों में वह दयनीय जीवों की आर्तध्वनि पड़ गयी। लाखों जनता ने भी सुनी लेकिन इस पथिक का पथ बदल गया। मूक प्राणियों की वेदना भरी आवाज वास्तव में यदि किसी ने सुनी तो वे नेमिकुमार थे और उनका अनुकरण करने वाली राजुल थीं, उन्होंने अपना ही नहीं दुनिया का पथ प्रदर्शित किया। धन्य हैं अहिंसा के पथ के पथिक, बारात को खुश करने के लिये वन्य जीवों की हिंसा मेरे लिये ठीक नहीं है। आज पर्यावरण प्रदूषण की बात चलती है। बंधुओ पर्यावरण के प्रदूषण में न वन्य प्राणियों का, न वनस्पति जगत का, न ही अन्य किसी देवता का हाथ है यह प्रदूषण मात्र मानव के मनोदूषण से उत्पन्न हो रहा है। अहिंसा के समर्थक जीवों के ऊपर दया करके अपनी सुख सुविधा को छोड़कर सबके कल्याण के मार्ग पर चलने वाले वे उदार चरित्र वाले नेमिनाथ जैसे महान पुरुष ही वास्तव में पर्यावरण को सुरक्षित रखने में सहयोगी हैं।

यदि दया है तो जीवन धर्ममय है, दयामय धर्म अहिंसा धर्म एक वृक्ष की तरह

है शेष सभी सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य उसी के संवर्धन संरक्षण और पोषण के लिये हैं।

जैन समाज में परिग्रह की बात आती है कि परिग्रह बहुत है। बंधुओ, मात्र धन संपदा का संग्रह करना परिग्रह नहीं है। परिग्रह का अर्थ तो मूर्छा है। मूर्छा का अर्थ है गाफिलता, वस्तुओं के प्रति अत्यन्त आसक्ति। दयाधर्म के विकास के लिये शान्ति और आनंद के विस्तार के लिये जो अपने वित्त (धन सम्पदा) का समय-समय पर बूंद-बूंद कर संग्रह किया है यदि उसे वितरण कर देता है तो वह परिग्रह एवं पाप का संग्रहकर्ता नहीं माना जाता। जैन समाज का इतिहास है आज तक उसने राजा महाराजाओं के लिये देश पर विपत्ति आने पर अपने भंडार खोल दिये हैं। संग्रहीत धन का वितरण करके सदुपयोग किया है। अपनी इसी संस्कृति का अनुकरण करते हुये आज भी अपरिग्रह वृत्ति को अपने जीवन में लाने का प्रयास करना चाहिये।

वीतरागता, उज्ज्वल परिणाम ओर परोपकार की भावना ही जैन धर्म की शान है। "धम्मो मंगल मुक्किटं अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो।" अहिंसा तप और संयम ही मंगलमय धर्म है। जिसका मन सदा उस धर्माचरण में लगा है उसे देव लोग भी नमस्कार करते हैं। यह जैन धर्म विश्व-धर्म है। आदिनाथ भगवान के समय जो धर्म था वही तो जैन धर्म है और आदिनाथ भगवान ही आदिब्रह्मा है। जिनका उल्लेख वेदों में आता है और उनके पुत्र भरत के नाम से ही यह देश भारत देश माना जाता है। हमें भी उन्हीं का अनुकरण करते हुये जीवन में अहिंसा को धारण करना चाहिये।

जैनियों ने कभी परस्परोपग्रहों जैनानाम् नहीं कहा। जैनधर्म में तो परस्परोग्रहो जीवानाम् की बात आती है। साम्प्रदायिकता के नाम पर अपने-अपने घर भरना, अपना स्वार्थ सिद्ध करना और अहं को पुष्ट करना ठीक नहीं है, आज अहं वृत्ति नहीं सेवा वृत्ति को फैलाना चाहिये। जीवन भले ही चार दिन का क्यों न हो लेकिन अहिंसामय हो तो मूल्यवान है जो धर्म के साथ क्षणभर भी जीता है वह धन्य है।

भगवान ऋषभदेव ने तपस्या के उपरान्त कैवल्य प्राप्त होने पर हमें यही उपदेश दिया कि प्रत्येक आत्मा अपना आत्मकल्याण करने के लिये स्वतंत्र है। हमें सभी जीवों के आत्म कल्याण में करुणावान होकर दया धर्म से ओतप्रोत होकर परस्पर उपकार की भावना रखकर, यथा सम्भव मदद करनी चाहिये। □□

निष्ठा से प्रतिष्ठा

आज यह पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव का समापन सागर की इस विशाल जन-राशि के सामने सानंद सम्पन्न हुआ। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य होता है उसकी भूमिका महीनों/बरसों पहले से चलती है और वह कार्य सम्पन्न हो जाता है कुछ ही दिनों में। आज तक इस सागर की एक यही लगन रही कि पंचकल्याणक महोत्सव सानंद सम्पन्न करना है और आज यह कार्य संपन्न हुआ तो सब ओर हर्ष छाया है सारी थकान भूल गयी है।

बंधुओ ! हमारे सामने हमेशा कर्तव्य रहना चाहिये। कर्तापन नहीं आना चाहिये। कोई भी कार्य होता है तो वह उपादान की योग्यता के अनुरूप होता है लेकिन उसके लिये योग्य सामग्री जुटाना भी आवश्यक होता है। सभी के परस्पर सहयोग से ऐसे महान् कार्य सम्पन्न होते हैं। भावों में आस्था होनी चाहिये। धर्म के प्रति आस्था जब धीरे-धीरे निष्ठा की ओर बढ़ती है प्रगाढ़ होती है तभी प्रतिष्ठा हो पाती है और जब प्रतिष्ठा की ओर दृष्टिपात नहीं करते हुये आगे बढ़ते हैं तो सस्था बन जाती है तभी सारी व्यवस्था ठीक हो पाती है। और हमारी अवस्था सुधर पाती है। यह जिन बिंब प्रतिष्ठा आस्था के साथ हमारी अवस्था को सुधारने में सहायक है।

इस समारोह के सानंद सम्पन्न होने में पुद्‌गल द्रव्य भी काम कर रहा है। अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सभी सहयोगी बने हैं। चैतन्य परिणाम तो उपादान के रूप में माना ही गया है जो सामूहिक रूप से इस कार्य को सम्पन्न करने में साक्षात कारण है। ऐसे भव्य आयोजन इसीलिए एकता के प्रतीक बन जाते हैं। यह एक दूसरे के सहयोग की भावना का परिणाम है कि विस्मय में डालने वाला इतना वृहत् कार्य सम्पन्न हो गया। मानव एक मात्र ऐसा प्राणी है जो सब कुछ कर सकता है। लेकिन इतना ही है कि उसका दिल और दिमाग ठीक काम करता रहे। उसमें लगन और एकता बनी रहे। तब देवता भी उसके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं और सहयोगी बनते हैं।

प्रकृति का सहयोग दो प्रकार का है। एक बाहरी प्रकृति जो दिखायी पड़ती है और एक भीतरी प्रकृति जो हमारा स्वभाव है वह दिखाई नहीं पड़ती। यदि उस भीतरी स्वभाव

में, प्रकृति में विकार उत्पन्न हो जाये तो बाहरी प्रकृति अनुकूल होने पर भी संकट आ जाता है। यदि उज्ज्वल भाव हो, भीतरी प्रकृति शान्त हो तो बाहरी प्रकृति रूष्ट नहीं होती वरन् संतुष्ट हो जाती है। कल सुना था कि व्यवस्था में लगे हुये डी.आई.जी. कलेक्टर और सभी प्रशासनिक अधिकारी वगैरह का कहना है कि रथ की फेरी के समय धूल न उड़े इसलिये पानी के सिंचन की व्यवस्था होनी चाहिये वह हम करेंगे, तो प्रकृति ने स्वयं ही मेघों के माध्यम से रात्रि में मानो सिंचन ही कर दिया। आशय यही है कि प्रत्येक समस्या का समाधान संतोष शान्ति संयम और परिणामों की उज्ज्वलता से संभव है।

आज महान तीर्थंकर, केवली, श्रुतकेवली या ऋद्धिधारी मुनि महाराज आदि तो नहीं है जिनके पुण्य से सारे कार्य सानंद सम्पन्न हो सकें पर सामूहिक पुण्य के माध्यम से आज भी धर्म के ऐसे महान आयोजन सानंद सम्पन्न हो रहे हैं। यही धर्म का महामात्म्य है। यही संयम की महिमा है। संयमी के साथ असंयमी भी संयमित होकर चले यह बहुत कठिन होता है लेकिन आप सभी ने इस कठिनाई को भी बड़ी लगन से संयमित होकर पार कर लिया। यदि इसी प्रकार आगे भी करते जायेंगे तो संयमी बनने में देर नहीं लगेगी। संयम से हमारा यहाँ तात्पर्य संयम की ओर रुचि होने से है जिसका उद्देश्य परम्परा से निर्वाण प्राप्त करना है।

जो जीवन शेष है वह आप धार्मिक आयोजनों में व्यतीत करें और परस्पर उपकार और सहयोग के महत्व को समझें। जो जीव शान्ति और सुख चाहते हैं। अपना उत्थान चाहते हैं उनके लिये यथोचित सामयिक सहयोग यदि आप करेंगे उन्हें अपने समान मानकर अपना मित्र समझकर उनका हित चाहेंगे तो परस्पर एक दूसरे का कल्याण होगा।

सिगड़ी के ऊपर एक बर्तन रखा है उसमें दूध तपाने के लिये रखा गया है। नीचे आग जल रही है। दूध तप रहा है। तपता-तपता वह दूध मालिक की असावधानी के कारण ऊपर आने लगा। लगता है मानों वह कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के पास रहना चाहता है और चूंकि उसका मालिक कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं है इसलिये उसे छोड़ना चाह रहा है या कहो कि जो उसे सता रहा है, पीड़ा दे रहा है उस अग्नि को देखने के लिये बाहर आ रहा है और इतने में ही थोड़ी सी जल की धारा उसमें छोड़ दी गयी और वह दूध जो उबल रहा था उफन रहा था वह बिल्कुल शान्त हो गया।

यह सोचने की बात है कि थोड़ी सी जल की धारा दूध की शान्ति के लिये कारण बन गयी। इसका रहस्य यही है कि दूध का मित्र जल है। जल के कारण ही दूध, दूध माना जाता है। यदि दूध में जल तत्त्व खो जाये तो उसे आप कहते हैं– खोवा, और खोवा की लोकप्रियता दूध के समान नहीं है। दूध को रस माना गया है। दूध बालक

से लेकर वृद्ध सभी को प्रिय है और सभी के योग्य भी है। तो दूध में जो जल मिला है उसी से सभी उसको चाहते हैं। दूध की जल से यह मित्रता अनोखी है।

विजातीय होकर भी दूध और जल में गहरी मित्रता है। दूध की दूध से मित्रता भले ही न हो लेकिन जल से तो हमेशा रहती है। गाय का दूध यदि अकौआ के दूध से मिल जाये तो फट जाता है। विकृत हो जाता है। दोनो की मैत्री कायम नहीं रह पाती। दूध का उपकारी इस प्रकार एक मात्र जल ही है। हमें सोचना चाहिये कि जब दूध और जल में मैत्री हो सकती है तो हम मनुष्यों में परस्पर मैत्री भाव सहयोगी भाव नहीं रह सकता। रहना चाहिये।

वर्तमान में विभिन्न प्रकार के यान तीव्रगति से अंतरिक्ष में प्रक्षेपित किये जाते हैं और वे पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण कक्षा से बाहर निकलकर अंतरिक्ष में प्रवेश कर लेते हैं। यह क्षमता पुद्गल के पास है। इसे हम विज्ञान की प्रगति और उन्नति मानते हैं तो क्या हम ऐसे धार्मिक आयोजनो के माध्यम से अपने जीवन को संवेगवान व संयमित करके अपने भावों को उज्ज्वल बनाकर के मोह की कक्षा से अपने आप को ऊपर नहीं उठा सकते। जो महान् आत्मायें अपने भावों की उज्ज्वलता और तपस्या के प्रभाव से अनंतकाल के लिये मोह की कक्षा से ऊपर उठ गयी हैं उनका स्मरण अवश्य करना चाहिये और उन्हें अपना आदर्श मानकर अपने जीवन का कल्याण करना चाहिये।

अंत में यही भावना करता हूँ कि–

यही प्रार्थना वीर से
अनुनय से कर जोड़।
हरी भरी दिखती रहें
धरती चारों ओर।

□□

परिशिष्ट

- **प्रवचनामृत** -
  प्रथम सस्करण – १९७५
  प्रकाशक – प्रबन्ध समिति, श्री चन्द्रप्रभ दिग जैन
  मन्दिर, फीरोजाबाद

- **प्रवचन - पारिजात** -
  प्रथम सस्करण – १९८०
  द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ
  प्रकाशन – श्री मुनिसघ स्वागत समिति सागर (म प्र)

- **गुरुवाणी** -
  प्रथम सस्करण १९७६
  गुरुवाणी प्रकाशन, ११३०, महावीर पार्क रोड
  जयपुर (राज)
  द्वितीय सस्करण

- **प्रवचन - प्रमेय** -
  प्रथम सस्करण १९८७
  ज्ञानोदय प्रकाशन, लार्डगज, जबलपुर (म प्र)

- **प्रवचन - प्रदीप** -
  प्रथम सस्करण १९८७
  द्वितीय सस्करण १९९१
  रजकण प्रकाशन, टीकमगढ़ (म प्र)

- **प्रवचन पंचामृत** -
  प्रथम सस्करण १९९१
  प्रकाशक – मूलचद लुहाड़िया, जयपुर रोड
  मदनगज – किसनगढ (राज)

- **प्रवचन पर्व - प्रथम संस्करण १९९४,**
  द्वितीय सस्करण १९९५
  प्रकाशन – श्री मुनिसघ स्वागत समिति, सागर (म प्र)

- **पावन प्रवचन -**
  प्रथम संस्करण १९९४
  प्रकाशन – नया बाजार मंदिर, ग्वालियर (म.प्र.)

- **प्रवचनिका -**
  प्रथम संस्करण, १९९६
  प्रकाशन – श्री मुनिसघ स्वागत समिति,
  सागर (म.प्र.)

- **प्रवचन - संग्रहों से निकालकर पृथक-पृथक प्रकाशित किये गये प्रवचन -**

१. डबडबाती आँखें – ११ अगस्त ८५ आहार जी क्षेत्र
२. अपर नाम – मानवता (प्रवचन प्रदीप)
३ जैनदर्शन का हृदय – १६ जून ८० सागर
अपरनाम – अनेकान्त (प्रवचन प्रदीप)
४ जयन्ती से परे – ३ अप्रेल ८५ खुरई
अपरनाम – अतिम तीर्थकर भगवान महावीर (पावन – प्रवचन)
५ ब्रह्मचर्य : चेतन का भाग – (गुरुवाणी)
६ आत्मानुभूति ही समयसार है (गुरुवाणी)
७ मूर्त से अमूर्त की ओर – (गुरुवाणी)
८ मर हम, मरहम बने – मार्दव धर्म (प्रवचन – पर्व)
९ भक्त का उत्सर्ग/परम – पुरुष भगवान हनुमान।
(पावन – प्रवचन)
१० भोग से योग की ओर (प्रवचन – प्रदीप)
११. व्यामोह की पराकाष्ठा / व्यामोह (प्रवचन – प्रदीप)
१२. मानसिक सफलता (प्रवचन – प्रदीप)
१३. प्रवचन पीयूष (प्रवचनामृत १–२)
अनेकान्त प्रवचनामृत – (प्रवचनामृत के साथ अनेकान्त वाला प्रवचन जोडकर प्रकाशित किया गया संग्रह)
१४. सागर मंथन – प्रवचनामृत, पावन – प्रवचन एवं अन्य प्रथक् – प्रथक् प्रकाशित प्रवचनो का संग्रह
१५ सर्वोदय – प्रवचन सग्रह –(वीर विद्या संघ गुजरात से प्रकाशित विविध प्रवचन संग्रहों का सेट)